

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

भगवत्पतञ्जलि-विरचित

# व्याकरण-महाभाष्य

(प्रथम नवाह्निक)

का

हिन्दी अनुवाद तथा विवरण

अनुवादक व विवरणकार

श्री गान्धिवरितम्, अनुवाद-कला, उपसर्गार्थ-चन्द्रिका, प्रस्तावतरङ्गिणी,  
वाक्यमुक्तावली, व्याकरणचन्द्रोदय, शब्दापशब्दविवेक  
आदि ग्रन्थों के निर्माता तथा वाक्यपदीय के परिवर्तता

चारुदेव शास्त्री

एम् ए, एम्

प्रकाशक

श्री मोतीलाल बनारसीदास  
प्राच्यपुस्तक-प्रकाशक व विक्रेता  
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली



प्रकाशक :

श्री मोतीलाल बनारसीदास  
बगला रोड जवाहर नगर, दिल्ली ।

मुद्रक

देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर  
विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च  
इन्स्टीच्यूट प्रेस, साधु आश्रम,  
होशियारपुर ।

नमो भगवते पतञ्जलये । नमो गुरुभ्यः ।

प्रकृतकृतिनिपयकाकिञ्चिद्वक्तव्य

महाभाष्य के प्रथम आह्निकत्रय को अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मने लिखा था—

‘यह अनुवाद किम लिये हुआ है । इस लिये नहीं कि महाभाष्य का भाषा क्लिष्ट है, दूर व्यवहित अन्वय आदि के कारण दुर्बोध है । भाषा इतनी सरल, सुन्दर तथा मधुर है जितनी कि कभी हो सकती है । वस्तुतः इतने प्रसाद और माधुर्यभरे कुल्लक ही ग्रन्थ समस्त सस्कृत साहित्य में मिलते हैं । जैसे मीमांसा शास्त्र भाष्य शास्त्र ब्रह्मसूत्र भाष्य, अथवा उपनिषदों के सवाद-स्थल । तो प्रश्न हाता है कि फिर इस हिन्दी अनुवाद की क्या आवश्यकता था ? उत्तर में यही कहना होगा कि भाष्याशय अति गम्भार है जो अप्रौढवस्थ सुजुमारमति छात्रों के लिये प्रायः अगम्य है । प्राचान विवरणकारा कैपट आदि महाविद्वानों के सस्कृत में ।क्य हुए व्याख्यान निदम्य ही आनकल अधिक जटिल प्रतीत होने लगे हैं, विशेषकर उद्योतकार नागेश का उक्तियाँ दुहह तथा व्यामोदक प्रतीत होती हैं । भाष्य के विषय में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में कितना यथार्थ वचन कहा है—

अलन्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्टवात् ।

तस्मिन्नकृतबुद्धीना नैवावास्थित निश्चय ॥

अर्थात् भाष्य में जहाँ अथाह गहराई है वहाँ रचना-सौन्दर्य के कारण अन्यन्त प्राञ्जलता है । इत्यम्भूत भाष्य में असस्कृत (अपरिपक्व) सुद्धिवालों को भाष्य के आशय का निश्चय ज्ञान न हो सका । यदि भर्तृहरि के समय में तथा उससे पूर्व ऐसी अवस्था थी तो आज यदि भाष्याशय की दुर्बोधता की अनुभूति हो तो क्या आश्चर्य है । अतः हम ने भाषान्तर करते हुए सर्वत्र भाष्याशय को स्पष्ट करने का यत्न किया है । स्थान-स्थान पर भाष्य के पौर्वाचार्य की सगति दिखाने के लिये तथा भाष्यकार के अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये सुविस्तृत टिप्पण दिये हैं । व्याख्येय पदों का अर्थ निर्देश तथा विग्रह आदि भी दिया है । इसी से इस कृति की कृतार्थता है, अन्यथा भाषान्तर मान व्यर्थ-सा होता । मुझे पूर्ण आशा है, भाष्य-भर्मज्ञ विद्वान् इस का आदर करेंगे और भाष्यार्थ विज्ञानु सस्कृत छात्र इसे हृदि से पठ कर लाभ उठावेंगे ।’

यह मेरी आशा पूर्ण रूपसे समृद्ध हुई । विश्वज्ञ विद्वाना ने इस कृति का मविशेष सम्मान किया । छात्रवर्ग में इस का प्रचुर प्रचार हुआ । इस से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं इस अनुवादकार्य को आगे बढाऊँ । प्रकाशक

महोदय धेन्डी धी सुन्दरलाल जी से पर्याप्त प्रवर्तना प्राप्त हुई जिस से पराहमुख रहना मेरे लिये दुष्कर हो गया । सो मैंने आग बढने का निश्चय किया और अगले छ आदिकों पर कार्य प्रारम्भ किया । कार्यान्तर व्यासङ्ग के कारण यह कार्य ४ वर्ष के पश्चान् सन् १९६६ में समाप्त हुआ । दो वर्ष इस के मुद्रण में लगे । प्रथम तीन आदिकों का फिर से पर्याप्त परिष्करण किया गया । भाव-प्रदर्शनार्थ अनेक नये टिप्पण दिये गये । अगले छ आदिकों की सप्रपञ्च विराद व्याख्या की गई । चिस्तीर्णता का इतने से अनुमान हो सकता है कि नौ आदिकों की यह व्याख्या  $\frac{१८ \times २२}{८}$  परिमाण के ७४३ पृष्ठों में परिपूर्ण हुई है । अहाँ भाष्यस्थ पद-वाक्यों का यथेष्ट विशकलन किया है वहाँ कैयट तथा नागेश की उक्तियों का भी परिस्पुट विवेचन किया है । यथासभव कोई भी सन्दिग्ध स्थल व्याख्यानास्पृष्ट नहीं छोडा है ।

मुझे महान् परितोष है कि मुद्रण अतिसुन्दर तथा परिशुद्ध हुआ है । पाठक जन इसे अत्यन्त रोचक पायेंगे ।

मुद्रित पाठ की जो दुर्लभ परिशुद्धता सिद्ध हुई है उस में मेरे स्नेह-भाजन आयुष्मान् प० दुर्नीचन्द्र शास्त्री वि० वै० शोध-पस्थान साधु आश्रम (होश्वारपुर) के अन्यतम साहित्यमशोधक ने जो मेरी सहायता की उनके लिये मैं इनका हृदय से आभारी हूँ । इस निष्कारण प्रणय का एकमात्र निर्वेश मैं इन्हें आशीर्वाद तथा धन्यवाद ही दे सकता हूँ । प० देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने आर्डरी प्रूफ का भी सावधानी से पुनः परीक्षण किया ।

मेरा संकल्प है कि इसी शैली से सम्पूर्ण महाभाष्य का अनुवाद तथा विवरण लिखूँ । यदि आयु शेष हुई और जीवन निर्बाध निरातङ्ग रहा तो यह पुण्य कार्य कुछ वर्षों में सिद्ध हो जायगा । यह विद्धि भगवत्कृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद पर निर्भर है, अतः दोनों के लिये प्रार्थना करता हुआ मैं इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ ।

देहली  
३/१४ रूपनगर ।  
मैशाखी पूर्णिमा संवत् २००५

अनुवादक तथा विवरणकार  
विद्वच्चरणपद्मजचञ्चरीक  
चारुदेव शास्त्री ॥

## अथ शब्दानुशासनम्<sup>१</sup>

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्र-

अथ शब्दानुशासन (= शब्द शिक्षण-नाम शास्त्र) का प्रारम्भ होता है ।

यहां 'अथ' शब्द प्रारम्भ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । शब्दानुशासन-नामक

१ वैयाकरण-सम्प्रदाय में इसे भाष्यकार का वचन माना जाता है । भाष्य के लक्षण में स्वपदानि च घर्षयन्ते ऐसा करने से भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं इसमें कुछ भी असमझत नहीं । पर मनुभाष्यकार मेधातिथि इसे भगवान् पाणिनि के सूत्र ग्रन्थ ऋष्याचार्या का प्रथम सूत्र मानते हैं । उनका कहना है कि—पौरुषेय-स्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते । तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् अथ शब्दानुशासनमिति सूत्रसन्दर्भमारभते ( मनु० १।१ ) । वाशिकाकार अष्टाध्यायी की व्याख्या में प्रकृत हुए अथ शब्दानुशासनम् को आदि में पढ़ते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं । इससे उनके मत में यह सूत्रकार का वचन है ऐसा झलकता है । अन्यदीय वचन से प्रारम्भ करने में कुछ भी औचित्य प्रतीत नहीं होता । किं च । पातञ्जल योगसूत्र का अथ योगानुशासनम् प्रथम सूत्र है, तो अथ शब्दानुशासनम् यह पाणिनीयाष्टक का प्रथम सूत्र क्यों न हो । महा-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे, इसमें ऐतिह्य के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं । वस्तुतः शब्दानुशासन अष्टाध्यायी की संज्ञा है और इसी बात को भाष्यकार शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् में नाम शब्द से स्पष्ट कर रहे हैं । अमरसिंह की अमर कृति का नाम भी प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए नामलिङ्गानुशासन है ।

शब्दानुशासन शब्द में शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनम् यह पठनी समास है । शब्दानाम् यहा कर्म में पठनी है । अनुशासन क्रिया के कर्ता आचार्य पाणिनि स्वतः गम्यमान हैं अतः उन्हें शब्द द्वारा नहीं कहा गया । केवल कर्म का ही प्रयोग किया गया है । कर्ता कर्म दोनों का प्रयोग न होने से उभय प्राप्ति नहीं है, अतः यहाँ उभयप्राप्तौ कर्मणि से पठनी न हो कर कर्तृकर्मणोः कृति से पठनी हुई है । उस में कर्मणि च से पठनी समास का निषेध न होगा तो इधमप्रवधनः की तरह शब्दानुशासनम् यह समास का रूप शुद्ध बन जायगा ।

२. अथ यह निपात प्रारम्भ अर्थ का द्योतक है । कोषमार इसे मंगल अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न, कारस्म्य ( परिपूर्णता ) इन अर्थों में पढ़ते हैं । पर

मघिऋतं वेदितव्यम् । केपां शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च ।  
 लौकिकैस्तावत्—गोरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः  
 खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये (अ सं. १, १, १), इषे त्वोर्जे त्वा (तं. सं. १, १,  
 १, १), अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ १, १, १), अग्न आयाहि चीतय (सा. स. १,  
 १, १) इति ।

शास्त्र (यहा से) प्रारम्भ होता है ऐसा जानना चाहिए ।

किन शब्दों का अनुशासन ? लौकिक और वैदिक—इन दोनों प्रकार के  
 शब्दों का । लौकिक शब्द जैसे—गौ, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः (=पक्षी),  
 मृगः, ब्राह्मण । वैदिक भी जैसे—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे  
 पुरोहितम्, अग्न आयाहि वातये इत्यादि ।

मगल अथ शब्द का शोष्य अर्थ नहीं । जैसे किसी दूसरे के लिये लिये जा रहे दही  
 का दर्शन मगल है ऐसे ही अथ शब्द का श्रवण मगल है । भगवान् शङ्कराचार्य का  
 वचन भी है—अथान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति ।

१ यद्यपि शब्दानुशासन शब्द में शब्द शब्द गुणीभूत है । उत्तरपद  
 अनुशासन के साथ उस का अर्थ समष्टि है पदार्थ पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन इस  
 नियम के अनुसार शब्दानुशासन इस सम्पूर्ण पदार्थ के एकदेश शब्द शब्द का पृथक्  
 परामर्श न होने से केपा शब्दानाम् यह प्रश्न अनुपपन्न है । इस के स्थान में  
 कीदृश शब्दानुशासनम् ? ऐसा प्रश्न होना चाहिये था । उसका उत्तर भी लौकिकानां  
 वैदिकानां च न हो कर लौकिक वैदिकं च ऐसा होना चाहिये तो भी सम्पूर्ण पदार्थ के  
 एकदेश अथवा गुणीभूत शब्द शब्द का भी बुद्धि से परामर्श कर के उक्त निर्देश  
 बन जायगा । अन्यत्र भी भाष्यकार के ऐसे प्रयोग हैं, जैसे राजपुरुषोऽयम् ।  
 कस्य राज्ञः ॥

२. लौकिक का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध । लोक से यहाँ सर्वलोक अभिप्रेत है ।  
 साधु शब्द लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध होते हैं और अपभ्रंश कहीं-कहीं । सो यहाँ सर्वलोक-  
 प्रसिद्ध साधु शब्दों का अनुशासन है, अपभ्रंशों का नहीं । लौकिक वाग्व्यवहार में  
 पदानुपूर्वी नियत नहीं होती, वेदवाक्यों में पदानुपूर्वी नियत है, वह बदली नहीं जा  
 सकती । अतः लौकिक शब्दों को एक-एक करके स्वतन्त्र रूप में पढ दिया है, पर  
 वैदिक शब्दों को मन्त्रस्थ क्रम विशिष्ट ही पढ़ा है ।

३ शन्नो देवी . यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र है । श्री  
 दुर्गासोहन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित तथा कलिकाता संस्कृत कालेज अनुसन्धान-ग्रन्थ-माला

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' । किं यत्तत्सास्तालाङ्गूलककुदरपुर-  
विषाण्यथरूपं स शब्दः । नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् । यत्तर्हि तद्विद्वितं  
चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः । नेत्याह । क्रिया नाम सा । यत्तर्हि  
तच्छुद्धो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः । नेत्याह । गुणो नाम सः ।  
यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह ।

अथ गौः इममें कौनमा शब्द है ? क्या जो गलकम्बल, पूँठ, कुदान, गुर, सोंगवाला पदार्थ है वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है— नहीं, वह तो द्रव्य है ।

तो क्या जो सङ्केत करना (भाँस आदि में हृदय के भाव का प्रकाशन) चेष्टा (शरीर की हलचल) तथा भाँस का झपकना, वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है— नहीं, वह तो क्रिया है ।

तो क्या जो शुक्ल, नील, कपिल (भूरा), कपोत (चितकबरा) है वह शब्द है । वैयाकरण कहता है— नहीं, वह तो गुण है ।

तो फिर क्या जो भिन्न-भिन्न पदार्थों (द्रव्यों) में एकत्र्य है और जो उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता, सब में साधारण, अनुगत है वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है— नहीं, वह तो जाति है ।

में प्रकाशित पैपलाद संहिता प्रथम काण्ड देखें । संभवत भाष्यकर पिपलाद शास्त्रीय अथर्ववेदी थे । खण्डिकोपाध्यायस्नस्मै चपेटां ददाति इस वचन में भी भाष्य-कार का अथर्ववेदी होना संकेतित माना जाना है ।

१. लोक-व्यवहार से यह विदित ही है कि शब्द अर्थबोधक वर्णमक ध्वनि को कहते हैं, तो गौ यहा शब्द कौन मा है यह जिज्ञामा ही नहीं होनी । फिर इस प्रश्न का क्या आशय है ? लोक में शब्द और अर्थ का अभेद में व्यवहार ही इस शब्दा का बीज है । सामने उपस्थित गलकम्बल आदि वाले पदार्थ के विषय में जब प्रश्न होता है—यह क्या है, अर्थात् इसका वाचक (नाम) क्या है, तो हमारा उत्तर होता है—यह गौ है । यहा यह पदार्थ का संकेत करना हुआ उद्देश्य है और गौ विधेय है । दोनों का मामानाधिकरथ्य से निर्देश हुआ है । अर्थ शब्द है ऐसा कह रहे हैं । सो शब्द और द्रव्य का अभेद तो इनमे से ही स्पष्ट है । इसलिये उम अभेद के कारण द्रव्य में शब्द की शब्दा उपपन्न ही है । रही जाति, गुण, क्रिया में शब्द की शब्दा की उपपत्ति, मो यू है—जाति, गुण, क्रिया में, जो द्रव्य में रहते हैं, सीधा शब्द के साथ अभेद न सही, तो भी जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी का, क्रिया-क्रियावत् का अभेद होने से जाति, गुण, क्रिया से अभिन्न द्रव्य के साथ अभेद-प्राप्त हुए शब्द का जाति, गुण, क्रिया के साथ भी अभेद सिद्ध हो जाता है । गौः इस उच्चा-



आकृतिर्नाम सा । कस्तर्हि शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुद-  
खुरविपाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।

२।७५ (अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा—  
शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्यं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेव-  
मुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः)

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि <sup>प्रश्नोत्तर</sup> (रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः  
प्रयोजनम् ।) रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि

तो आखिर शब्द है क्या ?

जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुर,  
सिंग वाले गो व्यक्तियों का बोध कराता है वह शब्द है ।

अथवा लोक-व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वह शब्द  
कहलाता है । जैसा कि ध्वनि करते हुए एक लड़के को उद्देश करके कहा जाता है—  
(और अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह लड़का शब्दकारी (शोर करने वाला)  
है । अतः ध्वनि शब्द है ।

शब्दानुशासन (शास्त्र के अध्ययन) के क्या-क्या प्रयोजन हैं ?

रक्षा, ऊह (विभक्ति आदि का परिवर्तन), आगम (विधायक शास्त्र),  
लाघव (सरलता, आसानी), सन्देहनिवृत्ति—ये प्रयोजन हैं ।

रण के अनन्तर बुद्धि में जो नाना अर्थ (द्रव्य के अतिरिक्त) जाति गुण किया  
भासते हैं उनके साथ भी शब्द का तादात्म्य होने से उनके विषय में भी ये शब्द हैं  
यह शङ्का युक्त ही है ।

१. वैयाकरण का मत है कि उच्चारित होकर क्षणान्तर में नष्ट हो जाने वाले  
वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते । उनमें वाचकत्व नहीं । जो ध्रुवण का विषय है  
वह बोधक नहीं । वैयाकरण शब्द को एक नित्य तत्त्व मानता है जो उच्चारित  
ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होने पर उस-उस अर्थ का बोध कराता  
है । इसलिये उसे 'स्फोट' कहते हैं, जिसका अर्थ है—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति ।

२. यहाँ लोक व्यवहार में जैसा शब्द समझा जाता है उसका लक्षण किया है,  
यह कार्य है, अनित्य है । नैयायिक इसे ही शब्द समझते हैं ।

सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति' । ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तास्त्रावैयाकरणः शन्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् । आगमैः खल्वपि । ब्राह्मणेन

( वेदों की ) रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिए । क्योंकि लोप, आगम, आदेश को जानने वाला वेदों की ठीक तरह से रक्षा कर सकेगा । ऊह भी प्रयोजन है । वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों में और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़ गये । उन्हें यज्ञ में प्रयुक्त हुए पुरुष को अवश्य ही उचित रीति से बदलना होता है । ( और ) व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से बदल नहीं सकता । इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

शास्त्र भी ( व्याकरणाध्ययन का ) प्रयोजक ( विधायक प्रेरक ) है । ( यह कहता है )

१. भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर और वेद में उन्हें देखकर व्याकरण न जाननेवाला भ्रान्त हो सकता है और लोक का अनुसरण करते हुए वैदिक शब्दों को भी वैसे ही पढ़ने की चेष्टा करेगा ऐसी सम्भावना हो सकती है । देवा अदुह—यहाँ 'रू' का आगम हुआ है और 'त' का लोप । लोक में अदुहत ऐसा लङ् बहु० आ० में प्रयोग होता है । मथ्या कर्नोर्नितनं सजभार—यहाँ ह् के स्थान न भ् आदेश हुआ है । लोक में सजहार रूप प्रसिद्ध है ।

२. प्रकृति याग में विनियुक्त मन्त्रों के देवतादि वाचक पदों की विकृति याग के देवता आदि का बोध कराने के लिए बदलना ऊह कहलाता है । राव इष्टियागों की दर्शपूर्णमास प्रकृति है और सभी सोमयागों की अग्निष्टोम याग प्रकृति है । जिसमें इतिकर्तव्यता पूर्णरूप से ही कही होती है वह प्रकृति याग होता है और जिसमें प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस वचन से प्रकृति याग से ली जाती है वह विकृति । अथ प्रकृति याग के अग्नये त्वा जुष्ट निर्वापामि इस मन्त्र में आये हुए अग्नि शब्द के स्थान पर सौर्यं चरु निर्वापेद् ब्रह्मवर्चसकाम । ( गहतेज चाहता हुआ सूर्य को चरु की आहुति दे ) इस वचन के अनुसार चतुर्व्यन्त सूय शब्द का प्रयोग करके सूर्याय स्वा जुष्टं निर्वापामि इस मन्त्र से आहुति देनी है । यह प्रकृति का ऊह है, विभक्ति का नहीं, विभक्ति वही रही । लिङ्ग का ऊह यथा—देधीराप शुद्धाः रथः में स्त्रीलिङ्ग, शुद्धाः के स्थानपर देवाऽऽज्य शुद्धमसि इस मन्त्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होन के कारण शुद्धम् इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम ।

३. आगम के साथ आया हुआ प्रयोजन शब्द प्रयोजक को कहता है । यहाँ

निष्कारणो धर्मः पडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति । प्रधानं च पदस्वङ्गेषु  
व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति ।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति । न  
चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्त्या ज्ञातुम् । असन्देहार्थं  
चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारणीमनड्याही-  
मालभेतेति । तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि  
पृषन्ति यस्यां सेयं स्थूलपृषतीति । तां नाधैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति ।  
यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्व  
ततस्तत्पुरुष इति ।

ब्राह्मण को बिना कारण ( लाभ आदि प्रयोजन रहित ) धर्मस्वरूप छः अंगों  
वाला वेद पढ़ना चाहिए और उसे जानना चाहिए । छः अंगों में व्याकरण  
प्रधान है और प्रधान में क्रिया हुआ यत्न प्रचुर फल वाला होता है ।

लाघव के कारण व्याकरण पढ़ना चाहिए । ब्राह्मण को शब्द अवश्य जानने  
हैं । व्याकरण को छोड़ और किसी लघु ( छोटा सरल ) उपाय से शब्द जाने  
नहीं जा सकते ।

सन्देह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिये । याज्ञिक (कर्मकाण्ठी)  
लोग पढ़ते हैं—स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्बन  
करे अर्थात् भेंट दे । स्थूलपृषती इस विशेषण पद के अर्थ में सन्देह होता है, वह  
मोटी भी है और बिन्दुमती भी है (ऐसा अर्थ है) अथवा जिसके ( शरीर पर ) स्थूल  
बिन्दु है ऐसा । जो व्याकरण नहीं जानता वह उसके विषय में स्वर से निश्चय नहीं  
कर सकता । यदि ( समास 'स्थूलपृषती' ) के पूर्वपद ( स्थूल ) का अपना ही स्वर  
यहां है तो यह बहुव्रीहि है, यदि समास का अन्त्य अच् उदात्त है तो यह तत्पुरुष है ।

रक्षोहायमलघ्वसन्देहा यह द्वन्द्व बहुवचनान्त है, पर प्रयोजनम् यह एकवचनान्त है ।  
यहां एकशेष हुआ है—प्रयोजनी ( रक्षा ) च प्रयोजनत्वं प्रयोजनत्वं प्रयोजन ( लघु )  
प्रयोजनश्चति प्रयोजनम् । पक्ष म प्रयोजनानि भी होगा । इसमें नपुंसकमनपुंसकनैकव-  
च्चास्यान्यतरस्याम् ( १।२।६९ )—यह शास्त्र प्रमाण है ।

१ यहाँ असन्देह शब्द में सन्देह का प्रागभाव समझना चाहिये । प्रवृत्त नहीं ।  
व्याकरण को सन्देह उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता । बल्कि उसे सर्वथा सन्देह उत्पन्न  
ही नहीं होता ।

२. वेदार्थ में स्वर ( उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ) नियामक है । मनमाना अर्थ

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि--तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदर्थात् । यस्तु प्रयुक्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेशो असि वरणेति ।

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित्तवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । तेऽसुराः ।

दुष्टः शब्दः । 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न

शब्दानुशासन के यह और भी प्रयोजन हैं—तेऽसुरा । दुष्ट शब्द । यदर्थात् । यस्तु प्रयुक्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेशो असि वरणे इति ।

वे असुर हेलय , हेलयः ( हे शत्रुओ, हे शत्रुओ ) चिह्नाते हुए पराजित हो गये । इसलिये ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिये । जो अपशब्द है वह निश्चय से म्लेच्छ है । तेऽसुरा ।

स्वर और वर्ण की दृष्टि से अनुद्ग उच्चारण क्रिया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता । वह वागीरूप वज्र हो यज्ञमान को मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु ( उत्र ) स्वर दोष के कारण मारा गया । हम दोष-युक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये । दुष्ट शब्द ।

नहीं किया जा सकता । स्वर अंर संस्कार ( =प्रकृति प्रत्ययादि से शब्द की व्युत्पत्ति ) जाने बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता और स्वर सस्कार व्याकरण से ही जाने जाते हैं । स्थूलपृथ्वी शब्द के अर्थ में जब सन्देह हुआ तो इसका निश्चय स्वर से देखकर ही हो सकता है । अथ व्याकरण शास्त्र बताता है बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ( ६।२।१ ) अर्थात् बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का ही अपना स्वर ( =उदात्त ) रहता है शेष निपात ( अनुदात्त ) हो जाता है । कारण कि पद में ( यहा समान होकर जो नया पद बना है उसमें भी ) एक अच् उदात्त होता है (अथवा स्वरित होता है ) शेष अनुदात्त रहता है । स्थूल शब्द अन्तोदात्त है । इसका पृथक् के साथ समास हुआ है । समस्त पद में एक ही स्वर ( उदात्त ) होने से पृथक् निपात होगा । समान होकर रतीत्व विवक्षा में ङगिनश्च ( ४।१।६ ) से ङीर् प्रत्यय होगा । ङीर् प्रत्यय भी अनुदात्त होता है, अतः पृथ्वी भी सारा अनुदात्त ही रहेगा । पर स्थूल के ल ( उदात्त ) से परे पृ अनुदात्त की उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ( ८।४।५६ ) से स्वरित होकर शेष दो अनुदात्तों का प्रत्यय रहेगा । तो स्थूलपृथ्वी ऐसे स्वराङ्गन होगा । तत्पुरुष में समासान्त उदात्त होने से स्थूलपृथ्वी ऐसा ।

तमथमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वर्तोऽपराधात्” ॥ इति । दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । दुष्टः शब्दः ।

यदधीतम् । “यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविधे शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥” तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । यदधीतम् ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते । “यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चाप-शब्दैः ॥ कः । वाग्योगविदेर्षे । कुत पतत् । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दा-

जा (मन्त्रादि) अक्षरादिरूप से ग्रहण तो किया, पर समझा नहीं कबल पाठ मात्र से उच्चारण किया, वह कभी भी प्रकाश नहीं करता जैसे अग्नि के अभाव में सूखा ईन्धन कभी नहीं जलता । यदधीतम् ।

जो शब्दों के प्रयोगविशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक ठीक प्रयोग करता है वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता और अपशब्दों से पाप का भागी होता है ।

कौन ?

शब्दार्थ सम्बन्ध जाननेवाला ही ।

१ ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार दिया । अब त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिये एक अभिचार याग करता है । उसमें वह स्वाहेन्द्रशत्रु-वर्धस्व ऐसा मन्त्र पढ़ता है । यहाँ शत्रु क्रिया शब्द है संज्ञा शब्द नहीं । शत्रु=शातयिता =नाशक । अब त्वष्टा यह म्हना चाहता था कि हे अग्नि तू ऐसे बड़ कि तेरी ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ असुर ( वृन् ) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र का नाशक हो । यह अभिप्रेत अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह इन्द्रशत्रु शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अन्त में उदात्त पढ़ता । पर उसने प्रमाद से पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे यह बहुव्रीहि समास हो गया, जो अन्य पदार्थ प्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा कि हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका ऐसे रूपवाला होता हुआ बड़ । तिस पर वृन् उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया । यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के षष्ठम अध्याय में दी गई है ।

२. अनमौ—यहाँ उपरलेपरूप आधार में सप्तमी है । उपरलेप=संयोग, सामीप्य । अर्थात् जब अग्नि का ईन्धन के साथ संयोग नहीं ।

३. माद् उपपद होनेपर इह् अध्ययने का यह छद् उत्तमपुरुष बहु० में रूप है ।

४. प्रत्यासत्ति से ( पास में श्रूयमाणा होने से ) वाग्योगविद् का ही दुष्यति

नप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।  
अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति ।

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य  
गावी गोपी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगविद् ।  
अज्ञान' तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाऽज्ञान शरणं भवितु-  
मर्हति । यो ह्यज्ञानन्वै ब्राह्मण हन्यात् सुरां वा पिबेत्ताऽपि मःये पतितः  
स्यात् । एवं तर्हि । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चाप  
शब्देः ॥ कः । अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञान' तस्य  
शरणम् । क पुनरिदं पठितम् । भ्राज नाम श्लोकाः । किं च भोः श्लोका

ऐसा कैसे जाना ?

जो शब्दों को जानना है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्द-ज्ञान में  
धर्म है वैसे ही अपशब्द-ज्ञान में अधर्म भी । अथवा अधिक अधर्म होता है ।

क्यों ?

इस लिये कि अपशब्द अधिक हैं, शब्द ( उनकी अपेक्षा ) थोड़े हैं ।

एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होने हैं जैसे 'गौ' इस एक शब्द के गावी  
गोपी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होने हैं । अब जो वाग अर्थ सम्बन्ध को  
नहीं जानता उसका अज्ञान रक्षक होता है, अर्थात् अज्ञान उसे पतित्य से बचायेगा ।  
यह कथन ठीक नहीं । अज्ञान पूर्णरूप में बचा नहीं सकता । जो काट न जानता हुआ  
भी ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरा पीए, मैं मानता हूँ कि वह भी पतित होगा ।  
अच्छा तो सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्द — यह जो  
पढ़ा है यहाँ 'दुष्यति' का कर्ता कौन है ? निश्चित ही अवाग्योगविद् क्योंकि जो वाग-  
योगविद् ( शब्दार्थसम्बन्ध का जानने वाला ) है विशिष्ट ज्ञान उसका रक्षक है ।

यह बचन कहीं पढ़ा है ?

भ्राज नामक श्लोक है (वही) ।

क्यों जी, श्लोक भी प्रमाण होने लगे ?

क्रिया-पद के साथ अन्वय होना चाहिये, ऐसा पूर्वशर्ता का अभिप्राय है । जिसे वह  
आगे युक्ति से पुष्ट करता है ।

१. कहने वाले का भाव यह है कि अज्ञान से किया हुआ कर्म मानो न कियाता  
होता है, उस से पाप का प्रसङ्ग नहीं ।

२. इसे भाष्यकार स्वयं आगे चलकर अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म-  
इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट करेंगे ।

३. भ्राज नाम से प्रसिद्ध काव्यायन प्रणीत श्लोक कहे जाते हैं ।

अपि प्रमाणम् । किं चातः । यदि श्लोका अपि प्रमाणम् , अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति । 'यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् । पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् क्रतुगत नयेत् ॥' प्रमत्तगीत एव तत्रभवत् । यस्त्व-प्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

अविद्वांसः । 'अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः । कामं तेषु तु विप्रोप्य स्त्रीष्विवायमह वदेत् ॥' अभिवादे स्त्रीयन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । अविद्वास ॥

इससे क्या हुआ ?

यदि श्लोक भी प्रमाण है तो यह श्लोक भी प्रमाण हो जायेगा ।

जो तांचे के वर्ण वाली मटकियों का बड़ा समूह पीला हुआ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करा सकता तो यह (सौत्रामणी याग) में थोड़ा सा सुरापान कमी स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता है ?

प्रमाद (अनवधान) से पढा हुआ यह पूज्य का वचन है ।

जो (कोई अन्य) वचन सावधान होकर पढा गया है वही प्रमाण है ।

अविद्वास । जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर (आशीर्वाद वाक्य) में (अभिवादक क) नाम को प्लुत करना नहीं जानते, बाहिर से आकर उन के प्रति भले ही अयमहम्=यह मैं हूँ ऐसा कहे जैसे स्त्रियों के विषय में कहने की रीति है । अभिवादन में हमारे प्रति स्त्रियों का सा व्यवहार न हो, अतः व्याकरण पढना चाहिये ।

१ सौत्रामणी याग में विहित सुरापान का विधान है, वह यज्ञज्ञ है और अदृष्ट की उत्पत्ति में सहकारी है । उस अदृष्ट से दैत्यों को बधित करने के हेतु महेश्वर न प्रमत्त सा होकर उनकी इसमें अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिये यह वचन कहा— ऐसा सन्प्रदाय है ।

२ अभिवादन के विषय में मनु का ऐसा विधान है—

अभिवादात्पर विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्व नाम परिकीर्तयेत् ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवाद न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽयमह ब्रूयात् द्वित्रय सर्वास्तथैव च ॥ ( २ । १२२ )

अर्थात् विप्र ( देवदत्त आदि ) अपने से बड़ी उम्र वाले को नमस्कार करना चाहता हुआ अपने नाम का उच्चारण करते हुए अभिवादये देवदत्तोह भो ऐसा अभिवादन वाक्य बोले । पर उन लोगों के प्रति जो प्रत्यभिवादन में नाम को प्लुत

विभक्तिं कुर्वन्ति । याज्ञिकाः पठन्ति—प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

यो वा इमाम् । यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशोश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । यो वा इमाम् ॥

विभक्ति लगाकर उच्चारण करते हैं । यजुर्वेदी कर्मकाण्ठी लोग पढ़ते हैं— प्रयाज मन्त्रों को विभक्ति युक्त कर पढ़ना चाहिये, पर व्याकरण जाने बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता । विभक्ति कुर्वन्ति ॥

जो इसको । जो इस (वाणी का पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन ( ऋत्विक् प्राप्ति का अधिकारी पजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याज्ञिक) होता है । हम आर्त्विजीन हों हमलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । यो वा इमाम् ।

करना नहीं जानते, ऐसे ही सब स्त्रियों के प्रति भी अयमहम् ही कहे । भगवान् सूत्रकार पढ़ते हैं—प्रत्यभिवादेऽशुद्धे ( ८ । २ । ८३ ) । शूद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अन्यत्र वाक्य की टि को प्लुत होना है । तदनुसार आयुष्मानेवि देवदत्ताइ इस प्रकार का आर्शावाद वाक्य होता है ।

१. जब किसी कारण कर्म-विच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की जाती है । उम पुनराधेयेष्टि की इतिर्तृत्व्यता के विषय में यह वचन पड़ा गया है । प्रयाज पाच होते हैं । ये पहले ही विभक्ति सहित पड़े ही हैं, फिर इम विधान का क्या अर्थ है । विभक्ति प्रत्यय है इस प्रकृति का आशेष होता है और चूँकि त्वमग्ने प्रयाजानां पुरस्तात्त्वं पश्चात् ऐसा वेदवाक्य है, अतः अग्नि शब्द ही यहा प्रकृति ली जाती है और इसे प्रथमा ( सम्बुद्धि ), सप्तमी, तृतीया और द्वितीया इन चार विभक्तियों से युक्त पड़ा जाता है । समिधोऽग्ने आज्यस्य व्येतु इत्यादि पाच मन्त्र हैं । पहले चार में अग्ने अपने अग्नाग्ने, अग्निना अग्ने, अग्निमग्ने इस प्रकार एक और अग्नि शब्द विभक्ति युक्त पड़ा जाता है । चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तौर्ददाति नोत्तमे इम आपस्तम्ब के वचना-नुसार अन्त्य पांचवें मन्त्र में अग्नि शब्द सविभक्तिक नहीं दिया जाता ।

२. विदधाति=करोति, उच्चारण करता है । क्रिया-सामान्य से क्रियाविशेष विवक्षित है । वाजपनेय प्रातिशाख्य ( ८।१७ ) में भी कहा है—वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोपि च ।

३. आर्त्विजीन शब्द को दो प्रकार से व्युत्पादन करते हैं । सूत्रकार कहते हैं—



चत्वारि । ' चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ ' इति । चत्वारि शृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादा त्रय काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्ध त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्द करोति । कुत पतत् । रौति-शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्या आविवेशेति महान् देव शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येय व्याकरणम् ।

अपर आह—चत्वारि वैक्परिमिता पदानि तानि चिदुर्ग्राहणा ये

चार । इसके चार सोंग हैं, तीन चरण हैं दो सिर हैं और सात हाथ हैं । तीन स्थानों में बँधा हुआ वृषभ बड़ा शब्द करता है । महान् देव मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है । जो इसक चार सोंग कहे हैं वे चार पदराशियाँ हैं और व हैं—नाम भारयात, उपसर्ग और निपात । जो इसके तीन पाद हैं वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये तीन काल हैं । जो इसक दो सिर कहे हैं वह दो प्रकार का शब्द है—एक नित्य दूसरा कार्य (उत्पाद्य, अनित्य) । जो इसक सात हाथ हैं वे सात विभक्तियाँ हैं । तीन स्थानों में बँधा हुआ इस का अर्थ है—छाती, कण्ठ व सिर में बँधा हुआ । (कामनाओं की) वृष्टि करने से वह वृषभ है । रोरवीति का अर्थ है शब्द करता है । यह कैसे ? रु धातु शब्द करने अर्थ में पड़ी है । महो देव इत्यादि का अर्थ है—(वह) महान् देव रूप शब्द मरण-स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किए हुए है । उस महान् देव के साथ हमारा सायुज्य हो इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

दूसरा कहता है—वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है इन चार पदों को मन

यज्ञत्विभ्या घञ्जो ( ५ । १ । ७१ ) अर्थात् यज्ञ और ऋत्विक् से उसक योग्य है इस अर्थ में क्रम से घ खञ् प्रत्यय होते हैं । इसल खञ्प्रत्ययान्त आत्विजीन का अर्थ यजमान हुआ । इस पर वार्तिककार का कहना है कि यज्ञत्विभ्या तत्कर्माह्वीतीति चोपसरयानम् इससे ऋत्विक् के कर्म में योग्य होनेवाले में प्रत्यय होकर आत्विजीन ऋत्विक् ( याजक ) का बोधक होना है ।

१ ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥

२ वेद में वाक आशुदात्त पडा है । पदपाठ में भी पृथक् पद ही पडा है । अतः यह प्रथमान्त स्वन-त्र पद है ऐसा प्रतीत होता है । प्रथमान्त का अन्वय सीधा

मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥  
चत्वारि चाक्षरपरिमितानि पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-  
निपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस इंपिणो मनीषिणः ।  
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न  
चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीय वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वदन्ते चतुर्थ-  
मित्यर्थः । चत्वारि ॥

उत त्वैः । “उत एवः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वं शृण्वन्न शृणो-  
त्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे<sup>३</sup> जायेव पत्य उशती सुवासा ॥” उत  
त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेक शृण्वन्नपि  
न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे तनु  
विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासा । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना

का सपम किये हुए ब्राह्मण जानत है । इसके तीन भाग गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं  
करते । बाणी क चौथे भाग को मनुष्य ( साधारण अवैयाकरण ) बोलते हैं ॥ चार  
बाणी के परिच्छेदक पद समूह नाम आख्यात उपसर्ग और निपात है । मनीषी ब्राह्मण  
उन्हें जानते हैं । मन पर अधिकार रखने वाले मनीषी कहलाते हैं—गुहा  
नेङ्गयन्त का अर्थ यह है कि तीन (भाग) गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते,  
क्षपकते नहीं । तुराय वदन्ति का अर्थ यह है कि यह बाणी का चौथा भाग है  
जो मनुष्यों में है (जो मनुष्य-अवैयाकरणों के व्यवहार में आता है) । चत्वारि ।

और एक । उत त्व — इस मन्त्र का अर्थ यह है—कोई एक बाणी को देखता  
हुआ भी नहीं देखता दूसरा इस सुनता हुआ भी निश्चय ही नहीं सुनता । ऋचा  
का यह आधा भाग अविद्वान् क विषय में है । उतो विसस्त्रे का अर्थ यह है कि और  
किसी दूसरे के प्रति अपने स्वरूप को खोल दती है । जायेव सुवासा का अर्थ यह  
है कि त्रिप प्रकार सुन्दर शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए (अनु स्नाता) स्त्री कामना करती

लग जाता है—वाक् चत्वारि परिमितानि पदानि भवति । पद्यी पूर्वपद समास मानने में  
जहा स्वर स विरोध पडता है वहां समास भी असमर्थ ही होता है क्योंकि वाक् का  
पदानि के साथ सम्बन्ध है । यहाँ चारों पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात  
का ही प्रश्न इष्ट है, परा पश्यन्ती मथ्यना तथा वैखरी का नहीं । पद कहने स ही  
उन्का व्यवच्छेद हो जाता है ।

१ ऋ० १।१६।४।४५ ॥

२. वेद में त्व एक अर्थ का वाचक सर्वनाम है ।

३ विसस्त्रे—यह विपूर्वक सू का लिट् प्रथम पु० एक० का रूप है ।

४ उशती—वश कान्ती इस धातु का शत्रन्त स्त्रीलिंग रूप है ।

५ सुवासा, शोभने वाससा यस्या सा । रजस्वला स्त्री मल्वद्वासा ( मैले

सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एव धाग् धाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते ।  
वाङ्मो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् । उत त्व ॥

सक्तुमिव । "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा  
वाचमकृत । अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैपां लक्ष्मीर्निहिताऽधि  
धाचि ॥ सक्तु सचतेर्दुर्धावो भवति । कसतेर्धा विपरीताद् विकसितो  
भवति । तितउं परिपचनं भवति । ततचद्वा तुच्रवद्वा । धीरा ध्यानवन्तः ।  
मनसा प्रज्ञानेन । वाचमकृत वाचमकृपत ।

अत्र सखाय सन्त सख्यानि जानते । क्व । य एष दुर्गो मार्ग  
एकगम्यो धाग्विपयः । के पुनस्ते । वैयाकरणाः । कुत एतत् । भद्रैपां लक्ष्मी-

हुई अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट करती है इसी प्रकार वाणी वाणी को  
जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है । वाणी अपने स्वरूप को  
हमारे प्रति प्रकट करे इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । उत त्वः ।

सत्तुओं की तरह । जैसे सत्तुओं को चालनी से छानते हैं ऐसे ही जब (जिस  
अवस्था में) जानी लोग अपने प्रकृत ज्ञान के बल वाणी का व्याकरण (विश्लेषण,  
प्रकृतिप्रत्यय-विभाग, शब्दापशब्द-विवेचन) करते हैं तब (उस अवस्था में) समान  
दर्शन वाले आपस में सायुज्य को अनुभव करते हैं । कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी  
में निहित होती है । सक्तु सच् धातु से निष्पन्न होता है, इसे धोना (साफ करना)  
कठिन होता है । हो सकता है कि सक्तु कस् धातु के आद्यन्त विपर्यय करने से बना  
हो, खिला सा होता है (इससे धात्वर्थ की संगति होती है) । तितउ का अर्थ  
चालनी है । यह विस्तार वाली अथवा छिद्रों वाली होती है (इस लिये तितउ नाम  
हुआ) । धीर ध्यानी होते हैं । मनसा का अर्थ है प्रकृत ज्ञान से । वाचमकृत का  
अर्थ है वाणी को व्याकृत किया । उत त्व ॥

यहाँ समानरमाति (समान दर्शन) वाले होकर सायुज्य को अनुभव  
करते हैं ।

कहाँ ?

यह जो एक मात्र गम्य (सँकरा) दुर्गम वाणी का मार्ग है (वहाँ) ।

वे कौन हैं ?

कपड़ों वाली स्नान न करने से ) होती है, इसीलिये उसे मलिनो भी कहते हैं ।  
स्नान करने पर वह शुभ्र वस्त्र पहन लेती है, इसलिये उसे बहा सुवासा कहा है ।

१. अमर कोष में तितउ पुँल्लिङ्ग पढ़ा है । भाष्यकार-वचन-प्रामाण्य से  
नपुंसक लिङ्ग भी साधु है ।

निहिता अथि वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मी-  
लक्षणात् भासनात्परिवृढा भवति । सप्ततुमिथ ॥

सारस्वतीम् । याज्ञिनाः पठन्ति 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य  
प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् ।' प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं  
व्याकरणम् । सारस्वतीम् ॥

दशम्यां पुत्रस्य । याज्ञिना पठन्ति—'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य  
जातस्य नाम त्रिदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्यमवृद्ध त्रिपुण्यानूर्म्मनरि  
प्रतिष्ठितम् ।' तद्धि प्रतिष्ठिततम भवति द्वयक्षर चतुरक्षर वा नाम कृत  
कुर्यान्न तद्धितम् इति । न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या  
विशातुम् । दशम्यां पुत्रस्य ॥

सुदेवो असि । 'सुदेवो भस्ते वरुण यस्य ते सप्त सिन्धव । अनु  
क्षरन्ति काकुद् सूर्म्यं सुपिरामिव ॥' सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि ।  
यस्य ते सप्त सिन्धव सप्त विभक्तयः । अनुक्षरन्ति काकुद्म् । काकुद्ं

वैयाकरण ।

वह क्यों ?

क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है । लक्ष्मी को  
इसलिये लक्ष्मी कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, धनकरता है । अथवा भविष्यकार  
वाली होती है ।

सारस्वती देवता को दिय जान वाला । यजुर्वेदी लोग पढ़ते हैं—अग्न्याधान  
करके अपशब्द का प्रयोग कर बैठने पर प्रायश्चित्त के निमित्त सारस्वती देवता के लिए  
इष्टि-याग करें । हम प्रायश्चित्त के योग्य न हो इस लिये हमें व्याकरण पढ़ना  
चाहिये । सारस्वतीम् ॥

दशमी रात्रि के अनन्तर पुत्र का । याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—पुत्र के जन्म से  
दशमी रात के बीतने पर (अर्थात् ग्यारहवें दिन) उत्पन्न हुए पुत्र का नाम रखें,  
जो आदि में घोषवान् वर्णवाला हो, बीच में अन्तम्य वर्ण वाला हो और तृद्धि स्वर  
(आ ऐ, औ) से युक्त न हो, जो पिता के तीन पूर्व पुरुषों के नाम का स्मरण कराता  
हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो । नाम दो अक्षर वाला अथवा चार  
अक्षर वाला रखें, वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो । व्याकरण के सिवा कृत् वा तद्धित  
प्रत्ययों का ज्ञान ही नहीं हो सकता है । दशम्यां पुत्रम् ॥

तू शोभन देव है । हे वरुण तू सुदेव=सत्यदेव है तिमके गले में निकलती  
हुई सप्त नदियां (=पात विभक्तियां) तालु में बहती हैं काकुद् तालु होना है कारण  
कि काकु नाम जिह्वा का है और वह उसमें उठाकर लगाई जाती है । सूर्म्यं सुपिरामिव—

तालु । काकुर्जिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम् । सूर्ध्वं सुपिरामिव । तद्यथा शोभनामूर्ध्नि सुपिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्तालुनुक्षरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामेत्य-  
ध्येय व्याकरणम् । सुदेवो असि ॥

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमवाख्यायते न पुनरन्यदपि किञ्चित् । ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशै शमित्यादीन् शब्दान्पठन्ति । पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते । तेभ्यस्तत्तस्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका. शब्दा उप-

जैसे अग्नि सुन्दर खोखली लोहे की प्रतिमा को अन्दर प्रविष्ट होकर जलाती है इसी प्रकार सात सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियाँ तेरे तालु में बहती हैं । इससे तू सत्यदेव है । हम भी सत्यदेव हो, अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये । सुदेवो असि ।

क्या कारण है कि केवल व्याकरण पढ़ना चाहने वालों के लिये प्रयोजन बताया जा रहे हैं, कुछ और ( वद आदि ) पढ़ने वालों के लिये नहीं ? ( वेद पढ़ना चाहते हुए तो ) ओम् (स्वीकार करता हूँ) कहकर प्रपाठक प्रपाठक करके 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं । पुरातन युग में ऐसा था उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ कर देते थे, तब जब व वर्णोच्चारण-स्थान ( कण्ठादि ) करण ( जिह्वा के अग्र, उपाग्र आदि भाग ) और अनुप्रदान ( आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्न=संवृत विवृत सवार विवार आदि ) जान लेते थे तो उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था । आजकल वैसा नहीं । ( आजकल तो ) पहले वेद को पढ़ते हैं और

१. ओम् यहाँ स्वीकार अर्थ में है, अभ्यादान अर्थ में नहीं । अधीष्ण (पढ़ो) के उत्तर में शिष्य ओम् का उच्चारण करता है, स्वीकार करता हूँ, अर्थात् जैसे आपकी आज्ञा वैसे करता हूँ ।

२. वृत्तान्तश में शस् प्रत्यय वीप्सा अर्थ में है । वृत्तान्त का यहाँ प्रपाठक अर्थ है ।

३. ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में करने की विधि है । ऐसी छोटी अवस्था में जब व्याकरणाध्ययन प्रारम्भ हो जाता था तो अनतिप्रौढ होने से उन बालकों को व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन विषय में जिज्ञासा नहीं होती थी, तो उस समय प्रयोजनान्वाख्यान भी नहीं होता था । पर अब वेदाध्ययन पहले ही प्रारम्भ हो जाता है । वेदाध्ययन को समाप्त कर प्रौढावस्था को प्राप्त हुए ब्रह्मचारी यह शङ्का करने लगते हैं, लोक तथा वेद से हमने उभयविध शब्द

दिश्यन्ते । तद्यत्वे न तथा । वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—  
'वेदान्तो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः । अनर्थकं व्याकरण-  
मिति ।' तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं  
शास्त्रमन्वाचष्टे । इमानि प्रयोजनान्यप्येयं व्याकरणमिति ।

उक्तः शब्दः । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि । शब्दानुशासन-  
मिदानीं कर्तव्यम् । तत्कथं कर्तव्यम् । किं शब्दोपदेशः कर्तव्य आहोस्विद-  
पशब्दोपदेश आहोस्विदुभयोपदेश इति । अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात् ।  
तद्यथा भक्ष्यनिर्धमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते

पढ़कर उतावले हुए एक दम कहने लग जाते हैं—वेद से हमने वैदिक शब्द जान  
लिये, और लोक से लौकिक । व्याकरण का (हमें) कुछ प्रयोजन नहीं । उन विपरीत  
बुद्धि वाले छात्रों का सुहृद् बन कर आचार्य (पतञ्जलि, रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयो-  
जनम् को वार्तिक मानने वालों के मत में कारवायन) इस शास्त्र (प्रयोजन निर्देशक)  
का अन्वाख्यान करते हैं और कहते हैं यह प्रयोजन है, व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

शब्द से क्या ग्राह्य है यह कह दिया । शब्द का स्वरूप भी कह दिया गया ।  
प्रयोजन भी कह दिये । अब शब्दानुशासन करना चाहिये । सो कैसे किया जाय ?  
क्या शब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा अपशब्दों का, अथवा दोनों का ?  
किसी एक के उपदेश से काम चल जायगा । जैसे भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य  
का निषेध स्वतः ही आ जाता है । पांच नखों वाले पांच ही भक्ष्य हैं ऐसा कहने से  
गिनाये हुए पांच नखों वाले पांचों से अतिरिक्त पांच नख वाले अभक्ष्य हैं, ऐसा बिना  
कहे ही प्रतीत होता है ।

लौकिक व वैदिक जान लिये, अब व्याकरण का हमें कुछ प्रयोजन नहीं रहा ।

१. त्वरिता=जातन्वराः । गृहप्रवेशाय त्वरमाणाः, विवाह करके गृहस्थ बनने  
के लिये उतावले—ऐसा प्रशीपकार कैयट का भाव है । भाष्यकार को यह विवक्षित  
है वा नहीं इसमें सन्देह है ।

२. नियम शब्द यहाँ परिसङ्ख्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मीमांसक विधि  
नियम और परिसङ्ख्या का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥

अपूर्वं अत्यन्त अविदित क्रिया का जब विधान किया जाता है तब उसे विधि  
अथवा अपूर्वं विधि कहते हैं जैसे व्रीहीन्प्रोक्षति (धान पर जल छिड़कता है) ।

गम्यत एतद्गतोन्वयेऽभक्ष्या इति । अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः । तद्यथा  
 अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर इत्युक्ते गम्यत एतद्—  
 आरण्यो भक्ष्य इति । एवमिहापि । यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरि-  
 त्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति । अथाप्यपशब्दो-  
 पदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येप शब्द इति ।

अथवा अभक्ष्य का निषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है जैसे गांव का  
 कुक्कुट अभक्ष्य है, गाव का सूकर अभक्ष्य है ऐसा कहने से जगल का भक्ष्य है ऐसा  
 ( बिना कहे ही ) प्रतीत हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी । यदि शब्दो का उप-  
 देश किया जाय, गौः ऐसा उपदेश करने पर यह (स्वय) जाना जाता है कि गावी भादि  
 अपशब्द हैं । और यदि अपशब्दो का उपदेश किया जाय, तो गात्री भादि का  
 उपदेश किये जाने पर यह ( अपने भाष ) जाना जाता है कि गो शब्द है ।

यह वचन इदमप्रथमतया ( इससे पहले कोई दूसरा नहीं ) बतलाता है कि  
 दर्शपूर्णमास इष्टियों में व्रीहि का प्रोक्षण किया जाना चाहिये । यह व्रीहि का  
 संस्कारक होकर यज्ञाङ्ग है । इसका अनुष्ठान न हो तो यज्ञ विकलाङ्ग होगा ।  
 प्रकृत वचन न होना तो इसका हमें कैसे पता चलता ? जो किया कई प्रकार से  
 ( क्रम से ) सम्पादन की जा सकती हो वहा एक्का नियम कर देना नियम अथवा  
 नियमविधि बहलाती है । अब यज्ञार्थ चावल ( व्रीहि ) को वितुप ( छुप रहित ) करना  
 इष्ट है । वितुप करना कई एक क्रियाओं द्वारा ( अनेक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होने की  
 योग्यता होने पर एक समय किसी एक से ) सम्भव है जैसे अवहनन अथवा अवघात  
 ( उल्लसल में मूसल से कूटने ) से, मर्दन ( मसलने ) से अथवा नखविदलन  
 ( नाखूनों से छीलने ) से । यहा शास्त्र नियम करता है व्रीहीनवहन्ति, चावलो का  
 अवघात ( ही ) करे । परिसंख्या वह विधि है जो अपूर्व विधान तो कुछ नहीं करती  
 जिनके न करने से प्रत्यवाय हो, पर एक ही समय में सम्भव, पहले से विदित, दो वा  
 दो से अधिक क्रियाओं में से एक का नियम कर देती है । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या । यह  
 परिमर्दरथा है । यहा पाच पाच नखोंवाले शशक आदि का भक्षण का विधान नहीं  
 किया गया । धुधा की निवृत्ति के लिये यत् किञ्चित् शशक आदि पदार्थ का  
 भक्षण तो प्राप्त ही ( पहले से विदित ही ) है । मनुष्य ने इसे शास्त्र से नहीं सीखना ।  
 अब धुधा के शमन के लिये वह चाहे तो एक ही समय पाच-पाच नखों वाले शशकादि  
 को भी खा सकता है और इन पाँचों से अतिरिक्त पाच नखोंवाले मनुष्य आदि को  
 भी । अब इस प्रकार अनेक क्रियाओं की युगपत् प्राप्ति ( प्रसङ्ग ) होने पर शास्त्र  
 नियम करता है पाच नखों वाले शशकादि पाँच ही भक्ष्य ( खाने योग्य ) हैं, अर्थात्

किं पुनरत्र ज्यायः । लघुत्वाच्छब्दोपदेशः । लघीयाच्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य चह्रोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वाट्यानां खल्वपि भवति ।

अथैतस्मिन्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरशब्दः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः । नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते—वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाचै नान्तं जगाम । वृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्यता,

तो इन दो उपायों में से बड़िया उपाय कौन सा है ?

लघु होने से शब्दोपदेश । शब्दों का उपदेश दूसरे की अपेक्षा थोड़े में हो जाता है, अपशब्दों का उपदेश विस्तार से होता है । एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश (विकृत=मस्कार-रहित रूप) होते हैं । जैसे गौ इस एक शब्द के गावी, गोणो, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होने हैं । (साधु शब्द के प्रयोग में धर्म होता है इस कारण) इष्टप्राप्तजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाट्यान=अनुशासन हो जाता है ।

अब शब्दों का उपदेश होना चाहिये ऐसी व्यवस्था होने पर प्रश्न यह है कि शब्दों के बोध के लिये एक-एक करके शब्द पढ़े जायें जैसे गौः, अथ, पुरुष, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मण इत्यादि । नहीं ऐसा नहीं । शब्दों के बोध में शब्दों को एक-एक करके पढ़ देना कोई उपाय नहीं । ऐसा सुनते हैं—(देवगुरु) वृहस्पति ने एक हजार दिव्य वर्षों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे । वृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला (आचार्य) हो, और इन्द्र जैसा पढ़नेवाला शिष्य हो,

इन पाठों से भिन्न पांच नगवाले अमश्य (न खाने योग्य) हैं । परिसङ्ख्या का निषेध में तात्पर्य होता है । प्रकृत में यदि शब्दों का उपदेश किया जाय तो उनका भ्रवण से साक्षात् बोध हो जायगा और तदभिन्न अपशब्दों का निषेध साक्षात् न कहा हुआ भी गम्यमान (=प्रीयमान) रहेगा । पांच नखोंवाले मश्य ये हैं—शशकः शन्धकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पद्म —खरगोश, सेहा, गोह, गण्डा और बलुआ ।

१ मानुष वर्ष ( = ३६५ दिन ) दिव्य ( देवताओं का ) एक दिन रात के बराबर है ।

२. शब्दपारायण शब्द योगलट होकर ग्रन्थविशेष का नाम है ऐसा कैयट का कथन है । प्रतिपदोक्तानाम् इम विशेषण को देने के लिये फिर शब्दानाम् यह विशेष्य पड़ा है, यह भाग रही पुनरुक्ति को निवारण करने के निमित्त यत्न मात्र है । वस्तुतः यह वैदिक काल से चली आ रही एक शैली थी—जैसे विद्या द्वि त्वा गोपति शूर गोनाम् ( ऋ० १०।४।७।१ ) इत्यादि अनेक स्थलों में देखी जाती है ।

३. प्र पूर्वक वू ( वच् ) का मुत्पार्थ पढ़ाना है—स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमदः ।



दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम किं पुनरद्यत्वे । यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति । चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति— आगमकालेन स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति । तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ।

कथं तर्हिमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः । किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् । उत्सर्गापवादौ । कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः । कथं-जातीयकः पुनस्तसर्गः कर्तव्यः कथंजातीयकोऽपवादः । सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः । तद्यथा कर्मण्यण् । तस्य विशेषेणापवादः । तद्यथा—आतोऽनुपसर्गे कः<sup>१</sup> ।

तिस पर भी एक हजार दिव्य वर्ष ( सन्ना ) पढ़ने का समय, तो भी समाप्त न हो सकी, आज कल का तो कहना ही क्या । जो बहुत चिर तक जीता है वह सौ बरस जीता है ।

चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है—गुरु से पढ़ते समय, स्वयं गुरुमुख से अधीत की भावृत्ति करते समय, (शिष्यो को) पढाते समय और यज्ञादि कर्म में व्यवहार (प्रयोग) के समय । उस प्रतिपद-पाठ की अवस्था में इस (विद्यार्थी) की सारी आयु गुरु से पढ़ते-पढ़ते ही समाप्त हो जायगी । अतः शब्दों के बोध के लिये प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं ।

तो शब्दों को कैसे जाना जाय ?

कोई छोटा सा सामान्य-विशेष वाला शास्त्र बनाना चाहिये जिससे थोड़े से यत्न से बड़ी-बड़ी शब्द राशियों को जान जाय ।

ऐसे (शास्त्र) लक्षण का क्या स्वरूप है ?

उत्सर्ग और अपवाद । कोई लक्षण उत्सर्गात्मक होगा, कोई अपवादात्मक ।

उत्सर्ग का कैसा स्वरूप होता है । अपवाद का कैसा स्वरूप होता है ?

सामान्यरूप से कथन उत्सर्ग होता है जैसे कर्मण्यण्, कर्मकारक (मात्र) उपपद होने पर धातु मात्र से अण् प्रत्यय हो । उस उत्सर्ग का विशेष कथन से अपवाद, जैसे आतोऽनुपसर्गे क कर्म कारक (मात्र) उपपद होने पर उपसर्ग-रहित आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो ।

१ आगमकालेन इत्यादि में आधार में करणत्व की विवक्षा करके तृतीया प्रयुक्त हुई है ऐसा नामेश का मत है । हमारा विचार है कि यहा उपलक्षण में तृतीया है, आगमकालेनोपलक्षिता विशेषयुक्ता उपयोगवती भवति ।

किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम् । उभयमित्याह । कथं ज्ञायते । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते । द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणाम् इत्येकशेष आरभ्यते ।

क्या पद का अर्थ—जाति है अथवा द्रव्य ?

वैयाकरण कहता है—दोनों (जाति और द्रव्य) ।

(यह) कैसे जाना जाय ?

दोनों अर्थों को स्वीकार कर आचार्य पाणिनि ने सूत्र पढ़े हैं ।

पद का अर्थ जाति है ऐसा मान कर जात्याख्यायाम्—इत्यादि सूत्र पढ़ा है । द्रव्य पदार्थ है ऐसा स्वीकार कर सरूपाणाम् इत्यादि से एक शेष आरम्भ किया है ।

१ व्याकरण शास्त्र में किसी एक पक्ष से सर्वत्र व्यवस्था न हो सकने से वही जाति को पदार्थ माना है और वही व्यक्ति ( द्रव्य ) को । यदि एक ही पक्ष का सर्वत्र आश्रयण हो, व्यक्ति ही पदार्थ है ऐसा सर्वत्र इष्ट हो तो सम्पदा व्रीहय यहाँ व्यक्तियों ( धान्य के कणों ) का बहुत्व होने से बहुवचन सिद्ध है ( साध्य नहीं ) अतः उसके लिये जात्याख्यायाम्— इत्यादि बहुवचन विधान-रूप यत्र सूत्रकार क्यों करे । और यदि जाति ही पदार्थ है ऐसा मत अभिमत हो तो जाति नाम एकार्थ होना है, उसे कहने के लिये एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त होता है, उसी से तज्जात्यवच्छिन्न सकल व्यक्तियों की उपस्थिति हो जायगी, अतः अनेक व्यक्तियों को कहने के लिये अनेक शब्दों के प्रयोग का प्रसङ्ग ही नहीं, तो फिर सरूपाणाम् एकशेष— ( समानरूप वाले शब्दों में से एक रहे, अन्य निवृत्त हो जाय एक विभक्ति परे होने पर ) ऐसा योग-निर्माण करने का यत्र क्यों किया । इससे प्रतीत होता है कि यहाँ आचार्य पाणिनि व्यक्ति पदार्थ है ऐसा मान रहे हैं । यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि जहाँ जाति पदार्थ होता है वहाँ जाति में क्रिया का अन्वय न हो सकने से जात्याश्रय ( जाति के अधिष्ठानभूत ) व्यक्ति का जाति द्वारा बोध होता है । ब्राह्मणो न हन्तव्यः । यहाँ ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है, हनन क्रिया ब्राह्मणत्व जाति में संभव नहीं, उसका व्यक्ति में ही अन्वय हो सकता है । जहाँ व्यक्तिपरक निर्देश है—इमा गावः सुदोहा, वहाँ जाति का उपलक्षक के रूप में बोध होता है । गावः=गोत्वो-पलक्षिता=गोत्वावच्छिन्ना गोव्यक्तयः=मास्तादिमन्तः पदार्थाः ।

किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः' । सङ्ग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति ।

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्—

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे १-१

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्यन्धे चेति ।

क्या शब्द नित्य है अथवा कार्य (अनित्य) ?

सग्रह ग्रन्थ में इस पर मुख्य रूप से विचार किया गया है कि शब्द नित्य है वा अनित्य । यहाँ दोनो पक्षों में प्रसक्त दोष कह दिये हैं । शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रयोजन भी कह दिये हैं । वहाँ यही निर्णीत किया गया है, चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, दोनों पक्षों में शास्त्रारम्भ होना ही चाहिये ।

तो किस अभिप्राय को लेकर भगवान् आचार्य पाणिनि का शास्त्र प्रवृत्त हुआ है ? (उत्तर)

(वा०) शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के सिद्ध रहते हुए ।

अब यहाँ सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ?

सिद्ध शब्द नित्य का समानार्थक है ।

१. मीमांसक आदि कुछ लोग ध्वनि से व्यङ्ग्य नित्य वर्ण को ही शब्द मानते हैं । उन के मन में पद और वाक्य सब वर्ण-समूह-रूप ही हैं । वैयाकरण लोग वर्ण से भिन्न पदस्फोट या नित्य वाक्यस्फोट को ही शब्द मानते हैं । कुछ नैयायिक आदि केवल अनित्य ध्वनि को ही शब्द मानते हैं । उनके मत में सार्थक अनर्थक ध्वनि ही शब्द है । स्फोट की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार शब्द विषय में सन्देह होने से यह प्रश्न किया गया है कि—किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित् कार्यः ।

२. दोनो अवस्थाओं में दोषों का निराकरण किया जा सकता है । इस हेतु से ।

३. किस अभिप्राय को लेकर, अर्थात् शब्द अर्थ और इनका सम्बन्ध इनकी सिद्धि को मानकर अथवा असिद्धि को । प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि शब्द अर्थ और सम्बन्ध लोकसिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ व्यर्थ है और यदि ये असिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ शक्य ही नहीं । अर्थात् सर्वथा शास्त्र अनारम्भणीय ही ठहरता है ।

४. यह समाहार द्वन्द्व है—शब्दश्च, अर्थश्च, सम्बन्धश्चेति शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन् शब्दार्थसम्बन्धे । तीनों का त्रिकालाऽवाहित ( नित्य ) अवियोग दिखाने के लिये समाहार द्वन्द्व का आश्रयण किया है ।

अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः । नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः । कथं ज्ञायते । यत्कूर्टस्थेष्वविचालिषु भाषेपु वर्तते । तद्यथा—सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी, सिद्धमानाशमिति । ननु च मो कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा—सिद्ध ओदनः सिद्धः सूपः, सिद्धा ययागूरिति । यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्निन्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्ये य सिद्धशब्द इति ।

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभाषान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति । इहापि तदेव ।

अथवा सन्त्येकपदान्येष्ववधारणानि । तद्यथा—अम्भक्षो वायुभक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते । एवमिहापि । सिद्ध एव न साध्य इति ।

यह कैसे जाना जाय ?

क्योंकि यह एक स्वरूप स्थित (अविनाशी), एकत्र नित्यावस्थित पदार्थों को कहने में प्रयुक्त होता है। जैसे दुलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है।

क्यों जी, (सिद्ध शब्द) कृत्रिम (क्रिया से बने) पदार्थों को कहने में भी तो प्रयुक्त होता है। जैसे—भात (सिद्ध) बना है, दाल (सिद्ध) बनी है ययागू (पनला भात) (सिद्ध) बनी है। चूँकि यह सिद्ध होने वाले वस्तुओं को कहने में भी प्रयुक्त हाता है तो यहाँ नित्य समानार्थक का ग्रहण है न कि उस सिद्ध शब्द का जो सिद्ध होने वाले (क्रियानिर्गत=कार्य) अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह कैसे जाना जाय ?

संग्रह ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द 'कार्य' शब्द के विरोधी रूप में प्रयुक्त होने से हम समझते हैं कि वहाँ 'नित्य' अर्थ वाले का ग्रहण है। यहाँ भा वैसा ही।

अथवा एक (इकैले) पद से अवधारण (नियम) देखा जाता है। जैसे—अम्भक्ष—पानी ही पीता है, वायुभक्षः, वायु ही खाता है—ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार यहाँ भी। (नो) सिद्ध ही है साध्य (कभी) नहीं, ऐसा अर्थ जाना जाता है।

१. कूटमयोधनः तद्द् ये तिष्ठन्ति । अयो हन्यतेऽस्मिन्निति अयोधन, वह सोह संघात (निहार्द) जिमपर लोहे को कूटा जाता है।

२. विचाल स्थानान्तरसङ्क्रम दूजरे स्थान में जाना विचाल कहलाता है। दूसरी जगह अष्टाध्यायी में रूपान्तरापत्तिर्विचाल रूप का बदलना विचाल का अर्थ अर्थात् है (काशिका ५।३।४३)।

३. एकं पदं यस्मावधारणस्य तदेकपदम् (बहुव्रीहि)। एव शब्द का प्रयोग होने पर द्विपद अवधारण (नियम) होता है। एव वहा शोक्त होता है। शोक्त के

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति ।  
तद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् इति  
नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

किं पुनरनेन वर्णने । किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः,  
यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् । मङ्गलार्थम् । मङ्गलिक आचार्यो महतः  
शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि  
शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुष्टपाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च  
सिद्धार्था यथा स्युरिति ।

अथवा यहाँ पूर्वपद का लोप समझना चाहिये । अत्यन्त सिद्ध को सिद्ध  
कह दिया है । जैसे देवदत्त को दत्त, सत्यभामा को भामा (कह देते हैं) ।

अथवा व्याख्यान (स्पष्टीकरण) से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से  
लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता इस कथन के अनुसार यहाँ नित्यपर्यायवाची सिद्ध  
शब्द का ग्रहण है ऐसा व्याख्यान करेंगे ।

तो फिर इस यत्न से व्याख्येय ( सिद्ध ) शब्द से क्या लाभ ? गला खोल  
कर 'निरय' शब्द ही क्यों नहीं पढा, जिसके उपादान से सन्देह ही न रहता ?

मङ्गल के लिये । मङ्गल ( अनिन्दित अभीष्ट अर्थ की सिद्धि ) चाहता हुआ  
आचार्य बड़े भारी शास्त्र-समुदाय ( =वार्तिक समूह ) के मङ्गल के लिये आदि में  
सिद्ध शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि आदि में मङ्गल वाले शास्त्र प्रचरित होते हैं,  
इनके जानने वाले वीर ( वाद में विजेता ) और दीर्घायुवाले होते हैं और पढ़ने वाले  
कृतार्थ होते हैं ।

बिना भी अर्थसङ्गतिवश जब नियम का बोध हो जाता है तब एकपद अवधारण  
कहलाता है ।

१. अत्यन्तं कालपरिच्छेदेन सिद्धः = अत्यन्तसिद्धः, अर्थात् सभी कालों  
में सिद्ध ।

२. वर्ण्ये = व्याख्या योग्य, यत्न से व्याख्येय । शक्यार्थ में कृत प्रत्यय ।  
यत्नेन वर्णयितुं शक्यं वर्ण्यम् । व्याख्या-नाम्यम् ।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते । किं तर्हि । आभीक्ष्ण्येषु वर्तते । तद्यथा—नित्यप्रहंसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावताभीक्ष्ण्येषु वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात् व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्यामि चेनं नित्यपर्यायवाचिन वर्णयितुमिति । अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ।

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थं सम्यग्धे चेति । आकृतिमित्याह । कुत एतत् । आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् ।

यह नित्य शब्द भी एक-रूप अविनाशी तथा एकत्रावस्थित पदार्थों को ही कहता हो ऐसा कोई नियम नहीं । तो क्या ? भावृत्ति ( अभ्यास ) अर्थ में भी आता है । जैसे—नित्य ( =बार-बार ) हँसता रहता है, नित्य बोलता रहता है । जब कि यह अभ्यास अर्थ में भी आता है तो वही भी इसीसे निर्वाह हो जायगा ( इसीसे काम लेना होगा )—व्याख्यान से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता । पर आचार्य देखते हैं, आदि में प्रयुक्त हुआ सिद्ध शब्द मङ्गल के लिये रहेगा और (साथ ही) मैं इसे नित्य का पर्यायवाची भी बतला सकूँगा । अतः 'सिद्ध' शब्द ही पढ़ा है, 'नित्य' नहीं ।

अब प्रश्न होता है—कैसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के नित्य होने पर । आकृति को (पदार्थ मानकर) ।

यह कैसे ?

आकृति नित्य है, द्रव्य अनित्य है ।

१. नित्यं हसितुमारब्धः=प्रशब्द आदिकर्मणि । कर्तरि क्त ।

२. आदितः=आदौ । आद्यादित्वात् तसि । आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् से यहाँ सब विभक्तियों के अर्थ में तसि प्रत्यय होता है ।

३. जब यह निश्चित हो चुका कि वार्तिक में सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है तो प्रश्न होता है कि शब्दार्थसम्बन्धे इसका जो शब्देऽर्थे सम्बन्धे च ऐसा विग्रह किया गया है सो कैसे पदार्थ मान कर किया गया है—जाति ( और आकृति ) अथवा द्रव्य । प्रश्नकर्ता जाति की सिद्धता ( नित्यता ) को तो समझ सकता है पर उसे आकृति और द्रव्य की नित्यता खटकती है, उसे स्वीकार करने में सकोच है । शब्दार्थसम्बन्धे इस द्रव्य के समीप में स्थित सिद्धे इस पद का शब्द, अर्थ,

अथ द्रव्ये पदार्थं कथं विग्रहः कर्तव्यः । सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ।

अथवा द्रव्य एव पदार्थं एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति । द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कथं शायते । एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते । पुनरा-

यदि द्रव्य पदार्थ हो तो कैसा विग्रह करना चाहिये ।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च इस प्रकार ( विग्रह करना चाहिये ) । क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है ।

अथवा द्रव्य को पदार्थ मान कर भी यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च ( शब्द, अर्थ, सम्बन्धों के सिद्ध होने पर ) । कारण कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है ।

कैसे जानें ?

ऐसा लोक में देखते हैं मिट्टी किसी एक आकृति से युक्त पिण्ड ( गोला ) बन जाती है, पिण्ड बाजार को मिटाकर छोटे-छोटे घड़े बनाए जाते हैं, इन घड़ों की आकृति को मिटाकर कुण्डिकाएँ बनाई जाती हैं । इसी प्रकार सोना किसी एक आकृति से युक्त हुआ पिण्ड बन जाता है, पिण्डाजार को मिटाकर रुचक नाम के भूषण बनाए जाते हैं, रुचकों की आकृति को मिटाकर कड़े बनाए जाते हैं, कड़ों के आकार को मिटाकर स्वस्तिक बनाए जाते हैं । गलाया हुआ फिर सुवर्ण पिण्ड बना हुआ

सम्बन्ध—इन तीनों के साथ अन्वय होता है । द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वसमीपे च ध्रुवमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्धते—ऐसा न्याय है ।

१. यहाँ द्रव्य के अनित्य होने से अर्थ को सम्बन्ध का विशेषण बना दिया गया है । पर फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनित्य अर्थों के साथ शब्दों का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है ? वह इस तरह से है कि शब्द में अर्थबोधन की योग्यता सहज है । यही योग्यता शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है । वह अर्थ के अनित्य होते हुए भी अनित्य नहीं हो जाता । नष्ट और भावी वस्तु का भी शब्द से बोध होने से बौद्ध ( आन्तर, सूक्ष्म, वासना रूप से स्थित ) अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध बना रहता है ।

वृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णं कुण्डले<sup>२</sup> भवतः । आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

आकृतावपि पदार्थ एव विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्यग्धे चेति । ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्येति । नैतदस्ति । नित्याऽऽकृतिः । कथम् । न कचिदुपरतेति कृत्या सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्धयव्यययोगि यत्तन्नित्यम् इति । तदपि नित्यं यस्मिस्तत्त्वं न विहन्यते ।

सोना फिर किसी दूसरी आकृति से युक्त होकर रंग के (धधन्ते हुए) कोयले के समान दो कुण्डलों के रूप में परिणत हो जाता है । आकृति ( बदलकर ) और होती जाती है, द्रव्य वैसे का वैसे रहता है । आकृति-विशेष के नाश होने पर द्रव्य ही बचा रहता है ।

आकृति (जाति) को भी पदार्थ मानकर यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्यग्धे च ।

अज्ञी अभी कहा था—आकृति अनित्य है । ऐसा नहीं । आकृति नित्य (ही) है । कैसे ?

किसी एक द्रव्य में अनभिष्यक्त (अनुद्भूत=अप्रत्यक्ष) होने से सभी द्रव्यों में अनभिष्यक्त रहे ऐसा नहीं, दूसरे द्रव्य में तो इसकी उपलब्धि होती ही है ।

अथवा कोई यही नित्य का लक्षण नहीं—जो ध्रुव (= कूटस्थ) एक मात्र रूप में अस्थित (रूपान्तर-प्रतिभास-रहित), परिणाम-रहित, उपजन (= विपरिणाम) अपचय रूप विकार-रहित, उत्पत्ति वृद्धि और क्षय-रहित हो वह नित्य होता है । वह भी नित्य होता है कि जिसके नष्ट होने पर उसमें रहने वाला धर्म (तत्त्व) नष्ट न हो ।

१. आकृत=आवर्तित., औटाया हुआ, गलाया हुआ । आन्पूर्वक ष्ट् ( णिच् ) का ऐसा अर्थ है इसमें अमरकोष का तैजसावर्तनी भूषा यह पाठ प्रमाण है ।

२. इस पर नागेश का वचन है—अच्यन्ते विवृतेः कर्तृत्वं बोध्यम् । यह वचन भी प्रायिक है । इस विषय में हमारी कृति शब्दापशब्दनिवेक की भूमिना में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखें ।

३. यहा ध्रुव शब्द का कूटस्थ व्याख्यान है, अर्थान्तर नहीं । इतना कहने से संसर्गान्विता ( संसर्ग=संश्लेष, सामीप्य के कारण जो अनित्यता ) का परिहार



किं पुनस्तत्त्वम् । तद्भावस्तत्त्वम् । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ।

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं  
मत्तैव विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थं सम्बन्धे चेति ।

कथं पुनर्जायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ।

लोकतः १-२

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, तेषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति ।  
ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथा—घटेन कार्यं  
करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति । न ताव-

तो तत्त्व क्या पदार्थ है ?

किसी वस्तु का स्वरूप, (उसमें रहने वाला धर्म जो उसके स्वरूप को बनाता  
है वह) तत्त्व है । आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता ।

अथवा हमें इससे क्या—यह नित्य है, यह अनित्य है, जो भी नित्य है  
(आकृति हो वा द्रव्य हो) उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे  
शब्देऽर्थं सम्बन्धे च ।

यह कैसे जाना जाय कि शब्द, अर्थ, सम्बन्ध ये तीनों ही नित्य है ?

(वा०) लोक से ।

क्योंकि लोक में उस-उस अर्थ को कहने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं,  
पर इन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करते । परन्तु जो पदार्थ क्रिया से निष्पन्न होते  
हैं उनकी निष्पत्ति (सिद्धि) के निमित्त यत्न किया जाता है । जैसे—घड़े से काम लेना  
चाहता हुआ कुम्हार के घर जाकर कहता है—घड़ा बनाइये, मैं इससे काम लूँगा ।

किया है । जैसे स्फटिक ( विलौर ) के पास लाक्षा आदि के पड़े होने से उसका अपना  
स्वरूप तिरोहित हो जाता है और लाक्षा का रूप ( लौहित्य=लाली ) उसमें प्रति-  
भासित होने लगता है । ज्यों ही लाक्षा को परे हटाओ यह लौहित्य-प्रतिभास भी हट  
जाता है । त्रिचाल कहते हैं रूपान्तरोत्पत्ति को, जो परिणाम कहलाता है । धर्मा  
( वस्तु ) के अवस्थित रहते हुए उसमें जो पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर एक नये धर्म  
की उत्पत्ति होती है उसे साङ्ख्य दर्शन में परिणाम कहते हैं । जैसे बदरी फल में परिपाक  
होने पर श्यामता तिरोहित हो जाती है और रक्तिमा ( लाली ) का आविर्भाव हो जाता  
है—यही परिणाम है । इसी प्रकार दूध का दही रूप विकार परिणाम है । अविचालि  
कहने से परिणामानित्यता का भी परिहार कर दिया है । शेष अनपाय-इत्यादि विशेषणों  
से प्रवृत्तानित्यता का निरास कर दिया है । अनपायोपजनविकारि—इसका विग्रह इस  
प्रकार है—अपायश्च उपजनश्च इत्यपायोपजनी, तौ च विकारौ च ( कर्मधारयः ),

च्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो धैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति ।  
तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते ।

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते ।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः १-३

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते । किमिदं  
धर्मनियम इति । धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो<sup>१</sup> वा नियमो धर्म-  
नियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः ।

यथा लौकिकवैदिकेषु १-४

पर शब्दों का प्रयोग करना चाहता हुआ वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता है—  
(मेरे लिये) शब्द बना दीजिये, मैं इन्हें प्रयुक्त करूँगा । उसी समय (विवक्षा होते  
ही) उस-उस अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

यदि लोक शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—इनमें प्रमाण है (अर्थात् ये तीनों सिद्ध हैं  
ऐसा बताता है) तो शास्त्र क्या बनाता है ?

(वा०) लोक व्यवहार से अर्थ के निमित्त शब्द का प्रयोग सिद्ध होने पर शास्त्र  
धर्म का नियम करता है । धर्मनियम का क्या अर्थ है ? धर्म के लिये नियम, धर्म-रूप  
नियम, धर्म ही प्रयोजन (प्रयोजक) जिसका ऐसा नियम ।

वा० जैसे लोक और वेद में १-४

अस्य स्तः, इत्यपायोपजनविकारि ( मन्वर्थीय इति. ), तद्विज्ञम् अनपायोपजनविकारि ।  
यहा वार्थ्यायगि ने जो छः भाव विकार माने हैं उन्हीं का निषेधमुख परिगणन किया  
गया है । अगाय, उपजन, उन्पति ( =सत्ता व जन्म ), वृद्धि, व्यय ( नाश ) । व्ययेन  
योगोऽस्यास्ति इति व्यय-योगि, तद्विज्ञम् अव्यययोगि ।

१. धर्माय नियम.—यह तादर्थ्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये अर्थ-निर्देश है,  
विग्रह-वाक्य नहीं ।

२. यहा नियम धर्म के लिये है अनः नियम को धर्म नाम से कह दिया है । जो  
जिसके लिये होता है उसे वही नाम दे दिया जाता है । तादर्थ्याणाच्छब्दम् । सो यहा  
कर्मधारय समास विवक्षित है, जिसका विग्रह होगा—धर्मद्वारा नियमद्वय ।

३. धर्मप्रयोजन. का फलितार्थ धर्मप्रयोज्य है । प्रभाकर आदि के मत में  
लिङ् आदि का क्रियाजन्य अपूर्व (अष्ट) रूप कार्य वाच्य है । जन वह अपनी मिद्धि के  
लिये पुरुष को प्रेरित करता है तो उसे नियोग कहते हैं, वही धर्म है । यही धर्म असाधु-  
शब्द के निवृत्तिरूप नियम का कारण बनता है । इन के मत में अपूर्व ( धर्म ) ही  
यागादिका मत्स्य फल है, स्वर्गादि तौ गौण ।

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये' यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते । अथवा युक्त एवात्र तद्धितः । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावद् अभक्ष्यो ग्राम्यकुम्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्य-सूकर इत्युच्यते । भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम् । तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदम-भक्ष्यमिति । तथा—खेदात्खीपु प्रवृत्तिर्भवति । समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च । तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति । वेदे

दाक्षिणात्य (दक्षिण में रहने वाले) लोग तद्धित-रुचि होते हैं, जैसे लोके वेदे च ( लोक व वेद में ) इस प्रकार प्रयोग न कर लौकिकवैदिकेषु ऐसा व्यवहार करते हैं । अथवा यहाँ तद्धित युक्त ही है ( इस में तद्धितप्रियता कारण नहीं ), जैसे लोक-प्रसिद्ध व वेदप्रसिद्ध सिद्धान्तो ( सिद्धान्त प्रतिपादक वाक्यों ) में । लोक में कहा जाता है—ग्राम का कुम्कुट अभक्ष्य है, ग्राम का सूकर अभक्ष्य है । भोज्य पदार्थ का ग्रहण क्षुधा की निवृत्ति के लिये किया जाता है और क्षुधा को पुरप कुत्ते के मांस आदि से भी मिटा सकता है । वहाँ नियम किया जाता है—यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है । इसी प्रकार राग से पुरप स्त्री से समागम करता है और स्त्री चाहे समागम योग्य हो अथवा समागम के अयोग्य, राग की निवृत्ति तो ( दोनों में ) एक सी है । वहाँ नियम किया जाता है—यह समागम-योग्य है और यह समागम के अयोग्य । वेद में

स्वात्मसिद्धयनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये ।

कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः ॥

१. समुदायेषु वृत्ता' शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते—अर्थात् शब्दोंका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो समुदाय-वाचक शब्द होते हैं वे समुदाय के एकदेश को कहने में भी व्यवहृत हो जाते हैं । लोक और वेद दोनों शब्द समुदायरूप अर्थ को कहते हैं और लोक के एकदेश ( अवयव ) और वेद के एकदेश ( अवयव ) को भी । ऐसी अवस्था में यथा लोके वेदे च ऐसा ही कहना युक्त ( गौरवदोष-रहित ) होता । पर तद्धित में रुचि-विशेष के कारण वार्तिस्मार समुदाय ( अवयवी ) लोक व वेद और इनके एकदेश ( अवयव ) में ( जो वस्तुतः अभिन्न हैं ) भेद की रूपना करके आधाराधेय भाव रूप सम्बन्ध बनाने तत्र भवः इस अर्थ में तद्धित ( ठन् ) प्रत्यय करते हैं । अर्थ केवल 'लोक में' 'वेद में' इतना ही है । जब कृतान्त विशेष्य हो तो वह न लोकस्वरूप है न वेदस्वरूप, किंतु लोक और वेद के अन्दर वर्तमान है, वहा आधाराधेय-भाव वास्तव है, अतः तत्र भवः अर्थ में तद्धित युक्त ही है । तद्धितप्रियता तद्धितप्रत्यय करने में हेतु नहीं ।

२ शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् । शक् धातु से लिङ्ग-सर्वनाम नपुंसक युक्त कर्म-सामान्य में यत् प्रत्यय कर के शक्यं क्षुत् प्रतिहन्तुम् यह रूप बना है । पीछे से क्षुच् इस खील्लिङ्ग पद के साथ सम्बन्ध होने पर भी अन्तरङ्गसंस्कारो बहिरङ्ग-

सत्यपि—पयोव्रतो' ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्य इत्यु-  
च्यते । व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन शालिमांसादी-  
न्यपि व्रतयितुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा वैश्वः सादिरो वा यूपः स्यात्  
इत्युच्यते । यूपश्च नाम पशुवन्धार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव  
काष्ठमुच्छिद्यन्नुच्छिद्य वा पशुरनुवन्दुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा  
अग्नौ कपालान्यधिष्ठित्याभिमन्त्रयते—भृगुणामद्भिरसां घर्मस्य तपसा  
तप्यध्वम् इति । अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्हन्मर्मा कपालानि सन्तापयति ।  
तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति । एवमिहापि

भी—ब्राह्मण दूध का आहार करे, क्षत्रिय यवागू ( पतली भात ) का ही और वैश्य  
आमिक्षा का ही । कोई भी राद्य वस्तु आहार रूप में ली जा सकती है यह मांसादन,  
आदि का भी आहार कर सकता है । वहाँ नियम किया जाता है ।

इसी प्रकार यूप बिल्व का अथवा खैर का बना होना चाहिये ऐसी विधि  
है । यूप पशु बाँधने में उपयुक्त होता है । कोई व्यक्ति किसी भी काष्ठ को लेकर उसे  
छील कर ( तरात कर ) अथवा बिना छीले उससे पशु को बाँध सकता है । वहाँ  
नियम किया जाता है । इसी प्रकार अग्नि पर कपालों को रख कर उस पर मन्त्र पढ़ता  
है—भृगुओं और अद्भिरस् गोत्र के ऋषियों के तंत्र की गरमी से तपो । मन्त्र के  
बिना भी जलाने की क्रिया करने वाला अग्नि कपालों को तपायेगा ही । वहाँ नियम  
किया जाता है—ऐसा करना कल्याणकारी होता है । इसी प्रकार यहाँ भी शक्य और

सस्कारेण न वाच्यते । दम न्याय में शक्यम् यह नपुमक लिङ्ग ही रहेगा । शक्या इस  
प्रकार स्त्रीलिङ्ग नहीं बनेगा । जैसा कि रामायण में भी प्रयोग है शक्यमञ्जलिभि पातुं  
वाता केतुगन्धिन । यदि पहले में क्षुब्ध रूप नर्मविशेष के साथ सम्बन्ध करके शक्य  
से यन् प्रत्यय करेंगे तो स्त्रीलिङ्ग का विशेषण शक्य क्षुब्ध प्रतिहन्तुम् ही बनेगा । उस में  
यदि प्रतिघात किया का क्षुब्ध कर्म विवक्षित हो और शक्तोनि विना का प्रतिघात, तब  
क्षुब्ध प्रतिहन्तुं शक्यम् ऐसा तीव्रता रूप बनेगा । ये तीनों ही रूप उक्त रीति से शुद्ध हैं ।

१. पयो व्रतयन्तीति पयोव्रत । कर्मव्यण् । यहा व्रत प्रातिपदिक से भोजन  
( खाने ) अर्थ में णिच् होकर ष्यन्त घातु व्रति से अच् ह्रन् प्रत्यय हुआ है ।  
व्रतयति=भुञ्जे । अन्यत्र व्रतयति=भोजन परिहरति ।

२ धार के योग से सन्तत दूध के पत्र जाने पर उसका जो तरल भाग है,  
उसे आमिक्षा कहते हैं, स्थूत भाग को वाजिन कहते हैं ।

३ उच्छिद्य-सन्तस्थ, छँलकर, तरातकर । धिन् का ल्यन्त रूप है । उद्  
उपसर्ग-वश अर्धान्तर हुआ है यही सगत अर्थ है । गाड़कर तथा साधा खडा कर यह  
अर्थ नहीं, कारण कि यहा दो प्रकार का नियम किया गया है । पशुवन्धन काष्ठ विन्व  
होना चाहिये या खैर, इस से अतिरिक्त नहीं । दूसरा नियम यह है कि वह काष्ठ यूप-

समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थो-  
ऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

अस्त्यप्रयुक्तः

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा—ऊप, तेर, चक्र, पेचेति ।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः । प्रयोगाद्धि भवाञ्छन्दानां साधुत्वमध्यव-  
स्यति । य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ।

इदं तावद् विप्रतिपिद्धं यदुच्यते सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति ।  
यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रति-  
पिद्धम् । प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति । कश्चे-  
दानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् । नैतद्  
विप्रतिपिद्धम् । सन्तीति तावद् द्रूमः, यदेताश्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुचिदधते ।

अपशब्द से एक बराबर अर्थ बोध होने पर धर्म नियम किया जाता है—शब्द से  
अर्थ कहना चाहिये, अपशब्द से नहीं । ऐसा करने से अभ्युदय होता है ।

(वा०) अप्रयुक्त (शब्द) भी है ।

निश्चय ही अप्रयुक्त शब्द भी हैं । जैसे—ऊप, तेर, चक्र, पेच ।

इससे क्या, यदि अप्रयुक्त शब्द भी हैं ?

आप प्रयोग से ही तो शब्दों के साधुत्व का निश्चय करते हैं । हो सकता है  
जो अप्रयुक्त हैं वे असाधु हों ।

यह कहना कि अप्रयुक्त शब्द हैं, परस्पर-विरुद्ध है । यदि शब्द हैं तो अप्रयुक्त  
नहीं हैं, और यदि अप्रयुक्त हैं तो नहीं हैं, हैं भी और अप्रयुक्त भी, यह परस्पर-  
विरोधी बात है । ( और यह भी बड़ा कौतुक है कि ) आप ऊप तेर आदि शब्दों का  
प्रयोग करते हुए ही यह कहते हैं कि (ये) शब्द अप्रयुक्त हैं ।

इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा ? (नहीं)  
यह परस्पर विरोधी वचन नहीं है । हम कहते हैं शब्द हैं क्योंकि शास्त्रकार इनका शास्त्र

रूप होना चाहिये ; यूप-रूपापत्ति बिना तक्षण आदि व्यापार के संभविनी नहीं, क्योंकि  
कहा है—अष्टाश्रियूपो भवति ( आठ किनारों वाला यूप होता है ) । अतः निखनन  
(गाड़ना) और उच्छ्रयण (सीधा खड़ा करना) यद्यपि दोनों विधि के अंग हैं पर प्रवृत्त  
नियम का विषय नहीं हैं । यूपमुच्छ्रयते इस नियम विधि का यहा ध्वगण भी नहीं है ।

१. साधु का यहा कुशल अर्थ है । यहाँ भाष्यकार की प्रशंसा में तात्पर्य है ।  
दूसरे लोग यहाँ सोत्प्रास ( कटाक्षगर्भित ) वचन समझते हैं । प्रयोग करना और साधु  
ही कहना कि ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते, यह तो बड़ी चतुराई (चालाकी) है ।

अप्रयुक्ता इति दूम., यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति । यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयक. पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधु' स्यादिति । न नूमोऽस्माभि-  
रप्रयुक्ता इति । किन्तहिं लोकेऽप्रयुक्ता इति । ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके ।  
अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः ।

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत् । तन्न । किं कारणम् । अर्थे शब्दप्रयोगात् ।  
अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते । सन्ति चेपा शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ।

अप्रयोग प्रयोगान्यन्वात्

द्वारा अनुकरण ( अथवा अन्वाख्यान ) करते हैं । हम कहते हैं य अप्रयुक्त है, क्यात्रि  
लोक में इनका प्रयोग नहीं । यह तुम्हारा कहना कि इस समय आप 'सा दूसरा वान  
पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा, ( इसमें हमारा यह कहना है कि, हमारा यह  
अभिप्राय नहीं कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं, किन्तु लोक में अप्रयुक्त हैं ।

क्यों जी, आप भी तो लोक के भीतर ही हैं ।

(टीक है) मैं लोक के भीतर हूँ, पर लोक तो नहीं हूँ ।

(वा०) शब्द अप्रयुक्त भी होता है—यदि ऐसा कहा तो टीक नहीं । अर्थ  
में शब्द का प्रयोग होने से ।

शब्द अप्रयुक्त भी है ऐसा कहना टीक नहीं, कारण कि अर्थ का कहन क लिये  
शब्दों का प्रयोग होता है और इन शब्दों के अर्थ हैं जिनमें ये प्रयुक्त हात ह ।

(वा०) अप्रयोग ( भी टीक ही है ), इनके स्थान में अन्य शब्दों का प्रयोग  
होने से ।

१ इससे अप्रयुक्त ( असाधु ) शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाग व्याकरणमृति  
अप्रमाण हो जायगा ।

२ अभ्यन्तरोहं लोके इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक शब्द को  
अर्थ बोधन कराने के लिये प्रयुक्त करता है वैसे मैंने इनका प्रयोग नहीं किया, मने तो  
इनका स्वरूप दिखाने के लिये उच्चारण किया है । एक शब्द से भाव्यकार का  
अभिप्राय जन समुदाय से है जो अर्थ को कर्त्ने के लिये शब्दों का प्रयोग करता है ।  
ऊप, तेर, चक्र, पेच—ये क्रम से वस, तू, वृ, पच धातुआ के षिट लकार के मध्यम  
पुरुष बहुवचन में रूप हैं ।

३ प्रयुज्यत इति प्रयोग शब्द, सोऽन्यो यस्वार्थस्य स प्रयोगान्य । यहा पूर्व  
निपात प्रकरण के अनित्य होने से सर्वनाम अन्य का पर निपात हुआ ।

अप्रयोगः सत्यप्येषां शब्दानां न्याय्यः । कुतः । प्रयोगान्यत्वात् ।  
यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याच्छब्दान्प्रयुञ्जते । तद्यथा—ऊपेत्यस्य शब्दस्यार्थे  
क यूयमुपिताः, तेरेत्यस्यार्थे क यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क यूयं कृतवन्तः,  
पेचेत्यस्यार्थे क यूयं पक्वन्त इति ।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणानुविधेयाः । तद्यथा दीर्घ-  
सत्राणि वार्षशतिकाणि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति ।  
केवलमृपिसम्प्रदायो<sup>१</sup> धर्म<sup>२</sup> इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ।

सर्वे देशान्तरे<sup>३</sup>

इन शब्दों का अप्रयोग भी ठीक ही है । कैसे ? अन्य शब्दों का प्रयोग होने  
से । क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं । जैसे—ऊप इस  
शब्द के अर्थ में क यूयमुपिता ( आप कहाँ रहे ) इस वाक्य में उपित शब्द का  
प्रयोग, तेर इस शब्द के अर्थ में क यूयं तीर्णा ( तुम कहाँ तैरे ) इस वाक्य में  
तीर्णा शब्द का प्रयोग और चक्रे शब्द के अर्थ में क यूयं कृतवन्त ( तुमने कहाँ  
कार्य किया ) इस वाक्य में कृतवन्त शब्द का प्रयोग तथा पेचे इस शब्द के अर्थ  
में क यूयं पक्वन्त ( तुमने कहाँ पकाया ) इस वाक्य में पक्वन्त शब्द का प्रयोग ।

( वा० ) अप्रयुक्त शब्दों के विषय में दीर्घसत्रों की तरह ।

यद्यपि अप्रयुक्त हैं तो भी लम्बे समय तक रहने वाले यज्ञों की तरह शास्त्र-  
द्वारा इनका अन्वयान करना ही होता है । जैसे सौ वर्ष तक और हजार वर्ष तक  
रहने वाले यज्ञ होते हैं, पर आजकल इन्हें कोई नहीं करता । केवल वेदाध्ययन धर्म है  
ऐसा मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से इनका अन्वयान करते हैं ।

( वा० ) सभी ( अप्रयुक्त शब्द ) दूसरे देशों में ।

१ वर्षाणां शत वर्षशतम् । वर्षशत(द्वितीया)भावीनि वार्षशतिकाणि । प्राग्वतीयष्टम् ।

२ ऋषि-वेद । सम्प्रदाय—सम्यक् प्रकरणेण दीयते गुरुणा शिष्यायेति ।  
गुरुव्ययनपूर्वक ही शिष्य का वेदाध्ययन होता है ।

३ जिस प्रकार दीर्घ सत्रों के आजकल न किये जाने पर भी उनके विषय के  
अध्ययन और ज्ञान से पुण्य होता है, इसा प्रकार पाणिनि के समय में अप्रयुक्त पर  
उससे पूर्व प्रयुक्त शब्दों के ज्ञानमात्र से पुण्य होता है, अतः उनका इस व्याकरण में  
अनुशासन समूल और युक्त ही है । किं च । इन शब्दों का पूर्वकाल में प्रयोग होता था,  
यह भी वर्तमान व्याकरणस्मृति में इनके अनुशासन के बल पर ही जाना जाता है ।

४ वस्तुतः जिन शब्दों को हम अप्रयुक्त समझते हैं वे भी किसी न किसी

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते । न चैषोपलभ्यन्ते । उपलब्धो यत्नः क्रियताम् । महाशब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्यां बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्यु-शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकाधिशतिधा ब्राह्मवृच्य<sup>१</sup>, नत्रधाऽऽश्वर्षणो वेदः, वाकोवाक्यम्<sup>२</sup>, इतिहासः, पुराण वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचन केवल साहसमात्रमेव । एतस्मिन्श्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । तद्यथा शवतिर्गतिर्मर्मा कर्म्योजेष्वेव भाषितो भवति । विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति । हम्मतिः सुराप्लेषु, रहति

ये सभी (अप्रयुक्त) शब्द दूसरे देशों में प्रयुक्त होते हैं, पर हमारी उपलब्धि का विषय तो नहीं है । उपलब्धि के लिये यत्न करना चाहिये । शब्द प्रयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र है । प्रथम तो पृथिवी के ही सात द्वीप हैं । तीन लोक हैं । चार वेद हैं अन्न और रहस्य सहित । इनके नाना भेद हैं—यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद के १००० मार्ग हैं, ब्रह्मवृचों का आम्नाय २१ प्रकार से भिन्न है और अथर्ववेद ९ प्रकार से । (यही नहीं) वाकोवाक्य भी है, इतिहास है, पुराण है और वैद्यक भी—इतना शब्द के प्रयोग का विषय है । इस सारे शब्द के विषय को जाने बिना 'अप्रयुक्त शब्द भी हैं' ऐसा कहना केवल साहसमात्र है ।

इस बहुत बड़े प्रयोगक्षेत्र में शब्द अपने-अपने नियत विषय में ही प्रयुक्त होते हैं ।

जैसे शब् धातु का तिङन्त रूप में कर्म्यो लोके ही प्रयोग करते हैं, आर्य लोग इससे बने हुए (कृदन्त) शव का प्रयोग करते हैं । हम्म धातु सुराप्लू देश में, रह प्राच्य और मध्य देश में देखी जाती है । आर्य लोग तो (इस अर्थ में) गम् का

दूसरे देश में प्रयुक्त होते हैं । केवल हमारा उनके विषय में ज्ञान नहीं होता, कारण कि प्रयोग का क्षेत्र अति महान् है ।

१ रहस्य शब्द का अर्थ उपनिषद् है, कोई वेदमूलक मन्वादि सृष्टि का भी रहस्य कहते हैं ।

२ बहव ऋच एषां सन्ति ते ब्रह्मवृचा, ऋग्वेदिन् । ब्रह्मवृचानाम् आम्नाय (वेद) ब्राह्मवृच्यम् ।

३. प्रदोत्तरूप ग्रन्थ को वाकोवाक्य कहते हैं । जैसे—कि स्विदावपन महद् भूमिरावपन महत् (यजु २३।४५-४६) ।



प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनाथं प्राच्येषु,  
दात्रमुदीच्येषु ।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो  
दृश्यते । क्व । वेदे । तद्यथा—‘सप्तास्ये रेवती रेवदूर्प, यद्वो रेवती रेवत्यं  
तदूर्प, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्’ इति ।

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे ।’

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म.

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दाज्ञानात्यप-  
शब्दानप्यसो जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।  
अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकै-  
कस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता  
गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

ही प्रयोग करते हैं । दा ( तिङन्त ) का काटने अर्थ में प्रयोग प्राच्य लोगों में होता  
है, दात्र ( वृद्धन्त नाम ) का प्रयोग उदीच्य लोग करते हैं ।

और जो शब्द आपने अप्रयुक्त मान रखे हैं उनका प्रयोग भी होता है । कहाँ ?  
वेद में । जैसे सप्तास्ये इत्यादि श्रुति में ऊप का प्रयोग है, यन्मे इत्यादि श्रुतियों में  
चक्र शब्द का प्रयोग है ।

क्या शब्द के ज्ञान में धर्म ( लाभ ) होता है अथवा प्रयोग में ?

( वा० ) यदि ज्ञान में धर्म हो तो वैसे अधर्म ( भी होना चाहिये ) ।

ज्ञान में धर्म कहोगे तो अधर्म भी होना चाहिये । जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में  
धर्म होता है इसी प्रकार अपशब्द ज्ञान में अधर्म भी होगा । अथवा अधर्म अधिक  
होगा । अपशब्द अधिक हैं और उनकी अपेक्षा शब्द थोड़े हैं । एक-एक शब्द के बहुत  
से अपभ्रंश होते हैं । जैसे गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि  
अपभ्रंश हैं ।

१ ऋ० सं० ४।५।१४ ॥ ऋ० सं० १।६।५।११ ॥ ऋ० सं० १।८।९।९॥

२ एक शब्दः सम्यग्ज्ञात. शास्त्रान्वित. सुप्रयुक्त. स्वर्गे लोके कामधुग्  
भरति—ऐसी श्रुति है । चार्तिककार से कहा हुआ धर्म-नियम श्रुतिमूलक है । पर इत्  
श्रुति में ज्ञान और प्रयोग दोनों में धर्म ( अभ्युदयरूप फलवाला ) कहा गया है । अतः  
प्रकृत में प्रश्न किया गया है । क्या ऐसा समझा जाय कि ज्ञान से धर्म होता है, शुद्ध  
प्रयोग तो केवल इस बात का सूचक होता है कि शब्द अच्छी तरह जाना गया है  
अथवा यूँ समझें कि शुद्ध प्रयोग से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग हुआ है इसका सम्यक्  
ज्ञान से अनुमान होता है ।

एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव । किन्तुर्हिं

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते । तत्तुल्यं वेद-  
शब्देन । वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं  
वेदं, योर्गिन् नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद ।

अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः  
फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते  
इति ।

अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म इति । ननु चोक्तम्—ज्ञाने धर्म इति  
चेत्तथाऽधर्म इति । नैप दोषः । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह  
तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापिशब्दज्ञानेऽधर्मम् ।

ऐसी स्थिति में ( प्रयत्न की अनर्थकता होने पर ) यह मानना होगा कि न तो  
केवल ज्ञान में धर्म है और न केवल प्रयोग में, किन्तु—

( ३० ) शास्त्रबोध-पूर्वक प्रयोग में धर्म है, वेद भी ऐसा ही कहता है । जो  
कोई शास्त्र को जानकर ( साधु रूप से ) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से  
युक्त होता है । वेद के शब्द भी ऐसी ही बात कहते हैं—जो अग्निष्टोम याग करता है  
और जो इसे ( शास्त्र से ) जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और  
जो इस चयन को ( विधिशास्त्र से ) जानता है ।

दूसरा कोई तत्तुल्यं वेदशब्देन इसका इस प्रकार व्याख्यान करता है—जिस  
प्रकार वेद के शब्द नियमपूर्वक पढ़े गये फल वाले होते हैं इसी प्रकार जो शास्त्रज्ञान-  
पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है ।

अथवा फिर ज्ञान में ही धर्म मान लो । भजी, अभी कहा था—

यदि ज्ञान में धर्म मानोगे तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होगा । यह कोई  
दोष नहीं । हम शब्द ( श्रुति भाक्तोपदेश ) को प्रमाण मानते हैं । शब्द, शब्द के  
ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता । और जो कोई कर्म न

१. यथा शब्दवमार्थरूपो बर्लियान्—इस न्याय से य उ चैनमेवं वेद इसका  
अर्थ पहले होना चाहिये । जो अग्निष्टोम को जानकर इसका अनुष्ठान करता है : यथा  
वेद भी ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का विधान करता है ।

यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा हिक्कित-  
हसितकण्डूयितानि नेत्र दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने । यो ह्यपशब्दाज्ञानाति  
शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं ज्ञाने धर्म इति युक्तोऽर्थादापन्नं भवति—  
अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म इति ।

अथवा कूपज्ञानरुचदेतद्भविष्यति । तद्यथा कूपज्ञानकः कूपं खनन्त्य-  
द्यपि मृदा पांसुभिदचावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुण-  
मासादयति येन स दोषो निर्हण्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति ।  
एवमिहापि । यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन  
च स दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ।

तो विहित हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उसके करने से न दोष होता है और न अभ्युदय,  
जैसे हिचकूची, हंसी और खुन्नी करना न दोषकारक होता है और न ही  
अभ्युदयकारक ।

अथवा अपशब्द-ज्ञान शब्दज्ञान में उपाय ही है । जो कोई अपशब्दों को  
जानता है वह शब्दों को भी जानता है । इस प्रकार ज्ञान में धर्म है ऐसा कइने  
वाचे के लिये पूर्व में अपशब्द ज्ञान होने पर जो शब्दज्ञान होता है उसमें धर्म है यह  
अर्थ-सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाता है ।

अथवा यह कूँ को खोदने वाले की तरह होगा । जैसे कूँ को खोदने वाला  
कूँ को खोदता हुआ मिट्टी और धूलि से विलिप्त ( दूषित ) हो जाता है, पर पानी  
निकलने पर वह उस स्नानयान आदि इष्ट-स्वाधन उत्कर्ष को प्राप्त होता है जिसमें वह  
दोष नष्ट हो जाता है, और बड़े अभ्युदय से योग होता है । इसी प्रकार यहाँ भी ।  
यद्यपि अपशब्द ज्ञान में अधर्म है ( ऐसा मान भी लिया जाय ) तो भी जो शब्द-ज्ञान  
में धर्म है उससे दोष ( पाप ) नष्ट हो जायगा और बड़े अभ्युदय से योग होगा ।

१. शब्द ज्ञान में अविनाभावी रूप से अपशब्द ज्ञान होता है, अपशब्दज्ञान  
उसमें सहकारी ( सहायक ) होगा है । अपशब्दों को स्वप्न- जान लेने पर तद्विज  
शब्दों का ज्ञान होता है । फल शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है, तदङ्गभूत अपशब्द-ज्ञान  
का पृथक् फल कुछ नहीं ।

२. यहाँ कर्ता में ष्युल् क्रिया है, प्रकृत में शिन्वी विवक्षित न होने से शिखिनि  
ष्युन् ( ३।१।१४५॥ से ष्युन् नहीं हुआ । ष्युन् होनेपर खनक रूप होता ।

३. निर पूर्वक इन् धातु का कर्मवाचक लृट् का प्र० पु० एक० में रूप है ।

यदप्युच्यते आचारे नियम इति । याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रा-  
नियमः । एवं हि श्रूयते—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋपयो यभूवुः प्रत्यक्ष-  
धर्माणः परावरजा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः । ते तत्र  
भयन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुज्यते, याज्ञे पुनः  
कर्मणि नापभापन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभापितम्, ततस्ते पराभूताः ।  
अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ।

सूत्रम् ।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—व्याकरणस्य सूत्रमिति । किं हि  
तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात् ।

और जो कहा है कि आचार अर्थात् व्यवहार में धर्म का नियम है, वह नियम  
यज्ञसम्बन्धी कर्म में लागू होता है, अन्यत्र नहीं। ऐसा सुनते हैं—यर्वन् और तर्वन् नाम  
के ऋषि हुए धर्म को साक्षात् किये हुए जो पर और अवर ब्रह्म को जानते थे, जिन्हें  
ज्ञेयमात्र का ज्ञान था और जिन्होंने ज्ञेय के सत्य वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किया था।  
वे पूज्य लोग यद्वा न, तद्वा न (जो कुछ हमारे लिये हो, वही हमारे लिये हो) ऐसा  
न कहकर यर्वाणस्तर्वाण. इस तरह का प्रयोग करते थे ( जिससे उनकी इसी नाम से  
प्रसिद्धि हो गई), पर वे यज्ञ कर्म में अपभाषण नहीं करते थे। असुरों ने यज्ञ कर्म में  
अपभाषण किया, अतः वे पराजित हुए ।

अब ( यह विचार्य है ) कि व्याकरण शब्द का क्या अर्थ है ।

सूत्र ( अर्थ है ) ।

( २१० ) व्याकरण का अर्थ यदि सूत्र हो तो षष्ठी का अर्थ संगत नहीं होता  
व्याकरण का सूत्र । व्याकरण सूत्र से कौनसा भिन्न पदार्थ है जिसका वह सूत्र हो ।

विश्व से विष्वद्भाव होने से हन् के ह् को ष् हुआ और उपधा वृद्धि हुई । पक्ष में  
निर्दिष्टान्यते ऐसा रूप होगा ।

१. प्राय मुद्रित भाष्य पुस्तकों में परापरज्ञाः ऐसा पाठ है, पर द्वे ब्रह्मणी  
वेदितव्ये परं चैशानरं च—इत्यादि में अनर देखा जाता है, वही प्रकृत में होना चाहिये )  
परापरज्ञाः ऐसा पाठ हो तो परा विद्या और अपरा विद्या इन दोनों को जानने वाले—  
यह अर्थ है ।

२. यथातथे भावः=याथातथ्यम् । तथाऽनतिक्रम्य यथातथम् ।

शब्दाप्रतिपत्ति

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे इति।  
न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि व्याख्यानतदच।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। न केवलानि चर्चा-  
पदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐच् इति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्यु-  
दाहरणं वाक्याध्याहारं इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।

एवं तर्हि शब्दः।

शब्दे ल्युडर्थः।

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो<sup>१</sup> नोपपद्यते। व्याक्रियन्ते शब्दा अने-  
नेति व्याकरणम्। न हि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते। केन तर्हि। सूत्रेण।

(वा०) शब्दों का बोध भी नहीं।

(सूत्र अर्थ होने पर) शब्दों का बोध न हो सकेगा। 'हम व्याकरण से शब्दों  
को जानते हैं' ऐसा व्यवहार भी न बन सकेगा। सूत्र मात्र से तो शब्दों को जानते  
नहीं।

तो किससे ?

व्याख्यान से भी।

अजी, वही सूत्र पढ़-छेद करके पढ़ा हुआ व्याख्यान हो जाता है।

केवल विभाग करके पढ़े गये पद व्याख्यान नहीं बन जाते—

वृद्धि, आत्, ऐच्।

तो क्या ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिल-जुलकर व्याख्यान  
बनता है।

तो ऐसी अवस्था में व्याकरण का अर्थ शब्द मान लो।

(वा०) शब्द अर्थ हो तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता। यह व्याकरण  
है इस लिये कि इससे शब्दों का प्रकृतिप्रत्यय-आदि-रूप विभाग किया जाता है।  
शब्द से तो कुछ भी विभाग नहीं किया जाता।

तो किससे ?

सूत्र से।

१ वाक्य को बनानेवाले पद जो दूसरे सूत्रों में पड़े हैं उनकी स्वरितप्रतिज्ञा  
के चल पर कल्पना करना प्रकृत में वाक्याध्याहार है।

२ यहाँ यह मानकर आपेय किया गया है कि ल्युट् कर्ण (और अधिकरण)  
में ही होता है।

भवे च तद्धित.

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति । नहि शब्दे भवो योगः । क्व तर्हि । सूत्रे ।

प्रोक्तादयश्च तद्धिता

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । आपिशल काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः । किं तर्हि । सूत्रम् ।

किमर्थमिदमुभयमुच्यते भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति । न प्रोक्तादयश्च इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ।

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं 'भवे च तद्धितः' इति पठितम् । तत उत्तरकालमिदं दृष्टं प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।

अयं तावददोषः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थ' इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युङ् विधीयते । किं तर्हि । अन्येष्वपि कारकेषु कृत्यल्युटो बहुलम् इति । तद्यथा—प्रस्कन्दन प्रपतनमिति ।

(वा०) तत्रभव 'उसमे होता है' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय भी नहीं हो सकेगा—व्याकरण में होनेवाला योग वैयाकरण होता है । ( यहाँ व्याकरण से तद्धित अण हुआ है ) । शब्द में तो योग होता नहीं ।

कहा होता है ।

सूत्र में ।

वा० तेन प्रोक्तम् (४।३।१०।१॥) से होने वाले तद्धित भी न हो सकेगा । पाणिनि से प्रोक्त को पाणिनीय कहते हैं, इसी तरह आपिशलि से प्रोक्त आपिशल और काशकृत्स्न से प्रोक्त काशकृत्स्न कहलाता है । पर पाणिनि ने शब्दों का प्ररचन नहीं किया, सूत्र का किया है ।

ये दोनों बातें भव अर्थ में तद्धित, और प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित क्यों कही जाती हैं ? और प्रोक्त आदि तद्धित कहने से ही क्या भव अर्थ में भी तद्धित प्रत्यय का आक्षेप (= सकेत) न हो जायगा ?

पहले आचार्य की दृष्टि में भवे च तद्धित आया और उसे उन्होंने पढ़ दिया, पढ़े उन्होंने प्रोक्तादयश्च तद्धिता इसे देखा और इसे भी पढ़ दिया । अब आचार्य सूत्रों को पढ़कर नहीं हटाते हैं ।

१ प्रपतति अस्माद् इति प्रपतनम् प्रपात = भृगुः, नतट, विना ढलान के सीधी खड़ी हुई ऊँची चगान ।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते—तद्यथा—गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति ।

अयं तर्हि दोषः—भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति ।

एवं तर्हि—

### लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुद्भितं व्याकरणं भवति । किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् । शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् । एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते । सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति । नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अप्यवेष्वपि वर्तन्ते । तद्यथा—पूर्वं पञ्जालाः, उत्तरे पञ्जालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्,

जो कहा था कि शब्द अर्थ होने पर शब्द में ल्युट् प्रत्यय का अर्थ न घटेगा । इसमें कोई दोष नहीं । करण तथा अधिकरण में ही ल्युट् प्रत्यय होता है इसमें कोई नियम नहीं । बहुत बार दूसरे कारकों के अर्थ में भी ल्युट् और ल्युट् देये जाते हैं, जैसे प्रस्फन्दन, प्रपतन इत्यादि (में) ।

अथवा शब्द भी दूसरे शब्दों का व्याख्यान करते हैं जैसे गो कहने से सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, न घोड़ा है न गधा ।

यह एक दोष रह गया—‘उसमें होता है’ इस अर्थ में और प्रोक्त आदि तद्धित नहीं हो सकेंगे ।

तो इस अवस्था में ।

(वा०) लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है । लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है । शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है । ऐसा होने पर यह दोष बना रहेगा—समुदाय में प्रवृत्त होने वाला व्याकरण शब्द अप्यय में प्रवृत्त न हो सकेगा । केवल सूत्रों को पढ़नेवाले को भी वैयाकरण कहना इष्ट ही है । यह कोई दोष नहीं । समुदाय को कहनेवाले ( जिनका समुदायत्व प्रवृत्ति-निमित्त है ) शब्द अप्यय अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे पञ्जाल के पूर्वभाग को पूर्वपञ्जाल कहते हैं, उत्तर भाग को उत्तरपञ्जाल, औषध आदि में संस्कृत तैल और घृत का मात्रा के लक्ष्य करके कहने की रीति है—(मैंने) तैल खाया, (मैंने) घी खाया । वस्त्र आदि के एक देग के शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण आदि होने पर कहा जाता है वस्त्र आदि शुक्ल

१. व्याक्रिया से यहाँ भी पृथग्भाव ( जुदा करना ) अथवा प्रविभाग अर्थ विवक्षित है ।

शुक्लो नीलः कपिलः, कृष्ण इति । एवमर्थं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तो ऽवयवेष्वपि वर्तते ।

अथवा पुनरस्तु सूत्रम् ।

ननु चोक्तम्—सूत्रे व्याकरणे पष्ठर्थोऽनुपपन्न इति । नैप दोषः । व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ।

यदप्युच्यते शब्दाप्रतिपत्तिरिति । न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । किन्तीहि व्याख्यानतश्चेति । परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति । ननु चोक्तम्—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आज्, ऐजिति । किन्तीहि । उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवतीति । अविजानत एतदेवं भवति । सूत्रत एव हि शब्दान्प्रतिपद्यन्ते । आतश्च सूत्रत एव । यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत ।

अथ किमर्थं वर्णानामुपदेशः ।

नील, कपिल अथवा कृष्ण है । इसी प्रकार यह व्याकरण शब्द समुदाय का वाचक होता हुआ भी अवयवों को भी कहने में प्रवृत्त होता है ।

अजी, वहाँ यह भी तो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर व्याकरण से पष्ठी विभक्ति संगत न होगी । यह कोई दोष नहीं । मुख्य के साथ जैसा व्यवहार होता है गौण (कल्पित) के साथ भी वैसा व्यवहार होता है इस न्याय से पष्ठी विभक्ति की संगति लग जायगी ।

और जो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर शब्दों का बोध न हो पायेगा, क्योंकि (केरल)सूत्र से शब्दों को नहीं जानते हैं किन्तु व्याख्यान से भी । इस दोष का परिहार किया जा चुका जब यह कहा गया कि वही सूत्र पदच्छेद से व्याख्यान बन जाता है । अजी यह भी तो कहा गया था—केरल विभाग करके पदे हुए पद व्याख्यान नहीं हो जाते—वृद्धि, आत्, ऐच् । तो क्या ? उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलतुल कर व्याख्यान होता है । न जाननेवाले के लिये ऐसा होता है, सूत्र से ही शब्दों को जानते हैं । और इस हेतु से भी सूत्र से ही जानते हैं—जो भी सूत्र का अतिरुम करके कहेगा, वह उसका वचन न माना जायगा ।

अब यह विचार्य हे कि वर्णों का उपदेश किस लिये किया गया है ।

१. व्यपदेशिवद्भावेन—जिस पदार्थ का किन्हीं निमित्तों के कारण एक विशिष्ट मुख्य नाम (व्यपदेश) होता है जिससे उसे कहा जाता है उसे व्यपदेशी कहते हैं, पर उन निमित्तों की अनुपस्थिति में भी एक अकेले पदार्थ से व्यपदेशी के लिये (जैसे व्यपदेशी से) शास्त्र में कहे हुए कार्य किये जाते हैं । इस अतिदेश को



वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः । किमिदं वृत्तिसमवायार्थं इति ।  
वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्ति-  
प्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः । का पुनर्वृत्तिः । शास्त्रप्रवृत्तिः<sup>१</sup> ।  
अथ कः समवायः । वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः । अथ क उपदेशः ।  
उच्चारणम् । कुत एतत् । दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य हि वर्णानाह—  
उपदिष्टा इमे वर्णा इति ।

(वा०) वृत्ति समवाय के लिये वर्णों का उपदेश है ।

वृत्ति समवाय क्या चीज है ?

वृत्ति के लिये समवाय वृत्तिसमवाय है, वृत्ति का उपकारक समवाय वृत्ति-  
समवाय है अथवा वृत्ति का प्रयोजक समवाय वृत्तिसमवाय है ।

वृत्ति क्या चीज है ?

शास्त्र की प्रवृत्ति ।

समवाय क्या पदार्थ है ?

वर्णों का क्रम से रखना ।

उपदेश क्या है ?

उच्चारण ।

यह कैसे ?

दिशु धातु उच्चारणार्थक है । उच्चारण करके ही तो कहता है इन वर्णों का  
उपदेश हो गया ।

व्यपदेशिवद्भाव कटने हैं । अत इन् (४११।९५) से अदन्त प्रातिपदिक ( सुबन्त बनाकर )  
से अत्रय अर्थ में इन् प्रत्यय का विधान है, सो अदन्त दक्ष से इन् होकर दाक्षि सिद्ध  
होना है । अब अ अन्त में होने से दक्ष शब्द का अदन्त यह व्यपदेश ( विशिष्ट-  
अपदेश=नाम) है, सो यह इस व्यपदेशवाला अथवा व्यपदेशी है, पर अ (=विष्णु) तो  
अमहाय अर्थ है, इमे अदन्त इम व्यपदेश वाला अर्थात् व्यपदेशी तो नहीं कहा  
जा सकता, तो भी जहाँ तक शास्त्र कार्य का सम्बन्ध है इसमें भी व्यपदेशी का सा  
व्यवहार किया जाना है । अस्यापत्यम् इ । इन् प्रत्यय होता है । भायकार  
आद्यन्तवदेकस्मिन् ( १।१।२० ) के स्थान पर व्यपदेशिवदेकस्मिन् ऐसा  
न्यास चाहते हैं ।

१. वर्ण समाम्नाय के होनेपर अच् आदि संज्ञाओं की निम्न होने से थोड़े में  
ही शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकेगी और इत्यणः सम्प्रसारणम् ( १।१।४५ ) आदि यथा-  
सङ्ख्य संज्ञा भी हो सकेगी ।

## अनुबन्धकरणार्थश्च

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्षयामीति । न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् । स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ।

## इष्टबुद्धयर्थश्च

इष्टबुद्धयर्थश्च वर्णानामुपदेशः—इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामहे<sup>१</sup> इति । न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञानुम् ।

इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः

इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ।

(वा०) अनुबन्ध लगाने के लिये भी ।

अनुबन्ध लगाने के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है—मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा । पर वर्णों का उच्चारण किये बिना अनुबन्ध लगाए नहीं जा सकते । सो वह वर्णों का उपदेश वृत्ति-समवाय (=शास्त्र-प्रवृत्ति) के लिये भी है और अनुबन्ध लगाने के लिये भी । वृत्तिसमवाय और अनुबन्ध लगाना प्रत्याहार बनाने के लिये है । प्रत्याहार शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है ।

(वा०) इष्ट ( वर्णों ) के बोधन के लिये भी ।

इष्ट वर्णों के बोध के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है, हम इष्ट वर्णों को जानेंगे इसलिये । क्योंकि बिना उपदेश किये इष्ट वर्ण जाने नहीं जा सकते ।

( वा० ) इष्टवर्णों के बोध के लिये यदि वर्णों का उपदेश मानते हो तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत—इनका भी उपदेश करना चाहिये । इन गुणों वाले वर्ण भी इष्ट ही हैं ।

( वा० ) जातिपरक निर्देश होने से इष्टसिद्धि हो जायगी । अथ जाति का उपदेश होने से सभी प्रकार की अ व्यक्तियों का ग्रहण ( बोध ) हो जायगा । इसी प्रकार इन्व जाति का और उत्त्व जाति का उपदेश सभी प्रकार के इवर्ण और उवर्ण का ग्रहण करा देगा ।

१. भोत्स्यामहे=बोधयिष्यामः । यहा णिच् का अर्थ अन्तर्भूत है, प्रयय से नहीं कहा गया ।

२. प्रत्याहारसूत्रों में के अ इ उ आदि अचों का एकध्रुति रो पाठ होने से यह प्रश्न है ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः ।  
तथेवर्णाकृतिः ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीना प्रतिषेधः

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । के पुनः  
संवृतादयः । संवृतः कलो ध्मात् एणीकृतोऽम्ब्रूकृतोर्द्धको ग्रस्तो निरस्तः  
प्रगीत उपगीतः द्विगुणो रोमश इति । अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हृतमम्ब्रूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।

सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेता. स्वरदोषभावनाः ॥ इति ।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

नेप दोषः ।

(वा०) आकृति उपदेश से यदि इष्टसिद्धि मानते हो तो संवृत आदि ( दोषों )

का प्रतिषेध करना चाहिये ।

तो संवृत आदि कौन से हैं ।

संवृत, कल, ध्मात्, एणीकृत, अम्ब्रूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत,  
द्विगुण और रोमश । दूसरा कोई ( वृत्तिकार ) कहता है—ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित,  
निर्हृत, अम्ब्रूकृत, ध्मात्, विकम्पित, सन्दष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण—ये  
स्वर दोष हैं । इनसे भिन्न व्यञ्जनोच्चारण के दोष हैं ।

१. संवृत आदि स्वरों के उच्चारण में दोष परिगणित किये हैं । संवृत अ  
का तो गुण ही है, दोष स्वरों के विषय में दोष रहेगा । जिह्वामूल की कण्ठ के समीप  
स्थिति होने से संवृतता नामक गुण ह्रस्व अ में अगता है । कण्ठ=अपने स्थान को छोड़  
दूसरे स्थान से उच्चारित होना, जिसे काकली कहते हैं । ध्मात्—जब श्वास की  
अधिकता से ह्रस्व भी दीर्घ शक्यता है । एणीकृत—माधारण रूप, जहा यह सन्देह हो  
कि इसने ओ का उच्चारण किया है अथवा औ का । अम्ब्रूकृत—जो व्यक्त होता हुआ  
भी मुँह के अन्दर उच्चारित हुआ सा मुनता है । अर्धक—जो दीर्घ भी ह्रस्व प्रतीत होता  
है । ग्रस्त—जो जिह्वामूल में निगृहीत, अव्यक्त । निरस्त—निःशुभ्र ( कर्कश ) अथवा  
मनान्तर में त्वरित । प्रगीत—साम की तरह गाकर उच्चारण किया हुआ । उपगीत—  
समीप में दूसरे वर्ण के गाने से अनुरक्त । द्विगुण—रूप युक्त । रोमश—गम्भीर ।  
अवलम्बित—वर्णान्तर से मिला हुआ । निर्हृत—रुद्ध । सन्दष्ट—बडाकर उच्चारण  
किया हुआ । विकीर्ण—आगे आनेवाले दूसरे वर्ण में जा मिला हुआ अथवा एक होता  
हुआ भी जो भासता हो ।

गर्गादिविदादिपाठात्सवृतादीनां निवृत्ति ॥

गर्गादि विदादिपाठात्सवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।

अस्त्यन्यद् गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम् । किम् । समुदायानां साधुत्व यथा स्यादिति । एव तर्ह्यष्टादशधा भिन्ना निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि । सा तर्हिं वक्तव्या ।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्ति ॥

( वा० ) गर्गादि गण तथा विदादि गण पाठ से ( अनिष्ट ) सवृत आदि की निवृत्ति हो जायगी ।

गर्गादि, विदादि पाठ का तो और प्रयोजन है । क्या ?

( गर्गादि ) समुदायों का साधुत्व हो इसलिये ।

ऐसी अवस्था में जैसे कलादिदोष रहित अठारह प्रकार के अ की शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति ( =पुन स्वरूप प्राप्ति ) कही है वैसे ही 'इ', 'उ' आदि के विषय में भी कह दूँगा ।

तो यह प्रत्यापत्ति तुम्हें कहनी पड़ेगी ( अर्थात् इससे गौरव दोष आयगा ) ।

( वा० ) कलादि दोषरूप लिङ्गों की निवृत्ति के लिये भी प्रत्यापत्ति रहेगी ( और इससे अनुबन्धों के स्थान में इन दोषों को लिङ्ग स्वीकार करन से अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी, जिससे कुछ भी गौरव नहीं होगा ) ।

१ समुदाय से यहाँ गर्ग आदि समुदाय अभिप्रेत हैं । जहाँ इनके गण पाठ में उपदेश से विशिष्टवर्णानुपूर्वी का साधुत्व ज्ञात होता है वहाँ इनके अन्तर्गत अकार आदि में कयादि दोषों की शून्यता भी प्रतीत होती है । क्योंकि आचार्य ने इन्हें शुद्ध ही पढा है, पर इतने से गार्ग्य आदि अन्य समुदायों में वर्तमान अकार आदि के कल आदि दोषों की निवृत्ति न हो सकेगी—ऐसा कैयट के अनुसार अर्थ है । नागेश इससे विपरीत अर्थ लेते हैं । उनका कहना है कि गर्ग आदि के गण में पाठ का प्रयाजन गर्ग आदि प्रकृतियों से यच् आदि प्रत्यय करके निष्पन्न गार्ग्य आदि समुदायों का साधुत्व बताना है, इस में चरितार्थ हुआ गर्गादि पाठ सवृत आदि दोषों की निवृत्ति न कर सकेगा ।

डिङ्गार्या सा तर्हि भवति । तत्तर्हि वक्तव्यम् । 'यद्यप्येतदुच्यते, अर्थं  
वैतर्हि अनेकमनुबन्धगतं नोच्यार्यमित्यत्र च न वक्तव्या, लोपश्च न  
वक्तव्यः । यदनुबन्धैः' नियते तत्कदादिभिः' सगिष्यते ।

निध्नन्त्येवम्, 'अपाणिनीय तु भवति । यथान्यासमेवास्तु । ननु  
चोक्तम्—आह्वानुपदेशान्मिद्धमिति चेत्सवृतादीनां प्रतिषेध इति । परिहृत  
मेतन्—गर्गादित्रिदादिपाठान्मवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यतीति । ननु चान्यद्

तत्र धातु आदि मे कदादि लिङ्ग कर् द्वय चार्हं । तत्र यद् कदा तत्र तो मरुदो  
अनुबन्ध नदी लगाने पदंग, इत्यत्रा भी नदी करनी होगा, ( इत्यत्रा का ) लोप भी  
नदी कदना पदंगा । जो कार्य अनुबन्धो द्वारा होता है उद् ( मय ) कदादि डिङ्गो द्वारा  
क्रिया पायगा ।

हो इत्य तर्ह भी इष्ट मिद्धि हो पायगी, पर यद् पाणिनीय शास्त्र के प्रतिकृत  
होगा । तो आह्वानुपदेशान् मिद्धम्—यद् वा कदा था, उद् टीक है । अती बड़ी टीक  
कैसे ? उसके मानन मे तो प्रत्येक दुष् मवृत्त आदि श्रापों का निरघ करना चाहिये  
ऐसा कदा था । पर उमका उत्तर दिया वा चुका तत्र यद् कदा गया—गर्गादि, त्रिदादि  
गण पाठ मे मवृत्त जादि ( दोरों ) की निवृत्ति हा पायगी । अती उद् यह भी तो  
कदा गया था कि गर्गादि, त्रिदादिगण-पाठ का उमग प्रयोजन है । क्या ? ( गर्गादि )  
ममुतायों की मातृता त्रियं हो । अरु तो गर्गादि त्रिदादि पाठ मे दोनों कार्य

१ यद्यपि = यदा, तत्र ।

२ अर्थवैतर्हि = तदा, तत्र ।

३ वैते अत्रिकार मूर्ति कर्न के शिष्ये स्वर्गित चिह्न कर् शिवा जाता है, वैसे  
ही आनेनेर के शिष्ये षष् शील् आदि धातुश्रीं का अनुगतो और लिन् न पत्त  
कदापुत्त पत् शिवा जायगा । कदादासनेरम् ऐमा मूरन्त्यास कर् दिया पायगा ।  
उय प्रकर स्वर्गित् तथा त्रिन् धातुना को ध्मानदापुत्त पत् शिवा जायगा । तत्र  
ध्मानत्कृतृगानिनि क्रियाकृते—नेना मूरन्त्यास हागा । ये कदादि दोष लिङ्ग-रूप से  
असक्त किय मर प्रक्षिप्या द्या में धूयना हागे, प्रयोग मे तो अकार आदि उद् ही हागे,  
क्योंकि शास्त्र के अन्द मे प्रजापति कर् दी गई है ।

४ वां समान्नाय का समर्थन करने दुष् तत्र यद् कदा कि उममें अचो और  
हगों का तानिगक निर्देश है, तत्र मंत्रन ( अकार मे यह लोप नहीं प्रत्युत गुण ही है )  
अदि लोप अत्रिप्रसक्त हुआ, उसके वाग्ण के लिए गौरव-युक्त व्याख्यानमापेन इम  
प्रकर के मर शास्त्र के अन्यथाकरण ( अत्र यदत्र ) में उदितकविर्भात मपेण दृष्टः

गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम् । किम् । समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति । एवं तर्ह्यभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते । कथं पुनरंकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् । लभ्यमित्याह । कथम् । द्विगता अपि हेतवो भवन्ति । तद्यथा आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति । तथा वाक्यानि द्विष्टानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति ।

अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—कवेमे संबृतादयः श्रूयेरन्निति । आगमेपु । आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते । विकारेपु तर्हि । विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते । प्रत्ययेपु तर्हि । प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते । धातुपु तर्हि । धातवोपि शुद्धाः पठ्यन्ते । प्रातिपदिकेषु तर्हि । प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि

किप् जाते हैं—पाठ भी विशिष्ट होता है (इस-इस आतुपूर्वी-विशेष वाले गर्ग आदि प्रातिपदिकों से यज्ञ प्रत्यय हो औरों से न हो) और कल आदि दोष भी निवृत्त किप् जाते हैं ।

पर क्या एक ही यत्न से दो फलों की प्राप्ति हो सकती है ?

हाँ, हो सकती है ।

कैसे ?

बुद्ध हेतु ऐसे होते हैं जो दो प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं । (जैसे जब आन्नवृक्ष के मूल में बैठा हुआ मनुष्य पितृवर्षण करता है तो) आमों का सिचन भी हो जाता है और पितरों की नृप्ति भी । इसी प्रकार वाक्य भी द्वयर्थक होते हैं—श्वेतो धावति इस वाक्य के दो अर्थ हैं—बुद्धा यहाँ से दौड़ता है, श्वेत गुणवाला दौड़ता है । अलम्बुसाना याता इस वाक्य के भी दो अर्थ हैं—अलम्बुस नामक देश को जानेवाला, बुद्धो को प्राप्त करने वाला समर्थ है ।

अथवा इससे (आह्वरयुपदेश से संबृतादि दोषों की प्रसक्ति बतानेवाले से) हम पृच्छते हैं कि ये संबृतादि कहाँ सुने जा सकते हैं । यदि कहाँ आगमों में । आगम तो (आचार्य ने) शुद्ध पढ़े हैं । तो विकारों (आदेशों) में सही । विकार (आदेश) भी शुद्ध पढ़े हैं । तो प्रत्ययों में । प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े हैं । तो धातुओं में । धातु भी शुद्ध पढ़े हैं । तो प्रातिपदिकों में । प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े हैं । तो फिर जिन प्रातिपदिकों

(विन्दू के विष से डरे हुए को साप ने डसा) यह न्याय लामू होता है ।

१. गर्ग आदि गण-पठित प्रातिपदिकों के अकारादि तो आचार्य के उच्चारण से दोष-शून्य ही हैं, अपठित प्रातिपदिकों के अकारादि भी ऐसे ही शुद्ध जानने चाहियें, यह अभिप्राय है ।

पठ्यन्ते । यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि । एतेषामपि स्वरचर्णानुपूर्वी-  
ज्ञानार्थं उपदेशः कर्तव्यः । शशः यय इति मा भूत् । पलाशः पलाय इति  
मा भूत् । मञ्चको मञ्चक इति मा भूत् ।

आगमाश्च विभाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।

उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेभे प्राप्ताः कलादयः ॥

इति प्रथम पस्पशाह्निकम् ॥

का विधिवाक्यों में उद्देश नहीं किया है (उनमें) । उनका भी स्वर और णानुपूर्वी  
के ज्ञान के लिए सङ्ग्रह इष्ट है, ताकि शश के स्थान में यय, पलाश के स्थान में  
पलाय, मञ्चक के स्थान में मञ्चक न हो ।

आगम, आदेश, प्रत्यय और धातु—ये सभी शुद्ध उच्चारण किए हैं, अतः  
इन कलादि दोषों का प्रसङ्ग ही नहीं ॥

यहा पस्पशा नामक प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।



## द्वितीय आह्निक का संक्षिप्त सार

इस आह्निक के अ इ उ ण् ॥१११॥ इस सूत्र से लेकर झ भ ज् ॥१११॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

### अ इ उ ण्

१ प्रक्रिया दशा में अकार विवृत है यह अ अ (८१४६८) सूत्र से ज्ञापित करके विवृतोपदेश के प्रयोजन बताये हैं।

२ अस्य च्चौ इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों के अकार को सर्वत्र एक मान कर अणु सिद्ध किया है।

३ अकार को एक मानने में प्राप्त दोषों का समाधान किया है। फिर व्यक्ति-पक्ष में अकार की भिन्नता दिखा कर आकृतिपक्ष में सर्वत्र एक अकार सिद्ध किया है।

### ऋ लृक्

लृकारोपदेश का प्रयोजन बताकर वार्तिककार ने लृकार का खण्डन कर दिया है। किन्तु भाष्यकार न अशक्तिजानुकरणार्थ लृकारोपदेश को माना है।

### ए ओ ङ्, ऐ औ च्

१. एत् ओत् ङ् ऐत् औत् च् इस प्रकार तपरनिर्देशयुक्त सूत्रन्यास का खण्डन करके ए ओ ङ्, ऐ औ च् यही न्यास निर्दोष सिद्ध किया है।

२. वर्ण ग्रहण म वर्णैकदेशों का ग्रहण नहीं होता यह सिद्ध करते हुए उस पक्ष में प्राप्त दोषों का समाधान किया है।

### ह य व र् ट्

१. ह य व र् ट् और हल् यहा हकार के दो बार उपदेश का प्रयोजन बताकर ह य व र् ट् इस न्यास को निर्दोष सिद्ध किया है। साथ ही ह र य व र् ट् इस न्यास में दिए गए दोषों का समाधान भी कर दिया है।

२. अयोगवाहों का लक्षण तथा उदाहरण देकर उनके पाठ का प्रयोजन बताया है।

३. वर्णों की अर्धवृत्ता और अनर्थकता पर विचार करते हुए धातु प्रातिपदिक-प्रत्ययनिपातस्थ वर्णों को अर्थवान् सिद्ध किया है।

४. प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण नही होता यह बताकर अणुदिसूत्र में अणु ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

### लृण्

अ इ उ ण् और लृण् में दो बार णकार अनुबन्ध लगाने का प्रयोजन बताते हुए व्याख्यानतः विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् यह परिभाषा ज्ञापित की है।

### ञ म ङ ण न म्, झ भ ज्

ञ म ङ ण न म् में मकार अनुबन्ध का खण्डन किया है। अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर उसका अर्थ किया है। साथ ही अक्षर समाप्ताय के ज्ञान से स्वर्गप्राप्ति रूप फल का निर्देश भी किया है।



## अथ द्वितीयाह्निकम्

अ इ उ ण् ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थ ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । आकारग्रहणार्थः । अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात् । किं च कारणं न गृह्णीयात् । विचारभेदात् । किमुच्यते विचारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि । यथैव ह्ययं विचारभिन्नः, एवं कालभिन्नोपि । सत्यमेव तत् । वक्ष्यति—तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् इत्यास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च

अ इ उ ण् ॥१॥

( वा० ) अकार विवृत उपदेश करना चाहिये, आकार के ग्रहण के लिये ।

अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? आकार के ग्रहण (बोधन) के लिये । ताकि अकार अपने सवर्ण के ग्रहणद्वारा आकार का भी ग्रहण कराये । क्या कारण है कि ग्रहण नहीं करायेगा ? विवृत-प्रयत्न रूप भेद से । विवृत-प्रयत्न-भेद से—ऐसा क्यों कहते हो, कालभेद से भी—ऐसा क्यों नहीं कहते ? जैसे यह आकार विवृत होने से भिन्न है वैसे ही काल से (द्विमात्रिक होने से) भी भिन्न है । ठीक है, पर आचार्य तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इस सूत्र में आस्य-ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए कहेंगे—जिनके आस्य ( मुख ) में स्थान और प्रयत्न समान हैं वे ( आपस में ) सवर्णसंज्ञक होते हैं । काल तो आस्य से बाहर है । अतः काल-भेद होते हुए भी अकार आकार का ग्रहण करा देगा, पर विवृतरूप प्रयत्नभेद के कारण नहीं करा सकेगा ।

१ यहाँ अ इ उ आदि वर्णों के अर्थवान् होने पर भी अर्थप्रज्ञा की विवक्षा न होने से उन से परे मु आदि विभक्ति की उपलिप्ता नष्ट का गई है । आद्गुण आदि अच् सन्धि भी इसी लिये नहीं होती कि वर्णोपदेशकाल में अभी अच् आदि सजाथा की निष्पत्ति नहीं हुई । जब तक पहले पृथक् २ वर्ण नहीं पड़े जायेंगे तब तक अच् आदि प्रत्याहार कैसे बनेंगे ? और जब तक अच् आदि प्रत्याहार नहीं उन तब तब आद्गुण आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

२ अकार लोक में संवृत ही है, पर शास्त्र प्रक्रिया में तब तक इसे निवृत्त न माना जाय, काम नहीं चढ़ सकता । प्रयत्नभेद के कारण अ और आ में सवर्ण मंजा न होगी, और दूज लिये । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय ( १।१।२९ ) इस ग्रहणन शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से अस्य च्वा ( अ४।३२ ) इत्यादि में अ से आ का ग्रहण (बोध) नहीं होगा । जिगसे गङ्गी भवति इत्यादि रूप की सिद्धि न होगी ।

ते सवर्णमंजा भवन्तीति । याद्यच्च पुनरस्यान्कालः<sup>१</sup> । तेन स्यादेव काल-  
भिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विचारभिन्नस्य ।

किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहो-  
स्त्विन्संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते । विवृतस्योपदिश्यमानस्य  
प्रयोजनमन्वाख्यायते । कथं ज्ञायते । यद्यम्—अ ज इति इत्यकारस्य  
विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ।

किम् । अतिखटयः, अतिमाल इत्यत्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति,

यहाँ (उन् वाचिक में) क्या सनजा जाय—क्या किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन  
बताया जा रहा है अथवा संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये यह  
कहा जा रहा है ? किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताना जा रहा है । यह कैसे  
जाना जाय ? उन्मे कि आचार्य ( शास्त्र के अन्त में ) अ ज इति सूत्र के द्वारा  
विवृत अकार को पुनः संवृत गुण की प्राप्ति का विधान करते हैं ।

यह कोई हम बात का ज्ञाक नहीं । अ ज इति उन् वचन का कोई और  
प्रयोजन है ।

क्या ?

अतिखटयः, अतिमालः यहाँ महत्तम आदेश विवृत के स्थान में विवृत प्राप्त

१ काल के विषय में बर्त मत है, पर मुख्य दो हैं—

(१) क्रिया ही काल है ।

(२) क्रिया से अनिश्चित क्षण मनुह काल है । किसी वस्तु के अन्दर होनेवाली  
क्रिया को दूसरी वस्तु की क्रिया परिनिष्ठान्त करती है । यहाँ दूसरी वास्तु वस्तु की अनेका  
क्रमे से काल को वाय कहा गया है । जैसे निम्न आदि क्रिया के भेद से मात्रा आदि काल  
कहा जाता है ।

अथवा नामि प्रमेय में ही किए गए विरिष्ट प्रयत्न (वायु की अल्पता, अविच्छता)  
से हन्व, ईर्ष रूप काल की अनिश्चित होने से और नामि आम्ब (सुख) से वाय है इन  
कारण से भी काल को वाय कहा है ।

२. यह अष्टान्यायी का अन्तिम सूत्र है । इसमें प्रथम अ उद्देश्य है और  
द्वितीय विषय है । अर्थ यह है कि अनी तक प्रकिया (प्रयोग साधना) के निमित्त इस  
अष्टान्यायी धाम्ने में जो हन्व अ विवृत माना गया था, वह प्रयोग-दशा में सर्वत्र संवृत  
होता है ऐसा समझना चाहिए । इसी लिए पूर्व के विवृत होने से और उन्मे उदरवर्ती  
द्वितीय अ के संवृत होने से प्रयत्नभेद के कारण सर्वत्र ईर्ष एकदेश नहीं हुआ ।

संवृतः स्यादित्येवमर्था प्रत्यापत्तिः' । नैनदस्ति । नेत्र लोके न च वेदेऽकारो विवृतोस्ति । कस्तर्हि । संवृतः । योस्ति न भविष्यति । तदेतन्नव्यापत्तिरचनं शापमत्र भविष्यति विवृतन्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति । कः पुनरत्र विशेषः । विवृतन्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत, संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोच्येति । न खलु रुचि-द्विशेषः । आहोपुरपिकामात्रं तु । भवति—संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोच्यत इति । यद्य तु श्रुते—विवृतन्योपदिश्यमानस्य प्रयो-जनमन्वाख्यायत इति ।

होता है, संवृत हो, अतः आशयं ने प्रत्यापत्ति का विधान किया है । नहीं, ऐसा नहीं । न तो लोक में और न ही वेद में अकार कहीं विवृत है ।

तो कैसा ?

संवृत । जो है वही तो (आदेशरूप में) होगा ।

इसलिए यह अ अ इति रूप प्रत्यापत्ति का शासन हमें वाद का जानक ही रहेगा कि कियुं गण विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ।

इसमें क्या भेद है—कियुं गण विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ऐसा मानें अथवा संवृतोच्चारण कियुं गण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, ऐसा ?

कुछ भी भेद नहीं । अभिमानमात्र है । आप कहते हैं—कियुं गण संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, हम कहते हैं—कियुं गण विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ।

१. शब्द का सञ्जन करने के लिए कृते ह कि इम र थ रूप प्रत्यापत्ति का और प्रयोजन है और प्रयोजन रहते शब्द होता नहीं । प्रयोजन यह है कि अतिवृद्ध, आदि प्रयोगों में जहाँ गोमित्रयोम्पमर्नस्य (१।१।१८८) में दीर्घ आकार का ह्रस्व होता है वहाँ वट ह्रस्व मज्ज हो, म्यानी आ के विगत होने से आन्तगतम् (माशतम होने में) उसके स्थान में ह्रस्व अ विवृत न हो जाय । अतः अकार का आचार्य ने विवृत-गु-युक्त उपदेश किया है इसमें कोई शङ्क नही । यदि कदा क अकार के विवृत उपदेश के बिना अकार और आकार का साकार्य न होने से आकार के अन्त होने पर अतिवृद्ध के आकार को ह्रस्व प्राप्त ही नहीं (इसलिए आचार्य ने अकार का विवृतोपदेश किया है ऐसा मानना होगा) तो इसका उत्तर यह है—उदीचामात स्थाने यकपूर्वाया (१।१।१८९) इस शब्द से निश्चय होता है कि आकार को भी ह्रस्व होता है । क्योंकि उदीचामात • यह सूत्र आकार के स्थान में हुए ह्रस्व अकार को इत्य विकल्प करता है ।

२. अहो अहं पुन्य इत्यहोपुरर । मयूरव्यमकादि मनाम । तस्य भाव आहो-पुररिका । अहो-पुररिका होने में बुन् । अर्थ—अहकार ।

तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि<sup>१</sup> विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥२॥

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः । क्वाऽन्यत्र । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य । किं प्रयोजनम् । सवर्णग्रहणार्थः । आक्षरसमाम्नायिकेनाऽस्य ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् । विवारभेदादेव । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणमिति । यद्यम्—‘अकः सवर्णे दीर्घः’ इति प्रत्याहारेऽको<sup>२</sup> ग्रहणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् ।

( वा० ) इस अकार का यहाँ ( प्रत्याहार सूत्र में ) विवृतोपदेश से अन्यत्र भी विवृतोपदेश करना चाहिए, सवर्ण ग्रहण के लिए ।

इस अकार का जैसे अक्षरसमाम्नाय में विवृतोच्चारण किया है वैसे ही अन्यत्र भी करना चाहिये ।

अन्यत्र कहीं ?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात में ध्रुयमाण अकार का ।

क्या प्रयोजन ?

सवर्ण ग्रहण के लिये ।

अक्षर सामान्याय वाला अकार इस दूसरे अकार का ग्रहण करा सके ।

किस कारण ग्रहण नहीं करा सकता ?

विवृतरूप प्रयत्न भेदसे ।

आचार्य का व्यवहार ज्ञापन करता है कि अक्षरसमाम्नाय वाला ( विवृत ) अकार धातु आदि में वर्तमान ( संबृत ) अकार का ग्रहण कराता ही है । क्योंकि आचार्य अत्र सवर्णे दीर्घ इस सूत्र में प्रत्याहार के रूप में अक् का ग्रहण करता है ।

यह कैसे ज्ञापक बनता है ?

अक्षर-समाम्नाय-स्थित दो अकारों की एक ही काल में सह-स्थिति का संभव नहीं ।

यह कोई ज्ञापक नहीं ।

१. अन्यत्र धातु आदि में । पढ़े हुए धातु आदि का अकार जो कि (व्यक्ति पक्ष में उच्चारण-उच्चारण में वर्णभेद होने से) अक्षरसाम्नाय वाले अकार से भिन्न है, उसके विषय में भी विवृतत्व की प्रतिज्ञा करनी चाहिये, क्योंकि वह आचार्य ने संबृत ही पढ़ा है ।

२. अक्षर सामान्याय के अकार का विवृतोपदेश होने पर भी ( व्यक्तिपक्ष में ) सद्भिन्न प्रयोगस्थ अ तो संबृत ही रहा, प्रयत्न-भेद के कारण अक्षरसमाम्नायस्थ अ इसका ग्रहण न करा सकेगा, सा इसे भी कार्यार्थ विवृत करना चाहिये । इस पर

अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यस्याक्षरसमाप्तायिन्न ग्रहणमस्ति तदर्थमेतत्स्यात्—एत्वाऽऽडम्, मालाऽऽडमिति । सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति । तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः । क एष यत्नश्चोद्यते विवृतोपदेशो नाम । विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा । को न्यत्र विशेषः । स एष सर्व एवमर्थो यत्नः क्रियते—यान्येतानि प्रातिपदिभ्योऽन्यग्रहणानि तेभ्यमेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति । तस्माद् वक्तव्यं धात्वा दिस्थदच विवृत इति ।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थं ॥ ३ ॥

इस ( अक सवर्णं दीर्घं ) वचन में अक ग्रहण का कोई और प्रयोजन है ।

क्या ?

निस ( आ ) का इस अक्षर-समाप्ताय वाले ह्रस्व ( विवृत ) से ( सवर्णता के कारण) ग्रहण होता है उसके लिये यह अक ग्रहण चरितार्थ है । (स) एत्वाऽऽडम् मालाऽऽडम् ( यहाँ एत्वा आडम्, माला आडम् दो ( विवृत अत एव सवर्ण ) आकार के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ ) । नत्र प्रयोजन सिद्ध होता हो, तो ज्ञापक नहीं बनता । इस लिये धातु आदि में का अक्षर विवृतोपचारण करना चाहिये ।

विवृत उच्चारण करना चाहिये इसमें वातिककार का क्या अभिप्राय है ?

सूत्र अथवा गणों में पठे हुए धातु आदि में आये हुए सभी अवर्णों को आचार्य पाणिनि विवृत पठेंगे, विवृत पठें अथवा संवृत, प्रयास का तारतम्य कुछ भी न होने से गौरव-लाघव कुछ भी नहीं । सो यह यत्न इस लिये किया जा रहा है कि निन शश पलाश, मञ्जक आदि प्रातिपदिकों को किसी सूत्र व गण में नहीं पना है उनके भी अकार का इस उपाय से विवृत उच्चारण विधान किया जा रहा है, अन्यथा स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् उनका उच्चारण करने से गौरव होता । इस लिये ( लाघव के लिये ) धातु आदि में के अकार का विवृत उच्चारण करना चाहिये ऐसा वचन अपेक्षित है ।

( वा० ) दीर्घ और प्लुत ( आदेश ) विधान में भी संवृत की निवृत्ति के लिये धातु आदि में वर्तमान अ का विवृत उपदेश करना चाहिये ।

कहते हैं कि एक लौकिक प्रयोग में एक साथ दो तो क्या एक भी अक्षर समाप्तायस्थ अ दुर्लभ है, पर आचार्य ने अक सवर्णं दीर्घं ( ६।१।१०१ ) सूत्र में अ से प्रारम्भ करके अक् प्रत्याहार पना है । अक् का अ अक्षरसमाप्तायस्थ अ है, अकार एप चिह्न के होने से, सो यह प्रतिज्ञा से विवृत है । इसका धात्वादिस्थ अ सवर्ण तभी हो सकता है जब कि वह भी इसी प्रकार विवृत हो । यदि वह आचार्य को विवृत अभिप्रेत नहा था, तो अक प्रत्याहार के अ में इक् प्रत्याहार पडते ।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः । दीर्घ-  
प्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति । वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता ३ इति । नैव लोके न च  
वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः । कौ तर्हि । विवृतौ । यौ स्तस्तौ भविष्यतः ।

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत् । अनुस्वारो यथा यणम् ।  
तद्यथा—सँय्यन्ता, सँव्यत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम् इति । अनुस्वारः  
स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति । विपम उपन्यासः । युक्तं यत्सतस्तत्र  
प्रफलसिर्भवति । सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । दीर्घप्लुतौ  
पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः । कौ तर्हि । विवृतौ । यौ स्तस्तौ  
भविष्यतः । एवमपि कुत एतत्—तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न  
पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्याताम्, ईकार ऊकारो वेति । वक्ष्यति—  
स्थानेन्तरतम इत्यत्र स्थाने इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनं  
यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं धर्तीयो भवतीति ।

इस लिये कि ( इस् अ के स्थान में ) किये हुए दीर्घ और प्लुत कहीं संवृत  
न हो जाय । वृक्षाभ्याम् ( वृक्ष भ्याम् ), देवदत्ता ३ ( देवदत्त ३ ) । ( परन्तु यह  
कोई प्रयोजन नहीं ) क्योंकि न लोक में और नहीं वेद में दीर्घ और प्लुत संवृत होते  
हैं । तो कैसे होते हैं ? विवृत । जैसे होते हैं वैसे आदिष्ट होंगे ।

पर संवृत स्थानी अपने सदृश संवृत दीर्घ और प्लुत की कल्पना कर लेगा,  
जैसे अनुस्वार अपने सदृश अनुनासिक यण की । जैसे—सँय्यन्ता ( संयन्ता ),  
सँव्यत्सरः ( संव्यत्सरः ), यँल्लोकम् ( य लोकम् ), तँल्लोकम् ( तं लोकम् ) इत्यादि में  
अनुस्वार ( जो अनुनासिक के स्थान में हुआ है ) अपने स्थान में अनुनासिक यण  
( य व ल ) की कल्पना करता है । यह दृष्टान्त ठीक नहीं । जो विद्यमान ( सिद्ध ) है  
उसकी कल्पना तो युक्त है । यण ( य व ल—दोनो ) प्रकार के प्रसिद्ध हैं, पर दीर्घ व  
प्लुत कहीं भी संवृत नहीं, न लोक में, न वेद में । तो कैसे हैं ?

विवृत ।

जैसे है वैसे होंगे ।

ऐसा होने पर भी यह क्योंकि है कि इस्व ( संवृत ) अ के स्थान में तुल्य स्थान ( कण्ठ )  
पर भिन्न-प्रयत्न वाले ( अर्थात् विवृत ) दीर्घ और प्लुत आकार तो होते हैं, तुल्य प्रयत्न  
वाले पर भिन्न-स्थान वाले ईकार अथवा ऊकार नहीं ? ( उत्तर )—

स्थानेऽन्तरतमः इस सूत्र में आचार्य कहेंगे—स्थाने पद की ( पंटी स्थाने योगा  
इस सूत्र से ) अनुवृत्ति आने पर भी फिर स्थाने ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ

१. संवृतः संवृता अन्यत्राभिवसाम्न यह वचन किन्हीं सामग्राह्यों का है ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनप्यात् ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति अस्य च्वाँ, यस्येति च । किं कारणम् अनप्यात् । न होतेऽणः, येऽनुवृत्तौ । के तर्हि । येऽक्षर-समाम्नाय उपदिश्यन्ते ।

एकत्वादकारस्य सिद्धम् ॥

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः ।  
अनुबन्धसङ्करस्तु ॥

नाना प्रकार का सादृश्य हो वहां स्थान-कृत सादृश्य यलपत्तर होता है ।

( वा० ) तो भी साक्षात् शास्त्र-प्रवृत्ति के अनुकूल सूत्र-निर्देश ( अर्थात् प्रत्याहार-रहित ) में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह निर्देश, अण नहीं । जैसे, अस्य च्वाँ सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा, तथा यस्येति च सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा । इन सूत्रों में उच्चारण किए हुए अ, इ अण नहीं । अण् से अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट अ इ उ इत्यादि का ग्रहण होता है ।

( वा० ) अकार के एक होने से इष्ट सिद्धि हो जाएगी ( अर्थात् उक्तदोष नहीं आएगा ) ।

जो अकार अक्षर सामान्याय में है, जो प्रत्याहार-रहित सूत्रनिर्देश में, जो धातु आदि में है, वह सब एक ही हैं ।

( वा० ) पर ऐसा होने से अनुबन्ध-पङ्क प्राप्त होता है ।

उनके मत में ईकार ऊकार भी संज्ञत प्रयत्न वाले होते हैं । इस लिए संज्ञत अकार के स्थान में संज्ञत ईकार ऊकार प्राप्त होने हैं । जैसे संज्ञत अकार के स्थान में तुय स्थान वाले भिन्न प्रयत्न वाले दीर्घ प्लुत अकार प्राप्त होते हैं वैसे तुय प्रयत्न वाले भिन्न स्थानवाले ईकार ऊकार क्यों न हो जावे यह प्रश्न है ॥

१. अनुवृत्तिनिर्देशः — वृत्तिमनुगत इत्यनुवृत्तिः । अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इससे प्रादिसमास, अनुवृत्तिश्चासौ निर्देशश्च = अनुवृत्तिनिर्देशः । वृत्ति = शास्त्रप्रवृत्ति, उसके अनुकूल निर्देश, जहां प्रत्याहार का आश्रयण न करके वर्णों का लक्ष्य-संस्कार के लिए सीधा उच्चारण है, जैसे अस्य च्वाँ ( अ० ३१२ ) में अ का ।

२. अस्य च्वाँ — इस में जो अ पड़ा है यह अण् नहीं, जैसे आ अण् नहीं वैसे ही अ भी नहीं, क्यों प्रति उच्चारण में वर्णभेद होता है ऐसा व्यक्तिपञ्च में माना जाता है । प्रत्याहारस्थ क् ( जैसे अक् में, ण् जैसे अण् में ) आदि से अक्षरसमाम्नायस्थ अ का अनुमान हो जाता है, पर अस्य च्वाँ में तो वैसा विह्व नहीं है ।

३. अकार, इकार आदि नियम व्यक्तिया हैं, एक ही व व्यञ्जक-वृत्ति-भेद से भिन्न सा भासता है, जैसे एक ही मुख आदि खन्न, तैल, आदर्श ( दर्श ) में प्रतिविम्बभेद

अनुबन्धसंस्कारस्तु प्राप्नोति । कर्मण्यण् आतोऽनुपसर्गे कः, इति केऽपि णित्कृत प्राप्नोति ।

एकाजनेकाऽग्रहणेपु चानुपपत्तिः ॥

एकाजनेकाऽग्रहणेपु चानुपपत्तिर्भवति । तत्र को दोषः । किरिणा गिरिणेत्येकाज्जक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति । इह च घटेन तरति घटिक इति द्वयज्जक्षणपृन् न प्राप्नोति ।

द्रव्यवच्चोपचाराः ॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति । तद्यथा द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको युगपत्कार्यं करोति । एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत् ।

विषयेण<sup>१</sup> तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

अर्थात् अ के एक होने से एक अनुबन्ध के कार्य के साथ साथ दूसरे अनुबन्ध के निमित्त से कार्यान्तर भी प्रसक्त होता है, जैसे क प्रत्यय का अ और अण् प्रत्यय का अ यदि एक ही है तो आतोनुपसर्गे क, की प्रवृत्ति होने पर गोद रूप बनेगा और स्त्रीत्वनिबन्धा में डीप् होगा नकि टाप्, कारण कि क का अ इत्संज्ञक णकार वाला भी है ऐसा समझा जाएगा । इतना ही नहीं णित् के कारण आतो युक्—से युक् आगम भी प्राप्त होता है ।

( वा० ) जिन सूत्रों में एकाच् अनेकाच् का—निमित्त रूप से ग्रहण किया है उनमें इष्ट रूप की असिद्धि रहेगी ।

इससे यह दोष आया कि किरिणा, गिरिणा यहां एकाच् हो जाने से विभक्ति अन्तोदात्त हो जाएगी और घटेन तरति घटिकः यह रूप न बन सकेगा, कारण कि टन् प्रत्यय द्वयच् से विधान किया है, पर यहां अ व्यक्ति के एकत्व के कारण घट शब्द एकाच् हो जाएगा ।

( वा० ) अकार के साथ द्रव्य का-सा व्यवहार प्राप्त होता है । जैसे द्रव्यों के विषय में ऐसा है कि अनेक लोग एक ही घट से एक ही समय में कार्य नहीं करते । इसी तरह अनेक लोग इस एक अकार को एक साथ उच्चारण न कर सकेंगे ।

( वा० ) विषय विषय में जो आचार्य अकार के साथ भिन्न-भिन्न लिङ्ग से नाना भासता है । अतः सब अ अण् ही, है । अतः सर्वत्र ग्रहणक शास्त्र (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय) की प्रवृत्ति होगी । यह व्यक्ति-स्फोट वादी सिद्धान्त्येवदेशी का मत है ।

१ वार्तिककार ने विषयत्व-रूप सामान्य को लेकर और अधिकरणत्व के स्थान में करणत्व की निबन्धा कर विषयेण यह तृतीया एक वचन का प्रयोग किया है, भाष्यकार विषय-भेद को दृष्टि में रखकर अधिकरणता का बोध कराने के लिए विषये-ऐसा, प्रयोग करते हैं ।



यद्यं विपये विपये नानालिङ्गमकारं करोति—कर्मण्यण्, आतोनुप-  
सर्गे कः, इति तेन शायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यान्नानालिङ्ग-  
करणमनर्थकं स्यात् । एकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत् । नैतदस्ति ज्ञापकम् ।  
इत्संज्ञाप्रकल्प्यर्थमेतत्स्यात् । न ह्ययमनुबन्धः शल्यकवच्चम्य उपचेतुम् ।  
इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात् । आयम्य<sup>१</sup> हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात् । कयोः ।  
आद्यन्तयोः । एवं तर्हि—

विपयं तु पुनर्लिङ्गकारणासिद्धम् ॥

यद्यं विपये विपये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—प्राग्दीव्यतोऽण्, शिवादि-  
भ्योण् इति । तेन शायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्ग-  
करणमनर्थकं स्यात् ।

अथवा पुनरस्तु

जोड़ता है, जैसे कर्मण्यण्—इसमें ण् आतोनुपसर्गे क—इसमें क, इस से जानते हैं कि  
एक ही स्थल में नानाऽनुबन्ध-निमित्तक कार्यों का साङ्ग्य नहीं होगा । यदि यह साङ्ग्य  
हो जाय, तो भिन्न-भिन्न लिङ्ग लगाना व्यर्थ हो जाए । एक अक्षर को सभी अनुबन्धो  
सहित पढ़ दे । यह कोई ज्ञापक नहीं । नानालिङ्गों (अनुबन्धों) का लगाना इत्संज्ञा की  
सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा । एक ही अक्षर को शय्यक (संज्ञा जो ऊपर नीचे कर्तों  
से ढपा हुआ होता है) की तरह अनुबन्धों से टाँपा नहीं जा सकता, कारण कि इत्संज्ञा  
में दोष आएगा । यत्न करने पर दो की इत्संज्ञा हो सकेगी । आदि और अन्त के हल्लों  
की । अच्छा तो—

(वा०) विपय-विपय में जो आचार्य अक्षर को बार-बार एक ही लिङ्ग (अनुबन्ध)  
से युक्त करते हैं, जैसे प्राग्दीव्यतोऽण्—यहां और फिर शिवादिभ्योऽण्—यहां भी,  
इससे जानते हैं कि अनुबन्ध-संकर नहीं होता । यदि हो तो बार-बार एक ही लिङ्ग  
को लगाना व्यर्थ हो जाय ।

अथवा फिर वही पहले पढ़ा हुआ—

१. गुण से यहा अनुबन्ध विवक्षित है । अनुबन्ध कार्य करने के लिए आश्रित  
किये जाते हैं, अतः उपकारक होने से गुण शब्द से व्यपदिष्ट किए जाते हैं । सर्वगुणम् =  
सर्वानुबन्धम् । कर्मण्यण् न कह कर कर्मणि कण् ऐसा कहे ।

२. आयम्य, यत्न कर । आङ् यम् का अर्थ सींचना, लम्बा करना होता है । यत्न  
करना गौणार्थ है । कण् इस अनुबन्ध समुदाय के आदि क् की लशकृतद्धिते (१।३।८)  
से इत्संज्ञा हो जायगी, अन्त्य द् की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत्संज्ञा हो जाएगी, पर बीच  
के ण् की तो किसी शास्त्र से इत्संज्ञा न हो सकेगी ।

त्रिपयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

इत्येव । ननु चोक्तम्—इत्संज्ञाप्रकल्प्यर्थमेतत्स्यादिति । नैप दोषः ।

लोकृत एतत्सिद्धम् । तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—

इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भवेति । यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते । एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते ।

यदप्युच्यते—एकाजनेकाञ्ग्रहणेषु चानुपपत्तिरिति—

एकाजनेकाञ्ग्रहणेषु चावृत्तिसख्यानात् ।

एकाजनेकाञ्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्चं भविष्यति । तद्यथा—सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमाम् इत्यावृत्तितः सप्तदशत्य भवति । एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्चं भविष्यति । भवेदावृत्तितः

(वा०) विषयेण तु नाना इत्यादि वातिक न्यास ही अनुबन्ध-सङ्कर-रूप दोष की निवृत्ति कर देगा । अजी, अभी कहा था कि नाना लिङ्गो का लगाना इत्संज्ञा की सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा और ज्ञापक न हो सकेगा । मत हो, इससे कुछ बिगड़ता नहीं । नाना लिङ्ग-हेतुक सङ्कर का अभाव तो लोक से सिद्ध है । जैसे लोक में कोई देवदत्त को ऐसे कहता है—

यहा (सन्धासाश्रम में) मुण्डी हो, यहा (ब्रह्मचर्याश्रम में) जटावात् हो, यहाँ (गृहस्थाश्रम में) शिखावाला हो । (एक होता हुआ भी वह देवदत्त) जिस चिह्न वाला जहा कहा जाता है उस चिह्न वाला वहा उपस्थित हो जाता है । इसी प्रकार अकार भी जिस चिह्नमाला (णित्त्व, कित्त्व, टित्त्वादि) जहा कहा जाता है उस चिह्नमाला वहाँ उपस्थित हो जाएगा ।

और जो कहा गया है कि जिन सूत्रों में एकाच्, अनेकाच् का ग्रहण है वहाँ इष्टसिद्धि नहीं होगी, उसका उत्तर यह है—

(वा०) एकाच् अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति द्वारा लब्ध सख्या से अनेकाच्च हो जायगा । जैसे (वेद में कहा है) विकृतियाग में सत्तरह समिदाधान के मन्त्र होते हैं । वस्तुतः वहा तेरह मन्त्र होते हैं, जिनके प्रथम और अन्तिम मन्त्र को तीन बार उच्चारण करके सत्तरह सख्या बन जाती है । इसी प्रकार यहाँ (घट आदि में) आवृत्ति से अनेकाच्च हो जाएगा, (जिससे द्वयच् से विहित ङ् प्रत्यय हो जाएगा और घटिक यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाएगा) । अच्छ आवृत्ति करके इष्टकार्य सिद्ध हो जाने से दूषण (सूत्र की अग्न्यासि) का परिहार संभव होने पर भी यहा किरिणा गिरिणा में स्वरूप से एकाच्च (एक ही इकार) के होने से एकाच्

कार्यं परिहृतम् । इह तु सलु किरिणा गिरिणेत्येकाज्जलक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येवम् । एतदपि सिद्धम् । कथम् । लोक्ततः । तद्यथा ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्यो दत्त्वा तथा सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः । एवमिहाप्यनेकाच्चत्वं भविष्यति । यदप्युच्यते द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्तीति । भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात् ।

को मानरु जो विभक्ति की अन्तोदात्ता प्राप्त होती है वह तो होकर रहेगी ( यह दूषण अपरिहृत रहा ) ।

इसका परिहार भी हो जाएगा ।

कैसे ?

लोक व्यवहार से ।

जैसे एक हजार ऋषि एक-एक करके एक ही कपिला गौ को हजार बार (किसी ब्राह्मण को) देते हैं, इससे वे सहस्र गोदान करनेवाले कहे जाते हैं (सहस्र गोदान का फल उन्हें मिलता है, न कि एक गोदान का) । इसी प्रकार यहा भी अनेकात्त्व हो जाएगा । जो यह कहा है कि अन्तर के एक होने से इसके साथ द्रव्य का सा व्यवहार प्राप्त होता है । (उसमें हमें यह कहना है)— जो कार्य असम्भव है वह भले ही अनेक पुरर एक ही समय न कर सकें, जो कार्य हो सकता है उन अनेक लोग भी एक साथ

१ यदि अ एक ही है तो घट शब्द एकाच् हो जाएगा, तब इससे तरति इस अर्थ में नौद्वयच ठन् (४।४।७।।) से ठन् प्रत्यय न हो सकेगा और घटेन तरति, इस अर्थ में घटिक यह इष्ट रूप न बन सकेगा । इस सूत्र से यहा अव्याप्ति रहेगी । इसका परिहार आग्रति से किया है ।

२ किरि, गिरि में यदि इकार व्यक्ति एक हा है तो यह किरि ( सूअर ) और गिरि शब्द स्वरूप से एकाच् हुए, तो साधेकाचसृतीयाद्विर्भिक्ति ( ६।१।१६८ ) इस सूत्र की अतिव्याप्ति होकर किरिणा, गिरिणा—ये पद अन्तोदात्त हो जायेंगे ।

३ यहा कुठ विद्वान् दान प्रतिग्रहमाला ममसते हैं । वे ऋषि दाता भी हैं और प्रतिग्रहीता भी । सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम ऋषि केवल दाता ही होगा, प्रतिग्रहीता नहीं । ऋषियों का प्रतिग्रहीतृत्व उनके दातृत्व का अपकर्षक भी है । वस्तुतः स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक दानकर किसी प्रतिग्रहीता ब्राह्मण से प्रत्येक ऋषि उस एक कपिला गौ को मोल लेकर उसे ही प्रतिग्रह-रूप में लौटा देता है । यहा लोकव्यवहार से यह सिद्ध होता है कि — गौणी मुख्या वा उत्तरा सङ्ख्या पूर्वा सत्या बाधते, आवृत्ति से यहा एक ही गौ सहस्र = सत्प्राक हो गयी, क्योंकि उन सहस्र ऋषियों को एक गौ का फल नहीं मिला, किन्तु सहस्र गौओं के दान का । ऐसे ही प्रकृत में

यत्खलु संभवि कार्यमनेकोपि तद्युगपत्करोति । तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा । संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम, अनेकोऽपि तद् युगपत्करिष्यति ।

आन्यभाष्यं तु कालशब्दव्यवायात् ॥ ११ ॥

आन्यभाष्यं त्वकारस्य । कुतः । कालशब्दव्यवायात् । कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च । कालव्यवायाद्—दण्ड अग्रम् । शब्दव्यवायात्—दण्डः । न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम् । भवति चेद्भवत्यान्यभाष्यमकारस्य ।

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् ॥ १२ ॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शानान्मन्यामह आन्यभाष्यमकारस्येति । यद्यं युगपद् देशपृथक्त्वपूपलभ्यते—अश्वः, अर्कः, अर्थ इति । न होको देवदत्तो युगपत्सुध्ने च भवति मथुरायां च ।

यदि पुनरिमे वर्णाः

करते हैं जैसे घड़े का स्पर्श और दर्शन । अकार का उच्चारण—रूप कार्य भी हो सकता है, अनेक लोग इसे एक-साथ उच्चारण कर सकते हैं ।

( वा० ) अकार अन्यान्य ( नाना ) होने चाहिये कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान होने से ।

अकार का नानात्व सिद्ध होता है । कैसे ? कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान के कारण । कालकृत व्यवधान, जैसे दण्ड अग्रम्, यहाँ । शब्दकृत व्यवधान, जैसे दण्ड, यहाँ । एक ही पदार्थ में व्यवधान नहीं होता है तो ( निश्चित ही ) अकार नाना है ।

( वा० ) एक साथ नाना देशों ( स्थानों ) में उपलब्ध होने से ।

एक साथ नाना स्थानों में देखे जाने से हम समझते हैं कि अकार नाना है । क्योंकि यह अश्व, अर्क इत्यादि स्थलों में एक-साथ देखा जाता है । एक ही देवदत्त एक साथ सुध्ने और मथुरा में नहीं हो सकता ।

यदि ये वर्ण पक्षियों की तरह हों ।

स्वरूप से यद्यपि गिरि, गिरि ( इ के एक होने से ) एकाच् हैं, पर आरुति से प्राप्त हुई उत्तर संख्या द्वयचक्रता स्वरूप—सिद्ध पूर्व संख्या एकाचत्व को बाध लेगी और इससे यहाँ सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

१. अन्यस्य भावः = अन्यभाव स एव आन्यभाष्यम् । स्वार्थे व्यञ्ज ।

२. देश से यहाँ वर्ण—समुदाय रूप शब्द का ग्रहण है ।

शकुनितस्यु ॥

तद्यथा शकुनय आशुभामिन्वात्पुरस्ताद्रुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते ।  
अयमकारो द इत्यत्र दृष्टो षड इत्यत्र दृश्यते ।

नेत्र शक्यम् । अनित्यत्वमेव स्यात् । नित्याश्च शब्दा । नित्येषु च  
शब्देषु कूटस्थैरपि चालिभिर्वर्णभेदिन्यमनपायोपत्रनपिसारिभिः ।  
यदि पुनरिमे वर्णाः—

आदित्यस्यु ॥

तद्यथा—एक आदित्योऽनेकाधिरणस्यो युगपद् देशप्रपत्त्येव  
लभ्यते । त्रिषम उपन्यासः । नेत्रो द्रष्टाऽऽदित्यमनेकाधिरणस्य युगपद्  
देशपृथक्त्वेषूपलभतेऽकार पुनरुपलभते । अकारमपि नोपलभत । कि  
कारणम् । श्रोत्रोपलधिर्मुद्विनिर्गद्य प्रयोगेणाभिचलित आकाशदेश शब्द ।  
एक च पुनराकाशम् । आकाशदेशा अपि ग्रहण । यावत्त ग्रहस्तस्मादात्म्य  
भायमकारस्य ।

इमे पक्षी जागे का पोर उड टुण शीप्रगति क कारण पाठ का नर त्रर जान  
है इसा प्रकार द में दया हुआ य षड में ( पाठ का नर ) दया जाता है ( वर्ण  
वर्ण-संक्रम = स्थान परिवर्तन हो जाता है ) ।

यद नहीं हो सकता, कारण कि इस प्रकार शब्द में अनियता या आया ।  
परन्तु शब्दों में वर्णों को कृत्स्न ( नित्य वरहित ) स्थापरिवर्तन-रहित नाम वृत्ति  
और आकाश से रहित होना चाहिये ।

यदि ये वर्ण—

( वा० ) आदित्य की तरह हो

इस एक ही सूर्य उदय आदि कार्य में अनेक स्थानों में विरा, भिन्न भिन्न स्थानों में  
( रहन वाले लोगों में ) एक-साय देखा जाता है ( एमही एक ही नकार भा ) । यह  
दृष्टान्त सिक नहीं । ( यहा विरमता है और यह यह है कि ) एक ही पुरुष भिन्न भिन्न  
स्थानों में वर्तमान सूर्य को भिन्न भिन्न स्थानों में एक-साय नहीं त्रर पाता, अकार को  
तो देखता है ( इसस अकार व्यक्तियों का नानात्व हा सिद्ध होता है ) । इन पर एतद  
वादा फिर कर्ता है—अकार को भी इस प्रकार पृथक् पृथक् स्थानों में नहीं देखता ।  
क्या कारण ? शब्द ( स्फोट रूप ) श्रोत्र से उपलब्ध तथा बुद्धि से निर्गमित ध्वनि स  
अभिव्यक्त होता है, और आकाश इसका दान है । आकाश एक अखण्ड वस्तु है । ( न )  
आकाश क भी नाना प्रदेश है । ( वर्णान् उपाधिभेद स प्रकृतता घनता, इत्यादि  
नाना आकाश-देश है ) । चूंकि नाना प्रदेश है इसीलिये तन्नाश्रित अकार भी नाना है  
एक नहीं ।

१ श्रोत्रोपलधि = श्रोत्रेणोपलभ्यत इति । वर्मणि निव ।

## आवृत्तिग्रहणात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति, तथेवर्णाकृतिः,  
तथोवर्णाकृतिः ।

तद्वच्च तपरकरणम् ॥

एव च कृत्वा तपरा क्रियन्ते—आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति । ननु च  
सवर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन् । प्रत्याख्यायते तत्—  
सवर्णोऽग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्चेति ।

हल्ग्रहणेषु च ॥

स्मि । आकृतिग्रहणात्सिद्धमित्येव । इलो इलि, अवात्ताम्,  
अवात्तम्, अवात्तं । यजेतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति ।

( वा० ) आकृति ( जाति ) का ही सर्वत्र ग्रहण होने से समस्त दोषों का वारण  
और सर्वेष्ट सिद्धि हो जायगी ।

अकार जाति का निर्देश होने से सारे अकार-कुल का अर्थात् अकारह प्रकार के  
अकार का ग्रहण हो जायगा । इसी प्रकार इकार जाति का निर्देश होने से, इसी प्रकार  
उकार जाति का ( शेष सभी वर्णों के विषय में भी ऐसे ही जानो ) ।

( वा० ) इसी लिये तो तपर किया गया है ।

आकृति ग्रहण ( जातिनिर्देश से जहाँ अतिप्रसङ्ग का भय होता है वहाँ आचार्य  
तपर करते ) ।

क्यों जी, तपर तो जहाँ सवर्ण ग्रहण से अतिप्रसङ्ग होता हो उस के वारण के  
लिये भी किया गया हो सकता है । ( नहीं ) सवर्ण ग्राहक शास्त्र में पड़े हुए अण् का  
सवर्णोऽग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च इस वचन से प्रत्याख्यान किया गया है ।

१ त्वदादीनाम, इत्यादि में वर्णममाम्नाय में जातिपरक निर्देश है इस पक्ष  
में तथा उदात्त आदि गुण भेदक नहीं होते इस पक्ष में दीर्घ आदि के वारण के लिये  
अणुभिन्मूत्र में अप्रत्यय ( = अविधायमान ) का ग्रहण करना आवश्यक है । उदिन् ग्रहण  
भी इष्ट है, केवल अण् का प्रत्याख्यान किया गया है ।

२ व्यक्तिपक्ष में झर् मे एक तकार-व्यक्ति का बोध होगा । बलो इलि सूत्र  
में यदि पञ्च न्त इल पद में त् का ग्रहण होगा तो सप्तम्यन्त इलि पद से दूसरी तकार-  
व्यक्ति का ग्रहण नहीं हो सकता । तो प्रकृत में ( अवात् स् ताम् इत्यादि में ) स्  
का लोप न । मदेगा और इष्ट-रूप अवात्ताम् सिद्ध न होगा । ( अणुमा होने पर

रूपसामान्याद्वा ॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत् । तद्यथा—तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मधुरायाम्, तानेव शालीन्मुञ्जमहे ये मगधेषु, तदेवेदं भवतः कार्पाषणं यन्मधुरायां गृहीतम्, अन्यस्मिंदचान्यस्मिन् रूपसामान्यात् तदेवेदमिति । एवमिहापि रूपसामान्यात्सिद्धम् ॥

( वा० ) जिन सूत्रों में इल् का ग्रहण है उनमें भी आकृति-निर्देश से इत्-सिद्धि हो जायगी ।

जहाँ अण् नहीं और इस लिये सवर्णग्रहण का प्रसङ्ग ही नहीं, जैसे इल् से परे स् का लोप होता है इल् परे होने पर—अवात् स् ताम् = अवात्ताम्, अवात्सु तम् = अवात्तम्, अवात्सुत = अवात्त ।

( वा० ) अथवा ( जातिपक्ष का आश्रयण न करनेपर ) हृत्ग्रहण वाले सूत्रों में रूप की समानता को लेकर इष्टसिद्धि हो जायगी ।

जैसे—हम उन्हीं शाटकों को पहन रहे हैं, जो मधुरा में थे, उन्हीं चावलों को खा रहे हैं जो मगध में थे, यह आप का वही कार्पाषण है जिसे ( आपने ) मधुरा में लिया था । और-और पदार्थ में केवल रूप-सादृश्य से ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही है । इसी प्रकार प्रकृत में हल् वर्णों में ( प्रति उच्चारण वर्णभेद होने पर भी ) रूपसादृश्यसे यह वही वर्ण है ऐसी प्रतीति होने से सत्र इष्ट ( कार्य ) सिद्ध हो जायगा ॥

भी सूत्र ( झलो झलि ) व्यर्थ नहीं हो जाता । वह अग्रान्ध् स् ताम् इत्यादि स्थलों में चरितार्थ रहेगा, क्योंकि वहाँ इल् पद से दो भिन्न व्यक्तियों ध् त् का ग्रहण है ) । अतः अवात्ताम् आदि की सिद्धि के लिये जातिपक्ष स्वीकार करना होगा । तब इल् से जो न् गृहीत होता है वह तन्वावच्छिन्न परक है । वह तकारमात्र लिया जाएगा ।

१. व्यक्ति पक्ष में उदात्त आदि, ह्रस्वदीर्घादि अनुनासिक, निरनुनासिक आदि भेद के कारण अचो में रूप-सामान्य दुर्लभ है, अतः वहाँ रूपसामान्य को लेकर निर्वाह नहीं हो सकता । हाँ, हलों में इस प्रकार का कोई धर्मभेद न होने से रूप-सामान्य का आश्रय करके सामान्य-मूलक अभेद का आरोप करके निर्वाह हो जायगा । इल् पद में गृहीत हुए एक तकार व्यक्ति के साथ दूसरे तकार व्यक्ति का रूपसामान्य होने से अभेदा-रोप करके झल्वेन ग्रहण हो जायगा, जिससे अवात्ताम् आदि रूप-सिद्धि में बाधा न होगी ।

## ऋलृक् ॥

अथ लृकारोपदेशः क्रियर्थः । किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यत न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते । यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशो प्रयोजनमस्ति, लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति । को वा विशेषः । अयमस्ति विशेषः । अस्य हि लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः । यद्वापि प्रयोग-विषयः सोऽपि ऋलृपिस्थस्येव । क्लृपेच्च लृत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वा-दृकारस्यैवाचमर्याणि भविष्यन्ति । नार्थं लृकारोपदेशेन ।

अत उत्तरं पठति—

लृकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः ॥

लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दाद्यौऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्या-द्यर्थश्च । यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चित् लृतको नाम । तस्मिन्न-चमर्याणि यथा स्युः—दधृलृतकाय देहि, मधृलृतकाय देहि उदृलृलृत-कोऽगमत्, प्रत्यङ् लृतकोऽगमत् । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा-गुणशब्दा-क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ।

## ऋलृक् ।

यहा प्रश्न होता है कि ( अक्षरसमाम्नाय मे ) लृकार उपदेश (लृकार पढ़ने) का क्या प्रयोजन है । पर विशेष करके लृकारोपदेश के विषय में क्यों पूछते हो, दूसरे वर्णों के उपदेश के विषय में क्यों नहीं पूछते हो । यदि दूसरे वर्णों के उपदेश का कोई प्रयोजन है वह लृकारोपदेश का भी हो सकता है । अथवा भेद क्या है ? भेद यह है—प्रथम तो लृकार के प्रयोग का विषय ही थोड़ा है और जो है भी वह क्लृप् धानु के लृकार का ही । और क्लृप् का लृप् असिद्ध होने से अकार्य ( अस्थानिक, अच्-निमित्तक कार्य ) स्वर को ही हो जाये, लृकारोपदेश का कुछ प्रयोजन नहीं ।

इसलिये उत्तर पढ़ते हैं—

( वा० ) लृकारोपदेश यदृच्छा ( संज्ञाशब्द ), अशक्ति से किये हुए अनुकरण, तथा प्लुत आदि कार्यों के लिए चाहिये ।

पहले यदृच्छा को लीजिये—अपनी इच्छा से किये गये सकेतके कारण कोई लृतक नाम से प्रसिद्ध है । उस लृतक नाम के परे रहते अच् निमित्तक कार्य जिस प्रकार हो सके—( उँसे )

दधृलृतकाय देहि ( लृतक नामक पुरुष को दही दो ), मधृलृतकाय देहि ( शहद लृतक नामक पुरुष को दो,—इन दो वाक्यों में दाधि और मधु के इ, उ के अनन्तर



अशक्तिजानुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम् । तस्यानुकरणं ब्राह्मण्यऋतक इत्याह कुमार्यु लृतक इत्याह ।

प्लुत्याद्यर्थश्च । के पुनः प्लुत्यादयः । प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः । क्लृप्तेशितः । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः । प्लुत्यादिषु कार्येषु कृपेर्लत्व सिद्धम् । तस्य सिद्धत्वाद्चकार्याणि न सिध्यन्ति । तस्माद् लृकारोपदेशः क्रियते ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि ।

लृतक के लृकार आने पर लृ को अच् मानकर इ, उ के स्थान में यण हुआ है और जैसे उदङ्लृतकोऽगमन्, प्रयङ्लृतकोऽगमन् ( लृतक उत्तर में ओर गया, लृतक पश्चिम की ओर गया) इन दो वाक्यों में उदङ और प्रत्यङ के ण से पर लृतक का लृकार होने से अच् मानकर ङ्गुट भागम हुआ है । चार प्रकार के शब्दों का प्रयोग देखा जाता है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और चौथे यदृष्टाशब्द ।

अशक्ति से किए गए उच्चारण के अनुकरण के लिए—(१) किसी एक ब्राह्मणी ने अमामर्थ्य के कारण ऋतक उच्चारण न करके लृतक ऐसा उच्चारण कर दिया । दूसरा यह बताने के लिए कि उस ब्राह्मणी ने कैसा उच्चारण किया उसका अनुकरण करते हुए कहता है—ब्राह्मण्य लृतक इत्याह, कुमार्युलृतक इत्याह (यहां लृ को अच् मानकर ब्राह्मणी-शब्द के अन्त्य ई को यण हुआ है) ।

प्लुत आदि कार्यों के लिए भी ( अचों में ऋ का उपदेश (पाठ) होना चाहिए )— यहाँ प्लुत आदि कौन से कार्य समझना चाहिए ? ऋने द्वयन और स्वरित । प्लुत जैसे क्लृप्तेशित्य में, क्लृप्तचन । द्विन ) जैसे क्लृप्त में, स्वरित जैसे प्रक्लृप्त में । इन कार्यों के प्रति ऋणो रा ऋ ( ८।१।१८ ) मूल से ङ्गु धातु के ऋ के स्थान में जो लृकार हुआ है वह सिद्ध है ( क्योंकि यह कार्य त्रिपादी होने पर पर है और लृत्वत्रिधि पूर्ण है ) । लृ का अचों में पाठ किए बिना ये कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, अतः लृ का अक्षरसमाम्नाय में अचों के मध्य में पाठ किया गया है ।

ये प्रयोजन नहीं— (इसमें हेतु)—

१. गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्यैकस्य प्राच्याम् ( ८।१।८२ ) से प्लुत ।
२. अनचि च ( ८।१।४७ ) में द्विन ।
३. प्रक्लृप्तः में गतिरनन्तर ( ६।१।४९ ) में प्रक् प्रकृति स्वर उदात्त होने से शेष निपात होने से उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित ( ८।१।२६ ) में क्लृ स्वरित होता है । गतिरनन्तरः की प्रगति के लिए यहा क्लृप् ऋ अन्तर्भावित प्यैक समझना चाहिए, तभी उगमे मर्ममक्ता आयगी ।

न्याय्यभावात्कल्पन सज्ञादिषु ॥

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात्कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते । ऋतक एवासो न लृतक इति । अपर आह— न्याय्य ऋतक शब्दः शास्त्रान्वितोस्ति, स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु । ऋतक एवासो, न लृतक इति । अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिट लृफिड् इति । एषोपि ऋफिट ऋफिड् इति । कथम् ? अतिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते, फिड्-फिड्वाचोणादिभ्यो प्रत्ययो । त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः— जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ।

अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथा कृत्वा परिहारः । सन्ति यदृच्छा-शब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तं न सन्तीति परिहारः । समाने चार्थे शास्त्रा-

( वा० ) न्याय्य ( प्रवृत्ति प्रत्यय से निम्न ) ऋतक शब्द के होने से उसी का सज्ञा आदि में प्रयोग करना उचित है ऐसा मानते हैं । अतः उस पुरुष का ससृत्त नाम ऋतक है, लृतक नहीं । दूसरा कोई वृत्तिकार इस वार्तिक का ऐसा व्याख्यान करता है शास्त्रानुकूल सस्कारवान् ऋतक शब्द है, उसी का सज्ञा आदि में प्रयुक्त हुए अमाधु शब्द के स्थान में अनुमान कर लेना चाहिए, वह ऋतक ही है, लृतक नहीं ( इससे ऋतक के ऋ को निमित्त भादि मानकर अन्वय हो जाएगा, लृ के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं ) ।

अच्छा तो यह यदृच्छाशब्द मानना ही होगा—लृफिट, लृफिड् । यह भी व्युत्पन्न साधुरूप में ऋफिट और ऋफिड् ही है । कैसे ? ऋ धातु का प्रयोग लोके में देखते ही हैं, फिड् और फिड् औणादिक प्रत्यय हैं । इस लिए कहना होगा कि शब्द तीन प्रकार के ही हैं—जाति-शब्द, गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्द । यदृच्छा-शब्द कोई नहीं है ।

एक प्रकार का कथन करके प्रयोजन बताया, और उससे भिन्न प्रकार का कथन करके परिहार बताया यदृच्छा शब्द हैं, इस पक्ष को स्वीकार कर लृकारोपदेश का प्रयोजन बताया । यदृच्छा शब्द नहीं होते ऐसा मानकर लृकारोपदेश की कर्तव्यता का निरोध कर दिया (सो उचित नहीं) । (और रही न्याय्य शब्द ऋतक भादि के प्रयोग अथवा अनुमान की बात) वहाँ हमें यह कहना है कि वाच्यार्थ के एक होते हुए ही

१ न सन्ति—यदृच्छा शब्दों का क्रियाशब्दों में अन्तर्भाव करके । आचार्य ने अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण करके लृकार का उपदेश किया है, वातिकार व्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण कर इसका रण्डन करते हैं ।

२ समाने चार्थे । यहा ऋतक शब्द अमाधु लृतक शब्द का निवर्तक होगा यह जो पूरे युक्ति न्याय्यभावात्कल्पन सज्ञादिषु में दी गई है वह ठीक नहीं । कारण कि अर्थ के समान होने हुए शास्त्रानुसारी ( शास्त्रव्युत्पादित ) एष अशाम्भ्रान्वित ( अव्यु-

न्वितोऽशाखान्वितस्य निवर्तको भवति । तद्यथा—देवदत्तशब्दो देवदिष्ण शब्दं निवर्तयति, न गान्यादीन् । नैष दोषः । पश्चान्तरैरपि परिहारा भवन्ति ।

अनुकरण शिष्टशिष्टप्रतिपिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य वा साधु भवति, अशिष्टप्रतिपिद्धस्य वा, नैव तद् दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । यथा लौकिकवैदिकेषु । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावत्—य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजेते, य एवमसावर्धात इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चार्धाधीत च । सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते ।

संस्कारान् शब्द संस्कारहीन का निवर्तक होता है जैसे— देवदत्त शब्द देवदिष्ण शब्द को हटा देता है, पर गानी आदि ( संस्कारहीन भिन्नार्थक ) शब्दों को तो नहीं हटाता । यह कोई दोष नहीं, पश्चान्तर का आश्रयण कर के भी परिहार (खण्डन आदि) होते हैं ।

( वा० ) अनुकरण शिष्ट ( विहित ) का अथवा जो न तो शिष्ट हो और न ही प्रतिपिद्ध हो उस का, साधु होता है, जैसे—लौकिक तथा वैदिक क्रियाओं में ।

अनुकरण शिष्ट का साधु होता है, अथवा जो न शिष्ट हो और न ही प्रतिपिद्ध हो, उसका । यह दूसरा अनुकरण न कुछ हानि करता है और न मङ्गलकारी होता है । जैसे लौकिक और वैदिक क्रियाओं में । पहले लोक में उदाहरण लीजिये—तो इस प्रकार देता है, जो इस प्रकार यज्ञ करता है, जो इस प्रकार पढता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई दे, यज्ञ करे अथवा पढे, वह भी मङ्गल से युक्त होगा । वेद में भी—जो ये प्रजापति लोग इस प्रकार दीर्घ-काल-भावी यज्ञों को करते हैं उन का

त्पादित ) रूप का निवर्तक होता है । यहां तो अर्थ भेद है—ऋतक में क्रिया प्रगतिनिमित्त है और लृतक में शब्द प्रगतिनिमित्त है । इसका भाग्य में उत्तर नहीं दिया गया । इस पर कैयट का यह कहना है कि अव्युत्पन्न-संज्ञाशब्दपक्ष में भी परम्पराप्राप्त शिष्टजनों से प्रयुक्त-पूर्व संज्ञाएँ ही प्रयोग में लानी चाहिये । भाव यह है कि ऋतक भिन्नार्थक होने से लृतक का निवर्तक मत हो, शिष्टद्वारा प्रयुक्त न होने से ही उसकी निवृत्ति हो जाएगी ।

१ जैसे द्रव्यपक्ष में सारूप्याणाम् एकदोष एकविभक्तौ इस का आरम्भ किया गया है और जातिपक्ष में प्रयाग्यान । व्यक्तिपक्ष में अणुद्विस्ववर्णस्य चाप्रत्यय इस सूत्र में अणु ग्रहण किया जाता है, जातिपक्ष में इसका प्रत्याख्यान । उपदेशेऽजनुनासिक — यहां अनुबन्ध अनेकान्त ( अनवयव=अवयव-भिन्न ) है ऐसा मान कर उपदेश ग्रहण किया जाता है, अनुबन्ध एमान्त ( अप्रयव ) है इस पक्ष में उपदेश ग्रहण का प्रत्याख्यान । ऐसे ही औः पश्चान्तर-द्वारा परिहार के उदाहरण हैं ।

वेदेऽपि—य एवं विश्वसृजः सत्राप्यध्यासते इति तेषामनुकुर्वन्स्तद्वत्स-  
त्राप्यध्यासीत्, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते । अशिष्टप्रतिपिद्धं यथा—य  
एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति तस्यानुकुर्वन्  
हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च नेत्र च तद्दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय । यस्तु खल्वसौ  
ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पियतीति तस्यानुकुर्वन्ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा  
पियेत्सोपि मन्ये पतितः स्यात् ।

त्रियम उपन्यासः । यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति, उभौ तो हतः । यश्चापि  
पियति, यश्चानुपियति, उभो तो पियतः । यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एव  
मसौ सुरा वा पियतीति तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलितो माल्यगुणकण्ठ' कदलीस्तम्भ

अनुकरण करता हुआ कोई और दीर्घ कालभावी यज्ञ करे वह भी मद्गल से युक्त  
होगा । अशिष्ट अप्रतिपिद्ध का उदाहरण यह है— जो यह इस प्रकार हिक्कचाता है,  
जो यह इस प्रकार हसता है, जो यह इस प्रकार खुजली करता है, उसका अनुकरण  
करता हुआ कोई दूसरा हिक्कचाए, हसे अथवा खुजली करे, न तो यह अनुकरण  
कुछ हानि करेगा और न मद्गल । पर जो ब्राह्मण की हत्या करता है ( यह निपिद्ध  
कर्म है ) और जो इस प्रकार सुरा पीता है ( यह भी निपिद्ध कर्म है ) उसका अनुकरण  
करता हुआ कोई दूसरा ब्राह्मण की हत्या करे अथवा सुरा पीए वह भी निश्चित ही  
पाप कर्म करने से पतित हो जाएगा ।

यह दृष्टान्त टीका नहीं । जो इस प्रकार मारता है और जो उसका अनुकरण करते  
हुए मारता है, वे दोनों ( एक समान ) मारते हैं । और जो पीता है और जो उसका अनु-  
करण करते हुए पीता है, वे दोनों बराबर पीते हैं । पर जो कोई इस प्रकार ब्राह्मण को  
मारता है और जो कोई इस प्रकार सुरा पीता है, उसका अनुकरण करता हुआ स्नान  
पूर्वम चन्दन-लेप कर गले में पुष्पमाला धारण किए कदली-स्तम्भ को काटे अथवा

१ त्रियम उपन्यास । वार्तिककार का दिया हुआ दृष्टान्त गीक नहीं । यहाँ एक  
पहले मारता है और दूसरा पीछे मारता है, इनकी क्रिया दोनों की एक ही है । अनुकरण  
पश्चात्करण तो नहीं रहते । क्रिया साम्य होना चाहिए, जैसे भाष्यकार उदाहरण से  
स्पष्ट करते हैं । अनुकार्य के अभाव में ही पर भी अनुकरण साधु ही होता है । जिस प्रकार  
कोई ब्राह्मण की हत्या करता है अथवा सुरापान करता है, उसी प्रकार यदि कोई कदली-  
स्तम्भ का छेदन करता है अथवा दूब पीता है तो दोषी नहीं होता । इस बात को  
स्पष्टाने के लिए भाष्यकार स्नातानुलित, और माल्यगुणकण्ठ — ये दो विशेषण देते  
हैं । पहले विशेषण से उसकी स्वस्वचित्तता उपकर्ता है, दूसरे से स्वलङ्घ्य होने से  
प्रयत्नविषयता अथवा प्रकृष्टरूपता प्रतात होती है, क्योंकि अल्पक्रिया अपने आपको  
बनाने से छिपना विषय बनाने के लिए ही जाती है । अक्रिय निपिद्ध कर्म करने वाला  
न तो स्वस्वचित्त होता है और न प्रकृष्टरूप । वह लज्जा-वश छिपना चाहता है ।

छिन्धात्पयो वा पिवेत्, न स मन्ये पतितः स्यात् । एवमिहापि य एवमसावप-  
शब्दं प्रयुङ्क्त इति तस्यानुकुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात् ।

अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः । न चाप-  
शब्दार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति । अवश्यं चैतदेवं विशेयम् । यो हि मन्यतेऽ-  
पशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्याऽपशब्दः  
स्यात् । न चेपोऽपशब्दः ।

अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः ।  
साध्वल्कारमधीते, मध्वल्कारमधीत इति । कस्यस्य पुनरेतदनुकरणम् ।  
क्लृपिस्थस्य । यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्, तस्यासिद्धत्वाद्दकार  
एवाच्चार्याणि भविष्यन्ति । भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात् । अयं त्वन्यः  
क्लृपिस्थपदार्थकः शब्दः, यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । इदमवश्य

दूष पिण, मेरे मिचार में वह पतित न होगा । इसी प्रकार जो कोई अपशब्द का  
प्रयोग करता है उसका अनुकरण करता हुआ स्वयम् भी अपशब्द का प्रयोग करे,  
वह अपशब्द प्रयोग के कारण से दोषी होगा ।

परन्तु जहाँ (अनुकार्य) अपशब्द का प्रत्यायक ( बोधक, वाचक ) (अनुकरण)  
शब्द प्रयुक्त होता है उसके लिए वर्णसमाभ्नाय में लृकार का उपदेश करना ही  
होगा । अपशब्द का वाचक शब्द स्वयम् अपशब्द नहीं होता । ऐसा अवश्य स्वीकार  
करना होगा । जो ऐसा मानता है कि अपशब्द का वाचक शब्द भी अपशब्द होता है,  
उसके लिए अपशब्द भी अपशब्द (असाधु शब्द) हो जाएगा, पर वस्तुतः अपशब्द  
अपशब्द नहीं ।

किंच । एक (साधु) अनुकार्य लृ भी है जिसके अनुकरण (जो साधु ही होगा) के  
लिए अवश्य वर्णसमाभ्नाय में उपदेश करना होगा । यथा साध्वल्कारमधीते (लृकार  
का शुद्ध उच्चारण करता है), मध्वल्कारमधीते (लृकार का मधुर उच्चारण करता है)  
इन स्थलों में । यदि पूछो कि यह कदा के लृकार का अनुकरण है तो हम कहेंगे क्लृप्-  
धातु के लृकार का । यदि क्लृप् धातु के लृकार का (प्रकृत में) अनुकरण है, तो  
हो, पर इसके लिए वर्णसमाभ्नाय में लृकार उपदेश करने का कुछ प्रयोजन नहीं ।  
कारण कि क्लृप् का लृ पूर्वत्रासिद्धम् ( ८।२।१ ) से असिद्ध है, अच्-निमित्तक  
कार्य ( प्रकृत में यण् ) क को मानकर हो जाएगा । क्लृप् के लृ के लिए उपदेश भले  
ही व्यर्थ हो । पर मध्वल्कार इत्यादि में जो लृ है वह क्लृप् का लृ नहीं, किन्तु उसका  
अनुकार्य रूप से बोधन कराने के लिए अनुकरण रूप है । (अनुकार्य अनुकरण का भेद

१ अपशब्दं प्रयुञ्जीत, अपशब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त करे तो उसने वही  
क्रिया की, अनुकरण नहीं किया, इससे वह दोषी होगा ।

कर्तव्यम् प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । द्विः पंचन्वित्याह तिङ्ङितिङ् इति निघातो यथा स्यात् । अग्नी इत्याह ईदूदेद्वि वचन प्रगृह्यमिति प्रगृह्यसज्ञा यथा स्यात् । यदि प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्युच्यते, अपशब्द एवासौ भवति — कुमार्यलतक इत्याह । ब्राह्मण्यलृतक इत्याह । अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः । न चापशब्दः प्रकृतिः । न ह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते । न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति ।

स्वीकार कर) इस अनुकरण रूप ल में अच् कार्य हो सकें तदर्थ इसका वर्ण समाम्नाय में अचों क मध्य में पाठ होना चाहिए । (इस पर एकदेशी कहता है) ल के पाठ की कोई आवश्यकता नहीं । इसके स्थान में प्रकृतिवदनुकरण भवति (अनुकरण में प्रकृति=अनुकार्य का धर्म आ जाता है) यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिए । (निससे अनुकरण ल में असिद्धता आ जाएगी) । तो इस परिभाषा का (और) क्या प्रयोजन है ? द्वि पचन्तु इत्याह — दो बार पचन्तु इस शब्द का उच्चारण करता है — यहा अतिङन्त द्वि शब्द से परे आए हुए पचन्तु शब्द को तिङन्त मानने से उसे तिङ्ङअतिङ्ः (८।१।२८) सूत्र से निघात (सर्वानुदात्त) होता है । इसी प्रकार अग्नी इत्याह में भी अग्नी को द्वित्वबोधक द्विवचनान्त मानकर प्रगृह्यसज्ञा होकर प्रकृतिभाज होता है । और यदि प्रकृतिवत्—इस परिभाषा को मान लो तो कुमार्यलृतक् इत्याह इत्यादि में अनुकरण लृतक प्रकृति (अनुकार्य लृतक) के धर्म को लिए हुए अपशब्द ही ठहरता है । (अपशब्द = असाधु शब्द में शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इसके लिए ल का उपदेश अनावश्यक है) । (इस पर सिद्धान्ती का कहना है) पर शास्त्र में कहीं भी अपशब्द प्रकृति नहीं ।

१ द्वि पचन्तु इत्याह में पचन्तु शब्द तिङन्त प्रतिरूप है, तिङन्त नहीं, शब्दपरक निर्देश होने से क्रिया और कारक का यहाँ कुछ भी अभिधान नहीं, इसा प्रकार अग्नी इत्याह में अग्नी द्विवचनान्त प्रतिभासी होता हुआ भी द्वित्व का अनभिवायक होने से (अर्थात् दो अग्नियों इस अर्थ को न कहने से) द्विवचनान्त नहीं है । प्रकृतिवदनुकरण भवति इस न्याय से पचन्तु को तिङन्त और अग्नी को द्विवचनान्त मानकर शास्त्रप्राप्त कार्य भिया गया है ।

२ मध्वलृकारमधीते इत्याद में साधु ल के अनुकरण के लिए वर्ण समाम्नाय में लृकारोपदेश का कुछ भी प्रयोजन नहीं यह प्रतिपादन कर पूर्वपन्था आगे वृत्ता है और यह कहना चाहता है कि अशक्तिज (अतएव असाधु) शब्द के अनुकरण के लिए भी लृकारोपदेश व्यर्थ है ।

३ प्रकरण से शास्त्रीय प्रकृति ही अभिप्रेत है, शास्त्र-निबन्धन कार्य का हा अतिदेश विमान किया जा रहा है । अपशब्दत्व न तो शास्त्रीय कार्य है और न उसका

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्लुत्यादय ॥

एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति प्लुत्यादयोपि भविष्यन्ति । यदि एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति इत्युच्येत, राह् क च, राजनीयम् अहोपोऽन इति लोप प्राप्नोति ।

एकदेशविकृतमनन्यवत् पृष्ठादिदिष्टस्य । यदि पृष्ठादिदिष्टन्येत्युच्यते क्लृप्तशिक्ष इति प्लुतो न प्राप्नोति । न ह्यत्र ऋकार पृष्ठादिदिष्ट । कस्तहि । रेफ । ऋकारोऽन्यत्र पृष्ठादिदिष्ट । ऋऽम् । अत्रिभक्तिनो निदश — कृप उ र ल कृपो रो ल इति ।

आवाय न अप-दों का उच्चारण नः। क्रिया और विना उच्चारण क्रिय प्रकृति नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।

(३०) रहे प्लुति भादि कार्य व भी ऋ क अवयव-भूत रफ का लव रूप विकार हा जानर भा अय न हा जाने स मिद हा जाये ( सा उन कारों क लिय भा ऋ का उपदा बनावश्यक है ) । [ एक में भा दगा जाता है क्रिया रस्तु क एकदा क विकृत हा जान म वह अन्य नहीं हा जाता । प्लु क्त जान पर भा यत् उप्ता ह पेमा व्यगार हाता हा ह ] पर प्रयाननजाता इस लौकिक न्याय का मानन म यह दार दाना है—गण क न ( १११११० ) इस सूत्र म रावन् इन्द्र स ापिकृ ल प्रत्यय हाता है और साथ हा क पन्तादा हाता है । तिमम रावकाय ऋ मिद हाता है । यदि एकदा विकृत हाने पर रावक में रावन् बुद्धि बना रहता है ता अन्ताऽन ( १११३१ ) इस शास्त्र म अस्त्व हाता चाहिय । इस पर प्रत्याघाता कहता है—एकदा विकृत हान पर वहा स्थानी अन्यवत् न । हाता तिमका विकार ( -जाता ) विधायक शास्त्र में पण स निदश क्रिया गया हा । प्रकृत सूत्र में अन पेमा पृष्ठादिदा करक अर रूप आदा नहीं विधान किया हा, किन्तु रावन् क न् क स्थान में क अन्तादा विधान किया है, सा यहा रावक रूप क अन् म अन् बुद्धि नहा लाई जा सकता है । अन् न हाने स अन्ताऽन का प्रसङ्ग नहीं । इसपर शङ्का हाता है—यदि पण-निदिष्ट (स्थान) में हा एकदाविकार हानर अनन्य बुद्धि हाता ह ता क्लृप्तज्ञान में कृपा रा ल सूत्र में ऋ क पृष्ठादिदष्ट न हान स ल में ( ऋ का धर्म ) अव्व नहीं आणा सा प्लुत न हा सकगा । क्योंकि उन सूत्र म रेफ पृष्ठादिदिष्ट है, न कि ऋकार । नहीं । ऋकार भा यर्ण पृष्ठादिदिष्ट है । कम ? सूत्र में अन् यह विभक्तिरहित निर्देश है, तत - यह ऋ का वशी स निदश है । तत र यह भा पृष्ठान्त पण है ।

अतिदा क्रिया जा सकता है । इस कथन स भाव्यकार अनात्मन क अनुकरण क लिए लृकारोदेश आवश्यक है इसकी स्थानना करत है ।

अथवा पुनरस्तु अविशेषेण । ननु चोक्तं राज्ञः क च राजकीयम् अह्योपोऽन इति प्राप्नोति इति । नैप दोषः । वक्ष्यत्येतत् श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम् इति । तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते—अह्योपोऽनः, नकारान्तस्येति । इह तर्हि क्लृप्तेऽन्तिखर्त्स्नं अनृत इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

रवत्प्रतिषेधाच्च ।

रवत्प्रतिषेधाच्चेतत्सिध्यति । गुरोररवत् इति वक्ष्यामि । यदि अरवत्

अथवा जो भी कोई एकदेश-विकृत होता है ( चाहे वह विकार विधि में पछी-निदिष्ट हो अथवा न हो ) वह अन्यवत् नहीं होता, ऐसा ही कहो ।

अजी, अभी कहा था—राज्ञः क च सूत्र से राजकीय शब्द नियत होता है । यहाँ अह्योपोऽन सूत्र से राजक् में रान् बुद्धि के बने रहने से अन् के अ का लोप प्राप्त होता है । यह कोई दोष नहीं । आगे ( ६।४।१३३ पर ) वातिककार श्वादीनां सम्प्रसारणे इत्यादि वार्तिक पढ़ेंगे जिसका अर्थ यह है कि नकारान्त इन् आदि शब्दों को सम्प्रसारण हो, अनकारान्तों को न हो । उसकी अनुवृत्ति अह्योपोऽन ( ६।४।१३४ ) सूत्र में आएगी, अर्थ होगा नकारान्त अन् । ( यहाँ तो नकारान्त अन् है ) । पर इस न्याय के बल पर लृ में ऋ बुद्धि होने से क्लृप्तशिख में गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ( ८।२।८६ ) सूत्र से ऋ को ष्टुत का निषेध प्राप्त होता है ।

रेफवान् का प्रतिषेध करने से ( क्लृप्तशिख में ) ष्टुत रूप इष्ट सिद्धि हो जायगी । गुरोरवत् इस प्रकार सूत्र को पढ़ेंगा । यदि ऐसा न्यास करोगे अर्थात् जो रेफवाला न हो उसे ष्टुत होता है ऐसा कहोगे तो होतृ ऋकार यहाँ सबर्णदीर्घ होकर होतृ ऋकार

१ भाव यह है कि लौकिक न्याय से द्वित्व और स्वरित कृषिम्भ लृ में ऋ बुद्धि करके सिद्ध हो जायँगे उससे लृ में ऋच्य वा जाएगा, पर क्लृप्तशिख में ष्टुत न हो सकेगा, अन जैसे अक्षकिक के अनुकरण के लिए लृकारोपदेश आवश्यक है वैसे ही ष्टुति के लिये भी लृ पत्ना होगा ।

२ गुरोरनृत—इस को बदल कर गुरोररवत्—इत्यादि रूप से पढ़ेंगे—यह लृकारोपदेश-शब्दक ( लृकारोपदेश के प्रयोजन को न माननेवाला ) कहला है । इस नये न्याय से प्रयोजनवादी द्वारा दिये गये दोष का परिहार करना चाहता है । यहाँ रवान् में नियोग में मनुप् किया है । निय रेफ वाला ऋ ही है लृ नहीं । (यद्यपि लृ में एकदेश विकृतन्याय से ऋबुद्धि हो जाएगी) पर जेने पुच्छहीनश्वा में श्वन् व्यपदेश होने पर भी पुच्छवान् यह व्यवहार नहीं होता, ऐसे ही लृ रेफवान् है ऐसा व्यवहार नहीं होता ।



इत्युच्यते होतृ ऋकार होतृ ३ कार अन न प्राप्नोति । 'गुरोरखतो ह्रस्वस्य' इति वक्ष्यामि । स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन्प्रत्याप्यायते, सैषा महतो वंशस्तम्याल्लद्ध्याऽनुकृत्यते ॥

एओङ् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

इदं विचार्यते—इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन् एत् ओत्ङ् ऐत् ओत् च् इति, अतपराणि वा यथान्यासम् इति । कश्चात्र विशेषः ।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम् ।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारण कर्तव्यम् ।

प्लुत्यादिष्वञ्जिधि ।

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति । गो ३ त्रात नो ३ त्रात इत्यत्र अनचि च इत्यत्र उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचन न प्राप्नोति । इह च प्रत्यङ्ङेतिमायन, उद्ङ्ङो ३ पगव इति अचि ङ्मुडागमो न प्राप्नोति ।

मे प्लुत न हो सकेगा, कारण कि ऋ रेफवान है । इस दोष के वारण के लिए मैं गुरोरखतो ह्रस्वस्य ऐसा पढ़ूंगा । सो यह सूत्र को बदल-बदल करके जो प्लुति आदि के लिए लृकारोपदेश प्रयोजनमान है उसका प्रत्याख्यान एक बड़े उदा स्तम्भ (ग्रासबुट) से लद्धा नामक (तुच्छ फल) को रैच कर उतारने के समान है । (अर्थात् आयास अत्यधिक और फल अत्यल्प, अत युक्त नहीं) ॥

ऐ ओच् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

यहा यह विचार का विषय है—ये सन्ध्यक्षर तपर पडे जाए, एत् ओत्ङ् ऐत् औच् च् इस प्रकार, अथवा अनतर जैसे कि सूत्रो में पडे है । इसमें क्या भेद है ?

( वा० ) सन्ध्यक्षरो ( ए ओ ऐ औ ) में यदि तपरोच्चारण का फल है तो इन्हें तपर पडना चाहिये । ( पर फल न होने से आचार्य ने तपर नहीं किया )

( वा० ) प्लुत आदि होने पर अच को मानकर जो विधि प्राप्त होती है वह न हो सकेगी । गो ३ त्रात यहाँ अनचि च् इस सूत्र से अच से परे यर को द्विर्वचन विधान किया है, सो ( द्विमात्रिक ओ, औ की अच सज्ञा होनेसे ) न हो सकेगा । और प्रत्यङ्ङे ३ तिकायन, उद्ङ्ङो ३ पगव यहाँ अच को आश्रय करके जो ङ्मुट् आगम का विधान किया है ( तपर होने से द्विमात्रिक ए, ओ, ऐ औ को अच सज्ञा होगी, त्रिमात्रिक की नहीं । ) सो यह ङ्मुट् आगम न हो सकेगा ।

१ ऐसा न्यास करने से निय रैफवान जो ह्रस्व हो उमा को प्लुत का निषेध होगा, दीर्घ को नहा, इसमें कुछ भी अनिष्ट-प्रसङ्ग न होगा । गुरोरखतो ह्रस्वस्य=गुरोरखतो ह्रस्वस्य न । अमानोना प्रतिषेधे इस वचन के आधार पर व्यस्त अ शब्द निषेधार्थ स्वीकार किया जाता है ।

प्लुतसज्ञा च ।

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति । ऐ ३ तिक्कायन, औ ३ पगव ऊकालोज्झ-  
स्प्रदीर्घप्लुत इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति । सन्तु तर्ह्यतपराणि ।

अतपर एच इग्रस्वादेशे ।

यद्यतपराणि एच इग्रस्वादेश इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । एङो  
ह्रस्वादेशशासनेष्वर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति । ननु च यस्यापि<sup>१</sup>  
तपराणि तेनाव्येतद्गक्तव्यम् । इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णो-  
वर्णयोः, तयो ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिद्वर्णः स्यात्, कदाचिद् इवर्णोवर्णौ ।

( वा० ) प्लुतसज्ञा भी ।

प्लुतमटज्ञा भी न हो सकेगी । ऐ३तिक्कायन, औ३पगव । उकालो ज्झस्प्रदीर्घ  
प्लुत इस शास्त्र से तपर ( द्विमात्रिक ) एच् की अच् सज्ञा होने से त्रिमात्रिक एच्  
अच ही नहीं तो उसकी प्लुत सज्ञा कैसे होगी ? त्रिमात्रिक अच की ही तो प्लुत सज्ञा  
प्रिधान की है । अच्छा तो तपररहित जैसे अब पढे हैं वैसे रहने दीजिये ।

( वा० ) यदि ए ओ ऐ औ अतपर ही रहे जैसे पढे है, तो एच् के स्थान में  
ह्रस्वादेश कर्तव्य हो, ता इक ही ह्रस्व हो यह वचन करना पड़ेगा । इस वचन का क्या  
प्रयोजन है ? नहा नहा एङ को ह्रस्वादेश प्रिधान किया गया है वहां वहां अर्ध एकार,  
अर्ध ओकार न हो जाए । अजी, जो इन्हें तपर पढना चाहता है उसे भी यह वचन ( सूत्र )  
करना ही होगा । ( कारण कि ) ये ऐच् ( ऐ औ ) समाहार वर्ण हैं, जिनमें एक  
मात्रा अवर्ण की है और एक एक मात्रा इवर्ण और उवर्ण की । उनको ह्रस्व करते  
समय कभी अर्ण हो जाएगा कभी इवर्ण वा उवर्ण । अर्ण कभी भी न हो ( इस लिए ) ।  
ऐच् को ह्रस्व कर्तव्य हो तो एच इग्रस्वादेशे ( १।१।४८ ) इस वचन से कुछ  
प्रयोजन नहीं । ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वान् इस वार्तिक से इसका प्रत्याख्यान कर दिया

१ अतपरत्व की दशा में ए, ओ द्विमात्रिक भी होंगे, एकमात्रिक भी ।  
एरुमात्रिक ए ओ का भी अच् करके ग्रहण होगा । द्विमात्रिक ए ओ के स्थान में  
अन्तरतम होने से अर्ध ए, अर्ध ओ ( एक मात्रिक ए, एकमात्रिक ओ ) ह्रस्व हो  
जायेंगे, सो एच् के लिए सूत्र करना पड़ेगा ।

२ तपरत्व पक्ष में भी ऐच् के लिये सूत्र के आरम्भ की आवश्यकता है, कारण  
कि ऐच् समाहार वर्ण है, इन में अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण एक एक मात्रा के हैं  
निम्ने कभी अ ( ह्रस्व ) होगा और कभी इ वा उ । ऐच् में अवर्ण के विदिष्ट=  
स्फुट उपगभ्यमान होने से सदिल्लिप्त अवर्ण होने की अवस्था में प्रसक्त हुए अर्ध एकार व  
अर्ध ओकार ह्रस्वादेश का तो सम्भव नहीं ।

मा कदाचिद्वर्णां भूदिति । प्रत्याख्यायत एतत्—पेचोश्चोत्तरभूयस्त्वाद् इति । यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—सिद्धमेडः सस्थानत्वाद् इति । ननु चेडः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः । न तो स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् । ननु च भोदश्चन्द्रोगानां सात्यमुग्रिया णायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चार्धीयते—सुजाते एदवसृनुते, अधर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यद् इति । पारिपदवृत्तिरेपा तत्र भवताम् । नैव लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति ।

एकादेशे दीर्घग्रहणम् ।

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—आद्गुणो दीर्घः, वृद्धिरेचि दीर्घः इति । किं प्रयोजनम् । आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिना त्रिमात्रचतुर्मात्रा

है । रही एड् को ह्रस्व कर्तव्यता के निमित्त एच इग इस सूत्र की आवश्यकता, सो भी नहीं । सिद्धमेड सम्बन्धान्वात् इस वाक्ति से सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है । वातिकार्य यह है—एड् के स्थान में ह्रस्वादेश इ, उ ही होंगे कारण कि इ उ, ये ए, ओ के तुल्य स्थान वाले हैं । अनी, अर्ध एकार अर्ध ओकार इनके साथ अधिक स्थान तुल्यता रखते हैं (वे हो जायग) । नहीं । वे तो हे ही नहीं । यदि वे होते तो आचार्य उन्हीं को पढ़ते । अजी, यह कैसे कहते हो कि अर्ध एकार अर्ध ओकार हे ही नहीं, देखिये सात्यमुग्रियाणायनीय सामगान करने वाले ऋषि सुजाते एदव सृनुते, अधर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद् इत्यादि मन्त्रों में अर्ध एकार अर्ध ओकार पढ़ते हैं । यह तो उन पूज्यों को अपनी परिपदों में उच्चारण करने का रीति है । न तो लोक में और न ही किमी दूर (साम से भिन्न) वेद में अर्ध एकार अर्ध ओकार देखा जाता है ।

(वा०) एकादेश में दीर्घ का ग्रहण ।

जहाँ ( पूर्व और पर के स्थान में ) एकादेश विधान किया है वहाँ दीर्घ का ग्रहण (उच्चारण) करना पड़ेगा—आद् गुण इस सूत्र को आद्गुणो दीर्घ ऐसे पढ़ना पड़ेगा, वृद्धिरेचि इसे वृद्धिरेचि दीर्घ ऐसे पढ़ना पड़ेगा । इसका क्या प्रयोजन है ? जहाँ ( पूर्व और पर ) स्थानी ( मिलकर ) त्रिमात्र व चतुर्मात्र हो जाते हैं वहाँ उनके स्थान में एकादेश कहीं त्रिमात्र व चतुर्मात्र न हो जाय, कारण कि एकादेश स्थानी के अन्तरतम=सदृशतम होना चाहिये । दीर्घ ग्रहण करने से द्विमात्रिक एच्

१ ऐ औ में अ की ३ मात्रा और इ, उ की १३ मात्रा है, इस लिये कहा है यहाँ उत्तर भाग भूयान् ( अपेक्षया अधिक ) है ।

२ एउ सम्बन्धान्वात् । प्रातशाख्यमत है कि ए, ओ शुद्ध तालव्य और शुद्ध कण्ठ्य है ।

आदेशा मा भूवन्निति । सट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, सट्वा ईपा खट्वेपा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा ओपगवः खट्वोपगव इति । तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । उप-  
रिष्ठाद् योगविभागाः करिष्यते-अरुः सवर्णे एको भवति । ततो दीर्घः । दीर्घश्च स भवति । यः स एकः पूर्वपरयोः इत्येवं निर्दिष्ट इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति—पशुम्, विद्धम्, पचन्तीति । नैष दोषः । इह तावत्पशुमिति 'अम्येकः' इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यै-  
तत्प्रयोजनं यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्यादिति । विद्ध-  
मिति । पूर्वं इत्येवानुवर्तते । अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेन सम्प्र

(ए ओ, ए औ) ही आदेश होगा । खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्र, खट्वा उदकम्=खट्वो-  
दकम् सट्वा ईपा=खट्वेपा, खट्वा ऊढा=खट्वोढा, सट्वाएलका=खट्वैलका,  
खट्वा ओदन=खट्वौदन, खट्वा ऐतिकायन=खट्वैतिकायन, खट्वा औपगव=  
खट्वोपगव ( यहाँ पहले चार उदाहरणों में स्थानियों के त्रिमात्र होने से आदेश  
त्रिमात्र प्राप्त था, पिछले चार उदाहरणों में स्थानियों के चतुर्मात्र होने से आदेश  
चतुर्मात्र प्राप्त था ) । तो क्या दीर्घग्रहण करना ही पड़ेगा ? दीर्घ ग्रहण नहीं  
करना पड़ेगा । (कैसे ?) अगले सूत्र अरुः सवर्णे दीर्घः को इस प्रकार विभक्त करके  
पढ़ेंगे—(१) अरु सवर्णे एको भवति ( यहाँ एक पूर्वपरयो से एर यह आ  
रहा है ), दीर्घ (२), वह दीर्घ होता है (कौन ?) वही जो पूर्व और पर के स्थान में  
एक हुआ है । अच्छा यहाँ ( दिये हुए गुण वृद्धि के उदाहरणों में ) तो निर्वाह हो  
जायगा, पर इससे अन्यत्र भी दीर्घ की प्राप्ति हो जायगी—पशुम्, विद्धम्, पचन्ति  
इत्यादि स्थलों में (यहाँ सर्वत्र एकादेश विधि है) । नहीं इससे कुछ दोष नहीं आयगा ।  
पहले पशुम् को लीजिये । यहाँ अम्येक ऐसा सूत्र न्यास करते तो भी एकादेश हो  
जाता, फिर अग्नि पूर्व ऐसा जो न्यास किया अर्थात् जो वहाँ पूर्व ग्रहण किया उसका  
यह प्रयोजन है जिस प्रकार का पूर्व (स्थानी) है उसी प्रकार का आदेश दोनों के स्थान  
में हो ( इससे पशुम् में ह्रस्व एकादेश, रमाम् और वातप्रमोम् में दीर्घ होता है ) ।  
विद्धम्—यहाँ व्युत्पत्त इस अवस्था में ग्रहिया—सूत्र से य् को सम्प्रसारण इ हो  
जानेपर सम्प्रसारणाच्च ( ६।१।१०८ ) सूत्र में पूर्व की अनुवृत्ति होने से पूर्व के ही  
सट्वा एक आदेश होता है, पूर्व ह्रस्व इ के सट्वा ही अ, इ—इन दोनों के स्थान में  
आदेश होता है ।

अथवा आचार्य ( पाणिनि ) की प्रवृत्ति बतलाती है कि सम्प्रसारणाच्च से

सारणस्य दीर्घो भवतीति यद्यं हल उत्तरस्य सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति । पचन्तीति । 'अतो गुणे परः' इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति तस्येतत्प्रयोजनम् यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीय-कमुभयोर्यथा स्यादिति । इह तर्हि खट्वद्वयो मालद्वयं इति दीर्घवचनादकारो न, अनान्तर्यादिकारौ न । तत्र को दोषः । विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत । न द्रूमो यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति । किं तर्हि । यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति । क्व च क्रियमाणे न दोषः । संज्ञाविधौ—वृद्धिरादैच् दीर्घः, अदेङ् गुणो दीर्घ इति । तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति । तपरे गुणवृद्धी । ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः । नेत्याह । तादपि परस्तपरः । यदि तादपि परस्तपरः ऋदोरप् इतीहैव स्यात्—यवः

जो एकादेश होता है वह दीर्घ नहीं होता, कारण कि आचार्य ट्ट ( ६।६।२ ) इस सूत्र से जो सम्प्रसारण को दीर्घ विधान करते हैं वह नियमार्थ रहेगा । पचन्ति ( पच् भ भन्ति ) में अतो गुणे परः ऐसा कहने से ही पर-रूप एकादेश हो जाता, तो भी जो रूप ग्रहण करते हैं ( अतो गुणे पररूपम् ) इससे वह जतलाना चाहते हैं कि यहाँ जैसा पर का रूप है ( वह हस्व है ) वैसा ही दोनों के स्थान में एकादेश होता है । अत्र, तो खट्वा ऋद्वय, माला ऋद्वयः यहाँ गुण न हो सकेगा । एकादेश दीर्घ होता है इसमें अकार ( जो गुणमञ्जर है ) न हो सकेगा । एभार और ओभार ( जो दीर्घ गुणमञ्जर है ) भी न हो सकेगे, क्योंकि वे स्थानियों के अन्तरतम नहीं हैं । ऐमी अवस्था में खट्वा ऋद्वय, माला ऋद्वय ऐसा जुदा जुदा ही श्रवण होगा. यह दोष भाएगा ।

हम यह नहीं कहते हैं कि जहाँ दीर्घ ग्रहण करने से दोष आता है वहाँ दीर्घ ग्रहण किया जाए, किन्तु जहाँ दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता वहाँ दीर्घ ग्रहण करना चाहिए । कहाँ दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता ? संज्ञाविधि में । वृद्धि संज्ञा-विधायक वृद्धिरादैच् सूत्र को वृद्धिरादैच् दीर्घ ऐसे पढ़ेंगे । गुण-संज्ञा-विधायक सूत्र को अदेङ् गुणो दीर्घ ऐसे पढ़ेंगे । तो क्या फिर दीर्घ ग्रहण करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए । तो फिर त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को सदृशतम त्रिमात्र चतुर्मात्र ( गुण-वृद्धि-रूप ) आदेश क्यों न होंगे ? गुणवृद्धिसंज्ञा-विधायक शास्त्र में संज्ञी एच् व ऐच् तपर पढ़े है । अत्री तपर का अर्थ तो तः परो यस्मान् सोऽयं तपरः ( तः परे हो जिससे वह तपर होता है ) ऐसा बहुव्रीहि समास मान कर अर्थ किया जाता है । नहीं । पञ्चमी तत्पुरुष मानकर तादपि परस्तपरः त् से जो परे हो वह भी तपर कहलाता है । इससे तपर ( तत्काल = द्विमात्रिक ए भो की गुण संज्ञा, और तत्काल = द्विमात्रिक ऐ भो की वृद्धि संज्ञा होगी ) । यदि त् से परे जो हो वह भी

स्त्व', ल्वः पव इत्यत्र न स्यात् । नैप तकारः । कस्तर्हि । दकारः । किं दकारे प्रयोजनम् । अथ किं तकारे । यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपीति ।

तपर होता है तो ऋदोरप ( ३१२।७ ) इस सूत्र से ( उ के तपर होने से ) यव, स्त्व में ही अप प्रत्यय हो सकेगा, ल्व, पव में नहीं । ( क्योंकि यहा लू, पू—ये दीर्घ अकारान्त धातु हैं ) । यहा स्वत सिद्ध तकार नहीं जिसे जश्त्व होकर दकार हो गया है, किन्तु स्वत सिद्ध दकार है । दकार का क्या प्रयोजन है ? हम आपसे पूछते हैं तफार का क्या प्रयोजन है ? यदि कहो असन्देह ( सन्देह निवृत्ति के लिए ) तकार पढा है, दकार का भी असन्देह के लिए ही उच्चारण माना जा सकता है । यदि कहो तफार, उच्चारण—सौकर्य के लिए पढा है, दकार का भी वही प्रयोजन माना जा सकता है ।

१ समास—द्वय वादी पूछता है—आप जो यहा केवल बहुव्रीहि समास मानते हैं, तो तपरकरण व्यर्थ हो जाता है । दीर्घ ऋकार अण् नहीं । अत अणुदित्सूत्र से तद्विभक्तकाल वाले ऋकारों के ग्रहण का कोई प्रसङ्ग नहीं । अनण् होने से ( अण् ने होने से ) ही गुण अभेदक होंगे, अत उनकी प्राप्ति ( तद्भेद भिन्नो के ग्रहण ) के लिए भी तपर करने का कुछ प्रयोजन नहा ।

## २ दकारोपीति ।

यदि कहो कि उक्त भाष्य का तित्स्वरितम् सूत्रस्थ भाष्य से विरोध है । क्योंकि वहा तित् में प्रययग्रहण किया है जिससे तित् प्रयय को स्वरित हो । तित् आदेश को स्वरित न हो । उससे दुभ्याम् में दिव उत् से हुए ह्रस्व उकार आदेश को स्वरित नहीं होता । फिर वहा प्रयय ग्रहण का सण्डन करते हुए दिव उत् में तपर न मानकर उद् इस प्रकार दपर माना है और तपरस्तत्कालस्य सूत्र में तपर के समान दपर में भी तत्कालता स्वाकार की है । यहा ऋदोरप् में दपर मानकर तत्कालता का अभाव मान रहे हैं तो इसका उत्तर है कि ऋदोरप् में दकार से तात्पर्य थकार या धकार से है । ऋदोरप् में दपर नहीं समझना चाहिए बल्कि थपर या धपर है । थ या ध को जश्त्व होकर दकार हो गया है । इस लिए दपर न होने से तत्कालता नहीं होगी । दकार को चर्च होकर तपरस्तत्कालस्य ऐसा सूत्र अभीष्ट है । वस्तुत तित्स्वरितम् सूत्र का भाष्य केवल प्रौढवाद मान है । दपर में तत्कालता इष्ट नहीं है । तपर में ही इष्ट है । इस लिए ऋदोरप् में तपर न होने से दोष न होगा और दुभ्याम् में उत् आदेश के तपर होने पर भी तित्स्वरितम् से स्वरित न होगा । क्योंकि प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् इस परिभाषा से तित् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा, आदेश का नहीं ।

इदं विचार्यते—य एते वर्णेषु वर्णैकदेशां वर्णान्तर-समानाकृतय एते-  
पामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति । कुतः पुनरियं विचारणा । इह हि  
समुदायां अप्युपदिश्यन्ते अवयवा अपि । अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः ।  
तद्यथा वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति । तत्र समुदायस्यस्यावयवस्यावयव-  
ग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा नवेति विचारणा । कश्चात्र विशेषः ।

अब यह विचार का विषय है—ये जो वर्णों में वर्तमान वर्णों के अवयव, जो  
स्वतन्त्र वर्णों के समानाकार हैं, अवयव सदृश स्वतन्त्र वर्ण मानकर जो कार्य स्वतन्त्र  
वर्णों को प्राप्त होता है वह इनमें होगा अथवा नहीं । यह विचार (सन्देह) क्योंकर  
उत्पन्न होता है ? इस लिए कि यहां शास्त्र में समुदायों का भी उपदेश है और उनके  
अवयवों का भी । और अवयव समुदाय के भीतर वर्तमान होता है, जिस प्रकार वृक्ष  
जब हिलता है तो अपने अवयवों को साथ लिए हुए ही हिलता है । इस लिए  
समुदाय के भीतर वर्तमान अवयव को पृथग्ग्रहण करके तन्निमित्त कार्य होना चाहिए  
अथवा नहीं, यह सन्देह होता है । तो इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

१. आकार आदि में अकार आदि सन्दा अवयव, ऋकार लृकार म रेफ लका  
सन्दा अवयव, सन्व्यक्षरों में अकार इकार उकार मन्दा अवयव दीव्य पट्टने ह, इन  
में केवल (=स्वतन्त्रतया प्रयोग में भूयमाण) अकारादि को जो कार्य प्राप्त होता है,  
वह होगा अथवा नहीं—यह विचार है ।

० समुदायों का भी उपदेश है । यथा ऋल, एऐ, ओऔ का । अवयवों का भी,  
जैसे अ इ उ ( ण् ) र ( ट् ) ल ( ण् ) का । यथा दो पक्ष उपस्थित होने ह—  
( १ ) ग्रहणपक्ष ( २ ) अग्रहणपक्ष । ग्रहणपक्ष में सन्देह का बीज यह है कि जहां समुदाय-  
परक निर्देश है ( यथा ऋट्ट एऐ इत्यादि ) वहां अवयवों ( रेफ ल अ इ इत्यादि ) का  
प्राधान्य से निर्देश नहा । तिसपर अवयवभूत अकार की एच आदि समुदाय सजा  
न होने पर भी स्वतन्त्र अकार के रूप में उसका ग्रहण संभवा है । अग्रहण पक्ष में  
अवयवों के समुदाय में तिरोहित होने से, समुदाय के घटकतया उपकारक होने से, अपने  
कार्य के प्रति अप्रयोजक होने से जैसे नरसिंह में नरत्वादि कुछ भी नहा । समुदाय एच्  
आदि के अवयव में अत्व आदि कुछ भी न होने से वर्णान्तर के साथ मारुप्यमात्र में  
उसमें तन्निबन्धन कार्य नहीं होना चाहिए—यह शङ्का का बीज है । इस पक्ष में वृक्ष  
दृष्टान्त दिया है । समुदाय को कार्य हुआ तो उसके अवयवों को अपने आप हो गया,  
समुदाय-रूप के कम्प में अवयवों का कम्प नान्तरीयकतया सिद्ध ही है ।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्व्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः ।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्व्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः । अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्, अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं प्राप्नोति ।

दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः ।

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । आलूय प्रलूय ह्रस्वस्य पिति कृति तुग् इति तुक् प्राप्नोति । नैप दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति । नैतद्रस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ? 'पदान्ताद्वा' इति विभाषां वक्ष्यामीति । यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा हि दीर्घात्पदा-

( वा० ) वर्णों के अग्रयो को यदि स्वतन्त्र वर्ण ( जिनके थे सदा हैं ) मान लिया जाए तो सन्व्यक्षरों में समानाक्षरो के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा—अग्ने इन्द्र—यहां सन्व्यक्षर ए के अग्रय इ को पृथक् वर्ण मानकर अक सवर्णे दीर्घ इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होता है। इसी तरह वायो उदकम्—यहां भी ओ के अग्रयवभूत उ को मानकर दीर्घ प्राप्त होता है ।

( वा० ) दीर्घ में ह्रस्व के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा । आलूय प्रलूय—यहां ल के उकार के अग्रय ह्रस्व उ को पृथक् वर्ण मान कर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् इस सूत्र से तुक का आगम प्राप्त होता है । यह कोई दोष नहीं । आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है कि दीर्घ में ( उसके अग्रय ) ह्रस्व के आश्रित विधि नहीं होती, क्योंकि आचार्य दीर्घ से परे छ परे होने पर तुक का विधान करते हैं। यह ज्ञापक नहीं बन सकता । इस वचन का कुछ और प्रयोजन है । क्या ? पदान्ताद्वा इस विकल्प विधायक शास्त्र में दीर्घान् इसनी अनुवृत्ति हो, इस लिए । अच्छा, तो जो दीर्घात्पदान्ताद्वा इस प्रकार एक सूत्र न करके योगविभाग करके दीर्घान् यह जुदा सूत्र पडा है यह ज्ञापक रहेगा । (अन्यथा अपदान्त दीर्घ, चेच्छिद्यते इत्यादि के चकारोत्तरर्ती ए के अग्रयव इ ( ह्रस्व ) सं परे छे व से ही तुक् की सिद्धि हो

१ समान शब्द से यहां पूर्वाचार्यों के संकेतानुसार अक् वर्णों का ग्रहण हीना है । पूर्वाचार्यों का सूत्र है—दश समाना --अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ--ये दश समानाक्षर बह्वात हैं ।

२. यदि दीर्घान् ऐसा न पढ़ा जाए तो कुछ अच्छाया यहां भी विकल्प से तुक् होगा ।



न्ताद्वा इत्येव ब्रूयात् । इह तर्हि—खद्वाभिः, अतो भिस ऐस् इत्येस्मावः प्राप्नाति । तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति । इह तर्हि याता वाता अतो लोप आर्धधातुक इत्यकारलोपः प्राप्नोति । ननु चात्रपि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति । अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम् । किम् । सर्वस्य लोपो मा भूदिति । अथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति । परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च । एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्नापयति नाकारस्थस्याऽकारस्य लोपो भवतीति । यद्यम् आतोऽनुपसर्गे कः इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्या ज्ञापकम् । किन्करणे एतत्प्रयोजनम्—किर्नात्याकारलोपो यथा स्यादिति । यद्याकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यात्,

जाने से दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होता ) । अच्चा तो गद्वाभि यहाँ हस्वाभ्रय त्रिधि भनो भिन ऐम् से भिम् के स्थान में ऐम् प्राप्त होता है । ( उत्तर ) अकार तो तपर करने के बल पर यहाँ ऐम् नहीं होगा ( प्रकृत में यदि ऐम् हो जाए तो तपरकरण व्यर्थ हो जाय ) । अच्चा तो याता वाता — यहाँ अतो लोप आर्धधातुके इम मत्र मे आ के भीतर के हस्व अ का लोप होना चाहिए । अनी यद्वा भी तपरकरण के बल पर ही लोप नहीं होगा । नहीं, यहाँ तपरकरण का कोई दूसरा प्रयोजन है । क्या ' सारे दीर्घ आ का लोप न हो जाए ( आ के एक अग्रयव अ का लोप तो होगा ही ) । यदि पूछो तपर करने पर भी परले अ का लोप होने पर पूर्व अ का लोप क्यों नहीं होता तो हम कहेंगे स्थानिवद्भाव होने से और अमिद् होने से । ऐमी अवग्ना में आचार्य-प्रवृत्ति बतलानी है—

आकार के भीतर वर्तमान अ का लोप नहीं होता, क्योंकि आचार्य आतो-ऽनुपसर्गे कः ( ३ । २ । ३ ) इस सूत्र में प्रत्यय को इत्पञ्चक ककार-सहित पढ़ते हैं । यह क्यों कर ज्ञापक हुआ ? किन्करण में यही तो प्रयोजन है कि किन्प्रत्यय पर होने पर ( धातु के ) आ का लोप हो जाय । यदि आकार के भीतर वर्तमान अ

१ अतपर होने पर अ अने मवर्णों का प्राहक होगा, निम्ने मन्पूर्णे आ का लोप होने लगेगा ।

२ असिद्धखद्वाभात् ( ६।४।२० ) इस शास्त्र में । यह इस तरह समझना चाहिये—अपचितराम् में धिणो लुक् ( ६।४।१०४ ) इस शास्त्र से त का लुक् होनेपर तराम् शब्द का भी जत्र इसी शास्त्र से लुक् प्राप्त हुआ तो इसी शास्त्र में किए हुए त-लुक् को अमिद्वन् मान कर व्यवधान होने से तराम् शब्द के लुक् को रोका जाना है, इसी प्रकार प्रकृत में अतो लोप शास्त्र से किये गये परले अ के लोप को अमिद्वन् मानकर इसी शास्त्र से प्राप्त पूर्व अ के लोप का रोका जाना है ।

कित्करणमनर्थक स्यात् । परस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूप स्याद् गोदः कम्बलद् इति । पश्यति त्वाचार्य्यो नाकारस्थ-स्याऽकारस्य लोपः स्यादिति, अतः ककारमनुबन्धं करोति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । उत्तरार्थमेतत्स्यात्—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः इति । यत्तर्हि गापोष्टृ इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति ।

एकवर्णवच्च ।

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । वाचा तर-तीति द्वयज्जलक्षणघ्नमा भूदिति । इह च वाचो निमित्तम्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातो इत्यनुवर्तमाने गोद्वयच इति द्वयज्जलक्षणो यन्मा भूदिति । अत्रापि गोनोग्रहणं ज्ञापकम्—दीर्घाद् द्वयज्जलक्षणो विधिर्न भवतीति । अयं तु सर्वेषामेव परिहारः—

का ( अतो लोप से ) लोप हो जाय तो इस सूत्र में कित्करण व्यर्थ हो जाय । आ ( =अ + अ ) के परले अ का लोप होने पर प्रत्यय के अ और प्रकृति के अग्रशिष्ट अ के स्थान में ( अतो गुणे ६।१।९७ से ) पररूप एकादेश होने पर इष्ट रूप गोद, कम्बलद् सिद्ध हो जायगा । पर आचार्य जानते हैं आकार के अवयव-भूत अ का लोप न होगा । अतः ककार अनुबन्ध लगाते हैं । पर यह तो ज्ञापक नहीं बन सकता । यहाँ का व प्रत्यय उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये रहेगा । जैसे तुन्द-शोकयो परिमृजापनुदो ( ३।२।५ ) इस सूत्र में । अच्छा तो जो गापोष्टृ ( ३।२।८ ) में जो ककार अनुबन्ध लगाया है जिस का दूसरा प्रयोजन ही नहीं, वह ज्ञापक रहेगा ।

( वा० ) एक वर्ण की तरह ।

दीर्घ एक वर्ण एकाच् होता है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? वाचा तरति इस विग्रह को आश्रित कर वाच् से ( नैद्वयचठन् ४।४।७ से ) द्वयचकता ( दो अचो ) को मान कर कहीं ठन् प्रत्यय न हो जाय । और वाचो निमित्त संयोग उत्पातो वा इस विग्रह को आश्रित कर के गोद्वयच ( ५।१।३९ ) इस सूत्र से वाच् में द्वयचकता को मान कर कहीं, यत् न हो जाय । नहीं, ऐसा नहीं होगा । यहाँ भी गो और नी का इन दोनों सूत्रों में द्वयच् से जुदा ग्रहण होने से ज्ञापित होता है दीर्घ से द्वयज्-निमित्तक विधि नहीं होती । पर वक्ष्यमाण उत्तर सभी दोषों का एक ही परिहार है—

१ सति प्रयोजने न ज्ञापक भवति प्रयोजन हो तो ज्ञापक नहीं होता । यहाँ तो कित् करण प्रयोजनवान् है । यदि प्रयय कित् न हो ( जो यहाँ है ) तो आकार के उत्तर-भाग अकार वा अतो लोप में लोप होने पर धातु के अवशिष्ट अ और प्रयय के अ वा पररूप एकादेश हो जाने पर और इस को धातु के प्रति अवबद्धाव होने

नाऽव्यपवृक्तस्याप्यने तद्विधिर्यथा द्रव्येषु ।

नाऽव्यपवृक्तस्याऽव्ययवाश्रयो विधिर्भवति यथा द्रव्येषु । तद्यथा द्रव्येषु सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति न सप्तदशारत्निमान काष्ठमग्नावभ्याधीयते । विषम उपन्यास । प्रत्यृच चैव हि तत्कर्म चोद्यते । असम्भवश्चाग्नौ वेद्या च । यथा तर्हि सप्तदश प्रादेशमात्रीरादन्तधी समिधोऽभ्याधीत इति न सप्तदशप्रादेशमान काष्ठमग्नावभ्याधीयते । अत्रापि प्रतिप्रणय चेतत्कर्म चोद्यते । तुल्यश्चासभवोऽग्नौ वेद्या च । यथा तर्हि

( वा० ) अभिन्नतया भासमान वर्ण समुदाय के अपृथग भूत ( अस्वतन्त्र ) अवयव को तत्सदृश, स्वतन्त्र, भिन्न वर्ण के तुल्य विधि नहीं होती जैसे द्रव्यों में । जैसे (वेद में कहा है) सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति अर्थात् समिधाधान के सत्तरह ऋग्मन्त्रों से सत्तरह ( एक-एक हाथ लम्बी ) समिधा रखी जाती है, पर इस वचन क आधार पर सत्तरह हाथ लम्बी एक ही लकड़ी तो अग्नि में नहीं रखी जाती ( यद्यपि वहाँ भी एक एक हाथ लम्बे टुकड़े समुदाय घटकतया विद्यमान हैं, पर वे अभिन्न-बुद्धि-गम्य-समुदाय के अभिन्न अस्वतन्त्र अवयव हैं, सत्तरह हाथ लम्बे उस एक काष्ठ में सत्तरह काष्ठ हैं ऐसी बुद्धि नहीं होती, अत तदाश्रित कार्य नहीं होता) । यह दृष्टान्त ठीक नहीं । एक एक ऋचा को उच्चारण कर एक-एक समिधा का रखने का विधान है और अग्नि व वेदी में सत्तरह हाथ लम्बा काष्ठ रखा भी नहीं जा सकता । ( अच्छा तो दूसरा दृष्टान्त लीजिए ) जैसे सत्तरह एक-एक बालिशत लम्बी अश्वत्थ ( पीपल ) की समिधाओं को अग्नि में धरे—इस विधान बल पर सत्तरह बालिशत लम्बा एक ही काष्ठ अग्नि में नहीं धरा जाता । ( यहा भी दृष्टान्तविषमता है ) यहा भी प्रति ओंकार उच्चारण के साथ एक एक काष्ठ धरने की विधि है । और ( यद्यपि बालिशत अल्प प्रमाण है, हाथ का आधा है तो भी ) यहा भी १७ बालिशत लम्बे एक ही काष्ठ के अग्नि व वेदी में आधान का पहले जैसा असम्भव है । अच्छा तो

से और उसे सुपि च से दार्प होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से धावन्तावयव ही रहने से दन्द्गोवाय यहाँ आतो धातो ( ६।४।१४० ) से आ लोप होने लगेगा । यह कोई दोष नहीं । सन्निपात परिभाषा से यहाँ लोप नहीं होगा । अदन्त अङ्ग अर्थात् अ को आश्रित कर के जो टैय्ये से य हुआ है वह अ के लोप का निमित्त नहीं बनेगा ।

१ व्यपवृक्त व्यपवर्गों भेद । अविद्यमान व्यपवृक्तमस्य व्यपवृक्तम्, तस्य अभिन्नबुद्धिविषयसमुदायस्य । अव्यपवृक्तस्य और अवयवस्य—ये दोनों व्यधिकरण पष्ठियों हैं, समानाधिकरण नहीं, अव्यपवृक्त के अवयव का ऐसा अर्थ है, न कि अव्यपवृक्त जो अवयव उस का ऐसा ।

२ और सम्भवमात्र को लेकर कार्य नहीं होते, कार्य निमित्त बुद्धि ही तमा होते हैं ।

तेल न विक्रेतन्यम्, मांसं न विक्रेतन्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते, अन्यपवृक्तं—गाव. सर्पपादश्च विक्रीयन्ते। तथा लोम नख स्पृष्ट्वा शोच कर्तव्यम् इति व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्। अव्यपवृक्तं कामचारः। यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति। क्व च व्यपवर्गोऽस्ति। सन्ध्यक्षरेषु।

सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात्।

यदत्राऽवर्णं विवृततर तदन्यस्मादवर्णाद्। ये अपीवर्णोऽवर्णं विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोऽवर्णाभ्याम्। अथवा पुनर्न गृह्यन्ते।

अग्रहणं चनुद्विधिलादेशनिनामपु ऋकारग्रहणम्।

यद्दृष्टान्तं लीजिष्— ( स्मृतिकार का वचन है ) तेल नहीं बेचना चाहिए, मांस नहीं बेचना चाहिए, पर पृथग्भूत तो बेचा जाता है, और अण्ड्यग् भूत जैसे गौ और तिल नहीं बेचे जाते। इसी प्रकार ( स्मृति है— ) लोमों को और नखों को छूकर स्नान करे। यहा जुदा हुण हुण लोमो और नखों को छूकर अवश्य स्नान करना होगा, परन्तु शरीरस्थ लोम, नखों को छूकर इच्छा हो स्नान करे, अनिच्छा ही, न करे। अच्छा तो जिस समुदाय में पृथक्ता भास रही हो ( वह अवयवाश्रित कार्य क्यों न हो ? )। कहा पृथक्ता भासती है ? सन्ध्यक्षरों में।

( वा० ) सन्ध्यक्षरों में विवृत होने से ( अवयवाश्रित कार्य नहीं होगा )। इन सन्ध्यक्षरों में जो अवर्ण ( अवयव ) है वह लोक में प्रयुक्त स्वतन्त्र अ की अपेक्षा विवृततर है ( अतः यह उसका सवर्ण नहीं ) और जो इ वर्ण और उ वर्ण है वे भी वृत्तरे इवर्ण उवर्ण से विवृततर हैं ( अतः यहा के इवर्ण उवर्ण स्वतन्त्र इवर्ण उवर्ण के सवर्ण नहीं )। अथवा इन अवयवों का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण नहीं होता—यद्दृष्टं पक्ष रहे।

( वा० ) यदि ग्रहण नहीं होता तो नुद्विधि, लादेश, विनाम ( णत्व ) की कर्तव्यता में ऋकार का ग्रहण करना होगा।

१ परमार्थतः पृथग् उपपन्नमान स्वतन्त्र वर्णों की समुदाय में अवयव-रूप से अन्त सत्ता नहीं है, वेवर्ण वर्णान्तर सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है। समुदाय वर्णों में समुदाय बुद्धि भी तात्त्विकी नहीं है, यहाँ भ्रान्तिवश अवयवाभास होने से वैसी बुद्धि कथित होता है।

पदे न वर्णा विशन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यान्पदानामत्यन्तं प्रविवेकी न वदचन ॥

इस वाक्यपर्याय-वचन के अनुसार स्फोट को सिद्धान्त माननेवाले वैयाकरणों के लिये इस पूर्व पक्ष का धौन सा अवसर है।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेपु ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । 'तस्मान्नुड्विहलः' ( ७४१७१ ) ऋकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—  
आनृधतुः, आनृधुरिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते द्विहल इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि  
न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । द्विहलग्रहणं न करिष्यते तस्मान्नुड्वि भवतीत्येव ।  
यदि न क्रियते आटतुः, आट्टरित्यत्रापि प्राप्नोति । अश्रोतिग्रहणं नियमार्थं  
भविष्यति, अश्नोतेरेवाऽवर्णोपधस्य, नान्यस्याऽवर्णोपधस्येति ।  
( नुड्विधिः ) ।

लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । कृपो रो लः ऋकारस्य चेति वक्त-  
व्यम् । इहापि यथा स्यात्—क्लृत्तः क्लृत्तवानिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते र इत्येव  
तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । ऋकारोप्यत्र निर्दि-  
श्यते । कथम् । अविभक्तिको निर्देशः—कृप, उः, रः, लः, कृपो रो ल इति ।

तस्मान्नुड्विहलः इस सूत्र में ऋकारे च ( ऋकार परे होने पर भी ) ऐसा  
पढ़ना होगा ताकि आनृधतुः ( ऋध् का प्र० पु० द्विवचन में लिट् ), आनृधुः ( बहु०  
में लिट् ) यहा भी नुड् का आगम हो जाय । जिसके मत में वर्णों के एकदेश का  
स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है, उसके लिए द्विहल कहने से ही नुड् आगम  
हो जायगा । जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसमें भी यह ( ऋकारग्रहरूप ) दोष  
नहीं आता । वह द्विहल् का ग्रहण न करेगा तस्मान्नुड्वि ( भवति ), इतना ही सूत्र  
न्यास करेगा । यदि ऐसा क्रिया जायगा, आटतुः, आट्टुः—यहाँ भी नुड् की प्राप्ति  
होगी । ( नहीं होगी ) अश्नोतिश्च ( ७४१७२ ) सूत्र में अश्रुद् धातु का नुड् विधान  
के लिए जो ग्रहण क्रिया है वह नियमार्थ होगी, अर्थात् अवर्ण उपधावाले धातु को  
यदि नुड् हो तो अश्रुद् को ही हो, अन्य को न हो । ( नुड्विधि के विषय में  
कह दिया ) ।

लादेश विधि में भी ऋकार का ग्रहण करना होगा । कृपो रो ल ( ८१२१८ )  
यहाँ ऋकारस्य च ( ऋकार को लादेश हो ) ऐसा पढ़ना चाहिए, ताकि क्लृत्तः  
क्लृत्तवान्—यहाँ भी लृत्त हो जाय । जिसका यह पक्ष है वर्णों के एकदेशों का स्वतन्त्र  
वर्णों के रूप में ग्रहण होता है उसके लिये तो सूत्र में पढ़े हुपु र से ही कार्यसिद्धि  
हो जायगी । ( ऋकारस्थ रेफ भाग को लृत्त करने से इष्ट सिद्धि हो जायगी ) । जिसका  
पक्ष है ग्रहण नहीं होता, उसके विषय में भी ऋकारग्रहण गौरव रूप दोष नहीं आता ।  
( क्योंकि ) यहाँ ऋकार का निर्देश पहले से ही किया हुआ है । वह कैसे ? कृपो  
रो ल सूत्र में छन यह अविभक्तिक ( विभक्ति-रहित ) निर्देश है, ऋ का पञ्चमन्त  
रूप उः है, कृप के पकारोत्तरवर्ती अकार से मिल कर ओ गुण हुआ है ।

अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्चतेर्लक्ष्यतिर्भवतीति । ( लादेशः )

विनामे ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । रपाभ्यां नो णः समानपदे ऋकाराच्चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—मातृणां पितृणामिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते रपाभ्यामित्येव तस्य सिद्धम् । न सिध्यति । यत्तद्रेफात्परं भक्तेस्तेन व्यवहितत्वात् प्राप्नोति । मा भूदेवम् । अङ्गव्याये इत्येव सिद्धम् । न सिध्यति । वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा भवन्ति । यच्चवापि रेफात्परं भक्तेः, न तत्कच्चिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते । एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते, रपाभ्यां नो णः समानपदे, ततः 'व्यवाये' । व्यवाये च रपाभ्यां नो णो भवतीति । ततः 'अङ्कुप्वाङ्नुम्भिः' इति । इदमिदानीं किमर्थम् । नियमार्थम् । एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये, नान्यैः,

अथवा ऐसा समझिये कि यहाँ ( कृपो रो लः ) सूत्र में दोनों स्थानी र और आदेश ल में जातिस्फोट र, ल का निर्देश है । ( यह लादेश विषय में कह दिया )

विनाम (णत्व विधि) में ऋकार का ग्रहण करना होगा । जहाँ णत्व विधायक शब्द रपाभ्या नो ण समानपदे पढ़ा है वहाँ उसके साथ ऋकाराच्च ( ऋकार से परे भी) ऐसा कहना चाहिये । ताकि मातृणाम् पितृणाम्-यहाँ भी णत्व हो सके । जिस का ग्रहण पक्ष है उसके मत में तो रपाभ्याम् इतने से ही कार्य-सिद्धि हो जायगी । नदी होगी । जो रेफ रूप भाग से परे अङ्-भक्ति है उससे व्यवधान के कारण रपाभ्याम्—इस सूत्र से प्राप्ति ही नहीं । मत हो । अङ्कुप्वाङ् सूत्र से अङ् रूप व्यवधान होने पर भी णत्व होता है, (सो णत्व निर्बाध है) । णत्व ( इस सूत्र से भी ) नदी हो सकेगा । वर्णों के एकदेश (अवयव) वे ही तो वर्णरूप से गृहीत होते हैं जिनके सदृश स्वतन्त्र वर्ण हैं । रेफ रूप भाग से परे जो अच् भक्ति मानी जाती है वह ( तत्सदृश वर्ण ) कही भी दीखता नहीं । अच्छा तो हम योगविभाग करेंगे । रपाभ्याम्—इस सूत्र को पढ़कर व्यवाये यह वचन पढ़ेंगे, अर्थ होगा र् प् से परे न् को ण् होता है और (किसी वर्णके) व्यवधायक होने पर (भी) यह णत्व हो जाता है । इसके अनन्तर अङ्कुप्वाङ्नुम्भिः (अङ्, कर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इनके द्वारा व्यवधान होने पर) ऐसा पढ़ेंगे । यह किस लिये ? नियम करने के लिये । अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट वर्णों द्वारा यदि व्यवधान हो तो इन्हीं (अङ्, कर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम्) द्वारा व्यवधान होने पर णत्व हो, अन्य

१. कृपः उ० रेफस्य लत्वम्—यह एक वाक्य, कृपो रेफस्य लत्वम्—यह दूसरा ।

इस प्रकार वाक्यभेद ही जाता है । पर यह न्याय है कि एकवाक्यता के संभव होने पर वाक्यभेद वा आश्रयण युक्त नहीं, अतः भाष्यकार पक्षान्तर का उपन्यास करते हैं ।

२. यह नियम अक्षर-समाम्नाय में पढ़े हुए वर्णों द्वारा व्यवधान रूप संकोच करता

इति । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति ऋकारात्तो णत्वमिति, यद्यं भ्रुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । वृद्धयर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः । यत्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति । यच्चापि नृनमनशब्दं पठति । ननु चोक्तं वृद्धयर्थमेतत्स्यात् । बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे । अथवा उपरिष्ठाद्योगविभागः करिष्यते । ऋतः नो णो भवति । ततः 'छन्दस्यवग्रहात्' ऋत इत्येव ।

प्लुतावैच इदुतौ ॥

एतच्च वक्तव्यम् । यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोष्टेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । क्रियत एतन्न्यास एव ।

द्वारा व्यवधान होने पर न हो । जिसका अग्रहण पक्ष है उसे भी यह ऋकार ग्रहण-रूप दोष नहीं आता । आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है ऋकार से परे न् को ण् होता है जो वे भ्रुभ्नाति गण में नृनमन शब्द पढ़ते हैं ( प्राप्त था तभी तो वारण करने के लिये भ्रुभ्नाति गण में पाठ कर दिया ) । नहीं यह कोई ज्ञापक नहीं । इस ( नृनमन ) का पाठ तो इसलिये किया गया हो सकता है कि जब अपत्यार्थ इन् प्रत्यय आने पर भादि-वृद्धि होकर पूर्व पद में रकार मिल जाय तब उससे परे न् को ण् न हो । नार्नमनि-ऐसा रूप हो । अच्छा जो इसी गण में तृप्नोति शब्द पढ़ा है, यह ज्ञापक रहेगा । और नृनमन शब्द का पाठ भी ज्ञापक होगा । अजी अभी कहा था कि उसका पाठ वृद्धि होकर नार्नमनिः रूप में रकारनिमित्तक णत्व को रोकने के लिये हो सकता है । नहीं । ( बहिर्भूत निमित्त इन् प्रत्यय होने से ) वृद्धि बहिरङ्ग है और ( अन्तर्भूत निमित्त होने से ) णत्व अन्तरङ्ग है । अन्तरङ्ग शास्त्र की दृष्टि में बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है ( सो ऋकार निमित्तक णत्व को रोकने के लिये ही नृनमन शब्द का पाठ है ) । अथवा भगले सूत्र को विभाग करके पढ़ें—ऋतः ( सूत्र के अविभक्तिक ऋत् की पञ्चमी । और अर्थ होगा ऋ से परे न् को ण् होता है । तब छन्दस्यवग्रहात् पढ़ेंगे जिसमें पूर्व सूत्र से ऋतः इसकी अनुवृत्ति होगी ।

( ग्रहणवादी का कथन )—प्लुतावैच इदुतौ ( ८।२।१०६ ) अर्थात् ऐच् के अवयव इ, उ को प्लुत होता है—यह तुम्हें कहना पड़ेगा । जिस के मत में अवयवी का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण होता है, उस के मत में गुरोरृत्तः इत्यादि सूत्र से ही प्लुत हो जायगा । ( उत्तर ) जिस के मत में ग्रहण नहीं होता, उस में भी कोई दोष नहीं ( गौरव नहीं आता ) । सूत्रकार ने पहले ही इस वचन को सूत्ररूप में पढ़ रखा है ( यहाँ कोई अपूर्व वचन नहीं पढ़ना है ) ।

है । रेफ रूप भाग से परे जो अज्भक्ति मानी जाती है उसका नहीं, सो वहाँ न्यवाये इस योगविभाग से निर्वाध णत्व होगा ।

तुल्यरूपे' संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाध्ययो विधिर्न सिध्यति कुश्कुटः, पिश्प्ली, पिश्त्तमिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ । कथम् । मात्राकालोऽत्र गम्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम् । असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् । यद्यपि तावदत्रे-  
तच्छक्यते वस्तुं यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति । इह तु कथम्—  
सर्व्यन्ता, सर्व्वत्सरः, यल्लोकरम्, तल्लोकरम् इति । यत्रेतदस्त्यण् सवर्णान्

( वा० ) ( ग्रहणवादी फिर दोष देता है )—तुल्यरूपवाले अवयव जिस वर्ण में हैं और जो संयोगसज्ञा के योग्य ( एक ) वर्ण है वहाँ तुम्हें ( अग्रहणवादी को ) हल्-द्वय-आश्रित संयोगसज्ञा अप्राप्त होने से बहनी चाहिये । जिस से संयोग के परे होने पर पूर्व की गुरु सज्ञा होने से गुरोत्तृत — से कुश्कुट, पिश्प्ली, पिश्त्त इत्यादि में प्लुत हो सके । ( हमारे मत में अय्यन्-भूत ककारादि को लेकर दो ककार, दो पकार, दो तकार हैं ) । ( उत्तर— ) जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसके मत में भी दो ही ककार, दो ही पकार और दो ही तकार हैं । तुम पूछो कैसे ? ( तुम्हारा यहाँ क, प, त में एक वर्ण मानना भ्रान्ति है ) कारण कि मात्रा काल संयोग का बोध हो रहा है, पर मात्रा काल वाला व्यञ्जन तो है नहीं । जब आचार्य ने उसका प्रत्याहारसूत्रों में उपदेश नहीं किया तो उसकी सत्ता कैसे जानी जाय और जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाय । यहाँ पूर्वपक्षी ( ग्रहणवादी ) कहता है कि जहाँ अण् भिन्न वर्णों क, प, त आदि में अनुदिसवर्णस्य चाप्ययः ( १।१।६९ ) ग्रहणकृतास्त्र नहीं लगता वहाँ तुम भले ही उपदेशाभाव और असत्वरूप अग्रहण में हेतु दे सको, पर जहाँ सर्व्व्यन्ता, सर्व्वत्सर, यल्लोकरम्, तल्लोकरम् आदि में अण् से गृहीत होने से साक्षान् उपदेश न होने पर भी उपदिष्ट्य और सत्त्व है ही । वहाँ अण् रूप य, व, ल अपने सवर्णों का ग्राहक होने से दो य्य, दो व्व, दो ल्ल को एक वर्ण हल् के रूप में ग्रहण ( बोध ) करावेंगे सो अग्रहण पक्ष में दो हल् न होने से संयोग सज्ञा न बनेगी । ( उत्तर— ) यनारादि के अण् होने पर भी द्वियकारादि को वह ग्रहण नहीं करा सकता, जो है उसीका ग्रहण करा सकता है । य्य आदि मात्रावा-

१. तुल्यरूपावयव' संयोगस्तुल्यरूप । मध्यमपदलोपी समास । तुल्यरूप-संयोग की पूर्वपक्ष में एकवर्णता है, सिद्धान्त में वर्णद्वयरूपता । शीघ्रोच्चारणयज्ञान् एकत्र शन तो भ्रान्त है ।



गृह्णातीति । अत्रापि मात्राकालो गृह्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनु-  
पदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञानुम् । असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् ।

हयवरट् ॥ ५ ॥

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वद्वयं  
परद्वयं । यदि पुनः पूर्वं एवोपदिश्येत, पर एव वा । कदचान विशेषः ।

हकारस्य परोपदेशोऽट्ग्रहणेषु ट्ग्रहणम् ॥

हकारस्य परोपदेशोऽट्ग्रहणेषु ह्यग्रहणं कर्तव्यम् आतोऽटि नित्यम्, शरदोऽटि,  
दीर्घादटि समानपादे हकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—महौ  
हि सः ।

उत्वे च<sup>१</sup> ॥

उत्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् अतो रोरप्सुतादप्सुते हशि च हकारे

लिक हैं, व्यञ्जन ( हल् ) तो मात्राकालिक होता नहीं ( वह तो अर्धमात्रिक होता है ),  
उसका आचार्य ने उपदेश नहीं किया, उपदेश के बिना उसकी सत्ता कैसे जानी जाय ।  
जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाए ?

हयवरट् ॥५॥

सभी वर्णों का ( वर्णसमाम्नाय में ) एक ही बार उच्चारण किया गया है, पर  
हकार ही का दो बार उच्चारण किया गया है, पहले भी और पीछे भी । यदि पहले  
ही उच्चारण किया जाए अथवा पीछे ही, तो इसमें क्या भेद पड़ता है ?

( वा० ) हकार के केवल पर उपदेश होने पर टिन सूत्रों में अट् ग्रहण किया  
है उनमें हकार भी ग्रहण करना चाहिए, ( जैसे ) आनोऽटि नियम्, शरदोऽटि,  
दीर्घादटि समानपादे इन सूत्रों में हकार परे होने पर भी ( इन सूत्रों से विहित कार्य )  
होते हैं ऐसा कहना चाहिए ताकि महौ हि स —यहौ भी रुव और अनुनासिक हो जाय ।

( वा० ) उत्त्व की कर्तव्यता में भी हकार ग्रहण करना चाहिये अतो रोरप्सुताद-

१ सानुनामिक और निरनुनासिक यहाँ दो वर्ण ह ।

२. यह सूत्र अट्प्रत्याहारार्थ हकार के उपदेश में प्रयोज्योच्चारित है । अट्कुप्वाङ्  
आदि के साथ प्रसङ्ग से पड़ दिया है । वस्तुतः इस अट् में हकार के उपदेश का कोई  
प्रयोजन नहीं । क्योंकि हकार परे रहते शकार का मिलना सर्वथा असम्भव है ।

३ उत्त्व के साथ भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽति यहाँ अश् प्रत्याहार में भी  
हकार के उपदेश का प्रयोजन समझना चाहिये । भो हसति देवा हसन्ति, आदि में हकार  
परे रहते रु को अन्व होता है ।

चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति ब्राह्मणो हसतीति ।  
अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

पूर्वोपदेशे कित्त्वक्सोऽविधयो<sup>१</sup> झल्ग्रहणानि च ॥

यदि पूर्वोपदेश कित्त्वं विधेयम्—स्निहित्वा, स्नेहित्वा, सिस्नि-  
हिपति, सिस्नेहिपति रलो व्युपधाद्बलादेः इति कित्त्वं न प्राप्नोति ।  
क्सविधिः—क्सश्च विधेयः—अधुक्षत्, अलिक्षत् शल इगुपधादनिटः  
क्स इति क्सो न प्राप्नोति । इट्प्रविधिः—इट् च विधेयः—रदिहि बलादि-  
लक्षण इप्न प्राप्नोति । झल्ग्रहणानि च । किम् । अहकाराणि स्युः । तत्र को  
दोषः । झलो झलि इतीह न स्यात्—अदाग्धाम् अदाग्धम् । तस्मात्पूर्व-  
श्चेवोपदेशेऽन्यः परश्च । यदि च किञ्चिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति  
तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः ।

इदं विचार्यते—अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्व एवोपदिश्येत हरय-  
वद् इति, पर एव वा यथान्यासम् इति । कश्चात्र विशेषः ।

प्लुते की अनुवृत्ति करते हुए हासि च सूत्र में हकार परे होने पर भी उत्त्व हो ऐसा  
कहना चाहिये ताकि पुररो हसति, ब्राह्मणो हसति यहाँ भी उत्त्व हो जाय । अच्छा तो  
पूर्व ही उपदेश हो ।

(वा०) यदि पूर्व ही उपदेश हो तो कित्त्व विधि, क्स विधि तथा इट् विधियों  
नहीं सिद्ध होतीं और जहाँ झल् ग्रहण किया गया है वह हकार-रहित होगा ।

यदि पूर्वोपदेश ही किया जाय तो कित्त्व का विधान करना पड़ेगा । स्निहित्वा,  
मिस्निहिपति, सिस्नेहिपति में रलो व्युपधाद्बलादे —इस सूत्र से हकार के रत् प्रत्या-  
हारान्तर्गत होने से सेट् क्त्वा और इहादि सत् विकल्प से कित्त्व नहीं हो सकते । क्स-  
विधि —क्स का भी विधान करना पड़ेगा । अधुक्षत्, अलिक्षत् (दुह और लिह का लुट्)  
में शल इगुपधादनिट क्स इस सूत्र से क्स की प्राप्ति नहीं होगी । इट्प्रविधि—इट् का  
भी विधान करना होगा (क्यों कि अब) बलादि प्रत्ययनिमित्तक इट् की प्राप्ति नहीं ।  
झल्ग्रहण भी । क्या कहना चाहते हो ? यही कि झल् प्रत्याहार हकार रहित हो जायेंगे ।

अब इस बात पर विचार किया जाता है रेफ का यकार वकार से पूर्व ही  
उच्चारण करके (सूत्र को) हरयवद् इस रूप से पढ़ा जाय अथवा जैसे आचार्य ने इसे  
रपा है (हयवरट् के रूप में) । तो इसमें क्या विशेष है ?

१ यहाँ विधि शब्द में कर्मणि कि प्रत्यय समझना चाहिये । कित्त्व क्स इट्—  
ये विधेय हैं ।

२. वर्गों का उपदेश किसी शास्त्रीय प्रयोजन के लिये किया जाता है (केवल)  
स्वरान्तीपन के लिये नहीं ।

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनुनासिकस्य—स्वर्नयति, प्रातर्नयति यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।३।३५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति। द्विर्वचनस्य—मद्रहदः, मद्रहदः यरः (८।३।३६) इति द्विर्वचनं प्राप्नोति। परसवर्णस्य—कुण्ड रथेन, वन रथेन अनुस्वारस्य ययि (८।३।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे कित्त्वप्रतिषेधो व्यलोपचन च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्व प्रतिषेध्यम्। देवित्वा द्विदेविपति रलो व्युपधादिति कित्त्व प्राप्नोति। नैय दोषः। नेत्र विज्ञायते रल् व्युपधादिति। किं तर्हि। रलः अन् व्युपधादिति। किमिदम् अन् व्युपधादिति। अन्नारान्ताद् व्युपधाद् अन्व्युपधादिति। व्यलोपचन च—व्योदच लोपो वक्तव्यः।

(वा०) रेफ का पर उपदेश करने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का निषेध कहना होगा। अनुनासिक के निषेध का विषय स्वर्नयति, प्रातर्नयति, यहाँ यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा इस सूत्र से रेफ को यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुनासिक प्राप्त होता है। द्विर्वचन के निषेध का विषय—मद्रहद, मद्रहद यहाँ अचो रहान्या द्वे सूत्र से रेफ के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से द्वित्व प्राप्त होता है। परसवर्ण के निषेध का विषय—कुण्ड रथेन, वन रथेन यहाँ अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण इस सूत्र से रेफ के यय् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुस्वार को परसवर्ण प्राप्त होता है। अच्छा तो (रेफ का) पूर्व उपदेश ही हो।

(वा०) पूर्व उपदेश होने पर कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा और वकार यकार का लोप भी कहना होगा।

यदि (रेफ का) पूर्व उपदेश किया जाय तो कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा देवित्वा द्विदेविपति। यहाँ व् के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से रलो व्युपधादलादेः सञ्च (१।२।२६) इस सूत्र से सेट् क्त्वा और सेट् सन्प्रत्यय को विकल्प से कित्त्व प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। हम सूत्र का पदच्छेद रल् व्युपधात् ऐसा नहीं समझते किन्तु रल् अन् व्युपधात् ऐसा समझते हैं। तो अन् व्युपधात् इसका क्या अर्थ है? जो व्युपध हो पर वकारान्त न हो उससे। व् य् का लोप भी—गौधेर, पचेरन्, यनेरन्, जीव् घातु से रदानु प्रत्यय करने पर—ऐसे स्थलों में कहना होगा, कारण कि अब रेफ व प्रत्याहारान्तर्गत न रहा अतः लोपोव्योर्वलि (६।१।२६) इस सूत्र से लोप न हो सकेगा। यह कोई दोष नहीं। व्योर्वलि सूत्र में रेफ का भी निर्देश (उच्चारण) आचार्य

गोधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीवे रदानुः—जीरदानुः। वलीति लोपो न प्राप्नोति। नेप दोष। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते लोपो व्योर् वलि इति, रेफे च वलि चेति।

अथवा पुनरस्तु परोपदेशः। ननु चोक्त रेफस्य परोपदेशोऽनुनासिक द्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेध इति। अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्य, रेफोऽप्यत्र सवर्णा न सन्ति। द्विर्वचनेऽपि। नेमो रहो कार्यिणो द्विर्वचनस्य। किं तर्हि। निमित्तमिमो रहो द्विर्वचनस्य। तद्यथा ब्राह्मणा भोज्यन्ता माठरकोण्डिन्यो परिवेषिपातामिति। नेदानीं तो भुञ्जाते'।

इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते ध्रूयन्ते च। तेषां

ने क्या है, लोपो व्वावलि ऐसा सूत्रन्यास अभिप्रेत है। (सहिता कार्य से रेफ का लोप हुआ है)। अर्थ हुआ व् पर होने पर भी लोप हो और रेफ पर होने पर भी।

अथवा (सूत्रानुसार) परोपदेश ही रहे (क्या हानि है?)। अभी अभी कहा था, परोपदेश होने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा। अनुनासिक और परसवर्ण क निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि रेफ और उष्म वर्ण (श प स ह) क सवर्ण नहीं होते। रहा द्विर्वचन का निषेध, सो भी न कहना होगा, कारण कि हकार यर् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से द्वित्व-रूप कार्य का भाग ही नहीं, और रेफ यद्यपि यर् है तो भी द्वित्व विधि में निमित्त होने से कार्य नहीं हो सकता। (इसमें लौकिक दृष्टान्त देते हैं) जैसे ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, मगर और कौण्डिन्य (मगर और कुण्डिन गोत्र ब्राह्मण) भोजन परोसें। परोसत हुए वे स्वयम् भोजन नहीं करते।

अथ इस बात पर विचार किया जाता है कि इन अयोगवाह नामक वर्णों का कहीं भी उपदेश नहीं किया, पर शास्त्र में और लोकव्यवहार में इनका श्रवण होता है। अतः शास्त्र-कार्य के लिए इनका उपदेश होना चाहिए। अयोगवाह नाम के कौन से

१ सामान्यतया यह लोकव्यवहारसिद्ध बात है कि विशेष विधि द्वारा सामान्य विधि का बाधा हुआ बरती है। अथा रहाम्या द्वे इस द्विव विधि में यर् सामान्य है। रफ विशेष है। उसका निमित्तत्व प्रथम निहित है। यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने पर भा उमहा कार्यिण प्रथम विहित नहीं है किन्तु अनुमेय है। प्रथमविहित रेफ का निमित्तत्व उसके कार्यिण की बाधा लेगा तो मद्रहद में रेफ को द्वित्व नहीं होगा। द्रुदुदकम् आदि में इकी यगचि स हनेवाते यणादेश में तो इक् का स्थानित्व प्रत्यक्ष है। अथ इस निमित्त के अन्तर्गत इक् का निमित्तत्व अनुमेय है। वही इक् का

कार्यार्थमुपदेशः कर्तव्यः । के पुनरयोगवाहाः । विसर्जनीपजिह्वामूलीयोप-  
ध्मानीयानुस्वारनासिन्ययमाः । कथं पुनरयोगवाहाः । यद्युक्ता वहन्ति  
अनुपदिष्टाश्च ध्रूयन्ते । क्व पुनरेयामुपदेशः कर्तव्यः ।

अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ॥

अयोगवाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । णत्वम् उरःकेण,  
उरःकेण, उरःपेण, उरःपेण । अङ्गुष्ठाया इति णत्वं सिद्धं भवति ।

शर्षु जश्भावपत्वे ॥

शर्षुपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । जश्भावपत्वे । अयमुञ्जिरुपध्मानीयोपधः  
पठ्यते । तत्र जदन्वे कृते उञ्जिता, उञ्जितुमित्येतद्रूपं यथा स्यात् । यद्युञ्जि-  
रुपध्मानीयोपधः पठ्यते, उञ्जिजिपर्ताल्युपध्मानीयादेरेव द्विर्यचन प्राप्नोति ।

वर्ण हैं ? (उत्तर) —रिसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक  
और यम । इन्हें अयोगवाह क्यों कहते हैं ? इसलिये कि इनका योग=उपदेश (अक्षर-  
समाग्न्याय में) किया नहीं, और इनका शास्त्र और लोक में वहन=व्यवहार होता है ।  
तो इनका कहीं उपदेश करना चाहिये ?

(वा०) अयोगवाहों वा अट् प्रत्याहार में अन्तर्भाव करना चाहिये । इसमें  
क्या सिद्ध होगा ? (उत्तर) णत्व । उरः केण, उरःकेण उर पेण उरःपेण, यहाँ अट्कृत  
व्यवधान होने पर भी णत्व सिद्ध होता है ।

(वा०) शर् प्रत्याहार में अयोगवाहों का अन्तर्भाव करना चाहिये । इससे  
क्या सिद्ध होगा ? जश् भाव और पत्व ।

उच्च धानु उपध्मानीयोपध ( जिनमें उपध्मानीय उपधा है ) पढ़ा है । शर्  
में पाठ होने से ( शर् जश् के अन्तर्गत है ) ज्ञर्णं जश् ज्ञर्णि ( ८।४।१३ ) इस सूत्र से  
उपध्मानीय को जश् होने पर उञ्जिता, उञ्जितुम् ऐसा रूप सिद्ध होगा । ( शब्दा )  
यदि उच्च उपध्मानीयोपध पढ़ा है ऐसा स्वीकार करते हो तो अजादेर्द्वितीयस्म  
( ९।१।२ ) सूत्र से उपध्मानीय सहित द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त होता

स्थानिन्व प्रत्यक्ष होता हुआ भी उससे निमित्तत्व का वाचक नहीं होता, क्योंकि तस्मादि-  
त्युत्तरस्य इत्यादि यन् विधान रूप जापकों से स्थानी होता हुआ भी इक्, यण् का  
निमित्त बन जाएगा । उदकम् का उकार ट्क् भी है और अच् भी है । वहा उकार का  
स्थानिन्व प्रत्यक्ष है । निमित्तत्व अनुमेय है । लक्ष्यानुरोध से वहाँ पर बाध्यबाधक  
भाव में विशेष आदर भी नहीं किया जाना । जैसे चिचीयति यहा दीर्घ और क्त्वि दोनों  
की प्राप्ति में कोई भी पहले हो सकता है ।

१ यदि द्विर्यचन की कर्तव्यता में जश्च अस्तिद्ध है अथवा यदि पूर्वप्राप्तिदी-  
यमद्विर्यचने इस परिभाषा के अनुसार जश्च सिद्ध की है । दोनों अवस्थाओं में उद्विञ्जि-  
पति ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है ।

दकारोपधे पुनर् 'न न्द्राः संयोगादयः' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ।  
यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः उच्चिता उच्चितुमिति ।

असिद्धे भ उद्जेः ॥

इदमस्ति—“स्तोः श्चुना श्चुः” इति, ततो वक्ष्यामि भ उद्जेः, उद्जेः  
श्चुना सन्निपाते भो भवतीति । तत्तर्हि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम् । निपातनादेव  
सिद्धम् । किं निपातनम् । “भुजन्युञ्जौ पाण्युपतापयोः” इति । इहापि तर्हि  
प्राप्नोति—अभ्युद्गः समुद्गः इति । अकुत्वविषये तन्निपातनम् । अथवा नैतदुञ्जे  
रूपम् । गमेरेतद् द्वयुपसर्गाद्भौ विधीयते । अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः  
समुद्ग इति । पत्यं च प्रयोजनम् । सर्पिःषु धनुःषु । शर्व्यवाये इति पत्यं  
सिद्धं भवतीति । 'नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं  
भवति । नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथं सर्पिषु धनुषि ।

है इससे उच्चित्रिपति यह इष्ट रूप सिद्ध न होगा । दकारोपध ( उद्ज् ) मानने पर  
तो, न न्द्राः संयोगादयः, ( ६।१।३ ) इस सूत्र से दकार के द्विवचन का निषेध हो  
जाने से द्वितीय एकाच् जिस् को द्वित्व होगा । यदि दकारोपध ( उद्ज् ) पाठ है तो  
उच्चिता, उच्चितुम् इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ?

असिद्धे भ उद्जेः ॥

असिद्ध ऋण्ड त्रिपाद्री में स्तोः श्चुना श्चुः ( ८।४।४० ) यह पढ़ा है, वहाँ  
इसके आगे भ उद्जेः ऐसा पढ़ देंगे, अर्थ होगा— श्चु ( शकार चवर्ग ) के योग  
में उद्ज् के सकार तर्ग को भ हो ( और वह अव्ययहितपूर्व दू को ही होगा ) । तो  
क्या ऐसा अपूर्व वचन करना चाहिए ? नहीं । निपातन से ही इष्टसिद्धि हो जाएगी ।  
कौन सा निपातन ? भुजन्युञ्जौ पाण्युपतापयोः ( ७।३।६१ ) ( यहाँ न्युञ्ज में  
दू के स्थान में भ् निपातित है, और जदत् से उसे व् हुआ है ) । यदि निपातन  
मानते हो तो ( बाधकान्येऽनिपातनानि भवन्ति इस वचन के अनुसार ) अभ्युद्गः  
समुद्गः यहाँ भी दकार का ध्रवण न होकर व् का ही ध्रवण होना चाहिए । ( उत्तर )  
यह विशिष्टविषयक निपातन है जहाँ चञो. कु चिण्यतोः ( ७।३।५२ ) सूत्र से  
कुत्व प्राप्त हो और कुर्याभाव निपातन किया हो वही इस भत्व का विषय है ।  
अथवा यू समझिए— ये दोनों रूप उद्ज् धातु के नहीं हैं । ये तो गम् धातु से दो  
उपसर्ग अभि उद्, और सम् उद् रहते ड प्रत्यय से निम्न होते हैं । अभ्युद्ग=  
अभ्युद्गत, समुद्ग=समुद्गत ।

शर् पाठ में पत्व भी प्रयोजन है । जैसे सर्पिषु धनुःषु यहाँ शर् ट्त व्यवधान  
होने पर पत्व सिद्ध होता है । इस पाठ का यह भी लाभ है नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि

अनुस्वारे कृते 'शर्ध्यवाये' इत्येव सिद्धम् । अवदयं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । अनुस्वारविशेषणं नुमग्रहणम् । नुमो योनुस्वारस्तस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्त्विति । अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् ।

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः ॥

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्, उश्चक, हलोऽनन्तराः संयोग इति संयोगसंज्ञा । संयोगे गुर्विति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो भवति । उपधासंज्ञा च प्रयोजनम्—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुर्णीतम्, निष्पीतम्, इदुदु-

(८।३।५८)—इस सूत्र में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता (यह लाघव है) । तो सूत्र में नुम् का ग्रहण भी छोड़ा जा सकता है । यदि प्लो सपीधि, धन्धि में पत्व कैसे सिद्ध होगा ? नुम् को अनुस्वार करने पर अनुस्वार अयोगवाह के शर् अन्तःपाती होने से शर् व्यवाये—इसी से पत्व हो जायगा । (नहीं) नुम् का तो अवश्य ग्रहण करना होगा । सूत्र में नुम् ग्रहण अनुस्वार का विशेषण है (अनुस्वार विशेष्य है), अर्थ हुआ नुम् का (नुम्स्थानिक) जो अनुस्वार तद्धृत व्यवधान होने पर पत्व हो, इससे पुंमु यहाँ पत्व नहीं होता (यहाँ पुम् के म् को अनुस्वार हुआ है) ।

अथवा किसी प्रत्याहारविशेष में न पढ़कर अयोगवाहों को अल् आदि सामान्य प्रत्याहारों में पढ़ना चाहिए । क्या प्रयोजन है ?

(वा०) सामान्यरूप से अल् आदि प्रत्याहारों में अयोगवाहों के पाठ के ये प्रयोजन हैं—संयोगसंज्ञा, अलोन्यविधि, द्विर्वचन तथा स्थानिवद्भावप्रतिषेध—सिद्धि ।

सामान्य रूप से अल् अन्तर्गत होने से संयोगसंज्ञा-रूप प्रयोजन सिद्ध होता है—उश्चक, यहाँ हलानन्तराः संयोगः (१।१।७) इस सूत्र से संयोगसंज्ञा, संयोगे गुरु (१।४।११) इस से गुरु संज्ञा और उस गुरु को गुरोरवृत्त (८।२।८६) इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध होता है । उपधा संज्ञा प्रयोजन है—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुर्णीतम्, निष्पीतम्—यहाँ दुष्कृतम् इत्यादि में विसर्जनीय (जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) को अल्

१. अनुस्वार शर् प्रत्याहारान्तर्गत है, इस लिए अनुस्वार-रहित व्यवाय में भी पत्व सिद्ध ही था, तो नुम्-ग्रहण क्यों किया ? नुम्-ग्रहण नियमार्थ है । नुम् के स्थान में जो अनुस्वार हुआ उसी के व्यवाय होने पर पत्व हो अन्यत्र मत हो । जिस तरह नक्षत्रे दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् (नक्षत्र दर्शन होने पर मौन मत तोड़ दे) यहा नक्षत्रदर्शन काल-विशेष का उपलक्षण है, जिससे दिन में नक्षत्र दर्शन होने पर भी मौन-त्याग नहीं होता, और रात्रि को मेघादि के होने से नक्षत्र दर्शन न होने पर मौन त्याग होता है, इसी तरह नुम् के होते हुए अनुस्वार के अभाव में पत्व नहीं होता, पर नुम् के न रहने पर तन्स्थानान् अनुस्वार के होने पर पत्व होगा ।

पधस्य चाप्रत्ययस्येति पत्वं सिद्धं भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । न इदु-  
दुपध-ग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते । किं तर्हि । सकारो विशेष्यते—इदु-  
दुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति । अथवोपधाग्रहणं न करिष्यते,  
इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीय विशेषयिष्यामः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्ज-  
नीयस्येति । अलोऽन्त्यविधिश्च प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति ।  
अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यलोऽन्त्यस्य सत्त्वं सिद्धं भवति । एतदपि  
नास्ति प्रयोजनम् । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति विसर्जनीयस्येव  
भविष्यति । द्विवचनं च प्रयोजनम् उर×कः : उर×पः : अनचि च अच  
उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विवचनं सिद्धं भवति । स्थानियद्वावप्रति-  
पेधश्च प्रयोजनम्—यथेह भवति उरःकेण, उरःपेणेति अङ्गव्याय इति  
णत्वम्, एवमिहापि स्थानिवद्वावात् प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन महोरस्के-  
नेति । तत्रानल्विधाविति प्रतिपेधः सिद्धो भवति ।

मानकर उकार, इकार की अलोन्त्यात् पूर्व उपधा ( १।१।६५ ) इस शास्त्र से उपधा  
संज्ञा सिद्ध होती है । तब इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ( ८।३।४१ ) इस सूत्र से विसर्जनीय  
को पत्य हो जाता है । यह कोई प्रयोजन नहीं । इदुदुपध—यह विसर्जनीय का विशेषण  
नहीं, तो किस का ? यह सकार का विशेषण है ( विसर्ग होने से पूर्व सान्त्वानस्था मे  
इकारोपध उकारोपध जो सकार उस के विसर्ग को पत्य होता है ऐसा अर्थ होगा ) ।  
अथवा प्रवृत्तसूत्र में उपधा ग्रहण न करेंगे, इकार उकार को परविसर्जनीय का विशेषण  
यनायेंगे । अर्थ होगा—इ, उ से अव्यवहित उत्तर जो विसर्ग उसे पत्य होता है ।  
अलोन्त्यविधि भी प्रयोजन है—जैसे वृक्षः तरति, प्लक्षः तरति में विसर्जनीयस्य स ( ८।  
३।६ ) इस सूत्र से विसर्जनीयान्त को स् प्राप्त होने पर पष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्त्य अच् के  
स्थान में होता है, इस वचन से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान में होता है । यह भी प्रयोजन  
नहीं । सकार आदेश है और आदेश सूत्र में साभान् निर्दिष्ट के स्थान में होते हैं इस  
परिभाषा के अनुसार स् विसर्ग के ही स्थान में होगा । द्विवचन भी प्रयोजन है—  
उर×कः : उर×पः यहाँ विसर्जनीय, त्रिह्वामूलीय उपध्मानीय के अल् प्रत्याहार  
में पाठ करने से यर् प्रत्याहारान्तर्गत होना भी अपने आप सिद्ध हो जाता है, तब  
अनचि च सूत्र से अच् से परे यर् को द्विरय हो जाता है । स्थानियद्वावप्रतिपेध  
भी प्रयोजन है—वैसे उरः केण, उरःपेण अङ्गव्याय होने पर भी णत्व होता है,  
वैसे ही स्थानिवद्वाव से व्यूढोरस्केन महोरस्केन यहाँ भी प्राप्त होता है । अथ विसर्ज-  
नीय के अल् होने से स्थानी अल् के आधित यदि कोई रिधि कर्तव्य हो तो अनल्विधौ  
इस वचन से स्थानिवद्वाव का निषेध हो जाता है ( जिस से स् का व्यवधान होने  
से णत्व रक्त जाता है ) ।



किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्त , आहोस्विदनर्थकाः ।

अर्थवन्तो वर्णधातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकार्णानामर्थदर्शनात् ॥

अर्थवन्तो वर्णाः । कुतः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकार्णानामर्थदर्शनात् । धातु एकार्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति—अधीते इति । प्रातिपदिकान्येकार्णान्यर्थवन्ति आभ्याम्, एभिः, एषु । प्रत्यया अर्थवन्त—औपगवः, कापटवः । निपाता एकार्णा अर्थवन्त—अ अपेहि, इ इन्द्र पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकार्णानामर्थदर्शानान्मन्यामहे—अर्थवन्तो वर्णा इति ।

वर्णव्ययये चार्थान्तरगमनात् ॥

वर्णव्ययये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपो यूष इति । कूप इति सककारेण रुदिचदर्थो गम्यते । सूप इति ककार

तो क्या ये (सभी) वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक हैं ?

(वा०) वर्ण अर्थवान् हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एकवर्णघटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात अर्थ वाले हैं ।

वर्ण अर्थवान् हैं । यह क्योंकि ? इसलिये कि एक वर्ण वाले धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों का अर्थ देखने में आता है । धातु एकवर्णघटित अर्थवान् देख जाते हैं ( जैसे ) इण ( गत्यर्थक ), अधिङ्क ( स्मरणार्थक ), अधि इङ् ( अध्ययनार्थक ) । प्रातिपदिक एकवर्णघटित अर्थ वाले देखे जाते हैं ( जैसे ) आभ्याम्, एभि, एषु ( यहाँ विभक्ति परे होने पर इदम् क स्थान में अ मात्र अवशिष्ट रहता है और यही तदर्थ का बोधक है ) । प्रत्यय ( एकार्णघटित ) अर्थ वाले देखे जाते हैं, ( जैसे ) औपगव, कापटव ( यहाँ अण् प्रत्यय है ) । एक वर्ण वाले निपात अर्थवाले देखे जाते हैं ( जैसे ) अ अपेहि, इ इन्द्र पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम ( यहाँ अ, इ, उ का वितर्क आदि अर्थ है ) । सो धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात—इनका एकवर्णघटित होने पर भी अर्थ देखा जाने से हम समझते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं ।

(वा०) वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से ॥

वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं । (उदाहरण) कूप, सूप, यूष । कूप शब्द में जब तक ककार है तब कुछ विशेष

१ प्रक्रियोपयोगी प्रवृत्ति प्रत्ययों का वर्ण स्फोट मान कर वाचकत्व कहा गया है । शास्त्र-व्यवहार में ही इसका उपयोग है । इस वासना से वासितान्त करण शास्त्रज्ञ भा लोकव्यवहारे में ऐसा कहते हैं ।

पाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते । यूष इति ककारसकारापाये यकारो-  
पजने चार्थान्तरं गम्यते । तेन मन्यामहे - यः कृपे कृपार्थः स ककारस्य, यः  
सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति ।

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगते ॥

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । वृक्ष ऋक्षः,  
काण्डीर आण्डीरः । वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, ऋक्ष इति  
वकारापाये सोर्थो न गम्यते । काण्डीर इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते,  
आण्डीर इति ककारापाये सोर्थो न गम्यते । किं तर्हीच्यते—अनर्थगतेरिति ।  
न सार्धीयो ह्यर्थस्य गतिर्भवति । एव तर्हीदं पठितव्यं स्यात्—वर्णानु-  
पलब्धौ चातदर्थगतेरिति । किमिदमतदर्थगतेरिति । तस्यार्थस्तदर्थः । तदर्थस्य  
गतिस्तदर्थगतिः । न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति । अथवा सोर्थस्त-  
दर्थस्तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति । स

अर्थ का बोध होता है । सूप में ककार के चले जाने से और सकार के आ जाने से कोई  
दूसरा अर्थ प्रतीत होता है । यूष में ककार सकार दोनों के चले जाने से और यकार  
के आ जाने से कुछ और ही अर्थ का बोध होता है । इससे हम जानते हैं कि कृप  
शब्द में जो कृपा अर्थ है वह ककार का है, सूप में जो सूप अर्थ है वह सकार का है  
और यूष में जो यूषार्थ (यज्ञिय पशु वन्धन काष्ठ) है वह यकार का है ।

(वा०) वर्ण का अदर्शन (अध्रवण) होने पर (पूर्व) अर्थ का बोध न होने से ॥

(भा०) वर्ण का अदर्शन (अध्रवण) होने पर जो (पूर्व) अर्थ का बोध नहीं होता  
हमसे हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् है । (उदाहरण) वृक्ष ऋक्ष, काण्डीर आण्डीर ।  
वभार सहित वृक्ष का कुछ विशेष अर्थ (पादप) भ्रमगत होता है, जब वकार नहीं  
रहता तो ऋक्ष मात्र से उस अर्थ का बोध नहीं होता । इसी प्रकार काण्डीर शब्द जब  
ककार सहित है तब किसी एक अर्थ का बोधक होता है, जब वकारके चले जाने से  
आण्डीर रूप रहता है तब उस अर्थ का बोधक नहीं होता । अनर्थगते यहाँ क्यों  
कहा है ? इस वचन से अच्छी तरह अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती । अच्छा तो ऐसा  
पदना चाहिए—वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगते । अतदर्थगते । इसका क्या अर्थ है ?  
तदर्थ = उसका अर्थ । तदर्थगति = उसके अर्थ की प्रतीति । नन्पूर्वक पञ्चम्यर्थ का अर्थ  
होगा = उसने अर्थ की प्रतीति न होने से । अथवा तदर्थ (समानाधिकरण तत्पुरव  
मानर) = यह अर्थ । तदर्थगति = उस अर्थ का बोध । नन्पूर्वक पञ्चम्यन्त अतदर्थगते-  
का अर्थ होगा—उस अर्थ का बोध न होने से । तो फिर ऐसा निर्देश करना चाहिए

१ ऋक्ष=नक्षत्र (नपुंसक लिंग में), भास्व. (पुंसिक में) । काण्डीर=काण्डवान्  
=नारघाती । आण्डीर=अण्डवान् । अण्डपर्याय आण भी है और आण्डी भू

तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा—  
उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः, खरमुखः । एवमतदर्धगतेरनर्धगतेरिति ।

सहातार्थवत्त्वाच्च ॥

सहातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहे अर्धवन्तो वर्णा इति । येषां सहाता अर्ध-  
वन्तः, अत्रयवा अपि तेषामर्धवन्तः । [येषां पुनरवयवा अनर्धनाः समुदाया  
अपि तेषामनर्थकाः] तद्यथा—एकश्चभ्रुष्मान् दर्शने समर्थः तत्समुदायः  
शतमपि समर्थम् । एकश्च तिलस्तेलदाने समर्थः तत्समुदायः स्वार्यपि  
तैलदाने समर्था । येषां पुनरवयवा अनर्धनाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः ।  
तद्यथा—एकोन्धो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायः शतमप्यसमर्थम् । एका च  
सिक्ता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च सारीशतमप्यसमर्थम् ।

यदि तर्हिमे वर्णा अर्धवन्तः, अर्धवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति । कानि ।  
अर्धवत्प्रातिपदकम् इति प्रातिपदिकसज्ञा, प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्तिः,  
सुवन्तं पदमिति पदसज्ञा । तत्र को दोषः । 'पदस्य' इति नलोपादीनि  
प्राप्नुवन्ति धनं वनमिति ।

नहीं । अनर्धगते मे ( नम् की अपेक्षा से ) उत्तरपद तद् का लोप समझना चाहिए ।  
जैसे (अन्यत्र भी) उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य इस विग्रह के आश्रित उष्ट्रमुख (और इसी  
प्रकार खरमुख.) में उत्तरपद मुख का लोप देखा जाता है । ऐसे ही अनर्धगते के  
स्थान में अनर्धगते (उत्तरपद तद् का लोप करके कहा है) ।

( वा० ) सहात (वर्णसमुदाय) के अर्धवान् होने से ॥

सहात के अर्धवान् होने से हम जानते हैं वर्ण अर्धवान् होते हैं । ( इसमें  
हेतु=अनुकूल तर्क यह है ) । ( त्रिन अवयवों के ) सहात अर्धवान् होते हैं वे  
अवयव भी अर्धवान् होते हैं । [ और त्रिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके सहात=  
समुदाय भी अनर्थक होते हैं ] जैसे एक पुरुष आखोवाग देवने में समर्थ है ऐसे  
सौ का समुदाय भी समर्थ है । एक तिल तेल देने में समर्थ है ऐसे तिलों का समुदाय  
सारी परिमाण भी तेल देने में समर्थ है । और त्रिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके  
समुदाय भी अनर्थक होते हैं । जैसे एक अन्धा पुरुष देवने में असमर्थ है, ऐसी वा  
समुदाय सौ अन्धे भी देवने में असमर्थ है । रेत का एक कण तेल देने में असमर्थ है,  
उनका समुदाय सौ सारी परिमाण भी तेल देने में असमर्थ है ।

यदि ये वर्ण अर्धवान् हैं ऐसा स्वीकार करते हो तो जो (शास्त्रीय) कार्य  
अर्धवान् को होते हैं इन्हें भी होने लगेंगे । वे कौन से हैं ? अर्धवान् शब्द की प्राति-  
पदिक सज्ञा होती है, प्रातिपदिक से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है और स्वादि-  
प्रत्ययान्त (सुवन्त) की पदसज्ञा होती है । इसमें क्या दोर आता है ? पदसज्ञा होने पर  
नलोप प्रातिपदिकान्तस्य इत्यादि से धन वन इत्यादि में नलोप आदि प्राप्त होते हैं ।

सङ्घातस्यैकार्थ्यात्सुवभावो वर्णात् ॥

सङ्घातस्यैकत्वमर्थः । तेन वर्णात्सुव्युत्पत्तिर्न भविष्यति ।

अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः । प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । नहि प्रतिवर्ण-  
मर्था उपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति । वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ।

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—अनर्थका वर्णा  
इति । वर्णव्यत्यये—रूतेस्नर्कः, कसेः सिक्ताः, हिंसेः सिंहः । वर्णव्य-  
त्ययो नार्थव्यत्ययः । अपायो लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । वर्णा-  
पायो नार्थापायः । उपजन आगमः—लघिता लघितुम् । वर्णापजनो नार्थो-  
पजनः । विकार आदेशः—घातयति घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः ।

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के एकार्थवाचक होने से प्रतिवर्ण से सु आदि  
प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं होती ।

सङ्घात ( वर्ण समुदाय ) का एकत्व अर्थ है, अतः सङ्घात से सु प्रत्यय की  
उत्पत्ति होगी, प्रतिवर्ण से नहीं (यद्यपि एक-एक वर्ण का भी एकत्व अर्थ है) ।

(वा०) वर्ण तो अनर्थक है प्रतिवर्ण में अर्थ की उपलब्धि न होने से ॥

वर्ण तो अनर्थक है । कैसे ? प्रत्येक वर्ण में अर्थ के न देखे जाने से । वर्ण-वर्ण  
में तो अर्थों की उपलब्धि होती नहीं । प्रतिवर्णम् का क्या अर्थ है ? वर्णं वर्णं में ।

(वा०) वर्ण व्यत्यय (पूर्वापर वर्ण व्यत्यास), वर्णापाय ( वर्ण-लोप ), वर्णापजन  
(वर्णागम) और वर्णविकार (वर्ण-आदेश) के होने पर अर्थ देखे जाने से ॥

वर्णव्यत्यय, अपाय, उपजन, विकार इन के होने पर ( भी ) अर्थ देखे जाने  
से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक है । वर्णव्यत्यय होने पर कृती छेदने से तर्क सिद्ध  
होता है, कम गतों से सिक्ता, हिमि हिंसायाम् से सिंह । यहाँ वर्णव्यत्यय तो स्पष्ट  
है पर अर्थव्यत्यय कुछ भी नहीं । अशय नाम लोप का है । जैसे हत घ्नन्ति घ्नन्तु  
अघ्नन् में हन् घातु के मध्यवर्ती अकार का लोप हुआ है । वर्णापाय तो है पर अपायाय  
कुछ भी नहीं । उपजन नाम आगम का है । जैसे लघिता लघितुम्—यहाँ लघातु से  
आर्धघातुरु प्रत्यय को इट् आगम ( उपजन ) हुआ है, पर अपायापजन कुछ भी नहीं ।  
विकार नाम आदेश का है । जैसे घातयति, घातक । यहाँ हन् के ह् को घ हुआ ।  
वर्णविकार तो हुआ है अर्थविकार कुछ भी नहीं । ( यदि वर्ण अर्थवान् होने तो ) जैसे

यथेव वर्णन्यत्ययापायोपजनविभारा भवन्ति, तद्वदर्थन्यत्ययापायोपजन-  
विकारैर्भवितन्यम् । न चेह तद्वत् । अतो मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति ।

उभयमिदं वर्णवृक्तम्—अर्थवन्तोऽनर्थका इति च । किमत्र न्याय्यम् ।  
उभयमित्याह । कुतः । स्वभावतः । तद्यथा समानमीहमानानां चाधीया-  
नानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न ।

न चेदानीं कश्चिदर्थानिति कृत्वा सर्वैरर्थवृद्धिः शक्यं भवितुम्,  
कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकेः । तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—  
यद्वातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एरुवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति ।  
स्वाभाविकमेतत् । कथं य एव भवता वर्णानामर्थवृत्तायां हेतुरपदिष्टः—  
अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद्य-  
त्यये चार्थान्तरगमनाद्गर्णानुपलब्धो चानर्थगतेः सद्वातार्थवत्त्वाच्चेति । सद्वा-  
तान्तराण्येवैतान्येवञ्जातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते कृपः सूपो यूप इति । यदि  
हि वर्णन्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कृपार्थः सूपे स्यात्, सूपा-  
र्थदच कृपे, कृपार्थदच यूपे, यूपार्थदच कृपे, सूपार्थदच यूपे, यूपार्थदच सूपे ।

वर्णन्यत्यय आदि होते हैं जैसे ही अर्थव्यत्यय आदि भी हाने चाहिये थे, पर ऐसा होना  
नहीं । इस से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक है ।

वर्णों के विषय में यह दोनों बातें कही गई हैं—वर्ण अनर्थवान् हैं, वर्ण अनर्थक  
हैं । इस में न्याय्य पक्ष कौनसा है ? दोनों पक्ष न्याय्य हैं । यह कैसे ? स्वभाव से ।  
जैसे एक बरारर यत्न करते हुए और पठते हुए छात्रों में से कुछ अर्थवान् ( सफल )  
होते हैं, दूसरे नहीं ।

किमी एक के अर्थवान् ( सफल, अर्थयुक्त ) होने से सभी तो अर्थवान् नहीं हो  
जाते और न ही कोई एक अर्थशून्य ( असफल, अर्थरहित ) है तो इतने से सभी अस-  
फल हों ऐसा कोई नियम है । यही हमें क्या सिद्धान्त करना चाहिये—यही कि एक  
वर्णवृद्धि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निगत अर्थवान् हैं, इनसे अतिरिक्त अनर्थक हैं ।  
और यह स्वभावमिद है । ये जो पूर्वपक्षों ने वर्णों की अर्थवृत्ता ( सार्थकता ) में हेतु  
दिये हैं—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् इत्यादि  
उनका क्या समाधान है ? (इस पर सिद्धान्तों कइता ह) कृप, सूप, यूप, इत्यादि स्वतन्त्र  
एक दूसरे से असम्बद्ध सद्वात हैं और इमीलिये भिन्न-भिन्न अर्थों में वर्तमान हैं । यदि  
वर्ण के बदलने से सद्वात ( एक माना हुआ ) का अर्थ बदलता हो, तो बहुतसा  
कृपार्थ सूपशब्द से बोधित होना चाहिये (कुछ अर्थ न भी हो), सूप का बहुतसा अर्थ  
हृप शब्द से, बहुतसा कृपार्थ यूपशब्द से, बहुतसा यूपार्थ कृपशब्द से, बहुत सा सूपार्थ  
यूपशब्द से बहुतसा यूपार्थ सूपशब्द से । पर चूँकि सूप का अंशमात्र अर्थ भी

यतस्तु खलु न किञ्चित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे, सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, सूपस्य वा यूपे । अतो मन्यामहे—संज्ञातान्तराण्येतान्येव ज्ञातीयान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति ।

इदं खल्वपि भवता वर्णानामर्थवत्तां व्युत्पत्ता सार्धाणोऽनर्थकत्वं द्योतितम् । यो हि मन्यते—य कूपे कूपार्थं स ककारस्य, य. सूपे सूपार्थं. स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थं स यकारस्येति, ऊपशब्दस्त्वस्यानर्थकः स्यात् । तत्रेदमपरिहृतं संज्ञातार्थवत्त्वाच्च इति । एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति ।

अ इ उ ण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच् ।

प्रत्याहारेऽनुबन्धाना कथमग्रहणेषु न

यूपशब्द से बोधित नहीं होता, नाहीं सूप का यूपशब्द से, यूप का कूपशब्द से, कूप का यूपशब्द से, सूप का कूपशब्द से, कूप का सूप शब्द से, इससे हम जानते हैं कि कूप, सूप, यूप—ये स्वतन्त्र संज्ञात अपने-अपने अर्थों में व्यवहृत होते हैं ।

भाषने वर्णों की अर्थवत्ता का उपपादन करते हुए बहुत अच्छी तरह से उन की अनर्थकता झटका दी । यह जो आप मानते हैं कि जो कूप शब्द में कूपार्थ है वह ककार का है, सूप शब्द में जो सूपार्थ है वह सकार का है, यूपशब्द में जो यूपार्थ है वह यकार का है, ऐसा मानने से 'ऊप' शब्द तो अनर्थक हो जाता है (यह क्यों नहीं देखते ! ) । रहा सङ्घातार्थवत्त्व इस हेतु का उत्तर, सो उसे भी प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्' में कहेंगे ।

अ इ उ ण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच् ।

( वा० ) अच् प्रत्याहार में जो अनुबन्ध ( ण्, क्, इ, च् ) सुने जाते हैं उन का अच् ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं होता ?

१ इसी बात को वाम्यपदीयकार महावैयाकरण श्रीभर्तृहरि ने इस प्रकार कारिका में निबन्धन किया है—

न कूपसूपयूपानामन्वयोर्धस्य विद्यते ।

अतोऽर्थान्तरवाचित्वं सङ्घातस्यैव गम्यते ॥

२ वही यह परिहार कहा है—दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभार, ऐसा देखा जाता है कि एक-एक अवयव में जो गुण नहीं है वह भी वही अवयवी ( सङ्घात ) में आ जाता है जैसे रथ के प्रत्येक अङ्ग में गति कियाविषयक सामर्थ्य नहीं तो भी समुदाय रथ में गति—सामर्थ्य होता है, अथवा जैसे मुरा के प्रत्येक घटक अवयव—द्रव्य में मादकता गुण नहीं तो भी अवयवी ( उन अवयवों से घटित ) ( समुदाय ) मुरा में मादकता देगी जाती है, सो यह कोई नियम नहीं कि सघात यदि अर्थवान् है तो अवयव भी अर्थवान् ही हों । अब जहाँ अन्वय-व्यतिरेक से अर्थवत्ता सिद्ध हो वही स्वीकार करनी चाहिए, न कि सर्वत्र ।

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धा क्रियन्ते एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहण कस्मान्न भवति । किं च स्यात् । दधि णकारियति, इको यणचि इति यणादेश प्रसज्येत ।

### आचारात्

किमिदमाचारादिति । आचार्याणामुपचारात् । नैतेष्व्याचार्या अकार्याणि कृतवन्त ।

### अप्रधानत्वात्

अप्रधानत्वाच्च । न खल्वेतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेश क्रियते । कर्त्तुं । हलु । कुतः । एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यन्तुल्यजातीयास्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हलु ।

### लोपश्च बलवत्तरं

तो ये अचो में प्रत्याहार ( अक्, अण् भादि ) के लिए अनुबन्ध क् ण, आदि किए गये हैं इनका अज्ग्रहण से ( अच् कहने से ) ग्रहण क्यों नहीं होता ? क्या हो ( यदि हो नाय ) ? दधि णकारीयति—यहाँ इको यणचि ( ६।१।७७ ) से यणादेश होने लगेगा ।

### आचारात्

आचार इसका अर्थ है । आचार्यों का व्यवहार, उससे । आचार्यों न इन क् ण आदि के परे होने पर अच् निमित्तक कार्य नहीं किया ।

### अप्रधान होने से

अप्रधान होने से भी । इन क् ण आदि का अचो में प्रधानतया उपदेश ( उच्चारण ) नहीं किया है । तो कहां प्रधानतया उच्चारण किया है ? हलों में । यह क्यों कर ? आचार्यों की ऐसी शैली दीखती है कि तुल्य जाति के वर्णों को एक साथ उपदेश करते हैं अचों का एक साथ उपदेश करके पश्चात् हलों का उपदेश करते हैं ।

### लोप भा बलवत्तर है ।

१ आचार्यों का व्यवहार, उससे । नृदिमृषिद्वये काश्यपस्य ( १।२।२५ ) में मृषि के इ से परे वृषि के ककार के परे होने पर यण् न करना—यह आचार है ।

२ प्रधानाप्रधानसन्निधौ प्रधानमेव कार्याणा प्रयोक्तव्यम् अर्थात् प्रधान व अप्रधान के साथ उच्चारित होने पर प्रधान को हा कार्य होता है ऐसा न्याय है । परार्थ होने से अनुबन्ध अप्रधान है, अत इनकी अच् सज्ञा नहीं होता ।

३ शीलादागता शैली, समबन्धानपूर्विका प्रवृत्ति ।

४ लोप पर, नित्य और अन्तरङ्ग होने से बलवत्तर है, अर्थात् पहले ही अनुबन्धों का लोप होने से सज्ञा-विधान काल में उनके न होने से उनकी अच् सज्ञा नहीं

लोप. खल्वपि तावद्भवति ।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालाना यथा भवेत् ।

अत्रा प्रहणमच्कार्यं तेनेपा न भविष्यति ॥

अथवा योगविभाग करिष्यते -- ऊ कालोऽच् उ ऊ उ ३ इत्येवं-  
कालो भवति । ततो 'ह्रस्वदीर्घप्लुत' ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च स भवति  
ऊकालोऽच् । एवमपि कुक्कुटं इत्यत्रापि प्राप्नोति । तस्मात्पूर्वोक्त एव  
परिहार । एष एवार्थः । अपर आह—

ह्रस्वादीना वचनात् प्राग्यापत्तापदेव योगोऽस्तु ।

लोप भी निश्चय से इन क ण् आदि का हो जाता है ।

( वा० ) उकालो ऽच् ऐसा योगविभाग करने से उ ऊ उ ३ काल वाले  
वर्णों की अच् सज्ञा होने से इन क ण् आदि को अच् निमित्तन कार्य नहीं होता ।

अथवा योगविभाग किया जायगा । उकाले ऽच् इतना एक सूत्र होगा । अर्थ  
होगा उ ( एकमात्रिक ) ऊ ( द्विमात्रिक ) उ ३ ( त्रिमात्रिक ) वर्णों की अच्  
सज्ञा होती है । दूसरा सूत्र होगा—ह्रस्वदीर्घप्लुत, अर्थ होगा—एकमात्रिक,  
द्विमात्रिक त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व दीर्घ, प्लुत सज्ञक होता है ।

पर इस प्रकार एकमात्रिक वर्ण की अच् सज्ञा होने से कुक्कुट में क् (सयोग  
रूपणक अक्षर) की (एक मात्रिक होने से) अच् सज्ञा होने लगेगी, अत पूर्वोक्त परिहार  
ही ठीक रहा । (ऊकालोऽच् वातिक से कहें हुए ।) अर्थ को दूसरा वातिककार  
अपि यूँ कहता है—

( वा० ) ऊकालोऽन्वस्वदीर्घप्लुत इस सूत्र में ह्रस्वदीर्घप्लुत इस अंश से

होती । अनुबन्धों की उच्चारण-काठ में ही सत्ता है, इगज्ञा के आधार पर जो कार्य प्राप्त  
होता है उसे वे अविद्यमान हाते हुए भी वगत है, स्वयं निर्मा कार्य का विषय नहीं  
बनते ।

१ अकार आदे का उपदेश होने में और रावर्णों का प्रहण होने से अचत्व सिद्ध  
ही है, योग विभाग में काठ-विनाश विज्ञेय-निश्चि अकारादे की ही अच् सज्ञा होने में  
अनुबन्धों का ऊकार ( एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक ) न होने से अचत्व नहीं ।

२ वर्ण गमाभ्याम म वकार जाति का निदेश होने से मात्रिक वर् को अच्  
समस्त कर प्रदत्त है ।

३ यद्यपि यदा—'दो वकार है, और दो वर्णों में एक जाति की अभिव्यक्ति  
नहीं होती', यह भी परिहार हो सकता है, तो भी पूर्व यदा हुआ—मात्राकालोऽत्र  
गम्यते, न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति—यह परिहार अभिमत है ।



अच्काराणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि ॥

अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते । इह स य् य् यन्ता । स व् व् वत्सरः, य ल् ल् लोऋ, त ल् ल् लोऋमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वाद्-  
नुस्वारस्येव द्विवचनम् । तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणात्  
पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात् । नेतदस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत्—  
द्विवचने परसवर्णत्व सिद्धं यक्तव्यमिति । यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण  
एव तावद्भवति । परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यग्रहणन ग्रहणाद् द्विवचन यथा  
स्यात् । मा भूद् द्विवचनम् । ननु च भेदो भवति—सति द्विवचने त्रिय  
कारकम् । असति द्विवचने द्वियकारकम् । नास्ति भेदः । सत्यापि द्विवचने  
द्वियकारकमेव । कथम् । 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेऽस्य लोपेन

पूर्वं ऊत्रालोऽच् इत्येवं रूप ही पृथक् योग रहे, त्रिस एकमात्रि द्विमात्रिक,  
त्रिमात्रिक अचो को ही अच् को उद्देश्य अथवा निमित्त मान कर विधान क्रिप् कार्य  
हो सकें ।

अब इस पर विचार क्रिया जाता है कि अन्त स्थ वर्ण य र ल का अण  
प्रत्याहार मे पाठ करने का क्या प्रयोजन हे । यहाँ स यन्ता, म वत्सर, य लोकम्, त  
लोकम्, इस अवस्था में वा पदान्तस्य (८।४।५९) इसस यय पर होने पर अनुस्वार  
को परसवर्ण भी प्राप्त होता है और अनचि च से द्वित्व भी । द्विवचन शास्त्र अनचि च  
(८।४।४७) की दृष्टि में परसवर्ण शास्त्र वा पदान्तस्य (८।४।५९) के असिद्ध  
होने से अनुस्वार को द्वित्व ही होगा । तब स - - यन्ता इस अवस्था में परले  
अनुस्वार को परसवर्ण य् करने पर ग्रहणक शास्त्र अणुदिन्—के लगने पर  
अणुत्वेन गृहीत होने पर सानुनासिक यकार क यय प्रत्याहारान्त पातो हो जाने से  
पूर्व अनुस्वार को भी परसवर्ण हो जाय (यह प्रयोजन है) । ( त्रिस स य् य्  
यन्ता रूप सिद्ध हो जाय ) । यह कोई प्रयोजन नहीं । आगे कहेंगे कि द्विवचन  
की कर्तव्यता में परसवर्ण को सिद्ध कहना चाहिए । अब चूँकि परसवर्ण सिद्ध है, अतः  
पर होने से पहले परसवर्ण ही होगा । अच्छा तो अब भी अण मे पाठ का प्रयोजन  
बना रहा, कारण कि अनुस्वार को परसवर्ण य् होने पर और ग्रहणक शास्त्र के  
बल पर इसे य् मान कर अनचि च से द्वित्व हो जाएगा । मत हो द्वित्व  
( द्वित्व का कुछ प्रयोजन नहीं, अतः अण् मे पाठ की सार्थकता नहीं ) । अनी  
द्वित्व मप्रयोजन है, इससे शब्दरूप मे भेद होता है । जब द्वित्व हो तो शब्द  
( स य् य् यन्ता ) तीन यकारों वाला होता है, द्वित्व न हो तो द्वियकार वाला ।  
नहीं कुछ भेद नहीं । द्वित्व होने पर भी द्वियकार वाला ही रूप होता है । कैसे ?  
हलो यमा यमि लोप (८।४।६४) इससे एक यकार का लोप हो जाएगा । तो

भवितव्यम् । एवमपि भेदः । सति द्विवचने कदाचिद् द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम् । अस्तति त्रियकारकमेव । स एष कथं भेदो न स्यात् । यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा च स लोप । यथाऽभेदस्तथास्तु ।

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्यय द्वित्वम् ।

यद्य 'शरोऽचि' इति द्विवचनप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुवर्तते विभाषेति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ।

नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात् ।

यदि नित्यो लोप स्यात् प्रतिषेधवचनमनर्थक स्यात् । अस्त्यत्र द्विवचनम्, 'शरो शरि सवर्णे' इति लोपो भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यः— विभाषा स लोप इति ततो द्विवचनप्रतिषेधं शास्ति । नेतवस्ति ज्ञापकम् । नित्येपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽपश्य धक्तव्य । यदेतत् 'अचो रहाभ्याम्' इति द्विवचन लोपापवाद स विज्ञायते । कथम् । यर इत्युच्यते । एतावन्तश्च

भी भेद रहेगा । द्वित्व होने पर कभी ( पाक्षिक लोप होने पर ) द्वियकारवाला, कभी ( लोपाभावा पक्ष में ) तीन यवार वाला । जब द्वित्व हुआ ही नहीं तो द्वियकारवाला एक ही रूप होता है । यह भेद कैसे न हो ? तभी जब हलो यमा— यह लोप नित्य हो । पर यह लोप विभाषा होता है । जिस प्रकार ( द्वित्व शास्त्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति में ) एक समान रूप रहे वैसे ही हो ।

( वा० ) हलो यमा— में श्रयो होऽन्यतरस्याम् ( ८।४।६२ ) से विभाषा ( अन्यतरस्याम् ) की अनुवृत्ति आती है । क्योंकि आचार्य शरोऽचि ( ८।४।४९ ) सूत्र में द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं । यह ज्ञापक कैसे हुआ ।

( वा० ) उस हगे यमा— लोप के नित्य होने पर शरोऽचि से द्वित्व प्रतिषेध करना व्यर्थ है ।

यदि लोप नित्य हो तो प्रतिषेध वचन ( शरोऽचि ) व्यर्थ हो जायगा । निषेध वचन न हो, द्वित्व हो, तो भी शरो शरि सवर्णे ( ८।४।५५ ) से द्वित्व से निष्पन्न हुए एक यवार का (नित्य) लोप हो जायगा । पर आचार्य जानते हैं कि यह शरो शरि सवर्णे से विहित लोप वैकृतिक है, अत एव द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं । यह कोई ज्ञापक नहीं । शरो शरि सवर्णे के लोप के नित्य होने पर भी यह प्रतिषेध ( शरोऽचि ) अपश्य कहना होगा । यह जो अचो रहाभ्याम् ( ८।४।४६ ) द्वित्व नाश है, यह लोप का अपवाद है । कैसे ? द्वित्व य् को कहा है । इतने ही तो पर हैं—यम् और

यरः। यदुत शरो वा यमो वा । यदि चात्र लोपः स्याद् द्विर्बचनमनर्थकं स्यात् । किन्तहिं तयोर्योगयोरुदाहरणम् । यद्गृह्यते द्विर्बचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः— प्रसम्, अवत्तम्, आदित्यः । इहेदानीं सामर्थ्याल्लोपो न भवति, एवमिहापि लोपो न स्यात् कर्षति वर्षति । तस्मान्नित्येपि लोपेऽवश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः । तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तते आचार्याणां विभाषाऽनुवर्तते न वेति ।

लण् ॥६॥

अयं णकारो द्विरनुबध्यते पूर्वश्चैव परश्च । तत्राण्ग्रहणेऽपिण्ग्रहणेपु च सन्देहो भवति पूर्वेण वा स्युः परेण चेति । कतमस्मिंस्तावदण्ग्रहणे सन्देहः, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः इति ।

( असन्दिग्धम् )

असन्दिग्धं पूर्वेण न परेण । कुत एतत् ।

श्रु । यदि यहाँ ( द्वित्व होने पर ) लोप हो, तब द्वित्वविधान अनर्थक हो जायगा । तो इन शरो शरि, हलो यमा— इनका क्या उदाहरण है ? जहाँ द्वित्व किये बिना तीन व्यञ्जनों का समुदाय है, जैसे प्रत्तम् ( प्र दा तम्=प्रदत् तम् ), अरत्तम्, आदित्यः ( आदित् य्य ) । कर्त्ता इत्ता में अचो रहाभ्यां द्वे द्वित्व विधान व्यर्थ मत हो इसलिये शरो शरि से लोप नहीं होता । जैसे द्वित्व सामर्थ्य से लोप नहीं होता, इसी प्रकार कर्षति वर्षति में भी लोप नहीं होगा । इसलिये लोप के नित्य होने पर भी शरोऽपि यह प्रतिषेध कहना पड़ेगा । सो यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि आचार्यों के मत में हलो यमां यमि लोरः, शरो शरि सवर्णे मे शयो होऽन्यतरस्याम् से विभाषा (=अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है अथवा नहीं ।

लण् ॥ ६ ॥

यह णकार दो बार अनुबन्ध-रूप से आया है—पहले और पीछे । सूत्रों में जहाँ जहाँ अण् ग्रहण किया है अथवा इण् ग्रहण किया है वहाँ पूर्व णकार ( अ इ उ ण् इस सूत्र के णकार ) से प्रत्याहार समझना चाहिये अथवा परले णकार ( लण् सूत्र के णकार ) से ।

कौन से अण्ग्रहण से सन्देह है ? ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ( ६।३।१११ ) इससूत्र के अण् के विषय में ।

( नि सन्देह )

नि.सन्देह यहाँ अण् पूर्व णकार से लिया जाता है परसे नहीं । यह क्योंकर ?

१. फिर भी आचार्यों के उपदेशपरम्पर्य से तथा वृत्तिकारों की सूत्रों पर रचित

पराऽभावात् ।

नहि द्रुलोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—आवृद्ध आवृद्ध इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्याद्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । 'द्रुलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इत्येव ब्रूयात् । अथ वैतदपि न ब्रूयाद् अचो होतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

अस्मिंस्तर्ह्यग्रहणे सन्देहः—केऽणः इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । पराभावात् । नहि के परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—गोका नौकेति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्याद्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । केऽचः इत्येव ब्रूयात् । अथवैतदपि न ब्रूयात् । अचो होतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

(वा०) पर अण् के न होने से ।

द्रुलोप होने पर परले अण् ( ऋ से लेकर ल तक ) होते ही नहीं । देखिये ( द्रुलोप होने पर ) आवृद्ध-आवृद्ध में ऋ रूप पर अण् मिलता है । अच्छा, तो अण् ग्रहण-सामर्थ्य से हम जानते हैं कि यहाँ पूर्व ण् से अण् ग्रहण होता है, पर से नहीं । यदि परले से हो अण्-ग्रहण अनर्थक हो जाय । तब तो द्रुलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः ऐसा ही कहे । अथवा अचः कहने को आवश्यकता नहीं । ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अच् को ही तो होते हैं ( ये अच् मात्र के धर्म हैं ) ।

तो इस अण्-ग्रहण में सन्देह है केऽणः ( वा० ११३ ) इति । निःसन्देह पूर्व ण् से ग्रहण होता है, परले से नहीं । कैसे जानें ? परले अण् के अविद्यमान होने से । व समाप्तान्त परे रहते परले अण् का संभव नहीं है । अजी यह देखिये गोका नौका में व परे रहते ओ-औरूप परला अण् मिलता है । अच्छा तो अण्-ग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व ण् से अण् लिया जाएगा, पर से नहीं । यदि पर ण् से ग्रहण हो, तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाय । केऽण् ऐसा ही कह दे । अथवा अच यह भी न कहे, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अच् को ही तो होते हैं ।

मूलियों में यह स्पष्ट जाना जाना है कि लोप में विभाषा की अनुवृत्ति आती है । ह्रस्व यमां यमि लोप में भी और शरो शरि सरणे में भी । इस लिये गर्भ्व्यन्ता आदि में द्वित्व हुए यकार के लोपभावरूप में तीन यकारों के धरण के लिये अनुवृत्ति-मूल में अग्रहण करना आवश्यक है । यदि दो यकार वाग रूप ही अर्भट होता तो अण् ग्रहण न करके अनुवृत्ति-गर्भस्य वाग्रययः इस प्रकार अण् ग्रहण ही पर्याप्त था ।

१. यदि बहो अयोगान्वा (अणा उपानन् यस्याः सा) यह परे रहते परला

अस्मिंस्तर्ह्यणग्रहणे सन्देहः—‘अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः’ इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । परभावात् । नहि पदान्ताः परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति-कर्तृ हर्तृ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण,

तो इस अणग्रहण मे सन्देह है—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक ( ८।४।५७ ) । नि सन्देह यहाँ पूर्व ण् से अण् लिया जायेगा, परले से नहीं । कैसे जाने ? परले अण् न होने से । पदान्त परले अण् नहीं मिलते । अती कर्तृ हर्तृ मे पदान्त परला ऋ-रूप अण् मिलता है । अच्छा तो अणग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व णकार से अण् लिया जायगा,

अण् नह् का हकार संभव है । नहो ध. से उपानन् में हुए हकार के धकार को पूर्वत्रासिद्धीय होने से असिद्ध मान कर हकार मुनाई देगा । इमी प्रकार गीन्का ( गीरेव गीन्का ) यहाँ गिर् का रेफ भी विसर्ग के असिद्ध होने से परला अण् क परे रहते संभव है, तो इसका उत्तर है—न मु ने में न इस योगविभाग से नहो ध., खरवमानयोः आदि के असिद्धत्व का निषेध हो जायगा तो उक्त प्रयोगों में परला अण् न मिलेगा ।

१. यदि कहो वृक्षं वृक्षतीति वृक्षवृत् । तमाचष्टे वृक्षव् । यहाँ णाविष्टवद्भाव से टिलोप होकर णिजन्त वृक्षवि शब्द सिद्ध हुआ, उससे विच् परे रहते णलोप होकर वृक्षव् यह रूप बनता है । इसमें परला अण् वकार पदान्त में संभव है । तो इसका उत्तर है अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः में अणग्रह्यस्य इस पर्युदास से अच् रूप अण् को ही अनुनासिक होना माना जायगा, हल् रूप अण् को नहीं । क्योंकि प्रष्टय सज्ञा अच् की ही होती है । वृक्षव् में वकार हल् रूप अण् है, अच् रूप नहीं है । इस लिये उभे अनुनासिक नहीं होगा । भाव्य का पदान्त अणो के अभाव में तात्पर्य नहीं, किन्तु अनुनासिक प्राप्ति योग्य पदान्त अण् नहीं मिलते इसमें तात्पर्य है । वृक्षवृत् इत् इस क्तिन्त से तदाचष्टे अर्थ में णिच् तथा टिलोप होकर वृक्षवि यह नामधातु बनता है । उससे कर्ता अर्थ में यदि विच् न करके क्तिप् करें तो कौ विधि प्रति न स्थानिवत् के वचन से णिलोप टिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वृक्षव् के वकार को ग्रहिय्या० से सम्प्रसारण प्राप्त होता है । म्हाय ही लोपो ध्योर्बलि से वकारलोप भी प्राप्त होता है । विच् करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो सम्प्रसारण तथा वलोप दोनों ही रुक जाते हैं । वृन्व् करोति इस सन्धि में हलि सर्वेषाम् ( ८।३।२२ ) से वकार का लोप करने में तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वकार का लोप प्राप्त होता है वह अण् ग्रहण की अनुवृत्ति करके रुक जाता है । उससे अश् प्रत्याहारान्तर्गत हल् परे रहते ही हलि सर्वेषाम् से वकार का लोप होगा । करोति का वकार अश् से बाग हल् है इस लिये वृक्षव् करे में वकार का लोप नहीं होता ।

न परेण । यदि हि परेण स्याद् अण्प्रहणमनर्थकं स्यात् । अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इत्येव श्रूयात् । अथर्वतदपि न श्रूयात् । अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति ।

अस्मिंस्तर्ह्यण्प्रहणे सन्देहः—'उरण् रपरः' । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कृत एतत् । पराभावात् । न ह्युः स्थाने परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति कर्मथे ह्यर्थमिति । किं च स्याद्यद्यत्र रपरत्वं स्यात् । द्वयो रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत । 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेकस्यात्र लोपो भविष्यतीति । विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत । अयं तर्हि नित्यो लोपः 'रो रि' इति । पदान्तस्येत्येवं सः । न शक्यः स पदान्तस्येत्येवं विज्ञानुम् । इह हि लोपो न स्यात्—जर्गधेर्लङ् अजर्गाः, पास्पदः अपास्पाः इति । इह तर्हि मातृणां पितृणामिति रपरत्वं प्रसज्यते । आचार्य-प्रवृत्तिर्गोपयति नात्र रपरत्वं भवतीति । यदयम् 'ऋत इद्वातोः' इति धातु-प्रहणं करोति । कथं कृत्वा क्षापकम् । धातुप्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत् मातृणां पितृणामिति । यदि चात्र रपरत्व स्याद्धातुप्रहणमनर्थकं स्यात् ।

परले से नहीं । यदि परले से प्रहण हो अण् प्रहण स्वर्थे हो जाय । अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ऐमा ही कहे । अयरा अच यह भी न कहे, अच् को ही उद्देश्य कर के प्रगृह्य संज्ञा विधान की गई है ।

तो हम अण्प्रहण में सन्देह है—उरण् रपरः ( १।१।५१ ) । नि सन्देह पूर्व णरा से अण् लिया जायगा । परले से नहीं । यह क्योंकर ? परले अण् के न होने से ( ऋ के स्थान में परले अण् मिलते ही नहीं ) । अजी कर्मर्थम्, ह्यर्थम् में ऐमा रूप अण् मिलता है । क्या हानि हो यदि यहाँ रपर हो जाय । दो रेफ सुनाई देंगे । ( नहीं ) ह्ये यमां यमि लोपः इस से एक का लोप हो जायगा । यह लोप विभाषा है ( नित्य नहीं ), अतः पक्ष में ( दो रेफों का ) श्रवण प्रसक्त होगा । अण्डा ( ह्ये यमां यमि-से लोप नहीं करेंगे किन्तु ) रो रि ( ८।३।१४ ) जो नित्य विधि है, उस से लोप करेंगे । पर रो रि तो पदान्त रेफ का लोप विधान करता है । नहीं, ऐमा नहीं माना जा सकता । गृष् धातु के यहलुक् के एट् लकार में भीर स्वर्थे धातु के यहलुक् के एट् में अजर्गा, अपास्पाः—ये रूप न बन सकेंगे । अण्डा तो मातृणाम्, पितृणाम्—यहाँ रपर हो जायगा । ( नहीं होगा ) भाषार्य की प्रवृत्ति ( स्पष्टार ) बतलाती है कि यहाँ रपरत्व नहीं होता । कारण कि भाषार्य दत्त इद्वातो ( ७।१।१०० ) इस सूत्र में धातु प्रहण करते हैं । कैसे शारक हुआ ? धातु प्रहण का यही प्रयोजन है कि मातृणां पितृणाम् में रपरत्व न हो । यदि यहाँ भी रपरत्व हो जाय, धातुप्रहण स्वर्थे हो जाय । कारण कि रपरत्व होने पर (मातृ) ऋ अन्त्य न रहा, तो ह्यार प्राप्त ही न हो । भाषार्य जानते हैं कि यहाँ ( धातु के अयय

रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्वं न भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यो नात्र रपरत्वं भवतीति, ततो धातुग्रहणं करोति । इहापि तर्हि न प्राप्नोति चिकीर्षति, जिहीर्षतीति । मा भूदेवम् । 'उपधायाश्च' इत्येवं भविष्यति । इहापि तर्हि प्राप्नोति मातृणां पितृणामिति । तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि परेण स्यादणग्रहणमनर्थकं स्यात्, उरञ्जपर इत्येव ब्रूयात् ।

अस्मिन्स्तर्ह्यणग्रहणे सन्देहः—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति । असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण । कुत एतत् ।

सवर्णेऽणु तु परं ब्रूयते ।

यद्यम् उर्कत् इत्यृकारे तपरकरणं करोति । तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणिति ।

इणग्रहणेषु तर्हि सन्देहः । असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण । कुत एतत् ।

ऋकार को दीर्घ करते समय ) रपरत्व नहीं होता, अतः धातु ग्रहण करते हैं । तो यहाँ भी—ह, ह से सन् प्रत्यय पर रहते ऋ को दीर्घ रपर ऋ होने पर इत्व की प्राप्ति न रहेगी । ऋतद्भ्रातोः से इत्व न हो, उपधायाश्च ( ७१११०१ ) इस सूत्र से इत्व हो जायगा । तो इसी सूत्र से मत्वणाम् पितृणाम् में ( रपर दीर्घ होने पर ) भी उपधा को इत्व होने लगेगा । इसलिये ऋतद्भ्रातोः में धातु ग्रहण समयोजन होने से करना ही होगा ( सो यह ज्ञापक न हुआ ) । इसलिये प्रकृत अणग्रहण पूर्व ण से होगा, परले ण से नहीं । यदि परले ण से हो तो अणु ग्रहण व्यर्थ हो जाय, उरच् रपरः ऐसा ही पढ़ देते ।

अच्छा तो इस अणु ग्रहण में सन्देह है—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ( ११११६९ ) । नि सन्देह परले ण से अणु लिया जायगा, पूर्व से नहीं । यह कैसे ?

( वा० ) अणुदित्सवर्णस्य सूत्र में अणु परले णकार से लिया जाता है पूर्व से नहीं इसमें उर्कत् इस सूत्र में जो तपर किया है वह ज्ञापक है ।

आचार्य जो उर्कत् ( ७१४१७ ) ऋ के स्थान में ऋ का विधान करते हुए उसे तपर करते हैं इससे ज्ञापित करते हैं कि अणु प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है पहले से नहीं ।

तो इणु ग्रहण में सन्देह है । नि सन्देह इणु परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं । यह कैसे ?

१. उर्कत् ( ७१४१७ ) इस सूत्र में तपर इस लिये किया है कि अर्चीकृतत् में ऋकार के स्थान में ऋकार ही हो । दीर्घ ऋकार न हो । यदि पूर्व णकार से अणु ग्रहण हो तो ऋकार ऋ नहीं, अतः भिन्न काल ( ऋ ) का ग्राहक नहीं होगा ।

योरन्यत्र परेण् स्यात् ।

यत्रेच्छति पूर्वण, संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति—य्वोरिति । तच्च गुरु भवति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । तत्र विभक्तिनिर्देशो संमृद्य ग्रहणे चाङ्गचतस्रो मात्राः । प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिष्ठो मात्राः । सोऽयमेवं लघ्यायसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वणेति ।

किं पुनर्वर्णोत्सत्ताधियायं णकारो द्विरनुबध्यते ।

व्याख्यानाच्च द्विरुक्तिः ।

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । अणुदित्सवर्णस्य इत्येतत्परिहाय पूर्वणाग्रहणम्, परेण् ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

(वा०) इ का संमर्दन ( यणादेश से निवृत्ति ) करके जहाँ इकार उकार का ग्रहण किया है जैसे अयि शुधातुभ्रुवां य्वोः ( ६।४।७७ ) सूत्र में, उसे छोड़कर अन्यत्र सब स्थलों में इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है ।

जहाँ आचार्य चाहते हैं कि पूर्व णकार से इण् प्रत्याहार लिया जाय वहाँ ये इण् का ग्रहण न करके इ को यणादेश करके य्वोः ऐसा निर्देश करते हैं । यह निर्देश गुप्त होता है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? यणादेश करके विभक्तिसहित य्वोः ऐसा उच्चारण करने पर ३३ मात्रायें होती हैं । प्रत्याहार ( विभक्ति सहित ) इण् उच्चारण में ३ मात्रायें होती हैं । आचार्य जो लघु न्यास ( मात्रा-त्रयात्मक ) से कार्य सिद्ध होने पर गुरुर न्यास ( ३३ मात्रात्मक ) करते हैं इससे यह जतलाते हैं कि इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं ।

प्रत्याहार मूर्तों में यह ण् क्यों दो बार लगाया गया है ? क्या दूसरा वर्ण लगाने को नहीं रहा था ?

(वा०) णकार का दो बार उच्चारण होने से ( परम्परा प्राप्त ) व्याख्यान से शब्द ( शण्, इण् ) शक्ति का निश्चय होगा ।

ण् रूप अनुबन्ध दो बार लगाने से आचार्य यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यह परिभाषा ऐसी है—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् अर्थात् ( सन्देह होने पर ) व्याख्यान से एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है, सन्देह मात्र में लक्षण ( =शास्त्र ) अलक्षण ( अननुष्ठापक ) नहीं हो जाता । हम ऐसा व्याख्यान करेंगे कि अणुदित्सवर्णस्य चाग्रयस्यः इस एक को त्वर होने से श्वरार के न तो ग्यानी होने का कोई प्रमाण है, न आदेश । वृत्ति त्वर ( श्वा ) किया है, यह शब्द हुआ कि अण् परले णकार से लिया जाता है ।



अमडणनम् ॥७॥ झमञ् ॥८॥

किमर्थमिमो मुखनासिकावचनावुभावनुवध्येते, न अकार एवानु-  
यध्येत । कथं यानि मकारेण ग्रहणानि, सन्तु अकारेण । कथं—‘हलो यमां  
यमि लोपः’ इति । अस्तु अकारेण । हलो यजां यजि लोपः इति ।  
नैवं शक्यम् । झकारभकारपरयोरपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत ।  
न झकारभकारो झकारभकारयोः स्तः । कथं—पुमः खय्यम्परे इति । एतद्-  
प्यस्तु अकारेण ‘पुमः खय्यम्परे’ इति । नैवं शक्यम् । झकारभकारपरेऽपि  
हि खयि रुः प्रसज्येत । न झकारभकारपरः खयस्ति । कथं—‘डमो ह्रस्वादचि  
डमुणित्यम्’ इति । एतदप्यस्तु अकारेण ‘उञो ह्रस्वादचि उञुणित्यम्’  
इति । नैवं शक्यम् । झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमो  
स्याताम् । न झकारभकारौ पदान्तौ स्तः । एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो

छोड़कर अण् प्रत्याहार पूर्व णकार से लिया जाता है और इण् परले णकार से ही ।

अमडणनम् ॥ ७ ॥ झमञ् ॥ ८ ॥

क्या कारण है कि यहाँ दो अनुनासिक म्, ञ् अनुबन्ध रूप से पड़े हैं ? क्या  
एक ही अकार अनुबन्ध से काम न चलेगा ? जिन प्रत्याहारों में मकार अनुबन्ध है  
वहाँ कैसे होगा ? वहाँ भी मकार के स्थान में अकार अनुबन्ध रहे । उदाहरण—हलो  
यमा यमि लोपः यहाँ मकार प्रत्याहार—सम्पादक अनुबन्ध है, अत्र इम के हट जाने से  
शास्त्र कैसे प्रवृत्त होगा ? अकार अनुबन्ध लगा देंगे और हलो यमां यजि लोप, ऐसे  
पढ़ेंगे । ऐसा नहीं हो सकता । झ भ पर रहते भी पूर्व झ भ का लोप होने लगेगा ।

( नहीं यह कोई दोष नहीं ) झ भ परक झ भ है ही नहीं । अच्छा पुनः  
खय्यम्परे ( ८।३।९ ) यहाँ मकारानुबन्ध से अम् प्रत्याहार पडा है, यहाँ कैसे इष्ट  
कार्य होगा ? यहाँ भी म् के स्थान में ञ् अनुबन्ध लगा देंगे । और सूत्र को पुनः  
खय्यम्परे ऐसे पढ़ेंगे । ऐसा नहीं हो सकता । झकारभकार परक खय् होने पर भी पूर्व  
पुम् के स् को ह होने लगेगा । ( यह कोई दोष नहीं ) । झकारभकार—परक  
खय् मिलता ही नहीं । अच्छा तो डमो ह्रस्वादचि डमुणित्यम् ( ८।३।३२ ) । यहाँ  
कैसे होगा ? इसे भी अकार अनुबन्ध से पढ़ देंगे और सूत्र का रूप होगा—उञो ह्रस्वा-  
दचि डमुन् नियम् । ऐसा नहीं हो सकता । पदान्त झकारभकार को क्रम से अकार  
भकार आगम होने लगेगे । ( यह कोई दोष नहीं ) पदान्त झकार भकार मिलते ही  
नहीं । ऐसी अवस्था में भी ( लक्ष्यसंस्कार वेला में ) आगम पांच ( ड म ण झ भ )

१. झ भ को पदान्त में जाट् हो जाने से तदभाव प्रसिद्ध ही है । रहा उज्म् का  
झ, उसका संयोजनस्य लोपः से लोप हो जाता है ।

वैषम्यात्मइत्यातानुदेशो न प्राप्नोति । सन्तु तावद्येषामागमानामागमिनः  
सन्ति । अकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वाऽऽगमावपि न भविष्यतः ।<sup>१</sup>

अथ किमिदमक्षरमिति ।

अक्षर नक्षर<sup>२</sup> विद्यात् ।

न क्षीयते न क्षरतीति चाऽक्षरम् ।

अदन्तोतेर्वा सराऽक्षरम् ।

अदन्तोतेर्वा पुनर्यमौणादिकः सरन्प्रत्ययः । अदन्त इत्यक्षरम् ।

वर्णं वाहु पूर्वसूत्रे

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा नियते ।

किमर्थमुपदिश्यते

होंगे और आगमी केवल तीन ( ह म ण ), तो सङ्ख्या-विषमता के कारण सङ्ख्या-  
तानुदेश न होगा । ( अर्थात् तीन आगमियों में प्रत्येक को पाँच आगम होंगे । यह  
फोड़ दोष नहीं ) । जिन आगमों के आगमी हैं उन्हें वे हो जाएँ, अकार भकार  
पदान्त हैं ही नहीं उनके आगम भी नहीं होंगे ।

अथ यह विचार प्रस्तुत होता है कि अक्षर किसे कहते हैं ?

( वा० ) अक्षर को नक्षर समझे । अथवा जो क्षीण नहीं होता अथवा जो  
अपने स्वरूप में प्रच्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं ।

अद्य ( व्याप्त्यर्थक ) से औणादिक सरन् प्रत्यय किया गया है, जो व्याप्त  
होता है ।

पूर्व सूत्र ( पूर्वाचार्यों के व्याकरण ) में वर्ण की अक्षर संज्ञा की गई है ।

वा० अक्षर ( वर्णों ) का किस लिये उपदेश किया है ?

१ द्ग प्रकार भाष्यकार ने मकार अनुबन्ध का राण्डन कर दिया है ।

२ भाष्य में अक्षर समाख्याय द्ग शब्द का व्यवहार हुआ है, यो वा द्मां  
सरसोऽक्षरस इयादि प्रयोजन-परक भाष्य में अक्षर शब्द का, आः तदर्धवोध के  
लिये प्रयुक्त प्रदत्त है ।

३ अक्षर यह श्रियाशब्द है, चाहे क्षि क्षये से व्युत्पन्न माना जाय चाहे क्षर  
संज्ञा से । परमार्थ रूप में अक्षर ही अक्षर ( अविनाशी ) है । वर्णपदान्तरूप-  
रूपेण अथवा जति रूपेण की तो व्यापहारिकी नियता है । सभी शब्दों का आकारादि  
की तरह गृह्यते के आदि में उगति और प्रत्यय में विनाश होता है ।

४. अद्य व्याप्ती—द्ग धातु में औणादिक सरन् प्रत्यय में अक्षर शब्द नियत  
होता है । अर्थमन्तो व्याप्तोऽक्षरम् ।

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते ।

वर्णज्ञान वाग्निपयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।

तदर्थमिष्टबुद्धयर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारक-  
वत्प्रतिमण्डितो वेदितन्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने  
भवति, मातापितरो चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिनिरचिते व्याकरणमहाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे

द्वितीयभाष्यकम् ॥

( उत्तर ) वा० — यह अक्षर सामान्य निससे वर्ण जाने जाते हैं (नो वर्णों का ज्ञापक है), जो वाणी का बन्धन (प्रतिपादक) है, निसमें ब्रह्म (=वेद) स्थित है उस (शास्त्र) की प्रवृत्ति के लिये, (इष्टबुद्धयर्थ) कलादिदोष रहित वर्णज्ञान के लिये, ( लघ्वर्थ ) अनुबन्धकरण के लिये उपदेश किया गया है ।

सो यह अक्षर-सामान्य ( वाक्समाम्नाय ) वाणी के सद्ग्रह का उपाय है । इसे पुष्प ( दृष्टफल ) युक्त, फल ( अदृष्टफल ) युक्त, चन्द्र और तारों की तरह स्वलकृत ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूपतया भासमान समझना चाहिये । इसके परिज्ञान से सर्ववेदाध्ययन-लभ्य पुण्य फल की प्राप्ति होती है, इसके ज्ञाता के माता पिता ( भी ) स्वर्गलोक में सम्मान के पात्र होते हैं ॥

१ चतुर्दशसूत्री-रूप ( माहेश्वर सूत्र नाम से प्रसिद्ध ) और तन्मूलक भगवत्पाणिनिकृत अष्टाध्यायी शास्त्र ।

## तृतीय आह्निक का संक्षिप्त सार

इम आह्निक मे वृद्धिरादैच् ॥११११॥ इम सूत्र से लेकर इको गुणवृद्धी ॥१११३॥ इम सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्खानमा गन गहित विचार किया है। क्रमशः प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

वृद्धिरादैच्— १ वृद्धिरादैच् में चो कु. से प्राप्त कुन्व का समाधान किया है, तथा उद्गायित अतद्गायित गभी आदैचों की वृद्धि संज्ञा स्वीकार की है।

२ गजाधिसार का प्रयोजन बताकर उगवा गण्डन किया है। संज्ञा संज्ञी के अगन्देश को भी युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया है।

३ वृद्धिरादैच के वृद्धि शब्द को महत्कार्य मानते हुए वृद्धि संज्ञा से प्राप्त शोभनराश्रय शेष का समाधान किया है।

४ 'प्रयत्' शब्द के 'यत्' भी आ ऐ औ इनमें प्रत्येक की वृद्धि संज्ञा सिद्ध करने आदैच में नरस्वरण ऐच् के लिये सिद्ध किया है।

इको गुणवृद्धी— १ इन् प्रहण का प्रयोजन बताकर सूत्र को सार्थक सिद्ध किया है।

२ गुण, वृद्धि शब्दों से विहित गुणवृद्धि में ही इन् परिभाषा की उपस्थिति मानी है।

३ इन् परिभाषा को अगेन्यपरिभाषा का शेष अथवा अगेन्य का अन्वय देने में ही न मानकर स्वतन्त्र परिभाषा स्वीकार किया है। उगते अनिश्चित गुण, वृद्धि के स्थानियों में इन् पद की उपस्थिति होती है यह सिद्धान्त व्यक्त किया है। पञ्चम में अगेन्यशेष में प्राप्त शेषों का समाधान भी किया है।

४ वृद्धि पद का प्रयोजन बताते हुए अतो हलादेश्लेषों में अकार प्रहण से गिन्यन्तरङ्ग नागिद यह शपित किया है।

५ इन् परिभाषा को स्वतन्त्र विधि न मान कर विधिशेषभूत सिद्ध किया।

## अथ तृतीयमाह्निकम् ।

वृद्धिरादैच् ॥ (१।१।१) ॥

कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्य इति । भत्वात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि च्छन्दसि इति । छन्दसीत्युच्यते, न चेत् छन्दः । छन्दो-वत्सूत्राणि भवन्ति । यदि भसंज्ञा, “वृद्धिरादैजदेङ् गुणः” इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति । उभयसंज्ञान्यपि च्छन्दसि दृश्यन्ते । तद्यथा ‘स सुप्नुभा स ऋक्वता गणेन’ पदत्वात्कुत्वम् । भत्वाज्जश्त्व न भवति । एधमिहापि पदत्वाज्जश्त्वं भत्वात्कुत्वम् न भविष्यति ।

किं पुनरिदं तद्भाविताग्रहणम्—वृद्धिरित्येव ये आकारेकारौभारा

वृद्धिरादैच् (१।१।१) इस सूत्र में पदान्त च् को चो वृ ( ८।१।३० ) सूत्र से कवर्गादश क्यों नहीं हुआ ?

भसंज्ञा होने से ।

भसंज्ञा कैसे (हुई) ?

अयस्मयादीनि च्छन्दसि (१।४।१०) इस सूत्र से ।

पर यहाँ तो छन्दोवियय में यह भसंज्ञा विधि है ऐसा कहा है, और यह (प्रकृतसूत्र) छन्द (वेद) नहीं है ।

यदि भसंज्ञा मानकर ( कुत्वं का धारण करते हो ) तो वृद्धिरादैजदेङ् गुण ऐसा सहितापाठ में जश्त्व ( चकार के स्थान ज ) भी न हो सकेगा ।

छन्दों में एक-साथ दोना सज्ञाये देखी जाती हैं । जैसे—म सुप्नुभा स ऋक्वता गणेन—यहाँ ऋक्वता में पदसंज्ञा होने से ऋच् के च् को कुत्वं हो गया, पर साथ ही भसंज्ञा होने से जश्त्व ( क्को ग् ) न हुआ । इसी प्रकार यहाँ भी ( सूत्र में भी ) पदसंज्ञा मानकर जश्त्व हो गया, पर भसंज्ञा मानकर कुत्वं न होगा ।

अब यह विचार है कि सूत्र में तद्भाविता का ग्रहण है अर्थात् वृद्धि शब्द उच्चारण कर के जो आकार, ऐकार, औकार भावित ( विहित, उत्पादित ) होते हैं

१ सूत्र में आदैच् मात्र का ही ग्रहण प्रतीत होता है, जब यह प्रश्न अनुपपन्न है । नहीं । शास्त्र में पञ्चद्वय के देखे जाने में प्रश्न युक्त ही है । लुगादि सज्ञाओं में

भाष्यन्ते, तेषां ग्रहणम्, आहोभ्यिदादेऽन्मात्रस्य । किं चातः । यदि तद्भावित-  
ग्रहणं शालीयो मालीय इति वृद्धलक्षणदो न प्राप्नोति । आघ्रमयम्, शाल-  
मयम्, वृद्धलक्षणो मयन् प्राप्नोति । आघ्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः,  
वृद्धलक्षणः किन् न प्राप्नोति ।

अथाऽन्मात्रस्य ग्रहणम्, सर्वो भासः सर्वभास इति 'उत्तरपदवृद्धौ  
सर्वे च' इत्येष विधिः प्राप्नोति । इह च तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः,  
यावद्भार्यः "वृद्धिनिमित्तस्य—" इति पुंस्त्वभावप्रतिषेधः प्राप्नोति । अस्तु  
तर्हि अर्द्धमात्रस्य ग्रहणम् । ननु चोक्तम्—सर्वो भासः सर्वभासः इत्यु  
"उत्तरपदवृद्धौ सर्वे च" इत्येष विधिः प्राप्नोतीति । नैप दोषः । नैप  
उन का ग्रहण है, भयग जो भी कोई आकार, ऐकार, औकार है। उन सबका ?  
इसमें क्या ?

यदि तद्भाषिता का ग्रहण है तो शालीय, मालीय—यहाँ वृद्धाच्छ  
(४।३।१४) इस मूल में छत्रय्य की प्राप्ति ही नहीं। आघ्रमयम्, शालमयम्—  
यहाँ अन्य वृद्धाच्छ (४।३।१४८) से वृद्धमज्ञा को निमित्त मान कर होनेवाला  
विकार और अक्षर अर्थ में विहित मयत् न हो सकेगा। आघ्रगुप्तायनि, शालगुप्ता-  
यनि, यहाँ 'उदात्ता वृद्धादगोत्रात्' (४।३।१५७) में (अपत्यार्थ में) किन् न हो  
सकेगा। (आघ्रगुप्तस्पायन्यम् आघ्रगुप्तायनि ।

यदि को कि यहाँ आकार, ऐकार, औकार मात्र (तद्भावित हों अथवा  
अर्द्धभाषिता) का ग्रहण है, तो सर्वो भासः सर्वभासः यहाँ (कर्मधारय तत्पुरुष  
समास में) उत्तरपद में वृद्धिमत्क आकार होने से उत्तरपदवृद्धौ सर्वे च (६।२।१०५)  
में सर्वेच्छ भन्नोदात्त हो जायगा। और तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्-  
भार्ये—यहाँ वृद्धिनिमित्तस्य न तद्विनिमित्तस्य (६।३।३९) से [आ  
गर्भान्न (६।३।१) में आव्य आकार की भी वृद्धिसंज्ञा होने से और उसके सपर में  
तद्विहित प्रत्यय अनुप की निमित्तता से] पुंवद्भाव निरोध प्राप्त होता है।

अप्य (यदि तद्भाषित पक्ष में दिये हुए रूपों का उद्धार नहीं हो सकता)  
गा आकार, ऐकार औकार मात्र का ग्रहण नहीं, (इसमें क्या हानि है ?) ।

अभी अभी कहा गया है कि कर्मधारय तत्पुरुष सर्वभासः में 'उत्तरपदवृद्धौ  
सर्वे च' (६।२।१०५) से सर्वे च्छ भन्नोदात्त हो जायगा।

यह कोई दोष नहीं। उत्तरपदवृद्धौ इस पद का उत्तरपद की वृद्धि होने पर  
तद्भाषित पक्ष का प्रहण है और ताव गता ने अर्द्धमात्र का ग्रहण है। मूल में  
वृद्धि पदों का प्रहण है एका मानकर, इसकी आहृति सर्वेच्छ अथवा एकांश  
अर्द्धमात्र का तद्भाषित भाषित का ग्रहण होता है। उस अर्थ में एक वृद्धि पद  
इत्यादि अर्द्ध का विशेषण रहना जोर दूना गेनादि ।

विज्ञायते—उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तरपदवृद्धाविति । कथं तर्हि ।  
 “उत्तरपदस्य” इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्पुत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते ।  
 अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । तद्भावितग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारक  
 सर्वकारक इति ।

यदप्युच्यते—इह तावती भार्या यस्य तावद्भार्य, यावद्भार्य इति च  
 “वृद्धिनिमित्तस्य—” इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति । नेप दोषः । नेप  
 विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति । कथं तर्हि । वृद्धे  
 निमित्तं यस्मिन्सोयं वृद्धिनिमित्तं, वृद्धिनिमित्तस्येति । किं च वृद्धेर्नि-  
 मित्तम् । योऽसौ ककारो ञकारो णकारो वा । अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धे-  
 र्निमित्तम् । कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम् । यस्त्रयाणामाकारेकारौ  
 कारणाम् ।

सज्ञाधिकार सज्ञामप्रत्ययार्थ ॥

“अथ संज्ञा” इत्येवं प्रकृत्य वृद्ध्यादयः शब्दाः पठितव्याः । किं

ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये, किन्तु उत्तरपदस्य ( ५३।१० ) इस अधिकार  
 में जो वृद्धि विधान की गई हो तद्युक्त उत्तरपद पर होने पर, ऐसा अर्थ है । और  
 अवश्य ऐसा ही अर्थ मानना होगा । कारण कि तद्भावित आ के ग्रहण करने पर  
 भी सर्वकारकः इस तत्पुरुष समास में भी ( जहाँ कारक में वृ के ऋ को अचोऽङिति  
 से वृद्धि होकर आ हुआ है ) उक्त सूत्र से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा ।

और जो यह कहा है कि तावद्भार्य, यावद्भार्य में ( तद्भावित ग्रहण न  
 करने पर ) वृद्धिनिमित्तस्य—इस सूत्र से पुंवद्भास का प्रतिषेध प्राप्त होता है,  
 सो यह भी कोई दोष नहीं । वृद्धिनिमित्तस्य इस पद का वृद्धिनिमित्त, उसका  
 ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु वृद्धि का निमित्त जिसमें है, उसका ऐसा अर्थ है ।

फिर वृद्धि का निमित्त है क्या ?

जो (इत्सञ्जक) प्रसिद्ध क्, ज्, ण् । अथवा जो सकल वृद्धि का निमित्त हो ।

सकल वृद्धि का कौन सा निमित्त है ?

जो तीनों अर्थात् आकार, ऐकार, औकार का निमित्त हो ।

(वा०) संज्ञा का अधिकार करना चाहिये संज्ञा के बोध के लिए । अथ संज्ञा  
 अथ संज्ञा—विधान का प्रारम्भ होता है—ऐसा कह कर वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों

१ निमित्त शब्द के उपादान से ही यहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि लिया जाना है,  
 अन्यथा वृद्धेस्तद्वितस्य ऐसा ही कहे, वृद्धि का निमित्त होने से तद्वित को वृद्धि कह दिया  
 जायगा । ( जैसे आयुर्वै पृतम् में आयु का निमित्त होने से पृत को आयु कह दिया है )

२ अथवा वृद्धीनां निमित्तम्—ऐसा विग्रह समझना चाहिये । व्यधिकरण  
 बहुव्रीहि की अपेक्ष तत्पुरुष मानने में लाघव भी है ।

प्रयोजनम् । सज्ञासम्प्रत्ययार्थं । वृद्ध्यादीनां शब्दानां सज्ञा इत्येष सम्प्रत्ययो यथा स्यात् ।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके ॥

अक्रियमाणे हि सज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां सञ्ज्ञेत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् । इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात् । अनर्थकमित्याह । कथम् । यथा लोके । लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते । अर्थवन्ति तावत्—देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् इति । अनर्थकानि—दश दाडिमानी पडपूपा कुण्डमजाजिन पलालपिण्ड, अधरोरकमेतत्कुमार्या स्फेयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति ।

सज्ञासञ्ज्ञसन्दर्भश्च ॥

क्रियमाणेऽपि सज्ञाधिकारे सज्ञासञ्ज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः । कुतो ह्यतत्—वृद्धिशब्द सज्ञा, आदैश्च सञ्ज्ञिन इति । न पुनरादैश्च सज्ञा, वृद्धिशब्द संज्ञीति ।

को पदना चाहिय ।

क्या प्रयाजन है ?

सज्ञाओ क बोध क लिय । वृद्धि आदि शब्दा क विषय मे य सज्ञाएँ हैं एसा बोध हो सक इस लिय ।

(वा०) नहा तो ऐसा बोध न हो सकगा जैसे लोक में ।

यदि सज्ञाधिकार न किया जाय तो वृद्धि आदि शब्द सज्ञाएँ हैं ऐसा बोध न हागा । एसा होने पर बहुत स सूत्र अनर्थक हो जायगा । यह जो आप अनर्थक कहते हैं सो किस ? जैसे लोक में । लोक में दोनों प्रकार क वाक्य देख जात हैं—सार्थक और अनर्थक । पहले सार्थकों को लीजिये—देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन ( देवदत्त सफेद गौ को डड स हाको) देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् (देवदत्त काली गौ को हाको) । अनर्थक विये—दस दाडिम (दाडू), छ अपूप (पूप) कण्ड बकरी का चाम, फल गून्य काण्डा का समूह, कमारी का यह लहगा स्फेयकृत का पिता प्रतिश्याय युक्त है ।

(वा०) सज्ञा और सञ्ज्ञी का असदिग्धरूप से निदर्श हाणा चाहिये ।

सज्ञा अधिकार क किये जाने पर भी यह सज्ञा है यह सञ्ज्ञी है इसका विस्पष्ट रूप स कथन होना चाहिये । क्या कारण है कि वृद्धि शब्द सज्ञा हो और आदैश्च संज्ञी हों ? आदैश्च सज्ञा और वृद्धि शब्द सञ्ज्ञी क्या न हो ?



यत्तावदुच्यते—संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इति, न कर्तव्यः ।

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः ॥

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति । किमिदमाचार्याचारादिति । आचार्याणामुपचारात् ।

यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावत् मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकारो नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति । तयोरुपचारादन्येपि जानन्ति इयमस्य सञ्जेति । वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—स्फ्यो यूषदचपाल इति । तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संञ्जेति । एवमिहापि—इहैव तावत्केचिद् व्याचक्षणा आहुः वृद्धिशब्दः संज्ञा, आटैचः संज्ञिन इति । अपरे पुनः 'सिचि वृद्धिः' इत्युक्त्वाऽऽकारे-कारौकारानुदाहरन्ति । तेन मन्यामहे यया प्रत्याप्यन्ते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति ।

यदप्युच्यते—क्रियमाणेपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो

यह जो कहा गया है कि संज्ञाधिकार करना चाहिये संज्ञाओं के बोध के लिये । इसके करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

( वा ) आचार्यों के व्यवहार से संज्ञा की सिद्धि हो जायगी ।

आचार्यों के आचार से संज्ञा-सिद्धि हो जायगी ।

आचार्याचार से क्या अभिप्राय है ?

आचार्यों ( वृत्तिकारों ) का व्यवहार ।

( वा० ) जैसे लौकिक व वैदिक व्यवहारों में ।

जैसे लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में ( संज्ञा जानी जाती है ) । लोक में देखते हैं कि माता पिता नवजात पुत्र का गुह्य स्थान ( घर के भीतर में देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम धरते हैं उन के व्यवहार से दूसरे लोग भी जानते हैं कि यह उस बालक की संज्ञा है । वेद में याज्ञिक ( यज्ञकाण्ड के द्रष्टा ऋषि ) यज्ञोपकरणों के स्फुरी, यूषं, चपाले इत्यादि नाम धरते हैं । उन पूज्यों के व्यवहार से दूसरे भी जानते हैं कि यह उस-उस पदार्थ की संज्ञा है । इस से हम जानते हैं कि जिस शब्द से पदार्थों का प्रत्यायन किया जाता है वह संज्ञा है, जो प्रतीत होते हैं वे संज्ञी हैं ।

जो यह कहा गया है कि संज्ञाधिकार करने पर भी संज्ञा और संज्ञी का

१. खैर का बना हुआ रज्जु सन्ना यज्ञसाधन ।

२. धौल तराश कर बनाया हुआ यज्ञियपशुबन्धन-काष्ठ ।

३. श्रूप के अग्र भाग में स्थापित यूष-बल्य-नामक काष्ठ ।

वक्तव्य इति ।

सज्ञासङ्घसन्देहश्च ॥

सज्ञासङ्घिनोरसन्देहः सिद्धः । कुतः । आचार्याचारादेव । उक्त  
आचार्याचारः ।

अनाकृति ॥

अथवाऽनाकृतिः सज्ञा, आकृतिमन्तः सङ्घिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो  
मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सज्ञा क्रियते ।

लिङ्गन वा ॥

अथवा किञ्चिल्लिङ्गमासज्यं वक्ष्यामि इत्यलिङ्गा सङ्घेति । वृद्धि-  
शब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादेच्छब्दे ।

इदं तावद्युक्तं यदुच्यते—आचार्याचारादिति । किमत्रायुक्तम् ।  
तमेधोपालभ्य अगमकं ते सूत्रम् इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतद-

रूप से निर्देश करना चाहिये ।

( वा० ) सज्ञा और सज्ञीका असन्देहे ( विवेक ) सिद्ध ही है । कैसे ?  
आचार्यों के आचार से । आचार्यों का आचार क्या चीज है यह पहले बता चुके हैं ।

( वा० ) अनाकृति ( आकृतिरहित ) ।

अथवा आकृति रहित शब्द सज्ञा है और आकृति वाले शब्द सज्ञी हैं ।  
लोक में भी आकृति वाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' यह सज्ञा की जाती है ।

( वा० ) अथवा लिङ्ग ( चिह्न ) सः ।

अथवा कुछ चिह्न लगा कर कहूँगा इस प्रकार के चिह्न वाला सज्ञा शब्द  
है । 'वृद्धि' शब्द में वह कल आदि दोष रूप चिह्न कर दिया जायगा । आदैच्  
शब्द में नहीं किया जायगा ।

आपका यह कहना कि आचार्य ( सूत्रकार ) के व्यवहार से ( सज्ञा का पता  
चल जायगा ) युक्त नहीं ।

इस में क्या अयुक्त है ?

यही कि पहले ( हे सूत्रकार ) तब सूत्र ( सम्बन्ध का ज्ञापक न होने से )  
अधोपक ( अनर्क ) है, इस प्रकार निन्दावचन कहकर पीछे उसी को ( अर्थात् उसी

१ ( वार्तिक में ) असन्देह — यह बहुव्रीहि है, अविद्यमान सन्देहोत्तर ।

सन्देह का निवर्तक शब्द कहना चाहिये, अर्थात् "परा सज्ञा" ऐसा वचन  
पढ़ना चाहिये ।

युक्तम् । अपरिनुप्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण 'अनाकृतिर्लिङ्गेन वा' इत्याह ।

तच्चापि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यते । अथवेतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या लोपश्च न वक्तव्यः । सञ्ज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते । न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते । स्रभावतः सञ्ज्ञा सञ्ज्ञिनं प्रत्याप्य स्वयं निवर्तते । तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति । सिध्यत्येवम् । अपाणिनीय तु भवति ।

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्-सञ्ज्ञाधिकारः सञ्ज्ञासम्प्रत्ययार्थ इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोक इति । न च यथा लोके तथा व्याकरणे । प्रमाणभूते आचार्यो दर्भपत्रिपाणिः शुचावयवाद्वा प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्राशय्य वर्णनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण । किमतो यदशय्यम् । अतः सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनावेन । कुतो नु खल्वेतत् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनावेदेति । न पुनः साधनशास्त्रेऽस्मिन्शास्त्रे साधु-

के वृत्तिकारों को , प्रमाण मानना । और आपन भी इस समाधान स असन्तुष्ट होकर ही अनाकृतिर्लिङ्गेन वा—यह दूसरा समाधान कहा है ।

तो लिङ्ग लगाना होगा । ( इस प्रकार के लिङ्ग वाला शब्द सञ्ज्ञा है ऐसा कहना होगा ) । यद्यपि ऐसा वचन करने से ( गौरव हागा तो भी अपेक्षाकृत लाघव ही होगा ) कारण कि अब ( अनुबन्धों का ) इत्सञ्ज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, इत्सञ्ज्ञकों का लोप भी नहीं कहना पड़ेगा । सञ्ज्ञा का लिङ्ग ( क्त् आदि चिह्न ) अनुबन्धों में किया जायगा । सञ्ज्ञा की निवृत्ति वचनसाध्य नहीं है । सञ्ज्ञा का ऐसा स्वभाव है, संज्ञी का बोध करा कर स्वयं निवृत्त हो जाता है । इससे अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी (इतना लाघव होगा) । हाँ ठीक है, पर ऐसा करना अपाणिनीय होगा ।

तो जैसे आचार्य ने सूत्र पढ़ा है वैसे ही रहने दो । अजी, अभी आपने कहा था—सञ्ज्ञाधिकार कहना चाहिये ताकि कौन शब्द सञ्ज्ञा है यह बाध हो सक, नहीं तो सम्बन्ध की प्रतीति न हागो जैसे लाक में । नहीं जैसे लोक में वैसे ही व्याकरण शास्त्र में हो—यह कोई नियम नहीं । प्रामाण्य को प्राप्त भगवान् सूत्रकार ने कुशापीड से पवित्रपाणि हो, शुद्ध प्रदेश में स्थित हो, पूर्वकी आर मुँह कर, आसन पर बैठ, बड़े प्रयत्न से इन सूत्रों को रचा है उनमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने वर्णों से घटित समग्र सूत्र की अनर्थकता तो दूर रही ।

इस से क्या यदि एक वर्ण भी अनर्थक नहीं ?

इस से यही आता है कि वृद्धिशब्द संज्ञा है और आदिच सञ्ज्ञा है ।

क्या शब्दसाधुत्व का अनुशासन करनेवाले इस शास्त्र में इन दो शब्द और आदिच् का साधुत्व तो नहीं बताया जा रहा ?

१ प्रमाणभूत आचार्य —प्रामाण्य प्राप्त । भू प्राप्तावाभनेरदा ।

त्वमनेन क्रियते। कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्। वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन्प्रत्ययः। आदैचोप्यक्षरसमाग्नाय उपदिष्टः।

प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—वृद्धिशब्दात्परे आदैचः प्रयोक्तव्या इति। नेह प्रयोगनियम आरभ्यते। किन्तर्ही संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति।

आदेशास्तर्हीमे स्युः। वृद्धिशब्दस्यादैच आदेशः। पष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा भवन्ति। न चात्र पष्ठी पश्यामः।

आगमास्तर्हीमे स्युर्वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः। आगमा अपि पष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते। लिङ्गेन च। न चात्र पष्ठी न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः।

इनका साधुत्व पहले ही बताया जा चुका है। धातुपाठ में व्याकरणाध्येता के लिये वृद्ध का सामान्यरूपेण उपदेश कर दिया गया है, उससे परे क्तिन् प्रत्यय विहित है, आदैच् भी अक्षर-समाग्नाय में उपदिष्ट है।

तो यह सूत्र प्रयोगविषयक नियम करनेवाला हो सकता है—अर्थात् वृद्धिशब्द से परे (नकि पूर्व) आदैच् शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। इस शास्त्र में प्रयोग (प्रयुज्यमान पदों का क्रमविषयक) नियम बताने का उपक्रम नहीं किया गया है, किन्तु उन प्रयोगों का साधुत्वान्वाख्यान मात्र किया जाता है, पीछे वक्ता की इच्छानुसार उनका परस्पर सम्बन्ध होता है, जैसे आहर पात्रम् (पात्र लाओ) ऐसी आनुपूर्वी से भी कहा जाता है, पात्रमाहर ऐसा भी।

तो ये आदेश हो सकते हैं। वृद्धिशब्द के स्थान में आदैच् आदेश होते हैं। पर आदेश पष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में होते हैं और यहाँ (इस सूत्र में) पष्ठी विभक्ति दीखती नहीं।

तो ये आगम हो सकते हैं—वृद्धिशब्द को आदैच् का आगम हो। पर आगम भी पष्ठीनिर्दिष्ट को ही होते हैं। और आगम लिङ्ग (क्, ट्) से जाने जाते हैं। न तो यहाँ पष्ठी दीखती है और नहीं आगम-लिङ्ग दीखता है।

और यहाँ प्रकृत-सूत्र में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ये दोनों पद वृद्धि और आदैच् समानाधिकरण और एकविभक्तिक हैं। और ऐसा सम्बन्ध केवल दो का होता है। कौन से दो का ?

१. यहाँ पष्ठी शब्द से पृष्ठार्थ का अभिप्राय है। जहाँ पष्ठी विभक्ति के अर्थ का निर्देश है वहीं आदेश होते हैं, पष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने पर भी यदि पष्ठी का अर्थ है तो आदेश हो जाते हैं। जैसे नाभि नभे च, परस्त्री परशु च यहाँ नाभि को नभ और परस्त्री को परशु आदेश होते हैं यद्यपि नाभि, परम्प्री में पष्ठी विभक्ति का निर्देश नहीं है किन्तु पष्ठी का अर्थ है।

इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तिकत्वं च । द्वयोश्चैत-  
द्भवति । कयोः । विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा । तत्रैतत्स्यात्—  
विशेषणविशेष्ये इति । तच्च न । द्वयो हिं प्रतीतपदार्थकयोर्लोकै विशेषण-  
विशेष्यभावो भवति न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः । तस्मात्संज्ञासंज्ञिनावेव ।

तत्र त्वेतावान्सन्देहः—कः संज्ञी का संज्ञेति । स चापि क् सन्देहः ।  
यत्रोभे सामानाक्षरे । यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद्गुण स संज्ञी । कुत  
एतत् । लघ्वर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्राप्ययं नावदयं गुल्लघुतामेवोपलक्ष-  
यितुमर्हति, किन्तुहिं, अनाकृतितामपि । अनाकृतिः संज्ञा आकृतिमन्तः  
संज्ञिनः । लोकेपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ।

अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति । वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः ।  
तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः ।

या तो विशेषण विशेष्यका, या संज्ञा और संज्ञी का । तो ये दोनों विशेषण-  
विशेष्य हो सकते हैं । नहीं । प्रसिद्ध अर्थवाले दो शब्दों का लोक में विशेषण-विशेष्य  
भाव होता है । पर लोक में आदैच् तो अप्रसिद्ध है । इसलिये यहाँ संज्ञासंज्ञिभाव  
ही मामना चाहिए ।

अब इसमें इतना सन्देह रहता है—संज्ञी ( संज्ञावाला ) कौन है, संज्ञा कौन  
है । वह सन्देह भी कहाँ होता है ? जहाँ दोनों उद्दिश्यमान और प्रतिनिर्दिश्यमान  
शब्द समसंख्यक अक्षरों वाले हों । पर जहाँ दोनों में से एक लघ्वक्षर हो, वह संज्ञा  
समझनी चाहिए, जो अधिकाक्षर हो वह संज्ञी । यह क्योंकर ? व्यन्हार में लाघव  
के लिए संज्ञा की जाती है । पर केवल गुल्लघुता को निर्णायक रूप से स्वीकार करना  
युक्त न होगा, अनाकृतिता ( आकृति-हीनता ) को भी । संज्ञा अनाकृति होती है,  
संज्ञी आकृतिमान् होते हैं । लोक में भी आकृतिवाले मांसपिण्ड की देवदत्त यह संज्ञा  
की जाती है ।

अथवा जो संज्ञाये होती है उनकी विधिसूत्रों में आकृति ( पुनः पुनः उच्चारण )  
होती है । वृद्धिशब्द की आकृति देखी जाती है, आदैच् शब्द की नहीं । जैसे अन्यत्र  
( लोक ) में भी देवदत्त शब्द की आकृति होती है, मांस पिण्ड की नहीं ।

१. देवदत्तः पचति यहाँ सामानाधिकरण्य है किन्तु एकविभक्तिकत्व नहीं है ।  
गौरवः यहाँ एक विभक्तिकत्व है, सामानाधिकरण्य नहीं । वृद्धिरादैच् यहाँ सामानाधि-  
करण्य और एकविभक्तिकत्व दोनों हैं । इस लिये दोनों का अलग अलग ग्रहण किया है ।  
कुछ लोग सामानाधिकरण्य शब्द का मानते हैं कुछ अर्थ का । दोनों के तात्पर्य में कोई  
भेद नहीं है ।

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा । कुत एतत् । सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ।

कथं वृद्धिरादैच् इति । एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् । माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति । सर्वत्रेव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा 'अदेङ् गुण' इति यथा ।

दोषवान्खल्वपि संज्ञाधिकारः । अष्टमेपि हि संज्ञा क्रियते—तस्य परमात्रेडितम् इति । तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात् ।

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते । नहीदं लोकाद् भिद्यते । यदीदं

अथवा जिसका पूर्वोच्चारण है वह संज्ञी जानना चाहिए, जिसका पीछे उच्चारण है वह संज्ञा । यह क्योंकर ? इसलिए कि बुद्धिद्वारा विषयीकृत अर्थ को पहले शब्द से कह कर उसको संज्ञा आदि कार्य विधान किया जाता है, जैसे अन्यत्र (लोक में), बुद्धिसद्रूप मांसपिण्ड की देवदत्त संज्ञा की जाती है ।

तो वृद्धिरादैच् यह सूत्र-न्यास कैसे हुआ ? (यहाँ जो श्रम का व्युत्क्रम हुआ है) वह आचार्य ने मङ्गल के लिए किया है, सो यह एक दोष मर्णनीय है । मङ्गलाकाङ्क्षी आचार्य ने वृहत् सूत्रसमूह के मङ्गल के लिए वृद्धि शब्द को आदि में प्रयुक्त किया है । कारण कि आदि में मङ्गलयुक्त शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं, श्रोता वाद में वीर (अपराजित) तथा चिरंजीव होते हैं, और अध्येता वृद्धि-युक्त होते हैं । व्याकरण में सर्वत्र पहले उच्चारित संज्ञी होता है और पीछे उच्चारित संज्ञा । जैसे अदेङ् गुणः इस सूत्र में ।

संज्ञाऽधिकार करना भी दोषयुक्त ही है । अष्टम अध्याय में भी संज्ञायें की जाती हैं जैसे तस्य परमात्रेडितम् (८।१।२) । जहाँ दो उच्चरित किए जाते हैं उनमें से दूसरे को मात्रेडित कहते हैं । वहाँ भी इस अधिकार की अनुवृत्ति होगी ।

अथवा संज्ञा आदि निर्देश-रूप यत्न का कोई अवसर नहीं । संज्ञा आदि

१ अष्टक एकाल् प्रत्यय. यह संज्ञा सूत्र न मानकर परिभाषा सूत्र मान लिया जाएगा इस प्रकार सर्वत्र व्याकरण में संज्ञा का उच्चारण संज्ञी के बाद किया हुआ सिद्ध हो जाता है ।

लोकाद् भिद्येत ततो यत्नाहं स्यात् । तद्यथा—अगोशाय कश्चिद् गां सम्पत्तिं कर्म वा गृहीत्वोपदिशति—अयं गौरिति । न चास्मायाचष्टे इयमस्य सहेति । भवति चास्य सम्प्रत्ययः ।

तत्रेतत्स्यात्—कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्ध इति । इहापि कृत पूर्वैरभिसम्बन्ध । के । आचार्यः । तत्रेतत्स्यात्—यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृत इति । लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः । अथ तत्र कृत , इहापि कृतो द्रष्टव्यः ॥

सतो वृद्ध्यादिषु सज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥

सत सञ्चिन. सज्ञाभावात् । तदाश्रये सज्ञाश्रये सञ्चिनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः । का इतरेतराश्रयता । सतामादेर्चां सज्ञया

निर्देश न होना कोई लोक से न्यारी बात नहीं है । यदि शास्त्र में लोक से न्यारी बात हो तो अर्थ इसके शिष्ट वचन रूप यत्न करना होगा । जैसे कोई गौ को पदचानता नहीं, उसे दूसरा कोई गौ को ऊरुभाग अथवा कान से पकड़ कर बटाता है—यह गौ ( बैच ) है, और यह नहीं कहता कि यह इसकी सज्ञा ( नाम ) है । तिसपर भी उसे यथेष्ट बोध हो जाता है ।

वहा तो यह हो सकता है कि वृद्धों ने अपने व्यवहार से गा शब्द का उस पदार्थ के साथ (वाच्य वाचक) सम्बन्ध किया हुआ है । यज्ञ भी पूर्व लोगों ने सम्बन्ध किया हुआ है । किन्तोंने ? आचार्यों ने । उसमें भी ऐसा हो सकता है कि जिसके लिए भव उपदेश हो रहा है उसके लिए तो यह सम्बन्ध असिद्ध है । (पर यह भी लोक के न्यारी बात नहीं) लोक में भी जिसे गवादि शब्दार्थ सम्बन्ध अभी घटाया जा रहा है उसके लिए तो असिद्ध ही है । (यदि अनुमान आदि द्वारा) लोक में सिद्ध माना जाता है, तो शास्त्र में भी सिद्ध मानन में कोई अडचन नहीं ।

( वा० ) निमग्न का वृद्ध्यादि सज्ञा के साथ सम्बन्ध होना स तथा सज्ञा का सज्ञाऽऽश्रित होने से अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ की सिद्धि न होगी ।

सज्ञा के विद्यमान होने पर सज्ञा होने से । तदाश्रय अर्थात् सज्ञाऽऽश्रय सज्ञा होने पर वृद्ध्यादि पदों में अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ न बन सकेगा ।

यहा कौन सा अन्योन्याश्रय है ?

आदिच् पहले सिद्ध हों तो उनकी वृद्धिसज्ञा हो, और सज्ञा से आदिच् की

भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते । तदेतद् इतरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तद्यथा—नौर्नावि यद्वा नेतरश्राणाय भवति ।

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते । तद्यथा--नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति । अन्यदपि तत्र किञ्चिद् भवति जलं स्थलं वा । स्थले शकटं नावं वहति । जले नौः शकटं वहति ।

यथा तर्हि त्रिविष्टम्भकम् । तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति । इदं पुनरितरेतराश्रयमेव ।

सिद्ध तु नित्यशब्दत्वात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । नित्यशब्दत्वात् । नित्या. शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते, न च संज्ञयाऽऽदैचो भाव्यन्ते ।

उत्पत्ति होती है, अन्योन्याश्रय है । अन्योन्याश्रितकार्यं नहीं सिद्ध होते । जैसे एक (कण्ठधार रहित) नौका ऐसी ही दूसरी नौका से बांधी हुई एक दूसरे की रक्षा करने में असमर्थ होती है ।

अजी अन्योन्याश्रित कार्य भी सिद्ध होते हुए देखे जाते हैं, जैसे नौका छकड़े को देशान्तर में ले जाती है और छकड़ा नौका को । (यह दृष्टान्त ठीक नहीं) कुछ और भी वहाँ विशेष होता है जल अथवा स्थल । स्थल में छकड़ा नौका को ले जाता है, जल में नौका छकड़े को (सो वहाँ अन्योन्याश्रय नहीं) ।

अच्छा सो त्रिविष्टम्भक दृष्टान्त सही । यहाँ भी भीतर कीलकादि कारणान्तर सिद्धि का प्रयोजक है । प्रकृत में तो अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य ही ठहरा ।

( वा० ) शब्द की नित्यता के कारण अन्योन्याश्रय दोष न होगा ।

इस दोष का परिहार हो जाता है ।

कैसे ?

शब्द नित्य हैं, इस हेतु से ।

शब्द नित्य हैं, शब्दों के नित्य होते हुए (पहले से) विघटमान आ, ऐ, औ की (शुद्धि) संज्ञा की जाती है न कि संज्ञा द्वारा (अपूर्व) आ, ऐ, औ को बनाया जाता है ।



यदि तर्हि नित्या शब्दा , किमर्थं शास्त्रम् ।

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्नित्तकत्वात्सिद्धम् ॥

निवर्तकं शास्त्रम् । कथम् । मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः । तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्ति क्रियते मृजेरन्विद्धत्सु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति ।

वृद्धिगुणसङ्गयोः प्रत्येक वचनम् ॥

वृद्धिगुणसङ्गयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम् । प्रत्येकं वृद्धिगुणसङ्गे भवत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समुदाये मा भूतामिति ।

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये सङ्गाऽप्रसङ्गः ॥

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये वृद्धिगुणसङ्गयोऽप्रसङ्गः । यत्रेच्छति

यदि शब्द नित्य है, तो शास्त्र किस काम का रहा ?

( वा० ) यदि पूछो शास्त्र किस काम का रहा, शास्त्र निवर्तक होने से मफल है ।

शास्त्र निवर्तक है । कैसे ? अध्येता के लिए मृज धातु का सामान्यरूप से उपदेश कर दिया गया है । उसकी सर्वत्र मृज् रूप ही साधु है ऐसी बुद्धि होने लगी । तब शास्त्र इस प्रकार इसकी निवृत्ति करता है—किन्त् त्वि भिन्न प्रत्ययो के परे रहते मृज् के प्रसङ्ग (अवसर) में मार्जि रूप साधु होता है ।

( वा० ) वृद्धिगुण संज्ञा करते समय प्रत्येक शब्द का उच्चारण करना चाहिए ।

अर्थात् यह कहना चाहिए कि वृद्धि और गुणसङ्गा भादैच् ( भा, ऐ, औ ) और अदैच् ( अ, ए, ओ ) में के प्रत्येक की होता है ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

समुदाय ( भादैच् अदैच् ) की मत हो ।

( वा० ) जहाँ सह शब्द उच्चारित नहीं होता वहाँ समुदाय की संज्ञा का प्रसङ्ग ही नहीं ।

जहाँ आचार्य समुदाय को कार्य करना चाहते हैं वहाँ सह शब्द का उच्चारण

सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा “सह सुपा” “उभे अभ्यस्तं सह” इति ।

प्रत्यययत्रं च वाक्यपरिसमाप्ते ।

प्रत्यययत्रं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते । तद्यथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णु-  
मित्रा भोज्यन्तामिति । न चोच्यते प्रत्येकमिति । प्रत्येकं च भुजिः परि-  
ममाप्यते ।

ननु चायमप्यास्ति दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति ।  
तद्यथा गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति,  
न च प्रत्येकं दण्डयन्ति । सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियते,  
इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां  
कार्यं भवति, इहापि नार्थं प्रत्येकमिति वचनेन ॥

अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते ।

आकारस्य तपरकरणं सर्वणार्थम् ॥

आकारस्य तपरकरणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । सर्वणार्थम् । तपरस्त-

करते हैं जैसे सह सुपा ( २।१।४ ) उभेअभ्यस्तं ( ६।१।५ ) सह इत्यादि में ।

( वा० ) प्रत्येक में भी वाक्यार्थ की परिसमाप्ति देखी जाती है इस लिए भी प्रत्येक की सज्ञा होगी । जैसे देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र को भोजन खिलाओ । यह नहीं कहा जाता कि इनमें से प्रत्येक को, पर प्रत्येक में भोजन किया पर्यवसित ( पूर्णरूप से समाप्त ) होती है ।

अनी यह भी तो दृष्टान्त है—समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति होती है । जैसे गार्ग लोगों से सौ दण्ड ( जुर्माना ) लिया जाए । राजाओं को धन की अपेक्षा होती है पर वे प्रत्येक से दण्ड नहीं लेते । इस दृष्टान्त के होते हुए भी यदि वहाँ ( गर्गदण्डन में ) सह ग्रहण किया जाता हो तो यहाँ प्रकृत में भी प्रत्येकम् यह कहना चाहिए । पर यदि वहाँ बिना सहग्रहण समुदाय को कार्य होता है, तो यहाँ भी प्रत्येकम् इस वचन का कुछ प्रयोजन नहीं ।

अथ यह विचार उपस्थित होता है कि सूत्र में आकार तपर क्यों किया गया है ।

( वा० ) आकार का तपर करना सर्वणं ग्रहण के लिए है । आकार तपर किया गया है । इसका क्या प्रयोजन है ? सर्वणं ग्रहण के लिए । तपरस्तकालस्य

इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् । केषाम् । उदात्तानुदात्त-  
स्वरितानाम् । किं च कारणं न स्यात् ।

भेदकत्वात्स्वरस्य ॥

भेदका उदात्तादयः । कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति । एव  
दृश्यते लोके य उदात्ते कतन्त्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै  
चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किन्तर्हि । इति--

भेदकत्वाद्गुणस्य ॥

भेदकत्वाद्गुणस्येति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । आनुनासिक्यं नाम  
गुणः, तद्भिन्नस्यापि ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् । भेदकत्वाद्  
गुणस्य । भेदका गुणाः । कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति । एव हि दृश्यते

इस शास्त्र से अपने समान कालवाले वृत्तों सवर्ण आकारों का भी ग्रहण हो सके,  
इस लिए । किन का ?

उदात्त अनुदात्त स्वरित ( आकारों ) का ।

क्या कारण है कि ( तपर किए बिना ) इनका ग्रहण न होगा ?

( वा० ) उदात्त आदि स्वरों के भेदक होने से ॥

उदात्त आदि भेदक हैं ।

यह कैसे जाना कि उदात्त आदि भेदक होते हैं ?

ऐसा लोक में देखा जाता है जो शिष्य उदात्त उच्चारण करने के स्थान में  
अनुदात्त उच्चारण करता है खण्डिकोपाध्याय उसके मुँह पर चमत देता है यह कहते  
हुए कि तू कुछ और का उच्चारण कर रहा है ।

तो यह तत्त्व का प्रयोजन ठहरा न ? तो क्या कहना है ? यह कि—

( वा० ) गुणों के भेदक होने से ॥

गुण के भेदक होने से यह कहना चाहिए ।

आनुनासिक्य गुण है, तद्गुणविशिष्ट का ग्रहण हो जाए इस लिए । क्या कारण  
है कि आनुनासिक्य गुण ( धर्म ) वाले आदैच् ( आ ऐ और औ ) का ग्रहण नहीं  
होता ?

सन्देहेषु न कंचिद् यत्नं करोति । तद्यथा—“औतोम्शसोः” इति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति ।

अथ क्रियमाणेषु तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति । तपरस्तत्कालस्य इति नियमात् । ननु तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः । नेत्याह । तादपि परस्तपरः । यदि

इस प्रकार के सन्देहों में कोई वचन-रूप यत्न नहीं किया जाता, जैसे औतोम्शसोः इस सूत्र में व्याख्यान से अवगत होता है कि आकार और ओकार-दोनों का निर्देश है ।

तो तपर करण का यह प्रयोजन है—आन्तरतम्य से त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश न होने लग जायं । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः ( यहाँ ए त्रिमात्र न हो ), खट्वा उदकं खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा ( यहाँ ए चतुर्मात्र-न हो ), खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका ( यहाँ ए चतुर्मात्र न हो ) खट्वा ओदनः खट्वौदन, खट्वा ऐतिकायनः, खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः ।

प्रश्न यह है कि तकार उच्चारण करने पर भी किस कारण त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश नहीं होते ? तपरस्तत्कालस्य इस नियम से । पर त् जिससे परे हो वह तपर होता है ( ऐच् से तो त् पूर्वोच्चारित है ) । नहीं, त् से जो परे हो वह भी तपर होता है । यदि त् से परे भी तपर होता

में भी पूर्वपद आगुदात्त विधान किया है । वह आकार की वृद्धि संज्ञा को सिद्ध करता है । माला के आकार की वृद्धि संज्ञा ह कर माला यह शब्द समुदाय वृद्धिर्यस्याचामादिसु तद् वृद्धम् से वृद्धसंज्ञक हो जाता है । अर्द्ध न रहने से प्रस्थेऽवृद्धम् से पूर्वपद आगुदात्त प्राप्त नहीं था उसके विधान के लिए मालादीनां च (६।२।८८) यह चरितार्थ हो जाता है । अन्यथा माला शब्द वृद्ध संज्ञक न हो कर अर्द्ध ही रहता तो प्रस्थेऽवृद्धम् से ही उसमें स्वर सिद्ध था । यही व्याख्यान है । औतोम्शसो. में भी इसी प्रकार व्याख्यान से भा भोतः यह छेद समझा जाता है ।

तादपि परस्तपरः, “ऋदोरप्” इतीहेव स्यात्—यव. स्तर्, लव. पर इत्यत्र न स्यात् । नैप तकारः । कस्तर्हि । दकारः । किं दकारे प्रयोजनम् । अथ किं तकारे । यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपि । वृद्धिरादेच् ॥

इको गुणवृद्धी ॥ १ । १ । ३ ॥

इग्रहणं किमर्थम् ।

इग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥

इग्रहणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च ।

आकारनिवृत्त्यर्थं तात्—याता वाता । आकारस्य गुण प्राप्नोति । इग्रहणात् न भवति । सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति म्लायति । सन्ध्यक्षर-

है तो ऋदोरप् ( ३।३।५७ ) इस सूत्र से यव स्तव यहा ही अप प्रत्यय हो सकेगा, लव पव यहा नहीं । पर इस सूत्र में तकार नहीं है । तो क्या है ? दकार । दकारोच्चारण का क्या प्रयोजन है ? हम आप से पूछते हैं तकार उच्चारण का क्या प्रयोजन है । यदि सन्देहाभाव के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है । और यदि उच्चारण सौकर्य के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है । यहा वृद्धिरादेच् सूत्र की व्याख्या समाप्त हुई ॥

इको गुणवृद्धी ॥

इस सूत्र में इक का ग्रहण किस लिए किया है ?

(वा०) इक का ग्रहण आकार सन्ध्यक्षर और व्यञ्जन का निवृत्ति क लिये (किया गया है) ॥

इक् का ग्रहण किया है । प्रयोजन क्या है ?

आकार निवृत्ति के लिये, सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये तथा व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये ।

आकार की निवृत्ति के लिये इक ग्रहण अर्थवान् है—याता वाता । यहाँ आकार को गुण प्राप्त होता है । इक ग्रहण स रुक जाता है । सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण चाहिये ग्लायति म्लायति । यहाँ सन्ध्यक्षर को गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण

प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥

यदप्युच्यते—जनेऽवचनं ज्ञापकम्—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति । सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति । न च जनेर्गुणेन सिध्यति । कुतो हेतन्—जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरकारो वा स्यादोकारो येति अन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति । एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति । पर-रूपेण शुद्धो भविष्यति । एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वस्तव्यः । गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति । तस्मादिग्रहणं कर्तव्यम् ॥

कं प्रति (यदि गुण हो जाय) उपदेश अनर्थक हो जाता है, आच् आदि आदेशों का तो निमित्त ही है ।

यह जो कहा गया है कि जन् धातु से ङ विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि व्यञ्जन का गुण नहीं होता, (सो यह भी ज्ञापक नहीं) (प्रकारान्तर से) कार्य मिट्टि होते हुए जो विधि आरम्भ की जाती है वह (व्यर्थ होने से) ज्ञापक होती है । जन् को गुण करने से तो इष्टरूप सिद्ध नहीं होता । इसमें क्या हेतु है कि जन् के नकार के स्थान में अ गुण हो, ए अथवा ओ न हो ? (उत्तर) आन्तरतम्य में अर्धमात्रिक व्यञ्जन के स्थान में एकमात्रिक अ ही होना उचित है (द्विमात्रिक ए ओ नहीं) । पर अनुनासिक न् के स्थान में अनुनासिक अ होगा । (कोई हर्ष नहीं, अतो गुण में) पर-रूप होने (पर=शुद्ध प्रत्यय का अ ही रूप होने) से शुद्ध अकार मिल जाएगा । अच्छा यदि यह बात है (तो भी ज्ञापक नहीं बन सकता) यह ड उत्तरत्र अनुवृत्ति के लिए सार्थक है । अन्यत्रपि दृश्यते इस वचन से गम् में भी ड विधान किया जाता है । यदि गम् को गुण विधान किया जाय तो स्थान के आन्तरतम्य से (भोऽयं होने से) म् के स्थान में ओ होगा । अत इक् ग्रहण करना चाहिए ।

ग्लायते इत्यादि रूप नहीं बनेगे । इमलिप् ग्ल के स्थान में ग्ल ही पढ़ा जा सकता था वंता न पढ़े पर जो ग्ल पढ़ा है उसमें गुण का अभाव ज्ञापित होता है । आयादेश तो ग्ल पढ़ने पर ही प्राप्त हो सकता है । इस लिए ग्ल पढ़ने के मान्यत्व में आयादेश का अभाव नहीं हो सकता । हा ग्ले न पढ़े कर ग्ले पढ़ने में जैसे गुण का अभाव ज्ञापित होता है वैसे आदेश उपदेशोऽस्तीति में होने वाला जो ग्ल यह आत्व है उसका अभाव भी प्राप्त होता है वह न ध्यास्यापृमूर्तिमदाम् इस शतक से हक जाएगा ।

यदीग्रहणं क्रियते द्यौः, पन्थाः, सः, इमम् इति, एतेऽर्षीकः प्राप्नुवन्ति ।

सज्ञया विधाने नियम ॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः ।

किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । गुणवृद्धिग्रहण सामर्थ्यात् । कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम् । प्रकृत गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते । कः प्रकृतम् । “वृद्धिरादैजदेङ्गुणः” इति । यदि

यदि इक् ग्रहण किया जाता है तो दिव औन् ( ७११८४ ) दिव के इक् के स्थान में औ ( वृद्धि ) होनी चाहिए, पथिमःशुभनामात् ( ७११८० ) से पथिम के इक् के स्थान में औ ( वृद्धि ) होनी चाहिए, यदादीनाम् ( ७११९० ) से तद् में इक् न होने से अ ( गुण ) न हो सकेगा, तथा इदम् के द्वितीया णक्वचन में भी ।

( वा० ) जहां गुण वृद्धि शब्द उच्चारण करके गुण वृद्धि का विधान है वहां इक् के स्थान में वे गुण वृद्धि हों ऐसा नियम है ।

संज्ञापूर्वक जो गुण वृद्धि विधान किए जाते हैं उनमें यह नियम है ।

क्या इस वार्तिक रूप वचन के कहने की आवश्यकता है ? नहीं । बिना वचन किए इस नियम का कैसे बोध होगा ? इस सूत्र में गुणवृद्धिग्रहण के बल पर । पर यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण न करे ( अर्थात् इक् इतना ही सूत्र पड़े ) तो इक् के स्थान में गुणवृद्धि हों इस विधेय का लाभ कैसे होगा ? गुणवृद्धि का अधिकार ( प्रस्ताव, प्रारम्भ ) है तो इस सूत्र में गुणवृद्धि की अनुवृत्ति आती है ( उससे ) । वह कौन सा अधिकार ? वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः । ( यह सूत्र द्वय ) ।

१. पूर्व सूत्रों से गुण वृद्धि की अनुवृत्ति आने से गुणवृद्धि इक् के स्थान में होंगे, तो यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण किमलिए किया ? इसलिए कि जहां गुणवृद्धि-शब्दोच्चारण पूर्वक ( गुण हो, वृद्धि हो ) अदेङ्, आदैच् का विधान है वह इक् के स्थान में हो । ( अन्यत्र नियम नहीं । वहां अनिक के स्थान में भी गुणवृद्धि होने में कोई बाधा नहीं ) ।

२. इस प्रश्न का उत्थान इस तरह होता है—जब प्रकृतसूत्र में गुणवृद्धि शब्द संज्ञापूर्वक विधान में इनका नियमन करने में चरितार्थ=धीणशक्ति ही गए तब गुणवृद्धि का विधान कैसे होगा । अर्थात् उसके लिए अतिरिक्त गुणवृद्धि चाहिए ।

३. पूर्व सूत्र वृद्धिरादैच् में वृद्धि शब्द जैसे स्वरूपपदार्थक है ( संज्ञापरक है )

तदनुवर्तते अदेङ्गुणो वृद्धिश्च इत्यदेङां वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति ।  
सम्बन्धमनुवर्तिष्यते—वृद्धिरादैच् । अदेङ्गुणः इति वृद्धिरादैच् । ततः  
इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम् ।

अथवा मण्डूकगतयोधिसाराः । यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य  
गच्छन्ति तद्वदधिसाराः ।

अथवैकयोगः करिष्यते—वृद्धिरादैजदेङ्गुणः, तत इको गुणवृद्धी  
इति । न चेकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति ।

अथवा अन्यवचनाच्चकाराकरणाच्च प्रकृतापवादो विज्ञायते, यथो-  
त्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति । अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्च-  
कारस्य चानुकर्यणार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका  
भविष्यति । यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति ।

यदि ऐसा है तो अनेक गुणों में वृद्धि की अनुवृत्ति होने से अदेङ् की वृद्धिसंज्ञा भी  
प्रसक्त होती है । सम्बन्धमान ( जिस का आगे सम्बन्ध जुड़ता है ) की अनुवृत्ति  
होगी । पहले वृद्धिरादैच्, तदनन्तर अदेङ् गुण, तदनन्तर अनुवृत्त सूत्र वृद्धिरादैच्,  
तब इको गुणवृद्धी—इसमें केवल गुणवृद्धि की अनुवृत्ति होगी, आदैच् अदेङ् की  
निवृत्ति हो जायगी ।

अथवा अधिकार मेंदक की चाल चलते हैं, जैसे मेंदक उछल-उछल कर  
( थोड़ा-थोड़ा अवकाश छोड़कर पदन्यास करते हुए ) चलते हैं, ऐसे ही अधिकार  
( अर्थात् वृद्धि शब्द वृद्धिरादैच् सूत्र से चलकर बीच में आये अदेङ्गुणों को पकड़  
कर इस प्रकृत सूत्र इको गुणवृद्धी में आजाता है, गुण शब्द अनन्तरपूर्व सूत्र से  
चला आता है ) ।

अथवा वृद्धिरादैच् और अदेङ् गुणों को एकसूत्र के रूप में पढ़ा जायगा, तब  
इको गुणवृद्धी इसे पढ़ देगे । एक योग में अनुवृत्ति का सञ्ज्ञा ही नहीं ।

अथवा अन्य संज्ञा ( गुणसंज्ञा ) कहने से और पूर्वसूत्र में कही हुई संज्ञा  
( वृद्धिसंज्ञा ) के अनुकरण ( आगे को रेंच लाने ) के लिये चकार न पढ़ने से  
प्रकृत वृद्धि संज्ञा को गुण संज्ञा बाध लेगी, जिस प्रकार उत्सर्ग से प्राप्त हुए कार्य का  
अपवाद बाधक होता है ।

ऐसे ही अदेङ्गुण में अनुवृत्त हुआ हुआ भी । यहां अर्थाधिकार का आश्रयण है,  
शब्दाधिकार का नहीं ।

१. सम्बन्धन इति सम्बन्धं कर्मणि घञ् । आदैच् का मंजाभूत वृद्धि शब्द



अथवा वक्ष्यत्येतत्—‘अनुवर्तन्ते च नाम विधयः । न चानुवर्तना-  
देव भवन्ति । किन्तर्हि यत्नाद्भवन्ती’ति ।

अथवा उभयं निवृत्तम्—तदपेक्षिष्यामहे ॥

किं पुनरयमलोन्यशेषः, आहोस्विदलोन्यापवादः । कथं चार्यं  
तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः ।

यद्येकं वान्यम्—तच्चेदं च, अलोन्यस्य विधयो भवन्ति, इको  
गुणवृद्धी अलोन्यस्य इति । ततोयं तच्छेषः । अथ नानावक्ष्यम्—तच्चेदं  
च, अलोन्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य चानोन्यस्य च  
इति । ततोऽयं तदपवादः ।

कश्चात्र विशेषः ।

अथवा ( आचार्यं गोतर्दीय ) विभावा तिलमापोमाभङ्गाणुभ्यः ( ५१२।४ )  
में कहेंगे—पूर्वविधिवाक्यों की उत्तर विधिवाक्यों में अनुवृत्ति होती है, पर अनुवृत्ति  
मात्र से उन का सम्बन्ध नहीं बन जाता, जब तक सम्बन्ध-स्थापन के लिये यत्नविशेष  
न किया जाय । वहाँ विभावा ग्रहणरूप यत्न है और प्रवृत्त सूत्र में पुनः गुणवृद्धि  
ग्रहणरूप यत्न है ।

अथवा वृद्धिरादैच् तथा अदेङ् गुणः इन दोनों की स्वरितादिलिङ्ग के अभावा  
में निवृत्ति हो गई अब अपेक्षा-लक्षण लौकिक अधिकार का आश्रयण करेंगे ॥

अब यह विचार का विषय है कि क्या यह इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य का  
शेष है अथवा अलोन्यस्य का अपवाद है ।

यह किस प्रकार उसका शेष हो सकता है, और किस प्रकार उसका अपवाद ?

यदि (वह और यह) ये दोनों मिल कर एक वाक्य बनायें । पष्ठीनिर्दिष्ट के  
अन्त्य अल् को विधियो होती हैं, इको गुणवृद्धी को इसके साथ मिला कर इस प्रकार  
का एक वाक्य होगा—अन्त्य अल् इक् को गुण वृद्धि होते हैं । अब इको गुणवृद्धी  
अगेन्यस्य का शेष (अन्न) हो जाता है । यदि भिन्न-भिन्न दो वाक्य रहें—अन्त्य  
अल् के स्थान में विधियो होती हैं, इक् के स्थान में गुण वृद्धि होते हैं चाहे वह इक्  
अन्त्य हो अथवा अनन्त्य । तब यह अलोन्यस्य का अपवाद हो जाता है ।

इसमें क्या अन्तर है ?

अदेङ् गुणः यहाँ अनुवृत्त हो रहा है, यतः अदेङ् के साथ इस का सम्बन्ध बनता नहीं,  
अतः अनुवृत्त हुआ आदैच् को छोड़ देता है, जैसे कान्तार ( महारण्य ) के पार करने  
के लिये मार्थ का उपादान और पार करने पर उस का परित्याग ।

वृद्धिगुणाबलान्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदशि-  
क्षिप्रक्षुद्रेष्विग्रहणम् ॥

वृद्धिगुणाबलान्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदशि-  
ष्विग्रहणं कर्तव्यम् । मिद्रेगुणः इरु इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न  
प्राप्नोति । मृजेवृद्धिः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
पुगन्तलघूपधस्य गुणः इरु इति वक्तव्यम् अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
ऋच्छेल्लिटि गुणः इरु इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
ऋदशोडि गुणः इरु इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । क्षिप्र-  
क्षुद्रयोर्गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।

सर्वादेशप्रसङ्गस्थानिगन्तस्य ॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति । याता याता । किं कारणम् ।

(वा०) यदि वृद्धि और गुण अन्त्य अर् इक् के स्थान में होते हैं तो मिद्,  
मृज, पुगन्तलघूपध, ऋच्छ, दन्, क्षिप्र, क्षुद्र—इनके इक् को गुण हो ऐसा वचन  
करना पड़ेगा । मिद्रेगुण — यहाँ इक् के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये ।  
( इ ) यहाँ अन्त्य नहीं है अतः गुण की प्राप्ति नहीं । मृजेवृद्धि — यहाँ इक् के  
स्थान में वृद्धि हो ऐसा वचन करना पड़ेगा, इक ( ऋ ) यहाँ अन्त्य नहीं, अतः वृद्धि  
की प्राप्ति नहीं । पुगन्तलघूपधस्य च पुगन्त और लघूपध को सार्वधातुक आर्धधातुक  
प्रत्यय पर रहते गुण होता है सो अत्र यह न हो सकेगा, अतः इनके इक् के स्थान  
में गुण होता है ऐसा कहना चाहिये, इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । ( ऋच्छ )  
धातु को लिटि पर रहते ऋच्छवृत्ता गुण ( ७।४।११ ) इससे गुण विधान किया  
गया है, यहाँ वह इक् इक ( ऋ ) के स्थान में हो ऐसा कहना चाहिये, इक् ( ऋ )  
के अन्त्य न होने से प्राप्ति ही नहीं । ऋदशोडि गुण — इसमें अर् पर होने पर दन्  
को गुण विधान किया है, यहाँ इक ( ऋ ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये,  
क्योंकि इक् ( ऋ ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । क्षिप्रक्षुद्र शब्दों को ( ईयस्  
इष्टन, इमनिच् प्रत्ययों के पर रहते ) गुण विधान किया है, यहाँ भी इक् ( इ, उ )  
के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, कारण कि इक् के अन्त्य न होने से  
प्राप्ति नहीं ।

( वा० ) ने अत्र इगन्त नहीं है उग्र मारे के स्थान में गुण प्रयुक्त होता है ।  
जैसे याता याता में या, वा को गुण प्राप्त होता है ।

( इम प्राप्ति का ) क्या कारण है ?

‘अलोन्त्यस्य’ इति पृष्ठी च व ह्यन्त्यमिकमुपसत्रान्ता अङ्गस्येति च स्थानपृष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्ग तस्य गुण सर्वादेश प्राप्नोति ।

नैप दोष । यथैव ह्यलोन्त्यस्यति पृष्ठी अन्त्यमिकमुपसत्रान्ता एवमङ्गस्येत्यपि स्थानपृष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्ग तत्र पच्छव नास्ति कुतो गुण, कुत सर्वादेश ।

एव तहि नाय दोषसमुच्चय । किं तहि । पूर्वापक्षोय दोष । ह्यथे चाय च पठित — मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिन्नाशिक्षिप्रभुद्रेप्तिग्रहण सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य इति ।

मिदेर्गुण इक इति वचनादन्त्यस्य न अलोन्त्यस्य इति वचनादिको न । उच्यते च गुण । स सर्वादेश प्राप्नोति । एव सर्वत्र ॥

अस्तु तहि तदपवाद ।

तच्छप पथ म अलोन्त्यस्य इस पृष्ठी का अङ्ग क अन्त्य इक क साथ सम्बन्ध हो जाता है अङ्गस्य यह स्थानत्रयी है । अत्र वा अनिगन्त अङ्ग है ( वहाँ पृष्ठी का अन्त्य अल म उपसहार (सम्बन्ध) न होना स ) मि गुण इत्यादि म मिन् आदि ममुदाय के स्थान म गुण प्राप्त होता है ।

यह कोई दाप नहीं । जिस प्रकार अलोन्त्यस्य यह पृष्ठा अन्त्य इक में उपसहृत हो जाती है ( इक क साथ जुड़ जाती है ) इसी प्रकार अङ्गस्य यह स्थान पृष्ठी भी अन्त्य इक में उपसहृत हो जाती है । अत्र वा अनिगन्त अङ्ग है वहाँ पृष्ठी ( अर्थात् अन्त्य इक में उपसहृत पृष्ठी ) ही नहीं है ता तच्छप पथ म गुण की भी प्राप्ति नहीं रहती, सर्वादेश का ता क्या कहना ।

ता यहाँ पूर्व दाप स भिन्न एक और दाप दिया है ऐसा नहीं । ता कैस है ? पूर्व निदिष्ट दाप म यह हतुकथन ह । चकार यहाँ हि के अर्थ (हतु) में पटा है । इन दोनों वार्तिकों को एक वाक्य क रूप म इस प्रकार पटना चाहिए—मिदिमृजिपुगन्तलघूपधाच्छिन्नाशिक्षिप्रभुद्रेप्तिग्रहण सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य ।

मिदगुण यहाँ वा गुण विधान किया है वह गुण उद्धि इक के स्थान म होना है, इस वचन स अन्त्य इक के स्थान में नहीं हो सकता पृष्ठी निदिष्ट के अन्त्य अल के स्थान में काय होता है इस वचन स इक के स्थान म नहीं होता । पर भाचाय ने गुण विधान किया ह, (नास्त्र व्यथ न हा) इसलिए वह सार मिद् रूप अङ्ग क स्थान में होगा इसी प्रकार मृच भाद्रिक विषय में जानो । (अत यह व्यवस्थित हुआ कि इक का ग्रहण करना चाहिए) ।

अच्छा तो यह अलोन्त्यस्य का अपवाद हा ।

इद्मात्रस्यति च जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्यप्रतिषेध ॥

इद्मात्रस्येति च जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्य प्रतिषेधो वक्तव्य । जुसि गुण —स यथेह भवति अनुहवु अविभयु इति । एवम् अननितु पयवेत्रिपु अत्रापि प्राप्नोति । सार्वधातुकार्धधातुन्योगुण —स यथेह भवति—क्ता हता नयति तरति इति । एवम् ईहिता इहितम् इहितयम् इत्यत्रापि प्राप्नोति । ह्रस्वरूप गुण —स यथेह भवति—हे अग्ने हे वायो इति । एव हे अग्निचित् सोमसुद् इत्यत्रापि प्राप्नोति । जसि गुण —स यथेह भवति—अग्नया वायव इति । एवम् अग्निचित् सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति । ऋतो विसयनामस्थानयोगुण —स यथेह भवति—कर्तारि कर्तारौ कर्तार इति । एव सुवृति सुवृता सवृत इत्यत्रापि प्राप्नोति । घडिति गुण —स यथेह भवति—अग्नय वायवे इति । एवम् अग्निचिते सोमसुते इत्यत्रापि

( वा० ) यदि इक् मात्र ( अनन्त्य अथवा अनन्त्य इक् ) का गुण-वृद्धि हात है ( यही अपवाद पक्ष है ) ता जुस् परे रहते गुण सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय पर रहत गुण ह्रस्वादियों का गुण, उ क। गुण—इन विधियों में अनन्त्य इक् को भी गुण प्राप्त हाता है उसका प्रतिषेध करना चाहिए ।

जुस् प्रत्यय पर रहते जुमि च ( ७१३।८३ स ) नैम अत्रहवु , आवभयु में अनन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही अननितु , पयवेत्रिपु में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय पर रहत कर्ता हता नयति तरत में अनन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही इहिता इहितम् इहितयम् में अनन्त्य इक् को भी हाने लगगा ।

ह्रस्व को गुण नैमे हे अग्ने, हे वाया में अनन्त्य इक् का हाता है वैसे ही इ अग्निचित् इ सोमसुत् में अनन्त्य इक् ( चित् में इ, सुत् में उ ) का भी हाने लगगा ।

जसि प्रत्यय पर रहत नैम अग्नय , वायव में अनन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही अग्निचित् सोमसुत में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

ऋतो विसयनामस्थानयो ( ७१३।११० ) इस सूत्र स विहित गुण नैम कर्तार कर्तारौ कर्तार में अनन्त्य इक् ( ऋ ) का हाता है वैसे ही सुवृति सुवृता सुवृत में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

घडिति ( ७३।१११ ) इस सूत्र स नैम अग्नय वायव में अनन्त्य इक् ( उ ) का गुण हाता है वैसे ही अग्निचित् सोमसुत में अनन्त्य इक् ( चित् म इ, तथा सुत्

प्राप्नोति । ओर्गुणः—स यथेह भवति वाभ्रव्यो माण्डव्य इति । एवं सुश्रुत् सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

नैप दोषः ।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति । पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति ।

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात् । किं च प्रकृतम् । सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति । तेन भवेदिह नियमान्न स्याद् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इति । ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ।

अथाप्येवं नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति । एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति ।

मे उ ) को भी होने लगेगा ।

ओर्गुणः ( २।४।१४६ ) इस सूत्र से भसत्क के उ को जैसे वाभ्रव्यः, माण्डव्यः में ( जहाँ उ अनन्त्य है ) गुण होता है वैसे ही सुश्रुत् सोश्रुत में अनन्त्य इक् को भी गुण होने लगेगा ।

यह कोई दोष नहीं ।

( वा० ) पुगन्तलघूपध ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिए होगा । यदि अनन्त्य इक् को गुण हो तो पुगन्त और लघूपध अङ्ग के ही अनन्त्य इक् को हो और किसी अनन्त्य इक् को नहीं ( ऐसा नियम होगा ) ।

पर नियम प्रकृत का ही होगा ।

क्या प्रकृत है ?

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ( ७।३।८४ ) । इससे हो सकता है कि ईहिता, ईहितुम् ईहितव्यम्, में नियम की प्रवृत्ति होने से गुण न हो, पर (ह्रस्वम्य गुणः इत्यादि शास्त्र से) ह्रस्वादियों को जो गुण विधान है उसका नियम न होने से वह अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा ।

नियम इस प्रकार भी हो सकता है—पुगन्तलघूपध को यदि गुण हो तो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही हो । इस तरह भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते जो गुण विधि है उसका नियम न होगा । वह गुण अनन्त्य इक् के स्थान में भी होने लगेगा, अर्थात् ईहिता, ईहितुम्, ईहितव्यम् में गुण का प्रसङ्ग होगा ।

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्ध-  
धातुकयोः । सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति । एवमप्ययं  
जुमि गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति अनेनित्जुः पर्यवेविपुः इति ।

एव तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः । अन्यदेवेदं परि-  
भाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया ।

परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्टीयाः पठन्ति—

नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन ॥ इति ।

अथवा दोनो प्रकार का नियम होगा—पुगन्तलघूपध को ही सार्वधातुक आर्ध-  
धातुक प्रत्यय पर होने पर, पुगन्तलघूपध को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक  
प्रत्यय पर होने पर ही । ऐसा होने पर भी जुस् प्रत्यय पर रहते गुण का नियम न  
होगा । यह अनन्त्य इक को होने लगेगा ।

अतः दोनो पक्षो मे दोष होने से) न तो यह उसका दोष है और न अपवाद ।  
यह एक स्वतन्त्र परिभाषा है जो अलोन्त्यपरिभाषा से कुछ सम्यन्ध नहीं रखती ।

( इस पक्ष में क्रोष्टीय लोगों का समर्थन भी प्राप्त है ) । क्रोष्टीय लोग इसे  
परिभाषान्तर ( स्वतन्त्र परिभाषा ) मानकर ऐसा ( विप्रतिषेध वातिक ) पढ़ते हैं—

नियम ( अलोन्त्यस्य ) को बाधकर विप्रतिषेध से इको गुणवृद्धी शास्त्र की  
प्रवृत्ति होती है ।

१ अनेनित्जु में लघूपध अङ्ग है और सार्वधातुक प्रत्यय भी है, तो अनन्त्य  
इक को भी गुण की प्राप्ति है ।

पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र के उभयतो नियमार्थ मानने पर भी जहाँ सार्वधातुक  
आर्धधातुक तथा पुगन्तलघूपध दोनों ही नहीं है वहाँ का नियम न होगा तो हे विचम्य !  
हे शुद्धे ! शुद्धय वणं ह्रस्वस्य गुण तथा जमि च मे विचम्य मे पि के अनन्त्य इकार  
तथा शुद्धि मे शु के अनन्त्य उकार को गुण प्राप्त होता है ।

२ परिभाषान्तरम्—अन्तर=विरोध । अतः अन्यत् भी कहा और अन्तर भी ।  
पर्यावरण न होने से दोनों के एक साथ प्रयोग में कोई विरोध नहीं ।

३ असम्बद्धम्—न तो इन परिभाषाओं में दोष-दोषिभाव (= अज्ञातभाव,  
गुणप्रदान-भाव ) है और न उगर्गपवाद-भाव है ।

४ विधेय ( गुण वृद्धि ) के द्विव का सूत्र में आरोप बरके भयत मे द्विवचन  
। प्रयोग किया गया है ।

यदि चायं तच्छेषः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि तद-  
पवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । तत्र नियमस्यावकाशः—  
“राज्ञः क च” राजकीयम् । “इको गुणवृद्धी” इत्यस्यावकाशः—चयनं  
चायको लवनं लावक इति । इहोभयं प्राप्नोति—मेघति मार्ष्टति । इको  
गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन ।

नैवं युक्तो विप्रतिषेधः । “विप्रतिषेधे परम्” इत्युच्यते । पूर्वइचायं  
योगः, परो नियमः ।

इष्टवाचां परशब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति । एवमप्य-

यदि यह इको गुणवृद्धी उसका शेष हो, तो उसी के साथ इसका विप्रतिषेध  
( तुल्य बन्धविरोध ) युक्त न होगा । और यदि यह उसका अपवाद है, तो भी उत्सर्ग  
और अपवाद का विप्रतिषेध अयुक्त है । नियम ( अलोन्त्यस्य ) का अवकाश है—राज्ञ क च  
( राजन् से छ प्रत्यय हो और अन्त्य अल् न् को ककारादेश हो )—सिद्धरूप  
हुआ—राजकीयम् । इको गुणवृद्धी इसका अवकाश है चयन चायक लवन लावक ।  
यहां दोनों की प्राप्ति है—मेघति माष्टि । इको गुणवृद्धी इसकी प्रवृत्ति होती है  
विप्रतिषेध से ।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं । विप्रतिषेध होने पर परशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह  
सूत्र ( इको गुणवृद्धी ) तो पूर्व है, और नियम ( अलोन्त्यस्य ) पर है ।

परशब्द इष्टवाचां है । विप्रतिषेध होने पर पर जो इष्टरूप का साधक है  
बद होता है ।

तो भी यहां विप्रतिषेध युक्त नहीं । स्थानी का दो कार्यों के साथ योग होना  
विप्रतिषेध कहलाता है । यहां तो एक स्थानी को दो कार्यों के साथ योग ( दो कार्यों  
की प्राप्ति ) नहीं है ।

१ पूर्वाचार्य अलोन्त्यस्य को नियम-नाम से कहते हैं ।

२ अलोन्त्यपरिभाषा का यहां कुछ फल न होने से उसकी उपस्थिति नही, ऐसा  
आशय है ।

यद्यपि चायक लावक यहां अचोष्णिति से होनेवाली वृद्धि में अच् स्थानी के  
निर्दिष्ट होने से इक् परिभाषा की उपस्थिति अनावश्यक है तो भी वृद्धिग्रहण के लिये  
से अच् को विशेषण मान कर अन्सम्बन्धी जो इक् उसको वृद्धि हो इस प्रकार इक् की  
उपस्थिति मानने में कोई हानि नहीं ऐसा आशय है ।

युक्तो विप्रतिषेधः । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्य-  
युक्तः । नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किंतुहिं । असम्भवोपि । स  
चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । इह तावद् वृक्षेभ्यः पृक्षेभ्य इति ।  
एकः स्थानी, द्वावादेशौ, न चास्ति संभवः यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ  
स्याताम् । इहेदानीं—मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति द्वौ स्थानिनौ, एकादेशः,  
न चास्ति संभवः । द्वयोः स्थानिनोरेक आदेश स्यादित्येवोऽसम्भवः ।  
सत्यतस्मिन्नसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्वि-  
प्रतिषेधो भवति । अनवकाशश्चायं योगः ।

ननु चेदानीमेवास्यावकाशः प्रकृतः चयनं चायको लघनं लावक

यह कोई नियम नहीं कि दो कार्यों की युगपत् प्राप्ति ही विप्रतिषेध होता है ।  
तो क्या ? असम्भव भी विप्रतिषेध होता है । वह असंभव यहाँ है । वह असंभव  
वि-स्वरूप है ? इसका प्रथम निदर्शन है—क्षेभ्य, पृक्षेभ्य. । यहाँ सुपि न से यजादि  
सुप् प्रत्यय भ्यम परे होने पर अदन्त अङ्गरूप स्थानी को दीर्घ प्राप्त होता है और बहुवचने  
इत्येत् से उनी को ए प्राप्त होता है । यह सम्भव नहीं कि एक स्थानी को दो आदेश  
हों । द्वितीय निदर्शन है—मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति—यहाँ दो स्थानी हैं, एक आदेश है  
( इको गुणवृद्धी से मिद् का इ स्थानी है और अलोन्त्यग्य से मिद् का द् स्थानी है ।  
यह संभव नहीं कि दो स्थानियों को एक आदेश हो ) । सो इस प्रकार के असंभव  
के होने से विप्रतिषेध युक्त ही है ।

ऐसा होने पर भी विप्रतिषेध अयुक्त ही है, कारण कि अपने-अपने विषय में  
सावकाश ( अरितार्थ ) एतन्न युगपत्प्राप्त दो विधिसास्त्रों का विप्रतिषेध होता है ।  
यह योग ( इको गुणवृद्धी ) तो अनवकाश है ( इसका अलोन्त्यग्य—से अनवरत्न  
( न विरा हुआ ) स्वतन्त्र विषय नहीं है ) ।

अर्था अर्था अर्था इसका अवकाश दिलाया गया है—चयनं चायकः, लघनं

१ द्विकार्ययोग.—यह बहुव्रीहि है । द्वाभ्यां कार्याभ्यां योगो यस्य स्थानिनः  
स द्विकार्ययोगः । इसका विप्रतिषेध के साथ सामानाधिकरण्य इस तरह से हुआ कि  
विप्रतिषेध का विषय होने से स्थानी को ही विप्रतिषेध वह दिया है ।

२. एक साथ दो आदेश न हो सकने में हेतु यह है कि अ को दीर्घत्व अनन्तर  
यम् परे होने पर विहित है और एत् अनन्तर इत् परे होने पर । अब यह संभव नहीं  
कि इन दोनों कार्यों का अपने-अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य हो ।



इति । अत्रापि नियमः प्राप्नोति । नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते । यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि कथंचिद् “इको गुणवृद्धी” इत्यस्यावकाशः स्यात्, एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति मेघति, मेघत., मेघन्ति इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः, पर्यवे-  
विपरिति ।

एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र नूयाद् इक् इत्येतत्त्रोप-  
स्थितं द्रष्टव्यम् । किं कृतं भवति । द्वितीया पृष्ठी प्रादुर्भास्यते । तत्र  
कामचारः, गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम् । यावता  
कामचारः, इह तावन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्छिदृदिक्षिप्रश्रुट्रेपु गृह्यमाणमिक  
विशेषयिष्यामः—एतेषां य इगिति । इहेदानां जुसि सार्वधातुबार्धधातुक

लावक । यहाँ भी अलोन्यस्य की प्राप्ति है । इसकी प्राप्ति होने पर ही इका गुणवृद्धा  
इस सूत्र का आरम्भ है । चूँकि अलोन्यस्य की प्राप्ति होने पर ही इसका आरम्भ  
होता है अतः येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य वाचको भवति इस न्याय  
से यह इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य का अपवाद उहरता है और उत्सर्ग और अपवाद  
का विप्रतिषेध युक्त नहीं । और यदि किसी प्रकार ( ज्यों त्यों अर्थात् अलोन्यस्य  
की प्रवृत्ति का कुछ फल न होने से उसकी अप्रवृत्ति मानकर ) इको गुणवृद्धा इसका  
स्वतन्त्र अवकाश मिल जाय, तो भी जैसे पूर्व विप्रतिषेध से मेघान्, मेघत,  
मेघान्ति में इक् को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजु, पर्यवेविपु में भी इक् को  
गुण होने लगेगा ।

(अत्र सिद्धान्त पक्ष कहते हैं) तो ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ सूत्रकार  
यह कहे वृद्धि हो, गुण हो, वहाँ इक् यह पद उपस्थित हो जाता है (इसे पदोप-  
स्थिति पक्ष कहते हैं) ऐसा समझना चाहिए ।

इससे क्या होता है ?

एक दूसरा पञ्चम्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । ऐसा होने पर यह स्वेच्छाचार  
है कि चाहे हम गृह्यमाण (सूत्र में पडे हुए पञ्चम्यन्त) पद को विशेषण मानकर  
इक् को उसका विशेष्य मानें, अथवा इक् को विशेषण तथा गृह्यमाण पञ्चम्यन्त पद  
को विशेष्य (पहली अवस्था में अज्ञस्य यह अवयव पृष्ठी होगी । दूसरी अवस्था में  
अज्ञस्य स्थानपृष्ठी होगी और इक् के विशेषण होने से तदन्तविधि होगी, अर्थात्  
इगन्त अज्ञ को कार्य होगा) । इससे सर्वेष्टसिद्धि हो जायगी । मिदिमृजिपुगन्त-  
इत्यादि वातिक में पडे हुए शब्दों से इक् को विशिष्ट करेंगे, अर्थ होगा—इनका जो  
अवयव इक् उसे गुण होता है । जुमि सार्वगतुक० इत्यादि में इक् स गृह्यमाण

इन्वाद्योगुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति, 'इकः' इगन्तानामिति ।

अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानी निर्दिश्यते । इह तावन्मिदेरित्यभिभक्तिको निर्देशः, मिद् ए मिदेरिति । अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिदः इः, मिदि, मिदेरिति ।

पुगन्तलघूपधस्येति । नैवं विज्ञायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति । कथं तर्हि । पुङ्क्ति अन्तः पुगन्तः, लघ्नी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चेतदेवं विशेष्यम्, अङ्ग-विशेषणे सर्ताह प्रसज्येत भिनत्ति छिनत्तीति ।

ऋच्छेरपि प्रदिलष्टनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ऋताम्=ऋच्छत्यु-ताम् इति ।

( पठे हुए स्थानी ऋच्छे ) को विशेष करेगे—अर्थ होगा इनको गुण होता है, इग्विशेष अर्थात् इगन्तों को ।

अथवा इन समयमें स्थानी का निर्देश पहले से ही हुआ है । ( कैसे ? ) मिद् को ही पहले लीङ्ग । यहाँ मिदे में मिद् अभिभक्तिक निर्देश है और एः इ का पञ्चम रूप है । अथवा मिदः यह षष्ठी समास समझना चाहिए—मिद इः ( मिद् का इकार ) मिदि, उसका पञ्चम रूप हुआ—मिदेः । ( इस प्रकार यहाँ स्थानी इक ( इ ) का स्पष्ट निर्देश है ।

पुगन्तलघूपधस्य— यहाँ भी स्थानी निर्दिष्ट है ( कैसे ? ) पुगन्त और लघूपध अङ्ग का ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु पुक् पर होने पर (पुक् आगम वाले) अङ्ग के अन्य अक्षर का और लघ्नी उपधा का, ऐसा अर्थ है । ( लघूपधा यह विशेषणविशेष्य समास है ), पीछे पुगन्तश्च लघूपधा च इन दोनों का समाहार द्वन्द्व पुगन्तलघूपधम् ऐसा हुआ । उसका पञ्चमरूप है पुगन्तलघूपधस्य । अवश्य ऐसा विशेष समझना चाहिए, कारण कि यदि लघूपध अङ्ग का विशेषण हो तो भिनत्ति छिनत्ति में भी गुण प्रसक्त होगा ।

ऋच्छि ( धातु ) में भी स्थानी का प्रदलेय से निर्देश है—ऋच्छति ऋश्च ऋताम्=ऋच्छत्युताम् ।

१ यदि पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र में लघ्नी उपधा लघूपधा तस्या गुणो भवति इम प्रकार स्थानी का निर्देश मानने तथा ऋच्छेय पत्र के आश्रयण से बड़ी इत् परिभाषा ही उपस्थिति नहीं मानी जाएगी तो लघूपधगुण के इच्छा न होने से भिन्नम् छिन्नम् में शिष्टति च में गुण का विशेष नहीं प्राप्त होगा तो इसका उत्तर है—असिगृधि-

दशेरपि यागविभागः करिष्यते—“उरङ्ङि गुणः” उः अङ्ङि गुणो भवति ततो “दशोः” दशोश्चाङ्ङि गुणो भवति । उरित्येव ।

क्षिप्रधुद्रयोरपि “यणादिपरं गुणः” इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेव सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—इको यथा स्यादनिको मा भूदिति ।

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम् । किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोच्यते न पुनर्गुणग्रहणमपि । यदि किञ्चिद्गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भावितुमर्हति । को वा विशेषः ।

अयमस्ति विशेषः । गुणविधौ न ऋचिस्थानी निर्दिश्यते । तत्रावश्य स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम् । वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी

दशि ( दश् धातु ) के विषय में योगविभाग से स्थानी की लब्धि हो जाएगी ऋशोऽङ्ङि गुण इस सूत्र का इस प्रकार विभाग करेंगे—उरङ्ङि गुण ऋ को अङ् प्रत्यय पर रहते गुण होता है । तब पढ़ेंगे दशोश्चाङ्ङि गुण । इसमें पूर्व योग से ऋ की अनुरुक्ति आएगी, अर्थ होगा—श् को अङ् पर रहते गुण होता है और वह उसके ऋ को हो ।

स्थूलदूरयुवधुद्रक्षिप्राणा यणादिपर पूर्वस्य च गुण ( ६।४।१५६ ) यहा भी धुद्र और क्षिप्र के विषय में स्थानी का निर्देश किया हुआ है । यहा यणादिपर गुण ऐसा न्यास करने से भी लोप और ( उ, इ को ) गुण हो जाते, फिर जो पूर्व ग्रहण किया है उसका प्रयोजन यह है कि गुण इक् को हो, इक् से भिन्न ( व्यन्जन ) को न हो ।

अब यह विचार का विषय है कि इको गुणार्द्धों में उाद् ग्रहण का क्या प्रयोजन है । यह प्रश्न वृद्धि ग्रहण के विषय में ही क्यों करते हो गुण ग्रहण के विषय में भी क्यों नहीं करते ? यदि सूत्र में गुण ग्रहण का कुछ प्रयोजन है, ( ऐसा समझते हो ) वही वृद्धि ग्रहण का भी हो सकता है । अथवा इनमें क्या अन्तर है ?

यह अन्तर है—गुण विधि में स्थानी का निर्देश किसी स्थल में हुआ है किसी में नहीं भी हुआ । वहां स्थानी ( इक् ) के निर्देश के लिए गुण ग्रहण अवश्य ही करना चाहिए । वृद्धि विधि में तो स्थानी प्रायः सर्वत्र निर्दिष्ट है—जैसे अन्वाग्निगति

धृषिक्षिपे. वनुः यहा वनु प्रत्यय को और हलन्ताच्च से सन् प्रत्यय को जो कित् किया है उस ज्ञापक से इग्लक्षण न होने पर भी लघूपधगुण का निषेध हो जाएगा । अन्यथा गृध्नु विभित्सति यहा वनु सन् प्रत्ययों में लघूपधगुण के इग्लक्षण न होने से विडम्बित च से निषेध की प्राप्ति ही नहीं तो कित् करना व्यर्थ है ।

निर्दिश्यते “अचोऽङ्गिति” “अत उपधायाः” “तद्धितेष्वचामादेः” इति ।

अत उत्तरं पठति—

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते । किमर्थम् । उत्तरार्थम् । “किडति” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । स वृद्धेरपि यथा स्यात् ।

कदचेदानीं किडत्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः । यावता “ङ्गिति” इत्युच्यते ।

तच्च मृज्यर्थम् ॥

मृजेर्बृद्धिरविशेषणोच्यते । सा किडति मा भूत्—मृष्टः मृष्टवानिति ।

इहार्थं चापि ॥

इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । मृजेर्बृद्धिरविशेषणोच्यते संको यथा स्यात्, अनिको मां भूदिति ।

( ७१२।११५ ) अत उपधाया ( ७१२।११६ ), तद्धितेष्वचामादे ( ७१२।११७ ) में, सो वृद्धि ग्रहण के विषय में प्रश्न युक्त ही है ।

इसका उत्तर धातिकाकार पढ़ते हैं —

( वा० ) वृद्धि ग्रहण उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है ।

वृद्धि ग्रहण क्या है । किस लिए ? उत्तर सूत्र के लिए । किडति च इससे प्रतिषेध कहेंगे, वह प्रतिषेध जैसे गुण का है वैसे वृद्धि का भी हो ।

पर किडत्प्रत्यय पर रहते वृद्धि का कौन सा प्रसङ्ग ( अस्सर ) है क्योंकि वृद्धि की प्राप्ति णिन्, णिन् प्रत्यय पर होने पर होती है ।

( वा० ) यह वृद्धि ग्रहण मृजि के लिए ( मृज् धातुविषयक वृद्धि निषेध के लिए ) है ।

मृज् धातु को सामान्यरूप से ( प्रत्यय-विशेष का आश्रयण किण्विना ) वृद्धि विधान की है । वह वृद्धि किडत् प्रत्यय पर होने पर न हो—मृष्ट, मृष्टवान् ।

( वा० ) यहाँ = मृजि वृद्धि के लिए भी ।

यहाँ अर्थात् मृजेर्बृद्धि के लिए भी वृद्धि ग्रहण करना चाहिए । मृज् को वृद्धि सामान्यरूपेण अर्थात् ( इष्ट ) स्थानों का उच्चारण किण्विना विधान की गई है । वह इक् को हो, इक्-भिन्न को न हो, इस लिए इसी गुणवृद्धि में वृद्धि ग्रहण इक् पद की उपस्थिति के लिए मफल है ।

१. अनेन्य परिभाषा से अन्त्य के स्थान में वृद्धि होगी, अन्य यहाँ ज् है—यद् अनिप्रत्यय है ।

मृत्युर्थमिति चेद्योगविभागात्सिद्धम् ॥

मृत्युर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते—“मृजेर्बुद्धिरचः” । ततः  
“ङिति” ङित णिति च वृद्धिर्भवति ‘अचः’ इत्येव ।

यद्यचो वृद्धिरच्यते, न्यमाद् अटोपि वृद्धिः प्राप्नोति ।

अटि चोक्तम् ॥

किमुक्तम् । ‘अनन्त्यविकारेऽनन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति’ इति ।

वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक्प्रकरणात् [ तस्मादिग्लक्षणा वृद्धि ]

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते । किं कारणम् । इक्प्रकरणात् । इग्ल-

(वा०) मृज् के इक् को वृद्धि हो इस लिए वृद्धि ग्रहण किया है यदि ऐसा कहते हो तो वह तो कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि योगविभाग से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा ।

मृज् के लिए यदि कहते हैं, तो यहाँ योगविभाग कर लेंगे—मृजेर्बुद्धिरच, ऐसा एक योग पढ़ेंगे ( अर्थात् अगले सूत्र का अच इस पूर्व योग के साथ पढ़ेंगे ), इसके अनन्तर ङिति यह पढ़ देंगे । इसमें पूर्व योग से अच. की अनुवृत्ति आ जायगी ।

यदि यहाँ वृद्धि अच् को विहित है ऐसा कहते हो तो लावस्था में ही अट् (आगम) होने पर पश्चात् अच् के स्थान में होने वाली वृद्धि अट् को भी होने लगेगी ।

(वा०) अट के विषय में उत्तर दिया जा चुका है । क्या ?

यह न्याय है कि जब दो अनन्त्य स्थानियों को आदेश प्राप्त होता हो तो उस अनन्त्य के स्थान में आदेश हो जो अनन्त्य के समीप हो । ( इससे अनन्त्य ज् के समीपवर्ती ञ् को ही वृद्धि होगी ) ।

(वा०) वृद्धि का प्रतिषेध तो उपपन्न नहीं होता, इक् का प्रस्ताव ( प्रक्रम= प्रकरण ) होने से ।

वृद्धि का प्रतिषेध तो नहीं बनता । क्या कारण है ? इक् प्रकरण होने से ।

१. लावस्था में ही अट् करने पर अट् सहित मृज् भी मृज् ही है, अतः मृजेर्बुद्धिरचः इस योग से अट् के अ को भी वृद्धि होने लगेगी ।

क्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिर्भवति । तन्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या ।

एव तर्हि—इहान्ये वैयाकरणे मृजेरजादौ सश्रमे विभाषा वृद्धिमार भन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु परिममृजन्तु परिममार्जन्तु रिन्याद्यर्थम् । तदिहापि साध्यम् । तस्मिन्साध्ये योगविभागः परिष्यते मृजेवृद्धिरचो भवति । तत्र “अचि क्ठिति” अजादौ च क्ठिति मृजेवृद्धिर्भवति । परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जन्तुः ।

किमर्थमिदम् ।

नियमार्थम्, अजादाय च क्ठिति नान्यत्र । फ्यान्यत्र मा भूत् । मृष्ट-मृष्टयानिति । ततो “चा” वाऽचि क्ठिति मृजेवृद्धिर्भवति । परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजन्तु परिममार्जन्तुरिति ।

क्ठिति नाम्न इव स्थानिक गुणवृद्धि का प्रतिषेध करता है । पर ऊपर कहें हुए योग विभाग म मृज की वृद्धि इग्लक्षणा इक् को निमित्त मान कर न होगी, अतः कि न म इम अत्र लक्षणा वृद्धि का निषेध न हो सकेगा । इस लिए निषेध की सिद्धि के लिए स्थानी के लार्थ यहा इक् परिभाषा की उपस्थिति स्वीकार करना चाहिये ।

इस पर इक् परिभाषा की अनुपस्थिति सूचित करत हुए एकदमी कहता है—गतिनि म अतिरिक्त वैयाकरण यहा अर्थात् मृज क विषय में अजादि सदृश्रम में अथान गुण-वृद्धि-प्रतिषेधक अजादि क्त्, क्त् प्रत्यय पर होने पर विकल्प से वृद्धि का स्थान करत है । उदाहरण—परमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु, परिममृजन्तु, परिममार्जन्तु । यह वैकल्पिक वृद्धि पाणिनीय लोगों को भी दृष्ट होने से साध्य है । हमके साधन के लिए योगविभाग करेगा—मृजेवृद्धिरचो ऐसा पड़ेगा, तदनन्तर अत्र क्ठिति ऐसा पड़ेगा । अर्थ होगा—अजादि क्त्, क्त् प्रत्यय पर होने पर भी मृज को वृद्धि होनी है । परिमार्जन्ति, परिमार्जन्तु परिममार्जन्तु ।

तो इस योगविभाग का क्या प्रयोजन है ?

यह उभर योग नियमार्थ रहेगा—अजादि ही क्त् पर प्रत्यय पर होने पर वृद्धि हो ।

और कहीं न हो—मृष्ट मृष्टवान् (यहां क्त् लक्ष्य क्त् है पर अजादि नहीं) ।

हमके अनन्तर या यह श्रुत्यक योग पड़ेगा, पूर्वमूत्र से अचि क्ठिति की अनुवृत्ति आगयी जिससे दृष्ट वैकल्पिकरूप—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजन्तु परिममार्जन्तु सिद्ध हो जायेंगे ।

इहार्थमेव तर्हि सिचिर्न वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । सिचि वृद्धिरविशेषेणो-  
च्यते सेको यथा स्याद् अनिको मा भूदिति । कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति ।  
अकारस्य । अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत् । नैतदस्ति । लोपोत्र बाधको भविष्यति ।  
आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत् अवासीत् । नास्त्यत्र विशेषः सत्यां  
वृद्धावसत्यां वा । सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति । नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति ।

अच्छा तो जैसे मृजि के लिए जैसे सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु ( ७।२।१ )  
से विधीयमान वृद्धि इक्स्थानिक हो इसके लिए इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण  
करना चाहिए । कारण कि सिचिनिमित्तक वृद्धि सामान्येन=स्थानिविशेष का  
आश्रयण किए बिना विधान की गई है, वह इक् के स्थान में हो, इक्-भिन्न के  
स्थान में न हो ।

पर सिचि वृद्धि कौन से अनिक के स्थान में प्राप्त होती है ?

अकार के स्थान में । अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत्—यहाँ ।

नहीं, अतो लोप आर्धधातुके से अचिकीर्षि, अजिहीर्षि इन सन्नत अङ्गों के अन्त्य  
अ का लोप इस वृद्धि का बाधक होगा ।

अच्छा तो आकार के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है—अयासीत्, अवासीत्—  
यहाँ ।

यहाँ वृद्धि हो अथवा न हो, कुछ अन्तर नहीं पड़ता ( रूप एक ही  
रहता है ) ।

सन्ध्यक्षर को वृद्धि प्राप्त होती है ।

पर अस्य ( वृद्धियोग्य ) सन्ध्यक्षर मिलेगा ही नहीं ।

१. एव यहा अपि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

२. यह अपवाद होने से सक् और इद् आगम पहले हो जायेंगे, तब आकार  
अन्त्य नहीं रहेगा सो सिचिवृद्धि न हो सकेगी, यह परिहार भी दिया जा सकता  
था—कैयट ।

३. यदि कहे गो शब्द से आचार क्विन् करने पर गौरिवाचारीत् अगवीन् यहा  
नामधातु में गो यह सन्ध्यक्षर अन्त्य है जिसे वृद्धि सम्भव है तो उसका उत्तर है  
सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु में ऋत इद्वातोः से धातु ग्रहण की अनुवृत्ति करके शुद्ध धातु  
रूप जो धातु है उसे वृद्धि मानी जायगी । पीठे धातु बने नामधातु में सिचि वृद्धि न  
होगी । उससे अगवीन् में दोष न होगा ।

ननु चेदमस्ति ढलोपे कृते उदयोढाम् उदयोढम् उदयोढेति । नेतदस्ति । असिद्धो ढलोपः । तस्यासिद्धत्वान्नेतदन्त्यं भवति । व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति अमैत्सीत् अच्छेत्सीत् । हलन्तलक्षणा वृद्धिर्वाधिका भविष्यति यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते "नेटि" इति अक्रोपीत् अमोपीन् । सिचि वृद्धेरप्येप प्रतिषेधः । कथम् । लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठते ।

अजी ऐसा सन्ध्यक्षर यहाँ उदयोढाम्, उदयोढम्, उदयोढ में ढलोप होने पर मिलता है ( उसे वृद्धि का प्रसन्न है ) ।

नहीं, ऐसा नहीं । ढलोप के असिद्ध होने से पहले हलन्तलक्षणा वृद्धि होगी, तब ढलोप के होने पर उस के असिद्ध होने से ओंकार अन्त्य न होगा, अतः उसे सिचि वृद्धि से वृद्धि न होगी ।

तो व्यञ्जन के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है । अभैम्नात्, अन्टैसीत् यहाँ हलन्तलक्षणा वृद्धि इस वृद्धिकी वाधिका होगी ।

पर जहाँ हलन्तलक्षणा का निषेध है नेटि ( ७११४ ) इस सूत्रसे जैसे अक्रोपीत् अमोपीन् ( वहाँ व्यञ्जन को ही हो जाएगी ) ।

नेटि प्रतिषेध हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही नहीं, सिचि वृद्धि का भी है । यह कैसे ?

लक्षण ( सूत्र, शास्त्र ) का स्वभाव है कि वह ( अव्यक्त रूप से ) ध्वनन करता हुआ सर्वत्र व्यापृत होता है, अतः एव किसी एक लक्ष्य में ही विधान्त नहीं हो जाता ।

१. नेटि यह शास्त्र सामान्यरूप से इडादि परस्मैपद-परक सिच् परे होने पर हलन्त को जो भी कोई वृद्धि प्राप्त होता है उस सबका निषेध करता है । अव्यक्त= निर्विशेष रूप से कथन को ध्वनन करते हैं । यहा भी नेटि हलन्त-लक्षणा वृद्धि का ही निषेध करता है ऐसी व्यक्ति ( स्पष्टता ) नहीं । ऐसा हो सकता है कि शास्त्र की प्रतिषेध्य विषय में प्रवृत्ति होने से चरितार्थता होने पर दूसरे प्रतिषेध्य विषय में उसकी प्रवृत्ति न हो, अतः कहा है—भ्रमति अयात् सर्वत्र व्यापृत होता है । यह भी हो सकता है कि जब यह ( शास्त्र ) एक के निषेध में व्यापृत हो रहा है उसी काल में द्वितीय विधि प्रवृत्त हो रही है और प्रवृत्त हुए विधि का निषेध हो नहीं सकता,



अथवा “सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु” इति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्वाधिका । तस्या अपि “नेटि” इति प्रतिषेधः ।

अस्ति पुन न्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोपि न भवति । अस्तीत्याह—सुजाते अद्वसूनृते, अध्वर्यो अत्रिभि सुतम्, शुक ते अन्यदिति । पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽयादयोपि न भवन्ति ।

उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थ वृद्धिग्रहण कर्तव्यम् । सिचि वृद्धिरविशे-

अथवा सि च वृद्ध परस्मैपदेषु इससे सामान्य रूप से सिच को निमित्त मानकर परस्मैपद प्रत्यय पर होने पर वृद्धि प्राप्त होती है । इस हलन्तलक्षणा वृद्धि बाधती है और इस हलन्तलक्षणा का नेटि यह प्रतिषेध करता है ।

क्या कहीं अन्यत्र भी ऐसा होता है कि अपवाद का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति न हो ? हाँ होता है, देखिये सुजाते अवसूनृते अध्वर्यो अत्रिभि सुतम्, शुक ते अन्यदिति । यहाँ प्रकृतिभाव से पूर्वरूप का निषेध हो जाने पर अयादि आदेश भी नहीं होते ।

अच्छा तो उत्तरार्थ ही अर्थात् सिचि वृद्धि क लिये इका गुणवृद्धा मे वृद्धि ग्रहण करना चाहिये । सिचिवृद्धि सामान्यरूपेण ( बिना प्रत्यय विशेष का आश्र-

अत कहा है शास्त्र मुहूर्तमपि इत्यादि । भाव यह है कि दोनों स्थानों में युगपत् (एक साथ) व्यापार होता है । और वह शब्दवृद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव इस न्याय के बल पर ।

१ अपवादे प्रतिषिद्धेषु उत्सर्गो न भवति यदि कश्चि किर तो वृद्धों में वृद्धि के अपवाद पूर्वसवर्ण दीर्घ के नाद्विचि से प्रनिषिद्ध हो जाने पर फिर वृद्धिरेचि यह उत्सर्ग कार्य नहीं होना चाहिए तो उसका उत्तर है—वहा सघोदृघौ०, तौ सत् इत्यादि शापकों से उत्सर्ग कार्य की पुन प्रवृत्ति हो जायगी ।

२ नान्त पादमव्यपरे ऐसा सूत्र पाठ मानकर यह कहा है । प्रकृत्याऽन्त पादमव्यपरे ऐसा न्याय स्वीकार करने पर तो उत्सर्ग एचोऽयवायात्र और तदपवाद एड पदान्तादिति—इन दोनों का निवृत्ति प्रकृत्या—सूत्र से ही जाता है । न कि अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध ।

३ भ्रष्टावसर न्याय से ।

पेणोच्यते सा षडिति मा भूत् न्यनुवीत् न्यधुवीत् । नैतदस्ति प्रयोजनम् ।  
 अन्तरङ्गत्वाद्ब्रोवड्भादेशे कृतेऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति । यदि तर्हि  
 सिच्यन्तरङ्गं भवति—अकार्पात् अहार्पात्, गुणे कृते रपरत्ये चानन्त्यत्वाद्  
 वृद्धिर्न प्राप्नोति । मः भूदेवम् । “हलन्तस्य—” इत्येवं भविष्यति । इह तर्हि  
 न्यस्तारीत् न्यदारीत् । गुणे कृते रपरत्ये चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति ।  
 हलन्तलक्षणायाश्च “नेटि” इति प्रतिषेधः । मा भूदेवम् । लान्तस्य इत्येवं

यण किये ), प्रधान की गई है, वह किन् टिन् प्रत्यय परे होने पर न हो, यथा  
 न्यनुवीत् न्यधुवीत् में नहीं होती ।

यह कोई प्रयोजन नहीं ।

उवड् आदेश अन्तरङ्ग है वृद्धि बहिरङ्ग है, उवड् आदेश हो जाने पर अङ्ग के  
 अजन्त न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं रहती ।

यदि सिच् प्रत्यय परे होने पर अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो तो  
 अकार्पात् अहार्पात्—यहाँ ( अन्तरङ्ग ) गुण हो जाने पर रपर होने पर अच् के  
 अनन्त्य होने से ही सिचि वृद्धि नहीं होगी ।

सिचि वृद्धि मत हो हलन्तल णा वृद्धि हो जाएगी ।

अच्छा तो न्यस्तारीत् न्यदारीत् में ( अन्तरङ्ग गुण और रपरत्व होने पर अच्  
 के अनन्त्य न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति नहीं और रही हलन्तलक्षणा, उसका  
 प्रकृत में नेटि से निषेध हो जाता है ।

१ न्यनुवीत्—निपूर्व णू स्तवने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप ।

२ न्यधुवीत्—निपूर्व धू विधूनने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप ।

३ उवड् आदेश को इडादि मिच् की ही अपेक्षा है, वृद्धि को सिच् और  
 परस्मैपद—इन दोनों की । अतः उवड् आदेश अपापेक्ष होने से अन्तरङ्ग है ।

४ अनन्त्यत्वान्=अचोऽनन्त्यत्वात् । यद्यपि इक् परिभाषा की अनुपस्थिति में  
 सिचिवृद्धि अन्त्य अल् मान को प्राप्त होती है, तथापि हलन्तलक्षणा वृद्धि द्वारा बाधित  
 होने से इसका अजन्त अङ्ग ही विषय रह जाता है । अतः अनन्त्य अच् के न होने से  
 ऐसा कहा ।

५. न्यस्तारीत्—निपूर्वक स्तून् आच्छादने का लुङ् में रूप ।

६. न्यदारीत् निपूर्वक दृ विदारणे का लुङ् में रूप ।

भविष्यति । इह तर्हि अलावीत् अयावीत् । गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति । हलन्तलक्षणायाश्च “नेटि” इति प्रतिषेधः । मा भूदेवम् । “लान्तस्य” इत्येवं भविष्यति । “लान्तस्य” इत्युच्यते, न चेद् लान्तम् । “लान्तस्य” इत्यत्र वकारोपि निर्दिश्यते । किं वकारो न श्रूयते । लुप्तनिर्दिष्टो वकारः । यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् । अत्रापि प्राप्नोति । अविमन्वोर्नेति वक्ष्यामि । तद्वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । णिश्चिभ्यां तौ निमातव्यौ<sup>३</sup> । यद्यप्येतदुच्यते । अथ तैर्हि णिश्चिभ्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति । गुणे कृतेऽवादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति ।

सिचि वृद्धि मत हो, अतो लान्तस्य ( ७१२ ) इससे यहाँ वृद्धि हो जाएगी । अच्छा अलावीत्, अयावीत् — यहाँ ( अन्तरङ्ग ) गुण होने पर अवादेश हो जाने पर अच् अन्य न मिलने से सिचि वृद्धि न होगी । हलन्तलक्षणा का प्रकृत में नेटि से निषेध प्राप्त है ।

सिचि वृद्धि मत हो, अतो लान्तस्य से यहाँ वृद्धि हो जाएगी । पर सूत्र में लान्तस्य ऐसा पड़ा है, यहाँ तो अङ्ग न लान्त है और न रान्त, किताई अवादेश हो जाने से वान्त है । व भी यहाँ निर्दिष्ट होकर पीठे लोपो व्योर्बलि से लुप्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये ।

यदि ऐसा मानते हो तो अनिष्ट प्रसङ्ग होता है मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् यहां भी वृद्धि प्राप्त होती है ।

इसके धारण के लिये अविमन्वोर्ने ऐसा निषेध वचन पड दूँगा ।

तो क्या ऐसा अपूर्व वचन पढना होगा ?

नहीं, ह्यन्तलक्षण—” ( ७१२ ) इत्यादि सूत्र में णि चि के स्थान में भव् और मव् को पढ़ दिया जायगा । यद्यपि ऐसा कहा जाय तो भी गौरव कुछ भी नहीं, परन्तु लाघव है—णि चि का सूत्र में प्रतिषेध नहीं करना पडता । अन्तरङ्ग गुण हो जाने पर अवादेश होने पर अङ्ग के यान्त होने से ही निषेध सिद्ध होगा ।

१. अयावीत्—यु मिश्रणामिः ण्यो आदादिक का लुङ् में रूप ।

२. (अ) मवीत्—मव्—बन्धने ष्वादि ५० माङ् के योग में अडागम का लोप होने पर लुङ् में रूप ।

३. निमातव्यौ—निपूर्वक मेङ् प्रणिदाने भौवादिक से नव्य प्रत्यय । इस धातु का नि के बिना प्रयोग दुर्लभ है ।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति' यद्यम् "अतो हलादेर्लघो" इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अकारग्रहणस्यै-  
तत्प्रयोजनम्—इह मा भूत्—अकोपीत् अमोपीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद्  
अकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति।  
पश्यति त्वाचार्यो न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति, ततोऽकारग्रहणं करोति।

नेतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। निम्।  
यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तद्धमेतत् स्यात् न्यकुटीत् न्यपुटीत्।

अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति बताती है सिच् परे रहते अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, इमी हेतु आचार्य अतो हलादेर्लघो ( ७२।७ ) में अकार ग्रहण करते हैं।

यह ज्ञापक कैसे है ?

अकार—ग्रहण का यह प्रयोजन है—अकार्यात् अमोरीत् में वैकल्पिकी वृद्धि न हो। यदि सिच् परे रहते अन्तर ( गुण ) हो तो अकार ग्रहण व्यर्थ हो जाय, गुण होने पर लघु अक्षर न होने से यह वृद्धि न होगी। पर आचार्य जानते हैं सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अकार ग्रहण करते हैं।

नहीं। यह ज्ञापक नहीं बनता। इस वचन का और प्रयोजन है।

जहां गुण का प्रतिषेध है वहां के लिए 'अतो हलादे—' में अकार ग्रहण किया है—न्यकुटीत्, न्यपुटीत्। अच्छा तो जो णि इव का प्रतिषेध किया है वह इस

१ सिच् परे रहते अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता इस विषय में येन नामानि न्याय ही बहुत बड़ा समर्थक है। गुण आदि की अवश्य प्राप्ति में सिचि वृद्धि का विधान किया है इस लिये वह अन्तरङ्ग गुण आदि की बाध लगी। उसके विरि विरि के लुच् में अचिरार्यात्, अजिरार्यात् तथा यद्दृगन्त नेनी चर्चा के लुच् में अनेनार्यात् अचेचार्यात् ये इष्ट रूप बन जाते हैं। अन्यथा अन्तरङ्ग गुण तथा अयादेश हो कर यान्त हो जाते छान्तक्षण० से वृद्धि प्रतिषेध ही जाता तो अनिष्ट रूप प्राप्त होता।

२. अकोपीत्—कुप निश्चै क्यादि सेट् परस्मैपदा। इसका तिप् परे लुच् में रूप है।

३. न्यपुटीत्—निपूर्वक पुट संश्लेषणे कुटादि तुदादि सेट् परस्मैपदा इनका तिप् परे रहते लुच् में रूप।

न्यकुटीत् न्यपुटीत्—यहां गुण वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, उससे वृद्धि

यत्तर्हि णिश्च्योः' प्रतिषेधं शास्त्रि तेन नेहान्तरङ्गमिति दर्शयति । यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेपि ।

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धि ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

वात का ज्ञापक है कि सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती । और जो लघु कहने पर भी उसे अ से विशिष्ट करते हैं यह भी ज्ञापक है ।

( वा० ) अतः यह व्यवस्थित हुआ सिचि वृद्धि इग्लक्षणा माननी चाहिए ॥

का बाध होता है, पंछि कुटादिव रूप हेतु से गुण का निषेध होने पर भी पाक्षिणी वृद्धि नहीं होती, इसमें अतो हलादेर्लघोः मे अन्-ग्रहण कारण है न कि भ्रष्टावसर न्याय जो सिद्धान्त में है ही नहीं । अतः अन्-ग्रहण की ज्ञापकता सिद्ध न हुई ।

१. अच्छा तो णिश्चि का जो प्रतिषेध किया है वह ज्ञापक रहेगा कि सिच् परे अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यदि हो, तो गुण होने पर यान्त होने से ही निषेध सिद्ध है । ज्ञापक होने पर उक्त निमान ( परिवर्तन ) का कुछ भी उपयोग नहीं । अयावीन् अलागीत्—यद्वा सिच्यन्तरङ्ग नास्ति इमं वात के ज्ञापित हो जाने पर अन्तरङ्ग गुण न होने से अङ्ग के ( ओ के स्थान में अवादेश के न होने से वान्त न होने के कारण अतो लान्तस्य में वकार प्रत्यय न करना पड़ेगा और न अन् मव् में अतिप्रमक्त वृद्धि को वारण करने के लिए अत्रिमध्योर्न ऐसा निषेध वचन पड़ना होगा और न ही अपूर्ववचन करने के मोरव के परिवार के लिये हयन्त—सूत्र में णिश्चि के स्थान में अन् मव् को पटने की आवश्यकता होगी ।

२. निरस्त किए हुए ज्ञापक को सिहावलोकनन्याय में पुनः स्थिर करते हैं—अतो हलादेर्लघोः मे लघु ग्रहण करने पर भी जो अन्-ग्रहण किया—अन्-ज्ञापक ही है । भाव यह है—यदि सिचि वृद्धि—मे इक्-ग्रहण न हो तो अङ्ग इत्यादि में अन्त्य अल् ( व्यञ्जन ) को वृद्धि प्राप्त होनी है उसे रोमने के लिए बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष को लेकर जो आपने सिचि वृद्धि के अपवाद हलन्तलक्षणा वृद्धि का नेटि से निषेध होने पर भ्रष्टावसरन्याय में सिचि वृद्धि की अप्राप्ति स्वीकार की, उस रीति से न्यकुटीत् इत्यादि में भी वृद्धि ही अप्राप्ति रहेगी ।

३. तस्मात् अतः न्यनुधीत् इत्यादि में उचड् को बाध कर प्राप्त हुई वृद्धि के निषेध के लिए इग्लक्षणा सिचि वृद्धि होती है, यह मानना होगा । किन्तु वित् प्रत्यय परे होने पर इग्लक्षणा गुणवृद्धि का निषेध हो इस लिए और अकोपीत् इत्यादि में

पष्ठधा. स्थानेयोगत्वादिग्निवृत्तिः ॥

पष्ठधाः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति दधि मधु । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्—सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति ।

प्रसारणे च ॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति-  
वाता वाता । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

( वा० ) इको गुणवृद्धी इस सूत्र में ( इकः ) यह पठि स्थानपठि है अतः इक् की निवृत्ति ( प्राप्त होती है ) ।

इकः इस पठि के स्थानेयोगा पठि होने से इक् मात्र का इको गुणवृद्धी से विधीयमाने गुणवृद्धि रूप आदेश द्वारा निवृत्ति प्राप्त होती है ।

( यदि इको गुणवृद्धी स्वतन्त्र विधि है अनियमे नियमकारिणी परिभाषा नहीं ? तो मिद्रेयुणः इत्यादि से ) पुनः गुण आदि विधान किस लिए किया ?

( वा० ) अन्यतर ( दो में से एक गुण अथवा वृद्धि के लिये ) पुनः विधान रहेगा ।

[इको गुणवृद्धी से पर्याय (क्रम) से प्राप्त गुण वृद्धि में से] एक के विधान के लिये पुनः विधान हो सकता है जैसे सार्वधातुकार्धधातुकयोः में सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय—रूप निमित्त होने पर गुण ही हो (वृद्धि न हो) ।

( वा० ) सग्नप्रसारणं में भी सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है । वाता वाता भी । तो वचिस्वपि—इत्यादि पुनः सग्नप्रसारण—विधान किस लिये किया ?

अनिक् को गुण न हो इस लिए भी वचि वृद्धि इग्लक्षणा स्वीकार करनी चाहिये । बाध्यसामान्यचिन्ता और भ्रष्टावसर न्याय तो एकदेशी की उक्ति है सिद्धान्त नहीं ॥

१. इको गुणवृद्धी यह स्वतन्त्र विधायक शास्त्र है । इको यणचि इसे अपने विषय में बाध लेगा, इससे वह शास्त्र धर्मार्थ नहीं होता । इस पूर्व पक्ष का उत्थान विधिनियमयोर्विधरेव ज्यायान् इस न्याय के आश्रयण से होता है ।

२. इग्यणः सग्नप्रसारणम् में यणः को स्थानपठि मान कर स्वतन्त्र विधायक

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥

विषयार्थमेतत्स्यात् वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ।

उरण् रपरे च ॥

उरण् रपरे च सर्वेनामृकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति—कर्तृ हर्तृ इति ।

सिद्धं तु पष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । पष्ठ्यधिकारे इमे योगाः कर्तव्याः । एकस्तायत् क्रियते तत्रैव । इमावपि योगौ पष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते । अथवा पष्ठ्यधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे । अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः—‘सार्वधातुकार्ध-

विषय नियम (=निमित्त-नियम) के लिये हो सकता है —वचिस्वपि और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय परे होने पर ही सम्प्रसारण हो ( अकित् परे रहते न हो ) ।

उरण् रपरः में भी ( स्थानयष्ठी मान कर ) ऋकार मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है । कर्तृ हर्तृ यहाँ भी ।

( वा० ) पष्ठ्यधिकार में पढ़ने से इष्टसिद्धि ( सर्वाक्षेप समाधान-रूप ) हो जाती है ।

इन आक्षेपों का समाधान हो जाता है । कैसे ? पष्ठी स्थानेयोगा से प्रारम्भ हुए पष्ठ्यधिकार में ये सूत्र पढ़ने चाहियें । एक=उरण् रपरः का तो पहले ही इस अधिकार में पाठ किया हुआ है । इस सूत्र से पूर्व अथवा पश्चात् इको गुणवृद्धी तथा इग्यणः सम्प्रसारणम् पढ़ दिया जाएगा ।

अथवा पष्ठ्यधिकार में इन योगों ( इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम् ) की अपेक्षा करेंगे ।

अथवा स्वतन्त्र विधि मानने वाले से हम यह पूछते हैं—सार्वधातुकार्ध-

शास्त्र स्वीकार कर अर्थ होगा—यण् मात्र के स्थान में इक् हो और उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । इससे यण् मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है ।

१. उरण् रपरः—यहाँ भी ऋ के स्थान में अण् हो और वह रपर हो—यह अर्थ होगा ।

२. शास्त्रीयाधिकार में जैसे सम्बन्ध आकाङ्क्षामूलक होता है वैसे ही लौकिकाधिकार में भी, अतः शास्त्रीयाधिकार को कह कर अब लौकिक अपेक्षा-लक्षण अधिकार

धातुरूयोर्गुणो भवति इतीह कस्मान्न भवति—याता याता । इदं तत्रापेक्षि-  
ष्यते—‘इको गुणवृद्धी’ इति । यथेय तर्हि इदं तत्रापेक्षिष्यते एवमिहापि  
तदपेक्षिष्यामहे सार्वधातुकार्थधातुरूयोः’ इति ॥ इको गुणवृद्धी ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिप्रिचिंते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य  
प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥

धातुरूयो इस शास्त्र से जो गुण होता है वह याता वाता में क्यों नहीं होता ? तुम्हारा  
उत्तर यही है गा न—इको गुणवृद्धा कि यहा हम इको गुणवृद्धी को अपेक्षा करेंगे  
(अर्थात् सार्वधातुकार्थ० से विहित गुण किसे हो इस अपेक्षा=आकाङ्क्षा से इको गुण-  
वृद्धी के साथ इसकी एकवाक्यता करेंगे) इस लिये जैसे इको गुणवृद्धी इसकी  
सार्वधातुकार्थ० में अपेक्षा है ऐसे ही इस में सार्वधातुकार्थ० की अपेक्षा है जिससे इको  
गुणवृद्धा स्वतन्त्र विधि है इसका प्रत्याख्यान हो जाता है ।

को बहने हैं । इसके लिए पृथी स्थानेयोगा को दो योगों में विभक्त कर दिया  
जायगा—(१) पृथी, (२) स्थानेयोगा । पूर्वयोग का अर्थ होगा—पठ्यधिकार में  
जो कुछ अनुक्रम से कहा गया है वह जहां पठनीनिर्दिष्ट को कार्य विधान किया गया है,  
वहां उपस्थित हो जाता है । योग्यता के अनुसार ( इष्ट और व्याख्यान से भी ) इको  
गुणवृद्धी तथा इग्यण सम्प्रसारणम् इन दो की ही अपेक्षा होगी, न कि अनुक्रान्त  
मात्र की ।

१ जिस प्रकार विधि को स्थानों की अपेक्षा=आकाङ्क्षा होती है इसी प्रकार  
इस ( इको गुणवृद्धी ) को भी अपने सम्बन्धी विधेय के बोधक शास्त्र ( सार्वधातुकार्थ० )  
की अपेक्षा होती है ॥



## चतुर्थ आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में न घातुलोप आर्धघातुके ॥१११४॥ इस सूत्र से लेकर नाज्जलौ ॥१११९०॥ इन सूत्र तक विभिन्न विषयों पर दृष्टासमाधान महित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार य हैं—

न घातुलोप आर्धघातुके ॥१११४॥

(क) सूत्र का पददृश्य दिखा कर आर्धघातुक प्रहण को लोप तथा गुणवृद्धि दोनों का विशेषण निर्दोष सिद्ध किया है।

(ख) सूत्र के इष्ट विषय का परिगणन करके इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए परिगणन का प्रत्याख्यान किया है।

(ग) अन्त में स्थानिवद्भाव द्वारा इष्टसिद्धि मान कर सूत्र का ही खण्डन कर दिया है।

किञ्चित् च ॥१११५॥

(क) तन्निमित्त प्रहण के प्रयोजन बताकर उसका खण्डन किया है।

(ख) इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए लैगावायन, कामयते में वृद्धिनिषेध का अभाव सिद्ध किया है।

(ग) अचिनवम्, अमुनवम् आदि में स्थानिवद्भाव से प्राप्त लृक् लकार का चित्त मान कर उसके परे रहते चिकार्य का यामुट के चिद्धचन से निराकरण किया है।

दीधीवेवीटाम् ॥१११६॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर उसका सर्वथा खण्डन कर दिया है।

हलोन्तरा संयोग ॥१११७॥

(क) अनन्तर शब्द में दोनो विग्रहों को निर्दोष सिद्ध कर हलों में प्रथेक की सहायसहा रोकने के लिए कहे गये 'सह' शब्द के प्रहण को अन्यथासिद्ध दिखाया है।

(ख) केवल दो हलों के समुदाय में दो की मिली हुई एक संयोग संज्ञा मानी है, किन्तु बहुत हलों के समुदाय में दो दो की भी भलग संयोग संज्ञा स्वीकार की है और सारे समुदाय की भी।

(ग) निग्लेयात् इत्यादि में समुदाय की संयोगसंज्ञा पक्ष में प्राप्त दोष का दोष की संयोगसंज्ञा मानकर निराकरण किया है ।

(घ) भिन्नजातीय को ही सर्वत्र व्यवधायक मानते हुए स्वरानन्तहितवचनम् इम वार्तिक का खण्डन किया है । साथ ही ग्राम शब्द के बहुत अर्थ बताये हैं ।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१११८॥

(क) मुखनासिकावचन का विग्रहपूर्वक अर्थ बताकर मुख और नासिका ग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

(ख) प्रासादवानिन्याय से मुख ग्रहण का खण्डन कर दिया है ।

(ग) शब्दों को नियम मानकर अनुनासिकसंज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रयदोष का समाधान किया है ।

तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम् ॥१११९॥

(क) सूत्रस्थ पदों का अन्तः २ विग्रहपूर्वक अर्थ-निर्देश करके समस्त सूत्र का अर्थ बताया है ।

(ख) आस्य शब्द के मुख और मुख में होनेवाले स्थान प्रयत्न में दोनों अर्थ स्वीकार किये हैं ।

(ग) मुख में होनेवाले आभ्यन्तर प्रयत्नों की तुल्यता में ही सवर्णसंज्ञा मानते हुए आस्ये तुल्यदेशप्रयत्न सवर्णम् इस वार्तिककारकृत सूत्रन्यास का खण्डन किया है ।

(घ) बाह्य प्रयत्न बता कर सवर्णसंज्ञा में उनकी तुल्यता को अनावश्यक माना है ।

(ङ) ज व ग ड द इन तुल्यप्रयत्न वाले भिन्नस्थान वाले वर्णों की तथा श छ, ष ठ, स थ इन तुल्यस्थान वाले भिन्न आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्णसंज्ञा रोकने के लिए तुल्यास्यप्रयत्नम् में द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास न मानकर त्रिद बहुव्रीहि या तत्पुरुषगर्भवहुव्रीहि समास स्वीकार किया है ।

(च) ऋकार लृकार की सवर्णसंज्ञा मान कर ऋति ऋ वा, लृति लृ वा वचनम् इन वार्तिका का खण्डन कर दिया है ।

नाञ्जलौ ॥१११९०॥

(क) सूत्रस्थ अच् शब्द के इको यणचि इत्यादि की तरह अपने सवर्णियों का प्राहक समझते हुए इकार का सवर्णो हल् शकार, दीर्घ ईकार की तरह अच् है ऐसा मान कर इस सूत्र से शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्तिरूप दोष

दिखाया है फिर इकार शकार के प्रयत्नभेद से या वाक्यपरिममाप्ति म्याय द्वारा उभका समाधान करते हुए वाक्यपरिममाप्ति का स्वरूप दिखाया है ।

(ख) पक्षान्तर में शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में भी कोई हानि नहीं यह दिखाते हुए परदशतानि कार्याणि में दो शकार हों या तीन हों भ्रवण में कोई भेद नहीं पडता यह सिद्ध किया है ।

(ग) ऊर्ध्वों का ईषद्विवृत और खरों या अन्वों का विवृत प्रयत्न मानते हुए एउ प्रकार से इस सूत्र का खण्डन भी कर दिया है ।



## अथ चतुर्थमाहिकम्

न धातुलोप आर्धधातुके ॥११४॥

धातुग्रहणं किमर्थम् ? ॥

इह मा भूत् । लृञ् लविता । लवितुम् । पूञ् पविता । पवितुम् ॥

आर्धधातुकग्रहणं किमर्थम् ? ॥

सूत्र में धातुग्रहण किस लिये किया है । क्योंकि आर्धधातुकसङ्गक प्रत्यय धातु से ही विहित होता है । उस के पर होने पर धातु का ही लोप समझा जायगा ।<sup>१</sup>

धातुग्रहण के अभाव में जिस किसी का भी लोप होने पर गुणवृद्धि का निषेध प्राप्त होगा । लविता लवितुम् । पविता पवितुम् ( लृञ् पूञ् इद् तृच्, तुमुन् ) यहा लृञ् पूञ् के अकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी इस सूत्र से सार्वधातुकगुण का निषेध प्राप्त होता है वह न होवे इस लिये धातुग्रहण किया है । लृञ् पूञ् में अकार अनुबन्ध है, धातु नहीं है । धातु तो केवल क्रियावाची होने से लृ. पू. हैं । तृच्, तुमुन् प्रत्यय आर्धधातुक हैं । उन के परे होने पर सार्वधातुक गुण हो जाता है ।<sup>२</sup>

आर्धधातुकग्रहणं किस लिये किया है ?

१ सम्पूर्ण धातु का लोप होने पर तो गुणवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहा उठता जिस के लिये निषेध की आवश्यकता हो । जब धातु ही लुप्त हो गया तो गुणवृद्धि किसे करेंगे ऐसी अवस्था में यहाँ धातु के एकदेश अथवा अवयव में धातुशब्द लाक्षणिक माना गया है । जैसे कपडे का कुछ हिस्सा जग जान पर भी कपडा जल गया ऐसा प्रयोग होता है इसी प्रकार यहा आर्धधातुक परे रहते धातु के अवयव का लोप होने पर गुणवृद्धि का निषेध होता है । यह सूत्र का अर्थ है ।

२ यदि लोप और गुणवृद्धि दोनों जब एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हों तभी निषेध माना जाय तब तो धातुग्रहणं व्यर्थ है । उसकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि लृञ् पूञ् व अकार अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है । बिना किसी को निमित्त माने हो जाता है । तृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों के आने से पूर्व ही हो गया है इस लिये लविता, लवितुम् में गुणनिषेध न होगा । यह बात भागे स्पष्ट होगी ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥

किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम् । आर्धधातुकनिमित्ते धातुलोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति । आहोस्विद् गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम् । धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति ॥

किं चातः ? ॥

यदि लोपविशेषणम् । उपेद्ध. प्रेद्धः अत्रापि प्राप्नोति । अथ

त्रिधा बद्धो ऋषभो रोरवाति यहां रोरवीति ( रोह्य-इट् तिप् ) इस वैदिक प्रयोग में यहलुगन्त रोह्य धातु क अवयव य का लोप आर्धधातुक पर होने पर नहीं हुआ बल्कि उस से परे सार्वधातुक तिप् प्रत्यय है । उस में गुणनिषेध न हो जावे इस लिए आर्धधातुकग्रहण किया है ।

क्या सूत्र में यह आर्धधातुकग्रहण केवल लोप का ही विशेषण माना है, गुणवृद्धि का नहीं ? जहां आर्धधातुक को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहां प्राप्त गुणवृद्धि का यह निषेध करता है । गुणवृद्धि चाहे आर्धधातुक को निमित्त मान कर न भी हो । लोप अवश्य आर्धधातुक निमित्तक होना चाहिए ऐसा मानते हैं ? या गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकग्रहण माना है, लोप का नहीं । जहां धातुलोप होने पर आर्धधातुक को निमित्त मान कर गुणवृद्धि प्राप्त हो वहां यह गुणवृद्धि का निषेध करता है । लोप चाहे आर्धधातुकनिमित्तक न भी हो ऐसा मानने है ?

इससे क्या ?

यदि लोप का विशेषण आर्धधातुकग्रहण को मानते हैं तो उपेद्ध, प्रेद्ध ( उप, प्र-इन्ध्-त् ) यहां भी गुणनिषेध प्राप्त होगा । क्योंकि यहां इन्ध् के नकार का लोप आर्धधातुक त् प्रत्यय को मान कर अनिदिता हल ० सूत्र से हुआ है । परन्तु उप और इन्ध् में आद्गुण से होने वाला गुण एकदेश आर्धधातुक को मान

१ रोरवीति में यद्बोधि च सेहुआ यद् का लुक् अनैमित्तिक है । तिप् सार्वधातुक के आने से पहले ही हो जाता है इस लिये लोप और गुण की एक आर्धधातुक निमित्तकता न होने से यह प्रयोजन भी अन्यथा सिद्ध हो जाता है ।

गुणवृद्धिविशेषणम् । क्नोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

यथेच्छसि तथास्तु । अस्तु लोपविशेषणम् ॥

कथम् उपेदः प्रेद इति ? ॥

यहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं यहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

कर नहीं हुआ है । और यदि गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकप्रहण को मानते हैं तो क्नोपयति ( क्न्य, पुरु, णिच्, तिप् ) यहां भी गुण का निषेध प्राप्त होगा । क्योंकि यहां आर्धधातुक णिच् प्रत्यय को मान कर पुगन्त गुण हुआ है किन्तु लोपो व्योर्वलि से होनवाला क्न्य के वकार का लोप आर्धधातुक को मान कर नहीं हुआ है ।

जैसी इच्छा हो वैसा मान लीजिये । आर्धधातुक को लोप का विशेषण मान लीजिये ।

आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानने पर उपेद , प्रेद कैसे बनेंगे ?

उपेद , प्रेद में आर्धगुण से होनेवाला गुण उप और इन्ध् इन दो पदों की अपेक्षा रखने से यहिरङ्ग है । न धातुलोप सूत्र से होने वाला गुण का निषेध केवल इन्ध् का अपेक्षा रखने से अन्तरङ्ग है । असिद्ध वरिङ्गमन्तरङ्गे अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य में यहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है इस परिभाषा के चल से यहिरङ्ग हुआ गुण असिद्ध है । निषेध सूत्र की दृष्टि में नहीं आता । यदि पहले उप और इन्ध् का सम्बन्ध करके फिर च प्रत्यय लाये तब यद्यपि गुण अन्तरङ्ग है और निषेध सूत्र यहिरङ्ग है तो भी हर हालत में जो भी यहिरङ्ग है उसके असिद्ध होने से दोष नहीं होगा ।

१ यदि कहे नाजानन्तर्ये वृद्धिप्रकृतसि इस परिभाषा द्वारा असिद्ध परिभाषा का निषेध हो जाने से उक्त समाधान ठीक नहीं बनता तो इसका उत्तर है कि यह परिभाषा जहां दो अक्षों का आनन्तर्य सूत्रविहित है वहीं असिद्ध परिभाषा का निषेध करती है । न धातुलोप सूत्र में यह प्रकृत नहीं हो सकता । इको यणचि इत्यादि सूत्रों में दो अक्षों का अव्यवहित आश्रयण स्पष्ट निर्दिष्ट है वहीं यह परिभाषा असिद्ध परिभाषा का निषेध करेगी । जैसे अक्षसू\* ( अन् दिव् क्विप् ) यहां दिव् के वकार के स्थान में च्छ्रो. श्रुड० से ऊर् आदेश होता है वह क्विप् की अपेक्षा रखने से यहिरङ्ग है । नाजानन्तर्ये इस परिभाषा द्वारा इको यणचि से दि के इकार को यण् करने में यहिरङ्ग होता हुआ भी ऊर् असिद्ध नहीं होता । उपेद\*, प्रेद\* यहां न धातुलोप सूत्र से गुणनिषेध करने में अव्यवहित अक्षों का आश्रयण सूत्रोपात्त नहीं है, अतः नाजानन्तर्ये इस परिभाषा का यह सूत्र विषय नहीं है । वैसे भी आर्धगुण यह गुण इग्लभ्य नहीं है इस लिए न धातुलोप सूत्र का विषय उपेद , प्रेद. नहीं हो सकता ।

यद्येवं नाथों धातुग्रहणेन । इह कस्मात्त भवति । लृञ् लविता ।  
लवितुम् । पूञ्-पविता पधितुम् । आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः ।  
न चैप आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ।

अथवा पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम् ॥

ननु चोक्तं ऋोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ?

नैप दोषः । निपातनात् सिद्धम् । किं निपातनम् । चले क्नोपेः इति ॥

परिगणनं कर्तव्यम् ।

यड्यक्त्त्यवलोपे प्रतिषेधः ।

यड्यक्त्त्यवलोपे प्रतिषेधो वक्तव्यः । यङ् । वेभिदिता । मरीमृज- ।

यदि आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानते हैं तो सूत्र में धातुग्रहण की अपेक्ष्यक्ता नहीं । लविता, लवितुम् । पविता, पधितुम् यहाँ अकार अनुबन्ध का लोप होने पर गुणनिषेध क्यों नहीं होता ? इस लिये नहीं होता कि यहाँ लृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों को निमित्त मान कर अनुबन्ध का लोप नहीं हुआ है । यह तो अनैमित्तिक है । आर्धधातुक के आने से पहले ही बिना किसी निमित्त को मान कर हो जाता है । आर्धधातुक को निमित्त मान कर जहाँ लोप होगा वहाँ यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करेगा । इस लिये धातुग्रहण के अभाव में भी लविता, लवितुम् में दोष न होगा ।

ठीक है । चाहे आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मान लीजिये ।

ऋोपयति में जो गुणनिषेध का प्राप्ति का दोष कहा था वह आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मानने में कैसे समाहित होगा ?

यह कोई दोष नहीं । क्योंकि चले क्नोपे- इस सूत्र में ऋोपे इस निपातन से यहाँ गुण सिद्ध हो जायगा । उक्त निपातन से गुण का निषेध न मान कर गुण का विधान ही स्वीकार किया जायगा ।

इस सूत्र के विषय का परिगणन कर देना चाहिये कि यहाँ - पर गुण वृद्धि का निषेध होता है । यड् यक् क्यच् और वकार के लोप में गुणवृद्धि का निषेध होता है ऐसा कइना चाहिये । वेभिदिता ( वेभिद्यङ् लृच् ) यहाँ यटन्त वेभिद्य धातु में लृच् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर यम्य ह्य में यट् के यकार ( समुदाय ) का लोप हुआ है उसी लृच् को मान कर प्राप्त होने वाला लृचप्रथगुण नहीं होता । मरीमृज ( मरीमृज्य अच् ) यहाँ यटन्त मरीमृज्य धातु में अच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यडोचि च से यङ् का लृक् हुआ है । उसी अच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली मजेर्वृद्धिः से वृद्धि नहीं होती । कुपुमिता ( कुपुम्य-

यक् । कुपुभिता । मगधकः । फ्य । समिधिता । द्यपदकः । वलोपे—  
जीरदानुः । किं प्रयोजनम् ?

नुम्लोपस्त्रिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम् ।

नुम्लोपे स्त्रिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति । नुम्लोपे ।  
अभाजि । रागः । उपवर्हणम् । स्त्रिवेः अस्त्रेमाणम् । अनुबन्धलोपे—लृञ्  
लविता लवितुम् ।

इद् तृच् ) यहाँ कण्ङ्गादियगन्त कुपुभ्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हल् से लोप हुआ है । उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण नहीं होता । मगधक ( मगध्य-ण्वुल् ) यहाँ कण्ङ्गादियगन्त मगध्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हल् से लोप हुआ है उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधावृद्धि नहीं होती । समिधिता ( समिध्य इद् तृच् ) यहाँ इच्छा क्यजन्त समिध्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाया से लोप हुआ है । उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होनेवाला लघूपधगुण नहीं होता । द्यपदक ( द्यपद्य-ण्वुल् ) यहाँ इच्छाक्यजन्त द्यपद्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाया से लोप हुआ है । उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधावृद्धि नहीं होती । वलोप का उदाहरण जीरदानु है । यहाँ जीप् धातु से रदानु प्रत्यय आर्धधातुक पर रहते लोपो व्योर्बलि से जीव् के वकार का लोप हुआ है । उसी रदानु को मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण नहीं होता ।

इस परिगणन का क्या प्रयोजन है ? यही कि नुम्लोप अर्थात् नकार के लोप में, स्त्रिव धातु के वकारलोप में तथा अनुबन्ध के लोप में गुणवृद्धि का निषेध न होवे । नुम्लोप में जैसे—अभाजि । रागः । उपवर्हणम् । ये उदाहरण हैं । इन में गुणवृद्धि का निषेध नहीं हुआ । अभाजि ( भञ्ज् चिण् लुङ् ) यहाँ चिण् को मान कर भञ्जेदन् चिणि से भञ्ज् के नकार का लोप हुआ है । उसी चिण् को मान कर उपधावृद्धि हो गई । राग ( रञ्ज् घञ् ) यहाँ घञ् को मान कर घान् च भाव-करणयो से रञ्ज् के नकार का लोप हुआ है । उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि हो गई । उपवर्हणम् ( उप वृह-त्युट् ) यहाँ त्युट् प्रत्यय को मान कर वृहेरच्यनिाट इस वार्तिक से वृह् के नकार का लोप हुआ है उसी त्युट् का मान कर लघूपध गुण हो गया । स्त्रिव् का अस्त्रेमाणम् यह उदाहरण है । अस्त्रिव्-मनिन् यहाँ नञ् पूर्वक स्त्रिव् धातु से मनिन् प्रत्यय हुआ है । मानन् प्रत्यय को मान कर लोपो व्योर्बलि से स्त्रिव् के वकार का लोप होता है । उसी मानन् को मान कर सार्वधातुक गुण हो

१. प्राचीन आचार्यों के मत में नकार की नुम्सज्ञा है इसलिए नुम्लोप से तत्प्रत्यय नकारलोप का है ।



यदि परिगणनं क्रियते स्यदः प्रथमः हिमश्रथ इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

वक्ष्यत्येतत्—निपातनात् स्यदादिषु इति ।

तत्तर्हि परिगणनं कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् ।

नुम्लोपे कस्मान्न भवति ?

इक्प्रकरणान्नुम्लोप वृद्धि ।

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैपेग्लक्षणा वृद्धिः ।

यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । स्यदः प्रथमः हिमश्रथः

गया । अनुबन्ध लोप में लविता, लवितुम् ये उदाहरण हैं । यहा ल्न् के नकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी तृच्, तुमुन् प्रत्ययों को मान कर सार्वधातुक गुण हो गया ।

यदि सूत्र के विषय का परिगणन करते हैं तो स्यद, प्रथम, हिमश्रथ. यहाँ भी उपधावृद्धि प्राप्त होती है । क्योंकि न धातुलोप सूत्र तो यद् यक् क्य आदि परिगणित विषय में ही गुणवृद्धि का निषेध कर सकेगा । स्यद (स्यन्द-घञ्) । प्रथमः, हिमश्रथः ( प्र, हिम श्रन्-घञ् ) यहाँ स्यन्द श्रन् धातुओं से घञ् हुआ है । घञ् को मान कर स्वरो जवे, अत्रोदैधौघप्रथमिभ्यवा. इन सूत्रों से नकार का लोप होता है । उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

इसका उत्तर निपातनात् स्यदादिषु इस वचन से जागे अभी देंगे । अर्थात् स्वरो जवे, अत्रोदैधौघ० सूत्रों में स्यद आदि निपातन करने से उपधावृद्धि का लभाव समझा जायगा ।

तो फिर परिगणन कर देना चाहिये ?

नहीं करना चाहिये ।

नकारलोप वाले अभाजि, राग इन उदाहरणों में धातु के अवयव नकार का लोप होने पर उपधावृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता ?

न धातुलोप सूत्र में इको गुणवृद्धी इस पूर्वसूत्र से इक् पद की अनुवृत्ति आती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह निषेध करता है । अभाजि, राग में उपधालक्षण वृद्धि है, इग्लक्षण नहीं तो निषेध नहीं होगा । जहाँ इक् शब्द से वृद्धि कह कर वृद्धि की जाती है वह इग्लक्षणा वृद्धि होती है ।

यदि जहाँ इको गुणवृद्धी यह परिभाषा सूत्र इक् पद की उपस्थिति कराता है उस इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है अन्य का नहीं तो स्यद.,

इत्यत्र न प्राप्नोति । इह च प्राप्नोति । अत्रोदः एधः ओद्गः इति ॥

निपातनात् स्यदादिषु ।

निपातनात् स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति । न च भविष्यति ॥

यदीग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । स्त्रिव्यनुबन्धलोपे कथम् ? ॥

प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः । न चैव आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥

यद्यार्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः । जीरदानुरित्यत्र न प्राप्नोति ॥

प्रथम, हिमप्रथ में उपधावृद्धि हो जानी चाहिये क्योंकि यहाँ इग्लक्षण वृद्धि नहीं है । न धातुलोप सूत्र से यहाँ निषेध नहीं प्राप्त होता । और अत्रोद. ( अत्र उन्द्-घञ् ) । एध ( इन्ध्-घञ् ) । ओद्ग ( उन्द्-मन् ) यहाँ इग्लक्षण गुणवृद्धि होने से उसका निषेध प्राप्त होता है ।

स्यद., अत्रोद आदि में स्यदो जवे, अत्रोदैषो० इत्यादि निपातन करने से गुणवृद्धि का भाव अभास समझा जायगा । स्यद में इग्लक्षण न होने पर भी निपातन से वृद्धि का निषेध हो जायगा । अत्रोद में इग्लक्षण होने पर भी निपातन से गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है तो स्त्रिक् के अस्त्रेमाणम् में और लञ्-लविता, लवितुम् यहाँ जकार अनुबन्ध के लोप में कैसे होगा ? यहाँ इग्लक्षण गुण होने से उसका निषेध क्यों नहीं होता ?

अन्यत्र अर्थात् अस्त्रेमाणम् और लविता, लवितुम् में प्रत्ययाश्रय होने से आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानने से दोष न होगा । जहाँ आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहीं इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध होगा । अस्त्रेमाणम्, लविता, लवितुम् में वकार और अनुबन्ध का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है इस लिये इग्लक्षण गुण होने पर भी उसका निषेध नहीं होगा । लविता, लवितुम् में तो स्पष्ट ही जकार अनुबन्ध का लोप अनैमित्तिक है । वह किसी निमित्त को मान कर नहीं हुआ । अस्त्रेमाणम् में यद्यपि मनिन् को मान कर लोपो व्योर्वलि से वकार का लोप हुआ है तो भी उसका निमित्त वल् वर्ण ही है, आर्धधातुक प्रत्यय नहीं है । इस लिये दोनों जगह गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हुए धातुलोप में इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हैं तो जीरदानु. में गुण का निषेध नहीं प्राप्त होता ।

रकि ज्यः सम्प्रसारणम् ।

नैतज्जीवे रूपम् । रकि पतद् ज्यः सम्प्रसारणं भवति । यावता ।  
यावता चेदानीं रकि जीवेरपि सिद्धं भवति ॥

कथमुपवर्हणम् ? ॥

वृहिः प्रकृत्यन्तरम् ।

कथं शायते वृहिः प्रकृत्यन्तरमिति ? ॥

अचीति हि लोप उच्यते । अनजादावपि दृश्यते निवृह्यते ।  
अनिटीति चोच्यते । इडादावपि दृश्यते—निवर्हिता निवर्हितुम् इति ।

क्योंकि यहाँ भी लोपोव्योर्वलि से हुआ वकार का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है । केवल वल् वर्ण को निमित्त माना है ।

जीरदानुः को जीव् धातु से नहीं बनायेंगे । यह जीव् धातु का रूप नहीं मानेंगे । बल्कि ज्या धातु से रक् प्रत्यय करके प्रहिज्या० से सम्प्रसारण और हलः से दीर्घ हो कर जीरः बन जायगा । उस का दानु शब्द से बहुव्रीहि समास करेंगे तो पूर्वपद-प्रकृतिस्वर हो कर जीरऽदानुः इस प्रकार अवग्रह होगा और रेफ का भकार प्रत्यय के आशुदात्त होने से उदात्त होगा जो कि इष्ट है । सब पदपाठकारों ने यही माना है । रदानु प्रत्यय मानने में स्वर सिद्ध होने पर भी अवग्रह नहीं बनता इस लिये रदानु प्रत्यय नहीं मानेंगे । रक् प्रत्यय मानने पर न केवल ज्या से बल्कि जीव् धातु से भी जीरः बन सकेगा । लोपो व्योर्वलि से जीव के वकार का लोप होकर जीरः की सिद्धि आसान ही है । जीव् से बनाने में रन् प्रत्यय के क्त्वि होने से क्विति च से ही गुण निषेध सिद्ध हो जायगा ।

उपवर्हणम् कैसे सिद्ध होगा ? । क्योंकि यहाँ ल्युट् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर वृह् धातु के नकार का लोप हुआ है तो इग्लक्षण लघूपथ गुण का न धातुलोप सूत्र से निषेध प्राप्त होता है ।

उपवर्हणम् में वृह् धातु न मान कर वृह् धातु मानेंगे । क्योंकि वृह वृहि ऋद्धौ इस प्रकार धातुपाठ में वृह् धातु पृथक् पड़ा गया है । उससे ल्युट् प्रत्यय करके उपवर्हणम् बन जायगा । नकार लोप का झगड़ा ही न रहेगा । वृहैरच्यनिटि इस वार्तिक की भी आवश्यकता न होगी ।

कैसे जानें कि वृह् से पृथक् वृह् धातु भी है ?

वृहैरच्यनिटि इस वार्तिक से अजादि प्रत्यय पर रहते लोप कहा है किन्तु अजादि परे न होने पर भी नकार का लोप दीखता है जैसे—निवृधते । यहाँ अजादिभिन्न यक् प्रत्यय परे होने पर नकार नहीं दीखता । इडादिभिन्न प्रत्यय पर रहते लोप कड़ा है किन्तु इडादि प्रत्यय पर रहने पर भी नकारलोप दीखता है । जैसे—निवर्हिता । निवर्हितुम् । यहाँ इडादि तृच् परे रहते नकार नहीं दीखता ।

अजादावपि न दृश्यते—वृंहयति । वृंहकः । तस्मान्नार्थः परिगणनेन ॥

यदि परिगणनं न क्रियते । भेद्यते छेद्यते अत्रापि प्राप्नोति ॥

नेप दोष । धातुलोप इति नेवं विज्ञायते-धातोलोपो धातुलोपो धातुलोपे इति । कथं तर्हि ? धातोलोपो यस्मिन्स्तदिदं धातुलोपं धातुलोपे इति । तस्माद्ग्लक्षणा वृद्धिः ॥

यदि तर्हिग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । पापचकः । पापठकः ।

अजादि परे रहते भी लोप नहीं दीखता । जैसे—वृंहयति (वृह् णिच्) वृंहकः (वृह् ण्वुल्) । इस से सिद्ध होता है कि वृह् वृह् दो धातु पृथक् २ हैं । जहां नकार नहीं सुनाई देता वहा वृह् धातु मानी जाएगी तो उपबर्णम् यह वृह्धातु से ही बन जायगा । इस लिये परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं । जो यच् यक् क्यवलोप० इस परिगणन के व्यावर्त्य थे वे सब अन्यथासिद्ध कर दिये गये हैं ।

यदि परिगणन नहीं करते हैं तो भेद्यते छेद्यते यहां भी लघूपध गुण का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है । क्योंकि ( भिद्-णिच्-यकू-त ) इस अवस्था में यक् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर णरनिटि से धातु के अवयव णि का लोप हुआ है और णिच् प्रत्यय को मान कर लघूपध गुण हुआ है ।

यह कोई दोष नहीं । धातुलोप शब्द में धातोलोप, धातुलोपः इस प्रकार पञ्चीतरपुर्य समास नहीं माना जाता बल्कि धातोलोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम् इस प्रकार बहुव्रीहि समास माना जाता है । उस से लोप और गुणवृद्धि दोनों के एक ही आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त होने पर गुणवृद्धि का निषेध होगा । भेद्यते में लोप तो एक को मानकर हुआ है और लघूपधगुण णिच् को मान कर हुआ है । दोनों का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त नहीं है, भिन्न २ हैं इस लिये यहां गुण का निषेध नहीं होगा ।

इस प्रकार एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहां धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वही यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है अन्यत्र नहीं यह स्थित हो गया । तस्माद्ग्लक्षणा वृद्धि कहते हुए भाष्यकार ने इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह सूत्र निषेध करता है इस बात को स्पष्ट पुष्ट कर दिया है ।

यदि एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहां धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वही यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है तो पापचकः ( पापच्य-ण्वुल् ) । पापठक ( पापठ्य ण्वुल् ) । मगधक ( मगध्य-ण्वुल् ) । द्यदक ( द्यद्य-ण्वुल् ) यहा इग्लक्षण गुणवृद्धि न होने

मगधकः । दृषदकः । अत्र न प्राप्नोति ॥

अलोपस्य स्थानिवद्भावात् ।

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः ॥

अनारम्भो वा

कथं वेभिदिता । मरीमृजकः । कुपुभिता । मगधकः । समिधिता इति ? ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । क च

से उपधावृद्धि का निरोध नहीं प्राप्त होता । उक्त स्थलों में एक ही ण्युत् प्रत्यय भार्घधातुक को निमित्त मान कर धातु के अवयव यद् और यस् के अकार चकार का अतो लोप, यस्य ह्य. से लोप हुआ है । उमी ण्युत् को निमित्त मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

पापचक्र आदि में अकारलोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होगी । अचः परस्मिन् पूर्वप्रिधी सूत्र से पर ण्युत् प्रत्यय को निमित्त मान कर अतो लोप से हुआ यद् के अकार का लोप पूर्वप्रिधि करने में स्थानिवत् हो पायगा तो धातुस्थ अकार के उपधा में न रहने से वृद्धि न होगी ।

इस सूत्र का आरम्भ न करना भी ठीक है । अर्थात् यदि यद् सूत्र न बनाया जाय तो भी कोई हानि नहीं । इसके, मय प्रयोजन अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं ।

इस सूत्र के अभाव में वेभिदिता, मरामृजक, कुपुभिता, मगधक, समिधिता ये कैसे बनेंगे ?

इन सब में भी यद्, यस्, क्यच् के अकार का लोप अच परस्मिन् सूत्र से स्थानिवत् मान लेंगे तो गुणवृद्धि न होंगे ।

जहां स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता वहां गुणवृद्धि रोकने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है । स्थानिवद्भाव कहां नहीं हो सकता ? जहां हल् और अच् दोनों के स्थान में आदेश हुआ है जैसे—लोलुपः । (लोल्य-अच्) । पोपुवः (पोप्य-अच्) । मरीमृजः (मरीमृज्य-अच्) । सरीसृपः (सरीसृप्य-अच्) । यहां लाल्य आदि यवन् धातुओं में यञोचि च से यच् का लुक् होता है । वह हल् और अच् दोनों के स्थान में

स्थानिवद्भावो नास्ति । यत्र हलचोरादेशः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः ।  
सरीसृप इति ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥  
लुकि कृते न प्राप्नोति ।

इदमिह सम्प्रधार्य लुक् क्रियतामल्लोपो वेति । किमत्र फर्तव्यम् ।  
परत्वादल्लोपः ।

नित्यो लुक् । कृतेप्यल्लोपे प्राप्नोति अकृतेपि प्राप्नोति ।

लग्न्यनित्यः । कथम् । अन्यस्य कृते लोपे प्राप्नोति, अन्यस्याकृते ।  
शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति ॥

आदेश है। उसमें अच परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि अच परस्मिन् सूत्र तो केवल अच् के स्थान में हुप् आदेश को ही स्थानिवत् करता है। इस लिए लोलुव आदि में गुणवृद्धि रोकने के लिए न धातुलोप सूत्र की आवश्यकता है।

यहां भी यद् के अकार का लोप अतो लोप से करके अवशिष्ट य् का यञोचि च से लुक् कर देंगे। उसमें अकारलोप के अच. परस्मिन् से स्थानिवत् होने से गुणवृद्धि न होगे।

पहले यञोचि च से यद् का लुक् होने पर अतो लोप. से अकारलोप प्राप्त ही नहीं तो कैसा स्थानिवद्भाव ? और उससे गुणवृद्धि का प्रतिषेध ?

यहां यह विचारना चाहिए कि पहले यञोचि च से यद् का लुक् करें या अतोलोप से अकार का लोप ? क्या करना चाहिए ? यञोचि च की अपेक्षा अतो लोप सूत्र के पर होने से विप्रतिषेध पर कार्यम् के नियम से पहले अकार का लोप करना चाहिए।

लुक् नित्य है। अकार का लोप करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी।

लुक् अनित्य भी है। क्योंकि अतो लोप के लगने पर केवल य् को प्राप्त होता है और उसके न लगने पर पूरे य शब्द को प्राप्त होता है। यह नियम है कि जो विधि शब्दान्तर को प्राप्त होती है अर्थात् पहले किसी और शब्द को, बाद में किसी और शब्द को वह अनित्य होती है। इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला लुक् अनित्य ठहरता है।

अनवकाशस्तिर्हि लुक् ।

सावकाशो लुक् ।

कोऽवकाशः ?

अवशिष्टः । अथापि कथंचिदनवकाशो लुक् स्यादेवमपि न दोषः । अल्लोपे योगविभागः करिष्यते । अतो लोपः । ततो यस्य । यस्य च लोपो भवति । अत इत्येव । किमर्थमिदम् । लुकं वक्ष्यति तद्वाधनार्थम् । ततो हलः । हल उत्तरस्य यस्य च लोपो भवति ॥

इह तर्हि परत्वाद् योगविभागाद्वा लोपो लुक वाधेत । कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् । ( ऋ० १, ७९, २ ) नोनूयतेनोनाव ।

समानाश्रयो लुक् लोपेन वाध्यते । कश्च समानाश्रयः । य.

अच्छा तो लुक् अनवकाश है । अर्थात् अतो लोप के लगने पर लुक् को लगने का कहीं अवकाश नहीं ।

लुक् सावकाश है । लोप के लगने पर भी लुक् को अवकाश है क्या अवकाश है ?

बाकी बचा य् शब्द लुक् का अवकाश है । अकार लोप होने पर शेष य का लुक् हो सकता है । यदि किसी प्रकार लुक को अनवकाश मान भी ले तो भी दोष नहीं । क्योंकि अकार लोप के करने में योगविभाग कर लिया जायगा । जैसे अतो लोप, यह तो है ही । इसके बाद यस्य हल् इस सूत्र का योगविभाग करके यस्य और हल्, ये दो सूत्र बना देंगे । यस्य सूत्र में अत की अनुवृत्ति लायेंगे तो अर्थ होगा—यकार के अकार का लोप होता है आर्धधातुक में । आगे हल् इस सूत्र में यस्य की अनुवृत्ति रहेगी । यस्य यह नया बनाया हुआ सूत्र किस लिए होगा ? इस लिए कि यञोचि च से जो सीधा य शब्द का लुक प्राप्त होता है उसे बाध ले । इस प्रकार विशेष यत्न करके लोलुब आदि में भी अकारलोप ही करेंगे और उसे स्थानिवत् मान कर गुणवृद्धि रोक लेंगे । इस सूत्र की आवश्यकता नहीं ।

यू तो कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् इस ऋग्वेदीय मन्त्र के नोनाव इस यङन्त नोनूय धातु के लिङन्त प्रयोग में भी अकार का लोप पर होना से या योगविभाग क सामर्थ्य से यञोचि च से प्राप्त लुक को बाध लेवे और उसके स्थानिवत् होने से अचोष्णिति वृद्धि नहीं होनी चाहिए ?

समानाश्रया अर्थात् समान निमित्त वाला लोप लुक् का बाधक होगा । लोलुब, आदि में भच् प्रत्यय दोनों का समान निमित्त है । नोनाव में तो लिट

प्रत्ययाश्रयः । अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग भवति ।

कथं स्यद्ः प्रश्रथः हिमश्रथः । जीरदानुः । निकुचितः इति ।

उक्त शेषे ।

किमुक्तम् । निपातनात् स्यदादिषु । प्रत्ययाश्रयत्यादन्यत्र सिद्धम् ।  
रकि ज्यः सम्प्रसारणम् । निकुचितेऽप्युक्तम् । “संनिपातलक्षणो विधिर-  
निमित्तं तद्विघातस्येति ।

प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व ही यञोचि च से यद् का लुक् हो जाता है । उस सूत्र में चकार ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यिना निमित्त के भी सर्वप्रथम यद् का लुक् हो जावे ।

इस सूत्र के अभाव में स्यद्, प्रश्रथ आदि कैसे बनेंगे ?

स्यद्, प्रश्रथ, जीरदानु आदि शेष सब प्रयोगों के विषय में पहले उत्तर दिया जा चुका है । क्या ? निपातनात् स्यदादिषु । प्रत्ययाश्रयत्यादन्यत्र सिद्धम् । रकि ज्यः सम्प्रसारणम् इत्यादि । निकुचित के विषय में भी समाधान कहा गया है । क्या ? संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य इस परिभाषा से निकुचित, में दोष नहीं होगा । संनिपात परिभाषा का अर्थ है—जो दो के परस्पर संनिपात =सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाली विधि का हेतु नहीं बन सकता । जो जिससे बने वह उसी का विघात नहीं कर सकता । निकुचित ( निकुञ्च-इट क्त ) में जिस सेट् क्त प्रत्यय के कित्व के कारण बुञ्च् धातु के नकार का अनिदिता- से लोप होकर वह उदुपध बना है । उदुपध अर्थात् ह्रस्व उकार उपधावाला होकर वह कुञ्च् ( कुच् ) धातु उदुपधादि भावादिकर्मणो ० सूत्र द्वारा क्त प्रत्यय के कित्व सम्बन्ध को नष्ट करने में हेतु नहीं बनेगा । अर्थात् क्त प्रत्यय में कित्व का निषेध न होकर कित्व ही रहेगा तो क्विडिति च सूत्र से लघूपध गुण का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाएगा । उसके लिए न धातुलोप सूत्र द्वारा गुण निषेध करने की आवश्यकता नहीं है ।

१ इस प्रकार सब प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध करके भाष्यकार तथा वार्तिककार ने न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र का रण्डन कर दिया है । अन्त में प्रदीपकार कैयट लिखते हैं कि यदि सर्वत्र यन्त में यञोचि च से यद् का लुक् न मान कर यस्व इस सूत्र से यद् के अकार का लोप कर उसे स्थानिवन् मानेंगे तो जङ्गमः ( जङ्गम्य-अच् ) यहाँ यङन्त जगम्य धातु के अवयव यद् के अकारलोप की स्थानिवन् मानने से गमहनजनखनघसा लोप क्विड्यनडि सूत्र स गम् की उपधा का लोप प्राप्त होता है इस शङ्का का समाधान भी वे साथ ही कर देते हैं कि स्थानिवन् होकर अङ् पर हो जाएगा तो अनडि यह निषेध होकर उपधालोप न होगा ।



क्विडिति च ॥१११॥५॥

क्विडिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् ॥

क्विडिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम् । क्विडन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्तस्ते न भवत इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ।

उपधारोरवीत्यर्थम् ।

उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च । उपधार्थं तावद् । भिन्नः । भिन्नवान् इति । किं पुनः कारणं न सिध्यति । क्विडतीत्युच्यते तेन यत्र क्विडत्यनन्तरो गुणो भाव्यस्ति तत्रैव स्यात् । चितम् । स्तुतम् । इह तु न स्याद् भिन्नः भिन्नवान् इति ॥

क्विडिति च सूत्र से गुणवृद्धि का निषेध करन में तन्निमित्त ग्रहण करना चाहिये अर्थात् उस क्वि, गि, डि प्रत्यय को निमित्त मान कर जो इङ्लक्षण गुणओर वृद्धि प्राप्त हो उनका निषेध होता है ऐसा कहना चानिये । ( अन्यथा क्विति यह सप्तमी परसप्तमी या सत्सप्तमी भी सम्भव है—क्विडिति परत क्विति सति वा । परसप्तमी मानने पर अर्थ होगा क्वि, गि, डि प्रत्यय परे रहते जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे न हों । और सत्सप्तमी मानने पर अर्थ होगा—क्वि, गि, डि की विद्यमानता में जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे न हों । निमित्त ग्रहण करने पर यह निमित्त-सप्तमी बन जायगी तो अर्थ होगा—क्वि, गि, डि को निमित्त मान कर जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे ना हों ।

निमित्तग्रहण का क्या प्रयोजन होगा ? यही कि उपधा में गुण का निषेध हो जायगा और रोरवीति ( रोस्य-लृट् ईट् तिप् ) यहा यङ्लुगन्त र धातु में गुण निषेध न होगा । उपधा में जैसे—भिन्न, भिन्नवान् ( भिद्-त्, ऋवतु ) यहा भिद् धातु की उपधा में लृट् इकार है । उस से परे ऋ, ऋवतु प्रत्यय क्वि हैं । उनका निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले पुगन्तलृपधस्य च इस लृपध गुण का इस सूत्र से निषेध हो जाता है । क्या कारण है जो उपधा में गुण निषेध सिद्ध नहीं होता ? यदि तन्निमित्त ग्रहण न करें तो क्विति यह सप्तमी परसप्तमी समझी जायगी उस अरस्था में तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य इस परिभारा यल से जहां क्वि, गि, डि प्रत्यय परे रहते अनन्तर अर्थात् व्यवधानरहित सीधा इक् होगा, वही इस सूत्र से गुण का निषेध हो सकेगा । जैसे चितम्, स्तुतम् यहां चि स्तु धातुओ के इकार उकार से सीधा परे ऋ प्रत्यय क्वि है इस लिये यहीं ही इस सूत्र से गुण निषेध होगा । भिन्न, भिन्नवान्

ननु च यस्य गुण उच्यते तं किङ्त्परत्वेन विशेपेयिष्यामः । पुगन्त-  
लघूपधस्याङ्गस्य गुण उच्यते तच्चात्र किङ्त्परम् ॥

पुगन्तलघूपधस्येति नैवं विशायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति ।  
कथं तर्हि । पुकि अन्तः पुगन्तः । लघ्वी उपधा लघूपधा पुगन्तश्च लघू-  
पधा च पुगन्तलघूपधं पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् ।  
अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत—भिनत्ति छिनत्ति इति ।

रोरवीत्यर्थं च । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।

मे भिद् के दकार का व्यवधान होने से निषेध प्राप्त नहीं हो सकेगा । निमित्तग्रहण करने पर तो व्यवधान होने पर भी निषेध सिद्ध हो जायगा । क्यों कि भिन्नः, भिन्नवान् मे क्त क्तवतु को निमित्त मान कर गुण प्राप्त होता है वह व्यवधान में भी संभव है ।

परसप्तमी मानने में भी दोष नहीं है क्योंकि जिसको गुण कहा है उसका ही विशेषण कित्, गित्, डित् को बनायेंगे अन्य का नहीं । जैसे पुगन्त० सूत्र में लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण कहा है उपधा को नहीं, इस लिये लघु उपधा वाले अङ्ग से सीधे परे कित् गित् डित् होने चाहियें ऐसा मानेंगे और वे भिन्नः, भिन्नवान् में हैं ही । भिद् यह लघु उपधा वाला अङ्ग है उससे सीधा परे क्त क्तवतु प्रत्यय कित् है इसलिये इस सूत्र से गुण निषेध हो जायगा ।

पुगन्त० सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि—पुक् है अन्त में जिसके उस अङ्ग को और लघु है उपधा में जिसके उस अङ्ग को गुण हो, बल्कि यह अर्थ है—पुक् परे रहते जो अन्तिम अक्षर है उसको और लघु जो उपधा है उसको गुण हो । उक्त सूत्र का ऐसा ही अर्थ मानना भी चाहिये । अन्यथा यदि लघु उपधा को गुण न मान कर लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण मानेंगे तो भिनत्ति, छिनत्ति ( भिद् छिद् शनम्-त्तिप् ) यहाँ शनम् विकरणविशिष्ट भिनद् छिनद् अङ्ग भी लघु अकार उपधा वाले होने से यहाँ भी भिनत्ति छिनत्ति इस प्रकार लघूपध गुण होकर अनिष्ट रूप प्रसक्त होगी ।

रोरवीति के लिए भी निमित्तग्रहण करना चाहिये । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति इस वेद-मन्त्र के रोरवीति प्रयोग में इस सूत्र से गुणनिषेध न होवे । रोरवीति ( रोरुय-रुट् रूट् तिप् ) में डित् यद् प्रत्यय का यञोचि च से लुक् हुआ है । वह प्रत्यय लक्षण से विद्यमान है । उसकी विद्यमानता में इस सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । निमित्तग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहता क्योंकि सार्वधातुक

यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते, शचडन्ते दोषः । रियति पियति धियति । प्रादुदुवत् । प्रासुसुवत् । अत्र न प्राप्नोति ।

शचडन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् सिद्धम् ।

अन्तरङ्गलक्षणत्वादियडुवडोः कृतयोरनुपधात्वाद् गुणो न भविष्यति । एवं क्रियते चेद् तन्निमित्तग्रहणं न च कश्चिद्दोषो भवति ।

गुण का निमित्त यद् प्रत्यय नहीं है बल्कि तिप् है । वह टिट् नहीं है अतः यहाँ गुण का निषेध नहीं हो सकता ।

यदि इस सूत्र में निमित्तग्रहण करते हैं तो श और चडविकरणान्त प्रयोगों में दोष होगा । रियति, पियति, धियति ( रि पि धि-शतिप् ) यहाँ तुदादिगणीय रि, पि, धि धातुओं से तिप् प्रत्यय परे रहते श विकरण हुआ है । तिप् परे रहते रि अ, पि अ, धि अ इतना अङ्ग है । और श परे रहते रि, पि, धि अङ्ग है । श प्रत्यय सार्वधातुकमपिन् से टिट् है । अतः उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होने पर भा तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण कैसे रहेगा ? यह निमित्त ग्रहण करने पर भी नहीं रख सकता । किन्ति यह सत्सप्तमी मानने पर तो यहाँ लघूपध गुण का निषेध हो सकता है । क्योंकि श प्रत्यय टिट् विद्यमान है । उसकी विद्यमानता में गुण का निषेध हो जायगा । चाहे उसे निमित्त मान कर गुण प्राप्त हो या न मान कर । निमित्तग्रहण के अभाव में हम किन्ति इस सप्तमी को किसी भी अर्थ में ले सकते हैं । किन्तु निमित्तग्रहण करने पर वैसा नहीं हो सकता अतः यहाँ गुणनिषेध का उपाय सोचना होगा । इसी प्रकार प्रादुदुवत्, प्रासुसुवत् ( प्र दु सु चड-लुङ् तिप् ) यहाँ प्रपूर्वक दु सु धातुओं से लुट् में तिप् परे रहते चट विकरण हुआ है । तिप् परे रहते दु अ, सु अ अङ्ग हैं । चट परे रहते केवल दु, सु । चड टिट् है उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले सार्वधातुक गुण का इससे निषेध होने पर भी तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपधगुण कैसे रहेगा । निमित्तग्रहण करने पर भी यह सूत्र गुण का निषेध नहीं कर सकता ।

निमित्त ग्रहण करने में जो न और चड विकरणान्तों का दोष कहा यह कोई दोष नहीं । क्योंकि यहाँ रियति, पियति इत्यादि में लघूपध गुण की अपेक्षा इयड् उवड् के अन्तरङ्ग होने से गुण को बाधकर पहले अच श्रुधातु० सूत्र से इयड् उवड् हो जायेंगे फिर लघु उपधा के न रहने से गुण की प्राप्ति ही नहीं रहती । रियति आदि में लघूपध गुण तिप् का मान कर प्राप्त है वह बहिर्वर्ती होने से बहिरङ्ग है । और इयड् उवड् केवल चड के अकार को मान कर प्राप्त हैं वे अन्तर्वर्ती होने से

इमानि च भूयस्तन्निमित्तप्रहणस्य प्रयोजनानि—हतो ह्यः । उपोयते ।  
औयत । लौयमानि । पौयमानिः । नेनिके इति ॥

अन्तरङ्ग हैं । असद्व बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा चल से अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग  
असिद्ध होता है अतः पहले इयङ् उवङ् ही हो जायेंगे फिर गुण न होगा । इस प्रकार  
निमित्तप्रहण करने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता । यन्त्रि निमित्तप्रहण के ये भी  
बहुत से प्रयोजन हैं—हत, ह्य । उपोयते । औयत । लौयमानि । पौयमानि ।  
नेनिके ॥ हत, ह्य ( हन्-लट् तस् थस् ) यद्वा अदादिगणीय हन् धातु से लट् लकार  
में तस् थस् प्रत्यय पर रहते शप का लुक् हुआ है । तस्, थस् प्रत्यय सार्वधातुवमभित्  
से टित् हैं । यदि सूत्र में निमित्तप्रहण नहीं करते हैं तो तस्, थस् के टित् होने से  
उन की विद्यमानता में हन् के गुणसञ्ज्ञक अकार का अभाव हो जाना चाहिये ।  
उस अवस्था में निति यह सत्सप्तमी मान कर सूत्र का अर्थ होगा कित् गित् डित्  
की विद्यमानता में गुण वृद्धि नहीं रहते । हन् में अकार गुण है वह नहीं रहना  
चाहिए । निमित्तप्रहण करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यहाँ तस्, थस्  
को निमित्त मान कर हन् को अकार गुण नहीं हुआ है । वह तो पूर्व से ही धातु  
में विद्यमान है । उपोयते ( उप ऊयते ) यद्वा उपपूर्वक वेल् धातु से कर्मवाच्य के  
लट् लकार में यक् पर रहते वेल् को सम्प्रसारण और दीर्घ होकर उप के साथ ऊ  
का आद्गुण से ओकाररूप गुण एकादश हुआ है । औयत यद्वा वेल् धातु को लट्  
लकार के कर्मवाच्य में यक् पर रहते सम्प्रसारण और दीर्घ होकर आट्त्च से आटागम  
के साथ ऊ को औ वृद्धि एकादश हुआ है । निमित्तप्रहण न करने पर  
निति यह सत्सप्तमी मानी जाएगी । यद्वा यक् प्रत्यय कित् विद्यमान है । उसकी  
विद्यमानता में इस सूत्र से ओ औ में गुणवृद्धि न रहने चाहिये । निमित्तप्रहण  
करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यद्वा ओ औ ये गुणवृद्धि कित् यक्  
प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुए हैं इस लिए उनका निषेध नहीं होगा ।

लौयमानि, पौयमानि ( ल्यमानस्यापत्यम्, पूयमानस्यापत्यम् ) यद्वा  
ल्यमान पूयमान शब्दों से अपत्य अर्थ में इन प्रत्यय हुआ है । उसको निमित्त मान  
कर तद्धितञ्चामादे से आदि वृद्धि ओकार हुई है । ल्यमान पूयमान में कित् यक्  
प्रत्यय के विद्यमान होने पर भी इस सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि वह  
यक् को निमित्त मान कर नहीं हुई बल्कि इन् प्रत्यय को निमित्त मान कर हुई है ।  
नेनिके ( निन् लट् त् ) यद्वा निन् धातु से परे लट् लकार में त् प्रत्यय डित् है ।  
उसके परे रहते लुहोत्यादिभ्यः श्लु से शप् को श्लु होकर श्लौ से निन् को द्वित्व  
हुआ है । श्लुविषय में अभ्यास के निन् शब्द का निन्ना त्रयाणा गुणः श्लौ

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । इह तावत् हतो हथ इति प्रसक्तस्यान-  
भिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम् । अयं च धातूपदेशाव-  
स्थायामेवाकारः । इह चोपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिः इति ।  
बहिरङ्गे गुणवृद्धी । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।  
नेनिके इति परेण रूपेण व्यवहितत्याज्ज भविष्यति ।

उपधार्थेन तावन्नार्थः । धातोरिति वर्तते । धातुं ऋडित्परत्वेन

से गुण होता है । उस अभ्यास के गुण का इस सूत्र से निषेध नहीं होता क्योंकि  
वह टित् तप्रत्यय का निमित्त मान कर नहीं हुआ है ।

निमित्तग्रहण करने के हतः, हथ इत्यादि कोई प्रयजन नहीं । हतः हथः  
में तो हन् धातु को उपदेशावस्था में पहले ही अकार विद्यमान है उसका निषेध  
यद् सूत्र नहीं कर सकता । क्योंकि जो कार्य प्रसक्त अर्थात् क्रिया से प्राप्त नहीं  
हो और अनभिनिर्वृत्त अर्थात् अभी हुआ न हो उसी को निषेध द्वारा रोका  
जा सकता है । हतः, हथः में अकारगुण धातु में पूर्व से विद्यमान है किसी से  
प्राप्त नहीं है अतः उसका निषेध इस सूत्र से नहीं हो सकता । उपोयते आदि में  
गुणवृद्धि बहिरङ्ग है । उनका निषेध अन्तरङ्ग है । उपोयते में उप और उयते  
इन दो पदों का आश्रयण करने से ओकार गुण बहिरङ्ग है । निषेध केवल उयते इस  
एकपदस्य यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है । औयत में आ और ऊ इन  
दो का आश्रयण करने से औकार वृद्धि बहिरङ्ग है । इसी प्रकार लौयमानिः,  
पौयमानिः में यक् से परवर्ती इन् प्रत्यय का आश्रयण करने से वृद्धि बहिरङ्ग  
है । निषेध केवल यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे  
इस परिभाषाबल से निषेध करने में गुणवृद्धि असिद्ध रहेंगे तो निषेध किस  
का होगा । नेनिके में भी अभ्यास के निन् शब्द को जो गुण हुआ है उस का  
निषेध नहीं होगा क्योंकि टित् तप्रत्यय के परे रहते पररूप अर्थात् दूसरा  
अङ्गसंज्ञक जो निन् शब्द है उसका व्यवधान है । व्यवधान होने से निषेध न  
होगा । अभ्यास को गुण कहा गया है उस से सीधा परे तप्रत्यय नहीं है । सत्वप्तमी  
मानने पर भी यहाँ इलुविषयक गुण का निषेध नहीं होगा क्योंकि तप्रत्यय  
और अभ्यास दोनों के मध्य में दूसरे निन् शब्द का व्यवधान है । हाँ,  
तप्रत्यय के निरुद्धवर्ती अङ्गसंज्ञक निन् शब्द को जो उपधा गुण प्राप्त होता है  
उसका तो निषेध होगा ही ।

वस्तुतः उपधा के लिये भी निमित्तग्रहण करने की आवश्यकता नहीं ।  
किन्ति च सूत्र में न धातु लोप आर्धधातुके इस पूर्वसूत्र से धातु की अनुवृत्ति आ

विशेषयिष्याम । यदि धातुर्विशेष्यते विकरणस्य न प्राप्नोति । चिनुतः ।  
सुनुतः । लुनीत. पुनीत. इति । नेप दोषः । विहितविशेषणं धातुग्रहणम् ।  
धातोर्यो विहित इति । धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति । नेवं विज्ञायते धातोर्वि-  
हितस्य किञ्चितीति । कथं तर्हि, धातोर्विहिते किञ्चितीति ।

अथवा

कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् ।

यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् । पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवतीत्युपस्थित-  
मिदं भवति किञ्चितीति नेति ॥

ही रही है । किन् गित् टित् का उस धातु का विशेषण बनायेंगे अर्थात् किञ्चि-  
त् परे रहते जो धातु उसके इन् को गुणवृद्धि नहीं होते ऐसा अर्थ करेंगे तो भिन्न,  
भिन्नवान् में च चत् इन् प्रत्ययों के इसी प्रकार चिनुत, सुनुत. में चित् इन्  
से अव्ययहितपूर्व चि, सु के इन् को गुण नहीं होता । परे रहते भिद् धातु है ही, उसके  
इन् को गुणनिपेध सिद्ध हो जायगा । किञ्चि को धातु का विशेषण मानने पर चिनुत,  
सुनुत ( चि सु इन् तस् ) लुनात्, पुनीत् ( लू. पू, इना-तस् ) यहाँ चित् तस् प्रत्यय  
के परे रहते चिनु, लुनी आदि में इन्, इना विकरण है, धातु नहीं है इस लिये  
विकरण को गुणनिपेध नहीं हो सकगा सो कोई दोष नहीं । क्योंकि धातु को विहित  
का विशेषण बनायेंगे । अर्थ हागा—धातु से जो विहित है उसे गुणवृद्धि नहीं  
होते किञ्चि प्रत्यय परे होने पर । इन् इना धातु से विहित है अत इन्हें गुण  
नहीं होगा । पर विहित विशेषण मानने से धातु को ही गुण निपेध प्राप्त नहीं  
होगा यह दोष आता है । नहीं । धातु से जो विहित उसको गुणवृद्धि का निपेध  
होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये । किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि धातु से  
विहित ( विधान किया हुआ ) जो किञ्चि प्रत्यय उस के परे रहते ( चाहे वह धातु  
हो चाहे विकरण दोनों का ही ) गुणवृद्धि नहीं होते । तब चिनुत, लुनीत् में धातु  
के साथ विकरण को भी गुणनिपेध सिद्ध हो जायगा । क्योंकि धातु से विहित इन्  
इना ये विकरण भी चित् हैं । इस प्रकार किञ्चि परे रहते न केवल धातु को ही बल्कि  
धातु से विहित किञ्चि विकरण को भी गुण वृद्धि नहीं होंगे ।

अथवा कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् इस नियम से काम हो जायगा । इस  
नियम का अर्थ है—सज्ञा और परिभाषा का जहा काम पड़े वही उन की उपस्थिति  
मानी जाती है । इस लिये पुगन्तलघूपधस्य इस सूत्र में किञ्चि च यह सूत्र परिभाषा-  
रूप बना हुआ उपस्थित होगा तो उस समय सूत्र का अर्थ होगा—पुगन्त को और अद्  
की लघु उपधा इन् को किञ्चि परे रहते गुण नहीं होता । तब भिन्न, भिन्नवान् में

अथवा यदेतस्मिन् योगे ङिङ्ग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाश-  
त्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध  
इति। यदयं त्रिसिगृधिधृषिधिषे. ऋनुः। इको झल्, हलन्ताच्चेति  
क्नुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। किन्करणस्येतत्प्रयोजनम्।

भिद् के दकार का व्यवधान होने पर भी येन नाव्यवधानं तेन व्याहतेपि वचन-  
प्रामाण्यात् इस न्यायबल से गुण निषेध सिद्ध हो जायगा। इस न्याय का अर्थ है  
जिस विधि में एक अक्षर का व्यवधान सर्वथा अनिवार्य है, जो किसी प्रकार रोकना  
नहीं जा सकता वहाँ उस विधि-वचन के प्रमाण से (विधि-वचन की सार्थकता के लिये  
एक के व्यवधान में भी कार्य हो जाता है। न व्यवधानम्=अव्यवधानम्। न  
अव्यवधानं नाव्यवधानम् अर्थात् अवश्य होनेवाला व्यवधान। क्योंकि क्त्वि परे रहते  
सर्वथा व्यवधान रहित लघु उपधा इक् का मिलना असंभव है। एक अक्षर के  
व्यवधान से तो उपधा ही बनती है इसलिये पुगन्त सूत्र के वचनप्रमाण के आधार  
पर जरूरी होने से केवल एक अक्षर दकार का व्यवधान सद्य होगा। वहाँ व्यवधान  
होने पर भी गुण का निषेध माना जायगा।

अथवा पुगन्त० सूत्र में उपस्थित हुआ क्त्वि च यह निषेध सूत्र अनवकाश  
है। अनवकाश होने से गुणवृद्धि न होगी। अर्थात् क्त्वि च यह सूत्र गुणनिधि-  
होने से प्रधानविधि पुगन्त० सूत्र को निश्चित विषय के परिष्कार के लिये  
अपने अनुरूप बनायेगा तो पुगन्त सूत्र गला यह सूत्र अन्य प्रधान विधि  
सम्बद्ध क्त्वि च सूत्रों से भिन्न हो जायगा। पुगन्त सूत्र के लक्ष्यों में  
व्यवधान के कारण अप्रवृत्ति से यह अवकाश रहित बन जायगा। क्योंकि  
क्त्वि परे रहते अव्यवहित लघु उपधा इक् कदापि कहीं नहीं मिल सकता  
जहाँ यह साक्षात् निषेध कर सके। उस अवस्था में अवकाशान्य होने से  
यह सूत्र भिन्नः, भिन्नवान् इत्यादि व्यवहित स्थलों में भी प्रवृत्त हो  
जायगा। अन्यथा उपधागुण के विषय में कदा निषेध न कर सकने से  
यह उस अंश में व्यर्थ होगा।

अथवा आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उपधालक्षण  
गुण का भी इस सूत्र से निषेध होता है। जो त्रिसिगृधिधृषे. ऋनु. इस सूत्र  
में ऋनु प्रत्यय को तथा इको झल् के बाद हलन्ताच्चेति इस सूत्र से सन् को क्त्वि  
किया गया है उससे ज्ञापित होता है कि लघूपध गुण का भी यह सूत्र निषेध  
करता है। कैसे? ऋनु और सन् को क्त्वि करने का यही तो प्रयोजन है कि गृध्नुः,

गुण. कथं न स्यादिति । यदि चात्र गुणनिषेधो न स्यात् कित्करण-  
मनर्थकं स्यात् । पश्यति त्वाचार्यो भवत्युपधालक्षणस्यापि गुणस्य  
प्रतिषेध इति ततः क्तुसन्तो कितौ करोति ॥

रोरचीत्यर्थेनापि नार्थः । किङ्तीत्युच्यते । न चात्र कितं डितं  
वा पश्यामः । प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति ।

न लुमता तस्मिन् ।

इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः । अथापि न लुमताङ्गस्येत्युच्यते ।  
एवमपि न दोष । कथम् । न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः । प्रतिनिर्दिश्यते ।  
किं तर्हि, योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवतीति ।  
अथाप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते एवमपि न दोषः । कथम् । कार्यकालं  
सज्ञापनिभापम् । यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् । सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो  
भवतीत्युपस्थितमिदं भवति किञ्चित् नेति ।

क्षिप्नु यद्वा गृध, क्षिप् को धौर विभित्सति, बुभुत्सते यद्वां भिद् बुष् को  
लघूपधगुण न हो । यदि उपधा इक् में व्यग्रधान होने से यह निषेध न लगे तो  
उक्त प्रत्ययो को कित् करना व्यर्थ है । किन्तु आचार्य समझते हैं कि उपधा  
इक् में व्यग्रधान होने पर भी उपधालक्षण गुण की प्राप्ति होती है उसको रोकने  
के लिए क्तु, सन् को कित् करना आवश्यक है अतः उन्हें कित् करते हैं । इस प्रकार  
अनेक परिहारों के प्रदर्शन से निमित्तप्रदण का खण्डन आसानी से हो जाता है ।

रोरचीति प्रयोग के लिए भी निमित्तग्रहण की आवश्यकता नहीं है । कित्,  
गित्, डित् परे रहते गुणवृद्धि का निषेध कहा है । रोरचीति में कित्, गित्, डित्  
कुछ भी परे नहीं । यद्यपि च से डित् यद् प्रत्यय का लुक् हुआ है वह  
प्रत्ययलक्षण से विद्यमान है । न लुमता तस्मिन् इस वार्तिक से प्रत्ययलक्षण का  
निषेध हो जाएगा तो डित् परे नहीं रहेगा । वैसे न लुमताङ्गस्य इस पाणिनिसूत्र  
से भी प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कोई दोष न होगा । हम न लुमताङ्गस्य  
का यह अर्थ नहीं करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर केवल अङ्गाधिकारीय  
कार्य नहीं होता बल्कि यह अर्थ करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर जो भी अङ्ग  
है उसको कार्य नहीं होता, चाहे वह कार्य अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर  
का हो । यद् प्रत्यय लुमान् शब्द से लुप्त है उसके परे होने पर रोर यह अङ्ग है  
उस का कार्य किञ्चित् च से सार्वधातुक गुण का निषेध है वह नहीं होगा तो  
गुण निर्बाध हो जाएगा । यदि न लुमताङ्गस्य सूत्र में अङ्गाधिकारीय कार्य का



अथवा छान्दसमेतत् । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

अथवा वहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं वहिरङ्ग-  
मन्तरङ्गे ।

अथवा पूर्वस्मिन् योगे यदार्धधातुकग्रहणं तदनवकाशं तस्यान-  
वकाशत्वाद् गुणो भविष्यति ।

ही निषेध माने तो भी दोष नहीं । क्योंकि कार्यकाल सज्ञापरिभाषाम् इस उक्त नियम से किञ्चित् च यह सूत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोः इस सूत्र में उपस्थित होकर अङ्गाधिकार का घन जायगा । सार्वधातुकार्धधातुकयो यह सूत्र अङ्गाधिकार का है ।

अथवा रोरवीति यह प्रयोग छान्दस अर्थात् वैदिक है और छन्द में दृष्टानुविधि अर्थात् दृष्ट का अनुसरण होता है । वेद में जैसा देखा वैसा कर लिया । रोरवीति में गुण दीखता है तो गुण ही रहेगा उसका निषेध नहीं होगा ।

अथवा रोरवीति में वहिर्वती तिप् को मान कर होने वाला सार्वधातुक गुण वहिरङ्ग है और अन्तर्वती यच् के डित् को मान कर होने वाला किञ्चित् च से निषेध अन्तरङ्ग है । असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा के बल से वहिरङ्ग गुण असिद्ध रहेगा तो निषेध किसका होगा ।

अथवा पहले गये हुए न धातुगोः सूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है वह अनव-  
काश है अर्थात् निःप्रयोजन है । उससे यहाँ प्रयोजन ले लिया जायगा । उसके अनवकाश होने से सार्वधातुक परे रहते गुणनिषेध न होगा । न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण के बिना भी धातुलोप शब्द में धातुलोपो यस्मिन् इस प्रकार बहुव्रीहि समास समझ लिया जायगा जिस प्रकार एवाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र के एकाच. शब्द में एकोऽच् यस्मिन् यह बहुव्रीहि समझ लिया जाता है, तो फिर आर्धधातुक ग्रहण का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । इस प्रकार पूर्व सूत्र में व्यर्थ हुआ आर्धधातुक ग्रहण इस बात का सामर्थ्य रहेगा कि आर्धधातुक से भिन्न सार्वधातुक में किसी से भी प्राप्त गुणनिषेध न हो, केवल आर्धधातुक में ही गुण का निषेध हो । रोरवीति में तिप् सार्वधातुक है अतः किञ्चित् च सूत्र से प्राप्त गुणनिषेध भी आर्धधातुक के बल से रूक जायगा । रोरवीति में यच् का लुक् अनैमित्तिक है अर्थात् वह आर्धधातुक या सार्वधातुक किसी को भी निमित्त मान कर नहीं होता । यहाँ तिप् के आने से पूर्व ही हो गया है । आर्धधातुक के परे रहते होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता अतः आर्धधातुक ग्रहण का ध्यारत्य उक्त

इह कस्मान्न भवति । लैगवायनः । कामयते ।

तद्धितकाम्योरिक् प्रकरणात् ।

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैते इग्लक्षणे ।

लकारस्य द्वित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः ।

लकारस्य द्वित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । अचिनवम् ।

भी नहीं सिवाय इसके कि वह सार्वधातुक में गुणनिषेध को रोके चाहे वह किसी से प्राप्त हो ।<sup>१</sup>

यहाँ लैगवायन, और कामयते इन प्रयोगों में ऋिति च सूत्र से वृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता ? लिगोरपत्यं लैगवायनः । लिगुदाब्द से गोत्रापत्य में नडादिभ्यः फन् से फक् प्रत्यय होकर किति च से आदिवृद्धि ऐकार हुई है । कामयते में कम् धातु से स्वार्ये में वमेणिङ् से णिङ् प्रत्यय होकर अत उपधायाः से आकार वृद्धि हुई है । फक् के कित् होने और णिङ् के टित् होने से वृद्धिनिषेध प्राप्त होता है ।

तद्धित के लैगवायनः और कम् धातु के कामयते प्रयोग में वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि इको गुणवृद्धि इस पूर्व सूत्र से यहाँ इक् पद की अनुवृत्ति आती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही इस सूत्र से निषेध होगा । उक्त प्रयोगों में इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं है । लैगवायनः में अचामादेः से कही हुई वृद्धि अग्लक्षण है । और कामयते में उपधा अकार को कही हुई वृद्धि उपधालक्षण है । इग्लक्षण अर्थात् इक् शब्द की उपस्थिति से कही हुई वृद्धि नहीं है अतः यहाँ निषेध नहीं होगा ।

जो लकार टित् हैं उनके स्थान में आदेश होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से टित् प्राप्त होते हैं । जैसे—अचिनवम् असुनवम् (चि सु इतु-लङ् मिप् अम्) अकरवम् (कृ-उ-लङ् मिप् अम्) यहाँ चि आदि धातुओं से परे लङ् लकार के स्थान में उत्तम पुरप का एकवचन मिप् (अम्) आदेश हुआ है । वह टित् लकार के स्थान में होने से स्थानिवद्भाव के नियमानुसार पित् होता हुआ भी टित्

१. यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यङ्लृ को छान्दस मान कर ही आर्षधातुग्रहण व्यर्थ होता है अन्यथा नहीं । यदि लोरु में भी यङ्लृ का प्रयोग मानें जैसा कि प्रायः प्रयोग में माना जाता है तब तो तोतोति (तुर्व् यङ् लृक्-तिप्) दोषोति (धुर्व्-यङ् लृक्-तिप्) इत्यादि यङ्लृगन्त प्रयोगों में तिप् सार्वधातुक के परे गुण निषेध रोक्ने के लिये आर्षधातुग्रहण सर्वथा आवश्यक है उस अवस्था में भाष्यकार का यह अन्तिम समाधान छोड़ देना होगा ।

असुनवम् । अकरचम् ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो

डिद्वचनात् सिद्धम् ।

यद्यं यासुटो डिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न डिदादेशा  
डितो भवन्तीति ।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं नित्यं डितः । 'इतश्चेति' । डितो यत् कार्यं  
तद् भवति । डिति यत्कार्यं तन्न भवतीति ।

माना जायगा तो उसके परे रहते क्विति च सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । यदि कहो कि मिप् पित् है और पिच्च डित् पिच्च डित् भवति अर्थात् जो पित् है वह डित् नहीं होता और जो डित् है वह पित् नहीं होता तो यह कल्पना तो भाव्यकार की है, वार्तिककार की नहीं, इस लिये उनके मत से डित् लकार के स्थान में होने वाला मिप् डित् ही है ।

लङ् लकार के अचिनवम् आदि में कोई दोष नहीं । क्योंकि यासुट् परस्मैपदे-  
पूदात्तो डित्च इस सूत्र में जो लिङ् में होने वाले यासुट् को डित् किया है वह  
आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि डित् लकार के स्थान में  
होने वाले तित् आदि आदेश डित् नहीं माने जाते । लिङ् लकार स्वयं डित् है । उसके  
स्थान में होने वाले आदेश यदि स्थानिवद्भाव से डित् माने जाते तो तित् आदि  
के डित् हो जाने से उनको लिङ् में हुआ यासुट् आगम भी यदागमन्याय से डित्  
ही जाता फिर उसे डित् करना व्यर्थ है । इस डित् वचन से सिद्ध होता है कि  
लकार का डित्त्व आदेश में नहीं आता । इस लिये लङ् का डित्त्व मिप् में नहीं  
जायगा तो अचिनवम् आदि में गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि यह कहो कि उक्त ज्ञापक से लकार का डित्त्व आदेश में न मानने पर  
निय डित्, इतश्च इन सूत्रों से होने वाले कार्य कैसे सिद्ध होंगे । निय डितः से  
डित् लकार के स्थान में होने वाले आदेश को स्थानिवद्भाव से डित् मान  
कर सकार का लोप होता है । जैसे—अभवाव, अभवाम, अचिनुम इत्यादि । इसी  
प्रकार इतश्च से डित् लकार के आदेश को डित् मान कर अभवत्, अचिनोत्  
इत्यादि में तित् के इकार का लोप होता है—सो कोई दोष नहीं । इन कार्यों में  
तो स्थानिवद्भाव से डित्त्व ही जायगा । क्योंकि जो डित् को होने वाला कार्य है  
वह तो स्थानिवद्भाव से आदेश को भी डित् मान कर हो जायगा लेकिन जो  
डित् परे रहते किसी अन्य का होने वाला कार्य है वह आदेश को स्थानिवद्भाव से  
डित् मान कर नहीं होगा ।

किं वक्तव्यमेतत् । नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । यासुट एव  
 डित्त्वचनात् । अपर्याप्ताश्चैव हि यासुट् समुदायस्य डित्त्वे, डितं चैनं  
 करोति । तस्यैतत् प्रयोजनं डितो यत्कार्यं तद् यथा स्यात्, डिति  
 यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥

दीधीवेवीटाम् ॥१॥१॥६॥

किमर्थमिदमुच्यते ॥

गुणवृद्धी मा भूताम् इति । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेद्यनम् ।

क्या यह बात कहनी होगी ? नहीं । गिना कहे कैसे समझी जायगी ?  
 यासुट् के ही डित् वचन से यह बात समझी जायगी । क्योंकि जो डित् को होनेवाला  
 कार्य है वह यासुट् को कुछ भी विधेय नहीं है जिसके लिये उसे डित् किया जाय ।  
 हाँ, डित् पर रहते जो अङ्ग को सम्प्रसारण या गुणवृद्धि निषेध आदि कार्य हैं उन  
 के लिये यासुट् को डित् किया गया है । वह यासुट् का कार्य है । जिससे वे कार्य  
 यासुट् के पर रहते हो जायें । क्योंकि अकेले यासुट् भागम को डित् किया है इस  
 लिये वह अपने आगामी लादेश समुदाय तिप् आदि को डित् बनाने में असमर्थ है ।  
 यद्यपि लादेश तिप् आदि ही गुणवृद्धि के निमित्त हैं, यासुट् नहीं, फिर भी  
 यासुट् के डित् वचन से उसके पर रहते भी गुणवृद्धि का निषेध हो जायगा ।  
 या यों समझिये—क्योंकि यासुट्, तिप् आदि की सहायता से ही अपना डित्त्व काम  
 में ला सकता है । सम्प्रसारण आदि के निमित्त तिप् आदि ही हैं यासुट् नहीं । इस  
 लिये उसको किया हुआ डित्त्व तिप् आदि समुदाय के लिये उपयुक्त होगा ।  
 अर्थात् उसके डित्त्व से वे डित् समझे जायेंगे तो उनके पर रहते डित् कार्य हो  
 सकेंगे । वे तिवादि स्वयं लकार के डित्त्व से यदि डित् बन जाते तो यासुट् को  
 डित् करना व्यर्थ था । वे तो डित् थे ही । यासुट् भी उनको भागम होकर  
 डित् बन ही जाता । यह यासुट् को डित् करना ही इस बात का सूचक है कि  
 डित्त्व तिवादि के पर रहते जो कार्य करने हैं वे यासुट् के डित्त्व द्वारा सिद्ध कर दिये  
 जायें । अर्थात् यासुट् के डित्त्व को लेकर तिवादि डित् माने जायें और उनके पर  
 रहते अङ्ग को सम्प्रसारणादि कार्य हो जायें । इससे स्पष्ट है कि डित् पर रहते जो  
 कार्य अङ्ग को करने हैं उनके विषय में स्थानियद्भाव से लकार का डित्त्व आदेश  
 में नहीं माना जाता । केवल डित् को जो कार्य ताम् तम् सलोप आदि करने हैं उन  
 का डित्त्व आदेश में स्थानियद्भाव से माना जाता है ।

दीधीवेवीटाम् यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

दीधीइ वेवीइ इन दो धातुओं तथा इडागम को गुणवृद्धि न होवें इस लिये

आवेव्यकः ॥

अयं योगः शन्योऽकर्तुम् । कथम् ।

दीर्घावेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्य  
दीर्घेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः ।

दीर्घावेव्योश्छन्दोविषयत्वात् । दीर्घावेव्योश्छन्दसोविषयौ । दृष्टानु-  
विधित्वाच्च छन्दसः । दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति । अदीधेत्,  
अदीधयु इत्यत्र च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधः  
अप्रतिषेधः । प्रजापतिर्वै यत् किञ्चिन्मनसा अदीधेत् । होत्राय वृत्-  
कृपयन्नदीधेत् । अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः ।

भवेदिदं युक्तमुदाहरणमदीधेदिति । इदं त्वयुक्तमदीधयुरिति ।  
अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते स यथैव ऋति चेत्येनं बाधते

यह सूत्र बनाया है । जैसे—आदीव्यनम्, ( आ दीधी-युद् अन ) आदीव्यनः, ( आ  
दीधी-ण्वुल् अक ) आवेव्यनम् ( आ वेवी-ल्युद् अन ) आवेव्यनः ( आ वेवी-ण्वुल्  
अक ) यहाँ आद् पूर्वक दीर्घाद् वेरोद् धातुओं से ल्युट् और ण्वुल् प्रत्यय पर रहते  
क्रम से सार्वधानुकु गुण तथा अचोऽङ्गिति वृद्धि प्राप्त होती है । इस सूत्र से उनका  
निषेध होकर एनेकाच. से यण् हो जाता है ।

यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । क्योंकि दीधी वेवी दोनो धातु छान्दस हे ।  
वैदिक हैं । छन्द मे दृष्ट का अनुविधान होता है । वेद मे जैसा दीखि वैसा कर  
लिया जाता है । वेद मे ही अदीधेत् ( दीधी-लट् तिप् ) अदीधयु ( दीधी-लट्  
सि जुस् ) इत्यादि प्रयोगों मे गुण भी दिखार्द देता है इस कारण यह निषेध  
अनर्थक है । प्रजापतिर्वै इत्यादि स्थल दीधी धातु को गुण होता है यह दिख  
रहे हैं ।

अदीधेत्, अदीधयुः इन दो उदाहरणो मे अदीधेत् यह उदाहरण तो ठीक  
है, पर अदीधयुः ठीक नहीं । क्योंकि यहाँ दीधी धातु से लट् लकार मे प्रथम-  
पुरुष का बहुवचन जुस् है । जुस् मे जुसि च इस सूत्र से होने वाला गुण,  
निषेध विषय को बाधने के लिये बनाया है वह जैसे—किञ्चित् च इस गुणनिषेध  
को बाधता है जैसे दीर्घावेव्योऽङ्गिति इति इति गुणनिषेध की भी बाधतामान्यचिन्तापक्ष को  
लेकर बाध लेगा तो यहाँ अनिवार्य रूप से गुण ही होगा । गुणनिषेध हो ही  
नहीं सकता फिर यह उदाहरण इस सूत्र की अनर्थकता को कैसे सिद्ध कर  
सकता है । हाँ, अदीधेत् मे तो यह निषेध प्राप्त है उसको कोई रोकने वाला नहीं ।

एवमेवमपि बाधेत ।

नेप दोष । जुसि गुण प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीय प्रतिषेध बाधते । कश्च तुल्यजातीय. प्रतिषेध । यः प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् । अथवा येन नाप्राप्ते तस्य बाधन भवति । न चाप्राप्ते किञ्चित् नेत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुन. प्राप्ते चाप्राप्ते च ॥

यदि तर्ह्यय योगो नारभ्यते, कथं दीध्यत् इति, वेव्यत् इति च ॥

दाव्यादिति श्यन्वत्ययेन ।

फिर भी वहा गुण का निषेध नहीं हो रहा इस से यह सूत्र अनधिक सिद्ध हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । इस सूत्र को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये अदीधयु उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि जुसि च स होने वाला गुण अपने समानजातीय निषेध को ही बाधेगा । जुस प्रत्यय है इस लिये किञ्च् प्रत्ययो के आधित किञ्चित् च सूत्र वाले गुणनिषेध को ही वह बाध सकेगा । दीधीववीटाम् को नहीं । यह निषेध दीधी वेदी धातुओं का आश्रयण करने से प्रकृत्याश्रय है । अथवा येन नाप्राप्ते यो विाधरारभ्यते स तस्य बाधको भवति इस न्याय से जुसि च सूत्र किञ्चित् च को ही बाधगा इसको नहीं । इस न्याय का अर्थ है—जिसकी अवश्य प्राप्ति में जो विधि आरम्भ की जाती है वह उसी अवश्यप्राप्त विधि को ही बाधेगी । किसी अक्ष में प्राप्त किसी में अप्राप्त ऐसी विधि को वह नहीं बाधेगी । न प्राप्त=अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त अर्थात् अवश्यप्राप्त । यहाँ बाध्यविशेष को देखना होगा । किञ्चित् च सूत्र की अवश्य प्राप्ति म जुसि च का आरम्भ है । क्योंकि जुस् प्रत्यय सार्वधातुमपिन् स ङित् है । उसके परे रहते सर्वदा किञ्चित् च से गुणनिषेध प्राप्त है उसको बाधने के लिये जुसि च बनाया है । दीधीववीटाम् म यह बात नहीं । दीधी वेदी धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं में ( जो दीधीववी० निषेध का अविषय हैं ) भी जुसि च की प्रवृत्ति होती है । इस लिये यह निषेध नाप्राप्त नहीं बल्कि प्राप्त तथा अप्राप्त है ।

यदि यह सूत्र नहीं बनाते हैं तो दीध्यत् वेव्यत् ये प्रयोग कैसे बनेंगे ? ये दोनों लेट लकार के रूप हैं । लेटोऽडाटो से तिप् को अडागम और इतद्व लोप परस्मैपदपु से तिप् के इकार का लोप होता है । फिर गुण का निषेध हो कर एरनेकाच से यण हो जाता है । इस सूत्र के अभाव में यहा गुणनिषेध कैसे होगा ?

दीर्घादिति वेङ्गदिति च इत्यन्त्यत्वेन भविष्यति ॥

इदृच्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम् अकण्ठिन् अरणिन् ।  
कण्ठिता इवो रणिता इवः इति । आर्धधातुकत्वे ह्रस्वादेरित्यत इडि-  
त्यनुवर्तमाने पुनरिडग्रहणस्य प्रयोजनम् इद् इडेव यथा स्यात् ।  
यदन्वत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यन् प्राप्नोति । गुणः ॥

यदि नियमः क्रियते पिपडिगतेऽन्त्यः पिपडीः दीर्घत्वं न  
प्राप्नोति ॥

नेन दोषः । आज्ञं यत्कार्यं तन्नियम्यते न चैतदाज्ञम् । अपवा  
भस्तिञ्च दीर्घत्वं तस्यास्तित्त्वान्नियमो न भविष्यति ॥

दीर्घ, वेङ्ग, ये दोनों प्रयोग स्वयम् से इद् विकारन करने पर एन जायेंगे ।  
अन्त्ये क्वलन् सूत्र से वेद में दीर्घी वेरी धातुओं को दिशादिगण का मान कर  
स्वर् विकारन लेट् लहर में हो जायगा । एतद् प्रत्यय सञ्चानुक्तत्वात् से त्तिर् है ।  
उसके परे रहते क्रिञि च से गुणनिर्देश हो कर दीर्घी वेरी नियमे सूत्र से दीर्घी  
वेरी के ईकार का लोप जायगा ।

सूत्र में इद् का प्रश्न भी नहीं करना चाहिये । यदि कशो यण्णिभ्, अरणिन्  
( क् र्ण् तिच् लुच् मिन् अन् ) कण्ठिन्, रणिन् ( क् र्ण् तास् लुच् तिच् डा )  
कैसे बनें । अर्थात् यज्ञं इडागन को प्राप्त लृङ्प्रश्न का निर्देश कैसे होगा ?  
तो इस का उत्तर है आर्धधातुक्येङ्गादेः सूत्र में नेङ्गसे कृति सूत्र से इद् को  
अनुकृति आने पर भी जो फिर इद्प्रश्न किया है उसका यह प्रयोजन सन्हा जायगा  
कि इद् इद् ही रहे । किसी विकार को प्राप्त न हो । उसे जो अन्य कार्य प्राप्त है वे  
न हों । अन्य कार्य कौन से प्राप्त होते हैं ? गुण होने से इद् इद् नहीं रहता ।  
विकृत हो जाता है इस लिये गुण नहीं होगा ।

यदि दुबारा इद्प्रश्न से इद् इद् ही रहे ऐसा नियम करते हैं ता पिपडी-  
( पिपडिक् सिक् ) यज्ञं सन्नन्त पद् धातु में सत् को इद् का आगम हुआ है ।  
उस से परे अत्रत्यम् अर्थात् अत्रियमान प्रत्यय सिक् किया । लृङ्प्रश्न होने से  
प्राणिगदिक संज्ञा हो कर प्रथमा का एकरचन सु प्रत्यय किया फिर सुबन्त होने से  
पद संज्ञा हुई । पदान्त में बौहगमाया दीर्घ इक से इद् को दीर्घ होता है वद नहीं  
होना चाहिये । उससे भी इद् विकृत हो जाता है ।

यद् कोई दोष नहीं । केवल अज्ञाधिकारीय कार्य का ही नियम होगा ।  
बौहगमाया दीर्घ इकः सूत्र तो पदाधिकार का है, अज्ञाधिकार का नहीं, इस लिये इस

अथवा छान्दसमेतत् । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

अथवा वहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्ध वहिरङ्ग-  
मन्तरङ्गे ।

अथवा पूर्वस्मिन् योगे यदार्धधातुकग्रहणं तदनवकाशं तस्यान-  
वकाशत्वाद् गुणो भविष्यति ।

ही निषेध मान तो भी दोष नहीं । क्योंकि कार्यकाल सज्ञापरिभाषाम् इस उक्त नियम स किञ्चित् च यह सूत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोः इस सूत्र म उपस्थित होकर अङ्गाधिकार का बन जायगा । सार्वधातुकार्धधातुकयोः यह सूत्र अङ्गाधिकार का है ।

अथवा रोरवाति यह प्रयोग छान्दस अर्थात् वैदिक है और छन्द में दृष्टानुविधि अर्थात् दृष्ट का अनुसरण होता है । वेद में जैसा दखा वैसा कर लिया । रोरवाति में गुण दीखता है तो गुण ही रहेगा उसका निषेध नहीं होगा ।

अथवा रोरवाति म बहिर्वर्ती त्तिप को मान कर होन वाला सार्वधातुक गुण वहिरङ्ग है और अन्तर्वर्ती यद् क डित् को मान कर होन वाला किञ्चित् च स निषेध अन्तरङ्ग है । आसिद्ध वाहरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा क बल स वहिरङ्ग गुण असिद्ध रहेगा तो निषेध किसका होगा ।

अथवा पहले गये हुए न धातुगोः सूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है वह अनव-  
कारा है अर्थात् निष्प्रयोजन है । उससे यहा प्रयोजन ल लिया जायगा । उसक अनवकाश होने स सार्वधातुक परे रहत गुणनिषेध न होगा । न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण क विना भी धातुलोप शब्द म धातुलोपो यस्मिन् इस प्रकार बहुव्रीहि समास समझ लिया जायगा जिस प्रकार एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र के एकाच शब्द में एकोऽच यस्मिन् यह बहुव्रीहि समझ लिया जाता है, तो फिर आर्धधातुक ग्रहण का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । इस प्रकार पूर्व सूत्र में व्यर्थ हुआ आर्धधातुक ग्रहण इस बात का सामर्थ्य रखगा कि आर्धधातुक स भिन्न सार्वधातुक म किसी स भी प्राप्त गुणनिषेध न हा कवल आर्धधातुक में ही गुण का निषेध हा । रोरवाति म त्तिप सार्वधातुक है अत किञ्चित् च सूत्र से प्राप्त गुणनिषेध भी आर्धधातुक क बल स रूक जायगा । रोरवाति म यद् का लुक अनैमित्तिक है अर्थात् वह आर्धधातुक या सार्वधातुक किसी को भी निमित्त मान कर नहीं होता । यहा त्तिप क आने से पूव ही हो गया है । आर्धधातुक क परे रहत होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता अत आर्धधातुक ग्रहण का न्यावर्त्य दुष्ट



इह कस्मान्न भवति । लैगवायनः । कामयते ।

तद्धितकाम्योरिक् प्रकरणात् ।

इग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चेते इग्लक्षणे ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । अचिनवम् ।

भी नहीं सिवाय इसके कि वह सार्वधातुक में गुणनिषेध को रोके चाहे वह किसी से प्राप्त हो ।<sup>१</sup>

यहा लैगवायन और कामयते इन प्रयोगों में क्विति च सूत्र से वृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता ? लिगोरपत्य लैगवायन । लिगुदात्त से गोत्रापत्य में नडादिभ्यः फक् से फक् प्रत्यय होकर क्विति च से आदिवृद्धि ऐकार हुई है । कामयते में कम् धातु से स्वार्थ में कर्मणिक् से णिङ् प्रत्यय होकर अत उपधाया से आकार वृद्धि हुई है । फक् के क्वि होने और णिङ् क डित् होने से वृद्धिनिषेध प्राप्त होता है ।

तद्धित के लैगवायन और कम् धातु के कामयते प्रयोग में वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि इको गुणवृद्धि इस पूर्व सूत्र से यहा इक् पद की अनुवृत्ति धाती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही इस सूत्र से निषेध होगा । उक्त प्रयोगों में इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं है । लैगवायन में अचामादे से कही हुई वृद्धि अन्लक्षण है । और कामयते में उपधा अकार को कही हुई वृद्धि उपधा लक्षण है । इग्लक्षण अर्थात् इक शब्द की उपस्थिति से कही हुई वृद्धि नहीं है अत यहा निषेध नहीं होगा ।

जो लकार डित् हैं उनके स्थान में आदेश होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से डित् प्राप्त होते हैं । जैसे—अचिनवम् अमुनवम् (चि सु इनु-लृ मिप् अम्) अकरवम् (कृ-उ-लृ मिप् अम्) यहा चि आदि धातुओं से परे लृ लकार के स्थान में उत्तम पुरुष का एकवचन मिप् (अम्) आदेश हुआ है । वह डित् लकार के स्थान में होने से स्थानिवद्भाव के नियमानुसार तिप् होता हुआ भा डित्

१ यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि यस्त्वं का छान्दस मान पर हा आर्षधातुकग्रहण व्यर्थ होता है अन्यथा नहीं । यदि एक म भा यस्त्वं का प्रयोग मानें जैसा कि प्रायः प्रयोग में माना जाता है तब तो वोवोति (वृत् यस्त्वं तिप्) वोवोति (धुर्व-यस्त्वं उस् तिप्) इत्यादि यस्त्वं प्रयोगों में तिप् सार्वधातुक के परे गुण निषेध रक्षक के लिये आर्षधातुकग्रहण सर्वथा आवश्यक है उस अवस्था में भाष्यकार या मह अन्तिम समाधान छोड़ देना हागा ।

असुनवम् । अरुवम् ।

लकारस्य डित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो  
डिद्वचनात् सिद्धम् ।

यद्यं यासुटो डिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न डिदादेशा  
डितो भवन्तीति ।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं नित्यं डितः । 'इतश्चेति' । डितो यत् कार्यं  
तद् भवति । डिति यत्कार्यं तन्न भवतीति ।

माना जायगा तो उसके परे रहते किञ्चित् च सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । यदि कहे कि मिप् पित् है और पिच्च डित् पिच्च भवति अर्थात् जो पित् है वह डित् नहीं होता और जो डित् है वह पित् नहीं होता तो यह कल्पना तो भाव्यकार की है, वार्तिककार की नहीं, इस लिये उनके मत से डित् लकार के स्थान में होने वाला मिप् डित् ही है ।

लङ् लकार के अचिनवम् आदि में कोई दोष नहीं । क्योंकि यासुट् परस्मैपदे-  
पूदात्तो डित्च इस सूत्र में जो लिङ् में होने वाले यासुट् को डित् किया है वह  
आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि डित् लकार के स्थान में  
होने वाले तित् आदि आदेश डित् नहीं माने जाते । लिङ् लकार स्वयं डित् है । उसके  
स्थान में होने वाले आदेश यदि स्थानिवद्भाव से डित् माने जाते तो तित् आदि  
के डित् हो जाने से उनको लिङ् में हुआ यासुट् आगम भी यदागमन्याय से डित्  
हो ही जाता फिर उसे डित् करना व्यर्थ है । इस डित् वचन से सिद्ध होता है कि  
लकार का डित्त्व आदेश में नहीं आता । इस लिये लङ् का डित्त्व मिप् में नहीं  
जायगा तो अचिनवम् आदि में गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि यह कहो कि उक्त ज्ञापक से लकार का डित्त्व आदेश में न मानने पर  
निय डितः, इतश्च इन सूत्रों से होने वाले कार्य कैसे सिद्ध होंगे । नित्य डितः से  
डित् लकार के स्थान में होने वाले आदेश को स्थानिवद्भाव से डित् मान  
कर सकार का लोप होता है । जैसे—अभावाव, अभवाम, अचिनुम इत्यादि । इसी  
प्रकार इतश्च से डित् लकार के आदेश को डित् मान कर अभवत्, अचिनोत्  
इत्यादि में तित् के डकार का लोप होता है—सो कोई दोष नहीं । इन कार्यों में  
तो स्थानिवद्भाव से डित्त्व हो ही जायगा । क्योंकि जो डित् को होने वाला कार्य है  
वह तो स्थानिवद्भाव से आदेश को भी डित् मान कर हो जायगा लेकिन जो  
डित् परे रहते किसी अन्य का होने वाला कार्य है वह आदेश को स्थानिवद्भाव से  
डित् मान कर नहीं होगा ।

किं वक्तव्यमेतत् । नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । यासुट एव  
 डित्त्वचनात् । अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् समुदायस्य डित्त्वे, डितं चैनं  
 करोति । तस्येतत् प्रयोजनं डितो यत्कार्यं तद् यथा स्यात्, डिति  
 यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥

दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

किमर्थमिदमुच्यते ॥

गुणवृद्धी मा भूताम् इति । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आयेच्यनम् ।

क्या यह बात कहनी होगी ? नहीं । बिना कहे कैसे समझी जायगी ?  
 यासुट् के ही डित् वचन से यह बात समझी जायगी । क्योंकि जो डित् को होनेवाला  
 कार्य है वह यासुट् को कुछ भी विधेय नहीं है जिसके लिये उसे डित् किया जाय ।  
 हाँ, डित् परे रहते जो अङ्ग को सम्प्रसारण या गुणवृद्धि निषेध आदि कार्य हैं उन  
 के लिये यासुट् को डित् किया गया है । वह यासुट् का कार्य है । जिससे वे कार्य  
 यासुट् के परे रहते हो जावें । क्योंकि अकेले यासुट् भागम को डित् किया है इस  
 लिये वह अपने भागमी लादेश समुदाय तिप् आदि को डित् बनाने में असमर्थ है ।  
 यद्यपि लादेश तिप् आदि ही गुणवृद्धि के निमित्त हैं, यासुट् नहीं, फिर भी  
 यासुट् के डित् वचन से उसके परे रहते भी गुणवृद्धि का निषेध हो जायगा ।  
 या यो समझिये—क्योंकि यासुट्, तिप् आदि की सहायता से ही अपना डित् काम  
 में ला सकता है । सम्प्रसारण आदि के निमित्त तिप् आदि ही हैं यासुट् नहीं । इस  
 लिये उसको किया हुआ डित् तिप् आदि समुदाय के लिये उपयुक्त होगा ।  
 अर्थात् उसके डित्त्वे से वे डित् समझे जायेंगे तो उनके परे रहते डित् कार्य हो  
 सकेंगे । वे तिवादि स्वयं लकार के डित्त्वे से यदि डित् बन जाते तो यासुट् को  
 डित् करना प्यर्थ था । वे तो डित् थे ही । यासुट् भी उनको भागम होकर  
 डित् बन ही जाता । यह यासुट् को डित् करना ही इस बात का सूचक है कि  
 डित् तिवादि के परे रहते जो कार्य करने हैं वे यासुट् के डित् द्वारा सिद्ध कर दिये  
 जायें । अर्थात् यासुट् के डित् को लेकर तिवादि डित् माने जायें और उनके परे  
 रहते अङ्ग को सम्प्रसारणादि कार्य हो जायें । इससे स्पष्ट है कि डित् परे रहते जो  
 कार्य अङ्ग को करने हैं उनके विषय में स्थानिरन्नाय से लकार का डित् आदेश  
 में नहीं माना जाता । केशल डित् को जो कार्य ताम् तम् सलोप आदि करने हैं उन  
 का डित् आदेश में स्थानिरन्नाय से माना जाता है ।

दीधीवेवीटाम् यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

दीधीव् वेवीव् इन दो धातुओं तथा इडागम को गुणवृद्धि न हों इस लिये

आवेत्यकः ॥

अथ योग- शन्योऽर्तुम् । कथम् ।

दीर्घान्योश्छन्दोऽपिपयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्य  
दीर्घेददाभ्युरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः ।

दीर्घान्योश्छन्दोऽपिपयत्वात् । दीर्घान्योश्छन्दसोऽपिपयौ । दृष्टानु  
विधित्वाच्च छन्दसः । दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति । अदीधेत्,  
अदीधु इत्यत्र च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः । अनर्थक प्रतिषेधः  
अप्रतिषेधः । प्रजापतिरयत् किञ्चित्मनसा अदीधेत् । होनाय वृत्  
कृपयन्नादीधेत् । अदीधुर्दाशराज्ञ वृताम् ।

भेदेति उक्तमुदाहरणमदाधेदिति । इदं त्वयुक्तमदीधुरिति ।  
अथ तुसि गुण प्रतिषेधत्रिपय आरभ्यत स यथेयं क्विति चेत्येन बाधते

यद् सूत्रं यनाया हे चम्—आगन्धनम् ( वा दाधा—र्युट् अन ) आगन्धकः, ( वा  
दाधा—श्वुल अक ) आगन्धनम् ( वा ववा—र्युट् अन ) अवन्धक ( वा ववी—श्वुल  
अक ) यद्वा भाट्टपूर्वकं दाधाञ्च ववाड् धातुभा स र्युट् और श्वुल अन्तर पर रहत  
क्रम स सार्वधातुक गुण तथा अगन्धान् वदि प्राप्त हाता है । इस सूत्र स उनका  
निश्च होकर एरनकाच स यग हो जाता है ।

यद् सूत्रं न्हा यनाया चादिय । क्योंकि दाधा ववा दना धातु छान्दस ह ।  
त्रैदिक ह । छन्द म दृष्ट का अनुविधान होता है । वद् म न्हा दाख बैसा कर  
लिया जाता है । वद् म हा अशाभ् ( दाधा लड् तिर ) अशाभ् ( दाधा-लड्  
क्षि तुस ) इत्यादि प्रयोगो म गुण भा दिलाईं दता है इस कारण यह निश्च  
अनर्थक है । प्रजापतिव इत्यादि स्थल दाधा धातु को गुण हाता है यह दिला  
रह है ।

अशाभ्, अशाभु इन दो उदाहरणो म अशाभ् यह उदाहरण तो ठीक  
है, पर अशाभु गक नहा । क्योंकि यद्वा दीर्घो धातु स लट् लकार में प्रथम  
पुरा का बहुवचन तुस है । तुस म तुस च इस सूत्र से होन वाला गुण,  
निश्च त्रिपय को बाधते क लिय यनाया है वह जैसे—क्विति च इस गुणनिश्च  
को बाधता है जैसे दधववाताम् इस गुणनिश्च का भा बाध्यसानान्यायन्तायभ को  
लकर बाध लगा ता महा अनिवाय रूप स गुण ही होगा । गुणनिश्च हो हा  
नहीं सकता फिर यह उदाहरण इस सूत्र का अनर्थकता को कैसे सिद्ध कर  
सकता है । हा, अशाभ् म ता यह निश्च प्राप्त है उसको कोई रोकन वाला नहीं ।

एवमेवमपि बाधेत ।

नेप दीप । जुसि गुण प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीय प्रतिषेध बाधते । कञ्च तुल्यजातीय प्रतिषेध । य प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् । अथवा यन नाप्राप्ते तस्य बाधन भवति । न चाप्राप्त किञ्चित् नेत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुन प्राप्ते चाप्राप्त च ॥

यदि तद्वय योगो नारभ्यते, कथ दीध्यत् इति, वेद्यत् इति च ॥

दायदिति श्यन्यत्ययन ।

फिर भी वहा गुण का निषेध नहीं हो रहा इस से यह सूत्र अनधिक सिद्ध हो जाता है ।

यह कोई द्वेष नहीं । इस सूत्र का व्यर्थ सिद्ध करने के लिये अदाधयु उदाहरण भी दीक है । क्योंकि जुसि च से हाने वाला गुण अपन समानजातीय निषेध का ही बाधना । जुसि प्रत्यय है इस लिये किञ्च प्रत्ययो के धाश्रित किञ्चित् च सूत्र वाले गुणनिषेध को ही वह बाध सकता । दाधाववाणाम् को नहीं । यह निषेध दीधी वेदी धातुभा का आश्रयण करने से प्रकृत्याश्रय है । अथवा यन नाप्राप्ते से विधिराभ्यते से तस्य बाधको भवति इस न्याय से जुसि च सूत्र किञ्चित् च को ही बाधना इसको नहीं । इस न्याय का अर्थ है—नितकी अवश्य प्राप्ति में ना विधि आरम्भ को जाता है वह उसी अवश्यप्राप्त विधि को ही बाधना । किसी अन्त में प्राप्त किसी में अप्राप्त एसा विधि को वह नहीं बाधना । न प्राप्त-अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त अर्थात् अवश्यप्राप्त । यहा बाध्यविनायक का दखना होगा । किञ्चित् च सूत्र का अवश्य प्राप्ति से जुसि च का आरम्भ है । क्योंकि जुसि प्रत्यय सावधानतुक्मपिन् से किञ्चित् है । उसके पर रहते सर्वदा किञ्चित् च से गुणनिषेध प्राप्त है उसका बाधन के लिये जुसि च बनाया है । दाधीववाणाम् से यह बात नहीं । दाधा वेदी धातुभा के अतिरिक्त अन्य धातुभा में ( जे दाधाववा० निषेध का अविषय है ) भी जुसि च का प्रवृत्ति हाता है । इस लिये यह निषेध नाप्राप्त नहीं बल्कि प्राप्त तथा अप्राप्त है ।

यदि यह सूत्र नहीं बनाते हैं तो नीच्यत् क्व्यत् य प्रयाग केस यनग ? य दाना ल् लकार के रूप है । ग्गऽङ्गो से तिच् का अडागम और इत्त् यो परम्परशु से त्रि के इकार का लय हाता है । फिर गुण का निषेध हा कर एरनकाच से यन हा जाता है । इस सूत्र के अन्त में यहा गुणनिषेध केस हागा ?

दीध्यदिति वेव्यदिति च श्यन्त्यत्ययेन भविष्यति ॥

इट् इचापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम् अरुणियम् अरुणियम् ।  
कणिता इवो रणिता इयः इति । आर्धधातुकस्येड्वलादेरित्यत्र इडि-  
त्यनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्य प्रयोजनम् इट् इडेव यथा स्यात् ।  
यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत् प्राप्नोति । गुणः ॥

यदि नियमः क्रियते पिपठिपतेरप्रत्ययः पिपठीः दीर्घत्वं न  
प्राप्नोति ॥

नेप दोषः । आहं यत्कार्यं तन्नियम्यते न चैतदाहम् । अथवा  
असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति ॥

दीध्यन्, वेव्यन् ये दोनों प्रयोग व्यत्यय से श्यन् विकरण करने पर बन जायेंगे ।  
व्यन्ययो बहुलम् सूत्र से वेद में दीधी वेवी धातुओं को दिवादिगुण का मान कर  
श्यन् विकरण लेट् लकार में हो जायगा । श्यन् प्रत्यय सार्वधातुकनपित् से डिन् है ।  
उसके परे रहते क्विति च से गुणनिषेध हो कर वीवर्णप्रयोगों वीवेव्यो सूत्र से दीधी  
वेवी के ईकार का लोप जायगा ।

सूत्र में इट् का ग्रहण भी नहीं करना चाहिये । यदि कइ अरुणियम्, अरुणियम्  
( कण् रण् सिच्-लुट् मिप् अम् ) कणिता, रणिता ( कण्-रण् तास्-लुट् तिप् डा )  
कैसे बनेंगे । अर्थात् यहां इडागम को प्राप्त लरूपधगुण का निषेध कैसे होगा ?  
तो इस का उत्तर है आर्धधातुकस्येड्वलादेः सूत्र में नेड्वशि वृत्ति सूत्र से इट् की  
अनुवृत्ति आने पर भी त्रों फिर इट्ग्रहण किया है उसका यह प्रयोजन समझा जायगा  
कि इट् इट् ही रहे । किसी विकार को प्राप्त न हो । उसे जो अन्य कार्य प्राप्त हैं वे  
न हो । अन्य कार्य कौन से प्राप्त होते हैं ? गुण होने से इट् इट् नहीं रहता ।  
विकृत हो जाता है इस लिये गुण नहीं होगा ।

यदि दुबारा इट्ग्रहण से इट् इट् ही रहे ऐसा नियम करते हैं ता पिपठीः  
( पिपठिप् विश्प् ) यद्वा सन्नन्त पठ् धातु में सन् को इट् का आगम हुआ है ।  
उस से परे अप्रत्यय अर्थात् अविद्यमान प्रत्यय विश्प् क्रिया । वृद्धन्त होने से  
प्रातिपदिक सज्ञा हो कर प्रथमा का एकवचन सु प्रत्यय किया फिर सुबन्त होने से  
पद सज्ञा हुई । पदान्त में वीक्षिपथाया दीर्घ इक् से इट् को दीर्घ होता है वह नहीं  
होना चाहिये । उससे भी इट् विकृत हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । केवल अज्ञाधिकारीय कार्य का ही नियम होगा ।  
वीक्षिपथाया दीर्घ इक् सूत्र तो पदाधिकार का है, अज्ञाधिकार का नहीं, इस लिये इस

## हलोऽनन्तराः संयोगः ॥२।१।७॥

अनन्तरा इति कथमिदं विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति । अहोस्विदविद्यमाना अन्तरा येषामिति । किं चातः । यदि विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति । अवग्रहे संयोगस्तथा न प्राप्नोति । अप्पु इत्यप्पु इति । विद्यते ह्यनन्तरमिति । अथ विज्ञायते अविद्यमाना अन्तरा येषामिति, न दोषो भवति ॥

का नियम न होगा । अथवा वाक्यवाया सूत्र पूर्वप्रासिद्धाय प्रकरण का है उसके अमिद होने से वह नियम कोटि में नहीं आता । विग्रहः में इट् को दांप होने पर भी उस दांप के अस्तित्व होने के कारण इट् अविवृत ही दिव्वाइ देगा ।<sup>१</sup>

सूत्र के अनन्तरा इस समस्त पद में कैसा विग्रह समझना चाहिये ? क्या अविद्यमानमन्तरं येषाम्, ऐसा या अविद्यमाना अन्तरा येषाम्, ऐसा । पहले विग्रह में अन्तर दण्ड है जिसका अर्थ अवकाश, व्यवधान है । दूसरे विग्रह में अन्तरा दण्ड है जिसका अर्थ मन्थ है । इस में क्या ? अविद्यमानमन्तरं येषाम् ऐसा विग्रह मानने पर अवग्रह में संयोगमत्ता नहीं प्राप्त होती । बाधा मात्रा काल वाला अवग्रह माना जाता है । अप्पु इति अर्ऽपु यश् अर् के उकार और पु के मन्थ में अवग्रह-वन्ध अन्तर काट्टन व्यवधान होने से संयोग मत्ता न ही सकेगी । अविद्यमाना अन्तरा येषाम् इस विग्रह को यदि मानें तो कोई दोष नहीं होता । उन विग्रह में अर्थ होगा-विन के मन्थ में अन्य वर्ण अविद्यमान हैं वे हल् संयोग मत्तक होते हैं ।

१ अनन्तरा ऐना कहने में क्या आधार काल का नियम अनिर्दिष्ट है अथवा आर्य वर्ण का, यह विज्ञाना है ।

२ प्रदीपा प्रदानुम् में आ इट् का दांप होता है वह प्रोऽलिति दांपः इस वचनसामर्थ्य में मग होगा । इस प्रकार अलादीप् दण्डि में इट् को जो सवर्णदांप एकोदेश होता है वह भी मिश्रितोप एकादेशे सिद्धो यन्मन्थः इस वचन के सामर्थ्य में अन्तन्व्य समतता चाहिये । पिराटि शब्द के नपुंसकत्व में प्रथमा द्वितया विभक्ति के यदुपचय में पिराटि कुलानि यह रूप बनता है । पिराटिपि नहीं बनता । वह अनुग्रह है । क्योंकि पिराटि शब्द में मन्थ प्रत्यय के अकार का अर्ऽपु पर रहते लोप हो जान पर उनके स्थानियत् होने से अन्तन्व्य नहीं, स्थानिय प्रति स्थानियत् इस वचन में अन्तन्व्य भी नहीं, तो अनुमकस्य स्रुथ में दुम् होगा हा नहीं, इत्यन्ति वशी सान्त्वयितः संयोगस्य मे इट् को दांप होने का ग्रह ही नही उज्जा ॥ इस प्रकार मान्यघर ने इस सूत्र का अर्थस्वरूप में स्पष्टन कर दिया ॥

और पिराटि प्रथम स्थानियत् ऐसा व्यवस्था होने में कि-नितक कार्य में स्थानियद्वारावयव संयोग है कि पर रहत उज्जा में स्थानियत् का नियम नहीं है । इत्यन्ति युम् के कि-नितक कार्य होने में स्थानियद्वारा निर्बाध होगा ।

यथा न दोषस्तथास्तु । अथवा पुनरस्तु अविद्यमानमन्तरं येषामिति । ननु चोक्तम् अवग्रहे सयोगसंज्ञा न प्राप्नोति अप्सु इत्यपऽसु इति । विद्येत क्षत्रान्तरमिति । नेव दोषो न प्रयोजनम् ॥

सयोगसंज्ञाया सहवचनं यथान्यत्र ।

सयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम् । हलोन्तराः संयोगः सहेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादकैकस्य मा भूदिति । यथान्यत्र । तद्यथा अन्यत्रापि यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा 'सह सुपा' । 'उभे अभ्यस्त सह इति' ॥

किं च स्याद् यद्येकैकस्य सयोगसंज्ञा स्यात् ?

इह निर्वायात् निर्वायात् । 'वान्यस्य सयोगादेः इति' एत्वं प्रसज्येत ।

जिस विग्रह में दोष न हो वही मान लो । या अविद्यमानमन्तरं येषाम् यही विग्रह मान लो । अवग्रह में सयोगसंज्ञा न हो सकने का जो दोष कहा है वह कं ई दोष नहीं । अप्सु इस अवग्रह काल में पकार सकार की संयोग संज्ञा न होने से न कुछ दोष है और न प्रयोजन है । अवग्रहकाल के अन्तर से संयोगसंज्ञा के होने न होने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता । प्सु के परं रहते जा संयोगे गुरु से अप् के अकार की गुरु संज्ञा है वह यमावत् बनी रहेगा । यदि न भी रहे तो भी गुरोरन्तः इत्यादि से होने वाले प्लुतकार्य अवग्रहकाल में अभीष्ट न होने से न होंगे । अप्सु नवम्=असव्यम् । यहा अप्सव्य शब्द में अप्सव्यम् ऐसा अवग्रह पदवाच्यकार नहीं करते हैं इस लिये वहां भी दोष न होगा ।

सयोगसंज्ञा में सह ग्रहण करना चाहिये । नैस अन्यत्र स्थानों में किया गया है । हलोन्तरा संयोग मह ऐसा सूत्र बनाना चाहिये । उस से क्या लाभ होगा ? सब की एक साथ मिले हुआ का संयोगसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । एक २ की अलग २ न होगी । अन्यत्र भी भाचार्य पाणिनि या कात्यायन जहाँ समिलितों को एक साथ कार्य करना चाहते हैं वहा सह ग्रहण करते हैं जैसे मह नुग, उभे अन्यस्त सह यहाँ समाससंज्ञा और अभ्यस्तसंज्ञा में सह ग्रहण किया है ।

क्या हो जायगा यदि समिलित हलो में एक २ का अलग २ संयोगसंज्ञा मान ली जावे ?

निर्वायात् निर्वायात् (निर् या वा-लिङ् तिप्) यहा निर् उपसर्गपूर्वक या धातु है । रेफ और यकार समिलित हैं । उन में एक २ की अलग २ संयोग संज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि बन जायगा तो वान्वस्य संयोगादेः से प्लुतिकल्प



इह च संहृषीष्टेति 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीद् प्रसज्येत । इह च संह्रियते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योरिति' गुणः प्रसज्येत । इह च दृपत्करोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्ये'ति लोपः प्रसज्येत । इह च शक्ता वस्तेति 'स्त्रोः संयोगाद्योरन्ते च' इति लोपः प्रसज्येत । इह च निर्यातो निर्यातः । 'संयोगादेरातो धातोरिति' निष्ठानत्वं प्रसज्येत ॥

नैप दोषः । यत्तावदुच्यते इह तावत् निर्यायात् निर्यायात् वान्यस्य संयोगादेः इत्येत्वं प्रसज्येतेति । नैवं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति । कथं तर्हि । संयोगौ आदी । यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति । एवं तावत् सर्वमाङ्गं परिहृतम् । यदप्युच्यते इह च दृपत्करोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपः

प्राप्त होगा । इसी प्रकार मृषीष्ट ( सम् ह्र-लिङ् सीयुट् व ) यहाँ सम् पूर्वक ह्र धातु है । मकार और ह्रकार संमिलित हैं । एक २ की भलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर ह्र धातु संयोगादि वन जायगा तो ऋतश्च संयोगादेः से सीयुट् को इद् प्राप्त होगा । संह्रियते (सम् ह्र-लट् यक् व) में गुणोर्तिसंयोगाद्योः से ह्र को गुण प्राप्त होगा । दृपत् करोति समित् करोति यहाँ तकार और ककार संमिलित हैं । दोनों की भलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर दृपत् समित् ये संयोगान्त पद वन जायेंगे तो संयोगान्तस्य लोपः से तकार का लोप प्राप्त होगा । शक्ता वस्ता ( शक् वस्-शृच् ) यहाँ ककार तकार या सकार तकार संमिलित हैं । दोनों की भलग भलग संयोगसंज्ञा मानने पर तकार शल् के पर रहते ककार सकार आदिभूत संयोग हैं उनका स्त्रोः संयोगाद्योरन्ते च से लोप प्राप्त होगा । निर्यातः निर्यातः ( निर या वा-क् ) यहाँ रेक और यकार संमिलित हैं । दोनों की भलग भलग संयोगसंज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि वन जायगा तो संयोगादेरातो धातोर्त्यन्तः से निष्ठानत्व प्राप्त होगा ।

ये कोई दोष नहीं । यह जो कहा कि निर्यायात् निर्यायात् में वान्यस्य संयोगादेः से पूर्वप्रिकल्प प्राप्त होगा, सो नहीं होगा क्योंकि संयोगादि शब्द का यह अर्थ नहीं करेगा कि संयोग है आदि में जिसके उसको पूर्वप्रिकल्प होता है बल्कि ऐसा अर्थ करेगा कि दो संयोग हैं आदि में जिसके उस भद्र को पूर्वप्रिकल्प होता है । निर्यायात् निर्यायात् में दो संयोग आदि में नहीं हैं इस लिये पूर्वप्रिकल्प नहीं होगा । इस प्रकार ऋतश्च संयोगादेः, गुणोर्तिसंयोगाद्योः यहाँ संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर सङ्घट्ट संह्रियते इत्यादि सब अज्ञाधिकारीय प्रयोगों में दोष का समाधान हो जायगा । दृपत् करोति समित् करोति में भी संयोगान्तस्य लोपः के संयोगान्त शब्द में दो संयोग हैं भन्त में जिसके इस प्रकार द्विवचनान्त

प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोगोऽन्तो यस्य तदिद् संयोगान्त संयोगान्त स्येति । कथं तर्हि । संयोगौ अन्तौ यस्य तदिद् संयोगान्त संयोगान्तस्येति । यदप्युच्यते इह च शक्ता वस्तेति 'स्कोः संयोगाद्योः' इति लोपः प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोगौ आदी संयोगादी संयोगाद्योरिति । कथं तर्हि । संयोगयोरादी संयोगादी संयोगाद्योरिति । यदप्युच्यते इह च निर्यात-निर्वातः इति 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्पानत्व प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोय संयोगादिः संयोगादेरिति । कथं तर्हि । संयोगावादी यस्य सोय संयोगादिः संयोगादेरिति ॥

कथं वृत्वेकेकस्य संयोगसज्ञा प्राप्नोति ? ॥

प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति । तद्यथा । वृद्धिगुणसज्ञे प्रत्येक भवत ॥

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्त समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । तद्यथा

विग्रह करने पर दोष न होगा । एष्व्, समित् पदों के अन्त में दो संयोग नहीं हैं । शक्ता वस्ता म भी स्वी संयोगयो के संयोगादि शब्द म संयोगौ स्वी आदा (आदिभूत संयोगसज्ञक सकार ककार) ऐसा कर्मधारयसमास वाला विग्रह न करके संयोगयो आदी स्वी (दो संयोगो क आदि म आने वाले सकार ककार) इस प्रकार पठि समासवाला विग्रह करेंगे तो शक्ता वस्ता में तकार झल परे रहते दो संयोग नहीं हैं इसलिये ककार सकार का लोप न होगा । निर्यात निर्वात में भी संयोगादेरातो वातो सूत्र के संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर निष्पानत्व नहीं होगा । क्योंकि या धातु के आदि में दो संयोग नहीं है ।

समिलित हलो में एक एक की अलग संयोगसज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

क्योंकि समुदाय में प्रत्येक का अलग अलग वाक्यार्थ बोध भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे—वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुण य वृद्धिगुण सज्ञाय आदेच्, अद्द् समुदाय में प्रत्येक की अलग अलग होती है । अर्थात् आ ऐ औ इन तीनों की अलग अलग वृद्धिसज्ञा और अ ए ओ इन तीनों की अलग अलग गुणसज्ञा होती है । सब की समुदित एक वृद्धिसज्ञा और गुणसज्ञा नहीं होती । इसी प्रकार संयोगसज्ञा भी समिलितों में प्रत्येक की अलग २ प्राप्त होती है । प्रत्येक प्रत्यवयव वा वाक्यपरिसमाप्ति\* यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है ।

जहाँ प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है वहाँ समुदाये वाक्यपरिसमाप्ति यह भी तो प्रसिद्ध न्याय है । इसका अर्थ है वाक्यार्थबोध सारे

गर्गाः शत दण्डयन्ताम् । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येक दण्डयन्ति । सत्येतास्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यते इहापि सहप्रहणं कर्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येक गुणवृद्धि-संज्ञे भवतः, इहापि नार्थः सहप्रहणेन ॥

अथ यत्र बहुनामानन्तर्यं किं तत्र द्वयोर्द्वयोः सयोगसंज्ञा भवति आहोस्विद्विशेषण । कश्चात्र विशेषः ? समुदाये सयोगादिलोपो मस्तेः । समुदाये सयोगादिलोपो मस्तेर्न सिध्यति । मङ्क्ता । मङ्फ्तुम् । इह च

समुदाय में होता है अलग अलग अर्थों में नहीं । जैसे यह दृष्टान्त है— गर्गगोत्राय लोगों को राजा की ओर से सौ सुवर्ण का दण्ड हो ऐसा आदेश होता है । यह सारे गर्गसमुदाय पर लागू होता है उसके प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं । क्योंकि राजाओं को तो सौ सुवर्ण दण्ड चाहिये वे ( गर्ग समुदाय से प्राप्त हो जाने पर उसके ) प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित नहीं करते । इस प्रकार ये दोनों न्याय प्रसिद्ध हैं । दोनों का प्रसिद्धि में यदि गर्गशतदण्डनन्याय को देखते हुए समुदाय वाक्यपरिसमाप्ति को प्रयत्न मानें तो वृद्धि और गुण संज्ञाओं में समुदाय की संज्ञा रोकने के लिये प्रत्येक शब्द का प्रहण करना चाहिये । अर्थात् गुणवृद्धि संज्ञाएं समुदाय की न हो कर प्रत्येक की होती हैं ऐसा कहना चाहिये । यदि प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति को प्रयत्न मानें तो यहाँ प्रत्येक की सयोगसंज्ञा रोकने के लिये सह शब्द का प्रहण करना चाहिये । किन्तु यदि लक्ष्यानुरोध से गुणवृद्धि संज्ञाओं में प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति, न्याय को मान लें तो यहाँ स्वयमेव प्रत्येक की गुणवृद्धि संज्ञाएं हो जायेंगी । इस लिये प्रत्येक शब्द के प्रहण का आवश्यकता नहीं रहता । यहाँ सयोगसंज्ञा में यदि समुदाये वाक्यपरिसमाप्ति न्याय को मान लें तो यहाँ भी स्वयमेव समुदाय की सयोगसंज्ञा हो जायगा इस लिये सहप्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है ।

जहाँ बहुत से हलों का आनन्तर्य हो, अर्थात् बहुत से हल् व्यन्धानरहित हो यहाँ दो दो की भी सयोगसंज्ञा होती है या सामान्यतया संमिलित बहुतों की ही ? इसमें क्या विशेष है ? हल् समुदाय में बहुतों की सयोगसंज्ञा मानने पर मस्तेः धातु के मस्तेः मस्तेः रूपों में स्त्री गैरयोगात्सेत् न सूत्र से होने वाला सयोगादि सकार का लोप नहीं प्राप्त होता । मस्तेः, मस्तेः (मस्तेः, तुमुन्) यहाँ मस्तेः धातु से त्व् तुमुन् प्रत्यय पर रहते मस्तेःसोर्त्तिति में प्राप्त नुमागम मिदचोन्त्यापरः के नियम से मकार के अकार से पर हुआ तो मस्तेः बना । न, य, उ धारों का सयोगसंज्ञा में सकार आदि में न

निर्ग्लेयात् निर्ग्ल्यायात् निर्म्लेयात् निर्म्ल्यायात् । 'वान्यस्य संयोगादेरि'-  
त्येत्वं न प्राप्नोति । इह च संस्वरिपीष्टेति ऋतश्च संयोगादेरितीद् न प्राप्नोति ।  
इह च संस्वर्यते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणो न प्राप्नोति । इह च  
गोमान् करोति ययमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न  
प्राप्नोति । इह च निर्ग्लानो निर्म्लानः इति संयोगादेरातो धातो-  
र्यञ्वतः इति निष्ठात्वं न प्राप्नोति ॥

अस्तु तर्हि द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा ।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनम् ।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनं न सिध्यति । इन्द्रमिच्छति

रहने से स्त्रोः संयो० सूत्र से सकार का लोप न हो सकेगा । दो की संयोगसंज्ञा  
में तो नस् और सञ ये दो संयोग हैं उनमें सञ संयोग के भादि में सकार  
के होने से सलोप सिद्ध हो जाता है । यहाँ तुम् करते हुए अभी मस्त्रेरन्यान्पूर्वो  
तुम् वाच्यः इस वार्तिक का ध्यान नहीं किया गया है । उसका ध्यान भागे  
दिलोवेगे । क्योंकि सिद्धान्ततः यह आवश्यक है । उस नियम के अनुसार  
मस्त्र के उकार से पूर्व तुम् होगा तो स, न, ज इन तीनों की संयोगसंज्ञा में  
सकार के संयोगादि हो जाने से सलोप निर्वीध है । निर्ग्लेयान् निर्ग्ल्यायान् यहाँ  
ग्ल में दो हलों का श्रानन्तर्य है, बहुतो का नहीं इस लिए संयोगसंज्ञा न  
होगी तो वान्यस्य संयोगादेः सूत्र से एरविकल्प नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार  
संस्वरिपीष्ट यहाँ स्त्रु में बहुत हल् न होने से संयोगसंज्ञा न होगी तो  
ऋतश्च संयोगादेः सूत्र से इद् नहीं प्राप्त होता और संस्वर्यते में गुणोर्ति-  
संयोगाद्योः से गुण नहीं प्राप्त होता । गोमान् करोति यहाँ मतुप् प्रत्ययान्त गोमत्  
शब्द को सु परं रहते नुमागम होकर न, त इन दो हलों का संयोग है  
बहुतो का नहीं, इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगान्तस्य लोपः से तकार  
का लोप नहीं प्राप्त होता । निर्ग्लानः यहाँ ग्ल में दो हलों का संयोग है बहुतों  
का नहीं इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगादेरातो धातोः सूत्र से निष्ठा-  
न्त्व नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो बहुतों में दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मान लीजिए ।

यदि बहुतों में दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मानते हैं तो द्वित्व सिद्ध  
नहीं होता । इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति । यहाँ इन्द्रशब्द से इच्छार्थ में क्यच् हुआ ।

इन्द्रीयति । इन्द्रीयतेः सन् । इन्द्रित्रीयिपति । न न्द्राः संयोगादय इति  
दकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति ॥

न वाज्विधेः ।

नवा एष दोषः । किं कारणम् । अज्विधेः । न्द्राः संयोगादयो  
न द्विरुच्यन्ते । अजादेरिति वर्तते ॥

अथ यद्येव बहुनां संयोगसंज्ञा । अथापि द्वयोर्द्वयोः । किं  
गतमेतद्वियता सूत्रेण । आहोस्विदन्यतरस्मिन् पक्षे भूयः सूत्रं कर्तव्यम् ॥

गतमित्याह । कथम् । यदा तावद् बहुनां संयोगसंज्ञा तदैवं  
विग्रहः करिष्यते--अविद्यमानमन्तरमेषाम् इति । यदा द्वयोर्द्वयोः

क्यचि च सं ईकार हां गया । इन्द्रीय नामधातु से फिर इच्छार्थ में सन् हुआ ।  
सन् पर रहते धातु के द्वितीय एकाच् न्द्री शब्द को द्वित्व करने में नन्द्राः  
संयोगादय. के वचन से जहाँ संयोगादि नकार छोड़ा जायगा वहाँ दकार  
भी संयोगादि होने से छूट जायगा तो दकार सहित त्री शब्द को  
द्वित्व न हो सकेगा । क्योंकि दो दो की संयोगसंज्ञा में यहाँ नद और  
दर ये दो संयोग हैं । पहले संयोग में नकार आदि है । दूसरे में दकार ।  
नन्द्राः० सूत्र से दोनों का ही द्वित्व निषेध प्राप्त होता है । बहुतों की संयोगसंज्ञा  
पक्ष में तो दकार संयोग के आदि में नहीं आता इसलिए उसके द्वित्व का  
निषेध नहीं हो सकता ।

यह कोई दोष नहीं । नन्द्राः संयोगादयः इस सूत्र में अजादेर्द्वितीयस्य सं  
भच् की अनुवृत्ति आती है । वह भच् से परे संयोग के आदि में आने वाले नदर  
के द्वित्व का निषेध करता है । सो इन्द्री शब्द में नकार तो इकार रूप भच् से परे है  
इसलिये उसके द्वित्व का निषेध तो हो जायगा लेकिन दकार भच् से परे नहीं है ।  
उस को द्वित्व का निषेध नहीं होगा तो दकार को द्वित्व होकर इष्ट रूप बन जायगा ।

समिलित हल् समुदाय में चाहे बहुतों की संयोगसंज्ञा मानो चाहे दो १ की,  
बया ये दोनों पक्ष टूटोन्तराः संयोगः इस इतने सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे या दोनों में  
से किसी एक पक्ष के लिये दूसरा सूत्र बनाना होगा ।

हां दोनों पक्ष इसी सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे । कैसे ? जब बहुतों की संयोग-  
संज्ञा अभीष्ट होगी तब अविद्यमानमन्तरमेषाम् ऐसा विग्रह करेंगे । और जब दो २

१. अनुवृत्त हुआ अजादेः यह पद कर्मधारय है, अतः आदिभूत भन् से परे  
ऐसा अर्थ होगा ।

संयोगसंज्ञा तदेवं विग्रहः करिष्यते—अविद्यमाना अन्तरा येषामिति । द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद् विद्यते वा न वा ॥

एवमपि बहूनामेव प्राप्नोति । यान् हि भवानत्र पृथ्या प्रतिनिर्दिशति पतेषामन्येन व्यवायेन न भवितव्यम् ॥

अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा । ननु चोक्तं समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेरिति । नैप दोषः । वक्ष्यत्येतत् 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वां मिदनुपङ्गसंयोगादिलोपार्थम्' इति ॥

की अभीष्ट होगी तब अविद्यमाना अन्तरा येषाम् ऐसा । क्योंकि अन्तरा शब्द मध्यवाची है और मध्य में जो रखा जाता है वह दो २ के ही संभव है । दो के ही बीच किसी का होना न होना होता है । अर्थात् दो ही मध्य बनाते हैं । बहुत होने पर भी उन का मध्य दो दो से ही बनेगा । इस लिये वहाँ अन्तरा शब्द से विग्रह होगा । बहुतों में मध्य का ठीक मापदण्ड न होने से वहाँ अन्तरा शब्द से विग्रह न हो कर अन्तर शब्द से होगा । अन्तर का अर्थ व्यवधान, विवर है । बहुतों में अन्तर के अविद्यमान होने पर संयोगसंज्ञा होगी ।

उक्त विग्रह (अविद्यमाना अन्तरा येषाम्) करने पर भी हल् समुदाय में बहुतों की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होती है । दो २ की नहीं । क्योंकि 'दो दो अवयव वाले समुदाय का' इस अर्थ वाली द्वयोर्द्वयोः इस षष्ठी से जिन वर्णों के मध्य में आप अन्य को अविद्यमान कहते हैं वे तो बहुत हैं । यह ठीक है कि उन में दो २ का बीच ठीक बन जायगा लेकिन जब वे दो २ ही अव्यवहित होंगे तो बहुत बन जायेंगे उस अवस्था में बहुतों की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होगी ।

अच्छा तो हल् समुदाय की ही संयोगसंज्ञा मान लो । यह जो मङ्का मङ्क्तुम् में दोष दिया था वह कोई दोष नहीं । क्योंकि मिदचोन्त्यात्परः का अपवाद मस्जेरन्त्यात्पूर्वां मिदनुपङ्गसंयोगादिलोपार्थम् यह वार्तिक है । उससे मस्ज् के जकार से पूर्व नुम् होगा मकार के अकार से परे नहीं होगा तो सकार के संयोगादि हो जाने से स्को० सूत्र से सकार का लोप सिद्ध हो जायगा । उस वार्तिक का अर्थ है—मस्ज् धातु के अन्तिम अक्षर जकार से पहले सिद् अर्थात् नुम् का आगम होता है अनुपङ्गलोप ( नुम् के नकार का लोप ) और संयोगादि लोप की सिद्धि के लिये । अनुपङ्ग यह नुम् के नकार की पूर्ववर्त्यलुत संज्ञा है । अनुपङ्ग का उदाहरण मानः मग्नवान् है । (मस्ज्-क्त, क्तवत्) यहाँ मस्ज् धातु से क्त, क्तवत् परे रहते मस्जिनशोर्क्षेति से प्राप्त नुमागम मस्जेरन्त्यात् पूर्व० इस वचन से मस्ज् के जकार से पूर्व हो जायगा तो नकार के उपधा में आ जाने से अनिदिता

अथवा अविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते द्वयोरपि बहुनामपि । तत्र द्वयोर्यां संयोगसंज्ञा तदाश्रयो लोपो भविष्यति । यदप्युच्यते इह निर्लेयात् निर्मल्यात् निर्म्लेयात् निर्म्ल्यात् 'धान्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं न प्राप्नोति । अङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः । अङ्गस्य संयोगादेरिति । एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम् । यदप्युच्यते इह च गोमान् करोति ययमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न प्राप्नोतीति, पदेन संयोगान्तं विशेषयिष्यामः । पदस्य संयोगान्तस्येति । यदप्युच्यते इह च निर्म्लानो निर्म्लान इति 'संयोगादेरातो धातोः' इति निष्पान्तत्वं न प्राप्नोतीति धातुना संयोगादिं विशेषयिष्यामः । धातोः संयोगादेरिति ।

हल उभयाया. क्रिति सूत्र से नकार का लोप सिद्ध हो जायगा और साथ ही सकार के संयोगादि हो जाने से म्ने० सूत्र से सकार का लोप भी सिद्ध हो जायगा ।

अथवा अव्यग्रहित हल् समुदाय की उपस्थिति में सामान्यरूप से दोनों की संयोगसंज्ञा मानी जायगी—ऋतुर्त्वा की भी और दो दो की भी । जहाँ केवल दो ही होंगे वहाँ दो दो की होगी । किन्तु समुदाय में दोनों पक्ष माने जायेंगे तो मञ्जना नह्मन्तुम् में मञ्ज के मकार के अकार से परे नुम् करने पर भी नमञ्ज इस समुदाय में सञ्ज भी सयाग है, उसके आदिभूत सकार का म्ने० सूत्र में लोप हो जायगा । जो न नडेया आदि में दोष कृश वा यद् भी दो दो की संयोगसंज्ञा मानने पर न होगा । यद्यपि निर्लेयात् इत्यादि में र ग ल आदि तीन हलो का समुदाय है इस लिये जहाँ ग ल आदि दोनों की संयोगसंज्ञा होने से दृष्टसिद्ध होगा वहाँ रेकादिसहित समुदाय की भी संयोगसंज्ञा होने से दोष प्राप्त होता है तथापि उसका समाधान यह है कि 'धान्यस्य संयोगादेः' आदि में संयोगादि को अङ्ग से विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् अङ्ग जो संयोगादि उसको पृथक् विरुद्ध होता है ऐसा भयें करेंगे । निर का रेक अङ्ग में शामिल नहीं है यह समुदाय में दृष्ट जायगा । इस प्रकार मन्परिषीष्ट आदि मञ्ज अङ्गाधिकारीय प्रयोगों में दोष का परिहार हो गया । गोमान् करोति यहाँ भी ननक समुदाय की संयोग संज्ञा होने पर संयोगान्त को पद में विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् पद जो संयोगान्त उसका लोप होता है ऐसा भयें करेंगे तो करोति का ककार स्वयं समुदाय से दृष्ट जायगा । निर्म्लानः में भी रगञ्ज समुदाय की संयोगसंज्ञा में संयोगादेरातो धातोः सूत्र के संयोगादि शब्द को धातु में विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् धातु जो संयोगादि उस से परे निष्पान्त होना है ऐसा भयें करेंगे तो निर का रेक स्वयं समुदाय से दृष्ट जायगा ।

स्वरानन्तर्हितवचनम् ।

स्वरेरव्यवहिता हलः सयोगसज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । व्यवहितानां मा भूत् । पचति पनसम् ॥

ननु चानन्तरा इत्युच्यते तेन व्यवहितानां न भविष्यति ॥

दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेपि । व्यवहितेप्यनन्तरशब्दो दृश्यते । तद्यथा अनन्तराविमौ ग्रामावित्युच्यते तयोश्चेवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति ॥

यदि तर्हि अनन्तरशब्दो व्यवहितेपि भवति आनन्तर्यवचन-  
मिदानीं किमर्थं स्यात् ।

आनन्तर्यवचन किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् । एकस्य हलः  
सयोगसज्ञा मा भूदिति ॥

किं च स्याद् यद्येकस्य हलः सयोगसज्ञा स्यात् ?

इयेप उवोप । इजादेश्च गुरुमतो नृच्छ इत्याम् प्रसज्येत ॥

स्वर अर्थात् अच् उन से अनन्तर्हित अव्यवहित हल्ने की सयोगसज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? पचति पनसम् यद्वा पनसम् में सकार मकार क वीच में अकार का व्यवधान है । उसके व्यवधान में सकार मकार की सयोगसज्ञा न हो । अन्यथा म्को सयोगयोग्ने च सूत्र से सयोगादि सकार का लोप प्राप्त होता है ।

यदि कहें कि सूत्र में अनन्तरा यह कहा हुआ है उस स अच् के व्यवधान में सयोगसज्ञा न होगी तो इसका उत्तर है—

व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग दीखता है । जैसे-अनन्तरा इमौ प्रामौ । यह दोनों गाँव एक दूसरे के अनन्तर हैं ऐसा कहते हैं लेकिन उन के मध्य में नदियाँ और पहाड़ होते हैं ।

यदि कहा कि व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग हान पर सूत्र में अनन्तरा यह किस लिये कहा गया है तो उत्तर है—

एक हल् की सयोगसज्ञा रोकने के लिये सूत्र में अनन्तरा कहा गया है ।

क्या हो नायगा यदि एक हल् की भी सयोगसज्ञा हो जाये?

यही होगा कि इयेप उवोप ( इप् उम् लिट् तिप् णल् ) यद्वा इप् उप् धातुभो क हल् उकार की सयोगसज्ञा हान पर भयोग गुरु स इ, उ ङी गुरुसज्ञा होगी ता



नञाऽतज्जातायव्यगयात् ।

न चा एष द्रोपः । किं कारणम् । अतज्जातीयस्य व्यवयात् । अतज्जातायक हि लोक व्यवधायक भवति । कथं पुनर्भाष्यत अतज्जातीयक हि लोक व्यवधायक भवतीति । एष हि कश्चित् कश्चित् पृच्छति-जनन्तरं गत ब्राह्मणकुले इति । स आह नानन्तरे । वृषलकुलमनयो गन्तवति ॥

किं पुनः कारणं कश्चित्तज्जातीयक हि लोक व्यवधायक भवति कश्चित्प्रति ? ॥

मयत्र ह्यतज्जातीयक व्यवधायक भवति ॥

रथमनन्तराग्निमौ ग्रामाप्रिति ? ॥

ग्रामशब्दोऽथ रथार्थे । अस्त्येव शालासमुद्राय गतः । तद्यथा ग्रामो रथ इति । अस्ति गटपरिक्षेप गतः । तद्यथा ग्रामं प्रतिष्ठ इति । अस्ति मनुष्येषु गतः । तद्यथा ग्रामो गतो ग्राम आगत इति ।

धानु गुरूमान हा ताया । इत्यादि हे ही । तत्र इत्यादि तु नतः इत्युत्पत्तौ न लिट् परे रहत आन् विकरण प्राप्त हागा ।

यह कोई दाय नहीं है । क्योंकि अपने से निम्न जाति का हा व्यवधान माना जाता है । अतः समानताया का नञा । कैम जाना ? लोक में यही दीखता है कि निम्न जातिवाला हा व्यवधायक होता है । काहूँ कहीं से पू पूता है व दानों ब्राह्मणकुल अनन्तर है ? अन्यवहित है ? यह उत्तर दया है नहीं । अनन्तर नहीं है । इन के मध्य में गुरूमल का व्यवधान है ।

क्या कारण है लोक में कहीं ता निम्नजातीय का व्यवधान माना जाता है कहीं नहीं माना जाता ?

मनी तगद ल क में निम्नजातीय का व्यवधान माना जाता है ।

किर अनन्तराग्निमौ ग्रामो, यह प्रश्न कैम हागा है ?

ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ हैं । एक तो बहुत घरा का समूह ग्राम कहलाता है । तैम ग्राम उर गया । यहाँ परमगुरू के लिये ग्राम शब्द बहुत दुभा है । एक कोंटां बाग । अथवा नाम या याहा ना ग्राम कहागा है । तैम ग्राम न भुम गया । यहाँ कण्ठाक्षर नाग याहा या इम जान के विर ग्राम का प्रयोग है । एक

अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते । तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद्य. सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्येतत् प्रयुज्यते अनन्तराविमौ ग्रामाविति । सर्वत्रेव ह्येतज्जातीयक व्यवधायक भवति ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥११॥८॥

किमिदं मुखनासिकावचनम् ? ॥

मुख च नासिका च मुखनासिकम् । मुखनासिक उच्यते मस्य सोऽय मुखनासिकावचन ॥

यद्येव मुखनासिकउच्यते इति प्राप्नोति ।

मनुष्यवाचक ग्राम शब्द है । जैसे ग्राम गया ग्राम आ गया । यहा मनुष्यो के लिये ग्राम शब्द का प्रयोग है । एक अरण्यसहित सीमासहित और पहाडी टीचे आदि भूमि सहित ग्राम कहलाता है । जैसे गाव की सीमा आन पर कह देते हैं—ग्राम आ गया । इन उक्त अर्थो न ना अरण्य सीमा पर्वत आदि सहित अर्थ वाला ग्राम शब्द है उस का विचार करके अन्तराविमो ग्रामा ( ये दो गाव व्यवधान रहित ह ) यह प्रयोग होता है । उस अर्थ मे नदी पर्वत आदि स ग्राम भिन्नजातीय नहा रहता है इसलिये सर्वत्र भिन्न जातीय का ही व्यवधान होता है या भिन्नजाति वाला ही व्यवधान करन वाला होता है यह समझना चाहिये । इलानन्तरा सूत्र मे हल् से भिन्न जाति वाल स्वर (अच) ही हैं अन उन के व्यवधान का निषेध सयोगसज्ञा मे समझा जायगा तो स्वरानन्तरिहिनवचनम् इस वचन की कोई आवश्यकता नही है ।

यहा भाष्यकार ने जो ग्राम शब्द क कई अर्थ कहे हैं वे आधुनिक केषो म अन्वेषणीय हैं । कुछ लोग अर्थभेद होने पर भी शब्द मे भेद नही मानते । उन क मत मे एक ही शब्द अनन्वर्थबोधक शक्ति रखता है उस लिय एक ही ग्राम शब्द भिन्न २ अर्थो का बोधक है किन्तु कुछ लोग अर्थ क भेद होने से शब्द न भा भेद मानते हैं । उन क मत म शालासमुदाय आदि भिन्न २ अर्थो क वाचक ग्राम शब्द भी भिन्न २ हैं । यहा भाष्यकार ने अर्थभेद से शब्दभेद मानते हुए भिन्न २ ग्राम शब्द स्वीकार किये हैं ॥

सूत्र में यह मुखनासिकावचन क्या है ?

मुख और नासिका इन दोनो का समाहार द्वन्द्व मुखनासिक ह । मुखनासिक तिस का वचन है, उच्चारणसाधन है यह मुखनासिकावचन है ।

तब तो मुखनासिकावचन ऐसा होना चाहिये ।

निपातनाद् दीर्घत्वं भविष्यति । अथवा मुखनासिकावचनमस्य सोऽय मुखनासिकावचनः । अथ किमिदमावचनमिति । इंपद्वचनमावचनम् । किञ्चिन्मुखवचन किञ्चिन्नासिकावचनम् । मुखद्वितीया या नासिकावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । मुखोपसंहिता या नासिकावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचन ॥

अथ मुखग्रहणं किमर्थम् ?

नासिकावचनोऽनुनासिकः इतीपत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्राप्नोति । मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम् ? ॥

इस सूत्र में निपातन से दीर्घ होकर मुखनासिकावचन हो जायगा । या इस में आवचन शब्द समझेगे । आवचन का क्या अर्थ होगा ? इंपन् (धोड़ा) अर्थ में भाइ शब्द मानकर धोड़ा वचन उच्चारण साधन ऐसा अर्थ होगा । जिस में कुछ मुख से बोला जाय कुछ नासिका से, उसे मुखनासिकावचन. ऐसा कहेंगे । या मुखद्वितीया नासिका अथवा मुखोपसंहिता नासिका मुखनासिका । इस प्रकार मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास करके उसका वचन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करेंगे । उस अवस्था में समाहारद्वन्द्व न होने से नासिका को ह्रस्व न होगा तो इष्ट रूप बन जायगा ।

मुखग्रहणं किम् लिये किया है ?

मुखग्रहण के अभाव में केवल नासिकावचनोऽनुनासिक. इतना सूत्र होने पर यम और अनुस्वार की ही अनुनासिकसज्ञा प्राप्त होगी । कुं रुरुं गुं धुं ये ४ यम हैं । पलिर्त्स्नी चर्त्त्नवृ, जगमि, जघ्वन्तु यहाँ वगैरे के पञ्चम अक्षर पर रहते जो क, ख, ग, घ हैं उनका प्रत्येक क, ख, ग, घ यम कहाते हैं । और २ यह अनुस्वार का चिह्न है । अनुस्वारयमाना च नासिका स्थानमिष्यते इस पाणिनि शिक्षा के वचनानुसार अनुस्वार और यमो का नासिका स्थान है । ये केवल नासिका में बोलते हैं । इनकी अनुनासिकसज्ञा होने से आगेनुनासिकसज्ञा इत्यादि अनुनासिकविधान स्थलों में ये ही भादन प्राप्त होगे जो कि भविष्यते हैं । रिङ्गो-रनुनासिकस्यार् इत्यादि अनुनासिक के अनुनासिकों में इनका अभाव होने से उन सूत्रों के अर्थ की अप्रतिपत्ति होगी । इसलिये नासिका के साथ मुखग्रहण भी करना चाहिये । मुखग्रहण करने पर जो मुख और नासिका दोनों में बोल जाते हैं क, न, ण, न, म इत्यादि, उनकी अनुनासिकसज्ञा हो जायगा तो कोई दोष न होगा ।

नासिका ग्रहणं किम् लिये किया है ?

मुखवचनोनुनासिक इतीयत्युच्यमाने कचटतपानामेव प्राप्नोति ।  
नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम् । केनेदानीमुभयवचनानां सिद्धं भविष्यति ।  
प्रासादवासिन्यायेन । तद्यथा केचित्प्रासादवासिनः । केचिद् भूमिवासिनः ।  
केचिदुभयवासिनः । तत्र ये प्रासादवासिनो, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन ।  
ये भूमिवासिनो, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन । ये तूभयवासिनो,  
गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च । एवमिहापि  
केचिन्मुखवचनाः । केचिन्नासिकावचनाः । केचिदुभयवचनाः । तत्र ये  
मुखवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन । ये नासिकावचना, गृह्यन्ते ते  
नासिकाग्रहणेन । ये उभयवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन नासिका-  
ग्रहणेन च ॥

नासिकाग्रहण के अभाव में मुखवचनोनुनासिक इतना सूत्र होने पर जो केवल मुख से बोले जाते हैं क च ट त प आदि, उनकी अनुनासिकसंज्ञा प्राप्त होगी । उस अवस्था में पञ्म् (पञ्-क्) यहां पञ् धातु के चकार को अनुनासिक मान कर उससे क्त् प्रत्यय परे रहते अनुगतोपदेशवन्ति० सूत्र से चकार का लोप प्राप्त होगा । ओदन पचतीति ओदनपक् यहां क्त्वन्त पञ् धातु के चकार को अनुनासिक मान कर क्त् परे रहते अनुनासिकस्य क्त्त्वन्तो । इति सूत्र से उपधा-दीर्घ प्राप्त होगा । इसलिये मुखग्रहण के साथ नासिका ग्रहण भी करना चाहिये । नासिकाग्रहण करने पर कोई दोष न होगा । उस से मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्ण की ही अनुनासिकसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

सूत्र में मुख ग्रहण तो हटा ही देना चाहिये । यदि कही मुखग्रहण के अभाव में मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्णों को कैसे अनुनासिकसंज्ञा होगी तो इसका उत्तर है — प्रासादवासिन्याय से । जैसे कुछ लोग प्रासाद (महल) में रहनेवाले हैं । कुछ भूमि पर रहने वाले हैं । कुछ प्रासाद और भूमि दोनों पर रहने वाले हैं । उन में जो केवल प्रासाद में रहने वाले हैं वे प्रासादवासी कहलायेंगे । जो केवल भूमि पर रहने वाले हैं वे भूमिवासी कहलायेंगे । जो प्रासाद और भूमि दोनों पर रहने वाले हैं वे प्रासादवासी और भूमिवासी दोनों कहलायेंगे । इसी प्रकार यहां भी कुछ वर्ण मुख से बोले जाते हैं वे मुखवचन कहलायेंगे । कुछ नासिका से बोले जाते हैं वे नासिकावचन कहलायेंगे । कुछ मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं वे मुखवचन और नासिकावचन दोनों ही कहलायेंगे ।

भवेदुभयवचनानां सिद्धम् । यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति ।

नेव दोषो न प्रयोजनम् ॥

इतरेतराश्रय तु भवति । का इतरेतराश्रयता ? सतोनुनासिकस्य सञ्ज्ञया भ्रित्तञ्यम् । सञ्ज्ञया चानुनासिको भाष्यते । तदितरेतराश्रय भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ॥

अनुनासिकसञ्ज्ञायामितरेतराश्रये उक्तम् ।

किमुक्तम् । 'सिद्ध तु नित्यशब्दत्वादिति' । नित्याः शब्दाः । नित्येषु च शब्देषु सतोनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते । न संज्ञया अनुनासिको भाष्यते ॥

यह शक है कि जो षणं मुर धोर नासिका दोनो से बोले जाते है वे मुखरचन या नासिकाचन दोनो कडे जा सकते है जैसे उ प्र ण न म भादि । केवल नासिकाचनोत्तानामक इतना सूत्र होने पर भी उन की अनुनासिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जायगा, लेकिन जो केवल नासिका से ही बोले जाते है जैसे यम और अनुस्वार, व भा तो नासिकाचन ० इतन सूत्र से अनुनासिक प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है ।

यम और अनुस्वारों की अनुनासिकसञ्ज्ञा होने पर न तो कोई दोष है और न प्रयोजन है । क्योंकि अनुनासिक के अनुशादस्थलों में तो उन का सर्था अभाव हा है । रंइ विधिस्वर, उन न जो शानेन्तरतनः इस अन्तरतम परिभाषा से मुखरचन के स्थान न मुखनासिका दोनो में बोले जान यात्रा षणं ही भादस होगा, न केवल नासिका से बोला जाने वाला ॥'

अनुनासिकसञ्ज्ञा में इतरेतराश्रयदोष तो जाता है ? क्या इतरेतराश्रयदोष ? यही कि अनुनासिक षणं के पहले से विद्यमान होने पर तो अनुनासिकसञ्ज्ञा होगा । और अनुनासिकसञ्ज्ञा द्वारा अनुनासिक षणं का विधान होगा यह इतरेतराश्रय दोष है । इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय का अर्थ है—एक दूसरे के सहार में होना । यह हो तो रंइ दो रीर रंइ दो या रंइ रंइ इस प्रकार एक दूसरे पर आधिष्ठ होने बांय कार्य नही हो सकते ।

अनुनासिकसञ्ज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रय दोष के विषय में पहले उद्देशानुसूत्र में समाधान कइ चुके है कि शब्द नित्य है । नित्य शब्दों में पहले से ही अनादि काल में अनुनासिक षणं विद्यमान है । उस को विद्यमान मान कर अनुनासिक-

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः किमर्थं शास्त्रम् ? ॥

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्नित्यकत्वात् सिद्धम्

निवर्तकं हि शास्त्रम् । कथम् । आङ्गस्मायविशेषेणोपदिष्टोऽननु-  
नासिकस्तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः  
क्रियते । छन्दस्यचि परत आटोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेनानासिकः  
साधुर्भवतीति ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१११९॥

तुल्या संमित तुल्यम् । आस्य च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् ।

सज्ञा हो जायगी । अनुनासिकसज्ञाद्वारा नया अनुनासिक वर्ण नहीं विधान  
किया जाता ।

यदि शब्द नित्य हैं, पूर्व से ही भवद्विगत हैं तो अनुनासिकसज्ञा द्वारा  
अनुनासिकविधान शास्त्र किस लिये है ?

नित्य शब्दों में अनुनासिक विधान शास्त्र अभीष्ट विषय में अनुनासिक के  
अभावात् निवृत्त करने के लिये है । जैसे—आङ्गानुनासिकछन्दमि यह अनुनासिक  
विधान शास्त्र आङ्ग शब्द को अनुनासिक विधान करता है । उस विधान शास्त्र  
से पूर्व आङ्ग शब्द इस अध्येता के लिये सामान्य रूप से अनुनासिकरहित  
उपदिष्ट है । उस आङ्ग को वह अध्येता सर्वत्र अनुनासिकरहित ही समझता  
किन्तु अनुनासिक-विधान शास्त्र उसकी इस बुद्धि को अभीष्ट विषय में निवृत्त  
कर देता है जिससे वह समझ जाता है कि छन्द में अच परे रते आङ्ग को  
अनुनासिक प्रयुक्त करना साधु है । वहाँ अनुनासिकरहित प्रयोग अशुद्ध है ।  
असाधु है । इस प्रकार नित्य शब्द रहते हुए भी शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो  
जाता है ।

तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त शब्द के अन्तर्गता पदों का त्रिसहस्रपूर्वक अर्थ  
दिखाते हैं—तुल्या संमित तुल्यम् । जो तुला अर्थात् तराजू से ठीक तुला हुआ है  
वह तुल्य होता है । यहाँ तुला शब्द के अर्थ तुल्य की वृत्ति द्वारा साधुत्व  
प्रदर्शन के लिये उपयुक्त हुआ है । इस तुल्यशब्द प्रवीण कुशल आदि का तरह  
सदस्य अर्थ में रूढ है । इसमें अवयवार्थ कुछ नहीं । स्वभावतः सदस्य अर्थ में तुल्य  
शब्द की प्रवृत्ति होने में वही उसका प्रवृत्तिनिमित्त है । आस्य और प्रयत्न का

तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्न च सवर्णसंज्ञ भवति ।

किं पुनरास्यम् ?

लौकिकिमास्यम् । ओष्ठात् प्रभृति प्राक् सार्वलयात् ।

कथं पुनरास्यम् ?

अस्यन्त्यनेन वर्णानिति आस्यम् । अन्नमेतदास्यन्दते इति वा आस्यम् ।

अथ क. प्रयत्न ?

प्रयत्न प्रयत्न. । प्रपूर्वाद् यततेर्भावसाधनो नड प्रत्ययः ।

यदि लौकिकिमास्य, फिमास्योपादाने प्रयोजनम् । सवर्णा हि तत् तुल्यम् ॥

समाहारद्वन्द्व हाकर आस्यप्रयत्नम् यनता है । फिर उसका तुल्य शब्द स बहुव्रीहि-समास करके मूल का अर्थ होगा—आस्य और प्रयत्न जिसके तुल्य हैं उसकी सवर्ण सजा जाता है ।

आस्य किस कहते हैं ?

लोकप्रसिद्ध मूल का आस्य कहते हैं । जो ओष्ठ से लेकर कार्णिक (टडुभा नामक मीमांसा में उभरा हुआ प्रदेश) से पूर्व तक शरीर का अग्रभाग है ।

मूल को आस्य क्यों कहते हैं ?

क्योंकि इस मूल से शब्दों का प्रकृत है, उच्चारण करते हैं, बाहर निकालते हैं इसलिये मूल का आस्य कहते हैं । या व्याप्य जाता हुआ अन्न इस मूल को गीला करता है इसलिये भी मूल को आस्य कहते हैं । अग्रे क्षपण या भावपूर्वक स्पन्द इन धातुओं से आस्य शब्द निश्चय होता है ।

प्रयत्न किस कहते हैं ?

शब्दों के उच्चारण में जो विघ्न के भ्रम उपाय भादि भागों से स्वतंत्र या हरकत होती है उसे प्रयत्न कहते हैं । प्रपूर्वक यत् धातु से नार में यत्रयादि विच्छेद-प्रयोगों के मूल से नरु प्रत्यय होकर प्रयत्न शब्द निश्चय होता है ।

यदि लोकप्रसिद्ध मूल ही आस्य है तो मूल से आस्यग्रहण करने का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मूल तो सभी शब्दों के उच्चारण में तुल्य है । मूल के व्यापार के बिना क्रिया यत्न का उच्चारण संभव नहीं ।

वक्ष्यत्येतत्—प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमिति ।

सर्गसत्राया भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् ।

सवर्णसज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति । जवमटदशाम् ।  
कि कारणम् । प्रयत्नसामान्यात् । एतेषां हि समान प्रयत्नः ॥

सिद्ध त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्न सर्गसत्र

सिद्धमेतत् । कथम् ' आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते  
सवर्णसज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् ॥

एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनम् । सर्वेषां हि तत् तुल्यम् ॥

प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम् । सन्ति ह्यास्याद वाह्याः प्रयत्नाः ।  
ते हापिता भवन्ति । तेषु सत्स्वसत्स्वपि सवर्णसज्ञा सिद्धा भवति ।

यह बात अभी आगे रहेंगे कि प्रयत्न का विशेषण बनाने के लिए सूत्र में  
आस्य ग्रहण किया है ।

सवर्णसज्ञा करने में चिन वर्णों का स्थान भिन्न है, किन्तु प्रयत्न तुल्य है  
उन की सवर्णसज्ञा प्राप्त होता है । जैसे ज व ग ड द इन वर्णों का स्पृष्टसज्जक  
प्रयत्न तो तुल्य है किन्तु स्थान सत्र का भिन्न भिन्न है । व का ताडु । ब का ओण्ड ।  
ग का ऋण्ड । ड का नूर्धा और द का दन्त । अभी तक तुल्यप्रयत्न सवर्णम्  
इस सूत्र का यही अर्थ है कि चिन का मुख और प्रयत्न तुल्य हो वे सर्गसज्जक  
होते हैं । इन सत्र ना मुख और प्रयत्न तुल्य है केवल स्थान भिन्न है । इस लिये  
मुख और प्रयत्न के तुल्य होने से उन की आस्य में सवर्णसज्ञा प्राप्त होती है ।

अच्छा तो जानिये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते स्वर्णमजा भवन्ति ऐसा सूत्र  
बना देगे तब व व ग ड द का सवर्णसज्ञा न होगा । उस सत्र का अर्थ होगा  
मुख में चिन वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य है उन की सर्गसज्ञा देता है । व व  
ग ड द का स्थान तुल्य न हान में सर्गसज्ञा न होगी ।

इस नये सूत्र में भी आस्य ग्रहण का क्या प्रयोजन है क्योंकि स्थान और  
प्रयत्न तो मुख में ही होते हैं । वह सब का तुल्य है ।

आस्ये येषां तुल्यो देशः ० इस नये सत्र में आस्यग्रहण प्रयत्न का विशेषण  
बनाने के लिये किया गया है । आस्य अर्थात् मुख, उस में जो स्पृष्ट ईषत्-स्पृष्ट आदि  
प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता होने पर सवर्णसज्ञा हो । मुख से बाहर जो विचार



के पुनस्ते? विवारसंवारी, श्वासनादौ, घोषवद्घोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विधृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अधोपाश्च । एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः । तृतीयचतुर्थाः सवृतकण्ठानादानुप्रदाना घोषवन्त । एकेऽल्पप्राणाः । अपरे महाप्राणाः । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः । आनुनासिक्ययजम् । आनुनासिक्यमेपामधिको गुणः ॥

एवमप्यवर्णस्य सवर्णसज्ञा न प्राप्नोति । याद्य हास्यात् स्थानमवर्णस्य ॥

सर्वमुखस्थानमवर्णमैक इच्छन्ति ॥

गवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते-आस्ये येषां तुल्यो देश इति ॥

संसार आदि प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता सवर्णसज्ञा में भाग्यक नहीं । सवर्णसंज्ञा में बाह्य प्रयत्न छोड़ दिये जायेंगे । उन की तुल्यता होने न होने पर भी सवर्णसंज्ञा ही जायगी । ये बाह्य प्रयत्न कौन से हैं ? विवार, सवार, श्वास, नाद, घोष, अधोष, अल्पप्राण और महाप्राण ये बाह्य प्रयत्न हैं । उन में कर्म आदि पाच वर्गों के पहले दूसरे कर्म च छ आदि वर्ण विवार श्वास अधोष हैं । उन में भी पहले कर्म ट त प ये वर्ण अल्पप्राण हैं । दूसरे कर्म छ द ध फ ये वर्ण महाप्राण हैं । तीसरे चौथे कर्म घ ङ आदि वर्ण संसार नाद घोष हैं । उन में भी तीसरे कर्म ज ड ढ ञ अल्पप्राण हैं और चौथे कर्म झ ञ ध भ महाप्राण हैं । पांचवें छ प्र ण न म वर्ण तीसरे वर्णों के समान हैं केवल अनुनासिक धर्म को छोड़ कर । अनुनासिक धर्म इन पांचवें वर्णों का अधिक है । अर्थात् पांचवें वर्ण संसार नाद घोष अल्पप्राण तथा अनुनासिक हैं ।

ऐसा होने पर भी अवर्ण की सवर्णसज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्योंकि कुछ भाषाओं के मत में अवर्ण का स्थान काष्ठक से नीचे प्रीरा के जोड़ के भागपाव है । यह भास्य से बाहर है । भास्य में नहीं आता ।

अवर्ण की सवर्णसज्ञा ही जायगी । क्योंकि कुछ भाषाओं में अवर्ण का स्थान गारा मुग्य में ही मानते हैं । उन के मत में भास्य के अन्दर ही अवर्ण भा जायगा ।

अवर्ण का स्थान गारा मुग्य मानने पर मुग्य ही अवर्ण का स्थान हो गया । मुग्य में स्थान न रहा । उस अवस्था में मुग्य में त्रिनका स्थान गुन्य है यह व्यपदेश ( कथन ) नहीं बनेगा ।

व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति ॥

सिध्यति । सूत्रं तर्हि भिद्यते । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गं प्रयत्नसामान्यात् इति । नप दोषः । नहि लोकिक्मास्यम् । किं तर्हि । तद्धितान्तमास्यम् । आस्ये भवम् आस्यम् । 'शरीरावयवाद्यत्' । किं पुनरास्ये भवम् । स्थानं करणं च ॥

एवमपि प्रयत्नः ऽविशपितो भवति ॥

प्रयत्नश्च विशपितः । कथम् । नहि प्रयत्नं प्रयत्नः । किं तर्हि ।

व्यपदेशिवद्भावः स मुखरूपं स्थानं का भा मुखं म स्थानं मानं लिया जायगा अमु य म मु य क समान व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव क्त ह । नैस राहु शिर राहु का सिर, यहा सिररूप राहु हान पर भी राहु का सिर ऐसा क्त जाता ह उसा प्रकार यहा भी मुखरूप स्थान का हा उपचार स मुख म स्थान मान लग ता काई दाप न हागा ।

इस प्रकार आस्य यथा तु यो देश प्रयत्नश्च त सवर्णसंज्ञा भवान्त इत्यन्तं सूत्रं स इष्टं सवर्णसंज्ञा सिद्धता हा जायगा किन्तु तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् इत्यन्तं पाणिनि सूत्रं का भङ्ग हा जायगा । इस श्रियं नया सूत्रं न बना कर 'सा पाणिनि का सूत्रं हे वंसा तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् यह सूत्र ही रहन दा । यह चा न ब ग ड द आदि म सवर्णसंज्ञा प्राप्ति का दाप कहा था वह काई दाप ना । क्याक हम एक प्रसिद्ध मुख का आस्य नहीं मानगे किन्तु आस्य भवम् आस्यम् इत्यन्तं प्रकार आस्य शब्द से तत्र भव अर्थ म शरीरावयवाद्यत् सूत्रं स तादृत् यत् प्रत्यय करक आस्य शब्द बनायेंगे । उसका अर्थ हागा आस्यं म अथान् मुखं म हान वाला । क्या ? स्थान और प्रयत्न । त्रिं वर्णो क स्थान और प्रयत्न तुन्य हाग व सवर्णसंज्ञक हा जायगा ता न ब ग ड द की स्थान क तुल्य न हान स सवर्णसंज्ञा न हागा ।

तद्धित प्रत्ययान्त आस्य मानने पर भा प्रयत्नं विशपित रहता है । अर्थात् प्रयत्न का विशपण आस्य न रहा । तुल्यास्य प्रयत्नम् यह इन्द्रगर्भ बहुव्रीह है, एसा मान कर यह बाधप है, उस अवस्था म मुख स बाहर हान वाल प्रयत्न भी सवर्णसंज्ञा में आवश्यक हो जायगा ।

प्रयत्न को भी विशपित अर्थात् विशपणयुक्त कर दग । कैस ? कवल प्रयत्नमात्र का प्रयत्न नहीं मानगे अपितु यत्न क प्रारम्भ को प्रयत्न मानगे ।

प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न ।

यदि प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न. एवमप्यवर्णस्य षडोश्च सवर्णं सज्ञा प्राप्नोति ।

प्रद्विलघावर्णावर्णौ ।

अवर्णस्य तद्वचोश्च सवर्णसज्ञा प्राप्नोति ।

त्रिवृत्ततगावर्णावर्णौ ।

एतयोरत्र तद्दि मिव. सवर्णसज्ञा प्राप्नोति ।

नतौ तुल्यस्थानौ ।

उदात्तादीना तद्दि सवर्णसज्ञा न प्राप्नोति ।

यत्न का प्रारम्भ रूप भाँटि आभ्यन्तर प्रयत्न म होता है इस लिय उन की तुल्यता म ही सवर्णसज्ञा प्राप्ता । उस म बाह्य का आवश्यकता नहीं ।

यत्न क प्रारम्भ का प्रयत्न मानन पर अण और ए ( ए भा ) का भी सवर्णसज्ञा प्राप्त प्राप्ता । क्योंकि ए भा म अण क मिश्रित हान स उन क उच्चारण म यत्न का प्रारम्भ अवर्ण स है ।

ए भा म यद्यपि अण मिश्रित है परन्तु यह प्रकृत है । तैत्त भूल और पाना मित्र हए पृथक् नहीं क्रिये वासकत पर ही ए भा म मिश्रित अकार है ।

ए भा म नहीं । यदा ता अण प्रकृत क्रिया वासकता है । यत्न का प्रारम्भ प्रयत्न मानन पर ए और म मिश्रित अवर्ण का ए भा क साथ सवर्णसज्ञा प्राप्त प्राप्ता है ।

ए ओ म वा मिश्रित अण है पर अन्तर अवर्ण स विवृत्तार है । अन्तर अण का प्रयत्न विवृत है । ए और मिश्रित का विवृत्तार है । इस प्रकार प्रयत्नभेद हान स सवर्णसज्ञा प्राप्ता ।

ए ओ का ही आरम्भ म सवर्णसज्ञा प्राप्त प्राप्ता है ।

ए ओ द ता तुल्यस्थान वाग नहीं है । ए कण्ड तातु है । भी कण्टाट है । इस लिय यत्न का प्रारम्भ प्रयत्न मानन पर भी तुल्यस्थान वाग प्राप्ता हान स ए ओ का सवर्णसज्ञा नहीं प्राप्ता ।

उदात्त भ्रुदात्त भाँटि एका क उच्चारण म ए व क प्रारम्भ का भेद हान स उदात्तादि भ्रुदात्त वर्णों का सवर्णसज्ञा प्राप्ता प्राप्ता प्राप्ता है ।

अभेदका उदात्तादयः ।

अथवा किं न एतेन प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न इति । प्रयत्नमेव प्रयत्नः तदेव च तद्धितान्तमास्यम् । यत् समानं तदाश्रयिष्याम ॥

किं सति भेदे ? ॥

सतीत्याह । सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम् । कुत एतत् ।

उदात्तादि स्वर अभेदक माने गये है इस लिये उन में भेद न होने से वहाँ सवर्णसंज्ञा हो जायगी । अब तक विशेष शब्द द्वारा उदात्त आदि का विधान न किया जाये तब तक उदात्तादि का परस्पर भेद नहीं माना जाता यह सिद्धान्त अस्मिन् दवि० सूत्र के उदात्तग्रहण से ज्ञापित होता है जो पहले शृदिरादेव् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट हो चुका है ।

अथवा हमें इस से क्या कि यत्न के प्रारम्भ को ही प्रयत्न माने, हम सामान्य प्रयत्नमात्र को प्रयत्न मान लेंगे । और तद्धितप्रत्ययान्त आस्य शब्द को मानेंगे । बाह्य और आन्तर सब प्रकार के प्रयत्नों में जो भी समान एव तुल्य होगा उस का तुल्यता होने पर सवर्णसंज्ञा हो जायगी ।

क्या कुछ प्रयत्नों के भिन्न होने पर और कुछ के समान होने पर जो उन में समान प्रयत्न होंगे उन का तुल्यता में सवर्णसंज्ञा मानेंगे या सर्वथा सब प्रयत्नों के समान होने पर ? भाव यह है कि जिस प्रकार स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के समान होने पर और विवार सवार आदि बाह्य प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानने का उमे विवार सवार आदि बाह्य प्रयत्नों के समान होने तथा स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानते हो या नहीं ?

कुछ प्रयत्न भिन्न होने पर ही समान प्रयत्नवाला का सवर्णसंज्ञा मानेंगे । क्योंकि भेद होत हुं समानता में सवर्णसंज्ञा नै होना है । वह भेदमूलक ही होती है । यदि जहाँ सब कुछ समान हो वहाँ सवर्णसंज्ञा मानी जावे तो सवर्णसंज्ञा करना ही व्यर्थ होगा । भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है इस विषय में शरो शरि सवर्ण सूत्र का सवर्णग्रहण ही ज्ञापक है । उस सूत्र में सवर्णग्रहण इस लिये किया है कि यथापर्यननुदेश समानाम् इस यथासख्य नियम को रोक कर हल् से परे जो शर् उस का सवर्ण शर पर रहते लोप हो जावे । जैसे क्षिण्डि यहाँ क्षिप् धातु के लोट् लकार मध्यमपुरस् एकवचन में भ्रम् विकरण के अकार का लोप होकर क्षिन्-धि इस अवस्था में शला जश् शलि से ष की ढ, प्ठुना प्ठुः से ध

भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा । यदि हि यत्र सर्वे समानं तत्र स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

यदि तर्हि सति भेदे किञ्चित्समानमिति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति । शकारच्छकारयोः पकारठकारयोः सकारथकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति । एतेषां हि सर्वमन्यत् समानं करणवर्जम् ॥

एवं तर्हि प्रयत्नमेव प्रयत्नः । तदेव हि तद्धितान्तमास्यम् । न त्वय द्वन्द्वः आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नमिति । किं तर्हि त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये प्रयत्न एवामिति । अथवा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो

को ढ होता है । फिर न् को अनुस्वार परसवर्ण होकर ण् होता है । उस हल् णकार से परे झर् ढकार का उस के सवर्णी झर् ढकार के परे रहते लोप होता है । यदि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा हो तो यहाँ ढकार ढकार सवर्ण न बन सकेगा । सवर्ण न बनने पर ढकार परे रहते ढकार का लोप न हो सकेगा । क्योंकि ढकार ढकार की अन्व सब समानता होने पर भी अल्पप्राण तथा महाप्राणरूप बाह्य प्रयत्न की असमानता है । ढकार अल्पप्राण है । ढकार महाप्राण है । सभार नाद घोष तथा स्तुष्ट प्रयत्न एवं मूर्धा स्थान दोनों के समान हैं । सब कुछ समानता होने पर यथासंख्य नियम से ही काम चल जाता तो सवर्णग्रहण व्यर्थ था । इस लिये वह इस बात का ज्ञापक है कि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती ।

यदि भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है तो शकार छकार, पकार ठकार और सकार थकार इन की भी आपस में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होगी । क्योंकि इन वर्णों का और सब समान है केवल आभ्यन्तर प्रयत्न को छोड़ कर । श प स का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है और छ ठ थ का स्तुष्ट है । अन्य तालु आदि स्थान तथा त्रिवार श्वास अघोष महाप्राण ये सब प्रयत्न समान हैं ।

अच्छा तो प्रयत्न तो सामान्य प्रयत्न ही माना जायगा । और आस्य भी तद्धितप्रत्ययान्त ही मानेंगे किन्तु तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त पद में आस्यं न प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् तुल्यमास्यप्रयत्नं यस्य ऐसा द्वन्द्वगर्भं बहुव्रीहि समास न मान कर तुल्य आस्ये प्रयत्न एवाम् इस प्रकार त्रिपद बहुव्रीहि मानेंगे । अथवा तुल्य आस्ये तुल्यास्यं । इस प्रकार पहले पदों का तत्पुरुष करके फिर प्रयत्न शब्द

बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये तुल्यास्यः । तुल्यास्यः प्रयत्न एवामिति ।  
अथवा परस्तरुपस्ततो बहुव्रीहिः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्न ।  
तुल्य आस्यप्रयत्न एवामिति ॥

तस्य ।

तस्येति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः  
स तस्य सवर्णसज्ञो यथा स्यात् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य  
सवर्णसज्ञो मा भूत् ॥

तस्यावचन वचनप्रामाण्यात् ।

तस्येति न वक्तव्यम् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः  
कस्मान्न भवति । वचनप्रामाण्यात् । सवर्णसज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि  
हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः स्यात् सवर्णसज्ञावचन-  
मनर्थकं स्यात् ।

क साथ बहुव्रीहि मानग । या आस्ये प्रयत्ने आस्यप्रयत्न इस प्रकार पिछले पदों  
का सत्पुरुष करक फिर तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि समास मानेगे तो उन सत्र का  
अर्थ होगा जिन का एक ही स्थान में तुल्य प्रयत्न हो उन की सवर्णसज्ञा होती है  
तो शकार उकारादि का आपस में सवर्णसज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शकार उकारादि  
का जो स्थान है तालु आदि, वह जहाँ है वहीं प्रयत्न तुल्य होना चाहिये । अर्थात्  
स्थान और प्रयत्न दोनों की एक जगह होनी चाहिये । दोनों एक ही स्थान पर हो,  
अलग अलग न हो । तालु आदि मुख में हैं तो आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता में  
सवर्णसज्ञा होगी बाह्य का तुल्यता में नहीं । शकार उकारादि का आभ्यन्तर प्रयत्न  
तुल्य न होने से सवर्णसज्ञा न होगी ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये । जिस स या तिस का  
समान स्थान प्रयत्न वाला है उस की उस से ही सवर्णसज्ञा हो । अन्य के समान  
स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसज्ञा न हो ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । सवर्णसज्ञा  
क वचनसामर्थ्य से ही अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा न होगी । यदि अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा हो चाहे तो सवर्णसज्ञा वचन ही व्यर्थ हो जायगा । सवर्णसज्ञा इसी लिये  
की जाती है कि जिस का जिस के साथ स्थानप्रयत्न मिलता है वह उसी के साथ

१. त्रिपद बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात होना चाहिये था, तुल्य आस्य

बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये तुल्यास्यः । तुल्यास्यः प्रयत्न एषामिति ।  
अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्न ।  
तुल्य आस्यप्रयत्न एषामिति ॥

तस्य ।

तस्येति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः  
स तस्य सवर्णसज्ञो यथा स्यात् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य  
सवर्णसज्ञो मा भूत् ॥

तस्यावचन उचनप्रामाण्यात् ।

तस्येति न वक्तव्यम् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः  
कस्मान्न भवति । वचनप्रामाण्यात् । सवर्णसज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि  
हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः स्यात् सवर्णसज्ञावचन-  
मनर्थकं स्यात् ।

क साथ बहुव्रीहि मानेग । या आस्ये प्रयत्ने आस्यप्रयत्न इस प्रकार पिछले पदों  
का तत्पुरुष करक फिर तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि समास मानेगे तो उन सब का  
अर्थ होगा जिन का एक ही स्थान में तुल्य प्रयत्न हो उन की सवर्णसज्ञा होती है  
तो इकार उकारादि का आपस में सवर्णसज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शकार छकारादि  
का जो स्थान है तालु आदि, वह जगह है वहीं प्रयत्न तुल्य होना चाहिये । अर्थात्  
स्थान और प्रयत्न दोनों की एक जगह होनी चाहिये । दोनों एक ही स्थान पर हों,  
अलग अलग न हों । तालु आदि मुख में है तो आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता में  
सवर्णसज्ञा होगी । बाह्य का तुल्यता में नहीं । इकार छकारादि का आभ्यन्तर प्रयत्न  
तुल्य न होने से सवर्णसज्ञा न होगी ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये । जिस स जो जिस का  
समान स्थान प्रयत्न वाग्य है उस की उस से ही सवर्णसज्ञा हो । अन्य के समान  
स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसज्ञा न हो ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । सवर्णसज्ञा  
के बधनसामर्थ्य से ही अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा न होगी । यदि अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा हो चाहे तो सवर्णसज्ञा उचन ही व्यर्थ हो जायगा । सवर्णसज्ञा इसी लिये  
की जाती है कि जिस का जिस के साथ स्थानप्रयत्न मिलता है वह उसी के साथ

सम्बन्धिशब्देर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्देर्वा पुनस्तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दः मातरि वर्तितव्यम् । पितरि शुभ्रपितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि स्वस्मिन् पितरीति । सम्बन्धाच्चैतद् गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति । एवमिहापि तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमित्यत्र सम्बन्धिशब्दावेतौ । तत्र सम्बन्धादेतदवगन्तव्यं यत्प्रति यत् तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत् सवर्णसंज्ञं भवतीति ।

ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः ।

ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया । होतृ-लृकारः होतृकार इति । किं प्रयोजनम् । अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ।

सवर्णमञ्जक हो । दूसरे के साथ नहीं । वैसे भी यह बात सम्बन्धी शब्दों के तुल्य समझिये । जैसे सम्बन्धी शब्द माता पिता आदि हैं । जब हम कहते हैं कि माता का आदर करना चाहिये या पिता की सेवा करना चाहिये तो वहाँ अपनी माता या अपने पिता न कहने पर भी अपने ही माता पिता समझे जाते हैं दूसरे के नहीं । सम्बन्ध से यह स्वयं समझ लिया जाता है कि जो जिस की माता और पिता है वह उस का आदर या सेवा करे । इसी प्रकार यहाँ सवर्णसंज्ञा में भी तुल्यास्यप्रयत्न और सवर्ण ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं । वहाँ दोनों के सम्बन्ध से यह बात स्वयं समझ ली जायगी कि जिसका जिसके साथ स्थान प्रयत्न तुल्य है उस की उस के साथ सवर्णसंज्ञा होती है । दूसरे की दूसरे के साथ नहीं ।

ऋकार और लृकार की सवर्णसंज्ञा कहनी चाहिये । क्योंकि दोनों के स्थान न मिलने से तुल्यास्य० सूत्र से सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । होतृ-लृकारः यहाँ होतृ के ऋकार से लृकार पर रहते सवर्णसंज्ञा हो जाने से अकः सवर्णे दीर्घ सूत्र से दोनों के स्थान में दीर्घ ऋकार आदेश होकर होतृ कारः यह रूप सिद्ध हो जायगा । लृवर्ण क्योंकि दीर्घ नहीं होता इस लिये ऋ लृ के स्थान में लृ का सवर्ण ऋ दीर्घ ही जाता है ।

तुल्यास्यः यह त-पुरुष पूर्वपदार्थ प्रधान होने से अगतिक् की गति ह, अतः भाष्य में यह तृतीय प्रकार का समास माना है ।



नतइस्ति प्रयोनम् । वक्ष्यत्येतत् सवर्णदीर्घत्वे ऋति ऋ वा वचनम् । लति ल वा वचनमिति ।

तत्सवर्ण यथा स्यात् । इह मा भूत । दध्त्कार मध्त्कार इति ॥

यदेतत् सवर्णदीर्घत्वं ऋतीति एतद् ऋत इति वक्ष्यामि । तत् लति । लकार परत् लकारो वा भवतीति । ऋन इत्येव ॥

तन्न वक्तव्यं भवति ॥

यह कोई प्रयोजन नहीं । आगे अत्र सवर्ण० सूत्र पर वातिक कहेंगे ऋत ऋ वा वचनम् । ऋति ऋ वा वचनम् । उन का अर्थ है अक्षर म पर ऋकार हान पर पथ म रफद्वययुक्त द्विमात्रक ऋ हाता है और पथ म दार्ढ्य हाता है लृकार पर रहत पथ में लकारद्वययुक्त द्विमात्रक ल हाता है और पथ में दीर्घ हाता है । उस स हातलृकार यहा लृकार पर रहते लृ क दीर्घ न बनने क कारण स्थानान्तरतन परिभाषा स पथ म ऋकार दार्ढ्य होकर हानकार यह रूप बन पायेगा ।

उन वातिका स दाघ विधान एव ऋ लृ विधान करन म मा सवर्णमज्ञा का आवश्यकता है । जिस स सवर्णा ऋकार लृकार पर रहत हा पथ में दार्ढ्यहा । दाघ-लृकार मधु-लृकार यहा दीर्घ न हा । इकार उकार का स र्णी लृ नहीं है इसलिय दार्ढ्य न हाकर यग हाता है । ऋ लृ की सवर्णमज्ञा क अभाव में यहा भी दीर्घ ऋकार हा जाता ।

लृकारलृकारया सवर्णमज्ञा विधया इस वचन क बिना भी होतू लृकार=होतूकार यह रूप बन पायेगा । ऋति ऋ वा वचनम् इस वातिक में ना ऋत यह सतन्म्यत है उस बदल कर ऋत इस प्रकार पञ्चम्यन्त करेंगे । ऋन ऋ वा वचनम् का अर्थ होगा ऋ स सवर्णा अच परे रहत रफद्वययुक्त ऋ हा और पथ में दार्ढ्य हा । ऋ का सवर्णा ऋ ही हाता है इस लिय हातू ऋकार यहा रफद्वययुक्त ऋ क पथ म हातूकार और दाघपथ में होतूकार य दा रूप बन पायेगा । लृत लृ वा वचनम् में ऋत इस पञ्चम्यन्त का अनुवृत्ति करके अर्थ होगा ऋकार स परे लृकार हान पर पथ म रफद्वययुक्त लृ और दीर्घ हाता है । हातू-लृकार यहा पथ म लृ कार दार्ढ्य हाकर हातू लृकार, हातूकार य दा रूप बिना सवर्णमज्ञा के भी बन पायेगा ।

सवर्णमज्ञाविधायक इस वातिका क बनन पर ऋति ऋ वा वचनम् लृति लृ वा वचनम् इन वातिका क बनाने की आवश्यकता नहीं रहता । (सवर्णमज्ञा

अवश्य तद् वक्तव्यम् । ऊकालोऽञ्ज्रस्वदीर्घप्लुतसहो भवतीत्युच्यते । न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति ॥

ऋकारस्य लृकारस्य चाध्वत्व वक्ष्यामि । तच्चावश्य वक्तव्यम् । प्लुतो यथा स्यात् । होत्-ऋकार-होत्कार । होत् ३ कार इति । होत् लृकारः । होत्लृकारः । होत्लृ ३ कार इति ॥

किं पुनरत्र ज्यायः ॥

विधायक एक वातिक करने में ही लाघव है ) क्योंकि दोनों वातिकों से विधीयमान रेफद्वययुक्त ऋ और रेफलकारयुक्त लृ दीर्घ माने गये हैं । ऋकारलृकारयो वातिक से ऋ लृ की सवर्णसज्ञा होने पर अब सवर्णे दीर्घ सूत्र से होत् ऋकार यदा दो ऋकारों के रेफद्वययुक्त होने से और विवृत होने से ऋ और लृ दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होत्कार, होत्कार ये दोनों रूप बन जायेंगे । इसी प्रकार होत्-लृकार यदा भी लृ और ऋ ये दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होत्लृकार, होत्कार ये रूप बन जायेंगे ।

ऋति ऋ वा, लृति लृ वा य दोनों वातिक तो अवश्य बनाने होंगे क्योंकि किन्हीं आचार्यों के मत में ये विधीयमान ऋ लृ ढाईमात्रावाले या ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले होने से अच् प्रत्याहारस्थ विवृत प्रयत्नवाले ऋ लृ क सवर्णा नहीं होंगे तो अब सवर्णे से पक्ष में दीर्घ न हो सकेंगे । ऊकालोऽञ्ज्र ह्रस्वदीर्घप्लुत सूत्र से द्विमात्रिक अच् की दीर्घ सज्ञा होती है । ढाईमात्रावाले की नहीं । इस अवस्था में विधीयमान ऋ लृ अच् ही न होंगे तो दीर्घ कैसे होंगे ।

वार्तिको द्वारा विधीयमान ऋ लृ को अच् माना जायगा । पर चूकि अच्त्व होने पर भी जब तक द्विमात्रिक नहीं तब तक इन की दीर्घसज्ञा न होगी, इस लिये इन्हें द्विमात्रिक मानना होगा । द्विमात्रिक मान कर दीर्घ सज्ञा हो जाने पर अब सवर्णे० सूत्र से दोनों प्रकार क दीर्घ होकर चारों रूप सिद्ध हो जायेंगे । ऋ लृ को अच् मानना वार्तिकद्वय पढ़ने बाल के लिये भी अत्यावश्यक है जिस से होत्-ऋकार = होत्कार यदा रेफद्वययुक्त ऋ को दूराद्धृते आदि विषय में प्लुत हो कर हात् ३ कार यह रूप बन सके । इसी प्रकार होत् लृकार = होत्लृकार यदा रेफलकारयुक्त लृ को प्लुत होकर होत्लृकार यह बन सके । अन्यथा ऋ लृ का विधान मात्र होगा, अच् निमित्तक प्लुत कार्य न हो सकेगा ।

ऋ लृ की सवर्णसज्ञा करने और ऋति ऋ वा, लृति लृ वा वार्तिकों से ऋ लृ विधान करने में कौन अधिक उपयुक्त होगा ? अर्थात् ऋकारलृकारयो सवर्णवधि इस वचन द्वारा ऋ लृ की सवर्णसज्ञा का विधान करना अच्छा है या ऋति ऋ वा, लृति लृ वा वार्तिकों का बनाना अच्छा है ?

सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः । दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति । अपि च ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति । यथेह भवति । ऋत्यकः खट्व ऋश्यः माल ऋश्यः । इदमपि सिद्धं भवति खट्व लृकारो माल लृकार इति । “वा सुप्यापिशलेः” । उपर्कारियति, उपाकर्कारियति । इदमपि सिद्धं भवति । उपलृकारियति । उपालृकारियति ॥

यत्रि तर्हि ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति । उरण् रपरः । लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति ॥

लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि । तच्चावश्यं वक्तव्यम् । असत्यां सवर्ण-संज्ञायां विध्यर्थम् । तत्रेव सत्यां रेफवाचनार्थं भविष्यति ॥

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा विधान करना ही अधिक अच्छा है । ऋनि ऋ वा, लृति लृ वा विधान की अपेक्षा यही अधिक उपयुक्त होगा । दोनों की सवर्णसंज्ञा होने पर एक तो अत्र सवर्णों० सूत्र से दीर्घ सिद्ध हो जायगा किन्तु में चारों रूप उक्त रीति से बन जायेंगे । और अन्यत्र स्थानों में ऋकार स लृकार का ग्रहण भी कर लिया जायगा । जैसे ऋत्यक. यह सूत्र खट्वा-ऋत्य. = खट्व-ऋत्य. । माला-ऋश्य. मालऋश्य यहां ऋकार पर रहते ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव करता है वैसे खट्वा लृकार. = खट्वलृकार । माला-लृकारः = माललृकार. यहां लृकार पर रहते भी कर देगा । वा सुप्यापिशले यह सूत्र जैसे उप-ऋकारियति = उपर्कारियति, उपाकर्कारियति यहां ऋकार पर रहते वृद्धिविकल्प करता है वैसे उप-लृकारियति = उपलृकारियति, उपालृकारियति यहां लृकार पर रहते भी लग जायगा

ऋकार से लृकार का ग्रहण मानने पर उरण् रपर सूत्र में भी ऋकार से लृकार का ग्रहण होगा तो लृकार के स्थान में ऋकार की तरह रपर प्राप्त होगा । इस का उत्तर है —

लृकार के स्थान में होने वाले अण् को रपर न कह कर लपर कह देंगे । अर्थात् रपर शब्द में र शब्द र सजक प्रत्याहार माना जायगा जो ह्यवरट् सूत्र के रेफ से लेकर लृ सूत्र के अकार तक मध्य में आने वाले रेफ और लृकार इन दो वर्णों का ग्राहक होगा । उस से ऋ के स्थान में रपर और लृ के स्थान में लपर सिद्ध हो जायगा । लपर का कहना आवश्यक भी है । ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर वह विध्यर्थ होगा । नया विधान होगा । और दोनों की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ के स्थान में रेफ को बाधने के लिये उपयुक्त होगा ।

इह तर्हि रपाभ्यां नो णः समानपदे इत्यत्र ऋकारग्रहणं चोदितम् ।  
मातृणां पितृणामित्येतदर्थम् । तदिहापि प्राप्नोति क्लृप्यमान पश्येति ॥

अथासत्यामपि सवर्णसंज्ञायामिह कस्मान्न भवति प्रक्लृप्यमानं  
पश्येति । 'चुडुतुलशर्व्यावाये ने'ति वक्ष्यामि । अपर आह 'त्रिभिश्च-  
मध्यमैर्गर्लशसैश्च व्यवाये ने'ति वक्ष्यामि इति । वर्णकदेशाश्च वर्णग्रहणेन  
गृह्यन्ते इति योऽसौ लृकारे लकारस्तदाश्रयः प्रतिपेधो भविष्यति । यद्येव  
नाथौ रपाभ्यां नो णत्वे ऋकारग्रहणेन । वर्णकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते  
इति योऽसौ ऋकारे रेफस्तदाश्रयं णत्वं भविष्यति ॥

नाज्झलौ ॥११११०॥

अज्झलो प्रतिपेधे शकारप्रतिपेधाऽज्झलत्वात् ।

अज्झलोः प्रतिपेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिपेधः ।

ऋकार लृकार की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ को ऋ समझा जायगा तो  
क्लृप्यमान पश्य यहा रपाभ्या नो ण ० सूत्र मे पठित ऋवर्णान्नम्य णत्व वाच्यम् इस  
वार्तिक से न् को ण् प्राप्त होगा । इस का उत्तर यह है—

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर भी प्रक्लृप्यमान पश्य यहाँ इत्यत्र सूत्र  
से प्राप्त न को ण् क्यों नहीं होता ? तो आप कहेंगे चुडुतुलशर्व्यावाये न या त्रिभिश्च  
मध्यमैर्गर्लशसैश्च व्यवाये न इन वचनों से निषेध हो जायगा इस लिये यहाँ णत्व नहीं  
होता । उक्त दोनों वचनों का अर्थ है—चवर्गं टवर्गं तवर्गं लृकार शकार के व्यवधान  
में र प से परे न को ण नहीं होता । प्रक्लृप्यमानम् में वर्णों के एकदेश वर्णग्रहण से  
गृहीत होत हैं इस पक्ष को लेकर लृकार के एकदेश (अवयव) लृकार का व्यवधान  
होने से णत्व नहीं होगा तो प्रक्लृप्यमानम् पश्य यहाँ भी दोष नहीं । क्योंकि वर्णक  
देशों को वर्णग्रहण से गृहीत मानने पर रपाभ्या नो ण ० सूत्र में ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्  
इस वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं रहती । ऋवर्ण में जो उस का एकदेश रेफ  
है उस को वर्णग्रहण से गृहीत मान कर रेफ समझा जायगा । उस अवस्था में  
रपाभ्या०सूत्र से ही ऋवर्ण से परे भी णत्व सिद्ध हो जायगा । क्लृप्यमानम् में रेफ न  
होने से णत्व न होगा । यदि वर्णकदेशों को वर्णग्रहण से गृहीत न मानें तो मातृणाम्  
पितृणाम् में णत्व करने के लिये रपाभ्या० सूत्र में ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम् यह  
वार्तिक बनाना पड़ेगा । उस समय ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा मानने पर क्लृप्यमानम्  
में णत्व प्राप्त होता है वह धुम्नादिषु च सूत्र से रोक दिया जायगा । इस प्रकार ऋ लृ  
की सवर्णसंज्ञा करने में कहीं कोई दोष नहीं आता ॥

तुल्य स्थान प्रयत्न बाले अच् और हल् की आपस में सवर्णसंज्ञा नहीं होती  
यह इस सूत्र का अर्थ है । सूत्र में पठित अच् शब्द इको यणचि आदि की तरह  
अपने सब सवर्णियों को ग्रहण कर रहा है ऐसा समझते हुए दाढ़ा करते हैं कि

प्राप्नोति । किं कारणम् । अञ्जलत्वात् । अच्चैव हि शकारो हल् च । कथं तावदच्चत्वम् । इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्चत्वम् । हल्पु चोपदेशाद् हलत्वम् ।

तत्र को दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति । परदशतानि कार्याणि । झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति ॥

सिद्धमनच्त्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अनच्त्वात् । कथमनञ्त्वम् । स्पृष्टं करणं

अच् हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा के निषेध में शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है क्योंकि शकार अच् और हल् दोनों है । अच् कैसे है ? इकार सवर्णग्रहण ( सवर्णग्राहक अणुदित् शास्त्र ) से जैसे ईकार को ग्रहण करता है वैसे स्थान प्रयत्न तुल्य होने से शकार को भी ग्रहण करेगा तो ईकार की तरह शकार भी अच् हो जायगा । हल् प्रत्याहारो में पठित होने से शकार हल् है ही । स्वयं अपने अन्दर सूत्र का व्यापार न होने से नाञ्जलौ यह सूत्र इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध नहीं करेगा । यस्येति च इत्यादि विधियों में तो इस शास्त्र से सवर्णत्व का निषेध हो जाने से इकार से शकार का ग्रहण न होगा । अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त इकार शकार की सवर्णसंज्ञा बनी रहेगी सवर्णग्रहण से शकार अच् और हल् दोनों प्रकार का रहेगा । उस अच् हल् रूप शकार का हल् शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है ।

शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में क्या दोष है ? सवर्णलोप में दोष है । परदशतानि कार्याणि यहाँ दशतानि का शकार परे रहते पूर्ववर्ती दूसरे सवर्णी शकार का झरो झरि सवर्णे से लोप नहीं प्राप्त होगा । परदशतानि में शतात् पराणि यह पञ्चमी तत्पुरुष समास है । उस में पर शब्द का पूर्वनिपात हुआ है । पारस्कारादि गणपठित होने से शत से पूर्व सुट् का आगम होकर सुट् के स को रु, रु को त्रिसर्ग, त्रिसर्ग को वा झरि से पक्ष में सकार और सकार को इच्छुत्व से शकार होता है । अनचि च से उस शकार को पक्ष में द्वित्व हो कर परदशतानि इस प्रकार तीन शकारवाला रूप बनता है । झरो झरि सवर्णे से हल् रूप पूर्व शकार से परे वर्तमान मध्यवर्ती दूसरे शकार का सवर्णसंज्ञक दशतानि के शकार के परे रहते पक्ष में लोप अभीष्ट है वह शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा न होने से प्राप्त नहीं होता ।

शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । उसका निषेध

स्पर्शानाम् । ईपत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् । विवृतमूष्मणाम् । ईपदित्येवानुवर्तते ।  
स्वराणां च विवृतम् । ईपदिति निवृत्तम् ॥

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा ।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत् । किमिदं वाक्यापरिसमाप्ते-  
रिति । वर्णानामुपदेशस्तावन् । उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल  
आदिरन्त्येन सहेतेति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा ।  
सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति सवर्णग्रहणम् । एतेन  
सर्वेण समुदितेन वान्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति । नचात्रेकारः शकारं  
गृह्णाति ॥

नहीं होगा । क्योंकि शकार के अच् न होने से वह हल् ही रहेगा । शकार का  
विवृत प्रयत्न न मान कर ईपद्विवृत मानेंगे । इकार का केवल विवृत । तब  
प्रयत्नभेद होने से सवर्णसंज्ञा प्राप्त ही न होगी तो नाज्जलौ इस निषेध सूत्र की  
भी आवश्यकता नहीं रहती । कर्म से पवर्ग तक २५ स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है ।  
य व र ल इन अन्तस्थों का ईपत्स्पृष्ट है । श प स ह इन ऊर्ध्वों का ईपत् को  
अनुवृत्ति ला कर ईपद्विवृत प्रयत्न है । स्वरो का केवल विवृत है । उसमें ईपत् शब्द  
की अनुवृत्ति नहीं आती ।

इकार शकार का विवृत प्रयत्न मानने पर भी वाक्य की परिसमाप्ति न  
होने से दोष न होगा । वाक्य परिसमाप्ति में इकार शकार को ग्रहण नहीं करेगा  
इस लिये शकार अच् न होने से हल् ही रहेगा । यह वाक्यापरिसमाप्ति क्या है ?  
पहले वर्णों का उपदेश, उपदेश के बाद उपदेशेऽजनुनासिक इत् हलन्त्यम् इन  
सूत्रों से इत्संज्ञा, इत्संज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहेता सूत्र से प्रत्याहार, प्रत्याहार  
के बाद तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्, नाज्जलौ इन दोनों सूत्रों से मिल कर सवर्णसंज्ञा,  
सवर्णसंज्ञा के बाद अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस ग्रहणक शास्त्र से सवर्ण का ग्रहण  
होता है । यह क्रमिक वाक्यार्थबोध वाक्यपरिसमाप्ति कहाता है । इसका अभाव  
वाक्यापरिसमाप्ति है । इस वाक्यपरिसमाप्ति में शकार अच् नहीं बनता । क्योंकि  
अपवादविषय को छोड़ कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति का नियम है इसलिये नाज्जलौ  
इस अपवादरूप निषेध सूत्र का वाक्यार्थबोध निवृत्त होने पर ही तुल्यास्य०  
सूत्र से सवर्णसंज्ञा पूर्ण परिष्कृत होती है । उस में इकार के अच् और शकार के  
हल् होने से उन को सवर्णसंज्ञा का निषेध हो जायगा । जब इकार शकार सवर्ण ही  
नहीं बने तो अणुदित्सूत्र से अणु संज्ञक इकार, शकार को कैसे ग्रहण करेगा ।  
केवल सवर्ण होने से शकार अच् नहीं हो सकता जब तक अणुदित्सूत्र से इकार

यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णाति एवमीकारमपि न गृह्णीयात्,  
तत्र को दोषः । कुमारी-ईहते=कुमारीहते । अकः सवर्णे दीर्घ इति  
दीर्घव्ये न प्राप्नोति ॥

नैप दोष । यदेतदकः सवर्णे इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं तत्रेकारः  
ईकारं गृह्णाति शकारं न गृह्णाति ॥

अपर आह ।

द्वारा उस का ग्रहण न हो । अणुदित्सूत्र के वाक्यार्थबोध से पूर्व (पदार्थोंपस्थिति बेलामें)  
स्वयं अणुदित्सूत्र के अणु ग्रहण में, नाञ्जलौ इस निषेधसूत्र के अच् ग्रहण में  
सर्ण का ग्रहण नहीं हो सकता । इस लिये नाञ्जलौ में जो अच् शब्द है वह केवल  
प्रत्याहारपठित अक्षरो का बोधक है उसके सर्णियों का नहीं तो इकार के साथ  
शकार को अच् नहीं माना जायगा । उस अवस्था में शकार केवल हल् ही होगा ।  
अच् हल् दोनों न होने से शकार को शकार के साथ सवर्णसज्ञा का निर्बंध न होगा  
तो परदशतानि में शकार का लोप सिद्ध हो जायगा । उपदेश, इत्सज्ञा, प्रत्याहार  
और सर्णसज्ञा इन सब का पहले वाक्यार्थबोध होकर फिर अणुदित्सूत्र की प्रवृत्ति  
होती है । न तो उपदेश आदि अत्रो में और न अपने अन्दर । इनसे अन्यत्र अस्य  
च्यौ इत्यादि स्थलों में अणु सर्ण को ग्रहण करता है । इस वाक्य परिसमाप्ति  
में नाञ्जलौ से सवर्णसज्ञा का निषेध होने से इकार शकार को ग्रहण नहीं  
करेगा तो शकार अच् न होगा । हा, दीर्घ ईकार शकार की तो सवर्णसज्ञा बनी  
रहेगी । शकार के समान दीर्घ ईकार भी नाञ्जलौ के अच् में न बाने से उसका  
निषेध नहीं हो सकता । पर वहां दोनों में से किसी के भी अणु न होने से अणुदित्  
से सवर्णग्रहण न होगा तो कोई दाप न होगा । इसी लिये कुमारा श्तेते में ईकार  
शकार के सर्ण होने पर भी ग्रहण न होने से शकार अच् नहीं बनता है तो सर्ण  
दीर्घ नहीं होता ।

यदि इस प्रकार इकार शकार को ग्रहण नहीं कर सकता तो ईकार को भी  
ग्रहण न करे । वहां क्या दोष है ? कुमारी ईहते=कुमारीहते यहाँ अक सर्ण सूत्र  
से दीर्घ नहीं प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अक सर्णों सूत्र में जो अक अच् प्रत्याहार है उन  
में इकार, ईकार को तो ग्रहण कर लेगा किन्तु शकार को ग्रहण नहीं करेगा ।  
क्योंकि अक सर्णों के वाक्यार्थ बोध काल में अणुदिन्० पर्यन्त महावाक्य क अर्थ  
की परिपूर्णता हो जाने से वाक्यपरिसमाप्ति न्याय से इकार और ईकार की तु-यास्य  
सूत्र द्वारा सवर्णसज्ञा हो कर इकार रूप अणु से ईकार का ग्रहण हो जायगा ।

अञ्जलो प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽञ्जलत्वात् ।

अञ्जलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति । किं कारणम् । अञ्जलत्वात् । अच्चेव हि शकारो हल् च । कथं तावदचत्वम् । इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमचत्वम् । हल्पूपदेशाद् हलत्वम् । तत्र को दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति । परदशतानि कार्याणि । झरोझरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति । सिद्धमनच्त्वात् । सिद्धमेतत् । कथम् । अनच्त्वात् । कथमनच्त्वम् । वाक्यापरिसमाप्तेर्वा । उक्ता वाक्यापरिसमाप्तिः ॥

अस्मिन् पक्षे वेत्येतदसमर्थितं भवति ॥

एतच्च समर्थितम् । कथम् । अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्ण संज्ञा मा वा भूत् । ननु चोक्तं परदशतानि कार्याणि । झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोतीति । मा भूल्लोपः ॥

ननु च भेदो भवति । सति लोपे द्विशकारकम् । असति लोपे त्रिशकारकम् । नास्ति भेदः । असत्यपि लोपे द्विशकारकमेव । कथम् ।

परन्तु इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का इस सूत्र द्वारा निषेध हो जाने से इकार सवर्ण न होगा तो इकार से उसका ग्रहण नहीं हो सकता ।

इसी उक्त बात को दूसरे व्याख्याता इस प्रकार कहते हैं । अञ्जलो प्रतिषेधे० इत्यादि का अर्थ पूर्ववत् ही है । केवल शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये वाक्यापरिसमाप्ति यह एक ही हेतु दिया गया है । उस में वा शब्द का प्रयोग किया है ।

इस दूसरी व्याख्या में वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यह 'वा' शब्द निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये केवल वाक्यापरिसमाप्ति रूप एक ही हेतु दिया गया है । उस में विकल्पार्थक वा शब्द व्यर्थ है ।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यहाँ वा शब्द व्यर्थ नहीं है । चल्कि प्रयोजन वाला है । इस वा शब्द का यह अर्थ है कि शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा हो या न हो, कोई हानि नहीं । परदशतानि में झरो झरि सूत्र से शकार का लोप न हो तो भी कोई दोष नहीं ।

दोष क्यों नहीं । जब कि रूप में भेद होता है । लोप होने पर दो शकार वाला रूप होगा । लोप न होने पर तीन शकार वाला । यह भेद नहीं होने देगे ।



विभाषा द्विर्बचनम् । एवमपि भेदः । असति लोपे कदाचिद् द्विशकारकं कदाचित् त्रिशकारकम् । सति लोपे द्विशकारकमेव । स एष कथं भेदो न ? ॥

स्याद् यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा तु स लोपः । यथाऽभेद-  
स्तथास्तु ॥

लोप न होने पर भी दो शकार वाला ही रूप रहेगा । कैसे ? अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है । जिस पक्ष में द्वित्व नब्दा होगा । वहा दो शकार वाला रूप निर्बाध रहेगा । भेद तो फिर भी रहेगा ही । क्योंकि लोप न होने पर द्वित्व के विकल्प से कभी दो शकार वाला, कभी तीन शकार वाला रूप होगा । लोप होने पर तो सर्वथा दो शकार वाला ही रूप रहेगा । इस प्रकार यह भेद क्यों नहीं है ?

भेद तब होता यदि शरो झरि से लोप नित्य होता । जत्र शरो झरि से लोप भी विकल्प से होता है और अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है तब भेद कैसे हो सकता है । अनचि च में यरोनुनासिकेऽनुनामिको वा से विकल्प की अनुवृत्ति आती है और शरो झरि मवर्णे में जयो होन्यतरस्याम् से विकल्प की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार दोनों का विकल्प होने से जिन प्रकार रूप में अभेद अथवा भेद का अभाव हो सके वैसा कर लेंगे । अर्थात् जत्र तीन शकार वाला परदन्तानि यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व करके लोप का अभाव रखेंगे । तत्र दो शकार वाला परदन्तानि ऐसा, जैसा प्रायः लिखा जाता है यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व का अभाव रखेंगे । द्वित्व के अभाव में लोप के होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । भाव यह है कि परदन्तानाम् में शकार को द्वित्व कर के लोप के भावाभाव विकल्प में क्यों पडते हो । द्वित्व ही न करो, केवल दो शकार वाला रूप ही इष्ट मान लो तब अञ्जलो प्रतिषेधे शकारप्रतिषेध • यह वार्तिक भी अनावश्यक होने से सम्पूर्ण उन्मूलित हो जायगा ॥

इति चतुर्थमाह्निकम् ॥

## पञ्चम आह्निक के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥ सूत्र से लेकर क्तवत् निष्ठा ॥१११२६॥ सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित विचार ये हैं—

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥

(क) ईदूदेत्० में तपर का प्रयोजन बता कर तपर के रहने पर भी प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) सूत्र के अर्थ में ४ पक्ष दिखा कर उनमें शेष पक्षों का खण्डन करके दूसरे पक्ष को स्वीकार किया गया है। वे पक्ष हैं—

१. ईकारादि रूप जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
२. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
३. ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
४. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दसमुदाय उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अदसो मात्र ॥११११२॥

(क) अमी अत्र, अमू अत्र, अमी आसते, अमू आसते यहा ईत्व ऊन्वमत्व की असिद्धता विविध युक्तियों से निराकरण कर प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) अदम् के मकार से परे ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा न मान कर ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा मानी है।

(ग) अदस. । मात्र। इस प्रकार योगवेगान्ग करके पूर्व सूत्र ईदूदेत् से आने वाली एकारान्त की अनुवृत्ति का निषेध भी किया है।

शे ॥११११३॥ काशे कुशे वशे हरिशे वश्रशे आदि में भूयमाण 'शे' शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

निपात एकाजनाद् ॥११११४॥

(क) निपात, एनाच्, अनाच् इन सब का पदकृत्य दिखाया है।

(ख) एक ग्रहण का खण्डन करके उससे वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा ज्ञापित की है।

(ग) आङ् कहां डित् है, कहा अङ्कित है यह ईषदर्थे क्रियायोगे० इत्यादि श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया है ।

ओत् ॥१।१।१५॥ सून् के आहो इति, उताहो इति इन उदाहरणों की अन्यथा-सिद्धता का खण्डन कम्के अदोऽभवत्, तिरोऽभवत् गोऽभवत् इन द्विप्रत्ययान्त ओदन्त निपातों की प्रवृत्तिसंज्ञाप्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है ।

उज ऊँ ॥१।१।१७॥

(क) आहो इति, उताहो इति में उ भू मान कर ऊँ आदेश की प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है ।

(ख) शाक्य के मत में उ इति, ऊँ इति ये दो रूप तथा अन्य आचार्यों के मत में त्रिति यह एक रूप सिद्ध करने के लिए उज । ऊँ । इस प्रकार योगविभाग भी किया है ।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१।१।१९॥ ईदूतौ सप्तमीत्येव० इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा अर्थग्रहण का खण्डन करके उम प्रवृत्तिसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता यह सिद्ध किया है । पक्षान्तर में समासावयव ईकार ऊकार की प्रवृत्तिसंज्ञा रोकने के लिए अर्थग्रहण को स्वीकार भी किया है ।

दाधा ध्वादाप् ॥१।१।२०॥

(क) दाधा प्रकृति की घुसज्ञा मानने में प्रकृति ग्रहण का खण्डन किया है ।

(ख) गामादाग्रहणेष्वविशेष इम परिभाषा द्वारा लक्ष्यप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् । इस परिभाषा का अनित्यता सिद्ध की है ।

(ग) प्रनिदारयति प्रनिधारयति में दाधा के समान शब्द दाधा की घुसज्ञा का निषेध किया है तथा प्रणिदापयति, प्रणिशापयति में यदागमन्याय से दा धा की घुसज्ञा मानी है ।

(घ) शब्दों को नित्य मानने हुए सर्वे सर्वपदादेशा ० इस वचन द्वारा आगमों को आदेशरूप स्वीकार किया है ।

(ङ) स्याच्चोरिच्च के कार्य में दीङ् धातु की घुसज्ञा का निषेध सनिपात-परिभाषा द्वारा अन्यथासिद्ध कर दिया है ।

(च) अदाप् से दैप् का निषेध भी मानते हुए नाजुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् इस ज्ञापकसिद्धपरिभाषा को स्वीकार किया है । पक्षान्तर में दैप् धातु न मान कर उसे भी दाप् ही मान लिया है ।

आयन्त्रदेकस्मिन् ॥१।१।२१॥

(क) सून् का प्रयोजन बताते हुए उसके स्थान में व्यपदेशिवदेकस्मिन् यह

परिभाषा स्वीकार की है। फिर लोकव्यवहार से आयन्तवदेक्स्मिन् तथा व्यपदेशि-  
वदेक्स्मिन् इन दोनों का ही खण्डन कर दिया है।

(ख) ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ बताए हैं।

(ग) माध्यकार ने आदि और अन्त का वार्तिककार से भिन्न स्वनिर्मित  
लक्षण करके सूत्र को स्वीकार किया है।

(घ) आयन्तवद्भाव के सब प्रयोजन भी बताये हैं।

तरप् तमपौ घ. ॥१११२२॥ नदीतर में तर शब्द की घुसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का  
निराकरण किया है।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१११२३॥

(क) बहु गण आदि के साथ एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा अन्वयधामिद  
करके दिखाई है।

(ख) कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस परिभाषा के  
प्रयोजन को दिखाते हुए उसके विरोध में उभयगतिरिह भवति इम परिभाषा को भी  
स्वीकार किया है।

(ग) अव्यर्ध, अर्धपञ्चम, अधिक इन शब्दों की संख्यासंज्ञा वाचिक मानी है।

(घ) अन्त में ज्ञापकसिद्ध होने से बहुगण० सूत्र का खण्डन भी कर दिया है।

प्यानता षट् ॥१११२४॥

(क) षट्संज्ञा में उपदेशग्रहण का खण्डन किया है।

(ख) एक शब्द के बहुत से अर्थ दिखाये हैं।

(ग) यपालक्षणमप्रयुक्ते कह कर त्रियाष्टौ, त्रिमाष्टा इत्यादि अप्रयुक्त शब्दों  
को अशुद्ध स्वीकार किया है।

डति च ॥१११२५॥ बहुगणवतुडति संख्या वाले डति ग्रहण में तथा  
डति च वाले डति ग्रहण में किसी एक का प्रत्याख्यान कर दिया है।

क्कवत् निष्ठा ॥१११२६॥ लोटः, गर्तः में क्क शब्द के समान त शब्द  
की निष्ठासंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

## अथ पञ्चमाहिकम्

ईदृदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥

किमर्थमीदादीनां तपरणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ? ॥

तपरस्तन्कालस्येति तन्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्वात् ।  
कयाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् ॥

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति । प्लुतानां तु प्रगृह्यसंज्ञा न  
प्राप्नोति । किं कारणम् । अतन्कालत्वान् । नहि प्लुतास्तन्कालाः ॥

असिद्धं प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तन्काला एव भवन्ति ॥

---

ईन् ऊन् एन् क् प्रगृह्यसंज्ञा में ईकार ऊकार एकार को तपर किस  
लिये किया है ?

तपरस्तन्कालस्य सूत्र के नियम से द्विमात्रात्प समान कारण वाले ईकार  
ऊकार एकार का ग्रहण हो कर उन की प्रगृह्यसंज्ञा हो सके । भिन्नकाल वाले की  
न हो इसलिये ईकार ऊकार एकार को तपर किया है । द्विमात्रारूप समान कारण  
वाले कौन से ईकार ऊकार एकार हैं ? उदात्त अनुदात्त और स्वरित । तपर करने  
से द्विमात्रिक उदात्त ईकार की तरह द्विमात्रिक अनुदात्त या स्वरित ईकार की  
भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अन्यथा स्वर भेद से न होती ? ।

तपर का यह प्रयोजन ठीक तो है किन्तु प्लुत ईकार ऊकार एकार की  
प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होता क्योंकि प्लुत त्रिमात्रिक होने से भिन्न कारण  
वाला है ।

दृग्दधूने च आदि सूत्रों से विहित प्लुत पूर्वव्रामिदीय होने से प्रगृह्यसंज्ञा  
के प्रति असिद्ध है । उस के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही ईकारादि दीक्षिणे तो  
तन्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञक हो जायेंगे ।

---

१ यदि अभेदका उदात्तादयः क अनुसार उदात्तादि स्वर को अभेदक माने  
और व्यन्ति पक्ष को छोड़ कर जानि पक्ष को मानने हुए ईकार, ऊकार एकार अपने  
सवर्णियों का ग्रहण करे तब तो तपर करना व्यर्थ है । केवल ई ऊ, ए में सन्व्यभाव  
द्वारा अभेदके लिये ही होगा ।

सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु ॥

कथं ज्ञायते सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति ॥

यद्य 'प्लुतः प्रकृत्ये'ति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? ॥

अप्लुतादप्लुते इत्येतन्न वक्तव्यं भवति ॥

किमतो यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु । संज्ञाविधावसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

संज्ञाविधौ च सिद्धः । कथम् ? कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्य प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति ॥

स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत सिद्ध माना गया है । उस के सिद्ध होने से तत्काल न होंगे तो प्लुतों की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी ।

यह कैसे जाना कि स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत को सिद्ध माना गया है ।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् सूत्र से जो प्लुत को प्रकृतिभाव विधान किया है वही इस बात का ज्ञापक है कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है । क्योंकि कार्यों अर्थात् जिसको कार्य होना है उस के होने पर ही कार्य हो सकता है । प्लुत के विद्यमान होने पर ही उसे प्रकृतिभाव दिया जा सकता है ।

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने का क्या प्रयोजन है ?

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने से अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र में अप्लुतादप्लुते यह नहीं कहना पड़ेगा तो लाघव होगा । अतोऽति इतने सूत्र से प्लुत की व्यावृत्ति हो जायगी । अत अति में तपर होने से रु को उत्त्व करने में एकमात्रा काल वाला ही अकार लिया जायगा । प्लुत त्रिमात्रिक है अत प्लुत अकार में रु को उत्त्व नहीं होगा ।

स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है इस से क्या ? प्रगृह्यसंज्ञा में तो असिद्ध है । उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकार ऊकार एकार तत्काल हो जायेंगे ।

प्रगृह्यसंज्ञा में भी प्लुत सिद्ध है । क्योंकि कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् । इस नियम से जहाँ प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है वहीं यह ईदूदेत् सूत्रोक्त प्रगृह्यसंज्ञा उपस्थित

किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम् ॥

प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

मा भूदेवम् । प्लुतः प्रकृत्येत्येवं भविष्यति ॥

नैव शक्यम् । उपस्थिते हि दोषः स्यात् । “अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र पठिष्यति ह्याचार्यः—वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम् । प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वादिति । तस्मात् प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञैपितव्या । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

हो जायगी तो प्लुतप्रगृह्या अचि निन्यम् इस स्वरसन्धि में प्रगृह्यसज्ञा के उपस्थित हो जाने से प्रगृह्यसज्ञा में भी प्लुत सिद्ध हो जाता है ।

प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

प्लुतों की प्रगृह्यसज्ञा होने से प्रकृतिभाव होना प्रयोजन है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । प्लुत होने में ही प्लुतों को प्रकृतिभाव हो सकता है । क्योंकि प्लुत और प्रगृह्य दोनों को प्रकृतिभाव कहा है ।

ऐसा नहीं हो सकता । प्लुत ईकारादि को केवल प्लुत के कारण प्रकृतिभाव मानने पर उपस्थित में दोष होगा । लौकिक इति शब्द को उपस्थित कहते हैं । अर्गा ३ इति यहाँ पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे रहते अर्गा ३ के प्लुत ईकार की प्रगृह्यसज्ञा अभीष्ट है । जिस से अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र से अप्लुतवद्वय के कारण प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव के रूकने पर भी प्रगृह्य के कारण प्रकृतिभाव हो सके । यह सूत्र प्लुत (=त्रिमात्रता) का निषेध नहीं करता, केवल प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव को रोकता है । प्लुत (त्रिमात्र) अवस्थित रहता है । उसका प्रगृह्यसज्ञा होने पर प्रगृह्य के कारण होने वाला प्रकृतिभाव रह जायगा । अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र में वत्करण का प्रयोजन आचार्य कहेंगे कि प्लुत का कार्य रोकने के लिये अप्लुतवत् में वत् किया है । वत्करण के अभाव में अप्लुतः इस शब्द से प्लुत का ही निषेध हो जाता तो प्रगृह्यसज्ञाक प्लुत का कार्य भी निषिद्ध हो जाता । वत् करने पर प्लुत का कार्य रूक जाने पर भी अन्य जो प्रगृह्यसज्ञा है उस से विहित प्रकृतिभाव न रूकेगा । वह हो जायगा । तो अर्गा ३ इति यह इन्द्र रूप सिद्ध हो जायगा । इस लिये प्लुत ईकारादि की भी प्रगृह्यसज्ञा करनी आवश्यक है । जिस से प्रगृह्य को मान कर होने वाला प्रकृतिभाव हो सके ।

यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत ॥

एधमप्येकार एवैकः सघर्णान् गृहीयात् । ईकारोकारौ न गृहीया-  
ताम् । किं कारणम् ? अनण्त्वात् ॥

यदि पुनर्ह्रस्वानामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येते ॥

नैवं शक्यम् । इहापि प्रसज्येत । अकुर्वहि अत्र, अकुर्वद्यत्रेति ।  
तस्माद् दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा वक्तव्या । दीर्घाणां चोच्यमाना  
प्लुतानां न प्राप्नोति ॥

एव तर्हि किं न एतेन यत्नेन यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति ।  
असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं यत् तज्ज्ञापकमुक्तं प्लुतप्रगृह्या अचीति ॥

प्लुतभावी प्रकृत्येत्येवमेतद् विज्ञायते ।

यदि तपररहित दीर्घ ईकार उकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दे तो क्या  
हानि है ?

तपररहितों की प्रगृह्यसंज्ञा करने में केवल एक एकार ही अण् होने से अपने  
सवर्णों प्लुत एकार अथवा उदात्त अनुदात्त स्वरित एकार को ग्रहण कर सकेगा ।  
ईकार उकार अण् न होने से अपने सवर्णों प्लुत आदि को ग्रहण न कर सकेंगे । तो  
प्लुत ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी ।

यदि तपररहित ह्रस्व इकार उकार तथा एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दे तो  
क्या हानि है ?

ऐसा भी नहीं हो सकता । अकुर्वहि अत्र यद् अकुर्वहि ( कृ-ल् वहि ) के  
इकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हो जायगी तो अकुर्वद्यत्र में यण् न हो सकेगा । इसलिये  
तपररहित दीर्घ ईकारादि की ही प्रगृह्यसंज्ञा की जा सकती है । वैसा करने पर प्लुतों  
की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है । हम प्लुत को  
असिद्ध ही मानेंगे । उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकारादि भी तत्काल ( द्विमात्रिक )  
हो जायेंगे ।

प्लुत को सिद्ध मानने में जो प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् यद् सूत्र ज्ञापक कहा  
था उस का क्या होगा ?

उस सूत्र का आशय यह समझेंगे कि प्लुतभावी को प्रकृतिभाव हो । अर्थात्  
जिस को भागे प्लुत होना है ऐसे प्लुतरहित स्थानी में प्लुतबुद्धि करके उस



कथं यत् तत्प्रयोजनमुक्तम् ? ॥

त्रियते तन्न्यास एव । 'अनुतादप्लुते' इति ॥

एवमपि यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्ये तत् प्लुतस्य न प्राप्नोति ।  
'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

एव तर्हि किं न एतेन यत्नेन कार्यकाले संज्ञापरिभाषामिति ।  
यथोद्देशमेव संज्ञापरिभाषम् । अत्र चासापसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात्

को प्रकृतिभाव होगा । उस अवस्था में प्लुत की अव्ययमानता में भी प्रकृतिभाव हो जायगा ।

और वह जो अना रोरप्लुतादप्लुते में अनुतादप्लुत न कहने का लाघव रूप प्रयोजन कहा था उस का क्या होगा ?

वह कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता । अतो रोरप्लुतादप्लुते में अनुतादप्लुते यह कहा हुआ है ही ।

एसा होने पर भी ( पूर्वपक्षी से कहे हुए ज्ञापक तथा प्रयोजन के निराकृत हो जाने पर भी ) जिस प्रगृह्यसज्ञा के कार्य में प्लुत सिद्ध है वह कार्य प्लुत को नहीं प्राप्त होता । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक यह सूत्र प्रगृह्यसज्ञकभिन्न अण को अनुनासिक करता है इस से अर्थात् ३ यद्वा प्लुत ईकार के प्रगृह्यसज्ञक होने से ईकार अनुनासिक नहीं होता । कार्यकाल पक्ष को लेकर अणोऽप्रगृह्य० सूत्र के साथ एकवाच्यता का प्राप्त हुए ईद्वेत्० सज्ञा सूत्र के प्रति दूराद्धूत च आदि से विहित प्लुत सिद्ध है । उसके सिद्ध होने से द्विमात्रिक ईकार न दीक्षेण तो ईद्वेत्० सूत्र से प्रगृह्यसज्ञा न हो सकेगी ऐसा अवस्था में अनुनासिक का निषेध नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि हम कार्यकाल संज्ञापरिभाषाम् इसी नियम को मानें । हम यथादृश महापरिभाषाम् इस नियम को मानेंगे । इस नियम का अर्थ है—पश्चात् परिभाषाय यथोद्देश्य होती है । उद्देश्यमनतिक्रम्य यथोद्देशम् । अर्थात् अपने स्थान पर रहती हुई ही विधिशास्त्रों में उपयुक्त होती है । इस नियम से ईद्वेत्० यह प्रगृह्यसज्ञा सूत्र अपने स्थान पर रहता हुआ ही अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इस विधिसूत्र का उपकारक होगा । इस सज्ञासूत्र के प्रति अणोऽप्रगृह्य० यह विधि सूत्र असिद्ध है ही इसलिये उसका अस्मिन् होने से वह प्रकृत नहीं होगा । भाव यह है कि अनुनासिक शास्त्र के प्रति प्लुत शास्त्र के सिद्ध होने पर भी इस प्रगृह्यसज्ञा सूत्र के प्रति प्लुत शास्त्र के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही ईकार

तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं पुनरिदं विज्ञायते-ईदादयो यद् द्विवचनमाहोस्विद् ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति । कश्चात्र विशेषः ?

ईदादयो द्विवचन प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य विधिः ।

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया । पचेते इति । पचेथे इति । वचनाद् भविष्यति । अस्ति वचने प्रयोजनम् । किम् । खट्वे इति । माले इति ॥

अस्तु तर्हि ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति चेदेकस्य विधिः । ईदाद्यन्तं द्विवचनमिति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया । खट्वे इति, माले इति ॥

दीर्घिणा तो तत्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अप्रगृह्य न होने से अग्नी ३ में ईंकार अनुनासिक न होगा ।

क्या ईंकार ऊकार एकार रूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो या ईंकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो । इस प्रकार सूत्र के अर्थ में ये दो पक्ष बनते हैं । इन दोनों में क्या विशेष है ? यदि ईंकारादिरूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो तो द्विवचन के अन्त्य ईंकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी । जैसे—पचेते इति । पचेथे इति । यहाँ पचेते पचेथे (पच्-लट् आताम् आथाम्) में आताम् आथाम् को टेरेंत्व हो कर आते आथे बनते हैं । यहाँ एकाररूप द्विवचन नहीं है किन्तु एकार द्विवचन के अन्त में है इस की प्रगृह्यसंज्ञा विधान करनी होगी । प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी अर्थात् द्विवचन शब्द की द्विवचन का अन्तावयव इस अर्थ में लक्षणा मानी जायगी । प्रगृह्यसंज्ञा के वचन का प्रयोजन तो खट्वे इति, माले इति (खट्वा माला-औं=शी) यहाँ ईंकार रूप (मुख्य) द्विवचन मिल जाने से सिद्ध हो जाता है ।

अच्छा तो ईंकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मान लें ।

यदि ईंकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हैं तो ईंकारादिरूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी । जैसे—खट्वे इति, माले इति यहाँ ईंकारान्त या एकारान्त द्विवचन नहीं है किन्तु ईंकाररूप या एकाररूप है । यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा कहनी होगी ।

नवाद्यन्तवत्त्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । आद्यन्तवत्त्वात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्येवमेकस्यापि भविष्यति । अथवा एवं वक्ष्यामि-ईदाद्यन्त यद् द्विवचनान्तमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति चेत्लुकि प्रतिषेधः ।

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति चेत्लुकि प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुमार्योरगारं कुमार्यंगारम् वध्वोरगारं वध्वंगारम् । एतद्धीदाद्यन्तं श्रूयते द्विवचनान्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ।

सप्तम्यामर्थप्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ।

यह कोई दोष नहीं । क्योंकि अद्यान्तवदेकस्मिन् इस सूत्र से एक में भी आदि अन्त के समान कार्य होते हैं तो खट्वे माले में ईकार एकाररूप द्विवचन को भी ईकारान्त या एकारान्त द्विवचन मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा ईदूदेत्० सूत्र की यूं व्याख्या करेंगे कि ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । यह तीसरा पक्ष बन जाता है । उससे खट्वे माले पचेने पचेथे इन सब जगह प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी क्योंकि खट्वे आदि सभी ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द हैं । सभी के अन्त में द्विवचन है ।'

यदि ईदूदेत्० सूत्र का तीसरा अर्थ करके ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो तो जहाँ द्विवचन का लुक् हो गया है उसको प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है उसका निषेध कइना होगा । जैसे — कुमार्योरगारं=कुमार्यंगारम् । वध्वोरगारं=वध्वंगारम् । यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास में कुमार्योः के षष्ठी द्विवचन ओस् का लुक् हुआ है । कुमार्यो यह ईकारान्त श्रूयमाण है और प्रत्ययलक्षण से ओस् को मान कर द्विवचनान्त भी है इसकी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने से यण् न हो सकेगा ।

१. यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययप्रहणे तदन्तप्रहणं नास्ति इति परिभाषा से द्विवचन रूप प्रत्यय की प्रगृह्यसंज्ञा करने में तदन्तविधि का निषेध होने से ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होता है इस अर्थ वाला यह तीसरा पक्ष नहीं बन सकता तथापि यह बात आगे चतुर्थपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार स्वयं ही कहेंगे ।

यदयमीदूतौ च सप्तम्यर्थे इत्यर्थग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो  
न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षण भवतीति ।

तत्तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहण कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् । ईदादिभिर्द्विवचन विशेषयिष्यामः । ईदादिवि  
शिष्टेन च द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति । ईदाद्यन्त यद् द्विवचन  
तदन्तमीदाद्यन्तमिति ।

पवमप्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इति

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे इस सूत्र में जो अर्थग्रहण किया है वह इस बात का  
ज्ञापक है कि प्रगृह्यसज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । क्योंकि ईदूतौ च सप्तम्यर्थे में  
अर्थग्रहण का यही प्रयोजन है कि सोमो गौरी अधिप्रित यहा गौर्याम् का अर्थ  
रखनेवाले गौरी शब्द में सप्तमी का लुक् हो जाने पर भी उसके अर्थ में वर्तमान  
ईकार उकार की प्रगृह्यसज्ञा हो जाये । यदि प्रगृह्यसज्ञा में प्रत्ययलक्षण होवे तो  
गौरी में सुपा सु लुक्० से हुए सप्तमी रिभक्ति के लुक् को प्रत्ययलक्षण से मान कर  
गौरी यह सप्तम्यन्त बन जायगा तो अर्थग्रहण के बिना भी प्रगृह्यसज्ञा सिद्ध हो  
जाने से अर्थग्रहण व्यर्थ है ।

तो क्या उक्त बात के ज्ञापन के लिए ईदूतौ च सप्तम्यर्थे सूत्र में अर्थग्रहण  
करना चाहिये ?

अर्थ ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं इस सूत्र में ईकारादि स  
द्विवचन को विशेषित करेंगे तो विशेषण में तदन्तरिधि होकर ईकाराद्यन्त जो द्विवचन  
ऐसा अर्थ होगा, फिर तद्विशिष्ट द्विवचन को शब्दरूप का विशेषण बनायेंगे । येन  
विधिस्तदन्तस्य के नियम से ईकारादिविशिष्ट द्विवचन से तदन्तविधि हो कर अर्थ होगा  
ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसज्ञा होती है । यह  
चौथा पक्ष बनेगा । इस पक्ष में कुमार्यगारम्, वध्वगारम् में ओस द्विवचन के  
ईकाराद्यन्त न होने से प्रगृह्यसज्ञा न होगी ।

इस चौथे पक्ष के अर्थ में भी अशुक्ले शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे यहा  
चि्वप्रत्ययान्त शुक्ली शब्द क ईकार की प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । शुक्ल शब्द से  
नपुंसक में औ को शी होकर उससे परे अभूततज्ञाय अर्थ में तद्विचि चि्वप्रत्यय  
हुआ । तद्वितान्त की प्रातिपदिकसज्ञा हो कर मुगे वातुप्रातिपदिकयो से शी का  
लुक् होता है । अस्य च्वाँ से चि्व परे रहते शुक्ल के अकार को ईकार होकर चि्व  
का सर्वापहारी लोप हो गया । ऊर्यादिचि्वडाचद्व से च्यन्त की अव्ययसज्ञा हो कर

अत्र प्राप्नोति । अत्र हीदादि च द्विवचनं तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ।

अत्राप्यकृते शीभावे लुक् भविष्यति ।

इदमिह सम्प्रधार्यम् । लुक् क्रियतां शीभाव इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाच्छीभावः । नित्यो लुक् । कृते शीभावे प्राप्नोत्यकृतेपि । अनित्यो लुक् । अन्यस्याकृते शीभावे प्राप्नोति अन्यस्य कृते । शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति । शीभावोऽनित्यः । न हि कृते लुकि प्राप्नोति । उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः । शीभावे कृते लुक् । अथापि कथं चिन्नित्यो लुक् स्यादेवमपि दोषः । वक्ष्यत्येतत्—‘पद-संज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थ-

आग आने वाले सुप का लुक हो जाता है । इस प्रकार यहाँ अन्य चर्चा से हुआ ईकार ध्रुवमाण है और मुने गतुप्रातिपदिके से लुक हुआ शी शब्द प्रत्ययलक्षण से ईकारान्त द्विवचन है । मुख्य यह ईकाराद्यन्त शब्द समुदाय बन जाता है । इसकी प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होने से यण न हो सकेगा ।

यहाँ भी शी आदेश करने से पहले ही मुने धातु० सं औ का लुक हो जायगा तो ईकारान्त द्विवचन न होने से दोष न होगा ।

लुक और शा आदेश में यह विचारना चाहिये कि पहले शी का लुक किया जाय या औ को शी आदेश । क्या करना चाहिये ? मुने गतु० के लुक से नपुमकान्व से होनेवाला शा आदेश सूत्रपाठ में पर है इस लिये । वप्रतिषेधे पर कार्यम् के नियमानुसार शी आदेश पहले होना चाहिये । लुक नित्य है, औ को शी करने पर भी प्राप्त होता है, न करने पर भी । लुक अनित्य है । शी न करने पर अन्य औ को प्राप्त होता है, करने पर अन्य शा का । शब्दान्तर को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है । यू तो शी भी अनित्य है । औ का लुक करने पर नहीं प्राप्त होता । दोनों के अनित्य होने से पर होने के कारण शा भाव ही पहले होगा । शा करने पर लुक हागा तो ईकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । यदि क्रिया प्रकार लुक को नित्य भी मान ले तो भी दोष है । आग सुतिङन्त पदम् इप पदसज्ञा सूत्र में कहेंगे कि यज्ञ अन्तग्रहण इस बात का ज्ञान करने के लिये किया है कि प्रत्ययों की सज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती । सुप तिङ् प्रत्यय है । उनका पदसंज्ञा करने में यदि तदन्तविधि हो जाये तो अन्तग्रहण के बिना भी सुवन्त तिङन्त समग्र लिये जावेंगे उसक लिये अन्त ग्रहण करना व्यर्थ है । वह व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञानक है कि अन्यत्र प्रत्ययों की सज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होता । यहाँ ईदृदेत्० सूत्र में ईकारादि द्विवचन भी प्रत्यय हैं ।

मिति।' इदं चापि प्रत्ययग्रहणमयं चापि संज्ञाविधिः । अवश्यं खल्वस्मिन् पक्षे आद्यन्तवद्भाव एवित्ययः ।

तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः ॥

अदसो मात् ॥११११२॥

मात्प्रगृह्यसंज्ञाया तस्यासिद्धत्वादयावेकादेशप्रतिषेधः ।

मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्वस्य ऊत्वस्य चासिद्धत्वादयावेकादेशः प्राप्नुवन्ति तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः । अमी अत्र । अमू अत्र । अमी आसते । अमू आसते । ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

उन प्रत्ययों की प्रगृह्यसंज्ञा करनी है अतः तदन्तविधि न होने से ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त जो शब्दरूप । ऐसा अर्थ ही न होगा तो चौथे पक्ष का उरथान भी असंभव है और इस चौथे पक्ष में भी आद्यन्तवद्भाव मानना आवश्यक है । क्योंकि अभी यहाँ ईकारान्त द्विवचन नहीं है केवल ईकाररूप है उसको आद्यन्तवद्भाव से ही ईकारान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो सकेगी ॥

इस लिये तब तो वही मध्यम पक्ष अर्थात् दूसरा पक्ष निर्दोष होने से स्वीकार करना चाहिये । ईकाराद्यन्त द्विवचन शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है यही सूत्र का अर्थ मानना चाहिये । ऐसा मानने पर ईकारादिरूप द्विवचन वाले प्रथम पक्ष के खट्वे इति, माले इति आदि उदाहरणों में आद्यन्तवद्भाव से ईकाराद्यन्त द्विवचन हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । प्रत्ययों की संज्ञा में तदन्तविधि न होने से तीसरे चौथे पक्ष का संभव ही नहीं । इस लिये दूसरे पक्ष का मानना ही ठीक है । उसके मानने पर कोई दोष नहीं आता ।

अदस् शब्द के मकार से परे ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा करने में ईकार उकार के असिद्ध होने से अय् आन् और पूर्वरूप एकादेश प्राप्त होते हैं । उनका निषेध कहना चाहिये । अमी अत्र यहाँ अदस् शब्द से परे जस् रहते त्यदाद्यत्व पररूप हो कर जस् को शी होता है । फिर आद् गुण. से गुण हो कर अदे बनता है । एत ईद्वहुवचने से दकार को मकार तथा एकार को ईकार हो कर अमी बन जाता है । एत ईद्वहुवचने से विहित ईकार के पूर्वत्रासिद्धीय होने के कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदे दीखेगा तो एदः पदान्तादति से पूर्वरूप प्राप्त होता है । अमू अत्र यहाँ अदस् शब्द से भी परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप तथा वृद्धि एकादेश होकर

वचनार्थो हि सिद्धे ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थमेतत् स्यात् । 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात्  
तत्रेवायं द्रूयादणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो नेति ।

विप्रतिषेधाद्वा ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियताम् अयादयो वेति । प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति

अदी बनता है । फिर अदसोऽपेर्दु दो म से दकार को मकार एर औकार को उकार  
हो कर अमू बन जाता है । अदसोऽपेर्दा० से विहित उकार पूर्वत्रासिद्धीय होने के  
कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदी दीखेगा तो एच्चेऽयवायाब से आच्च् आदेश  
प्राप्त होता है । इसी प्रकार अनी आनते अमू आगते यद्वा क्रमशः अच्च् आच्च् आदेश  
प्राप्त होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से अयादि आदेश नहीं होंगे । प्रगृह्यसंज्ञा  
के वचन से अयादि की निवृत्ति नहीं हो सकती । प्रगृह्यसंज्ञा वचन का तो अन्य  
प्रयोजन है । क्या ? जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईकार उकार सिद्ध हैं वद्वा  
प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र चरितार्थ हो सकता है । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानु-  
नासिक इस सूत्र के प्रति अदसोऽसे० और एत ईद्० से विहित ईकार उकार सिद्ध हैं  
क्योंकि पूर्वत्रासिद्धम् के अनुसार त्रिपार्श्व में पूर्व के प्रति पर असिद्ध होता है । पर  
के प्रति पूर्व सिद्ध रहता है अदसाऽसे०, एत ईद्० ये दोनों सूत्र अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक  
से पूर्व होने के कारण सिद्ध हैं । कार्यकारण पक्ष का भाष्यकरण करने से यह दोनों सूत्र  
अदसो मान् इस संज्ञासूत्र के प्रति भी सिद्ध हैं । इस लिये अनी अमू वहाँ अनुनासिक  
रोकने के लिये यह प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र रह सकता है ।

केवल एक प्रयोजन के लिए इतना बड़ा अदसो मान् यह प्रगृह्यसंज्ञासूत्र नहीं  
बनाया जा सकता । यदि एक अनुनासिक रोकना ही प्रगृह्यसंज्ञा का प्रयोजन  
होता तो यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा न करके वहीं अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक के साथ अदसो न  
ऐसा कह देते । उसका अर्थ होता—अदस् शब्द के अण् को अनुनासिक  
नहीं होता है ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा और अयादि के तुल्यत्रलविरोध में विप्रतिषेधे पर कार्यम्

१. संज्ञासूत्र अनेक कार्यों की सिद्धि के लिये बनाये जाते हैं । दूसरे सूत्र तो  
एकमात्र प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं जैसे मुद्गादण् इत्यादि ।

विप्रतिषेधेनेति ।

नैष युक्तो विप्रतिषेधः । विप्रतिषेधे परमित्युच्यते । पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा परेऽयादयः । परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते । सूत्रविपर्यासः कृतो भवति ।

एवं तर्हि परेव प्रगृह्यसंज्ञा । कथम् । कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति अदसो मादिति ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । कथम् । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । नचात्रैको द्विकार्ययुक्तः । एचामयादयः । ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा ।

नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किं तर्हि असंभवोपि । स

के नियमानुसार पर होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अमी अन अयादि में अयादि न होंगे ।

यह विप्रतिषेध एव तुल्यबलप्ररोध का नियम यहाँ ठीक नहीं बनता क्योंकि विप्रतिषेध में पर का कार्य होता है । प्रगृह्यसंज्ञा पूर्व है । अयादि पर है । सूत्रपाठ में पश्चात्पठित हैं । इसलिये अयादि ही होने चाहिये । प्रगृह्यसंज्ञा को अयादि से पर बना देंगे तब तो सूत्र परिवर्तन करना होगा ।

अच्छा तो सूत्र परिवर्तन के बिना ही प्रगृह्यसंज्ञा पर बन जायगी । कैसे ? कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् इस नियम से संज्ञानो का जहाँ कार्य पड़े वही उपस्थिति मानी जाती है । प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् सूत्र में प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य होने से वही यह अदसो मात् सूत्र उपस्थित हो जायगा तो अयादि से पर बन जायगा । क्योंकि एचोऽयवायाव अयादि सूत्रो से परे प्लुतप्रगृह्या अचि० इस सूत्र का पाठ है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बनता । कैसे ? द्विकार्ययोग में विप्रतिषेध होता है । जहाँ एक ही जगह दो कार्य युगपत् प्राप्त हो वहाँ विप्रतिषेध के नियम से व्यवस्था होती है । यहाँ ऐसी बात नहीं । अदे, अदौ इस स्थिति में एचों को अयादि प्राप्त होते हैं । अमी, अनू इस स्थिति में ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है ।

यह आवश्यक नहीं कि द्विकार्ययुक्त ही विप्रतिषेध का विषय होता है बल्कि असंभव भी होता है । और वह असंभव यहाँ है ही । कौन सा असंभव है ?



चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । प्रगृह्यसंज्ञाऽभिनिर्वर्तमाना अयादीन्  
याधते । अयादयोऽभिनिर्वर्तमानाः प्रगृह्यसंज्ञाया निमित्तं विघ्नन्तीत्ये-  
पोऽसभवः । सत्यसमवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति । न  
चात्रेत्योत्वे स्तः । नापि मकारः । उभयमप्यसिद्धम् ॥

आश्रयात् सिद्धत्व च यया रोरत्वे ।

आश्रयात् सिद्धत्व भविष्यति । तद्यथा ररत्वे आश्रयात् सिद्धो  
भवति ॥

किं पुनः कारण ररत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति । न पुनर्यत्रैव रुः  
सिद्धस्तत्रैवोत्वमन्युच्येत ॥

प्रगृह्यसज्ञा यदि हो जाती है तो अयादि ररक जाते हैं । और अयादि यदि हो जाते हैं  
तो प्रगृह्यसज्ञा के निमित्त को नष्ट कर देते हैं यही असमभव है । असमभव होने पर  
विप्रतिषेध युक्त ही है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बन सकता । क्योंकि दोनों के विद्यमान होने पर  
विप्रतिषेध हुआ करता है । अना, अनु यहा ईंकार उकार मकार हैं ही नहीं ।  
पूर्वत्रासिद्धीय होने से दोनों ईंकार उकार तथा मकार सभी असिद्ध हैं ।

ईंकार उकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी । जैसे अना रोररुताद्-  
प्लुते सूत्र से रु को उत्त्व करने में रु आश्रय से सिद्ध होता है । अदत्तो मात्र सूत्र में  
ईंकार उकार मकार का आश्रयण करके प्रगृह्य-सज्ञा की गई है इस लिये वे पूर्वत्रा-  
सिद्धीय होने पर भी आश्रयमाण होने के कारण सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या कारण है जो अना रोररुता० में रु को आश्रय से सिद्ध माना जाता है ।  
क्यों न जहा पर रखने से रु स्वयं सिद्ध हो सकता है वहीं रु को रख कर उत्त्व कहा  
जाय । रो मुपि इस सूत्र के बाद अत उरत ऐसा सूत्र बना दें । उस का अर्थ  
होगा अकार से परे रु को उत्त्व होना है अकार पर होने पर । सत्तजुभे रु यद् रु  
विधान करने वाला सूत्र रो मुपि इत्यादि से पूर्व पठित है । इसलिये अत उरति इस  
उत्त्व के प्रति स्वतः सिद्ध है । वहा पूर्वत्रासिद्धम् से रु के असिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं  
उठता । और प्लुतप्रकरण भी अत उरति से पूर्व पठित होने के कारण सिद्ध रहेगा  
तो अतः के त्परकरण से प्लुत स्वतः प्यावृत्त हो जायगा उसके लिये अरुताद्प्लुते  
कहने की भी आवश्यकता न होगी ।

नैवं शक्यम् ।

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणाप्रसिद्धिः ।

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणस्याप्रसिद्धिः स्यात् । वृक्षोऽत्र । प्लक्षोऽत्र । तस्मात् तत्राश्रयात् सिद्धत्वमेपितज्यम् । यथा तत्राश्रयात् सिद्धत्व भवति । एवमिहाप्याश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

अथवा योगविभागः करिष्यते । अदसः । अदसः परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । ततो मात् । माच्च परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । अदस इत्येव । किमर्थो योगविभागः । एको यत् तत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थः । अपरो यदसिद्धे ॥

ऐसा नहीं हो सकता । उक्त को पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण में नहीं रखा जा सकता । अनो रोरप्लुतादप्लुते इस उरवविधायक सूत्र को सपादसप्ताध्यायी से निकाल कर यदि रो० मुपि के बाद अत उरति इस प्रकार परिवर्तन द्वारा पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में रख देंगे तो वह आद्गुण इस सपादसप्ताध्यायीस्य सूत्र के प्रति असिद्ध हो जायगा । उस के असिद्ध होने से वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र यहाँ उ को गुण न हो सकेगा । इस लिये जैसे उरव करने में र को आश्रय से सिद्ध मानना पड़ता है वैसे यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा में भी ईंकार उकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा के वचन सामर्थ्य से अयादि न होंगे । ययोदेश पक्ष में संज्ञाशास्त्रों का जो स्थान है वहाँ विधिशास्त्रों को अपने परिष्कार के लिये आना होता है । अदसोऽस्ते० और एत ईदू० ये दोनों सूत्र इस संज्ञासूत्र से सम्बन्ध रखने के कारण इसी स्थान के हो जायेंगे तो एचोऽयवायाव, आदि की दृष्टि में असिद्ध न हो सकेंगे ।

अथवा अदसो मात् इस सूत्र का योगविभाग करेंगे । अदस । मात् । ये दो सूत्र बना देंगे । अदस का अर्थ होगा अदस् से परे ईंकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उस के बाद मात् इस सूत्र का अर्थ होगा अदस के मकार से परे भी ईंकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । योगविभाग किस लिये होगा ? एक ( =दूसरा ) मात् यह सूत्र तो जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईंकार उकार मकार सिद्ध हैं उन के लिये रहेगा । अपर ( =पहला ) अदस् यह सूत्र असिद्ध ईत्वं उत्त्व मत्व वाले प्रगृह्यसंज्ञा के कार्यों के लिये होगा ।

इहापि तर्हि प्राप्नोति । अमुया । अमुयोरिति । किं च स्यात् यद्यत्र प्रगृह्यसज्ञा स्यात् । प्रगृह्याथय प्रकृतिभाव प्रसज्येत ॥

नेप दोष । पदान्तप्रकरण<sup>१</sup> प्रकृतिभाव । न चैप पदान्त ॥

एवमप्यमुकेऽत्र, अत्रापि प्राप्नोति । द्विवचनमिति वर्तते । यदि द्विवचनमिति वर्तते अमी भ्रन न प्राप्नोति ॥

एव तर्हि एदन्तमिति निवृत्तम् । अथगाहायमदसो मादिति । न च ईत्वोत्वे स्त । नापि मकार । तत एव विज्ञास्याम मार्थादीदाद्य र्थानामिति ।

अदस यह पृथक् सूत्र हाने पर अमुया अमुया यहा भी प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त ह ती है । अदस शब्द स स्त्रीन्द्र में टा आस पर रहत त्यदाद्यत्व पररूप टाप तथा सवर्णदीर्घ हो कर गडि चाप स एकार हाता है । अद आ, अदे ओस इस स्थिति में अन्स सूत्र म मकार विशपण क न रहन से यहा अदे शब्द का प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त हाती है । क्या हो नायगा याद यहा प्रगृह्यसज्ञा हा नाय ता ? प्रगृह्यसज्ञा स होने वाला प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । उस स फिर एचाऽयवायाव सूत्र स अयाऽश् न हा सकगा ।

यह कोई दाप नहीं । प्लुतप्रगृह्या अचि० सूत्र से पदान्त में प्रकृतिभाव हाता है । अद आ अ ओम का एकार पदान्त नहीं है किन्तु भसज्ञक है ।

फिर भी अन्स इस सूत्र में मकार विशपण न हान स अमुकेऽत्र यहा एकार की प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । अदस शब्द से स्वार्थ म अरुच कर के अदकस् बना । उसस नस पर रहत त्यदाद्यत्व पररूप होकर नस को शी हो गया । अदसाऽसगाडु दो म स द को मुत्व हो कर अनुक बन जाता है । इसकी प्रगृह्यसज्ञा हाने से अत्र शब्द का अच पर रहत ए पदान्तात्ति स होने वाला पूर्वस्व न हो सकगा । ईदूदत्० इस पूर्वसूत्र स द्विवचन की अनुवृत्ति कर क द्विवचन की प्रगृह्यसज्ञा हागी तब ता अमा यदा बहुवचन म न हा सकेगा ।

इस स ता इस सूत्र में पूर्वसूत्र स एदन्त की अनुवृत्ति न टाना ही ठीक है । उसस अमुया अमुया, अमुके इत्यादि एकारान्ता में प्रगृह्यसज्ञा न होने स अदस इस पृथक् सूत्र में कोई दाप न होगा ।<sup>२</sup> अथवा जब पाणिनि भाचार्य अन्सा मान

१ एड पदान्तादति—यहा स पदान्त प्रकरण है ।

२ यदि अदसो मात्र यह एक सूत्र रखते हैं तो मादग्रहण का व्यावर्धन होने स यह व्यथ हो जाता है । यह माद ग्रहण हा एदन्त की निवृत्ति का सूचक है ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् ।

अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे सिद्धे वक्तव्ये । प्रगृह्यसंज्ञायां चेति ॥

तत्र सकि दोषः ।

तत्र सककारे दोषो भवति । अमुकेऽत्र ॥

नवा ग्रहणविशेषणत्वात् ।

न माद्ग्रहणेन ईदाद्यन्तं विशेष्यते, किं तर्हि । ईदाद्यो विशेष्यन्ते मात्परे ये ईदाद्य इति ॥

यह सूत्र बना कर अदस् के मकार से परे ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा कहते हैं और वह ईकार उकार के असिद्ध होने से बनती नहीं तो सूत्र का यह तात्पर्य समझा जायगा कि मकार का अर्थ रखने वाले अदस् शब्द से परे ईकार उकार का अर्थ रखने वाले शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । मात्=मार्थात् । ईदादीनाम्=ईदाद्यर्थानाम् । इस प्रकार अर्थ विषयक बुद्धिपरिकल्पना में ईकार उकार मकार की असिद्धता नहीं होगी । अदस् शब्द में ईकार उकार मकार के अर्थ की बुद्धि करके प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा आगे न मु ने सूत्र पर वार्तिक कहेंगे—अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे सिद्धे वक्तव्ये प्रगृह्यसंज्ञाया च । इस का अर्थ है—बहिष्पदलक्षण स्वर परे रहते अर्थात् एक पद से दूसरे पद का अच् परे रहते अयादि आदेश करने में अदस् शब्द के ईकार उकार सिद्ध माने जाते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा में भी वे सिद्ध समझे जाते हैं । इस वचन से ईत्वादि की असिद्धता का निषेध होकर सिद्धता हो जायगी ।

ईदूदेत्<sup>०</sup> के सूत्र के समान यहां भी ईकारान्त उकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा समझ कर यह दोष प्राप्त होता है । उस अवस्था में इस सूत्र का अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे ईकाराद्यन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । तब सक अर्थात् ककारसहित अमुके इस प्रयोग में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्ति रूप दोष होता है । अमुके यह अदस् के मकार से परे उके एकारान्त है उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होनी चाहिये । प्रगृह्यसंज्ञा हो कर एङः पदान्तादति से पूर्वरूप न हो सकेगा ।

मात् शब्द के ग्रहण का विशेषण होने से यह कोई दोष नहीं । अदसो

क्योंकि अदस् के मकार से परे ईकार उकार ही संभव हैं । एकार नहीं । इस तरह मात् ग्रहण एदन्त की निवृत्ति में तात्पर्यग्राहक होने से सफल हो सकता है । योगविभाग में तो एदन्त की निवृत्ति सर्वथा आवश्यक है । एकयोग में मात् ग्रहण के सामर्थ्य से एदन्त की निवृत्ति हो जायगी ।

शे १।१।१३॥

इह कस्मान्न भवति काशे कुशे वंशे इति ॥

शेऽर्धवद्ग्रहणात् ।

अर्थवतः शे शब्दस्य ग्रहणम् । न चैपोऽर्धवान् ॥

एवमपि हरिशे बभ्रुशे इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

मात्र सूत्र में ईदूदेत् का ग्रहण है। ईदूदेदन्त का नहीं। जिसका सूत्र में ग्रहण है, उच्चारण है उसी का विशेषण मात्र को बनायेंगे तो अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे जो ईकारादि उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमुके में मकार से परे एकार नहीं है बल्कि एकारान्त उके है। मकार और एकार के बीच में उकार ककार का व्यवधान है इस लिये वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।'

काशे कुशे वंशे यहाँ शे शब्द की इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

शे की प्रगृह्यसंज्ञा में अर्धवान् शे शब्द का ग्रहण किया गया है। काशे आदि में शे शब्द अर्धवान् नहीं है। इस लिये उस की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। शे यह सुपा सुलुपूर्वसवर्णाच्छ्रयाडाडयायाजालः इस सूत्र से वेद में सुपों के स्थान में विहित आदेश है। शकार की लशाक्तद्धिते से इत्संज्ञा होने से लोप कर के ए रह जाता है। जैसे यु मे अस्मे त्वे इति। यह शे शब्द विभक्ति के अर्थ से अर्धवान् है। क शे आदि का शे शब्द निरर्थक है। काश, कुश, वंश शब्दों से सप्तमी के एकवचन ङि के परे रहते आद्युणः से गुण होकर काशे, कुशे, वंशे बनते हैं। इस शे में शकार तो काश आदि शब्दों का अवयव है। और इकार सप्तमी का एकवचन है। यद्यपि सप्तमी का एकवचन इकार अपने विभक्त्यर्थ से अर्धवान् है तो भी काश आदि के शकार और सप्तमी के इकार से मिल कर बना हुआ शे यह समुदाय निरर्थक ही है। अर्धवद्ग्रहण नानर्थकस्य इस परिभाषा के अनुसार अर्धवान् शे शब्द के ग्रहण में अनर्थक शे शब्द का ग्रहण नहीं होगा।

अर्धवान् शे शब्द का ग्रहण मानने पर भी हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। हरि बभ्रु शब्दों से लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलव-सूत्र से मत्वर्थाय श प्रत्यय होकर उससे सप्तमी के एकवचन में शे बन जाता है।

१. इस प्रकार भाष्यकार ने मात्र को ग्रहण का विशेषण मान कर यहाँ एकार की अनुवृत्ति लाने में भी कोई दोष नहीं यह सिद्ध कर दिया है।

एवं तर्हि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं न भविष्यति । अथवा पुनरस्तु 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्ये'ति । कथं तर्हि—हरिशे बभ्रुशे इति । एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान् । अपरस्तद्धितार्थेन । समुदायोऽनर्थकः ॥

निपात एकाजनाङ् ॥१॥१॥१४॥

निपात इति किमर्थम् ?

चकारात्र । जहारात्र ।

एकाजिति किमर्थम् ?

प्रेदं ब्रह्म । प्रेदं क्षत्रम् ।

यहां श और इ दोनों प्रत्यय के अर्थ से अर्थवान् हैं । इस लिये इस शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा हो जानी चाहिये ।

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्, इस परिभाषा से हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । इस परिभाषा का अर्थ है लक्षण अर्थात् सूत्र, उस से निष्पन्न और प्रतिपदोक्त साक्षात् उच्चरित स्वतः सिद्ध इन दोनों में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है । हरिशे बभ्रुशे में शे शब्द साक्षादुच्चरित नहीं है बल्कि लक्षणो द्वारा निष्पन्न होने से लाक्षणिक है अतः प्रतिपदोक्त न होने के कारण उसका यहां ग्रहण नहीं होगा ।

केवल अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा को मानने से भी यहां दोष नहीं है । हरिशे, बभ्रुशे कैसे बनेंगे ? यहां एक इ तो सप्तमी विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है । दूसरा तद्धित श प्रत्यय मत्वर्थ के अर्थ से अर्थवान् है । दोनों का समुदाय शे शब्द सर्वथा अनर्थक है । इसलिए यहां शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

निपातग्रहण किस लिप् किया है ?

चकारात्र । जहारात्र । यहां चकार, जहार ( कृ, ह-लिट्, तिप्, णल् ) में णल् का अकार एकाच् त्तो है पर निपात नहीं है । निपात न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो अत्र के साथ सवर्णदीर्घ हो जाता है ।

एकाच् ग्रहण किस लिप् किया है ?

प्रेदम् यहां प्र शब्द उपसर्ग होने से निपात तो है पर एकाच् नहीं है । एकाच् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो इदम् के साथ गुण एकादेश हो जाता है ।

१. अर्थवान् का समुदाय भी अर्थवान् ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है । जैसे—दश दाडिमानि पडपूपाः कुण्डमजाजिनम् । इत्यादि पदों के अलग २ अर्थवान् होने पर भी सारा पदसमुदाय अन्वयरहित होने से अनर्थक ही है ।

एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति । एषोऽपि होकाच् ।

एकाजिति नार्य बहुव्रीहिः । एकोऽञ् यस्मिन् सोऽयमेकाच्  
एकाजिति । किं तर्हि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः । एकः अच् एकाच्  
एकाजिति ।

यदि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणो नार्य एकग्रहणेन । इह कस्मान्न  
भवति । प्रेदं ब्रह्म । प्रेदं क्षत्रम् ।

अत्रेव यो निपात इत्येवं विज्ञायते । किं चक्षुष्यमेतत् । नहि । कथ-  
मनुच्यमानं गंस्यते । अजग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि अच्च अन्यच्च तत्र  
स्याद् अजग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

अस्ति हान्यदजग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । अजन्तस्य यथा स्यात्  
हलन्तस्य मा भूत् ॥

एकान् ग्रहण करने पर भी प्रेदम् मे प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । यहाँ प्र  
शब्द भी एकाच् ही है ।

एकाच् शब्द में एरोऽञ् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान  
कर एक अच् वाला यह अर्थ नहीं लिया गया है बल्कि एवंचासो अच् एकाच् इस  
प्रकार कर्मधारय तत्पुरुष मान कर एक अच् रूप यह अर्थ लिया गया है । प्र शब्द  
एक अच् वाला तो है पर एक अचरूप नहीं है इसलिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

यदि एकाच् शब्द में कर्मधारय तत्पुरुष समास मानते हैं तो एक ग्रहण की  
कोई आवश्यकता नहीं । यदि आप पूछें कि एक ग्रहण के अभाव में प्रेदम् में प्रगृह्यसंज्ञा  
क्यों नहीं होती तो इसका उत्तर है—

अञ् रूप जो निपात उसकी प्रगृह्यसंज्ञा समझी जायगी । प्रेदम् मे प्र शब्द  
अच् रूप निपात नहीं है । उसके साथ हल् अक्षर भी हैं । इस लिये एक ग्रहण के बिना  
भी वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्या यह बात कही होगी कि यहाँ अच् रूप  
निपात लिया गया है ? नहीं । बिना कदे कैसे समझी जायगी ? अच् ग्रहण के  
सामर्थ्य से । यदि अच् और अच् से अन्य हल् दोनो मिले हुए निपात की प्रगृह्यसंज्ञा  
होवे तो अन् ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जाता है ।

अच् ग्रहण करने का प्रयोजन तो कुछ और भी हो सकता है । क्या ? अजन्त  
निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो, हलन्त की न हो ।

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

एवमपि कुत एतत् । द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयो—  
'राद्यन्तवदेकस्मिन्' 'येन विधिस्तदन्तस्येति' च । इयमिह परिभाषा  
भविष्यति आद्यन्तवदेकस्मिन् इति । इयं च न भविष्यति येन विधि-  
स्तदन्तस्येति ।

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । इयमिह परिभाषा भवति आद्यन्तव-  
देकस्मिन्निति । इयं च न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति । यद्यमनाङ्गिति  
प्रतिषेधं शास्ति ॥

हलन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने में न कोई दोष है, न प्रयोजन है ।<sup>१</sup>

फिर भी क्या कारण है कि यहाँ अच् शब्द में आद्यन्तवदेकस्मिन् और  
येन विधिस्तदन्तस्य इन दोनों सावकाश सूत्रों की समान उपस्थिति होने पर  
आद्यन्तवत्० की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा और येन विधि० की  
बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । अर्थात् आद्यन्तवत् सूत्र की  
प्रवृत्ति से एक अच् रूप निपात को ही आद्यन्तवत् समझा जायगा और येन विधि०  
सूत्र की प्रवृत्ति से जिसके अन्त में अच् है ऐसे हल्च् समुदाय को यहाँ अच् नहीं  
माना जायगा ।

सूत्र में जो अनाङ् ग्रहण करके लिच् आकार की प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध  
क्रिया है यह आचार्य का व्यवहार ही इस बात का शापक है कि यहाँ अच् शब्द  
में आद्यन्तवत् की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा । और येन विधि०  
की बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । क्योंकि आङ् निपात अच्रूप  
ही है, अजन्त नहीं है । उसके निषेध से पता लगता है कि अच्रूप निपात की  
प्रगृह्यसंज्ञा होगी, अजन्त की नहीं ।

१. यदि कही पुरोऽहिः (पुरस्+अहिः) यहाँ हलन्त निपात पुरस् शब्द की  
प्रगृह्यसंज्ञा होने पर ससञ्जो रुः से स् के स्थान में हुए रु को अतो रोरप्लुतादप्लुते  
से उत्व नहीं प्राप्त होगा तो यह कोई दोष नहीं । क्योंकि प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति ससञ्जो  
रु से विहित रुव् पूर्वत्रासिद्ध होने से असिद्ध है । पुरस् के सकार को हत्व के  
अतिरिक्त और कोई कार्य प्राप्त नहीं इस लिये रु के असिद्ध होने से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा न  
होगी तो प्रवृत्तिभाव न होगा और उच्च निर्बाध हो जायगा । उत्व के प्रति तो हत्व  
आश्रय से (उत्वविधि में उसका आश्रयण होने से) सिद्ध है ।



एवं तर्हि सिद्धे सति यदङ्ग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

'दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धमिति' यदुक्तं तदुपपन्नं भवति ।

अनाङिति किमर्थम् ? ॥

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात् ॥

इह कस्मान्न भवति आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तद् इति ॥

सानुबन्धरस्येदमाकारस्य ग्रहणम् । अननुबन्धकश्चात्राकारः ॥

इस प्रकार केवल अच् ग्रहण से कार्य सिद्ध होने पर भी जो एक ग्रहण क्रिया है वह इस बात का ज्ञापक है कि वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा होती है । इसका अर्थ है—वर्ण के ग्रहण में उसकी जाति अर्थात् वर्णसमुदाय का भी ग्रहण होता है ।

वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् इस परिभाषा के ज्ञापन का क्या प्रयोजन है ?

हलन्ताच्च सूत्र पर जो दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम् यह वार्तिक कहा है वह ठीक सिद्ध हो जायगा । इस परिभाषा के होने पर हलन्ताच्च में इक् के समीप केवल एक हल् वर्ण न ले कर हल्वर्णसमुदाय भी ले लिया जायगा तो दम्भ धातु के धिप्सति धीप्सति इन सन्नन्त रूपों में दम्भ इन्व से दम्भ के अ को इकार ईकार हो कर दिम्भ दीम्भ बनने पर मकार भकार रूप हल् समुदाय भी इक् के समीप बन जायगा । इक्समीप हल् होने पर सन् को किर हो कर अनिदिता हल उपधाया. क्किति से मकार का लोप सिद्ध होगा ।

अनाङ् ग्रहण किस लिये किया है ?

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात् । यद्वा मर्यादा अर्थ में आङ् निपात दित् है । उसकी प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध होने से आङ्गुण. से गुण हो जाता है ।

आ एव नु मन्यसे, आ एव किल तत् यहाँ अनाङ् ग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध क्यों नहीं होता ?

ङकार अनुबन्ध वाले आकार की ही प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध है । यहाँ ङकार अनुबन्ध रहित आकार है । इसलिये निषेध न होगा तो प्रगृह्यसंज्ञा रह जायगी ।

क पुनरयं सानुबन्धकः । क निरनुबन्धकः ॥

‘ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।

एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

ओत् ॥११११५॥

किमुदाहरणम् ?

आहो इति । उताहो इति ॥

कहाँ पर आकार हकार अनुबन्ध सहित है और कहाँ पर हकार अनुबन्ध रहित है ?

ईपत्=थोड़े अर्थ में, क्रियायोग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार है उसे ङित् समझो और वाक्यार्थ के अन्यथात्व तथा स्मरण अर्थ में जो आकार है उसे ङित् रहित समझो । ईपत् अर्थ में जैसे—आ+उष्णम्=ओष्णम् (कुछ कम गर्म) । यहाँ आकार के ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । आदीपदर्थे यह वार्तिक भी ईपदर्थ में आकार को ङित् सूचित करता है । क्रियायोग में जैसे—आ+इतः=एतः । उपसर्गाः क्रियायोगे से ङित् आकार की उपसर्गसंज्ञा होती है । प्र परा आदि २२ उपसर्गों में आङ् ङित् पढ़ा है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । निर्दिश्यमान अवधि को छोड़ कर मर्यादा होती है और निर्दिश्यमान अवधि को भी साथ मिलाने पर अभिविधि होती है । आ+उदकान्तात्=ओदकान्तात् (जल आने तक) यहाँ मर्यादा में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । आ+अहिच्छत्रात्=आहिच्छत्रात् । (अहिच्छत्र देश की समाप्तित तक) यहाँ अभिविधि में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो सवर्णदीर्घ हो गया । आङ् मर्यादाभिविधयोः यह सूत्र मर्यादा और अभिविधि में आङ् को ङित् सूचित करता है । आ एवं तु मग्यसे (आः ! त् अब ऐसा मानता है, पहिले तो नहीं मानता था) यहाँ वाक्यार्थ के अन्यथात्व घोटन में आकार ङित् नहीं है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई । आ एवं किल तत् (किसी बात के याद आने पर कहता है आः ! क्या वह ऐसी बात थी) यहाँ स्मरण अर्थ में आकार के ङित् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

आहो उताहो ये ओकारान्त निपात हैं इनकी इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर अष्सन्धि नहीं होती ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । निपातसमाहारोऽयम् । आह उ आहो इति । उत आह उ उताहो इति । तत्र निपात एकाजनाह् इत्येव सिद्धम् ॥

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे । अथवा प्रतिपिदार्योऽयमारम्भः । ओ पु यातं मरुतः, ओ पु यात बृहती शकरी च । ओ चित् सखाय सख्या ववृत्याम् ॥

ओतारिच्व प्रतिषेध ।

ओदन्तो निपात इत्यत्र च्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । अनद् अदः अभवत् अदोऽभवत् । तिरोऽभवत् ॥

ये काई उदाहरण नहीं है । ये तो आह उ=आहो, उत आह उ=उताहो इस प्रकार निपातों का समुदाय है । उसमें उ निपात क एक अच् रूप होने से निपात एकाजनाह् सूत्र से ही प्रगृह्यसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

ये निपातसमुदाय नहीं है बल्कि चादयोऽनर्त्वे सूत्रस्य चादिगण में आहो उताहो इस प्रकार स्वतन्त्र रूप स पद गये एक निपात हैं । अथवा प्रगृह्यसज्ञा के निषेध को रोकने के लिये इस सूत्र का आरम्भ समझना चाहिये । ओ पु यातम् इत्यादि निर्दिष्ट वैदिक प्रयोगों में ओ यह शब्द आ उ इन दो निपातों के योग से बना है । आ का सम्बन्ध यातम् ववृत्याम् इन क्रियाओं से है । आ उ में हुद् गुण एकादेश को अन्तादिवच्च से पूर्व के प्रति अन्तवत् मान कर आ हो जायगा तो निपात एकाजनाह् सूत्र में अनाह् प्रहण से प्रगृह्यसज्ञा का निषेध प्राप्त होता है उस को रोकन क उिये यह सूत्र हो सकता है । उसका प्रयोजन ओ पु आदि उक्त स्थलों में तो कुछ दीखता नहीं हा, ओ इति ओ इस प्रकार पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे होन पर या ओ अयातम् आदि के परे होने पर प्रगृह्यसज्ञा होने से सन्धि न होना सिद्ध हो जायगा ।

ओदन्त निपात की प्रगृह्यसज्ञा करने में चि्व प्रत्ययान्त का निषेध कहना चाहिये । अनद् अद अभवत्=अदोऽभवत् । अतिर तिर अभवत्=तिरोऽभवत् । यहा अद्स् तिरस् शब्दों से अभूततज्ञाव अर्थ में चि्व प्रत्यय हो कर उसका सर्वापहारी लोप हुआ है । ऊर्थादिचि्वडाचद्व से यह च्यन्त निपात है । स् को रु, रु को उ और उ को ओ गुण हो कर ओदन्त बन जाता है । इस सूत्र से प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त हो कर एउ पदान्तादिति से पूर्वरूप न हो सकेगा इस लिये यहा प्रगृह्यसज्ञा का निषेध कहना चाहिये ।

१ यदि इस ओ को पर के प्रति आदिवद्भाव मान कर उ समझें तो यह आह् भिन्न होने से अनाह् इस निषेध का विषय नहीं बनेगा । उस अवस्था में उसी से सिद्ध हो जाने पर इस सूत्र का यह प्रयोजन नहीं रहता ।

न चकृत्यः । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्येत्येवं' न भविष्यति ॥

एधमपि अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् । अत्र प्राप्नोति ॥

एवं तर्हि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इति । तद्यथा गौर-  
नुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः इति न वाहीकोनुबध्यते ॥

कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः । गौस्तिष्ठति । गामानयेति ॥

अर्थाश्रय एतदेवं भवति । यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद् भवति ।  
शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे ॥

चिप्रत्ययान्त के निषेध की कोई आवश्यकता नहीं । लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्योंकि अदो तिरो में जो ओकार है वह लाक्षणिक है । प्रतिपदोक्त नहीं है ।

यहाँ न सही, पर अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् जहाँ चिप्रत्ययान्त की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । गो शब्द में ओकार प्रतिपदोक्त है । साक्षादुच्चरित है ।

यहाँ भी गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस परिभाषा से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी । न्यायमूलक इस परिभाषा का अर्थ है—गुणादागतो गौणः । गुणो के कारण आरोपित किया हुआ प्रयोग । मुखमिव प्रधान मुख्यम् । मुख के समान जो प्रधान है साक्षात् प्रतिपाद्यमान है वह मुख्य है । गौण और मुख्य के कार्यविचार में मुख्य में ही कार्य होता है, गौण में नहीं । यहाँ अभूततद्भावार्थक चिप्रत्यय में जो मुख्य रूप से गौ नहीं है उसे गौण रूप से गौ बनाया जा रहा है । इस लिये गो शब्द ओदन्त निपात होता हुआ भी यहाँ मुख्य नहीं है गौण है । मुख्य ओदन्त निपात में ही प्रगृह्यसंज्ञा होने से यहाँ गौण में नहीं होगी । जैसे—गौरनुबन्ध्यः अजः अग्नीषोमीयः इस गोबन्धनविधिशक्य द्वारा यज्ञ में मुख्य गो पशु ही बाँधा जाता है पशु के मूढतादिगुणो के कारण उपचरित गो प्रयोगगाला वाहीक ( बहिर्भूत श्लदादि ) नहीं बाँधा जाता ।

तो फिर गौस्तिष्ठति, गामानय यहाँ वाहीक में उपचरित (उपचार से प्रयुक्त) गौण बने गो शब्द में गौः, गाम् यहाँ क्रम से वृद्धि और आत्व क्यों होते हैं ।

गौण मुख्य न्याय अर्थाश्रय में होता है । अर्थात् गौणता और मुख्यता पदार्थ के आश्रित हैं, शब्द के नहीं । किसी वस्तु के लिये ही गौण मुख्य शब्दों का

१. तत् आगत' से शैषिक अण् ।

२. शाखादिभ्यो यः से इवार्थ में य प्रत्यय ।

उञ् ऊँ ॥११११८॥

इह कस्मान्नं भवति आहो । उताहो इति ॥

उञ् इत्युच्यते । न चात्रोञं पश्यामः ॥

उञोऽयमन्येन सहैकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्नापयति नोञ् एकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते इति ।  
यद्यमोदिति ओदन्तस्य निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति ॥

प्रयोग होता है । भाव यह है कि प्रयोगार्थ पद में पदान्तर के सन्निधान में गौणता की प्रतीति होने से गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति होती है, अप्रयोगार्थ प्रातपदि की अवस्था में नहीं । इस लिये जो कार्य शब्दाश्रय हैं अर्थात् प्रातिगादिक सम्बन्धी हैं वे तो शब्द मात्र में चाहे गौण हो या मुख्य हों सब में समान रूप से हो जायेंगे । गोणे गिन् से गित्वत् होकर अचो िणिते से वृद्धि होना और औनोम् शयोः से आकार होना ये कार्य शब्द की मान कर होने वाले हैं । ये हो जायेंगे । इन के होने पर ही प्रयोगार्थ पद बनेगा फिर उस बने हुए पद का गौण या मुख्य रूप से यथेष्ट प्रयोग होगा । पद बना हुआ गां या गाम् शब्द जत्र गौर्वाहीकस्मिन्प्रति, गा वादीकमानत्र इस प्रकार वाहीक के साथ प्रयुक्त किया जायगा तब वह गौण समझा जायगा । केवल पशु के लिये प्रयुक्त हुआ मुख्य होगा । गोऽभवत् यह ओदन्त निपात तो पद बन चुका है इस में गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति संभव है । किन्तु वृद्धि और आन्व करने वाले सूत्र अर्थात् उद का निर्माण कर रहे हैं । उन्हें तो शब्द मात्र चाहिये । अर्थ की अपेक्षा रहित उनकी प्रवृत्ति होने से वहां गौणमुख्य न्याय नहीं लग सकता ।<sup>१</sup>

आहो इति, उताहो इति यहां इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा के साथ ऊँ आदेश क्यों नहीं होता ?

उञ् को ऊँ आदेश कहा है । यहां उञ् नहीं दीखता ।

आह् =आहो, उत आह् उ=उताहो इस प्रकार यहां उञ् का दूसरे वर्ण के साथ गुण एकादेश हो रहा है जो परादिवजाव से उञ् ग्रहण से गृहीत होता है ।

आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उञ् का एकादेश उञ् ग्रहण से गृहीत नहीं होता । ओञ् सूत्र से जो ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा विधान की है

१. आहो उताहो को निपातसमुदाय मान कर प्रश्न है ।

२. इमी ऋषे अर्थात् गौः समपद्यत इय विप्रह में अर्थात् इस गौण गो शब्द में भी वृद्धि हो रही है । अर्थात् गां करोति गो करोति यहां चित्रप्रययान्न में तो वृद्धि और आन्व की प्राप्ति ही नहीं है इस लिये नहीं होगा ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । उक्तमेतत्—‘प्रतिपिद्धार्योऽयमारम्भ’ इति । दोषः खल्वपि स्याद् यद्युञ्ज एकादेश उञ् प्रहणेन न गृह्येत । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति । ‘भय उञो वो वे’ति वत्त्वं न स्यात् ।

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे । अथवा द्वाबुकाराविमौ । एकोऽननुबन्धकः । अपरः सानुबन्धकः । तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैव एकादेशः ।

उञ् इति योगविभागः । ‘उञ्’ इति योगविभागः कर्तव्यः । उञ्जः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः

वह इस बात को सिद्ध करती है । अन्यथा आहो उताहो में उञ् के एकादेश को परादिवद्भाव से उञ् मान कर निपात एकाजनाद् से ही प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती तो ओत् सूत्र व्यर्थ था ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । ओत् सूत्र के विषय में तो कहा जा चुका है कि वह प्रगृह्यसंज्ञा के निषेध को रोकने के लिये बनाया है । इस लिये वह विशेष विधान होने से आवश्यक है व्यर्थ नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त दोष भी होगा यदि उञ् के एकादेश को उञ् प्रहण से गृहीत नहीं मानेंगे । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति यहां जानु के उकार के साथ हुए उञ् के सवर्णदीर्घ एकादेश को यदि परादिवद्भाव से उञ् नहीं मानेंगे तो मय उञो वो वा से उञ् को पक्ष में होने वाला वकार नहीं हो सकेगा । इस लिए उञ् का एकादेश भी उञ् मानना होगा । उस अवस्था में आहो उताहो में उञ् होने से ऊँ आदेश प्राप्त होता है ।

अच्छा तो, आहो उताहो ये चादिगण में पठित स्वतन्त्र एकनिपात हैं । इनमें उञ् का एकादेश नहीं मानेंगे । या उञ् और उ ये दो पृथक् २ निपात हैं । एक में ञकार अनुबन्ध लगा है दूसरे में नहीं । आहो उताहो में ञकार अनुबन्ध रहित उ का एकादेश मानेंगे उञ् का नहीं तो उञ् न होने से ऊँ आदेश नहीं होगा ।

उञ् ऊँ इस सूत्र का योगविभाग करना चाहिये । एक सूत्र के स्थान में उञ् । ऊँ । ये दो सूत्र बनाने चाहिये । उञ् इस पहले सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य आचार्य के मत में उञ् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उससे शाकल्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हो कर उ इति यह रूप बन जायगा । अन्य शौनकादि आचार्यों के मत में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो यण् हो कर विति यह रूप बन जायगा । उसके बाद ऊँ इस दूसरे सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य के मत में उञ् के स्थान में दीर्घ

ॐ । ॐ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च । ॐ इति ।

किमर्थो योगविभागः ।

ॐ वा शाकल्यस्य । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ॐ विभाषा यथा स्यात् । ॐ इति, उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन विति ।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१॥१॥१९॥

ईदूतौ सप्तमीत्येव । ईदूतौ सप्तमीत्येव सिद्धे नार्थोऽर्थग्रहणेन ।

लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।

अनुनासिक तथा प्रगृह्यसंज्ञक ॐ आदेश होता है । उससे शाकल्य के मत में ॐ इति यह रूप भी बन जायगा । उ इति पहले से है ही । इस प्रकार दा रूप शाकल्य के मत में बन जायेंगे । अन्यो के मत में केवल विति यह रूप बनेगा ।

उन ॐ सूत्र का योगविभाग किस लिये करना चाहिये ।

योगविभाग करने से शाकल्य के मत में ॐ आदेश विकल्प से होगा तो उ इति, ॐ इति ये दो रूप बन जायेंगे । अन्य आचार्यों के मत में विति यह रूप रहेगा । इस प्रकार इष्ट तीनों रूप योगविभाग से सिद्ध हो जायेंगे । अन्यथा उन ॐ यह एक सूत्र होने पर शाकल्य के मत में उञ् को ॐ आदेश हो जायगा तो ॐ इति यह एक रूप ही बन सकेगा उ इति यह दूसरा रूप नहीं बन सकेगा । अन्यो के मत में विति रहेगा इस प्रकार केवल दो ही रूप बन सकेंगे, तीन नहीं । तीन रूप बनाने के लिये योगविभाग आवश्यक है ।

ईदूतौ च सप्तमी इतना ही सूत्र पर्याप्त है । अर्थग्रहण की आवश्यकता नहीं ।

१ वार्तिक में लुप्त शब्द सामान्याभिधायी होने से नपुंसक लिङ्ग है । इस वार्तिक का भाव यह है कि सज्ञाविधि में प्रत्यय की सज्ञा करने में तदन्तविधि का प्रतिषेध होता है । यदि सूत्र में अर्थ ग्रहण न किया जाय तो ईदूत् सप्तमी की प्रगृह्यसंज्ञा होगी, पर उसके अश्रवण में ( अविद्यमान होने पर सज्ञा न हो सकेगी, और प्रत्यय निमित्तक कार्य चहाँ किसी दूसरे को विहित होता है वही प्रत्यय लक्षण होता है, अत गौरी (जहाँ सप्तमी का लुक् हुआ है ) में उसकी प्राप्ति ही नहीं, इसलिये सूत्र में अर्थ ग्रहण किया है ।

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति । क । सोमो गौरी अधिश्रितः । इष्यते चात्रापि स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमर्थग्रहणम् ।

नात्र सप्तमी लुप्यते । किं तर्हि । पूर्वसवर्णोऽत्र भवति ।

पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाढाम् भावः प्रसज्यते ।

यदि पूर्वसवर्ण आट् आम् भावश्च प्राप्नोति ।

एवं तर्हि आहायमीदृतौ सप्तमीति । न चास्ति सप्तमी ईदृतौ । तत्र वचनाद् भविष्यति ।

सप्तमी विभक्ति का लुक् हो जाने पर ईकारान्त उकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये अर्थग्रहण की आवश्यकता है । जिससे सप्तमी न होने पर भी उसके अर्थ को लेकर प्रगृह्यसंज्ञा हो जावे । कहाँ ? । सोमो गौरी अधिश्रितः यहाँ वैदिक प्रयोग में गौरी शब्द से परे सप्तमी विभक्ति ङि का सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० इस सूत्र से लुक् हुआ है । गौरी में सप्तमी परे न होने पर भी उसका अर्थ विद्यमान है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा होकर अच् सन्धि नहीं होती । अर्थग्रहण के न करने पर यहाँ सप्तमी परे न होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । इष्ट है यहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा हो इस लिये अर्थग्रहण करना चाहिये ।

गौरी में सप्तमी का लुक् नहीं होता किन्तु सुपा सुलुक् से पूर्वसवर्ण होता है । गौरी-इ=गौरी-ई इस प्रकार सप्तमी विभक्ति के इकार के स्थान में पूर्व ईकार का सवर्ण ईकार होकर दोनों का सवर्णदीर्घ एकादेश हो जायगा तो गौरी बन जायगा । उसमें परादिवद्भाव से सप्तमी का ईकार विद्यमान मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है ।

यदि गौरी में सप्तमी विभक्ति के स्थान में सुपा सुलुक् से हुआ पूर्वसवर्ण ईकार मानते हो तो गौरी ई इस अवस्था में सवर्णदीर्घ को बाध कर आण्नाः से आट् का आगम और डेराम् नयात्रीभ्यः से आम् आदेश प्राप्त होते हैं । उस अवस्था में गौर्याम् बनेगा गौरी नहीं । इस लिये गौरी में सप्तमी का लुक् ही मानना चाहिये पूर्वसवर्ण नहीं ।

तब तो ईदृतौ च सप्तमी इस वचन के सामर्थ्य से लुप्त हुई सप्तमी में भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । क्योंकि सर्वत्र सप्तमी का लुक् हो जाने से ईकार



वचनाद् यत्र दीर्घत्वम् ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते । इति न शुष्कं सरसी शयानम् इति । सति प्रयोजने इह न प्राप्नोति । सोमो गौरी अधिष्ठित इति ॥

तत्रापि सरसी यदि ।

तत्रापि सिद्धम् । कथम् । यदि सरसी शब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति । अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः । कथम् । दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ॥

ज्ञापक स्यात् तदन्तवे ।

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति ।

उकार रूप सप्तमी कहीं न मिलेगी तो लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मान कर गौरी में सप्तमी सहचरित ईकार हो जायगा फिर उसकी प्रगृह्यसंज्ञा बन जायगी इस लिये अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

ईदूती च सप्तमी । इस वचन का सामर्थ्य नहीं बनता । यह वचन तो वहाँ चरितार्थ हो सकता है जहाँ सप्तमी को दीर्घ होता है । जैसे—इति न शुष्कं सरसी शयानम् इस वेद मन्त्र के सरसी प्रयोग में सरस् शब्द से परे सप्तमी के इकार को इयाडियाजीकाराणामुपमन्यानम् इस वार्तिक से दीर्घ ईकार आदेश होता है । यह ईकार रूप सप्तमी बन जाती है । ईकाररूप सप्तमी के मिल जाने से ईदूती च सप्तमी यह सूत्र यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा करने में चरितार्थ हो जायगा तो गौरी में प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी । अतः तदर्थ सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिये ।

वहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । कैसे ? सरसी में यदि हम सरस् शब्द न मान कर सरसी शब्द मान ले जैसा कि लोक में सरसी शब्द का प्रयोग होता ही है, क्योंकि दक्षिण देश में बड़े २ सरोवर सरसी कहलाते हैं, उस सरसी से परे सप्तमी का लुक् कर के सरसी यह सप्तम्यन्त घनावे तो वह भी गौरी के समान बन जायगा । उस से सर्वत्र लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

फिर तो व्यर्थ हुआ अर्थग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रगृह्यसंज्ञा में

१. यथा यदि शब्दः सम्भावना अर्थ में है । ऐसा ही शास्त्राणि चैव प्रमाणं स्युः यदा भी अर्थ है ।

किमेतस्य क्षापने प्रयोजनम् । कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं वध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति ।

मा वा पूर्वपदस्य भूत् ।

अथवा पूर्वपदस्य मा भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम् । वाप्यामश्वो वाप्यश्वः । नद्यामातिर्नद्यातिः ॥

अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति ।

जहत्स्वार्था वृत्तिरिति ।

अथाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव । अजहत्स्वार्थायां च न दोषः ।

प्रत्ययलक्षण नहीं होता । इस बात के ज्ञापन का प्रयोजन कुमार्यगारम्, वध्वगारम् यहाँ ईदूदेत् सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा का न होना है । जिसका विचार ईदूदेद् द्विवचन० सूत्र में ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त की प्रगृह्यसंज्ञा कथन करने वाले तीसरे चौथे पक्षों में पहले हो चुका है । यहाँ तदन्तत्वे शब्द से उन्हीं तीसरे चौथे पक्षों से अभिप्राय है । जब प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तब अर्थग्रहण करने पर वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । अथवा समास के घटक अवयव पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा न होवे इस लिये अर्थग्रहण किया है । वाप्यामश्व = वाप्यश्व । नद्यामाति = नद्याति । यहाँ संज्ञायाम् सूत्र से हुण् सप्तमी तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का लुक् हुआ है । वापी नदी इन पूर्वपदों का ईकार सप्तमीसदृचरित है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है वह अर्थग्रहण करने से न होगी । क्योंकि यहाँ उत्तरपदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास में पिछले पद अश्व और आति का ही अर्थ प्रधान है । पूर्वपद वापी और नदी की सप्तमी का अर्थ प्रधान नहीं है ।

अर्थग्रहण करने पर भी वाप्यश्व' नद्याति में प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ।

जहत्स्वार्था वृत्ति होने से । वृत्ति अर्थात् समास । वह दो प्रकार का है— जहत्स्वार्थ और अजहत्स्वार्थ । जिसमें समास के अन्तर्वर्ती घटक पद अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ देते हैं वह जहत्स्वार्था वृत्ति कदाती है । और जिसमें समास के घटक पद अपना अर्थ सर्वथा नहीं छोड़ते बल्कि अपना अर्थ भी रखते हैं वह अजहत्स्वार्था वृत्ति होती है । जहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में पूर्वपद वापी और नदी अपने सप्तम्यर्थ को छोड़ चुके हैं इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में तो दोष है ही । अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । क्योंकि अजहत्स्वार्थ पक्ष में स्वार्थसृष्ट पर का अभिधान होता है । पूर्वपद और उत्तरपद दोनों अपने अर्थ को समुदायार्थ (समुदितार्थ)

समुदायार्थोऽभिधीयते ।

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्धप्रहणाद् भवेत् ।  
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥१॥  
वचनाद् यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि ।  
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥२॥

दाधा घ्रदाप् ॥११॥२०॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिप्रहणं शिदर्थम् ।

घुसंज्ञायां प्रकृतिप्रहणं कर्तव्यम् । दाधाप्रकृतयो<sup>१</sup> घुसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते सा आत्व-भूतानामेव स्यात् । अनात्वभूतानां न स्यात् । ननु च भूयिष्ठानि

के साथ मिल कर कढ़ते हैं । समुदायार्थ का अर्थ समासार्थ है । दोनों पदों का अर्थ अपने समासार्थ के साथ इतना घुलमिल जाता है कि वह धूल में मिले हुए पानी की तरह किसी तरह पृथक् नहीं किया जा सकता । उभयपद मिश्रित नये अर्थ में दोनों पदों का अर्थ समा जाता है । जब सूत्र में सप्तम्यर्थ ऐसा पढ़ते हैं, तब जितना वाक्य में सप्तम्यन्त पद से असंसृष्ट (=विशेषण-रहित) तथा उद्भूत (दूसरे का विशेषण न बना हुआ) अर्थ कहा जाता है, समास में वैसा न कहे जाने से समास में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी । वाप्यवः, नधातिः में सप्तमी का अर्थ भी समासार्थ में समाविष्ट हो जाने से अलग नहीं कहा जा सकता । इस लिये यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । इस प्रकार से ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा रोकने के लिये अर्थप्रहण करना युक्तियुक्त सिद्ध होता है ।

दा धा की घुसंज्ञा करने में प्रकृति प्रहण करना चाहिये । शित् के लिये । अर्थात् दा धा की जो प्रकृति=मूलरूप दो देख, धेद् हैं उनकी भी घुसंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? दाधा शब्द से आत्वभूत=आत्व को प्राप्त=स्वरः सिद्ध आकार वाले जो दा धा हैं उनकी यह घुसंज्ञा की जा रही है सो वह आत्व को प्राप्त दाधा रूप वाले दाण्, दानु, धान् की ही प्राप्त होती है । अनात्वभूत अर्थात् आत्व को न प्राप्त हुए स्वतःसिद्ध आकाररहित

१. यह द्वन्द्व समास है । दाश्च, धौ च, प्रकृतयश्च—ऐसा विग्रह है । सूत्र में उपस्थित दाधा की ही प्रकृतियाँ समझी जायेंगी ।

घुसंज्ञाकार्याणि आर्धघातुके तत्र चैते आत्वभूता दृश्यन्ते । शिदर्थम् । शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । शित्यात्वं प्रतिपिच्यते तदर्थम् । प्रणिदयते प्रणिचति प्रणिचयतीति ।

भारद्वाजीयाः पठन्ति ।

घुसज्ञाया प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम् ।

घुसज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । शिदर्थं विकृतार्थं च । शित्युदाहृतम् । विकृतार्थं खल्वपि । प्रणिदाता । प्रणिधाता ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

‘लक्षणप्रतिपदोस्तयोः प्रतिपदोस्तस्येवे’ति प्रतिपदं ये आत्वभूतास्तेषामेव स्यात् । लक्षणेन ये आत्वभूतास्तेषां न स्यात् ।

दो देह्, धेट् की नहीं प्राप्त होती। अधिकांश में घुसज्ञा के कार्य आर्धघातुक प्रत्यय पर होने पर होते हैं उस आर्धघातुक में ये दो देह्, धेट् भी आत्व को प्राप्त हैं। शिदर्थम्। शित् के लिये प्रकृतिग्रहण करना है। आदेच उपदेशोऽशिति से होने वाला आत्व शित् प्रत्ययो में रूढ़ जाता है। वहां नहीं होता। जैसे प्रणिचति, प्रणिदयते, प्रणिचयति यहां प्र नि पूर्वक दो धेह्, धेट् घातुओं से एट् में क्रमशः द्यन् और शर् विकरण होते हैं। ये शित् हैं। वहां आत्व न होने से दा धा रूप न होंगे तो घुसज्ञा न हो कर नेर्गदनदप-पदघुमास्यति० सूत्र स नि शब्द के नकार को णत्व नहीं प्राप्त होता।

इसी बात को भारद्वाजीय लोग यूँ कहते हैं—घुसज्ञा में प्रकृतिग्रहण करना चाहिये। किस लिये? शित् के लिये। और विकृत के लिये। विकार होकर बने दा धा के लिये। शित् का उदाहरण दिया जा चुका है। विकृत का उदाहरण है—प्रणिदाता। प्रणिधाता। यहाँ प्रनि पूर्वक देह् दो धेट् घातुओं से नृच् पर रहते आत्वरूप विकार हो कर दा धा रूप बना है उसकी घुसज्ञा न होने से नेर्गदनद० सूत्र से नि को णत्व नहीं प्राप्त होता।

क्या कारण है जो यहाँ प्रणिदाता प्रणिधाता में घुसज्ञा नहीं प्राप्त होती?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से। जो प्रतिपदोक्त स्वतः सिद्ध आत्व वाले दा धा हैं उनकी ही घुसज्ञा प्राप्त होती है। जो आदेच उपदेशोऽशिति इस लक्षण से निवृत्त लाक्षणिक दा धा हैं उनकी घुसज्ञा नहीं प्राप्त होती।

अथ क्रियमाणेपि प्रकृतिग्रहणे कथमिद् विज्ञायते दाधाः प्रकृतयः इति, आहोस्विद् दाधा प्रकृतय इति । किं चातः । यदि विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति स एष दोषः आत्वभूतानामेव स्यात् । अनात्वभूतानां न स्यात् । अथ विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति, अनात्वभूतानामेव स्यादात्वभूतानां न स्यात् ॥

एष तर्हि नेव विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति । नापि दाधा प्रकृतय इति । कथं तर्हि । दाधा घुसज्ञा भवन्ति प्रकृतयश्चैषामिति ॥

तत्तर्हि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् ॥

न कर्तव्यम् । इद् प्रकृतमर्थग्रहणमनुवर्तते । ऋ प्रकृतम् । 'ईदूती च सप्तम्यर्थे' इति । वक्ष्यामि 'दाधाध्वदाप् अर्थे' इति ॥

नत्र शक्यम् । ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदासतिमहति-

अञ्ज, प्रकृतिग्रहण करने पर भी दाधाप्रकृतय इस शब्द में कैसा विग्रह करोगे । दाधा च ता प्रकृतय = दाधाप्रकृतय इस प्रकार कर्मधारय मानोग या दाधा प्रकृतय = दाधाप्रकृतय इस प्रकार पत्नी तत्पुरुष मानोग । इस स क्या ? यदि दाधा प्रकृतय यह कर्मधारय मानोग तो वही दोष है । स्वत आच को प्राप्त दाण् दान धान् की ही घुसज्ञा होगा । दो देठ धेट की नहीं होगी । यदि दाधा प्रकृतय यह पत्नीतत्पुरुष मानोग तो दाधा की प्रकृति दो देठ धेट है उनकी ही घुसज्ञा हो सकेगी । दाण दान धान का न हो सकेगी ।

दाधाप्रकृतय ऐसा समस्त शब्द नहीं रखगे बल्कि दाग ध्वदान् प्रकृतयश्च ऐसा रखेंगे । उसमें स्वत सिद्ध दा धा रूप वाले दाण दान धान की घुसज्ञा हो जायगी और दा धा शब्दों की जो मूल प्रकृतियाँ दा देठ धेट हैं उन की भी घुसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

तो फिर प्रकृतिग्रहण कर दना चाहिये ?

प्रकृतिग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं । इदूती च सप्तम्यर्थे इस पूर्वसूत्र से अर्थग्रहण की अनुवृत्ति कर लेंगे । सूत्र होगा—दाधा ध्वदान् अर्थे । उस से दा धा रूप वाले और दाधा के अर्थ वाले दो देठ धेट आदि सब की घुसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

ऐसा नहीं हो सकता । अर्थे कहने पर तो दा धानु क समानार्थक रा, रास् दास्, म् प्रा इत्यादि बहुत से धातुओं की भी घुसज्ञा प्राप्त हो जायगी । इस

प्रीणातिप्रभृतीनाहुः । तेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति । तस्माच्चैवं शक्यम् ।  
न चेदेवं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव ॥

न कर्तव्यम् । शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहणेन । अवश्यं तत्र  
मार्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम् । तत्  
पुरस्तादपक्रक्ष्यते घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति ॥

यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति । अत्रापि  
प्राप्नोति ।

अथाक्रियमामाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे इह कस्मान्न भवति । प्रनिमाता  
प्रनिमातुं प्रनिमातव्यमिति । आकारान्तस्य डितो ग्रहणं विज्ञायते ।  
यथैव तर्हि अक्रियमाणे प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य डितो ग्रहणं विज्ञायते

लिये अर्थे नहीं कह सकते । उस के स्थान में प्रकृतिग्रहण ही करना होगा । ( जिस  
से अति प्रसङ्ग न होगा ) ।

कोई आवश्यकता नहीं प्रकृतिग्रहण करने की । शिव् के लिये तो यूँ नहीं,  
क्योंकि नेर्गद नद पत पद घुमा० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करना आवश्यक  
है ही, जिससे प्रणिमयते प्रण्यमयत यहाँ प्रनि पूरक मेड् धातु को आत्व होने के  
कारण मा मान कर नि को णत्व हो जावे । वही प्रकृतिग्रहण मा के पूर्ववर्ती घु के  
लिये भी आकृष्ट कर लिया जायगा । सूत्र में घु और मा के मध्य में प्रकृति शब्द  
रखेंगे जो उभयान्वयी होगा, जिससे घुप्रकृति और मा प्रकृति इस दोनों का ग्रहण  
हो जायगा ।

यदि नेर्गदनद० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करते हैं तो प्रनिमिनोति,  
प्रनिमीनाति यहाँ प्रनि पूरक मिञ् मीञ् में भी नि को णत्व प्राप्त होता है ।  
क्योंकि मिञ् मीञ् भीनाति भी मिनोतिदीक्षा त्यपि च सूत्र से आत्व हो कर मा  
रूप होने से मा की प्रकृति बन जायेगी ।

हम पृछते हैं नेर्गदनद० सूत्र में प्रकृतिग्रहण न करने पर भी प्रनिमाता  
प्रनिमातुम् प्रनिमातव्यम् यहाँ स्पष्ट मा शब्द के होते हुए नि को णत्व क्यों नहीं होता ।  
तब आप यही कहेंगे कि वहाँ डित् आकारवाला मा लिया गया है । अर्थात् माड्  
धातु । प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रतिमातव्यम् में माड् का मा नहीं है । मिञ् मीञ् का  
है इस लिये णत्व नहीं होता तो प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति में भी माड् न होने से णत्व  
नहीं होगा । वहाँ प्रकृतिग्रहण मिञ् मीञ् न ले कर मेड् धातु ही लिया जायगा  
क्योंकि वह आत्व होने पर माड् बन जाता है ।

एवं क्रियमाणेषु प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य डितो ग्रहणं चिह्नस्यते ।  
विकृतार्थेन चापि नार्थः । दोष एवैतस्याः परिभाषाया 'लक्षणप्रतिपदो-  
क्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति । 'गामादाग्रहणेष्वविशेष' इति ॥

समानशब्दप्रतिषेध ।

समानशब्दानां प्रतिषेधो वन्तन्यः । प्रनिदारयति । प्रनिधारयति ।  
दा धा घुसंज्ञा भजन्तीति घुसंज्ञा प्राप्नोति ।

प्रणिदाता, प्रणिधाता इन विकृतों के लिये भी इस सूत्र में प्रकृतिग्रहण  
बनावश्यक है । लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा को सर्वत्र मानन में दोष ही है ।  
गामादाग्रहणेष्वविशेष यह परिभाषा उसकी अपवाद रूप है । इस का अर्थ है—  
गा मा दा इन शब्दों के ग्रहण में लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त का अविशेष होता  
है । उनका कोई भेद नहीं होता । ये चाहे लाक्षणिक हों तो भी इन शब्दों से  
गृहीत हो जाते हैं । प्रणिदाता में दाधा शब्दों के लाक्षणिक होने पर भी दाधा  
रूप होने से घुसंज्ञा हो जायगी ।

दाधा के समान शब्दों की घुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । प्रनिदारयति  
प्रनिधारयति यहाँ प्रनिपूर्वक ड्, घृष् धातुओं से णिच् परे रहते वृद्धि और  
रपर हो कर दार्, धार् ये रूप बनते हैं । उनके अन्वय दाधा की इस सूत्र  
से घुसंज्ञा प्राप्त होती है ।

१. गा मा दा ग्रहणेष्वविशेष इस परिभाषा का ज्ञापक दैप् धातु का पित्व  
ही है । अनुदासौ सुप्तिता से पिन् प्रत्यय को अनुदासन्त्व विधान किया है धातु को नहीं ।  
दैप् में पित्व इस लिये किया है कि घुसंज्ञा में दान् के निषेध के साथ दैप् का निषेध  
भी हो जावे । दैप् का दान् रूप लाक्षणिक है । लाक्षणिक होने से दान् शब्द से  
गृहीत ही नहीं होगा तो घुसंज्ञा निषेध के लिये उसमें पित्व करना व्यर्थ है । पित्व  
करने से पता लगता है कि दा ग्रहण में लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नहीं लगती ।  
उस से गा मा दा ग्रहणेष्वविशेष यह परिभाषा सिद्ध हो जाता है । जिस प्रकार  
गा मा दा इन के ग्रहण में लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा नहीं मानी जाती उसी प्रकार  
दाधा ध्वदाप्० सूत्र के दा के समान धा के ग्रहण में भी निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्ध-  
कस्य ( अनुबन्धरहित के ग्रहण में अनुबन्ध सहित का ग्रहण नहीं होता ) यह परिभाषा  
नहीं मानी जायगी तो प्रणिधाता बड़ा धेष् की भी घुसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । यद्यपि  
धातु पाठ में धा धातु निरनुबन्धक नहीं है । सभी सानुबन्धक हे तथापि दाधा ध्वदाप्  
इस सूत्र में धा यह निरनुबन्धक का ग्रहण है । उस से निरनुबन्धक परिभाषा की

समानशब्दाप्रतिषेधोऽर्थवद्ग्रहणात् ।

समानशब्दानामप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः ।  
धुसंज्ञा कस्मान्न भवति । अर्थवद्ग्रहणात् । अर्थवतो दाधोर्ग्रहणात् । न  
चैतावर्थवन्तौ ।

अनुपसर्गाद्वा ।

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति । न  
चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ।

यद्येवम् इहापि तर्हि न प्राप्नोति । प्रणिदापयति । प्रणिधापयति ।

दाधा के समान शब्दों की धुसंज्ञा का निषेध व्यर्थ है अर्थवद्ग्रहणे  
नानर्थकस्य इस परिभाषा से दाधा की धुसंज्ञा में अर्थवान् दाधा लिये जायेंगे ।  
प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दार्, धार् धातुओं के सार्थक होने पर भी उनके अवयव  
दा धा अनर्थक हैं । अनर्थक होने से उनकी धुसंज्ञा नहीं होगी तो नि को  
णत्व नहीं होगा । अथवा—प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दा धा की धुसंज्ञा मान  
भी लें तो भी प्रति शब्दों के दाधा के प्रति उपसर्ग न होने से णत्व नहीं होगा ।  
क्योंकि प्र परा आदि वा जिस धातु की क्रिया के साथ योग होता है उसके प्रति ही  
वे गति या उपसर्गसंज्ञक होते हैं । प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में प्र नि का योग  
दा धा के प्रति नहीं है अपि तु दार्, धार् के प्रति है इस लिये दार्, धार् के  
प्रति ही वे उपसर्ग हैं दा धा के प्रति नहीं ।

फिर तो प्रणिदापयति, प्रणिधापयति यहाँ भी धुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये ।  
क्योंकि यहाँ भी दा धा धातुओं से णिच् परे रहते पुक् का आगम हो कर दाप्

प्राप्ति संभव है । वह अनित्य मानी जायगी तो धेद् भी धाञ् के समान धा रूप से  
गृहीत होगी । वस्तुतः धेद् की धुसंज्ञा में दो दद् घोः सूत्र का दः ग्रहण ही ज्ञापक  
है । वहाँ घोः की विद्यमानता में भी जो दः ग्रहण किया है वह सिद्ध करता है कि धेद्  
धातु की धुसंज्ञा होती है । दा धातु धुसंज्ञक है ही । धा को दधातेर्हिः से हि आदेश हो  
जायगा । दो को घतिस्वतिमास्था० से इत्त्व हो जायगा । अन्त में दा से भिन्न  
देङ् धेद् ही रहती हैं । वे यदि धुसंज्ञक न हों तो घोः इस अंश से ही व्यावृत्त हो  
सकती हैं । घोः के रहते हुए जो दः कहा है वह देङ् धेद् की धुसंज्ञा को सिद्ध करता  
है । दः कहने से धुसंज्ञक उन दोनों की दथ् आदेश में व्यावृत्ति हो जाती है ।  
दत्तः दत्तवान् ये दा के रूप होंगे । देङ् धेद् के धुसंज्ञक होने से दीत्, दीतवान्,  
भीतः धीतवान् रूप बनेंगे । धुमावस्था से ईत्त्व धुसंज्ञक होने पर ही हो सकता है ।



अत्रापि नैतौ दाघावर्थवन्तौ । नाप्येतौ दाघौ प्रति क्रियायोगः ॥

न वार्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते यथान्यत्र ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थ-  
वद्ग्रहणेन गृह्यते । यथान्यत्र । तद्यथा अन्यत्रापि अर्थवत आगमोऽर्थवद्-  
ग्रहणेन गृह्यते । क्वान्यत्र । लविता चिकीर्षितेति ।

युक्तं पुनर्यन्नित्येषु शब्देष्वागमशासनं स्यात् । न नित्येषु  
नाम शब्देषु कूटस्थेरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः ।  
'आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः' । अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः  
स्युः । वाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तरच्छब्दान्तर-  
स्य प्रतिपत्तिर्युक्ता ॥

आदेशास्तर्हिमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत् कथम् ।

धाप् ये रूप बनते हैं । उसमें दाप् धाप् ही अर्थवान् हैं । उनके अवयव दा धा नहीं ।  
प्र ति का योग भी दाप् धाप् की क्रिया के साथ है, दा धा की क्रिया के  
साथ नहीं ।

प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में घुसज्ञा का अभावरूप दोष नहीं आता । क्यों ?  
अर्थवान् को होने वाला आगम उसका अवयव बना हुआ उस अर्थवान् के ग्रहण  
से गृहीत हो जाता है । जैसे—अन्यत्र, लविता (दू-इद, तृच्) चिकीर्षिता (चिकीर्ष-  
इद तृच्) आदि में अर्थवान् तृच् को हुआ इद का आगम तृच् के ग्रहण से  
गृहीत होता है । उसी प्रकार प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में अर्थवान् दा धा को  
हुआ पुक् का आगम दा धा ग्रहण से गृहीत हो जायगा तो घुसज्ञा हो जायगी ।

क्या यह ठीक है कि शब्दों को नित्य मानते हुए उन में पुक् आदि आगम  
किये जावें । क्या नित्यशब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचल तथा लोप विकार वृद्धि  
विनाश से रहित नहीं होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये । आगम तो एक प्रकार  
से नये शब्द का जोड़ होता है । क्या फिर नित्य शब्दों में आदेशों का होना  
ठीक है ? बिल्कुल ठीक है । आदेशों में तो एक शब्द का स्थान दूसरा शब्द ले लेता है ।  
उसमें कहीं घटती बढ़ती का अवकाश नहीं । सभी शब्द नित्य हैं । पहले शब्द के  
स्थान में दूसरे शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है ।

तो फिर पुक् इद आदि को आगम न मानकर आदेश मान लीजिये । तृच् को  
इद का आगम होता है यह कह कर तृच् के प्रयोग में इतृच् का प्रयोग किया

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।  
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

दीङः प्रतिषेध. स्थाध्वोरित्त्वे ।

दीङः प्रतिषेधः स्थाध्वोरित्त्वे चक्तव्यः । उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति । 'मीनातिमिनोती'त्यात्त्वे कृते स्थाध्वोरिच्चेतीत्वं प्राप्नोति ।

कुतः पुनरयं दोषो जायते । किं प्रकृतिग्रहणादाहोस्विद् रूपग्रहणात् ॥

रूपग्रहणादित्याह ।

इह खलु प्रकृतिग्रहणाद् दोषो जायते । उपदिदीपते । 'सनि मीमाधुरभलभे'ति ।

नैप दोषः । दाप्रकृतिरित्युच्यते । न चेयं दाप्रकृतिः । आकारा-

जायगा । इस प्रकार आगमरहित शब्दों के स्थान में आगमसहित आदेश हो जायेंगे । सो कैसे ? दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनि के मत में सभी आदेश सम्पूर्ण शब्द के स्थान में प्रयुक्त होते हैं । शब्द के आदि मध्य अन्त रूप किसी एक देश में होने पर तो शब्द की नित्यता नहीं रह सकती ।

स्थाध्वोरिच्च से विधीयमान इत्त्व के विषय में दीङ् धातु की घुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य (इस शिक्षक का स्वर क्षीण हो गया=गला बैठ गया है) यहाँ उपादास्त में उप पूर्वक दीङ् धातु से लुङ् में सिच् परे रहते एज् विषय में मीनातिमिनोति० सूत्र से आत्व हो कर दी का दा बनता है । दा रूप होने से घुसंज्ञा हो जायगी तो स्थाध्वोरिच्च से किच्च के साथ इत्त्व प्राप्त होता है ।

उपादास्त में क्या मान कर घुसंज्ञा का दोष प्राप्त होता है । क्या दा प्रकृति मान कर या दा रूप मान कर ?

दा रूप मान कर यहाँ घुसंज्ञा प्राप्त होती है ।

लेकिन उपदिदीपते (उप दीङ्-सन्-त) यहाँ उप पूर्वक सन्नन्त दीङ् धातु में तो दा प्रकृति प्राप्त कर घुसंज्ञा प्राप्त होती है । स्वर परे रहते एज् से किच्च हो जायगा तो गुण न होने से एज् विषय न रहेगा । एज् विषय न रहने से दी ही रहेगा । तब दा की प्रकृति दी शब्द की घुसंज्ञा हो कर सनि मी मा धु रभ० से अभ्यास छोप और इस् आदेश प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं । घुसंज्ञा में दाप्रकृति कहा है । आकारान्तों की प्रकृति एजन्त होती है एजन्तों की प्रकृति ईकारान्त होती है । प्रकृति की जो प्रकृति है वह

न्तानामेजन्ताः प्रकृतयः । एजन्तानामपीकारान्ताः । न च प्रकृतेः प्रकृतिः प्रकृतिप्रहणेन गृह्यते ।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः । घुसज्ञा कस्मान्न भवति । 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्ये'त्येव न भविष्यति ।

दाप् प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात् ।

दाप् प्रतिषेधे दैपिप्रतिषेधो न प्राप्नोति । अवदातं मुखम् । ननु चात्वे कृते भविष्यति । तद्वयात्त्व न प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेजन्तत्वात् ।

सिद्धमनुबन्धस्यानकान्तत्वात् ।

प्रकृतिप्रहण से गृहीत नहीं होती । उपदिदीपते में दी यह दा की प्रकृति नहीं मानी जा सकती । दे की प्रकृति तो हो सकती है । दा प्रकृति न होने से यहाँ घुसज्ञा नहीं होगी तो कोई दोष न होगा ।

तो फिर उपादास्त में दीह् की घुसज्ञा का निषेध कइ दिया जाय ?

घुसज्ञा का निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । घुसज्ञा क्यों नहीं होती ? सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्य इस परिभाषा से उपादास्त में घुसज्ञा नहीं होगी । इस परिभाषा का अर्थ है—जो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध का नष्ट करने वाले विधि का निमित्त नहीं होता । सान्निपातलक्षणे विधि = दो के सम्बन्ध से होने वाला कार्य । तद्विघातस्य = उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले का । अनमित्तम् = हेतु नहीं बनता । उपादास्त में निम् सिच् के अकित्त्व के कारण दोह को आत्व हो कर दा बना है वह दा बन कर घुसज्ञा द्वारा स्याज्वोरत्त्व से सिच् को कित् नहीं कर सकता । घुसज्ञा हो जाने से सिच् के अकित्त्व का विघात होता है इसलिये घुसज्ञा नहीं होगी ।

दाया च्चदान० यदा दाप् घातु की घुसज्ञा के निषेध में दैर घातु का निषेध नहीं प्राप्त होता । अवदात मुखम् (शुद्ध मुख) यदा अव पूर्वक दैप घातु से क्त प्रत्यय पर रहते घुसज्ञा का निषेध इष्ट है । घुसज्ञा न होने से चव जनसर्गात् से तकार आदान नहीं होगा तो अवदात मुखम् यह इष्ट रूप बन जायगा । आदच उपदेशे० से आत्व करन पर दाप् बन जायगा फिर अदाप् से निषेध हो जायगा । वह आत्व ही तो नहीं प्राप्त होता । क्यों ? एजन्त न होने से । दैर् के अन्त में पकार है । एच् नहीं है तो आदच उपदेशे० से आत्व कैस होगा ?

१. उ सन्निपात विहर्त्वाति तद्विघात । कसंग्यन् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात् । अनेकान्ता  
अनुबन्धाः ।

पित्प्रतिषेधाद्वा ।

अथवा दाधा घ्वपिदिति वक्ष्यामि । तच्चावश्यं वक्तव्यम् । अदा-  
बिति ह्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत प्रणिदापयतीति । शक्यं तावदनेनाबिति  
ध्रुवता वान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञानुम् ॥

सूत्रं तर्हि भिद्यते ॥

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं दाप् प्रतिषेधे न दैपीति । परिहृत-  
मेतत् 'सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वादिति' । अथैकान्तेषु दोष एव ।

दैप् की घुसंज्ञा का निषेध सिद्ध हो जायगा । कैसे ? अनुबन्ध के अनेकान्त  
अर्थात् अनवयव होने से । दैप् का पकार अनुबन्ध धातु का अवयव नहीं माना जायगा  
तो दै के पृजन्त होने से आत्त्व हो जायगा । अनेकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा  
है । इस का अर्थ है अनुबन्ध धातु आदि के अवयव नहीं होते । अथवा दा धा  
घ्वपित् ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसमें अपित् शब्द से पित् का निषेध होगा तो दाप्  
दैप् दोनों निषिद्ध हो जायेंगे । दा धा घ्वपित् ऐसा सूत्र अवश्य बनाना ही चाहिये ।  
अदाप् कहने से तो प्रणिदापयति यहाँ णिजन्त दा धातु में भी दाप् रूप होने से  
घुसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है । वैसे प्रणिदापयति में घुसंज्ञा का निषेध रोकने  
के लिये यह भी तरीका है कि दा धा घ्वदाप् में दाप् का निषेध न कर के दाव् का  
निषेध करें । दाधा घ्वदाव् आद्यन्तवदेकस्मिन् इस संहिता पाठ में अदाव् कहता हुआ  
यह अभ्येता अदाप् के समान अदाव् भी तो समझ सकता है । क्योंकि सन्धि में  
पकारान्त तथा वकारान्त दोनों ही निकल सकते हैं । उस अवस्था में दाप् का  
निषेध न मान कर दाव् का निषेध मानेंगे तो दाप् दैप् दोनों धातु धातुपाठ में  
वकारान्त पढ़ दिये जायेंगे । प्रणिदापयति में दाव् न होने से घुसंज्ञा का निषेध  
न होगा ।

दा धा घ्वपित् इस न्यास को मानने पर पाणिनि का दा धा घ्वदाप् यह  
सूत्र तो बदलना होगा ।

जैसा पाणिनि का दा धा घ्वदाप् यह सूत्र है वैसा ही रहने दीजिये । यह जो  
कदा था कि दाप् के निषेध में दैप् का निषेध नहीं प्राप्त होता उसका समाधान  
अनुबन्ध के अनेकान्त होने से कर दिया था । अनेकान्ता अनुबन्धाः इस परिभाषा  
के समान एकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा भी है । इसका अर्थ है—अनुबन्ध  
धातु आदि के एकान्त अर्थात् अवयव होते हैं । अनुबन्धों के एकान्त मानने के पक्ष

एकान्तेष्वपि न दोषः । आत्वे कृते भविष्यति । ननु चोक्तं तद्व्याख्यं न प्राप्नोति । किं कारणम् अनेजन्तत्वादिति । पकारलोपे कृते भविष्यति । नह्ययं तदा दाप् भवति । भूतपूर्वगत्या भविष्यति । एतच्चात्र युक्तम् । यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते । अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति । अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वमिति । यद्यमुदीचां माडो व्यतिहारे इति मेडः सानुबन्धकस्यात्त्वभूतस्य ग्रहणं करोति । अथवा दावेवायं न दैवस्ति । कथमवदायति । श्यन् विकरणो भविष्यति ॥

### आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥१।१।२१॥

मं दोष ही है । एकान्त मानने पर भी दोष नहीं है । दैप् को आत्व करने पर दाप् बन जायगा । यह जो कहा था कि एजन्त न होने से आत्व नहीं प्राप्त होता पकार का लोप करने पर एजन्त बन जायगा । तब यह दाप् नहीं रहता तो भूतपूर्वगति से दाप् समझ लिया जायगा । पहले दैप् अवस्था में पकार था । पकार का लोप हो कर आत्व होने से दा बन गया । भूतपूर्व पकार के कारण दाप् बन जायगा । भूतपूर्वगति वाली बात यहाँ ठीक बैठती है । सभी सानुबन्धक शब्दों में भूतपूर्वगति से काम लिया जाता है । भूतपूर्व गति का अर्थ है—जो पहले था उसके बाद में न रहने पर भी उसकी पहली सत्ता को मान कर काम करना । क्योंकि अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है । बिना निमित्त के होने से इत्संज्ञा होते ही हो जाता है । तावत्संज्ञा=उसी समय, उतने में ही अर्थात् इत्संज्ञा होते ही । अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर उसकी पहली सत्ता को मान कर उसका कार्य किया जाता है । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक है कि अनुबन्ध के कारण एजन्तत्व का अभाव नहीं होता । अर्थात् अनुबन्ध रहते हुए भी एजन्त बना रहता है । उदीचा माडो व्यतिहारे इस सूत्र में जो टकार अनुबन्ध सहित मेड् धातु को एजन्त मान कर आदेश उप० से आत्व-विधान द्वारा माडः यह निर्देश किया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि अनुबन्ध से एजन्तत्व का विघात नहीं होता । नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् षड् परिभाषा है । इसका अर्थ स्पष्ट है—अनुबन्ध का किया हुआ एजन्तत्व का अभाव नहीं होता ।

अथवा दैप् शोधने धातु को भी दाप् शोधने बना कर दिवादि गण में पड़ देना चाहिये जिससे अदाप् में दाप्, दैप् का झगड़ा ही न रहे । दैप् का दाप् होने पर अवदायति यद् रूप कैसे बनेगा । दिवादिगणीय धातु हो जाने से श्यन् विकरण हो कर बन जायगा ।

किमर्थमिदमुच्यते ?

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ।

सति अन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते ।  
सति अन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते ।  
सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणात् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि  
कार्याणि न सिध्यन्ति इष्यन्ते च स्युरिति । तान्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्ति  
इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद् वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ।

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति  
वक्तव्यम् ।

किं प्रयोजनम् ?

एकाचो द्वे प्रथमार्थम् ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ।

अन्य के होने पर जिससे पूर्व नहीं है पर है वह आदि कहाता है । अन्य के होने पर ही जिससे पर नहीं है पूर्व है वह अन्त कहाता है । इस प्रकार आदि अन्त का व्यवहार अन्य के होने पर होता है । अकेले में नहीं हो सकता । इस कारण एक ही में आदि अन्त को कहे हुए कार्य नहीं किये जा सकते । इष्ट है कि अकेले में भी वे हों । वे बिना यत्न के सिद्ध नहीं होते इसलिये यह सूत्र बनाया है ।

यह सूत्र का प्रयोजन ठीक है । किन्तु आद्यन्तवदेकस्मिन् की जगह व्यपदेशि-  
वदेकस्मिन् यह सूत्र या परिभाषा बना कर व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिये । अमुक्य  
में मुख्य के समान व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं ।<sup>१</sup>

व्यपदेशिवद्भाव का क्या प्रयोजन है ?

१ निमित्त होने से जिसका मुख्य व्यपदेश है वह व्यपदेशी है । पठ् धातु एक अच् वाला शब्द रूप है, एकाच् इसका मुख्य व्यपदेश है । इ (ण्) यह अच् रूप ही है, एकाच् नहीं । तो भी व्यपदेशी पठ् की तरह इसके विषय में भी कार्य होगा । यही व्यपदेशिवद्भाव है ।

वक्ष्यति—‘एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश’ इति । तस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् पपाच पपाठ । इयाय आर इत्यत्र न स्यात् । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

पत्रे चादेशसम्प्रत्ययार्थम् ।

वक्ष्यति—‘आदेशप्रत्यययोरित्यवयवपञ्ची’ति । एतस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति । इहन स्यात् इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षदिति । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः ।

अत्रचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम् ।

एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र पर कहेंगे कि एकाचः यह बहुव्रीहि समास का निर्देश है । एकः अच् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान कर एक अच् वाला यह अर्थ यहाँ लिया जायगा । इस अर्थ को लेने पर पपाच, पपाठ (पच् पठ्-लिट्, तिप् णञ्) यहाँ द्वित्व हो सकेगा । पच्, पठ् दोनों एक अच् वाले हैं किन्तु इयाय (इण्-लिट्, तिप् णञ्) आर (त्र-लिट्, तिप्, णञ्) यहाँ द्वित्व न हो सकेगा । इ और ऋ ये एक अच् वाले न हो कर एक अच् रूप हैं । व्यपदेशिवद्भाव से एक अच् रूप को एक अच् वाला मान कर यहाँ भी द्वित्व सिद्ध हो जायगा । आदेशप्रत्यययोः सूत्र पर कहेंगे कि यहाँ प्रत्यय शब्द में जो पञ्ची है वह अवयवपञ्ची है । अर्थात् प्रत्यय के अवयव सकार को पत्र होता है । प्रत्ययावयव सकार को पत्र मानने पर करिष्यति हरिष्यति (कृ, हृ-स्यति) यहाँ सकार को पत्र हो सकेगा । यहाँ स्य प्रत्यय का अवयव सकार है । किन्तु इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षत् इन वैदिक प्रयोगस्थ वक्षत् यक्षत् (बह्, यञ्-लेट्, सिप्, तिप्) में सिप् विकरण के सकार को पत्र न हो सकेगा । सिप् यह प्रत्यय रूप सकार है प्रत्यय का अवयव सकार नहीं है । व्यपदेशिवद्भाव से प्रत्यय रूप सकार को भी प्रत्यय का अवयव सकार मान कर पत्र सिद्ध हो जायगा ।

तो फिर व्यपदेशिवद्भाव कद दिया जाय ?

व्यपदेशिवद्भाव के कहने की आवश्यकता नहीं । बिना कदे लोकव्यवहार से

१. वचनस्याभावः अवचनम् ।

२. विज्ञान शब्द का यहाँ व्यवहार अर्थ है ।

अन्तरेणैव घचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत् । तद्यथा लोके शालासमुदायो ग्राम इत्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नपि एकशालो ग्राम इति ।

विषम उपन्यासः । ग्रामशब्दोऽयं बहुवचनः । अस्-येव 'शालासमुदाये' वर्तते । तद्यथा ग्रामो दग्धः इति । अस्ति 'चाटपरिक्षेपे' वर्तते । तद्यथा ग्रामं प्रविष्ट इति । अस्ति च 'मनुष्येषु' वर्तते । तद्यथा ग्रामो गतो ग्राम आगत इति । अस्ति 'सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके' वर्तते । तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद् य. सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्येतत् प्रयुज्यते एकशालो ग्राम इति ।

यथा तर्हि वर्णसमुदाय पदम् । पदसमुदाय ऋक् । ऋक् समुदाय. सूक्तमित्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्णं पदम् एकपदा ऋक्, एकैर्च सूक्तमिति ।

अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेश । पदं नामार्थं । ऋक् नामार्थं ।

ही यह सिद्ध हो जायगा । जैसे शालासमुदाय (बहुत घरों का समूह) ग्राम कहाता है किन्तु लोक में एक शाला वाले में भी ग्राम शब्द का प्रयोग दीखता है । यह एक घर का ग्राम है ।

यह ग्राम का उदाहरण ठीक नहीं । क्योंकि ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ हैं । शालासमुदाय वाटपरिक्षेप (खेतों की रखवाली के लिये बनाई हुई बाड़ या बाड़ा) अन्तर्गत मनुष्य जगल खेतों की सीमा, पहाड़ टील आदि ये सब ग्राम कहाते हैं । उन में समीपवर्ती जगल खेत की सीमा, टीले आदि अर्थ के विचार से हमें ग्राम मिला है यह एक शाला वाला ग्राम है ऐसा प्रयोग होता है । गाव के पास जगल में या खेत की सीमा में बने एक घर को देख कर कह देते हैं यह एक घर का गाँव है ।

ग्राम का उदाहरण न सही, यह दूसरा उदाहरण लीजिये । वर्णों के समूह को पद पदों के समूह को ऋचा और ऋचाओं के समूह को सूक्त कहते हैं । किन्तु लोक में एक वर्ण में भी पद शब्द का, एक पद में भी ऋचा शब्द का और एक ऋचा में भी सूक्त शब्द का प्रयोग होता है । जैसे यह एक अक्षर का पद है । यह एक पद की ऋचा है । यह एक ऋचा का सूक्त है ।

यहाँ भी अर्थ की दृष्टि से वैसा प्रयोग होता है । यह एक अक्षर वाला पद

१ पद से यहाँ पाद समझना चाहिये, क्योंकि एकपद-रूप कोई ऋचा नहीं है ।

२ पद के अर्थ को अमेदोपचार से पद कह दिया है । एकवर्णं पदम् इत्यादि में एकवर्णादि बहुव्रीहि का पदार्थादि अन्य पदार्थ है ।



सूक्त नामार्थं इति ।

यथा तर्हि बहुषु पुत्रेषु एतदुपपन्नं भवति अय मे ज्येष्ठोऽयं मे मध्यमोऽय मे कनीयानिति । भवति चेतदेकस्मिन्नपि अयमेव मे ज्येष्ठोऽयमेव मे मध्यमोऽयमेव मे कनीयानिति ।

तथाऽसूतायामसोप्यमाणायां च भवति प्रथमगर्भेण हतेति ।

तथाऽनेत्यानाजिगमिपुराह-इदं मे प्रथममागमनमिति ॥

आद्यन्तवद्भावश्च शक्योऽवन्तुम् । कथम् ।

अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयो सिद्धमेकस्मिन् ।

अपूर्वलक्षण आदिः, अनुत्तरलक्षणोऽन्तः, एतच्चैकस्मिन्नपि

का अर्थ है । यह एक पद बाला ऋचा का अर्थ है । यह एक ऋचा बाला सूक्त का अर्थ है ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । बहुत से पुत्रों के होने पर तो यह कहना ठीक बनता है कि यह पुत्र मेरा बड़ा है, यह बिचला है और यह सब से छोटा है । किन्तु लोक में एक ही पुत्र के होने पर भी यह व्यवहार दीखता है कि यही पुत्र मेरा बड़ा है, यही बिचला है और यही सब से छोटा है । इसी प्रकार जो स्त्री पहले कभी प्रसूत नहीं हुई और आगे भी किसी कारणवश प्रसूत न होने वाली है उसके कुक्षिस्थ गर्भ के कारण जब उसकी मृत्यु हो जाती है तब यह प्रयोग होता है कि वह स्त्री पहले गर्भ से मारी गई । जिस स्त्री का अनेक बार प्रसव हो चुका है, वहा प्रथम गर्भ यह व्यपदेश ठीक है और जिसका प्रसव आगे होगा वहा भी पूर्वोत्पन्न पुत्र से मारे जाना संगत है पर प्रकृत में प्रथम गर्भ से मारी गई ऐसा प्रयोग कैसे हुआ । किन्तु ऐसा प्रयोग होता है । ऐसा लोकव्यवहार है । इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी के घर पहले कभी नहीं आया और आगे भी कारणवश वहाँ कभी आने की इच्छा नहीं रखता है वह एक बार उसके घर में आ कर कहता है कि यह मेरा आपके घर में पहला आगमन है । यहा एक ही आगमन में पहला आगमन यह प्रयोग जिस आधार पर किया गया । किन्तु लोक में ऐसा प्रयोग होता है । इस लिये लोक व्यवहार से ही सिद्ध हो जाने पर (शास्त्र में) व्यपदेशिवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं ।

आद्यन्तवद्भाव वाले इस सूत्र के कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं । क्यों ? आदि का लक्षण हम यह नहीं करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है पर है वह

भवति । अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वाद् एतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नप्या-  
द्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्तीति नार्थं आद्यन्तवद्भावेन ।

गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति त्वन्यस्मिन्निति ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ।

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययग्निदाद्युदात्तत्वे ।

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति इहैव स्यात् कर्तव्यं, तैत्तिरीयः ।  
औपगवः कापटवः इत्यत्र न स्यात् । जिनत्यादिर्नित्यम् इति इहैव स्यात्  
अहिक्षुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः । गार्ग्यः, कृतिः इत्यत्र न स्यात् ।

आदि है अपितु यह (इतना ही) करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है वह आदि है । पर  
हो या न हो उस की जरूरत नहीं । इसी प्रकार अन्त का लक्षण यह नहीं करेंगे कि  
जिस से पर नहीं है पूर्व है वह अन्त है अपितु यह करेंगे कि जिस से पर नहीं है  
वह अन्त है । पूर्व में हो या न हो उस की अपेक्षा नहीं । आदि अन्त का यह  
लक्षण एक में भी घट जायगा । क्योंकि जब एक ही अक्षर है तो उसके पूर्व में  
कुछ न होने से वही आदि है । पर में भी कुछ न होने से वही अन्त है ।

गोनर्दीय अर्थात् भाष्यकार तो यह कहते हैं कि अन्य के होने पर ही आदि  
अन्त का व्यवहार ठीक बनता है अकेले में नहीं इस लिये आद्यन्तवरेकस्मिन् इस  
सूत्र की आवश्यकता अवश्य माननी चाहिये ।

इस सूत्र के प्रयोजन क्या है ?

आदिवद्भाव के तो ये प्रयोजन हैं । आद्युदात्तव्य से प्रत्यय के आदि अक्षर  
को उदात्त कहा है वह कर्तव्यम् (कृ-तव्यन्) तैत्तिरीय. ( तित्तिरि-छण्=इय ) यहाँ  
प्राप्त हो सकता है । तव्य और इय प्रत्ययों में कई अक्षर होने से उन के आदि  
अक्षर त और ई हो जाते हैं । किन्तु औपगवः कापटवः ( उपगु, कपटु-अण् ) यहाँ  
केवल एक अक्षर वाले अण् प्रत्यय में नहीं प्राप्त हो सकता । इस सूत्र से एक को भी  
आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है । जिनत्यादिर्नित्यम् से जित् नित् प्रत्यय  
परे रहते प्रकृति को आद्युदात्त कहा है । वह अहिक्षुम्बकायनिः ( अहि क्षुम्बक-  
फिन्=भायनि) आग्निवेश्यः ( अग्निवेश-यन् ) यहाँ ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि  
अहिक्षुम्बक अग्निवेश शब्दों में कई अक्षर होने से उन के आदि अक्षर दोनों अकार  
हो जाते हैं । किन्तु गार्ग्यः ( गार्गं=गार्गं-यन् ) कृतिः ( कृ-त्तिन् ) यहाँ केवल गा  
और कृ ये एक अक्षर होने से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से

बलादेरार्धघातुकस्येद् ।

बलादेरार्धघातुकस्येद् प्रयोजनम् । आर्धघातुकस्येद् बलादेरिती-  
हैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति । जोषिषत् मन्दिषदित्यत्र न स्यात् ।

यरिमन्त्रिविस्तदादित्वे ।

यस्मिन् विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम् । वक्ष्यति यस्मिन् विधि-  
स्तदादाबलप्रहण इति । तस्मिन् क्रियमाणे 'अचि इन्धुधातुध्रुवां य्योरियडु-  
वडां' इति इहैव स्यात् ध्रियः ध्रुवः । ध्रियौ ध्रुवौ इत्यत्र न स्यात् ।

अजाद्याट्टरे ।

अजाद्यादित्वे प्रयोजनम् । 'आडजादीनाम्' इति इहैव स्यात् पेहिष्ट  
पेक्षिष्ट । पेष्ट अध्येष्ट इत्यत्र न स्यात् ।

आदि मान कर हो जाता है । आर्धघातुकस्येद् बलादेः से बलादि आर्धघातुक को  
इद् का आगम कहा है । वह करिष्यति हरिष्यति ( कृ ह स्यति ) यहाँ ही प्राप्त  
हो सकता है । क्योंकि आर्धघातुक स्य प्रत्यय में कई अक्षर होने से उस के आदि  
में सकार होने से वह बजादि है । किन्तु जोषिषत् मन्दिषत् ( जुप् मन्द्-सिप् तिप् )  
यहाँ सिप् विकरण ( आर्धघातुक प्रत्यय ) के केवल एक अक्षर रूप ( स् ) होने से प्राप्त  
नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

यस्मिन् विधिस्तदादाबलप्रहणे यह परिभाषा आगे येन विधेस्तदन्तस्य  
सूत्र पर कहेंगे । उस से बल प्रहणविषयक सप्तमी विभक्ति के निर्देशों में तदादि-  
विधि होती है । जैसे अचिन्धुधातु० सूत्र में अचि यद् सत्तमो विभक्ति प्रत्यय का  
विशेषण है । उस में तदादिविधि हो कर अजादि अर्ध होता है । अजादि प्रत्यय पर होने  
पर इयद् उवद् होंगे तो ध्रियः ध्रुव ( श्री भू-वस् ) यहाँ ही वे प्राप्त हो सकेंगे ।  
जस् प्रत्यय में कई अक्षर होने से अकार आदि में हो जाता है । किन्तु ध्रियौ ध्रुवौ  
( श्री भू-भौ ) यहाँ केवल एक अक्षर रूप औ के परे होने पर प्राप्त न हो सकेंगे ।  
एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाते हैं ।

आडजादीनाम् से अजादि अङ्गों को आट का आगम कहा है वह ऐहिष्ट ऐक्षिष्ट  
( ईह ईक्ष्-सिच् लुह् त ) यहाँ ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि ईह ईक्ष् में कई  
अक्षर होने से उन का आदि अक्षर ई यह अच् हो जाता है । किन्तु ऐष्ट अक्षिष्ट  
( ईह्, अधि इह्-सिच् लुह् त ) यहाँ ईह् और इह् अङ्गों के केवल एक अच् रूप होने

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ।

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम् । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् इतीहैव स्यात् पचेते इति, पचेथे इति । खद्वे इति, माले इति इत्यत्र न स्यात् ।

मिदचोऽन्त्यात्परः ।

मिदचोऽन्त्यात्परः प्रयोजनम् । इहैव स्यात् कुण्डानि वनानि । तानि यानीत्यत्र न स्यात् ।

अचोन्त्यादि टि ।

अचोन्त्यादि टि प्रयोजनम् । टित आत्मनेपदानां टेरे इतीहैव स्यात्

से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

अन्तवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

अन्तवद्भावके ये प्रयोजन हैं—ईदूदेत्० सूत्र से ईकारान्त, उकारान्त, एकारान्त, द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा कही है वह पचेते इति पचेथे इति (पच्-आताम्, आधाम्= आते, आथे) यहाँ ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि आते, आथे में कई अक्षर होने से एकारान्त द्विवचन हो जाता है । किन्तु खद्वे इति, माले इति (खद्वा माला-शी=ई) यहाँ शी की ई के केवल एक ईकाररूप या एकाररूप होने से प्राप्त नहीं हो सकती । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाती है ।

मिदचोन्त्यात्पर से मित् (नुम्) का आगम अन्तिम अच् से पर कहा है । वह कुण्डानि वनानि यहाँ ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि कुण्ड और वन में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ड और न का अकार हो जाता है । किन्तु तानि यानि (तद्=त, यद्=य, जस् शि) यहाँ तद्, यद् के त, य शब्दों में एक ही अच् होने से नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

अचोन्त्यादि टि से अचों के मध्य में अन्तिम अच् की टि संज्ञा कही है । वह टित आत्मनेपदाना टे रे से टि को एत्व करने में उपयुक्त होगी । उससे चुर्वाते, चुर्वाथे (चृ-आताम्, आधाम्) यहाँ आताम्, आधाम् में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ता, या का आ हो जायगा तो आम् की टि संज्ञा हो कर टेरेव सिद्ध हो जाता है । किन्तु चुर्वाते (चृ-ठ) चुर्वे (चृ-इद) यहाँ च

कुर्वाते कुर्वाथे । कुरुते कुर्वे इत्यत्र न स्यात् ।

अलोन्त्यस्य ।

अलोन्त्यस्य प्रयोजनम् । अतो दीर्घो यञि सुपि च इहेव स्यात् घटाभ्या पटाभ्यामिति । आभ्याम् इत्यत्र न स्यात् ।

येनविधिस्तदन्तत्वे ।

येन विधिस्तदन्तत्वे प्रयोजनम् । अचो यत् इहेव स्यात् चेष जेषम् । एयमध्येयमित्यत्र न स्यात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

तरप् तमपौ घः<sup>१</sup> ॥१॥१॥२॥

घसज्ञाया नदीतिरे प्रतिषेध ।

और इद् प्रत्ययो में केवल एक अक्ष हाने से अन्तिम अच् न बन सकगा तो टि सज्ञा न हो कर टरेव नहीं प्राप्त हाता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

अलोन्त्यस्य से पटीनिर्दिष्ट क अन्तिम अक्षर को धादश कहा है । वह अनो दीर्घो यञि सुपि च यद्वा उपयुक्त होता है । सुपि च से अदन्त अङ्ग क अन्तिम अक्षर को दीर्घ होगा ता घटाभ्याम् पटाभ्याम् म ही प्राप्त हो सकेगा (क्योंकि घट ए में कई अक्षर हाने से अन्तिम अक्षर ट का अ हो जाता है । किन्तु आभ्याम् (इदम्=अ-भ्याम्) यद्वा इदम् शब्द का अक्षर केवल अ रूप अङ्ग है अकारान्त नहीं है जब अकारान्त नहीं है ता उसका अन्तिम अक्षर कहा स हो सकता है । इस लिय यद्वा सुपि च से दीर्घ नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

येन विधिस्तदन्तस्य से विशेषण द्वारा कहा हुआ कार्य तदन्त को होता है । जैसे अचो यत् यद्वा अच् विशेषण द्वारा धातु से यत् प्रत्यय कहा है तो वह अन्त धातु से होगा । इस लिय चेषम् चेषम् (चि जि-यत्) यद्वा चि नि में अन्तिम इकार के कारण अन्त हाने से यत् हो सकता है किन्तु एयम् अन्त्यम् (ईङ्, अधि इङ्-यत्) यद्वा ईङ् और इङ् के केवल एक अक्षरूप हाने से नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हा जाता है ।

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधो वक्तव्यः । नद्यास्तरौ नदीतरः ।

घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः ।

अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः । घसंज्ञा कस्मान्न भवति । तरव-  
ग्रहणं ह्यौपदेशिकम् । औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणम् । न चैव उपदेशे  
तरप् शब्दः ।

तरप् तमप् की घसंज्ञा में नदीतर शब्द के तर की भी घसंज्ञा प्राप्त होती है उस का निषेध कहना चाहिये । नद्यास्तरः नदीतरः । यहाँ तृ धातु से कर्ताभिन्न कारक में ऋदोरप् से अप् प्रत्यय हो कर तर बनता है । यह अप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध को मिला कर तरप् प्रत्यय के समान रूप वाला तरप् हो जाता है । तरप् प्रत्यय जैसे पकार अनुबन्ध के हट जाने पर तर होता है उसके समान यह भी तर है । इस की भी घसंज्ञा प्राप्त होनी चाहिये ।

नदीतर शब्द में घसंज्ञा का निषेध कहना व्यर्थ है । घसंज्ञा क्यों नहीं होती ? उपदेशावस्था में जो तरप् है उसका घसंज्ञा में ग्रहण है । नदीतर में तरप् उपदेशावस्था में नहीं । औपदेशिक का अर्थ उपदेशावस्था में होने वाला है । उपदेशावस्था में तो अप् है । प्रयोगावस्था में तर है । तरप् कहीं नहीं है । इस लिये इसकी घसंज्ञा नहीं होगी ।

वाले स्वार्थिक प्रत्ययों के प्रकरण में ही तादी घः या पितौ घः ऐसा सूत्र बना कर तरप् तमप् प्रत्ययों की घसंज्ञा सिद्ध हो सकती थी । फिर भी जो उस प्रकरण से हटा कर यदी संज्ञा प्रकरण में तरप् तमप् की घसंज्ञा की है वह इस बात की सूचक है कि अतिशय अर्थरहित केवच स्वार्थ में भी तरप् तमप् प्रत्यय होते हैं । उससे अल्पाक्षरम्, श्रेष्ठतमः यदा स्वार्थ में तरप् तमप् सिद्ध हो जाते हैं ।

१. यदि यह कहो कि तमप् प्रत्यय के साहचर्य से तर भी प्रत्यय ही लिया जायगा यह तर प्रत्यय है नहीं इस लिये इसकी घसंज्ञा न होगी तो यह बात भी नहीं बनती । क्योंकि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह जो साहचर्य नियम है वह अनिन्य होने से सर्वत्र नहीं लगता । उस की अनिन्यता में द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्धे इस सूत्र का कृत्वोर्धग्रहण ही जानक है । वहाँ कृत्वोर्धग्रहण इस लिये किया है कि चतुर् शब्द में कृत्वसुत्रार्थं सुच् प्रत्यय के विसर्ग को पत्व हो । शब्द चतुर् के रेफजन्य विसर्ग को न हो । यदि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह नियम निय होता तो द्वि त्रि शब्दों के विसर्ग के साहचर्य से चतुर् का विसर्ग भी सुच् प्रत्यय का ही लिया जायगा तो उम के लिये किया गया कृत्वोर्धग्रहण व्यर्थ है । द्वि त्रि का विसर्ग तो सर्वथा सुच् का ही समान है । चतुर् में संदेह है वह उन दोनों के साहचर्य से हट जाता । उस अवस्था में कृत्वोर्धग्रहण व्यर्थ हो कर साहचर्य नियम की अनित्यता का ज्ञातक है ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ।

इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धरुग्रहणेषु रूपमार्थीयते । यत्रास्येतद् रूपमिति । रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम् । तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते । कोऽसौ । उपदेशो नाम । न चैव उपदेशे तरप् शब्दः । अथवास्त्वस्य घसज्ञा । को दोषः ? घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत । समानाधिकरणेषु घादिषु इत्येव तत् । यदा तर्हि

क्या यह बात कहनी होगी कि आज्ञाच्चारणरूप उपदेशावस्था में तरप् की घसज्ञा होती है ।

कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

यहां व्याकरण शास्त्र में सभी अनुबन्धयुक्त शब्दों में पहले उसके साभावुच्चारित रूप का ग्रहण किया जाता है । असली रूप का निश्चय लौकिक प्रयोग के बिना होता नहीं । लौकिक प्रयोग में अनुबन्धों के दृष्ट जाने से अनुबन्धसहित का प्रयोग नहीं जाता । उस अवस्था में दूसरा जो शास्त्रीय प्रयोग है उसका आश्रयण किया जाता है । वह क्या है ? शास्त्रिय उपदेश । उस शास्त्रीय उपदेश में नदीतर का तर शब्द तरप् नहीं बनता । भयवा नदीतर के तर की घसज्ञा हो भी जावे तो क्या दोष है । आप कहेंगे कि धरूपकल्पनेल्ल० सूत्र से नदीसंज्ञक नदी शब्द के ईकार की ह्रस्व प्राप्त होता है तो वह कोई दोष नहीं । समानाधिकरण अर्थात् प्रकृत्यर्थ के समान अभिधेय वाले घ रूप, कण्पादि के परे होने पर ह्रस्व होता है । नदीतर में घर्था समान होने से व्यधिकरण तर शब्द है । यदि कही जब नहीं चासी तर नदीतर, इस प्रकार कर्मधारय समास मान कर नदी रूप तर ऐसा अर्थ विवक्षित होगा तब समानाधिकरण तर शब्द होने पर ह्रस्व प्राप्त होता है तो भा दोष नहीं । क्योंकि स्त्रीलिङ्ग धरूप कल्यादि के परे होने

१ अतिशयन अर्थ में विहित प्रत्यय तरप् आदि स्वार्थिक हैं । अतिशयन प्रकृत्यर्थ का विशेषण है । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिहित (कहे हुए) अर्थ के स्रोतक होते हैं । समानाधिकरण=प्रहात के समान विषय वाला ।

सैव नदी स एव तरस्तदा प्राप्नोति । स्त्रीलिङ्गेषु घादिषु इत्येव तत् । अवश्य चेतदेवं विश्लेष्यम् । समानाधिकरणेषु घादिषु इत्युच्यमान इह प्रसज्येत—महिषीरूपमिष । ब्राह्मणीरूपमिवेति ।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१॥२२॥

सख्यासज्ञाया सख्याग्रहणम् ।

संख्यासज्ञायां सख्याग्रहणं कर्तव्यम् । बहुगणवतुडतयः सख्या संज्ञा भवन्ति । संख्या च सख्या सज्ञा भवतीति धक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

सख्या सप्रत्ययार्थम् ।

एकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु सख्येत्येषु संप्रत्ययो यथा स्यात् । ननु चैकादिका संख्या लोक संख्येति प्रतीता तेनास्याः

पर ह्रस्व होता है । नदीतर में स्त्रीलिङ्ग तर शब्द नहीं है । इस लिये ह्रस्व नहीं होगा । स्त्रीलिङ्ग घ रूप आदि पर होने पर ही ह्रस्व मानना भी चाहिये । यदि केवल समानाधिकरण घ रूप आदि पर होने पर ह्रस्व मानें तो महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव यद्वा भी ह्रस्व प्राप्त होगा । यहाँ रूप शब्द महिषी का समानाधिकरण है । महिषी इव रूपम् ब्राह्मणी इव रूपम् (=आवृत्ति) इस अर्थ में महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव सिंहीरूपमिव ऐसा मैत्रायणी संहिता (३,८,५) आदि में प्रयोग आता है । वहाँ सुर् सुया समास मान कर रूप शब्द पर रहते महिषी आदि नदी सज्ञक शब्दों को ह्रस्व प्राप्त होता है । रूप शब्द यद्वा महिषी आदि का समानाधिकरण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग नहीं है इस लिये ह्रस्व नहीं होता ।

बहुगण वतु डति की संख्या संज्ञा में एक द्वि आदि सरया शब्दों की भी सख्यासज्ञा कइनी चाहिये । क्या प्रयोजन है ? सख्या स्थलों में बहु गण आदि की तरह एक द्वि आदि में भी सख्या सज्ञा हो कर सख्यासज्ञोक्त कार्य हो सकें । एक द्वि आदि तो स्वयमेव लोक में सख्या शब्द से प्रसिद्ध हैं इस लिये सरयासज्ञा के बिना भी सख्यास्थलों में उन में सरयासज्ञोक्त कार्य हो जायेंगे । तो भी उन के सख्या सज्ञा करनी ही चाहिये । क्योंकि बिना संख्या संज्ञा किये सख्या स्थलों में

१. यदि अप्रत्यय तर और तम की घ सज्ञा होगी तो उनके साहचर्य में पडे हुए अप्रत्यय रूप आदि का भी ह्रस्व विध में ग्रहण हो जायगा ।



संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके ।

अक्रियमाणे हि संख्याग्रहणे एकादिकायाः संख्यायाः संख्येत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् । किं कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । यद्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा । 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति' । यथा लोके । गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः ।

यदि तर्हि कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य' इत्यत्रापि प्रसज्येत ।

पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति ।

तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गायमुने इति ।

एक द्वि आदि को संख्या नहीं समझा जायगा । एक द्वि आदि के अकृत्रिम होने से नवनिर्मित इस संख्यासंज्ञा द्वारा विहित न होने से संख्या प्रदेशों में उन का ग्रहण न होगा । बहु गण आदि की तो संख्या संज्ञा कृत्रिम है । नूतन विहित है । एक द्वि आदि की अकृत्रिम है । कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिम कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस न्यायमूलक परिभाषा के अनुसार कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों के कार्यविचार में कृत्रिम में ही कार्य किया जाता है । जैसे लोक में गोपालक को लाओ कटजक को लाओ ऐसा कहने पर जिस को गोपालक कटजक ये संज्ञायें हैं, नाम हैं वही लाया जाता है न कि जो कोई भी गौशो को पालता है या कटे में उत्पन्न हुआ है वह लाया जाता है । कृत्रिम=कृतिनिश्चय, नवनिर्मित । अकृत्रिम=कृत्रिम से निश्च, स्वतःसिद्ध ।

यदि कृत्रिमाकृत्रिमयोः० इस परिभाषा को मानते हैं तो नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः यहाँ भी नदी शब्द से यूज्यारयी नदी इस कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण प्राप्त होता है । नदी शब्द का नहीं ।

पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों के ग्रहणसामर्थ्य से यहाँ नदी में कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण नहीं होगा । अन्यथा पौर्णमासी और आग्रहायणी भी यूज्यारयी ईकारान्त शब्द होने से नदी से ही गृहीत हो जाते ।

नदीपौर्णमास्या० सूत्र में नदी शब्द से कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण न होने पर भी नदीविशेषवाची गङ्गा यमुना शब्दों का ग्रहण प्राप्त होकर उन से परे समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

भवति । साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति ।

यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्य-  
सम्प्रत्ययो भवति एवमिहापि प्राप्नोति । जानाति ह्यसौ बह्वादीनामियं  
संज्ञा कृतेति ।

न यथा लोके तथा व्याकरणे । उभयगतिः पुनरिह भवति ।  
अन्यत्रापि नावश्यमिहेव । तद्यथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मति' कृत्रिमा कर्म  
संज्ञा । कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति । 'कर्मणि द्वितीये' ति कृत्रिमस्य  
ग्रहणम् । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यत्राकृत्रिमस्य । तथा 'साधकतमं  
करणमि'ति कृत्रिमा करणसंज्ञा । करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति ।  
'कर्तृकरणयोस्तृतीयेति' कृत्रिमस्य ग्रहणम् । 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व-  
मेघभ्यः करणे' इत्यत्राकृत्रिमस्य । तथा 'आधारोऽधिकरणमिति'

( गगाला है ) अथवा कट में उरपन्न हुआ है उन्हें लाना है । उभयगति =  
दुविधा में पड़ना या दोनों प्रकार का काम होना । अपनी समझ में शक्तिया तौर  
पर वह हाथ में लाठी रखने वाले गगाले के पास ही जायगा । उसे ही बुला कर  
लायेगा । साधीयः=शक्तिया तौर पर, निश्चित ही । उसे आप द्वारा रखे हुए उसके  
गोपालक इस नाम का पुरुष उसे अविदित है बिना प्रकरण के वह गोपालक  
कटजक को नाम विशेष नहीं समझ सकता । यौगिक शब्द ही समझेगा ।

जिस प्रकार किसी विशेष सामर्थ्य अथवा प्रकरण से लोक में कृत्रिमाकृत्रिम  
न्याय की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार यहाँ शास्त्र में भी प्राप्त होती है । क्योंकि  
यह अध्येता जानता है कि विशेष प्रयोजन के लिये बहुवचनवृत्ति की संख्या  
संज्ञा की गई है । इस लिये उर्द्धों को संख्या समझेगा । एक द्वि आदि को नहीं ।

जैसा लोक में व्यवहार देखते हैं व्याकरणशास्त्र में सर्वथा वैसा व्यवहार  
नहीं होता । यहाँ तो दोनों प्रकार का बोध होता है । कृत्रिम भी गृहीत होता  
है अकृत्रिम भी । केवल इस संख्या संज्ञा में ही नहीं, अन्यत्र स्थलों में भी  
कहीं कृत्रिम कहीं अकृत्रिम का ग्रहण होता है । जैसे कर्तुरीप्सिततमं कर्म इस सूत्र  
से विदित कर्मसंज्ञा स्वनिमित्त होने से कृत्रिम है । किन्तु कर्म के स्थलों में कृत्रिम  
और अकृत्रिम दोनों प्रकार के कर्म लिये जाते हैं । कर्मणि द्वितीया में कृत्रिम  
कर्म संज्ञा ली गई है । कर्तरि कर्मव्यतिहारे में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया या काम  
होने से अकृत्रिम का ग्रहण है । साधकतमं करणम् में कृत्रिम करण संज्ञा है । किन्तु  
करणस्थलों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के करण लिये जाते हैं । कर्तृकरणयो-  
स्तृतीया में कृत्रिम करण संज्ञा है । शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघभ्यः करणे में करण

कृत्रिमा अधिकरणसंज्ञा । अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति ।  
'सप्तम्यधिकरणे'ति कृत्रिमस्य ग्रहणम् । 'विप्रतिपिद्धं चानधिकरणवाची'  
त्यत्राकृत्रिमस्य ।

अथवा नेदं संज्ञाकरणं तद्वदतिदेशोऽयम् । बहुगणवतुडतयः  
संख्यावद् भवन्तीति ।

स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः ।

न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते ?

अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते । तद्यथा एष ब्रह्मदत्तः ।  
अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदर्यं भवतीति । एवमिहापि  
असत्यां संख्येत्याह । संख्यावदिति गम्यते ।

का अर्थ करना होने से अकृत्रिम का ग्रहण है । आपारोऽधिकरणम् में कृत्रिम  
अधिकरण संज्ञा है । किन्तु अधिकरण स्वर्गों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के  
अधिकरण लिये जाते हैं । सप्तम्यधिकरणे च में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा ली गई है ।  
विप्रतिपिद्धं चानधिकरणवाचि में अधिकरण का अर्थ द्रव्य होने से अकृत्रिम का  
ग्रहण है ।

अथवा यह संख्यासंज्ञा सूत्र न मान कर संख्या का अतिदेशसूत्र मान  
लिया जायगा । एक के तुल्य दूसरे को मान कर उसमें वैसा व्यवहार अतिदेश  
होता है । अतिदेश मानने पर अर्थ होगा—बहुगणवतुडति ये संख्यावत् समझे  
जाते हैं । जैसे एक द्वि आदि संख्या प्रसिद्ध हैं वैसे बहु गण आदि भी संख्या माने  
जाते हैं । तद्वदतिदेश=संख्या के समान व्यवहार मानना ।

अतिदेश सूत्र मानने पर संख्यावत् इस प्रकार वति प्रत्यय का निर्देश  
करना होगा ?

वति प्रत्यय के निर्देश की आवश्यकता नहीं ।

वति प्रत्यय के निर्देश बिना तो अतिदेश नहीं समझा जायगा ?

वति निर्देश के बिना भी अतिदेश समझ लिया जायगा । जैसे ब्रह्मदत्त-  
भिन्न को कोई कहे कि यह ब्रह्मदत्त है तो उससे इन समझ लेते हैं कि वह  
ब्रह्मदत्त के समान है । इसी प्रकार यहाँ संख्याभिन्न बहुगणवतुडत को संख्या  
कहने से वे संख्या के समान समझे जायेंगे । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात  
का ज्ञापक है कि एक द्वि आदि को संख्यासंज्ञाकार्य होते हैं । संख्याया  
अतिशयान्तायाः कन् सूत्र से कन् विधान में अतिशयान्तायाः कइ कर जो ति और

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्या-  
प्रदेशेषु संप्रत्यय इति । यद्यं 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति  
तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । न हि कृत्रिमा  
त्यन्ता शदन्ता वा संख्यास्ति ।

ननु चेयमस्ति डतिः ।

यत्तर्हि शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति । यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं  
शास्ति । ननु चाक्तं उत्पद्यमेतत् स्यात् । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्येति  
अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणं, न च एतेस्तिशब्दोऽर्थवान् ।

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः ।  
कुत एतत् । लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे

शब्द प्रत्ययान्त संख्या का निषेध किया है उससे यह बात सिद्ध होती है ।  
कैसे ? बहुगणवत्तुइति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में कोई भी ति और शब्द  
प्रत्ययान्त नहीं है जिसके लिये कन् प्रत्यय का निषेध करना चरितार्थ हो सके ।  
एक द्वि आदि में तो सप्ततिः पञ्चाशत् इत्यादि हैं जिनके लिये कन् प्रत्यय का  
निषेध करना चरितार्थ हो सकता है । उससे एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा  
सिद्ध हो जाती है ।

बहुगणवत्तुइति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में भी डति यह तिशदन्त है ।  
उसमें कन् को रोकने के लिये ति शब्दान्त का निषेध चरितार्थ हो सकता है ।

तो भी शब्द प्रत्ययान्त का निषेध तो व्यर्थ हो कर ज्ञापक ही है ।  
वस्तुतः ति प्रत्ययान्त का निषेध भी व्यर्थ हो कर ज्ञापक है । यह जो डति  
के लिये ति शब्दान्त के निषेध को चरितार्थ कहा है वह ठीक नहीं । अर्थवद्ग्रहणे  
नानर्थक्यस्य इस परिभाषा के अनुसार अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण  
नहीं होगा । अतिशदन्तायाः इस निषेध में ति शब्द अर्थवान् लिया गया है ।  
डति का ति शब्द अर्थवान् नहीं है । डति इस समुदाय के अर्थवान् होने पर भी  
उसका अवयव ति शब्द सर्वथा अनर्थक है । इस लिये ति के निषेध में  
डति नहीं लिया जायगा । हाँ, सप्तति का ति शब्द तो ति प्रत्यय रूप होने  
से अर्थवान् है वह ले लिया जायगा । उसके निषेध से मालूम होता है कि  
कर्म सप्तति भी संख्या है । अथवा संख्या यह बहुत अक्षरों वाली यड़ी संज्ञा  
होने से अकृत्रिम संज्ञा वह होती है जिसे छोटी और कोई चीज़ न हो ।  
करणस्थलो में कृत्रिम ६ अक्षर वाली छोटी से छोटी संज्ञा होनी चाहिये ।  
तीसरी में कृत्रिम करणप्र बोध के लिये संज्ञा की जाती है । वहाँ यड़ी संज्ञा

एतत् प्रयोजनम् अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । संख्यायते अनयेति संख्या । एकादिकया चापि संख्यायते ।

उत्तरार्थेन चापि नार्थः संख्याग्रहणेन । इदं प्रकृतमुत्तरानुवर्तिष्यते ।

इदं चै संज्ञार्थमुत्तरत्र च सञ्ज्ञिप्रशेषणेनार्थः । न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति । न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति । नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ।

यत्तावदुच्यते न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति । अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते । ताभ्यश्च

करने का यह प्रयोजन होगा कि वह अन्वर्थ संज्ञा मानी जाय । अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार नाम वाली हो । संख्या का अर्थ है जिस से गिना जाय । एक द्वि आदि स भी गिना जाता है इस लिये ये भी संख्या हो जायगी ।

प्याता पद इस उत्तर सूत्र के लिये भी संख्याग्रहण की आवश्यकता नहीं । बहुगणवृत्तिति का संज्ञा शब्द ही उत्तर सूत्र के लिये भी अनुवृत्त हो जायगा ।

यह संख्या शब्द तो यहाँ संज्ञार्थ है । और प्यान्ता पद इस उत्तरसूत्र में प्यान्ता इस संज्ञा का विशेषण बनाना अभीष्ट है । संज्ञा के लिये प्रयुक्त संख्या शब्द अनुवृत्त हो कर संज्ञा का विशेषण कैसे हो सकता है । अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता । और न ही अन्य शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य हो सकता है । गोह सर्पण करती हुई सर्पण मात्र से सर्प नहीं हो सकती ।

यह जो कहा कि अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता सो कोई बात नहीं । अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त वस्तु भी उस से अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है । जैसे खत में धानादि को सींचने के लिये

१ संख्या के अन्वर्थ संज्ञा होने पर एक द्वि आदि तो संख्या मान लिये जायेंगे किन्तु लक्ष्यानुवाय स बहुगणवृत्तिति से अतिरिक्त भूरि प्रभूत बहुल आदि संख्या नहीं होंगे । जैसे सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थ होने पर भी सर्व विद्व आदि गणपठित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होते हैं । सक्त्त वृत्त्न आदि सब के नाम होते हुए भी सर्वनाम नहीं कहते हैं ।

पानीयं पीयते। उपस्पृश्यते च। शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति। भवेद् द्रव्येष्वेतदेव स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेपेणाभिसवध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति।

अथवा सापेक्षोऽयं षणान्ता इति निर्देशः क्रियते। न चान्यत् किञ्चिदपेक्ष्यमस्ति। तेन सख्यामेवापेक्षिष्यामहे।

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्।

अध्यर्धग्रहणं च कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थम्। समासविध्यर्थम्। कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अध्यर्धशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्। अध्यर्धकम्।

लुकि चाग्रहणम्।

नहरे बनाई जाती हैं। साथ ही उन से पानी भी पिया जाता है। उन में स्नान भी किया जाता है और धान भी उत्पन्न किये जाते हैं। और यह जो कहा कि अन्य शब्द अनुवृत्तिमात्र से अन्य नहीं हो सकता। गाह सर्पणमात्र से सर्प नहीं बन सकती सो यह बात द्रव्यों में तो ठीक है। गोह तो सांर नहीं बन सकती, किन्तु शब्द तो जिस २ विशेष (=परिच्छेद्य) के साथ जुडता है उस २ का परिच्छेदक हो जाता है। यहा सज्ञा सूत्र में पढा हुआ सरया शब्द सज्ञा वाचक है। वही षणान्ता षट् में षणान्ता इस सज्ञी के साथ जुड कर उस का विशेषण बन जायगा। अथवा षणान्ता यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश सापेक्ष है। किसी की अपेक्षा रखता है। और कुछ अपेक्ष्य है नहीं तो हम विना अनुवृत्ति के भी निकट लगती हुई सरया की ही अपेक्षा करेंगे। षणान्ता सख्या। पकारान्त नकारान्त जो सरया उस की षट् सज्ञा होती है।

सख्यासज्ञा में अध्यर्ध शब्द का ग्रहण भी करना चाहिये। किस लिये? समासविधि और कन्विधि के लिये। समासविधि के लिये जैसे—अध्यर्धशूर्पम् यहा अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम् इस अर्थ में शूर्पादनन्यतरस्याम् से तद्धित अञ् या ट् प्रत्यय होता है। अध्यर्ध शब्द की सरयासज्ञा हो जाने से तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च सूत्र से सरयावाची अध्यर्ध शब्द का शूर्प शब्द से तद्धितार्थ में तत्पुरतः समास हो कर अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसज्ञायाम् से अञ्, ट् का लुक् हो जाता है। कन्विधि के लिये जैसे—अध्यर्धकम्। यहाँ अध्यर्धेन क्रीतम् इस अर्थ में अध्यर्ध शब्द की सख्या सज्ञा हो जाने से संख्याया अतिशदन्ताया षट् से

लुकि चाध्यर्थग्रहणं न कर्तव्यं भवति । 'अध्यर्थपूर्वद्विगोलुंगसंज्ञायामिति' । द्विगोरित्येव सिद्धम् ।

अर्थपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्त ।

अर्थपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समासकन्विध्यर्थमेव । समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च । समासविध्यर्थं तावत् । अर्थपञ्चमशूर्पम् । कन्विध्यर्थम् । अर्थपञ्चमकम् ।

अधिकग्रहणं चालुके समासोत्तरपदवृद्धयर्थम् ।

अधिकग्रहणं चालुकि कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समासोत्तरपदवृद्धयर्थम् । समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्धयर्थं च । समासविध्यर्थं तावत् ।

तद्वित कन् प्रत्यय हो जाता है । अध्यर्थ शब्द की संख्यासंज्ञा कहने से अर्थपूर्व द्विगो० इस आर्हीय तद्वित प्रत्यय का लुक् करने वाले सूत्र में अध्यर्थ शब्द का ग्रहण भी न करना पड़ेगा यह लाघव होगा । क्योंकि अध्यर्थ की संख्यासंज्ञा हो जाने से सख्यापूर्वो द्विगु इस सूत्र से अव्यर्थशूर्पम् यह द्विगुसमास हो जायगा तो द्विगोर् लुगमज्ञायाम् इतने से ही तद्वित का लुक् सिद्ध हो जायगा ।<sup>१</sup>

अर्थ शब्द है पूर्वपद में जिसके ऐसे पूरणार्थक प्रत्ययान्त शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये । किस लिये ? समासविधि और कन्विधि के लिये । समासविधि के लिये जैसे—अर्थपञ्चमशूर्पम् । यहाँ अर्थपञ्चम अर्थपञ्चम । अर्थपञ्चमेन शूर्पेण कीतम् इस अर्थ में शूर्पादन्यतरस्याम् से तद्वित अञ् या ठञ् प्रत्यय होता है । पञ्चम शब्द पूरणप्रत्ययान्त है । उसके पूर्व में अर्थ शब्द है । अर्थपञ्चम शब्द की संख्यासंज्ञा होने से उसका शूर्प शब्द के साथ तद्वितार्थोत्तरपद० से द्विगु समास हो कर अव्यर्थपूर्वाद्विगो० से अञ् ठञ् का लुक् सिद्ध हो जाता है । कन्विधि के लिये जैसे—अर्थपञ्चमकम् । यहाँ अर्थपञ्चमेन कीतम् इस अर्थ में अर्थपञ्चम की संख्यासंज्ञा होने से सख्याया अतिशदन्ताया कन् से कन् प्रत्यय होता है ।

अधिक शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये । किस लिये ? समास विधि और उत्तरपदवृद्धि के लिये । समासविधि और उत्तरपदवृद्धि दोनों का

१ अव्यर्थ शब्द आधे से अधिक का वाचक है । अर्थेन अधिक अव्यर्थ । एक पूरा और आधा अधिक अर्थात् डेड । यह पूरी सख्या न होने से सख्या संज्ञक नहीं हो सकता था इस लिये इसकी संख्यासंज्ञा की गई है ।

अधिकपाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः । उत्तरपदवृद्धयर्थम् । अधिकपाष्टिकः ।  
अधिकसाप्ततिकः । अलुकीति किमर्थम् । अधिकपाष्टिकः । अधिक-  
साप्ततिकः ।

बहुव्रीहौ चाग्रहणम् ।

बहुव्रीहौ चाधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति । 'सख्ययाव्यया  
सन्नादूराधिकसख्या सख्येये' इति सप्त्येत्येव सिद्धम् ।

एक ही उदाहरण है—अधिकपाष्टिक । अधिकसाप्ततिक । यदा अधिकया पद्या  
सप्तया वा क्रीत इति अर्थ में प्राग्वतेऽन् से आर्हीय ट् प्रत्यय हुआ । अधिक  
शब्द की सख्यासज्ञा होने से उसका पष्टि सप्तति शब्द के साथ तादृतार्थोत्तरपद  
समाहारे च से द्विगुसमास सिद्ध हो जाता है । साथ ही सख्याया सवत्सरसख्यस्य  
च से उत्तरपदवृद्धि भी सिद्ध हो जाती है । अलुकि कहने से तद्वित का लुक्  
करने में अधिक शब्द की सख्यासज्ञा नहीं होती इस लिये अन्वर्थपूर्वद्विगो० से  
ट् का लुक् नहीं हुआ ।<sup>१</sup>

अधिक शब्द की सख्यासज्ञा करने का यह लाभ भी है कि सख्यायाव्यया-  
सन्नादूराधिकसख्या सख्येये इस बहुव्रीहि समास के सूत्र में अधिक शब्द का  
ग्रहण नहीं करना पड़ेगा । अधिका विंशतिर्येषां ते अधिकविंशा । यदा अधिक शब्द  
की सख्यासज्ञा होने से सूत्र में सख्या ग्रहण से ही बहुव्रीहि समास हो  
जायगा ।

१ यद्यपि आर्हीय अर्थों में उत्तरपदवृद्धयर्थ अधिक शब्द की सख्या सज्ञा  
कहने से लुक् की निवृत्त स्वयमेव हो जायगी क्योंकि तद्वित का लुक् हो जाने पर  
उत्तरपदवृद्धि प्राप्त ही नहीं इस लिये अधिकग्रहण चालुकि० इस उक्त वार्तिक में  
अलुकि कहना व्यर्थ सा प्रतीत होता है तो भी वह व्यर्थ नहीं है । कुछ आर्हीय अर्थों  
तथा उनसे परे दूसरे प्राग्वतीय अर्थों में जहाँ अन्वर्थपूर्वद्विगोलुगसशायाम् यह  
सूत्र नहीं लगता जैसे—अधिका पष्टि परिमाणस्य अधिकपाष्टिक यदा तदस्य  
परिमाणम् में सोऽस्याशरस्नभृतय से सोऽस्य की अनुवृत्त आने पर जो पुन तदस्य  
इस समर्थविभक्ति का निर्देश किया है उसके सामर्थ्य से आर्हीय ट् का लुक्  
निषिद्ध हो जाता है वहाँ अधिक शब्द की यदि सख्या सज्ञा नहीं की जायगी तो  
सख्याया सवत्सरसख्यस्य च से उत्तरपदवृद्धि न हो सगगी । अलुकि कहने से वेयत् लुक्  
करने में ही सख्या सज्ञा का निषेध है । अन्यत्र सर्वत्र उत्तरपदवृद्धियों में सख्या  
सज्ञा हो जायगी । इसी लिये अधिक सवत्सरमधीष्टो भूतो भूतो वा अधिसवत्सरिक



बद्धादीनामग्रहणम् ।

बद्धादीनां ग्रहणं शक्यमकर्तुम् ।

केनेदानीं संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति ।

ज्ञापकात् सिद्धम् ।

ज्ञापकं किम् ? यद्यं 'वतोरिड् वे'ति संख्याया विहितस्य कनो वत्वन्तादिदं शास्ति ।

वतोरेव तज्ज्ञापकं स्यात् ।

नेत्याह । योगोपेक्षं ज्ञापकम् ।

षणान्ता पद् ॥११॥२४॥

पद्संज्ञायामुपदेशवचनम् ।

पद्संज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम् । उपदेशे पकारानकारान्ता संख्या

बहुगणवतु इति इन सयक्ती संख्यासंज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

बहुगण आदि में संख्यासंज्ञोक्त कार्य कैसे होंगे ?

ज्ञापक से सिद्ध हो जायेंगे । क्या ज्ञापक है ? वतोरिड् वा ( ५।१।२३ ) सूत्र से जो वतु प्रत्ययान्त से विहित कन् प्रत्यय को इडागमविकल्प कहा है उसी से वतु की संख्यासंज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

वह तो केवल वतु का ही ज्ञापक हुआ ।

नहीं । वतु के द्वारा बहु गण आदि सभी का ज्ञापक हो जाता है । योगोपेक्षं ज्ञापकम् । सूत्रोपेक्षं ज्ञापकं माना जायगा । वतु जिसमें पड़ा है वह सब सूत्र ही संख्यासंज्ञक होता है यह वतु के उपलक्षण से जाना जायगा ।

पकारान्त नकारान्त की पद्संज्ञा में उपदेश ग्रहण करना चाहिये । उपदेश यहाँ रान्यइ. संवत्सराच्च से पक्ष में प्राग्वर्तीय ठन् होता है । वह आर्होय मे परे है वहा लुक् न होने से उत्तरपदवृद्धि हो जाती है ।

१. तान्यै यह है कि बहुपूगणसेषस्य त्रिषुक् इस सूत्र में बहु गण को वनोरिषुक् से वतु की और पदकारितिकतिवचतुरां धुक से इति की संख्या संज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्योंकि ये सब संख्यासंज्ञोक्त कार्य हैं । इन लिये बहुगण आदि चारों की संख्या संज्ञा अन्यथा सिद्ध हो जाने से बहुगणवतुइति संख्या सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार भाग्यवर्तिकारों ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

पट्संज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । शताद्यष्टनोनुम्नुडर्थम् । शतानि सहस्राणि नुमि कृते ष्णान्ता पडिति पट्संज्ञा प्राप्नोति । उपदेशग्रहणान्त भवति । अष्टानामित्यत्रात्वे कृते पट्संज्ञा न प्राप्नोति । उपदेशग्रहणाद् भवति ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । इह तावत् शतानि सहस्राणीति 'संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विद्यानस्ये'ति । अष्टनोऽप्युक्तम् । किमुक्तम् । 'अष्टनो

में जो पकारान्त नकारान्त संख्या उसकी पट्संज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । किस लिये ? शत और अष्टन् शब्दों में नुम् और नुट् होने पर इष्ट रूप की सिद्धि के लिये । शतानि सहस्राणि यहाँ शत सहस्र शब्दों से नपुंसक में जस् शस् परे रहते जस् शस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो कर नपुंसकस्य शलचः से नुम् का भागम होता है । नुम् होने पर शतन् सहस्रन् ये नकारान्त संख्या हो जाती हैं । ष्णान्ता पट् से इनकी पट्संज्ञा हो कर पट्भ्यो लृक् से जस् शस् का लृक् नहीं होगा । क्योंकि शतन् सहस्रन् ये उपदेशावस्था में नान्त नहीं हैं । अष्टानाम् यहाँ अष्टन् शब्द से पञ्चिबहुवचन भाम् परे होने पर अष्टन आ विभक्तौ से नकार को आकार होता है । आकार हो कर नान्त न रहने से पट्संज्ञा न होगी तो पट्चतुर्भ्यदव से नुट् नहीं प्राप्त होता । उपदेश ग्रहण करने से आत्व करने पर भी पट्संज्ञा बनी रहेगी तो नुट् सिद्ध हो जाता है । क्योंकि अष्टन् उपदेशावस्था में नान्त है ।

शत और अष्टन् शब्दों में जो दोष कहा है उसका समाधान कह चुके हैं । शतानि सहस्राणि में तो संनिपातलक्षण परिभाषा से दोष न होगा । संनिपातलक्षण परिभाषा का विचार कई जगह पहले भी आ चुका है । उसका अर्थ है— जो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को मष्ट करने वाले का निमित्त नहीं होता । यहाँ शतानि सहस्राणि में जिस सर्वनामस्थानसंज्ञक जस् शस् की शि को मान कर नपुंसकस्य शलचः से नुम् हुआ है वह नुम् पट्संज्ञा द्वारा पट्भ्यो लृक् की प्रवृत्ति से शि का विघात नहीं कर सकता । अर्थात् शि लृक् नहीं होगा । अष्टन् में भी कहा है । क्या ? अष्टनोदीर्घात् में जो दीर्घग्रहण किया है वह इस बात का शापक है कि आत्व करने पर भी अष्टन् की पट्संज्ञा बनी रहती है । अष्टनोदीर्घात् सूत्र में दीर्घग्रहण इस लिये किया है कि अष्टानु यहाँ आत्व हो कर दीर्घ बने अष्टन् से परे सुप् विभक्ति को उदात्त हो जावे । दीर्घभिन्न अष्टानु यहाँ न हो । यदि आत्व करने पर अष्टन् शब्द की पट्संज्ञा

दीर्घग्रहणं पदसंज्ञाशापकमाकारान्तस्य नुडर्धमि'ति ।

अथवाऽऽकारोप्यत्र निर्दिश्यते पकारान्ता नकारान्ता आकारान्ता च संख्या पदसंज्ञा भवतीति ।

इहापि तर्हि प्राप्नोति सधमादो घुन्न एकास्ताः । एका इति ।

नैप दोषः । एकशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव संख्यापरः । तद्यथा एको द्वौ बहव इति । अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—एकान्नयः । एकहलानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति । असहायैरित्यर्थः । अस्त्यन्यार्थे वर्तते ।

न होती तो अष्टासु के पदसंज्ञक न होने वहाँ शन्युपोत्तमम् से पदसंज्ञक अष्टन् को कहा हुआ उपोत्तम स्वर प्राप्त ही न होगा । केवल अष्टसु इस पदसंज्ञक में ही उपोत्तमस्वर हो कर अष्टसु यह मध्योदात्त बन जायगा । अष्टासु में अष्टन् इतने सूत्र से सुप् विभक्ति का स्वर हो कर अष्टासु यह अन्तोदात्त बन जायगा । इस प्रकार दीर्घग्रहण के बिना भी दोनो इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे । व्यर्थ हुआ दीर्घग्रहण यह सूचित करता है कि अष्टासु वहाँ आत्व होने पर भी पदसंज्ञा होती है तो अष्टसु के समान अष्टासु भी पदसंज्ञक हो जायगा । तब अष्टन् यह इतना सूत्र शन्युपोत्तमम् का अपवाद होने से उसको बाध लेगा तो दोनो जगह अन्तोदात्त प्राप्त होगा उसको रोकने के लिये दीर्घग्रहण करना आवश्यक हो जाता है । दीर्घग्रहण करने पर अष्टासु में ही अन्तोदात्त होगा । अष्टसु में शन्युपोत्तमम् से मध्योदात्त रहेगा जो कि इष्ट है ।

अथवा ष्णान्ता इस शब्द में आकार का भी प्रश्लिष्ट निर्देश समझना चाहिये । ष् आ अन्ता=ष्णान्ता । पकारान्त नकारान्त और आकारान्त संख्या की पदसंज्ञा होती है । उससे अष्टानाम् में आत्व होने पर भी पदसंज्ञा हो जायगी ।

यदि ष्णान्ता में आकार का भी निर्देश है तो सधमादो घुन्न एकास्ता इस वेदमन्त्र के एका शब्द में स्त्रीलिङ्ग टाप् प्रत्यय हो कर आकारान्त होने से पदसंज्ञा प्राप्त होती है । पदसंज्ञा हो कर जस का लृक् होना चाहिये ।

यह कोई दोष नहीं । एक शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं । एक तो संख्या । जैसे—एक द्वौ बहव । यहाँ एक दो बहुत आदि संख्या अर्थ हैं । दूसरा असहाय, अकेला । जैसे—एकान्नय । एकहलानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् । यहाँ अकेली अग्नि वाले, अकेले हल वाले लोग, अकेले क्षुद्रक लोगो ने जीत लिया । इन सब में एक शब्द का सहायपरहित अर्थ है । तीसरा—अन्य या दूसरा ।

तद्यथा-प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेकेति । अन्येत्यर्थः । सधमादो घुम्न एकास्ताः ।  
अन्या इत्यर्थः । तद्योऽन्यार्थं वर्तते तस्यैव प्रयोगः ।

इह तर्हि प्राप्नोति द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या चेति ।

एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते । 'अष्टाभ्य औश्' । ततः  
'पद्भ्यः' । पद्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योपि तद् भवति । ततो 'लुक्' ।  
लुक् च भवति । पद्भ्य इति ।

अथवा उपरिष्ठाद् योगविभागः करिष्यते । 'अष्टन आ विभक्तौ' ।  
ततो 'रायः' । रायश्च विभक्तावाकारादेशो भवति । हलीत्युभयोः शेषः ।

जैसे—प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका । एक प्रजा की रक्षा करता है दूसरा अन्न बल की ।  
यहाँ एक शब्द का अन्य अर्थ है । सधमादो घुम्न एकास्ताः यहाँ भी एक शब्द  
का अन्य अर्थ है । सख्या नहीं है । इस लिये आकारान्त होने पर भी संख्या न  
होने से पदसंज्ञा नहीं होगी ।

तो फिर द्वाभ्यामिष्टये० यहाँ द्वाभ्याम् इस आकारान्त संख्या शब्द की  
पदसंज्ञा प्राप्त होती है । एक्या च दशभिश्च स्वभूते० इस वेदमन्त्र में स्त्रीलिङ्ग  
नियुत् शब्द का विशेषण होने से द्वाभ्याम् यह स्त्रीलिङ्ग का टावन्त रूप है ।  
यहाँ पदसंज्ञा होने से पट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः से विभक्तिस्वर प्राप्त होता है ।

अच्छा तो सप्तमाध्याय में योगविभाग करेंगे । अष्टाभ्य औश् इस सूत्र के  
बाद पद्भ्य इतना सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा—जो पदसंज्ञक से कार्य  
कहे हैं वे आठवाले अष्टन् शब्द से भी हो जाते हैं । तो अष्टानाम् में पट्चतुर्भ्यश्च  
से जुट् हो जायगा । उस के बाद लुक् यह सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा पद-  
संज्ञक से परे जस् शस् का लुक् होता है । तो अष्ट २ यहाँ जस् शस् का लुक् भी  
सिद्ध हो जायगा ।

अथवा उसी सप्तमाध्याय में आगे चल कर योगविभागे करेंगे । अष्टन  
आ विभक्तौ । इस के बाद राय इतना सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा—रै शब्द  
को विभक्ति परे रहते आठवा होता है (फिर हलि यह सूत्र बनायेंगे जो अष्टन आ विभक्तौ  
और राय दोनों का शेष होगा । अर्थात् दोनों आठवा करने वाले सूत्र हलादि विभक्ति  
परे होने पर आठवा करेंगे । अष्टानाम् में जुट् होने के बाद हलादि विभक्ति घटती  
है इस लिये यहाँ आठवा से पहले नकारान्त अवस्था में ही पट्चतुर्भ्यश्च से आम् को  
जुट् हो जायगा । उस के परे होने पर फिर आठवा हो जायगा ।

१. जस् शस् में तो हलादि न होने पर भी अष्टाभ्य औश् इस आय निर्देश

यद्येवं प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः इति न सिध्यति । प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः  
इति प्राप्नोति ।

यथालक्षणमप्रयुक्ते ।

यदि अष्टन आ विभक्तौ से विधीयमान आत्व हलादि विभक्ति परे होने पर ही होता है तब तो प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः यहाँ अज्ञादि औ जस् परे रहते आत्व नहीं प्राप्त होता । प्रिया अष्टौ यस्य स प्रियाष्टा । प्रथमा के एकवचन में नाम्त की उपधा को दीर्घ हो कर राणा की तरह बन गया । फिर औ जस् परे रहते उन के हलादि न होने से आत्व न होगा तो नाम्त की उपधा को दीर्घ हो कर प्रियाष्टाना प्रियाष्टान. यही रूप बनेंगे । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा. ये नहीं बन सकेंगे । ये तो आत्व होने पर ही बन सकत हैं ।

जो अप्रयुक्त शब्द हैं उन में यथालक्षण कार्य समझना चाहिये । जैसा सूत्र कहे वैसा रूप बनाइये । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा. में हलादि न होने से आत्व की प्राप्ति नहीं होती है तो आत्व न कीजिये । प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान यही रूप इष्ट बना लीजिये । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा अनिष्ट समझिये । लक्षणमनतिक्रम्य यथालक्षणम् । शिष्ट प्रयुक्त शब्दों का ही यह शास्त्र अन्वाह्यान करता है । शिष्टाप्रयुक्त अथवा स्वमनीषिको-त्प्रेक्षित अनर्गल शब्दों का अन्वाह्यान नहीं करता है । तात्पर्य यह है कि लोक में अप्रयुक्त शब्दों का यदि प्रयोग अभीष्ट भी हो तो वह लक्षणानुसार होना चाहिये । लक्षणविरुद्ध प्रयोग नहीं होना चाहिये । अथवा अप्रयुक्त शब्दों का अप्रयोग ही युक्तियुक्त है । लक्षण द्वारा उन के नूतन निर्माण की चेष्टा ही नहीं करनी चाहिये । इस प्रकार यथालक्षणप्रयुक्त इस भाव्य वचन के दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं ।

के सामर्थ्य से आन्व माना जायगा । आन्वनिर्देश का गही प्रयोजन है कि जहाँ आन्व हो वहीं औश् हो । यदि यह प्रयोजन न हो तो लाघव के लिये आचार्य अष्टम्य औश् ऐसा कहते ।

१ अष्टम्य औश् से विहित जो जस् के स्थान में औश् हो वह भी जहाँ अष्टन् अर्थ की प्रधानता है वहीं आन्व का अनुमान करायेंगा । क्योंकि अष्टम्य यह बहुवचननिर्देश अष्टन् अर्थ की प्रधानता को सूचित करता है । प्रियाष्टा में अष्टन् अर्थ की प्रधानता नहीं है । यहाँ अष्टन् अर्थ गौण है । अन्य पदार्थ ही प्रधान है । इस लिये उस में शान्त ने भी आव का अनुमान नहीं हो सकता । अष्टन आ विभक्तौ सूत्र में अष्टन इस एक वचन के निर्देश ने गौण अर्थ अष्टन् शब्द में भी उसका प्रज्ञात होता है । पदादाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस परिभाषा के अनुसार अष्टन् शब्दान्त

डति च ॥११॥२५॥

इद् डतिग्रहणं द्विः क्रियते सख्यासज्ञाया पद्सज्ञायां च । एक शक्यमकर्तुम् । कथम् । यदि तावत् संख्यासज्ञाया क्रियते पद्सज्ञायां न करिष्यत । कथम् 'ष्णान्ता पडित्यत्र डतीत्यनुवर्तिष्यते । अथ पद् सज्ञाया क्रियते सख्यासज्ञायां न करिष्यते । डति चेत्यत्र सख्या सज्ञाप्यनुवर्तिष्यते ।

क्तक्तत्तू निष्ठा ॥११॥२६॥

निष्ठासज्ञाया समानशब्दप्रतिषेध ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दाना प्रतिषेधो वक्तव्य । लोतो गर्त इति ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दाप्रतिषेध ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दानामप्रतिषेध । अनर्थक प्रतिषेध अप्रतिषेध । निष्ठासज्ञा कस्मान्न भवति । अनुबन्धोऽन्यत्त्वर । अनुबन्ध क्रियते सोऽन्यत्त्व करिष्यति ।

यद् डति ग्रहण दो बार किया गया है । एक तो बहुगणवतुडति सत्या इस सख्यासज्ञा सूत्र में । और दूसरा डति च इस पद्सज्ञा सूत्र में । इन दोनों में से कोई एक हटाया जा सकता है । कैसे ? यदि बहुगण० में डति रखते हैं तो डति च इस सूत्र वाला डति हट सकता है । ष्णान्ता पद् में पूरे सूत्र से डति की अनुवृत्ति भी कर लेंगे तो अर्थ होगा—यकारान्त नकारान्त सख्या क साथ सख्यासज्ञक तद्धित डति प्रत्यय की भी पद्सज्ञा होती है । और यदि डति च इस पद्सज्ञा में डति रखते हैं तो बहुगण० वाला डति हट सकता है । डति च में सख्या सज्ञा की अनुवृत्ति करके डत्यन्त जो सख्या उसकी पद्सज्ञा मानेंगे तो डति की सख्यासज्ञा स्वतः सिद्ध हो जायगी ।

क्त क्तवतु की निष्ठा सज्ञा में क्त क्तवतु के समान शब्दों की निष्ठा सज्ञा का निषेध कहना चाहिये । जैसे— लोत । गर्त । यद्वा लू और गू धातुओं से औणादिक क्त प्रत्यय हाकर लोत गर्त ये रूप बनते हैं । लोत यह द्रव्यवाची शब्द है । इस का अर्थ मप=माडा है । गर्त भी द्रव्यवाची है । इस का अर्थ गडा है । कृत गत चित स्तुन इन क्रिया शब्दों में स्थित त शब्द के समान यद्वा त शब्द होने से इस की भी निष्ठा सज्ञा प्राप्त होती है ।

निष्ठासज्ञा में समान शब्दों के निषेध की आवश्यकता नहीं । निष्ठा सज्ञा

प्रियाष्टन् शब्द में भी भष्टन भा० यह आव अज्ञाधिनाराय होने से प्राप्त होता है । यह ह्यादि कइने पर औ जस् परे रहते प्रियाष्टौ प्रियाष्टा यहाँ नहीं प्राप्त हो सकता ।

अनुबन्धोऽन्यत्त्वर इति चेन्न लोपात् ।

अनुबन्धोऽन्यत्त्वर इति चेत् तन्न । किं कारणम् । लोपात् । लुप्यतेऽत्रानुबन्धः । लुप्तेऽत्रानुबन्धे नान्यत्त्वं भवति । तद्यथा कतरद् देवदत्तस्य गृहम् । अदो यत्रासौ काक इति । उत्पतिते काके नष्टे तद् गृहं भवति । एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति ।

यद्यपि लुप्यते जानाति त्वसौ सानुबन्धकस्येयं संज्ञा कृतेति । तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् । अदो यत्रासौ काक इति । उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवति । अन्ततस्तमुद्देशं जानातीति ।

सिद्धविपर्यासश्च ।

सिद्धश्च विपर्यासः । यद्यपि जानाति संदेहस्तु तस्य भवति ।

क्यों नहीं होती ? निष्ठासंज्ञा वाले कृत्वतु प्रत्ययो में ककार अनुबन्ध लगाया है वह लोत. गर्त. के अनुबन्धरहित त शब्द की अपने से भिन्नता करके निष्ठा संज्ञा न होने देगा ।

ककार अनुबन्ध विद्यमान हो तो अन्यता (=भेद) करे । वह तो लुप्त हो चुका है । उस के लुप्त हो जाने पर दोनों त शब्द बराबर हैं । इस लिये दोनों की निष्ठासंज्ञा प्राप्त है । अनुबन्ध के लुप्त होने पर दोनों में भिन्नता नहीं रहती । जैसे किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कौन सा है ? दूसरे ने उत्तर दिया जहाँ वह कौवा बैठा है वह देवदत्त का घर है । कौवे के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का पता नहीं लगता । वह घर ही समझ नहीं पड़ता । इसी प्रकार यहाँ क प्रत्यय का ककार अनुबन्ध लुप्त हो जाने पर क प्रत्यय समझ नहीं पड़ता । क और त दोनों बराबर हो जाते हैं ।

यद्यपि ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर क नहीं रहता वह त हो जाता है फिर भी मध्येता यह तो जानता ही है कि यह पहले ककार अनुबन्धसहित क था इस की निष्ठा संज्ञा की गई है । जैसे अन्यत्र लोक में भी देवदत्त का घर कौन सा है ऐसा पूछने पर जहाँ वह कौवा बैठा है यह उत्तर दिया जाता है । यहाँ कौवे के उड़ जाने पर यद्यपि घर का पता नहीं रहता फिर भी आखिरकार वह उस ऊँचे स्थान को जानता ही है कि यहाँ कौवा बैठा था ।

इस में विपर्यासै=सन्देह तो बना रहता है । यद्यपि वह जानता है कि

१. विपर्यास का प्रायः 'अत्रात्मक निरवयव' अर्थ होता है, महाँ संशय अर्थ है ।

अयं स तदशब्दो लोतो गतं इति । अयं स तदशब्दो लूनो गीर्णं इति । तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् । अदो यत्रासौ धरु इति । उत्पतिते फाके यद्यपि तमुद्देशं जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति इदं तद् गृहमिदं तद् गृहमिति ।

एवं तर्हि ।

कारककालविशेषात् सिद्धम् ।

कारककालविशेषाद्युपादेयौ । भूते यस्तदशब्दः कर्मणि कतरि मावे चेति । तद्यथा इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारि भवति सोऽधुवेण निमित्तेन भुवं निमित्तमुपादत्ते वेदिकां पुण्डरीकं वा ।

एवमपि प्राकीर्णं इत्यत्रापि प्राप्नोति ।

यह त शब्द है जिस की निष्ठा संज्ञा की गई है तो भी दो त शब्द देख कर उसे सन्देह तो होता ही है कि क्या लूनः गीर्णः वाला त शब्द निष्ठा संज्ञक है या लोनः गतं वाला । लून. गीर्ण. में लृ. गृ. धातुओं से ऋ प्रत्यय हो कर उसे त्वादिभ्यः से निष्ठानत्व हो गया है । जैसे अन्यत्र भी 'देवदत्त का घर कौन सा है' इस प्रश्न का 'जहां वह कौवा बैठा है' यह उत्तर मिलने पर जब कौवा उड़ जाता है तब यद्यपि वह उस स्थान को मूलतः जानता है कि यहाँ कौवा कौवा बैठा था फिर भी उसे यह सन्देह तो होता ही है—यह वह देवदत्त का घर है जिस पर कौवा बैठा था या वह है ।

अच्छा तो निष्ठासंज्ञा में कारकविशेष और कालविशेष का उपादान करेंगे । भूतकाल में तथा कर्ता कर्म एवं भाववाच्य में जो त शब्द है उस की निष्ठा संज्ञा होती है ऐसा कहेंगे । उस से लोनः गतं में त शब्द की निष्ठा संज्ञा नहीं होगी । क्योंकि वह भूतकाल में नहीं हुआ है । जैसे अन्यत्र लोक में भी जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक काम करने वाला या अपनी ममत्त से काम लेने वाला होता है वह देवदत्त के घर पर बैठे हुए कौवे रूप अधुव निमित्त को जो कि कौवे के उड़ जाने पर स्थिर नहीं रहेगा, उस के द्वारा घर में स्थित वेदी या पुण्डरीक रूप भुव निमित्त को अपनी पहचान के लिये ग्रहण कर लेता है । वह जानता है कि कौवा तो उड़ भी सकता है उस के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का पता नहीं रहेगा इस लिये उस अस्थिर कौवे के बैठने पर ध्यान न दे कर वह उस घर में स्थित कौवे से सम्बद्ध स्थिर विद्यमान वेदी या कमल के निशान को पहचान के लिये सुदिरघ्य कर लेता है । निमित्त=निशान । अधुव=अस्थिर । पुण्डरीक=कमल ।

कारक काल विशेष का उपादान करने पर भी प्राकीर्णं ( प्र कृ तिष्-उद्-व )



लुङि सिजादिदर्शनात् ।

लुङि सिजादिदर्शनात् भविष्यति ।

यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते प्राभिचेति ।

दृश्यन्तेऽत्रापि सिजादयः ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गस्यते ?

यथेयायमनुपदिष्टान् कारककालविशेषानवगच्छति । एतमेतदप्यवगन्तुमर्हति यत्र सिजादयो नेति ।

यहा त शब्द को निष्ठा सज्ञा प्राप्त हाती है । यह लुङ् एकार का त शब्द भूतकाल में हुआ है ।

प्राक् ईस लुङ् एकार के त शब्द में सिच आदि विकरण भी दीखते हैं इस लिये इस की निष्ठा सज्ञा नहीं होगी । यहा कृ धातु से सीधा परे त शब्द नहीं है । बीच में सिच आदि का व्यवधान है ।

जहा सिच आदि का व्यवधान नहीं दीखता है वहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा प्राप्त होती है । जैसे प्राभित् ( प्रभिद् सिच् लुङ् त ) यहाँ झलो झलि से सिच् का छाप हो जाने पर भिद् से सीधा परे त शब्द है ।

प्राभित्त में भी सिच् आदि दीखते हैं ।

क्या यह बात कहनी होगी ?

नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

निस प्रकार यह कथ्येता कारक काल विशेषों को बिना कहे समझ लेता है उसी प्रकार यह बात भा बिना कहे समझ जायगा कि जहा सिजादि नहीं दीखते वहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा होगी । प्राभित्त में जब कर्ता कारक तथा भूतकाल की स्थिति को वह जानता है तो उस के साथ होने वाले सिच् आदि को भी कथ्येता ही जानता है । इस लिये यहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा नहीं होगी ।

## षष्ठ आह्निक में प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इम आह्निक में सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१११२७॥

इम सूत्र से ले कर नवेति विभाषा ॥१११४४॥

इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है।  
क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१११२७॥

(क) सर्वादि शब्द में तद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि समास मान कर सर्व शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध की है।

(ख) सर्वनाम शब्द में निपातन से णत्व का अभाव प्रतिपादन करते हुए बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति यह परिभाषा स्वीकार की है।

(ग) संज्ञोपसर्जनप्रतिषेध इम वार्तिक के प्रयोजन बता कर नानाविध युक्तियों में उसका खण्डन किया है।

(घ) अक्त् के लिये उभ शब्द की सर्वनाम संज्ञा का खण्डन कर के भवतु शब्द की सर्वनाम संज्ञा के प्रयोजन बताया है।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१११२८॥

दिक्, समासे, बहुव्रीहौ इन सबका पददृश्य दिखा कर बहुव्रीहिप्रश्न का उत्तरसूत्रार्थ विशेष प्रयोजन बताया है।

न बहुव्रीहौ ॥१११२९॥

(क) सूत्र के कई उदाहरण दे कर उसकी प्रयोजनवत्ता मानते हुए भी भाष्यकार ने अपनी तर्क से सूत्र का खण्डन कर दिया है।

(ख) आद्यो भूतपूर्व आद्यपूर्वः आद्यपूर्वाय यहाँ सर्वनाम संज्ञा के निषेध के लिये विशेष वचन का खण्डन भी किया है।

श्रीपासमासे ॥१११३०॥

समासप्रश्न का द्विविध प्रयोजन बताया है।

विभाषा जसि ॥१११३२॥

केवल जस् वा कार्य जो शोभाव है उसक करने में ही सर्वनाम संज्ञा का विवक्ष्य माना है।

पूर्वपरारदक्षिणोत्तरारधराणि भ्यवस्थायामसंज्ञापाम् ॥१११३४॥

गणपाठ से सिद्ध होने पर भी सूत्र का प्रयोजन केवल जस् में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प सिद्ध किया है ।

स्वमज्ञातिधनाट्यापाम् ॥१११३५॥

आख्याग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

अन्तरं बहियोगोपसंव्यानयोः ॥१११३६॥

उपसंव्यान ग्रहण का खण्डन करके अपुरि तथा तीयस्य द्वित्सु वा इन दो वार्तिकों का प्रयोजन बताया है ।

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१११३७॥

चादिगण से पृथक् स्वरादिगण का तथा निपातसंज्ञा से पृथक् अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सिद्ध किया है ।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१११३८॥

(क) अतर्वविभक्ति के स्थान में अविभक्ति अथवा अलिङ्गम्, असंप्ल्यम् इन न्यासों का खण्डन मण्डन करके अन्ततः कुछ निश्चित तद्धित प्रत्ययों का पाठ ही अव्ययसंज्ञा के लिये सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है ।

(ख) अव्यय की अन्वर्थसंज्ञा मान कर अत्युच्चै, अन्युच्चैसौ, अन्युच्चैस में अव्ययसंज्ञा का अभाव सिद्ध किया है ।

कृन्मेजन्तः ॥१११३९॥

(क) कृन् जो मकारान्त अथवा इदन्त जो मकारान्त दोनों की अव्ययसंज्ञा स्वीकार करके कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृति अनन्यप्रकृतिरिति वा । इन दोनों वार्तिकों का सनिपातपरिभाषा द्वारा खण्डन किया है ।

(ख) सनिपात परिभाषा के प्रयोजन तथा दोष भी बताये हैं । अन्त में अपरिहार्य रूप से सनिपात परिभाषा को स्वीकार किया है ।

अव्ययीभावश्च ॥१११४१॥

अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा करने के परिगणित प्रयोजन बता कर उनकी अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

शि सर्वनामस्थानम्, सुडनपुंसकस्य ॥१११४२-४३॥

अनपुंसकस्य को प्रसज्यप्रतिषेध मानने में प्राप्त दो दोष दिखाये हैं । एक तो कुण्डानि यहाँ नपुंसक के जस् में सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है । दूसरा नपुंसकस्य न भवति इस अर्थ में अनपुंसकस्य यह अतमर्थसमास है । अन्त में दोनों

दोषों का समाधान करके प्रसज्यप्रतिषेधपक्ष को भी स्वीकार किया है। अर्ह्यपर्या, अथाद्धभोजी आदि कुछ असमर्थ समासों के उदाहरण भी दिखाये हैं।

नवेति विभाषा ॥११११४५॥

(क) इतिकरणद्वारा नवा शब्द के वजाय नवा शब्द के अर्थ जो निषेध और विकल्प हैं उनकी विभाषासंज्ञा सिद्ध की है।

(ख) नवा कुण्डिका, नवा घटिका आदि में नवा के समान शब्दों की विभाषा संज्ञा का निषेध सिद्ध किया है।

(ग) नवा यह निषेधवाची एक शब्द न मान कर निषेध तथा विकल्पवाची न और वा ये दो शब्द माने हैं। उससे प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त तीनों प्रकार की विभाषाओं में पहले निषेध की प्रवृत्ति हो कर फिर विकल्प की प्रवृत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है।

(घ) विभाषा शब्द का सम्बन्ध शब्दसाधुत्व के साथ न मान कर सूत्रविहित कार्य के साथ माना है। साथ ही अनित्यशब्दवाद का खण्डन भी किया है।

(ङ) अन्त में लोकशास्त्र व्यवहार से सिद्ध होने पर इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है।

(च) फिर क्रमशः अप्राप्त, प्राप्त तथा उभयत्र तीनों प्रकार की विभाषायें उपलक्षण रूप से दिखाई हैं।



## अथ षष्ठमाह्निकम्

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१॥१॥२७॥

सर्वादीनीति कोऽय समासः ?

बहुव्रीहिरित्याह ।

कोऽस्य विग्रहः ?

सर्वशब्द आदिर्येषां तानीमान्नीति ।

यद्येवं सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् ? अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहेः । बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थं वर्तते । तेन यदन्यत् सर्वशब्दात् तस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति । तद्यथा चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स एवानीयते न गावः ।

नेप दोषः । भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि । तद्यथा

सर्वादिनि इस शब्द में क्या समास है ?

बहुव्रीहि ।

इस का क्या विग्रह है ?

सर्वशब्द आदिर्येषां तानि सर्वादीनि । अर्थात् जिन के आदि में सर्व शब्द है वे सर्वादि कहाते हैं ।

तत्र तो सर्वशब्द की सर्वनामसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्यों ? बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थप्रधान होता है । जिन के आदि में सर्व शब्द है उन की सर्वनामसंज्ञा होगी तो सर्व शब्द से अन्य जो विश्वप्रभृति शब्द हैं उन की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है, सर्व की नहीं । क्योंकि विश्वप्रभृति के आदि में सर्व शब्द है । जैसे—चित्रगु को लाओ ऐसा कहने पर जिस की चित्र विचित्र गौण हैं वह मनुष्य ही लाया जाता है, गौण नहीं ।

यह कोई दोष नहीं । बहुव्रीहि समास में तद्गुणसंविज्ञान भी होता है ।

१. संयोग अथवा समवाय सम्यन्ध होने पर तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि होता है स्वस्वामिभाव सम्यन्ध में अतद्गुणसंविज्ञान । तद् शब्द अन्यपदार्थ का परामर्शक है । गुण=विशेषण, वर्तिपदार्थ रूप अवयव ।

चित्रवाससमानय, लोहितोष्णीया ऋत्विजः प्रचरन्तीति । तद्गुण आनी-  
यते तद्गुणाश्च प्रचरन्तीति ।

इह सर्वनामानीति 'पूर्वपदात् सज्ञायामग' इति णत्वं प्राप्नोति  
तस्य प्रतिपेधो षक्तव्यः ।

सर्वनामसज्ञाया निपातनाण्णत्वाभाव ।

सर्वनामसज्ञायां निपातनाण्णत्वं न भविष्यति ।

किमेतन्निपातन नाम ?

अथ क. प्रतिपेधो नाम ?

अविशेषेण किञ्चिदुक्त्वा विशेषेण नेत्युच्यते । तत्र व्यक्तमाचार्य-  
स्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति ।

तस्य अन्यपदार्थस्य गुणा तद्गुणा, तेषामपि कार्ये सविज्ञान तद्गुणसविज्ञानम् । उस  
अन्यपदार्थ के उपलक्षक तो समासघटक अवयव हैं उन का भी अन्यपदार्थ के साथ  
कार्य में ग्रहण होना तद्गुणसविज्ञान होता है । अवयवार्थविशिष्ट अन्यपदार्थ का  
ग्रहण होना से सर्व शब्द तिन के आदि में है उन के साथ सर्व की भी सर्वनामसज्ञा  
हो जायगी । जैसे—चित्रवाससमानय कहने पर चित्र विशिष्ट करदों वाला मनुष्य  
ही लाया जाता है । नकि कपडे रहित केवल मनुष्य । लोहितोष्णीया ऋत्विज  
प्रचरन्ति कहने पर लाल पगडी वाले (रक्तशिरोवेष्टन सयुक्त) ऋत्विक् अनुष्ठान करते  
हैं न कि पगडी रहित केवल ऋत्विक् ।

सर्वनामानि शब्द में पूर्वपदात्सज्ञायामग सूत्र से णत्व प्राप्त होता है उस  
का निषेध कहना चाहिये । क्योंकि सर्वनाम यह सज्ञा है । सर्वशब्द पूर्वपद में है ।  
उस के रेफ से परे अह् व्यग्रय होने से णत्व प्राप्त है ।

सर्वनाम' (इस) सज्ञा में निपातन से णत्व नहीं होगा ।'

यह निपातन क्या चीज है ?

हम पूछते हैं निषेध क्या चीज है ?

सामान्य रूप से कोई कार्य कइ कर फिर विशेष रूप से 'न' ऐसा करते हैं  
तो वही आचार्य का यह स्वष्ट अभिप्राय होता है कि यह कार्य न हो । विशेष विषय  
में किसी कार्य को रोकने का नाम निषेध है ।

१ लोक में भी णचरहित सर्वनाम शब्द का प्रयोग होता है, अतः इसका  
यहाँ साधुत्व बताया जा रहा है ।

निपातनमप्येवंजातीयकमेव । अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति ।

ननु च निपातनाच्चाणत्वं स्यात्, यथा प्राप्तं च णत्वम् ?

किमन्येऽप्येवंविधयो भवन्ति ? [ यदि भवन्ति तदा ] इको यणचोति यण् स्यात् यथाप्राप्तइचेर् ध्रुयेत ?

नैष दोषः । अस्त्यत्र विशेषः । पष्ठ्यात्र निर्देशः क्रियते । पष्ठी च पुनः स्थानिनं निवर्तयति ।

इह तर्हि कर्तरि शप् द्विवादिभ्यः श्यन् इति वचनाच्च श्यन् स्यात्, यथाप्राप्तइच शप् ध्रुयेत ।

निपातन भी इसी प्रकार का होता है । सामान्यतया णत्व कह कर विशेष रूप से सर्वनाम यह णत्वरहित निपातन किया है जहाँ आचार्य का यह स्पष्ट अभिप्राय विदित (अनुमित) होता है कि यहाँ णत्व नहीं होता ।

सर्वनाम इस निपातन से णत्वं का अभाव रहे पर सामान्यतया प्राप्त णत्व भी हो जाय ऐसा क्यों न माने ?

क्या इस प्रकार कोई और भी कार्य होते हैं ? जहाँ भाव अभाव एवं विधि-निषेध दोनों चलते रहें । यदि ऐसा है तो इका यणचि इस सूत्र के वचन से इक् के स्थान में यण् हो जाय, पर सामान्यतया प्राप्त यण् का अभाव भी रहे तो इक् सुनाई देना चाहिये । ( भाव यह है कि सूत्र यण् साधु है यह कहता है इक् की निवृत्ति नहीं करता ) ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ विशेष बात है । इक् इस पष्ठी रिभक्ति से यहाँ निर्देश किया है । पष्ठी स्थानियोग के नियमानुसार यण् आदेश इक् स्थानों को सर्वथा हटा देगा ।

अच्छा तो यह लीजिये । कर्तरि शप् कह कर फिर दिवादिभ्यः श्यन् कहा है । वहाँ श्यन् के वचन से तो श्यन् दो जाय पर सामान्यतया प्राप्त शप् भी होता रहे ।

१ भाव यह है कि प्रतिशेध का निवृत्ति में तात्पर्य होता है, यह कार्य नहीं होता है इस में अभिप्राय होता है ; निपातन तो उच्चारण रूपविशेष के साधु-न को बतलाता है, रूपान्तर (उस से भिन्न रूप) को हटाता नहीं । यह परस्पर भेद है ।

नैप दोषः । शयादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते ।

तत् तर्हि शपो ग्रहणं कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् ? कर्तरि शप् इति ।

तद्वे प्रथमानिर्दिष्टं, पष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

दिवादिभ्य इत्येपा पञ्चमी शविति प्रथमायाः पष्ठी प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्येति ।

प्रत्ययविधिरयम् । न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिता भवन्ति ।

यह भी दोष नहीं । शप् के स्थान में श्यन् आदि आदेश मान लिये जावेंगे वे स्थानी शप् की निवृत्ति कर देंगे ।

स्थानीनिर्देश के लिये श्यन् आदि में शप् ग्रहण करना होगा ।

नहीं करना होगा । कर्तरि शप् से चले आ रहे शप् की अनुवृत्ति कर लेंगे ।

कर्तरि शप् में तो शप् यह प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है । आपको स्थानी-निर्देश के लिये पष्ठी विभक्ति चाहिये ।

दिवादिभ्य श्यन् में दिवादिभ्यः यह पञ्चमी तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से शप् इस प्रथमा को पष्ठी बना लेगी । अर्थ होगा—दिवादियों से परे शप् के स्थान में श्यन् होता है ।

दिवादिभ्यः श्यन् तो प्रत्यय विधि है । वह श्यन् प्रत्यय का विधान करता है आदेश का नहीं । प्रत्यय विधि में पञ्चमी किसी विभक्ति को तस्मादित्युत्तरस्य

१. श्यन् आदि को शप् के स्थान में आदेश मानने पर भी श्यन् के सिक्करण एवं निक्करण ज्ञापक से शप् का भिन्न स्थानिकद्वारा से श्यन् आदि में नहीं आयेगा तो कर्त्तरि ( कृ-उ-तिप् ) में शप् के स्थान में होने वाला उ प्रचय निरु नहीं होगा उस स उ प्रचय अनुदात्त न हो कर उदात्त ही रहेगा । कुर्यती ( कृ-उ-रु-न्-त् ) में शप् स्थानीय उ प्रचय के शप् न होने से शप्श्यनोर्नित्यम् से गुम् नहीं दगा । रुधादिभ्य इत्तम् शप् के स्थान में होने वाला इत्तम् सिद्धचन्त्यात्पराः के नियम से रुष् के अन्तिम अच् से परे ही जायगा और शप् की निवृत्ति कर देगा । जैसे अस्त्रो रोपधयो रमन्वतरस्याम् से होने वाला रमागम अस्त्र् के अन्तिम अच् से परे होता है और उस के रफ तथा उपधा की निवृत्ति कर देता है । इस प्रकार पष्ठी दोष न आने से श्यन् आदि को शयादेश मानना भी ठीक है ।



नायं प्रत्ययत्रिधिः । त्रिहितः प्रत्ययः । प्रवृत्तश्चानुवर्तते ।

इह तर्हि 'अव्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् ष्टेरि'ति वचनाच्चाकञ् स्यात् । यथा प्राप्तश्च क. श्रूयत ।

नेप दोष. नाप्राप्ते हि केऽकञ्कारभ्यते स बाधको भविष्यति ।

निपातनमप्यवजातीयरूपेव । नाप्राप्ते णत्वे निपातनमारभ्यते तद् बाधक भविष्यति ।

यद् तर्हि निपातनान्यप्येवजातीयकानि भवन्ति समस्तते दोषो भवति । इहान्य वयाकरणा समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते 'समो हितततयो' वंति । सततम् । सततम् । सहितम् । सहितम् । इह पुनर्भवान् निपातनाच्च लोपमिच्छति 'अपरस्पर. क्रियासातत्ये' इति । यथाप्राप्तं चालोपम् । सततमित्येतन्न सिध्यति ।

के नियम से पठाने में बदलने वाली नहीं होती ।

दिवादिभ्य इयन् को प्रत्यय त्रिधि नहीं मानेंगे । प्रत्यय तो वर्तन शप् से विहित है ही । वही शप प्रत्यय अनुवृत्ति से दिवादिभ्य इयन् में चला आ रहा है । तब दिवादिभ्य इयन् का अर्थ होगा—दिवादियों से परे अनुवर्तमान शप् के स्थान में इयन् आदेश होता है ।

अच्छा फिर यह लीजिये । अव्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् ष्टे इस वचन से तो अकञ् हो जाय पर सामान्यतया प्राप्त क प्रत्यय भी होकर सुनाई देता रहे ।

यह भी दोष नहीं । क प्रत्यय की अवश्य प्राप्ति में अपवाद रूप से अकञ् का विधान किया है वह येन नाप्राप्त न्याय से क को बाध लेगा ।

तब तो निपातन भा दत्ती प्रकार का है । णत्व की अवश्य प्राप्ति में ही अपवाद रूप से सर्वनाम यह णत्व का अभाव निपातन किया है वह णत्व को बाध लेगा ।

यदि निपातन भी अपवादरूप से बाधक माने जाते हैं तो सम् से परे तत् शब्द में दोष आता है । यहा कृत् वैयाकरण समो वा हितततया इस वचन द्वारा सम् के मकार का तत् और हित शब्द परे रहते विकृत्प से लोप विधान करते हैं । सततम् । सततम् । सहितम् । सहितम् । इधर आप अपरस्पर क्रियासातत्ये इस सूत्र में सातत्य निपातन से मकार का ल प इष्ट मानते हैं तो सततम् में सामान्यतया प्राप्त लोप का अभाव नहीं सिद्ध होगा । सातत्य यह निपातन बाधक हो जायगा

कतन्वोऽत्र यत्नः । बाधकान्येव हि निपातनानि भवन्ति ।

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः ।

संज्ञोपसर्जनीभूतानां सर्वादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । सर्वो नाम कश्चित् । तस्मै सर्वाय देहि । अतिसर्वाय देहि ।

तो सर्वथा संतत, सातत्य कोई भी रूप न बन सकेगा । केवल संतत या सातत्य ही बनेंगे ।

इस विषय में यत्न करना होगा । लुप्तेदवश्यमः इत्ये० इस श्लोक में कथित समी वा हितततयोः । इस वचन को मानना ही होगा । उसी से संततम्, संततम् ये दो रूप बन जायेंगे, निपातन की जरूरत नहीं । निपातन तो अवश्यमेव बाधक होते हैं ।

किसी की संज्ञा और उपसर्जन अर्थात् सौख्य यत्ने हुए सर्वोद्वियों की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । संज्ञा का अर्थ नाम है । उपसर्जन गौण को कहते हैं । जैसे किसी का नाम सर्व है उसकी चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में सर्वाय देहि यह रूप बनता है । यहाँ सर्वनामसंज्ञा हो जाती तो सर्वनाम्नः स्मै से स्मै हो कर सर्वस्मै ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता । संज्ञा में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से वह न होगा । सर्वमतिक्रान्तः अतिसर्वः । तस्मै अतिसर्वाय देहि । यहाँ अतिसर्व शब्द में प्रादिसमास है अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है । सर्व का अर्थ उपसर्जन है । गौण है । गौण में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से स्मै न होगा ।

१. निपातनों की बाधक मानने पर भी सातत्यम् इस रूप का तो अनभिधान होने से अप्रयोग होगा । संततम् विशेष वचन से बन जायगा । पुराणग्रन्थेषु ब्राह्मण-कल्पेषु में पुराण निपातन से पुरातन शब्द का बाध प्राप्त होना है वह ष्टोदरादि मान कर साधु बना लिया जायगा । पुराण के समान पुरातन शब्द भी स्वीकार्य होगा ।

२. संज्ञा की सर्वनामसंज्ञा का निषेध तो अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है । क्योंकि वा कडारादेका संज्ञा सूत्र के भाष्य में प्रातिपदिक, गुणवचन, समाग, ह्य, तद्धित, अन्यस्य सर्वनाम, असर्वलिङ्गा जाति, एन्द्रव्योमनिदेशिनी संज्ञा ये कुछ संज्ञायें क्रम से बही गई हैं । इनमें परसंज्ञा पूर्वसंज्ञा को बाध देती है । उस अवस्था में परपठित एन्द्रव्योमानवेशिनी संज्ञा द्वारा पूर्वपठित सर्वनाम संज्ञा का स्वयमेव बाध हो जायगा ता संज्ञा के विषय में इस निषेध की आवश्यकता नहीं रहती ।

३. येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र में पठित प्रयोजनं सर्वनामाप्यपसंज्ञायाम् । इस

स कथं कर्तव्यः ?

पाठात् पर्युदास पठिताना संज्ञाकरणम् ।

पाठादेव पर्युदासः कर्तव्यः । शुद्धानां पठितानां संज्ञा कर्तव्या ।  
सर्वादीनि सर्वनामसज्ञानि भवन्ति । सज्ञोपसर्जनीभूतानि न सर्वादीनि ।

किमविशेषेण ?

नेत्याह । विशेषेण च । किं प्रयोजनम् ?

सर्वाधानन्तर्यकार्यार्थम् ।

सर्वादीनामानन्तर्येण यदुच्यते कार्यं तदपि सज्ञोपसर्जनीभूतानां  
मा भूदिति । किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजन इतरादीनामदृङ्भावे ।

इतरादीनामदृङ्भावे प्रयोजनम् । अतिरान्तमिदं ब्राह्मणकुलं

सज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसज्ञा का निषेध किस क्रिया जायगा ?

सर्वादिगण के पाठ से ही सज्ञा और उपसर्जन वाले सर्वादियों को हटा  
दिया जायगा । सज्ञा उपसर्जन रहित कण्ड शुद्ध पठित सर्वादियों की ही सर्वनाम  
सज्ञा की जायगा । सज्ञा और उपसर्जन धन हुए सर्वादि शब्द सर्वादि के  
गणपाठ में न होंगे तो उनकी सर्वनाम सज्ञा नहीं होगी । अर्थात् असज्ञोपसर्जनानि यद्  
सर्वादीनि का विशेषण रहेगा ।

क्या सामान्यरूप से सम्पूर्ण सर्वादिगण के कथित कार्यों में ही सज्ञा और  
उपसर्जन का निषेध होगा ?

नहीं । विशेषरूप से भी कथित सर्वादिगण क (=गणपाठोपलक्षित विशिष्ट)  
कार्यों में सज्ञा और उपसर्जन का निषेध होगा । क्या प्रयोजन है ? सर्वादि के  
अन्तर्गत त्यदादि इतरादि का आनन्तर्य=परत्वा प्रयत्न स नो कार्य विहित हैं उनमें भी  
सज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसज्ञा का निषेध इष्ट है । अदृङ् इतरादिभ्य  
पञ्चम्य से इतरादियों स परे सज्ञा उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्दों की

वचनद्वारा सर्वनामसज्ञा में भी अव्ययसज्ञा क समान तदन्तविधि मानी गई है इस  
लिये परमसर्व की तरह अतिसर्व म भा सर्वनामसज्ञा का प्राप्ति सम्भव है । परमसर्व  
में सर्व शब्द के अर्थ का प्रधानता ज्ञान से वही सर्वनामसज्ञा इष्ट ह । किन्तु अतिसर्व  
में अतकान्त अर्थ की प्रधानता है । सर्व शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस  
लिये अतिसर्व की सर्वनामसज्ञा इष्ट नहीं है उसके लिये यद्वा कहा जा रहा है ।

कतरत् अतिकतरं ब्राह्मणकुलमिति ।

त्यदादिनिधौ च ।

त्यदादिविधौ च प्रयोजनम् । अतिमान्तोय ब्राह्मणस्तम् अतितद् ब्राह्मण इति ।

सज्ञाप्रतिषेधस्तावन्न वक्तव्य । उपरिष्ठाद् योगविभाग कल्प्यते । 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्' । ततो 'ऽसज्ञायाम्' इति । सर्वादीनीत्येव यान्यनुमान्तानि असज्ञाया तानि द्रष्टव्यानि ।

उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्य । अनुपसर्जनादित्येष योग

सर्वनामसज्ञा न होने से सु और क्षम् क स्थान में अद्द आदेश न होना प्रयोजन है । जैसे—अतिमान्तमिद् ब्राह्मणकुलं कतरत्=अतिकतरं ब्राह्मणकुलम् । यहाँ अतिकतरम् इस प्रादिसमास में कतर शब्द उपसर्जन है । अतिमान्त अर्थ मुख्य है । कतर शब्द क उपसर्जन होने से सर्वनाम सज्ञा न होगी तो अद्द आदेश नहीं होगा । त्यदादीनाम से त्यदादि को अत्र कार्य का भी सज्ञा उपसर्जन बन हुए सर्वोदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा न होने से रूक जाना प्रयोजन है । जैसे—अति क्रातोऽथ ब्राह्मणस्तम्=अतितद् ब्राह्मण । यहाँ अतितत् इस प्रादिसमास में तद् शब्द उपसर्जन है । अतिमान्त अर्थ मुख्य है । तद् क उपसर्जन होने से सर्वनाम सज्ञा न होगी तो त्यदादयश्च न होगा ।

सज्ञा की सर्वनामसज्ञा का निषेध कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं । भागे सूत्र में योगविभाग करेंगे । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् यह एक सूत्र बनायेंगे । उस के बाद अज्ञायाम् यह दूसरा सूत्र होगा । उस का अर्थ होगा—सयादीनाम सर्वनामानि स हे कर पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् तक कहे हुए सब सूत्रों के कार्य सज्ञाभिन्न में होत हैं । उस से सज्ञाविषयक सर्वोदियों का सर्वनामसज्ञा न होगी ।

उपसर्जन का निषेध कहने की भी आवश्यकता नहीं । भागे अनुपांश्याय में अनुपसर्जनात् यह सूत्र नि प्रयोजन होने से खण्डित किया गया है । उस से यहाँ

१ यदि कहें कि समाप्रययों में अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान से तदन्तविधि का ज्ञान करने के लिए अनुपसर्जनात् यह सूत्र रह सकता है किमि से कुरचरी (कुर चर-राय) यहाँ टिप्पणतात् कुरचर शब्द के अनुपसर्जन होने से टिप्पण० सूत्र से एव ही जानें कि कुरचरत्तरा नवरा (यद्यपि कुरचरा यस्यां मा मगरी) यहाँ कुरचर के उपसर्जन होने से एव ही हो । अथवा ग्रहणरथा प्रातिपदिकेण तदन्तविधिर्नास्ति एव परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो कर सूत्र में गृह्यमाण प्रातिपदिक से ही प्रत्यय ही

प्रत्याख्यायते तमेवमभिसंभन्त्स्यामः । अनुपसर्जनं अ अदिति । किमिदम्

परिभाषा रूप से प्रयोजन लेंगे । अनुपसर्जनात् यह पञ्चमी न मान कर अनुपसर्जनं अ अत्=अनुपसर्जनात् इस प्रकार पदो का सम्बन्ध समझेंगे । अनुपसर्जनं इस शब्द

सकेगा । टिड्ढाणञ् आदि प्रत्यया में भी प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्त-  
स्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा से अन्यूनानतिरक्त प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा, प्रत्य-  
यान्त जिस के अन्त में है उस का ग्रहण न होगा तो कौम्भकारेय यह रूप नहीं बन  
सकेगा । यहा कुम्भकार्या अपत्यम् इस अर्थ में कुम्भकारी शब्द का अवयव वार शब्द  
अण् प्रत्ययान्त है । उस से टिड्ढाणञ् सूत्र से ङीप् हो कर वारी यह स्त्री प्रत्ययान्त  
हुआ । कुम्भकारी यह समुदाय स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं है । अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्यो ङक्  
से स्त्रीप्रत्ययान्त से होने वाला टक् प्रथम केवल कारी से हो सकेगा । ङक् पर रहते  
कारी ही अङ्ग होगा । आदिवृद्धि भी कारी को ही होगी कुम्भकारी को नहीं, तो कुम्भकारेय.  
ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । इस सूत्र से प्रधान में तदन्तविधि ज्ञापित कर देने पर  
टिड्ढाणञ्० सूत्र अण्णन्तान्त से भी ङीप् कर देगा तो केवल वार स ङीप् न हो कर  
कुम्भकार से भी हो जायगा । तब कुम्भकारी के स्त्रीप्रत्ययान्त हो जाने से ङक् हो जायगा ।  
कुम्भ शब्द को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा । यदि  
कोई कहे कि कौम्भकारेय तो अनुपसर्जनात् सूत्र के बिना भी बन जायगा ।  
क्योंकि कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति इस परिभाषा से कृत् प्रत्यय के ग्रहण  
में कारक पूर्वक का भी ग्रहण होने से कार के साथ कुम्भकार भी अण्णन्त माना जायगा  
उस से ङीप् हो कर कुम्भकारी इस स्त्रीप्रत्ययान्त से ङक् होगा तो कुम्भ को आदि वृद्धि  
हो कर कौम्भकारेय बन जायगा सो ठीक नहीं । कृद्ग्रहण परिभाषा वहा लगती है  
जहा केवल कृत् का ही ग्रहण हो । जहा कृत् अकृत् दोनों का ग्रहण हो वही उक्त  
परिभाषा नहीं लगती । टिड्ढाणञ्० सूत्र में जो अण्यग्रहण है वह केवल कृप्रथम का ही  
नहीं है अपितु तद्धित का भी है इस लिये केवल कृत् का ग्रहण न होने से कृद्ग्रहण  
परिभाषा नहीं लगेगी तो टिड्ढाणञ्० में कुम्भकार यह अण्णन्त न बन सकेगा ।  
अण्णन्त न होने से ङीप् नहीं प्राप्त होगा । उस में तदन्तविधि से ङीप् करने के लिये  
अनुपसर्जनात् सूत्र की आवश्यकता है तो यह बात भी नहीं बनती । अनुपसर्जनात् सूत्र  
की फिर भी आवश्यकता नहीं । स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न इस परिभाषा मे उपसर्जनभिन्न  
स्त्रीप्रत्यय में प्रथमग्रहण परिभाषोक तदादिनियम का निषेध होता है इस लिये कुम्भकार  
में यदि केवल अण्णन्त कार से भी ङीप् हो जाय तो भी ङक् प्रथम तो कुम्भकारी इस  
स्त्रीप्रत्ययान्तभिन्न समुदाय से भी हो जायगा । क्योंकि यह उपसर्जनभिन्न स्त्रीप्रत्यय  
है । उस में तदादिनियम के न होने से स्त्रीप्रथयान्त कारी से अतिरिक्त कुम्भ भी ले लिया  
जायगा तो कुम्भ को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा ।

१ छावापृथिवी छावापृथिव्या १ घृतपती दक्षिमतया उदक्न यी वा । 'वन घृतम्' इत्यद्व-  
नामसु पाठात् । भवत इति शेषः । १ भुवनाना भूतानाम् १ अभिधिया अभिधयणीये भवन इति  
सर्वत्रानुसंधेयम् । १ उर्वी विस्तीर्ण १ पृथ्वी बहुकार्यरूपेण प्रदिते च १ मनुष्ये मधुन उदक्म्य  
१ दोग्ध्या १ सुपेश्या मुरूपे १ वर्णस्य मर्चस्य निवासस्य १ धर्मज्ञा धारणेन १ विष्कभिते पृथग्यारिते  
१ अजरे नित्ये १ भूरिरेतमा बहुरेतस्के बहुकार्ये वा भवत १ । अत्र साक्षात् छावापृथिवी स्तुति प्रमत्ता  
वरणस्येति द्रष्टव्यम् ॥

असंश्रन्ती भूरिधारे पर्यस्वती घृतं दुहाते मुकृते शुचित्रते ।

राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः मिश्रतं यन्मनुहितम् ॥ २ ॥

असंश्रन्ती इति । भूरिधारे इति भूरिधारे । पर्यस्वती इति ।

घृतम् । दुहाते इति । मुकृते । शुचित्रते इति शुचिऽत्रते ।

राजन्ती इति । अस्य । भुवनस्य । रोदसी इति ।

अस्मे इति । रेतः । मिश्रतम् । यत । मनुऽहितम् ॥ २ ॥

१ असंश्रन्ती असंश्रयमाने व्युदम्यन्त्या वा १ भूरिधारे बहुधारे । दिवो वृष्टिधाराः पृथिव्या ऋतु-  
भूतरमधाराः । एतमुभयोरपि बहुधारत्वम् । १ पर्यस्वती उदक्नयती । तथा च यास्क - 'असंश्र-  
यमाने इति वा व्युदम्यन्त्याविति वा बहुधारे उदक्नयती' (नि. ५. २) इति । १ शुचित्रते शुचिक्रिये  
छावापृथिव्या १ मुकृते शोभनकारिणे यजमानाय १ घृत मस्यादिसमृद्धिस्तुमुदक १ दुहाते । अथ  
प्रत्यक्षस्तुति । १ रोदसी हे छावापृथिव्या १ अस्य १ भुवनस्य भूतजातस्य १ राजन्ता ईशाने युवाम् १ अस्मे  
अस्मानु १ रेतः प्रजननसमर्थं वीर्यं १ मिश्रतम् । १ यत् रेतः १ मनुहितं मनुष्येभ्यो हितम् ॥

यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी मतीं ददाश धिपणे स साधति ।

प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विपुरुपाणि सव्रता ॥ ३ ॥

यः । वाम् । ऋजवे । क्रमणाय । रोदसी इति । मतीं । ददाश । धिपणे इति । स । साधति ।

प्र । प्रजाभिः । जायते । धर्मणः । परि । युवोः । सिक्ता । विपुरुपाणि । सव्रता ॥ ३ ॥

१ धिपणे षष्टे सर्वस्य भुवनस्य निवासभूते वा हे १ रोदसी १ वा युवाभ्या १ य १ मतीं मत्यं  
१ ऋजवे १ क्रमणाय युवयो सुपगमनाय १ ददाश हवींषि ददाति १ स मतीं १ साधति १ कामान्  
साधयति । किंच १ प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः १ प्र १ जायते प्रवृद्धो भवति । १ धर्मण कर्मण.  
१ परि उपरि १ युवोः युवयो. १ सिक्ता सिक्तानि रेतसि १ विपुरुपाणि नानावर्णानि १ सव्रता समान  
कर्माणि भूतानि जायन्ते ॥

१. ख-घ-ज्ञ-न-भ-श-अभिधयणीयेन । २. य-धारकेन । ३. य-बहुकार्येति भावः । ४. ख-ज्ञ-न-भ-  
स-बहुधारम् ; श-बहुधारत्वम् । ५. ख-ज्ञ-न-भ- स साधति ।

सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते प्रकृतविभक्तौ तद् भवति ।

यद्येवम् अतितद् अतितद् अतितद्ः । इति अन्नं प्राप्नोति । तच्चापि चकव्यम् ।

न चकव्यम् । इह तावद् इतरादिभ्यः पञ्चम्य' इति पञ्चमी । अङ्ग-  
स्येति पठ्ठी । तत्राशक्यं भिन्नविभक्तित्वात् इतरादिभ्य इति पञ्चम्याऽङ्ग  
विशेषयितुम् । तत्र किमन्यच्छक्य विशेषयितुमन्यदतो विहिताप्रत्ययान् ।  
इतरादिभ्यो यो विहित इति । इहेदानी 'अस्थिदधिसक्यदणामनुदात्त

अङ्गाधिकार में ही जहाँ सप्तमी विभक्ति का निर्देश करके कार्य कहा है' वहाँ यह प्रकृत की विभक्ति में होता है । प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत अधिष्टत जो शङ्क है उस के अर्थ वाली विभक्ति में कार्य होता है । तो प्रयत्नरूप में अन्यपदार्थ विशेष्यरूप ज्ञार्थ-सम्बन्धिनी टा विभक्ति परे होने पर भी अनङ्क हो जायगा । यहाँ गृह्यमाण सक्थि शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं देखी जायगी ।

तब तो अतितद् अतितद्, अतितद्ः यहाँ भक्तिप्रान्तार्थ विहित अङ्ग के अर्थ की प्रधानता में भी त्यदार्थानाम् से अत्र प्राप्त होता है । क्योंकि यहाँ भी विभक्तौ यह सप्तमी निर्देश है । और तमनिक्रान्तः=अतितद् । तमनिक्रान्तः=अतितद् । तमनिक्रान्तः=अतितद् । इस प्रादिसमास में प्रकृत अतितद् इस अङ्ग के अर्थ की प्रधानता है । गृह्यमाण तद् शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है । जहाँ भार अङ्गाधि-कार में गृह्यमाण शब्द के अर्थ की प्रधानता में कार्य होता है ऐसा कहेगे वहाँ सप्तमी निर्देश में अङ्गार्थ की प्रधानता में भी कार्य होता है यह बात भी कहनी होगी । ये दोनों बातें कहने में बहुत गौरव होगा ।

कोई गौरव नहीं होगा । ये दोनों ही बातें नहीं कहेँगे । इतरादभ्यः पञ्चम्य में इतरादिभ्य यह पञ्चमी है । और अङ्गव्य के अधिकार से जाने वाली अङ्गव्य यह पठ्ठी है । दोनों के भिन्न विभक्ति होने से इतरादभ्यः यह पञ्चमी अङ्ग को विशेषित नहीं कर सकती । अर्थात् अङ्ग का विशेषण नहीं बन सकती । वहाँ सिवाय इस के कि इतरादिभ्य इस पञ्चमी को विहित प्रत्यय का विशेषण बनाया जाय और क्वा क्वा क्वा क्वा क्वा है । इतरादिभ्यः इस पञ्चमी का अर्थ होगा— इतरादि से विहित जो सु अम् उन को अङ्क आदत्त दाता है । इतरादि में क्वा

१ अस्थि दधि० इस सूत्र में अनङ्क जाना पूर्वसूत्र में गुरुण कृतं जादित् अङ्गादिषु विभक्तिषु इस सप्तमी निर्देश में उपा है ।

२ तद् शब्द से व्यवहृत गृह्यमाण विभक्ति इस पञ्चमी का परान्तर्ग है अथि शब्द अङ्गविहित सप्तमीनिर्देश० इस वचन का समुच्चारण है ।

इति । 'त्यदादीनामो भवती'ति । अस्थ्यादीनामित्येषा पष्ठी । अङ्गस्ये  
त्यपि त्यदादीनामित्यपि पष्ठी । अङ्गस्येत्यपि । तत्र कामचारः, गृह्यमाणेन  
वा विभक्तिं विशेषयितुमङ्गेन वा । यावता कामचारः, इह तावदस्थि-  
दधिसम्बन्ध्याम्नडुदात्त इत्यङ्गेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः । अस्थ्यादि-  
भिरनन्तम् । अङ्गस्य विभक्तावनङ् भवति अस्थ्यादीनामिति । इहेदानीं  
त्यदादीनामो भवतीति गृह्यमाणेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः । अङ्गना  
कारम् । त्यदादीनां विभक्तावो भवन्ति । अङ्गस्येति ।

से विहित सु अन् नहीं हैं अपि तु अतिक्रम से विहित हैं इस लिये अङ्ग  
नहीं होगा ।'

अस्थि दाध० और त्यदादीनाम. इन दोनों में भी देखिये । अस्थिदधि-  
सम्बन्ध्याम् यह पष्ठी है । अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी पष्ठी है । 'त्यदादीनाम्  
यह पष्ठी है अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी पष्ठी है । दोनों के पञ्चम्य होने  
पर हमारी मर्जी है चाहे हम गृह्यमाण शब्द से विभक्ति को विशेषित करें अर्थात्  
सूत्र में पठित शब्द में विहित विभक्ति में कार्य करें या प्रकृत अङ्ग से विभक्ति को  
विशेषित करें । जो मर्जी है तो हम अस्थिदधि० में अङ्ग से विभक्ति को विशेषित  
करेंगे । अनङ् को अदिः आदि से विशेषित करेंगे । तत्र अङ् होता है—अङ्ग से विहित  
दादि अजादि विभक्ति पर होने पर अस्थ्यादि शब्दों को अनङ् आदेश होता है । तो  
प्रियमकन्ता प्राज्ञेन से सक्रिय शब्द के शीघ्र होने पर भी सक्रिय वाले अङ्ग का अर्थ  
प्रधान होने से अनङ् हो जायगा । अस्थ्यादीनामः यहाँ गृह्यमाण शब्द से विभक्ति  
को विशेषित करेंगे । अङ्ग से अकार को विशेषित करेंगे । तत्र अर्थ होगा—त्यदादि  
शब्दों की (उन से विहित) विभक्ति पर होने पर अङ्ग (त्यदादि) को अ अन्तादेश  
होता है । फलितार्थ होगा—अजादि रूप जो अङ्ग उस को विभक्ति पर होने पर अकार  
होता है । तो अतत्तन् में तद् रूप अङ्ग न होने से अकार नहीं होगा ।<sup>१</sup>

१. जहा डतरादि के अर्थ की प्रधानता है वहां डतरादि से विहित ही प्रत्यय  
माना जायगा तो कतरत् के समान परमकतरत् में भी अङ्ग हो जायगा । अतिक्रमरत्  
में डतर के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस लिये उस से विहित न माना जायगा तो  
अङ्ग नहीं होगा । डतरादिभ्य इत्तन्वर्त्तमा को विहित विशेषण मानने पर अङ्गस्य  
यद् पष्ठी भी पञ्चमी में परिणत हो जायगी तो अर्थ होगा—अङ्गसङ्कटतरादि से  
विहित सु अन् को अङ्ग होना है । ऐसा मानने में कहीं दोष न होगा ।

२. जहा त्यदादि के अर्थ की प्रधानता है वहा तो त्यदादि रूप ही अङ्ग माना  
जायगा तो शोभनः सः=अतिम । न स =अस । न षट्=अषट् । न कतरत्=अकतरत्  
इत्यादि में अकारादि हो जायेंगे । इसी धार को आगे शब्दा समाधान सहित कहेंगे ।



यद्येवम् अतिसः । अत्वं न प्राप्नोति ।

नैप दोषः । त्यदादिप्रधान एष समास ।

अथवा नेदं संज्ञाकरणम् । पाठविशेषणमिदम् । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि । संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽद्यतिष्ठेते ॥

यद्येवं संज्ञाश्रयं यत् कार्यं तन्न सिध्यति । सर्वनाम्नः स्मै । आमि सर्वनाम्नः सुडिति ।

अन्वर्थग्रहणं तत्र विज्ञास्यते । सर्वेषां यन्नाम तत् सर्वनाम । सर्वनाम्न उत्तरस्य डेः स्मै भवति । सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुड् भवति ।

यद्येवं सकलं कृत्स्नं जगदित्यत्रापि प्राप्नोति । एतेषां चापि शब्दानामेकैकस्य स स विषयः । तस्मिंस्तस्मिन् विषये यो यः शब्दो वर्तते तस्य तस्य तस्मिंस्तस्मिन् वर्तमानस्य सर्वनामकार्यं प्राप्नोति ।

यदि त्यदादीनामः सूत्र में गृह्यमाण शब्द त्यद् तद् आदि की विभक्ति परे होने पर अङ्ग त्यद् तद् आदि को अकार अन्तादेश मानते हैं तो शोभनः सः=अति सः यहाँ अत्व नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहाँ पूजावाची अति सहित अतितद् शब्द है । वह गृह्यमाण तद् शब्द नहीं है ।

यद् कोई दोष नहीं । इस अतितद् में गृह्यमाण तद् शब्द का ही अर्थ प्रधान है । त्यदादिप्रधान समास होने से अत्व हो जायगा ।

अथवा सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मान कर सर्वादि के गगनाड का विशेषण मान लेंगे । सर्वेषां नाम सर्वनाम । जो सब के नाम हैं वे सर्वादि समझे जायेंगे । संज्ञा और उपसर्जन तो विशेष में अवस्थित होते हैं वे सब के नाम नहीं होते ।

सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मानने पर सर्वनाम्नः स्मै, आमि सर्वनाम्नः सुड् इत्यादि सर्वनामसंज्ञा से विहित कार्य नहीं सिद्ध होंगे ? क्योंकि सर्वनाम को संज्ञा मानने पर ही सर्वनाम संज्ञा के आश्रित कार्य सिद्ध हो सकते हैं ।

सर्वनाम्नः स्मै आदि में सर्वनाम शब्द अन्वर्थ समझा जायगा । जो सब का नाम है वह सर्वनाम है । उस से परे स्मै आदि होते हैं ऐमा अर्थ करेंगे ।

तब तो सकल, कृत्स्न, जगद् इत्यादि शब्द भी सब के नाम होने से सर्वनाम बन जायेंगे । उन से परे भी स्मै आदि प्राप्त होंगे । न केवल उन्हीं से, बल्कि सर्वादि गगनाडित शब्दों में भी एक २ का जो २ वह २ विषय है । उस २ विषय में वर्तमान जो २ शब्द हैं उन सब को सर्वनाम मान कर सर्वनाम के कार्य प्राप्त होंगे ।

एव तर्ह्युभयमनेन क्रियते । पाठश्चेव विशेष्यते सज्ञा च ।

कथ पुनरेकेन यत्नेनोभय लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह । कथम् । एकशेषनिर्देशात् । एकशेषनिर्देशोऽयम् । सवादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि । सर्वनामानि च सर्वनामानि च सवनामानि । सर्वादीनि सवनामसज्ञानि भवन्ति । सर्वेषा यानि च नामानि तानि सर्वादीनि । सज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेत ।

पैस—सर्वस्मिन् ओदन यहा सर्व शब्द आदन का विगणन है । ओदन विशिष्य है । दोना एक दूसरे स अवगृह्यत (कोडीकृत) हैं । समानाधिकरण हान स सर्व का विषय आदन ह और आदन का विषय सर्व है । तो सर्व की तरह ओदन भी सर्व का नाम हो जाता है । इस लिय आदन में भी सर्वनाम क कार्य प्राप्त हात हैं । इसी प्रकार घट पगादि सब शब्द सब सवादि के अर्थ में वर्तमान होंग सब उन सबकी सर्वनामता प्राप्त होती है ।

अच्छा तो सर्वनाम यह शब्द दोनो काम कर दगा । पाठ और सज्ञा दोनों का विगणन बनगा । सर्वादिगण पाठत शब्द ही सर्वनाम सज्ञक होंगे और सब क नाम ही सर्वादि लिय जायेंग ।<sup>१</sup>

सर्वनाम इस एक शब्द स च दोनों बाँते कैस सिद्ध होंगा ?

सिद्ध ही जायेंगी । कैसे ? सर्वादीनि सर्वनामानि यहा एकशेष का निर्देश मानेंग । सवादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि । सवनामानि च सर्वनामानि च सवनामानि । इस प्रकार दो सवादि और दो सर्वनाम शब्दा में एक सर्वादि और एक सर्वनाम शब्द शेष रह गया है एसा समझेंग ।<sup>२</sup> एक सवादि शब्द गणपाठ का विगणन है । दूसरा सर्वनाम सज्ञा का । व हा सर्वादि हैं जो सर्व विश्व आदि ३५ शब्द गणपाठ में पठित हैं । और उन्हीं को सर्वनाम सज्ञा होती है । इस प्रकार एक सर्वनाम शब्द अन्वर्थ नाम द्वारा सब क नाम का वाचक है । दूसरा सर्वनाम सज्ञा का । सब क नाम है च सर्वादि हैं सज्ञा और उपसर्जन विगण में अवस्थित रहते हैं इस लिये सज्ञा और उपसर्जन बन हुए सवादि शब्दा की सर्वनाम सज्ञा नहीं होंगी ।

१ एतेषा चापि । यह निधारण अर्थ में पठी है । एतद् शब्द सर्वादि का परामर्शक है सकृन् कृन्म आद का नहीं ।

२ अर्थात् जो सर्व विश्व आदि शब्द सब के नाम न होंग उन का सर्वादियों में अन्तर्भाव न होगा ।

३ यद्यपि सहविवक्षाम एकशेष होता है । दो समान अर्थों की एक साथ

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः ।  
 युत एतत् । लघ्यर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे  
 एतत् प्रयोजनम् । अन्यर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । सर्वार्थानि सर्वनाम  
 संज्ञानि भवन्ति । सर्वेषां नामानि इति चातः सर्वनामानि । संज्ञोपसर्जने च  
 विशेषेऽवतिष्ठते ।

अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः ?

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः ।

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः पाठः क्रियते । उभस्यौ ।

किमुच्यतऽकजर्थ इति । न पुनरन्यान्यपि सर्वनामकार्याणि ।

अथवा सर्वनाम वह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की गई है । और संज्ञा  
 जहाँ तक हो उठी स छोटी होनी चाहिये । जिस से छोटी और चीन न हो वह संज्ञा  
 है । क्योंकि लघ्य क लिये संज्ञा की जाती है । वहाँ बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन  
 होगा कि वह अन्यर्थ संज्ञा समझी जाय । सर्वोदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है  
 जो सर्वेषां नाम सर्वनाम इस अर्थ के अनुसार सब का नाम भी जाती है । संज्ञा और  
 उपसर्जन विशेष में अवस्थित होने के कारण सब के नाम नहीं होते इस लिये ये  
 सर्वनामसज्ञा न होंगे ।

उभ शब्द की सर्वनामसज्ञा का क्या प्रयोजन है ?

उभ शब्द की सर्वनामसज्ञा का अक्षर्य होना प्रयोजन है । उभ शब्द को  
 सर्वोदिगत में इस लिये पढ़ा गया है कि उस को सर्वनाम संज्ञा हो कर उभस्यौ  
 (अज्ञानौ उभौ=उभस्यौ) यदा अन्यवर्गनाम्नामन् प्राप्तेः सूत्र से अक्षर्य प्रत्यय  
 हो जाय । अन्यथा स्वामान्य प्राग्विरीय क प्रत्यय प्राप्त होता है ।

केवल अक्षर्य के लिये ही उभ शब्द का सर्वोदि में पाठ क्यों कइते हो ?

योग्ये क इन्द्रा नो महविश ता कृते हे । यदा सर्वोदि और सर्वनाम दोनों में निग २  
 दो अक्षर एव मात्र अवस्थित है इस लिये महविशता के अभाव में एहशेष नहीं प्राप्त  
 होता तो भी एहशेष न तावत् इन्द्र या अ वृत्ति महत्तया चाहिये । दो अक्षरों के बचने  
 को इन्द्रा ने शब्द ता एव वार उच्चारण तत्र है । एक ही सर्वोदि और सर्वनाम  
 शब्द उक्त दो अक्षरों वाक्य उच्चारण किया हुआ समझा जायगा । या सर्वोदि और  
 सर्वनाम शब्द की दो वार आवृत्ति करके उक्त दोनों अर्थ निकाल लिये जायेंगे ।

अन्याभावो द्विवचनटाव् विषयत्वात् ।

अन्येषां सर्वनामकार्याणामभावः । किं कारणम् । द्विवचनटाव्-  
विषयत्वात् । उभशब्दोऽयं द्विवचनटाव् विषयः । अन्यानि च सर्वनाम-  
कार्याणि एकवचनबहुवचनेषूच्यन्ते ।

यदा पुनरयमुभशब्दो द्विवचनटाव् विषयः, क इदानीमस्यान्यत्र  
भवति ?

उभयोऽन्यत्र

उभयशब्दोऽस्यान्यत्र भवति । उभये देवमनुष्पाः । उभयो  
मणिरिति ।

और भी तो बहुत से सर्वनामसज्ञा के कार्य हैं जिन के लिये उन शब्द का सर्वादि  
में पाठ कहा जा सकता है ।

सर्वनामसज्ञा के अन्य कार्यों का उभ शब्द में सम्भव न होने से अभाव है ।  
स्वभावतः उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होता है ।  
स्त्रीलिङ्ग में होने वाला टाप् भी द्विवचन में ही होगा । और सब सर्वनामसज्ञा के  
कार्य एकवचन या बहुवचन में कहे गये हैं । इस लिये उभ शब्द में उन का सम्भव  
नहीं ।

जब उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् विषय में ही प्रयुक्त होता है  
तो अन्य वचनों में इस के स्थान में किस शब्द का प्रयोग होता है ?

अन्य वचनों में उभ शब्द के स्थान में उभय शब्द का प्रयोग होता है ।

१ उभाद्बुदात्तो नित्यम् इस तद्धित वृत्ति वाले षष्ठी विधायक सूत्र में  
निय ग्रहण का यहाँ प्रयोजन है कि वृत्ति में उभय शब्द का ही प्रयोग हो उभ न न  
हो । उभ शब्द का प्रयोग तो द्वयर्थाभिधान सामर्थ्य होने पर वाच्य ही स्थिति में ही  
होगा । वृत्ति में अभेदकत्व सद्यसा का भान होने से द्विवचन का अर्थ नहीं निकल सकता  
अतः वहाँ उभ शब्द का प्रयोग न हो कर उभय का ही प्रयोग होता है । जैसे—उभाभ्यां  
स्नानाभ्याम्=उभयतः । उभयोः स्थानयोः=उभयत्र । ये ही रूप बनेंगे । उभतः,  
उभत्र ये नहीं बनेंगे । ये अशुद्ध हैं । उभौ पुत्रौ यस्य स=उभयपुत्र होगा । उभ-  
पुत्र नहीं । उभावाह्वी इत्यादि तो द्विदण्डादि गण में पठित होने से साधु मान  
लिये जायेंगे । उभशब्दोऽयम् इस प्रयोग में उभ का निर्देश करने के लिये ही अत्र  
नहीं हुआ है । अन्यथा उभयशब्दोऽयम् कहने से उभय शब्द की प्रतीति सम्भव थी ।

किं च स्याद् यद्यथाक्च न स्यात् ?

फ प्रसज्येत ।

एदचेदानीं काकचोर्विशेष ।

'उभशब्दोऽयं द्विवचनटायविषय' इत्युक्तम् । तथाकिंच सति अचस्तन्मध्यपतितत्याच्छभ्यत एतद् वक्तुं द्विवचनपरोऽयमिति । के पुन सति नाय द्विवचनपर स्यात् । तत्र द्विवचनपरता वक्तव्या ।

यथैत्र तर्हि के सति नाय द्विवचनपर । एवमाप्यपि सति नाय द्विवचनपर स्यात् । तथापि द्विवचनपरता वक्तव्या ।

अवचनादापि तपरविज्ञानम् ।

अन्तरेणापि वचनमापि द्विवचनपरोऽय भविष्यति ।

उभय दवननुष्या । उभयो माणं<sup>१</sup> इसी प्रकार एती उभी के स्थान में एतद् उभयम् का प्रयोग हागा ।

क्या हा नायगा यदि उभकी में उभ शब्द स अक्च न हो तो ?

क प्रत्यय प्राप्त हागा ।

क और अवच में क्या भेद है ?

अभी कहा है कि उभ शब्द का केवल द्विवचन और टाय ही प्रयोग का विषय है । यदि उभकी में अच हाता है ता वह उभ का टि से पूर्व हागा । उभ क भकारात्तरवर्ती भकार स पूर्व हान स तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणन गृह्यन इस परिभारा क अनुसार वह उभ क ग्रहण स गृहीत हो नायगा ता उससे पर भी द्विवचन है यह कहा जा सकता है । क प्रत्यय ता प्रत्यय परच के नियम स उभ स पर हागा । उभ क हान पर उभकी में उभ स परे क प्रत्यय का व्यवधान हान क कारण व्यवहित द्विवचन न रहेगा । वहां द्विवचनपरता कहना हागा । उभकी में उभ स पर व्यवहित द्विवचन क साधुरर का विधान करना हागा ।

जैम उभकी में क प्रत्यय का व्यवधान होने से उभ स पर द्विवचन नहीं रहता जैसे उभ (उभ-टाय-भौ शी) यहाँ स्त्राटिङ्ग में टाय करन पर उसक व्यवधान में भी उभ स पर द्विवचन नहीं रहेगा । यहाँ भी किसा प्रकार द्विवचन वा यताना हागा ।

टाय में ता गिना वचन क ही उभ से परे द्विवचन हा जायगा ।

१ पीठलाहिठायुभाववपयी यस्य स उभयो मणि ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

एकादेशे कृते द्विवचनपरोऽयमन्तादिवद्भावेन ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि तुल्यम् ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि अन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति । कथम् । स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति ।

क्या यह बात कइनी होगी ?

नहीं ।

बिना कड़े कैसे समझी जायगी ?

उभ शब्द के अकार के साथ टाप् का सवर्णदीर्घ एकादेश होगा तो अन्तादिवचन से टाप् को पूर्व के प्रति अन्तवत् मान कर उभ से सीधा परे द्विवचन हो जायगा । टाप् प्रत्यय स्वार्थ में होने से उभ शब्द के अर्थ में कोई व्यवधान नहीं डालेगा ।

यदि टाप् में द्विवचन परे हो जायगा तो क प्रत्यय में भी यह बात तुल्य है । वहाँ भी बिना वचन के ही उभ से परे द्विवचन हो जायगा । कैसे ? क प्रत्यय भी स्वार्थिक है । प्रकृति के अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिन्न होते हैं । प्रकृति के ग्रहण से उनका भी ग्रहण हो जाता है । तो उभ के ग्रहण से क प्रत्ययान्त 'उभक' भी गृहीत हो जायगा । तब उससे परे औ यह द्विवचन बन जायगा । ऐसी अवस्था में क और अकच् में कोई भेद नहीं रहता । उसके लिये उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ न्यर्थ है ।'

१ इस प्रकार भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने उक्त प्रश्न का कोई उत्तर न देते हुए उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ व्यर्थ मान कर उसका रण्डन स्वीकार कर लिया है । बात ठीक भी है । उभकौ में क प्रत्यय करें चाहे अकच् करें दोनों में रूप और स्वर का कोई भेद नहीं । क प्रत्यय में प्रत्ययस्वर से और अकच् में चिस्वर से उभकौ यह अन्तोदात्त रहेगा । हा, अवग्रह में भेद अवश्य है । क प्रत्यय में उभऽकौ ऐसा अवग्रह होगा । अकच् म उभकौ ऐसा । वहाँ भी न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः किं तर्हि पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् इस भाष्यकार के वचन से पदपाठकारों के अनुसार अवग्रह नहीं करेंगे । अपितु जैसा अपना शास्त्र कहेगा वैसा अवग्रह होगा । अवग्रह करना हमारे अपने लक्षण के अधीन होगा तो हम क और अकच् में समानता लाने के लिये उभकौ में अवग्रह नहीं करेंगे ।



## विभाषा दिक्प्रमाणे बहुव्रीहौ ॥१॥१॥२८॥

दिग्ग्रहणं किमर्थम् ?

न बहुव्रीहाविति प्रतिषेधं चक्ष्यति । तत्र न ज्ञायते क्व विभाषा क्व प्रतिषेध इति । दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । दिगुपदिष्टे विभाषा अन्यत्र प्रतिषेधः ।

दिक् शब्द का ग्रहण किस लिये किया है ।

आगे न बहुव्रीहौ सूत्र से बहुव्रीहि समास में सर्वोदियों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहेगे । दिग् ग्रहण के अभाव में यह नहीं जाना जायगा कि कौन से बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प है और कौन से में उस का सर्वथा निषेध है । क्योंकि विभाषा समासे बहुव्रीहौ इतना सूत्र होने पर सभी बहुव्रीहि समासों में विकल्प प्राप्त होगा । न बहुव्रीहौ से भी सभी बहुव्रीहि में निषेध प्राप्त होगा । दिग् ग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहेगा । दिक् ग्रहण से दोनों का विषयविभाग स्पष्ट हो जायगा कि दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि में विकल्प होता है । उस से भिन्न बहुव्रीहि में निषेध होता है । जिस में दिक् शब्द का उपदेश है वह दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि है । जैसे— दिङ्नामान्यन्तराले । दिक् समास वाले इसी बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प करने के लिये दिक् शब्द का ग्रहण किया है ।

बृहदादगोत्रात् से अपत्य अर्थ में ।फन् हो जाता है । भवन्तमञ्जति भवद्रयङ् । यहा भवतु के सर्वनाम होने से त्रिष्वग्देवयोश्च टेरद्रयञ्जतावप्रत्यये से भवत् की टि की यदि आदेश सिद्ध हो जाता है । भवतो विकारः भवन्मयः । यहाँ त्यदादीनि च से वृद्धसंज्ञा हो कर नित्यं बृहदशरादिभ्य से मयद् हो जाता है । भवान् मित्रं यस्य स भवन्मित्रः । यहा भवतु के सर्वनाम होने से बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् इस वार्तिक से भवतु का पूर्वनिपात हो जाता है । भवत इदं भावत्कम् । भवदीयम् । यहा भवतु की त्यदादीनि च से वृद्धसंज्ञा हो कर भवतप्लवठसौ से टक्, ट्स् हो जाते हैं । आकञ्जारीय सूत्र के भाष्य में सकृत्प्रतिपदिक विषयक गुणवचनसंज्ञा से परे सर्वनाम संज्ञा पड़ी गई है । वह पर होने के कारण गुणवचन संज्ञा को बाध लेती है । भवतु के सर्वनामसंज्ञक होने से गुणवचनसंज्ञा की बाधा हो जायगी तो भवतो भावः इस अर्थ में गुणवचननाहणादिभ्यः कर्मणि च से प्राप्त प्यञ् का अभाव सिद्ध हो जाता है । उससे भावत्वम् यह रूप न बन कर भवरत्नम्, भवत्ता ये दृष्ट रूप बन जाते हैं ।

१. एक ही विषय में विकल्प और प्रतिषेध हो नहीं सकते । यदि पर होने



अथ समासग्रहणं किमर्थम् ?

समास एव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्, बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूदिति । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि ।

अथ बहुव्रीहिग्रहणं किमर्थम् ?

द्वन्द्वे मा भूत् । दक्षिणोत्तरपूर्वाणामिति ।

समासग्रहण किस लिये किया है ।

समास सशक (सुरय) जो बहुव्रीहि है वहीं सर्वनाम संज्ञा का विकल्प हो, बहुव्रीहिवद्भाव से बहुव्रीहि माने हुए बहुव्रीहि में विकल्प न हो इस लिये समास ग्रहण किया है । जैसे दक्षिणदक्षिणस्यै देहि । यहां स्त्रीलिङ्ग दक्षिणा शब्द को आवाधे च से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है । बहुव्रीहिवत् मानने से स्त्रियाः पुंवत् से पुंयत् हो कर दक्षिणदक्षिणा बनता है । इस में बहुव्रीहि समास न होने से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न होगा तो सर्वादीनि सर्वनामानि से सामान्यप्राप्त सर्वनामसंज्ञा रह जायगी । उस से चतुर्थी के एकवचन में स्यात् आगम हो कर इष्ट रूप बन जाता है ।

बहुव्रीहिग्रहण किस लिये किया है ?

द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न हो इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण किया है । जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । दक्षिणा च उत्तरा च पूर्वा च—दक्षिणोत्तरपूर्वाः । तासां दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । यहां द्वन्द्व समास में दक्षिणा उत्तरा शब्दों को सर्वनाम्नो वृत्ति माधे पुंवद्भावः इस वचन से पुंयत् हो कर दक्षिणोत्तरपूर्वा यह शब्द बनता है । बहुव्रीहि न होने से विकल्प न होगा तो द्वन्द्वे च से त्रय सर्वनाम संज्ञा का निरोध हो कर आभि सर्वनाम्नः सुट् से सुट् नहीं होता ।

गे प्रतिषेध प्रवृत्त होगा तो विकल्प विधान व्यर्थ हो जायगा । यदि पूर्वविप्रतिषेध से विकल्प की प्रवृत्ति होगी तो प्रतिषेध विधि व्यर्थ हो जायगी, कारण कि विकल्प से तदर्थ की सिद्धि हो जायगी ।

१. द्वन्द्वे च यह सूत्र निम्नलिखित द्वन्द्व समास में ही सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा का निरोध करता है । निम्नलिखित द्वन्द्व समास के पठक अक्षरों की सर्वनामसंज्ञा का निरोध नहीं करता इस लिये दक्षिणोत्तरपूर्वा शब्द के पठक आशय दक्षिणा उत्तरा शब्दों के सर्वनाम होने से उन को पुंयत् होने में कोई बाधा नहीं है ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । द्वन्द्वे चेति प्रतिषेधो भविष्यति ।

नाप्राप्ते प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते सा यथैव न बहुव्रीहा-  
वित्येतं प्रतिषेधं बाधते एवं द्वन्द्वे चेत्येतमपि बाधेत ।

न बाधेत । किं कारणम् । येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति ।  
न चाप्राप्ते न बहुव्रीहावित्येतस्मिन् प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते ।  
द्वन्द्वे चेत्येतस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च । अथवा 'पुरस्तादपवादा  
अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानित्ये' धर्मियं विभाषा न बहुव्रीहावि-

यह कोई प्रयोजन नहीं । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् मे इस विकल्प को बाध कर  
द्वन्द्वे च से नित्य निषेध हो जायगा ।

निषेध की अवश्य प्राप्ति मे यह विकल्प कहा गया है । वह जैसे न बहुव्रीहौ  
इस निषेध को बाधता है वैसे बाध्यसामान्य चिन्ता पक्ष को ले कर द्वन्द्वे च इस  
निषेध को भी बाध लेगा । न प्राप्त=नाप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त । अर्थात् अवश्यमेव  
प्राप्त ।

नहीं बाध सकता । क्योंकि येन नाप्राप्त न्याय से बाधा होगी । येन नाप्राप्ते  
यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति यह परिभाषा पहले दीधीवेदीयाम् आदि सूत्रों  
के भाष्य में भी आ चुकी है । उस से जिस की अवश्य प्राप्ति में इस सूत्र का  
आरम्भ है उसी निषेध को यह बाधेगा । जिस की किसी अंश में प्राप्ति किसी में  
अप्राप्ति होने से निश्चित अवश्य प्राप्ति नहीं है उसे नहीं बाधेगा । न बहुव्रीहौ की  
तो निश्चित अवश्य प्राप्ति है । क्योंकि उस निषेध का कहीं विकल्प नहीं है । वह  
सारे दिग्बहुव्रीहि को व्याप्त करता है । द्वन्द्वे च यह निषेध तो सारे दिग्द्वन्द्व को  
व्याप्त नहीं करता क्योंकि विभाषा जसि द्वारा जस् अंश में विकल्प कहा गया है ।  
इस लिये वह अवश्य प्राप्त नहीं है । किं च, यदि यह सूत्र द्वन्द्वे च निषेध को  
बाध कर उस में विकल्प करे तो जस् अंश मे यह विभाषा जसि विभाषा का  
अनुवादनाम रह जायगी (यह दोष भी होगा) अतः दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इस द्वन्द्व  
में यह विकल्प न हो कर द्वन्द्वे च सूत्र से नित्य सर्वनाम संज्ञा का निषेध ही होगा  
तो बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्  
विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इस परिभाषा से यह सूत्र अपने से अनन्तर अव्यवहित  
भाने वाले न बहुव्रीहौ इस निषेध को ही बाधेगा । व्यवहित हो कर बाद में आने  
वाले द्वन्द्वे च इस निषेध को नहीं बाधेगा । परिभाषा का अर्थ है—सूत्र पाठ मे पहले  
पढ़े हुए अपवादसूत्र अपने से अनन्तर आने वाली विधि को ही बाधते हैं ।

त्येतं प्रतिषेधं वाधिष्यते, द्वन्द्वे चेत्येतं प्रतिषेधं न वाधिष्यते । अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः, इह कस्मान्न भवति या पूर्वा सोत्तरा अस्योन्मुग्धस्य सोऽयं पूर्वोत्तर उन्मुग्धः । तस्मै पूर्वोत्तराय देहीति । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति' । यद्येवं नार्थो बहुव्रीहिग्रहणेन । द्वन्द्वे कस्मान्न भवति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति ।

उत्तरार्थं तर्हि बहुव्रीहिग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । क्रियते तत्रैव न बहुव्रीहाविति ।

द्वितीयं कर्तव्यम् । बहुव्रीहिरैव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्,

व्यवहित होकर बाद में आने वाली विधि को नहीं पाधते' अथवा—दक्षिणोत्तर-पूर्वाणाम् यहाँ द्वन्द्व में इस विकल्प की प्राप्ति की शक्ती करने वाले इस स्थिति से यह पृथना चाहिये कि—या पूर्वा ता उत्तरा अस्य उन्मुग्धस्य स पूर्वोत्तरः उन्मुग्धः । तत्रै पूर्वोत्तराय दहि । यहाँ पूर्वोत्तर इस दिक्प्रमास बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का विकल्प क्यों नहीं होता तो वह यही उत्तर देगा कि इस सूत्र में प्रतिपदोक्त दिङ्नामान्यन्तराल सूत्र वाला दिक् समास बहुव्रीहि लिया गया है । पूर्वोत्तर में दिक् समास लाक्षणिक है । प्रतिपदोक्त दिङ्नामान्यन्तराल से विहित बहुव्रीहि नहीं है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं भवति इस परिभाषा के अनुसार प्रतिपदोक्त के ग्रहण में लाक्षणिक का ग्रहण नहीं होगा तो यहाँ लाक्षणिक होने से यह विकल्प नहीं होता है तो उसी परिभाषा के अनुसार दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में भी विकल्प नहीं होगा । इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में लाक्षणिक दिङ्प्रमास द्वन्द्व है । प्रतिपदविहित दिङ्नामान्यन्तराले वाला बहुव्रीहि मनाम नहीं है ।

अच्छा तो न बहुव्रीही इस उत्तर सूत्र के लिये यहाँ बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये ।

कोई आवश्यकता नहीं । यहाँ न बहुव्रीही में बहुव्रीहिग्रहण कर ही रता है ।

दूसरा बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये । जिस से समास जो बहुव्रीहि है अर्थात् जो मुख्य बहुव्रीहि है, वही सर्वनाम संज्ञा का निरोध हो । बहुव्रीहिवत् मान कर जो बहुव्रीहि है वहाँ सर्वनाम संज्ञा का निरोध न होवे । जैसे—एतेन देहे ।

१. अन्तर विधि को पाधने में चरितार्थ हो जाने से धीन्यन्ति हो जाने से उत्तर विधियों को नहीं पाधते ।

बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूत् । एकैकस्मै देहि ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । समास इति वर्तते तेन बहुव्रीहिं विशेषयिष्यामः । समासो यो बहुव्रीहिरिति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । अवयवभूतस्यापि बहुव्रीहेः प्रतिपेयो यथा स्यात् । इह मा भूत् । वस्त्रमन्तरमेपां त इमे वस्त्रान्तराः । वसनमन्तरमेपां त इम वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तर-वसनान्तराः ।

यहां एक शब्द को एक बहुव्रीहिवत् से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है । बहु-व्रीहिवत् मानने से सुर् का लुक् हो जाता है । इस में बहुव्रीहि समास नहीं है इस लिये न बहुव्रीहि से निषेध न होगा तो सर्वनामः स्मै से के को स्मै हो जाता है ।

यद् भी कोई प्रयोजन नहीं । इस सूत्र से वहां समास की अनुवृत्ति चली जायगी । उस से बहुव्रीहि का सम्बन्ध हो कर बहुव्रीहि समास ही समझा जायगा ।

अच्छा तो फिर इस बहुव्रीहिग्रहण का उत्तर सूत्र में ही वह प्रयोजन है कि अवयवभूत बहुव्रीहि को भी बहुव्रीहि मान कर उसमें न बहुव्रीहि से सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जावे । अर्थात् बहुव्रीहि समासमात्र में चाहे वह स्वतन्त्र बहुव्रीहि हो या किसी अन्य समास का अवयव हो सब में सर्वनाम संज्ञा का निषेध होवे । जैसे—वस्त्रमन्तरमेपां ते वस्त्रान्तरा । वसनमन्तरमेपां ते वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः । यहां बहुव्रीहिगर्भे द्वन्द्वसमास में द्वन्द्व की मुख्यता है । बहुव्रीहि उसका अवयव है । तो भी बहुव्रीह्याश्रित सर्वनामसंज्ञा का नित्य निषेध हो जाने से उस शी से शीभाव नहीं हुआ । अनुवृत्त बहुव्रीहिग्रहण के सामर्थ्य से द्वन्द्व में प्राप्त विभागा जसि की भी बाधा हो गई ।<sup>१</sup>

१. वसन शब्द का यहाँ गृह अर्थ है, अन्तर शब्द का बाह्य अर्थ है ।

२. उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा का निषेध वार्तिककार ने कहा है । सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने ऐसा वचन स्वयं नहीं कहा है । इसी लिये उन्होंने न बहुव्रीहि सूत्र का आरम्भ किया है । अन्यथा बहुव्रीहि समास में सर्वादि के उपसर्जन होने के कारण उसी वचन से सर्वनामसंज्ञा न होती और वस्त्रान्तरवसनान्तरा में भी उसी वचन से निषेध सिद्ध था । यहा उस वचन को न मानते हुए ही बहुव्रीहिग्रहण का उक्त प्रयोजन बताया गया है ।

आर्धधातुकत्वं यथा स्यात् । तेन 'ब्रुवो वचि' (सू २४५३) इत्यादि ।  
 'एकाचः' किम् । पुनःपुनर्जागर्ति । 'ह्लादेः' किम् । भृशमीक्षते । भृशं  
 शोभते रोचते इत्यत्र यद् नेति भाष्यम् । पौन.पुन्ये तु स्यादेव । रोरुच्यते ।  
 शोशुभ्यते । 'सूचिसूत्रिमूत्र्यद्यत्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यद् वान्यः' (वा १७५१) ।  
 आद्यास्त्रयश्चुरादावदन्ता । सोसूच्यते । सोसूच्यते । अनेकाच्चकत्वेनापोपदे-  
 शत्वात्पत्वं न । मोमूच्यते ।

२६३१ । यस्य हलः । (६-४-४९)

'यस्य' इति सङ्घातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोपः स्यादा-

हारे' इति विहितलोडन्तमात्रविपर्ययात् । अत एव 'क्रियासमभिहारे लोट' इति सूत्रभाष्ये  
 "क्रियासमभिहारे लोपमज्जमपुरपैकवचनस्य द्वे वाच्ये" इत्येव पठितम् । पौन पुन्ये यद् इति तु  
 'निल्यवीप्सयो' इति न द्वित्वम् । 'क्रियासमभिहारे द्वे' इत्यनेन पौन पुन्येऽपि लोडन्तद्वित्व  
 विधानेन पौन पुन्यस्य अन्यतो लोभे सौत्रद्वित्वाप्रवृत्तेर्ज्ञापनादित्यलम् । धातोः किमिति ॥  
 'क्रियासमभिहारे' इत्यनेनैव धातोर्लौभात्किमर्थं धातुग्रहणमिति प्रश्नः । आर्धधातुकत्व  
 मिति ॥ धातोरित्यभावे आर्धधातुकत्वमत्र स्यात् । धातोरिति विहितप्रत्ययस्यैव आर्धधातुक-  
 त्वादिति भावः । युवः इति ॥ यद् आर्धधातुकत्वे सत्येव तस्मिन् परे 'ब्रुवो वचि' 'वेजो  
 वचि' इत्यादि कार्यं सिद्ध्यति । अन्यथा 'आर्धधातुके' इत्यधिकृत्य तद्विधानात् स्यादिति  
 भावः । भृशमीक्षते इति ॥ नच भृशशब्देनैवान् भृशार्थमानात् यद् न भविष्यतीति  
 वाच्यम् । भृशत्व हि यद्बोध्यम्, नतु वाच्यम् । द्योतनञ्च उक्तस्यापि सम्भवतीति भावः ।  
 यद् नेति ॥ अनभिधानादिति भाष्ये स्पष्टम् । पौन.पुन्ये तिथिति ॥ पुन.पुनश्चदसमभि  
 हारेऽपि यद्बोध्यम् । भृशार्थ एवानभिधानोक्तेरिति भावः । सूचिसूत्रीति ॥ सूचि सूत्रि मूत्रि  
 अटि अर्ति अशु ऊर्णोति एषान्द्वन्द्व । 'सूच पैशुन्ये, सूत्र वेष्टने, मूत्र प्रसवणे' एते त्रय  
 श्चुराद्यन्तर्गणे कथादावदन्ता । तेषामनेकाच्चत्वादप्राप्ता यद्बोध्यमिति वाह । आद्यास्त्रयः  
 इति ॥ 'अट गतौ, ऋ गतौ, अश भोजने, अशु व्याप्तौ' एषा ह्लादित्वाभावाद्बोध्यम् ।  
 ऊर्णमल्लु ह्लादित्वाभावादेकाच्चत्वाभावाच्च वचनम् । सोसूच्यते इति ॥ ष्यन्त्यादि णिलोपे  
 द्वित्वे 'शूर्णो यद्बोध्यम्' इति अभ्यासगुणः । सूचे षोपदेशत्वमत्र वारयति । अनेकाच्च  
 त्येनेति ॥ षोपदेशत्वे तु 'धात्वादे' इति परस्य सत्वे कृते आदेशसकारत्वादुत्तरखण्डस्य पत्र  
 स्यादिति भावः । लिटि सोसूचि आमिति स्थिते । यस्य हलः ॥ यकारादकारस्य उच्चार  
 णार्थवभ्रम वारयति । सङ्घातग्रहणमिति ॥ यकाराकारसमुदायस्येत्यर्थः । हल इति  
 पञ्चमी । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'अतो लोप' इत्यस्मात् लोप इत्यनुवर्तते । तदाह ।  
 हल' परस्येत्यादिना ॥ ननु 'अलोऽन्त्यस्य' इति यकारादकारस्य लोप स्यादित्यत आह ।

धधातुके । 'आदेः परस्य' (सू ४४) । 'अतो लोपः' (सू २६०८) ।  
सोसूचांचक्रे । सोसूचिता । सोसूक्षिता । मोसूत्रिता ।

२६३२ । दीर्घोऽकितः । (७-४-८३)

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घः स्याद्यडि यङ्लुकि च । अटाट्यते ।

२६३३ । यडि च । (७-४-३०)

अतैः संयोगादेश्च ऋतो गुण. स्याद्यडि यङ्लुकि च । यकारपररेफस्य न  
द्वित्वनिषेध. । 'अरार्यते' इति भाष्योदाहणान् । अरारिता । अशाशिता ।  
ऊर्णोनूयते । वेभिद्यते । अष्टोपस्य स्थानिवत्त्वान्नोपधागुण. । वेभिदिता ।

२६३४ । नित्यं कौटिल्ये गतौ । (३-१-२३)

गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे । कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते ।

आदेः परस्येति ॥ 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यस्यायमपवाद इति भाव । अतो लोपः इति ॥  
यकाराकारसङ्घाते यकारस्य लोपे सति परिशिष्टस्याकारस्य 'अतो लोप' इत्यर्थ । ननु मास्तु  
सङ्घातग्रहणम् । यकारस्यैवात्र लोपो विधीयताम् । अतो लोपे सति इष्टसिद्धिरिति चेन्न ।  
ईर्घ्यधातोस्तुचि इष्टि ईर्घ्यतेत्यत्र यकारलोपनिवृत्त्यर्थत्वादित्यलम् । अटधातो यडि 'अजादे-  
द्वितीयस्य' इति त्व इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषेण अभ्यासे यकारनिवृत्तौ अटव्यते इति स्थिते ।  
दीर्घोऽकितः ॥ अभ्यासस्येति ॥ 'अत्र लोपेऽभ्यासस्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव ।  
यडि यङ्लुकि चेति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव । अकित इत्यस्य  
तु ययम्यते इत्यादां प्रयोजन वक्ष्यते । ऋधातोर्यडि कृते डित्त्वाद्गुणनिषेधे प्राप्ते । यडि  
च ॥ 'गुणोऽर्तिसयोगाद्यो' इति सूत्रमनुवर्तते । 'रीङ् ऋत' इत्यस्मात् ऋत इति च ।  
तदाह । अतैरित्यादि ॥ तथाच ऋ य इति स्थिते ऋकारस्य गुणे अकारे रपरत्वे अर् य  
इति स्थिते 'न न्द्रा.' इति रेफस्य द्वित्वनिषेधे य इत्यस्य द्वित्वे 'दीर्घोऽकित.' इत्यभ्यासदीर्घे  
अर्थायते इति प्राप्ते आह । यकारपररेफस्येति ॥ भाष्योदाहरणादिति ॥ 'धातोरेकाच'  
इति सूत्रे इति शेष । अरारितेति ॥ 'यस्य हल' इति यकारलोप । अशाशितेति ॥  
अशाधातोर्यडि इय इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषेण अभ्यासे यकारनिवृत्तौ 'दीर्घोऽकितः' इति  
दीर्घे 'यस्य हल.' इति यकारलोप । ऊर्णोनूयते इति ॥ ऊर्णु य इति स्थिते 'न न्द्रा' इति  
नु इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासदीर्घः । वेभिद्यते इति ॥ भिद् य इति स्थिते भिद् इत्यस्य  
द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासगुण । ननु वेभिद्य इति यङन्ता लुटि तासि इष्टि यलोपे अतो लोपे  
वेभिदितेत्यत्र तासि परे लघूपथगुण स्यादित्यत आह । अष्टोपस्य स्थानिवत्त्वादिति ॥  
नित्यं कौटिल्ये गतौ ॥ नित्यशब्द. एवार्थे । कौटिल्ये इत्यस्योपरि द्रष्टव्य । 'धातोरे-  
काच.' इत्यतो यङित्यनुवर्तते । तदाह । गत्यर्थात्कौटिल्य एवेति ॥ गत्यर्थवृत्तेर्धातो

एषामभ्यासस्य नुक् स्याद्यङ्यङ्लुको । गर्हितं जपति जञ्जप्यते  
इत्यादि ।

२६३९ । ग्री यडि । (८-२-२०)

गिरते. रेफस्य लत्व स्याद्यडि । गर्हितं गिलति जेगिल्यते ।  
'घुमास्था—' (सू २४६२) । इतीत्त्वम् । गुण । देदीयते । पेपीयते ।  
सेपीयते । 'विभाषा श्वे.' (सू २४००) । शोशूयते । जेश्चीयते । 'यडि च'  
(सू २६३३) । सास्मर्यते । 'रीडृत' (सू १२३४) । चेक्रीयते । सुट् ।  
सञ्चेस्क्रीयते ।

२६४० । सिचो यडि । (८-३-११२)

सिच. सस्य पो न स्याद्यडि । निसेसिच्यते ।

२६४१ । न कवतेर्यडि । (७-४-६३)

कवतेरभ्यासस्य चुत्व न स्याद्यडि । ङोकूयते । कौतिकुवत्योस्तु  
चोकूयते ।

एषामिति ॥ इत्यादीति ॥ जकभ्यन्त । दन्दद्यते । दन्दश्यते । यम्भज्यते ।  
पसधातुर्दन्त्यान्त सात्रा गत्वर्थ इति मावव । ताल्भ्यान्त इति काशिका । ग्री यडि ॥  
गृ इत्यस्य ग्र इति पञ्चमवचनम् । 'कृपो रो ल' इत्यत रो ल इत्यनुवर्तते । तदाह ।  
गिरतेरित्यादि ॥ दा पा स्या एभ्यो यन् विशेषमाह । घुमास्थेत्यादि ॥ शोशूयते  
इति ॥ श्विधातोर्यडि 'सम्प्रसारणन्तदाश्रयश्च कार्यम्बलवन्' इति वचनान् सम्प्रसारणे पूर्वस्त्वे शु  
इत्यस्य द्वित्वम् 'अकृतसार्वधातुक्यो' इति दीर्घ । सास्मर्यते इति ॥ स्मृ य इति स्थिते  
सयोगादित्वान् 'यडि च' इति परत्वाद्गुणे रपरत्वे द्वित्वे 'दीर्घोऽङ्कित' इत्यभ्यामदार्ष ।  
चेक्रीयते इति ॥ कृ य इति स्थिते परत्वात् ऋकारस्य रीदादेशे क्री इत्यस्य द्वित्वे अभ्यास  
गुण । सुडिति ॥ 'सपरिभ्या करोतां भूषणे' 'समवाये च' इत्यनेनेति शेष । सिचो  
यडि ॥ 'सहे साड स' इत्यतस्त इति पञ्चमन्तमनुवर्तते । 'मूर्धन्य' इत्याविवृत 'न रपरस्यपि'  
इत्यत नेत्वनुवर्तते । तदाह । सिच. इति । निसेसिच्यते इति ॥ 'उपमर्गात्सुनोनि'  
इति 'स्थादिष्वभ्यासेन' इति च पञ्चमनेन निषिध्यते । न कवतेर्यडि ॥ 'अत्र लोप' इत्यत  
अभ्यासस्येति 'कुहोदचु' इत्यत चुरिति चानुवर्तते इति मवा आह । कवतेरभ्यास-  
स्येति ॥ ननु कौर्यडि इत्येव मिदं दितपा निर्देशो व्यर्थ इत्यत आह । कौतिकुवत्यो  
स्त्विति ॥ शपा निर्देशार्थं कवतिग्रहणम् । तेन 'कु शब्दे' इति लुग्विचरणस्य 'कुद् शब्दे'  
इति शविकरणस्य च ग्रहणत्र लभ्यते इति भाव । नच कौरित्युक्तेऽपि शपान्तस्य शवि-  
करणस्य न ग्रहणप्रसक्तिरिति शङ्कम् । तुदादी 'कुद् शब्दे' इति ह्रस्वान्तपाठस्य न्याम

२६४२ । नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् । (७-४-८४)

एषामभ्यासस्य नीगागम स्याद्यङ्यङ्लुको । 'अकित' इत्युक्तेर्न दीर्घ । नलोप । वनीबच्यते । सनीस्रस्यते इत्यादि ।

२६४६ । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य । (७-४-८५)

अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासोऽदन्तस्तस्य नुक् स्यात् । नुका अनु-  
स्वारो लक्ष्यते इत्युक्तम् । यय्यम्यते—ययम्यते । तपरत्वसामर्थ्याद्भूतपूर्वदीर्घस्यापि  
न । 'भाम' क्रोधे । वामाम्यते । 'ये विभापा' (२३१९) । जाजायते—जञ्चन्यते ।  
'हन्तेर्हिंसाया यङि ग्रीभावो वान्य' (वा ४६२१) । जेग्रीयते । 'हिंसा-  
या' किम् । जह्नन्यते ।

२६४४ । रीगृदुपधस्य च । (७-४-९०)

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागम स्याद्यङ्यङ्लुको । वरिवृत्त्यते ।

सम्मत्त्वान् । वस्तुतस्तु न्याससम्मते तौतादिकस्याप्रवृत्तिरेव फल्म् । "लुग्विङ्गणालुग्विङ्गण  
योरलुग्विङ्गणस्यैव ग्रहणम्" इति लुग्विङ्गणस्य ग्रहणनिवृत्तिरिति बोध्यम् । नीग्वञ्चु ॥  
अभ्यासस्येति ॥ 'अत्र लोप' इत्यतस्तदनुगतेरिति भावः । यङ्लुकोरिति ॥ यङि  
यङ्लुकि चेत्यर्थः । न दीर्घ इति ॥ रागागमात्प्राक् प्राप्तेऽभ्यासदीर्घो नैत्यर्थः । भविष्यदपि  
क्त्विन्ददीर्घप्रतिबन्धकमिति भावः । नलोपः इति ॥ 'अनिदिताम्' इत्यनेन नकारस्य  
लोप इत्यर्थः । इत्यादीति ॥ सनीस्रस्यते, दनीष्वस्यते, वनीभ्रस्यते, चनीकस्यते, पना  
पस्यते, पनीपच्यते, चनीस्कच्यते । नुगतोऽनु ॥ अङ्गस्येत्याधिकृतम् । 'अत्र लोप'  
इत्यत अभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'गुणो यङ्लुको' इत्यत यङ्लुकोरिति च । तदाह । अनु  
नासिकान्तस्येत्यादि ॥ ननु ययम्यते इत्यत्र नुगे नकारस्य अपदान्तत्वादङ्गपरकत्वाच्च कथं  
'नश्च' इत्यनुस्वार इत्यत आह । नुकेति ॥ नन्वभ्यासे ह्रस्वविधानादीर्घस्याभावात् नुगिधावत्  
इति तपरकरण व्यर्थमित्यत आह । तपरत्वसामर्थ्यादिति ॥ स्वाभाविक एव यो  
ह्रस्व अकार तस्यैव ग्रहणम्, ननु दीर्घादेशभूतस्य ह्रस्वान्तरस्येत्येतदर्थं तपरकरणमिति  
भावः । वामाम्यते इति ॥ अत्र आकारस्थानिकस्य ह्रस्वविधिसम्पन्नस्य अकारस्य न  
नुगिति भावः । जनधातोर्गङि नकारस्य आत्त्वविकल्प स्मारयति । ये विभापेति ॥ ग्री  
भावः इति ॥ यथपीह ह्रीभावविधावपि 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वे हकारस्य षकार सिञ्चति ।  
तथापि प्रबललाघवाभावात् प्रथियालाघवाच्च प्राप्ति षकारोच्चारणमिति भावः । जेग्रीयते  
इति ॥ पुन पुनरतिशयेन वा द्विनस्तीत्यर्थः । अत्र यदीति विषयसप्तमा । यङि विवभिते  
मतीति लभ्यते । तेन द्वित्वस्य परत्वेऽपि प्रागेव ग्रीभाव इति बोध्यम् । जह्नन्यते इति ॥  
गङ्गात् गच्छतात्यर्थः । रीगृदुपधस्य च ॥ अभ्यासस्येति ॥ 'अत्र लोप' इत्यत



शुभ्रादित्वान्न ण. । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते । उभयत्र लत्वम् । चलीक्ञ्यते ।  
'रीगृत्वत इति वक्तव्यम्' (वा ४६६२) । परीपृच्छयते । वरीवृञ्यते ।

२६४५ । स्वपिस्यमिव्येजां यङि । (६-१-१९)

सम्प्रसारण स्याद्यङि । मोपुप्यते । सेसिम्यते । वेवीयते ।

२६४६ । न वशः । (६-१-२०)

वावश्यते ।

२६४७ । चायः की । (६-१-२१)

चेकीयते ।

तदनुवृत्तेरिति भाव । यद्भुकोरिति ॥ 'गुणो यद्भुको' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव ।  
वरीवृत्त्यते इति ॥ 'वृत्तु वतने' अस्माद्यटि द्विव्ने उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्यामस्य रीक् । वृते  
यंङि नरीत्रलने इत्यत्र णत्वमाशङ्क्य आह । शुभ्रादिच्वान्न ण. इति ॥ जरीगृह्यते इति ॥  
'ग्रह उपादाने' अस्माद्यटि ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे द्विव्ने उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्या-  
सस्य रीक् । उभयत्रेति ॥ वृषधातो यटि द्विव्ने उरदत्त्वे रपरत्वे हलादिशेषे रीक् । चली-  
क्ञ्यते इत्यत्र 'वृषो गे ल' इत्यभ्यासे रेफस्य लकार । उत्तरखण्डे ककारस्यावयवो रेफ  
तस्य लकारमन्त इत्यर्थ । ननु व्रश्चातोयंङि वरीवृञ्यते इत्यत्र कथमभ्यामस्य रीक् ।  
धातो शकारोपधत्वेन ऋदुपधत्वाभावादित्यत्र आह । रीगृत्वतः इति ॥ 'रीगृदुपधस्य'  
इत्यत्र ऋदुपधस्ये उपनीय ऋवत इति वक्तव्यमित्यर्थ । ऋन् अस्यास्तानि ऋवन् । 'तसौ  
मत्वर्थे' इति भन्वान् पदत्वाभावात् जश्चम् । परीपृच्छयते इति ॥ प्रच्छधातोयंङि  
'ग्रहिज्या' इति रेफस्य सम्प्रसारणमृकार । पूर्वरूप द्विव्ने रपरत्व हलादिशेषे रीक् । वरी  
वृञ्यते इति ॥ व्रश्चातोयंङि सम्प्रसारणे द्विन्वादि पूर्वरूप । स्वपिस्यमि ॥ सम्प्र-  
सारण स्फटिदिशि शेषपूरणम् । 'घ्यट सम्प्रसारणम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव । सोपुप्यते  
इति ॥ स्वप्रातोयंङि वकारस्य सम्प्रसारणे ङकारे पूर्वरूपे द्विव्ने अभ्यामगुण । उत्तर-  
खण्डे मस्य पञ्चम् । सेसिम्यते इति ॥ स्वमुधानोयंङि यकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे  
द्विन्वादि । अयोपदेशत्वान्न प । वेवीयते इति ॥ व्यंजो यटि यकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे  
द्विन्वादि । 'हल' इति वा 'अहृन्सार्वधातुभ्यो' इति वा दार्ढ्य । अथ वश  
धातोयंङि वावश्यते इत्यत्र 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते तन्निषेध स्मारयति ।  
न वशः ॥ वशधातो छान्दसन्त्वम्प्राप्तिकमिति प्रागेवोक्तम् । चायः की ॥ यदीति शेष ।  
'स्वपिस्यमिव्येना यटि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव । चेकीयते इति ॥ 'चाय पूजानिशां

२६४८ । ई प्राप्नोः । (७-४-३१)

जेप्नीयते । वेप्नीयते ।

२६४९ । अयद् यि ङिति । (७-४-२२)

गाढोऽप्यडादेशः न्यायादौ ङिति परे । आशय्यते । अभ्यानय  
हस्य । ततो गुणः । डोटौच्यते । तौत्रौच्यते ।

इति निदान्त्यम्भकरणम् ।



श्रीरस्तु ।

## ॥ अथ तिङन्तयङ्लुक्प्रकरणम् ॥

२६५० । यङोऽचि च । (२-४-७४)

यङोऽन्प्रत्यये लुक् स्याच्चकारात्त विनापि बहुल लुक्स्यान् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । तत प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाद्दृढादय । 'शेषात्कर्तरि—' (सू २१५९) इति

अथ यङ्लुक्प्रक्रिया निरूप्यन्ते । यङोऽचि च ॥ अचि इति प्रत्ययग्रहणम् । ननु प्रलाहार । यडा साहचर्यात् । 'ण्यञ्क्षसियार्ण' इत्यत लुगिल्यनुवर्तते । तदाह । यङोऽच् प्रत्यये लुगिति । चकारात्तं विनापीति ॥ अच्प्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थं । बहुलमिति ॥ चकारात् 'बहुलञ्छन्दसि' इति पूर्वसूत्राद्बहुलप्रहणमप्यनुकृष्यत इति भावः । एवञ्च अच्प्रत्यये तदभावेऽपि यङो बहुल लुगिति फलितम् । तेन लुनो यङन्तादाचि यङो लुगभावपक्षे अतो लोपे लोलुय इति रूपम् । लुकि तु लोलुव इति रूपं सिद्ध्यति । तथा अच्प्रत्ययाभावेऽपि बो भूयते, बोभवीति, इत्यादीं यङो लुगिक्त्वं सिद्ध्यतीति बोध्यम् । अनैमित्तिकोऽयमिति ॥ अच्प्रत्ययादन्यत्त बोभवीनात्यादौ यङ्लुक् अनैमित्तिकः । ततश्च परस्मादपि द्वित्वादिकार्यात्प्रागेव अन्तरङ्गत्वाद्यगे लुक् भवति ततो द्वित्वादीति वस्तुतः स्थितिकथनमिदम् । अच्प्रत्यये विधीयमानस्तु यङ्लुक् नैमित्तिकत्वाद्बहिरङ्ग एव । ततश्च परत्वाभित्यत्वाच्च आदौ द्वित्वे कृते यङो लुकि अच्प्रत्ययमाश्रित्य प्राप्तो गुण 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति निषेधान् भवति । अच्प्रत्ययस्य यङ्लोपनिमित्तत्वादिति बोध्यम् । नन्वेव सति यङ्लुकि 'सन्त्यङो' इति द्वित्वं न स्यात् । यङो लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावादित्यत आह । ततः इति ॥ यङो लुगनन्तरमित्यर्थः । 'न लुमता' इत्यनेन हि लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यंनिषिद्ध्यते । द्वित्वादिकन्तु यङन्तस्य कार्यम्, ननु यङ्निमित्तकम् । यङि परतस्तद्विद्ध्यभावादिति भावः । द्वित्वमिति ॥ नच 'एकाच' इति विधीयमानं द्वित्वइयमिह यङ्लुकि स्यात् । "स्तिपा शपा" इति निषेधादिति वान्यम् । 'गुणो यङ्लुको' इत्याद्यभ्यासकार्यविधिवलेन द्वित्वनिषेधाभावज्ञापनादिति भावः । अभ्यासकार्यमिति ॥ गुणादाति भावः । धातुत्वादिति ॥ यङो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य यङन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वम् । नच 'न लुमता' इति निषेधः शङ्क्यः । धातुसज्ञाया यङन्तधर्मत्वेन यङि परतोऽङ्गकार्यत्वाभावादिति भावः । यङो द्वित्वात्तदन्तादा मनेपदमाशङ्क्य आह । शेषादिति ॥ ननु 'शेषात्कर्तरि' इत्यत्र आत्मनेपदनिमित्तहीनो धातुस्रोतः ।

परस्मैपदम् । ‘अनुदात्तङितः—’ (सू २१५७) इति तु न । ङित्वस्य प्रत्यया-  
प्रत्ययसाधारणत्वेन प्रत्ययलक्षणाप्रवृत्तेः । यत्र हि ‘प्रत्ययस्यासाधारणं रूप-  
माश्रीयते तत्रैव तत्’ । अत एव सुदृपत्प्रासाद इत्यत्र ‘अत्वसन्तस्य—’ (सू  
४२५) इति दीर्घो न । येऽपि स्पर्धशीडादयोऽनुदात्तङितस्तेभ्योऽपि न । अनु-  
दात्तङित —’ (सू २१५७) इत्यनुबन्धनिर्देशात् । तत्र च ‘द्विपा शपा—’  
(प १३२) इति निषेधान् । अत एव श्यन्नादयो न । गणेन निर्देशात् । किं  
तु शयेव । ‘चर्करीतं च’ इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

यदन्तधातुस्तु न तथा आत्मनेपदनिमित्त । इकारानुबन्धसत्वादित्यत आह । अनुदात्तङित  
इति तु नेति ॥ कुत इत्यत आह । ङित्वस्येति ॥ तदेवोपपादयति । यत्र हीति ॥  
यत्र प्रत्यये लुप्तेऽपि प्रत्ययमात्रवृत्तिधर्मपुरस्कारेण तमाश्रित्य कार्यप्रवृत्तिरिष्यते तत्रैव प्रत्यय  
लक्षणम् । यथा राजेल्यत्र । तत्र हि लुप्तं सुप्रत्यय सुवात्मकप्रत्ययमात्रवृत्तिधर्मपुरस्कारेणाश्रित्य  
सुबन्ततया पदत्वात् ‘नलोप’ इति नकारलोपप्रवृत्तिः । ङित्वन्तु न प्रत्ययमात्रधर्मः । ‘ऋते  
रीयङ्’ इत्यादिप्रत्ययेष्वप्रत्ययेष्वपि चित्रादिषु सत्त्वात् । ततश्च यङि लुप्ते सति प्रत्ययलक्षणेन  
तमाश्रित्य तद्वृत्तिङित्वप्रयुक्तद्वयमात्मनेपदनं शङ्कितुं शक्यमिति भावः । ननु यत्किञ्चिद्धर्म-  
पुरस्कारेण प्रत्ययाश्रयकार्यं प्रत्ययलक्षणाङ्कतो नेत्यत आह । अत एवेति ॥ प्रत्ययमात्रवृत्ति  
धर्मपुरस्कारेण प्रत्ययाश्रयकार्यं प्रत्ययलक्षणाश्रयणादेवेत्यर्थः । दीर्घो नेति ॥ सु शोभना  
दपदः यस्य स सुप्रत्प्रासाद इत्यत्र समासावयवत्वान्नुक्तं जस प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य प्राप्त  
असन्तत्वलक्षणो दीर्घो न भवति । उणादीनामच्युत्पत्तिपक्षे व्युत्पत्तिपक्षे च अस्त्वस्य वेधा  
इत्यादावप्रत्यये प्रत्यये च सत्त्वेन प्रत्ययमात्रवृत्तित्वाभावेन तत्पुरस्कारेण दीर्घं क्रियमाणे  
प्रत्ययलक्षणासम्भवादिति भावः । एतत्सर्वं प्रत्ययलक्षणमूनभाष्यैर्यदादिषु स्पष्टम् । नच  
सुप्रत्प्रासाद इत्यत्र जसो लुका लुप्तत्वात् ‘न लुमता’ इति निषेधादेव दीर्घो न भवि  
ष्यतीति वाच्यम् । दीर्घस्यासन्तकार्यत्वेन जसि परे अङ्गकार्यत्वाभावादित्यलम् । ननु  
उच्यते प्रत्ययलक्षणाभावात् लुप्तयदन्तात् ङित्वप्रयुक्तमात्मनेपदं मास्तु । ये तावत् स्पर्धा  
दय अनुदात्तेत ये च शीडादयो ङित पठिता तेभ्य आत्मनेपदं दुर्वारमित्यत आह ।  
येऽपीति ॥ तेभ्योऽपि नेति ॥ तेभ्यो यङ्लुकि नात्मनेपदमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ।  
अनुदात्तङित इत्यनुबन्धनिर्देशादिति ॥ नन्वनुबन्धनिर्देशेऽपि यङ्लुकि आत्मनेपदं  
कुतो न स्यादित्यत आह । तत्र च द्विपाशपा इति निषेधादेव यङ्लुकि इत्यत्रा  
दयो विकरणा नेत्यर्थः । ‘द्विपा शपा’ इति निषेधमुपपादयति । गणेन निर्देशादिति ॥  
‘दिवादिभ्य इयन्’ ‘रुभादिभ्य भ्रम्’ इत्यादिगणनिर्देशादित्यर्थः । किंतु शवेयेति ॥  
‘कर्तरि शप्’ इत्यत्र “द्विपा शपा” इति निषेधाविषयत्वादिति भावः । चर्करीतमिति ॥

२६५१ । यङो वा । (७-३-९४)

यङन्तात्परस्य हलादे पित सार्वधातुकस्येद्वा स्यात् । 'भूसुवो —'  
(सू २२२४) इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषाया न । '—वोभूतु तेतिके'  
(सू ३५९६) इति छन्दसि निपातनान् । अतएव यङ्लुग्भाषायामपि सिद्ध ।  
न च यङ्लुक्यप्राप्त एव गुणभावो निपात्यतामिति वान्यम् । 'प्रकृतिप्रहणे  
यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणान्' (प १०१) । 'द्वि प्रयोगो द्विर्वचन पाठम्' इति

यङ्लुगन्तमदादौ बोध्यामिति व्याख्यात प्राक् । यथा यङ्लुगन्ताच्छपो लुगिलर्थ । एवञ्च  
भूधातोर्यङो लुकि द्वित्वादौ बोभू इत्यस्मात्प्रति तिपि रापा लुकि बाभू ति इति स्थिते । यङो  
वा ॥ 'उतो ऋद्धि इत्यतो हलाति नाभ्यस्तस्याचि' इत्यत पिति सार्वधातुके इति  
'हुव ईद्' इत्यत ईडिति चानुवन्ते । तदाह । यङन्तादित्यादिना ॥ टित्वात्पि आद्य  
वयव ईट । तथाच नेभू ई ति इति स्थिते ऊकारस्य गुणे अवादेशे बोभवातानि रूप वक्ष्यति ।  
'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधमाशङ्क्य आह । भूसुवोरिति ॥ निपातनादिति ॥  
'कृषे छन्दमि' इत्यत छन्दसीत्यनुवृत्ता 'दाधार्तं दर्धानं दर्धपि बोभूतु तेतिके' इत्यादि सूत्रे भूधाता  
यङ्लुगन्तस्य गुणभावो निपात्यत । 'भूसुवो' इत्येव तत्र गुणनिषेधे सिद्धे गुणाभावेनिपातननि  
यमार्थम् । यङ्लुकि छन्दस्प्रवायम् भूसुवो' इति गुणनिषेधो नान्यत्र इत्यतो लोकेऽपि यङ्लु  
गन्तीति विज्ञायत । एतेन 'यङ्ङि च' इति यङ्लुगिविधां 'बहुळ छन्दसि' इति पूर्व  
सूत्राच्छन्दसाल्पनुवर्तयन्त पारस्ता । तदाह । अतएव यङ्लुक् भाषायामपि सिद्ध-  
इति ॥ 'भूसुवास्तिङि' इति सूत्रभाष्ये तु बोभूत्वित्येतन्नियमार्थम् । अत्रैव यङ्लुगन्तस्य  
गुणो न भवति, नान्यत्र । ङ मा भूत् बोभवातान्युक्तम् । अत्रैवेत्यस्य बोभूत्विति लोकेऽप्येत्यर्थः ।  
यङ्लुगन्तस्येत्यस्य भूधातारिति शय । बोभवातात्वबोदाहतत्वादिति सादेन्दुशेखरे प्रप  
ञ्चितम् । वस्तुतस्तु भाष्ये यङ्लुगन्तस्येति सामान्याभिप्रायमेव । भूधातुमात्रसङ्कोचे माना  
भावान् । बोभवाति इत्युदाहरणन्तु धान्वन्तराणामपि प्रदर्शनपरामिति मूलकृदाशय ।  
ननु भूधातोर्यङ्लुकि बोभू इत्यस्य 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधप्रसाक्तिर्नास्ति । द्वित्वे  
सति यङ्लुगन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वेन भूरूपत्वाभावात् । ततश्च यङ्लुगन्तस्याप्राप्ते गुणाभावे  
तप्राप्त्यर्थमेव बोभूत्विति निपातनामिति युक्तम् । तथा च छन्दस्येव यङ्लुगन्तस्य गुण  
निषेधः, न तु भाषायामिति नियम कथं सिद्धेदित्याशङ्क्य निराकरोति । नच यङ्लु  
कीति ॥ प्रकृतीति ॥ 'प्रकृतिप्रहणेन यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया  
'भूसुवो' इत्यत्र भूग्रहणेन बोभू इति यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणादित्यर्थः । ननु 'प्रकृति  
ग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' इत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य न्यायसिद्धिमिदमित्याह ।  
द्विः प्रयोगः इति ॥ षष्ठाध्यायादां 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यत किमिदं द्विर्वचन एकाच  
प्रथमस्य एकस्य स्थाने द्वितयानक आदेश म्यान्यपेक्षया अन्यो विधायते, उत स्थानिन  
एकस्य सतः द्विरुच्चारण विधीयते, ननु तत्स्थानिन अतिरिच्यते, इति सशक्य 'द्वि प्रयोगो

सिद्धान्तात् । बोभवीति—बोभोति । बोभूत् । बोभुवति । बोभवांचकार ।  
 बोभविता । अबोभवीत्—अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः । बोभूयात् ।  
 बोभूयाताम् । बोभूयास्ताम् । 'गातिस्था—' (सू २२२३) इति सिचो लुक् ।  
 'यङो वा' (सू २६५१) इतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद्भुक् । अबोभूवीत् ।  
 अबोभूत् । अबोभूताम् । अभ्यस्ताश्रयो जुस् । नित्यत्वाद्भुक् । अबोभवुः ।  
 अबोभविष्यदित्यादि । पास्पर्धाति—पास्पर्द्धि । पास्पर्द्धः । पास्पर्धाति ।

द्विर्चनम्' इति सिद्धान्तितम् । तदधिकारस्थत्वात् 'सन्त्यङो' इति द्विर्चनमपि तथाविधमेव ।  
 ततश्च भू इत्यस्यैव बोभू इति द्वि प्रयुज्यमानतया 'भूत्तुवो' इति भूप्रहणेन प्रहणाद्यद्भु  
 क्यपि निषेधसिद्धे बोभूत्विति निपातन छन्दस्येव यङ्लुकिगुणनिषेधो, नतु भाषायामिति नियम-  
 लाभाङ्गोक्तेऽपि यङ्लुक् सिद्ध इति भावः । **बोभूतः इति ॥** अपित्त्वादीन् । डित्त्वाव न  
 गुणः । **बोभुवतीति ॥** 'अदभ्यस्तात्' इत्यत् । डित्त्वात् गुणाभावे उवडिति भावः । बो-  
 भवीषि—बोभोषि । बोभूय । बोभूथ । बोभवीमि—बोभोमि । बोभूव । बोभूम । **बोभ  
 वाञ्चकारेति ॥** 'कास्यनेकाच्' इत्याम् । बोभविता । बोभविष्यति । बोभवीतु—बोभोतु-  
 बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुवतु । हेरपित्त्वादीन् डित्त्वान् गुणः । बोभूहि—बोभूतात् ।  
 बोभूतम् । बोभूत् । आट् पित्त्वेन अडित्त्वात् गुणः । बोभवानि । बोभवाम् ।  
 बोभवाम् । लडयाह । अबोभवीदित्यादि । **अबोभवुरिति ॥** 'सिजभ्यस्त' इति  
 जुसि गुणे अवादेशः । अबोभवो—अबोभो । अबोभूताम् । अबोभूत् । अबोभवम् ।  
 अबोभव । अबोभूम । **बोभूयादिति ॥** विधिलिङि आशीर्लिङि च रूपम् । बोभू-  
 यातामिति विधिलिङस्तामि रूपम् । बोभूयुः । बोभूयाः । बोभूयातम् । बोभूयात ।  
 बोभूयाम् । बोभूयाव । बोभूयाम् । **बोभूयास्तामिति ॥** आशीर्लिङि तामि रूपम् ।  
 बोभूयास्त । बोभूयासम् । बोभूयास्व । बोभूयास्म । लुङ्स्तिपि सिचि कृते आह ।  
**गातिस्थेति ॥ ईट्पक्षे इति ॥** 'इतथ' इति इकारलोपे कृते ईडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो'  
 इति गुण परमपि बाधित्वा नित्यत्वात् 'भुवो वुग्लुङ्लिटो' इति वुगित्यर्थः । गुणे कृते  
 अकृते च प्राप्ते वुको नित्यत्व बोध्यम् । **अबोभूवीदिति ॥** वुकि कृते सति तेन व्यवधा-  
 नादाकारस्य न गुणः । ननु लुङो हेर्जुसि वुकि अबोभूवुरिति रूपं वक्ष्यति । तदयुक्तम् ।  
 'आत्' इति सूत्रे सिङ्लुकि आदन्तादेव हेर्जुसिति नियमनादित्यत आह । **अभ्यस्ताश्रयो  
 जुसिति ॥** 'सिजभ्यस्त' इत्यनेन अभ्यस्तात्परत्वात् जुसित्यर्थः । 'सिजभ्यस्त' इति सूत्रे  
 सिच परत्वमाश्रित्य यो जुस् प्राप्तस्तस्यैवायनियमः, न त्वभ्यस्ताश्रयजुस इति भावः ।  
 अबोभू उस् इति स्थिते 'जुसि च' इति गुणमाशङ्क्य आह । **नित्यत्वाद्भुगिति ॥** 'जुसि  
 च' इति गुणापेक्षेत्यर्थः । **अबोभूवुरिति ॥** न चात्राभ्यस्ताश्रयजुस बाधित्वा परत्वात्  
 'अदभ्यस्तात्' इत्यदादेशः स्यादिति शङ्क्यम् । अभ्यस्ताश्रयजुस अदादेशापवादत्वादिति भावः ।  
 अबोभूवी—अबोभो । अबोभूताम् । अबोभवम् । अबोभव । अबोभूम । इत्यादीति ॥  
 अबोभविष्यताम्, अबोभविष्यन्, इत्यादि व्यक्तम् । **पास्पर्धीतीति ॥** स्पर्धातो यङ्लुकि

पास्पस्ति । 'हुङ्गल्भ्यो हेर्धि' (सू २४२५) । पास्पर्थि । लङ् । अपास्पर्त्-  
अपास्पर्द् । सिपि 'दश्च' (सू २४६८) इति रुत्वपक्षे 'रो रि' (सू २७३)  
अपास्पाः । जागाद्धि । जाघात्सि । अजाघान् । सिपि रुत्वपक्षे । अजाघाः ।  
'नाथृ' । नानात्ति । नानात्त । 'दध' । दादद्धि । दादद्धः । दाधत्सि ।

द्वित्वे 'शर्पूर्वा खय' इति पकारशेषे दाघ ऽकृत' इति दीर्घे पास्पर्थ् इत्यस्मात्प्रत्ययस्य  
शपि शपो लुकि 'यो वा' इति ईडागमे रूपम् । ईडभावे त्वाह । पास्पर्द्धीति ॥ पास्पर्थ् ति  
इति स्थिते 'झपस्तथोर्धोऽव' इति तमारस्य धकार । 'झलाङ्गश् झशि' इति पूर्वधकारस्य  
द इति भावः । मिच्चस्मस्तु पास्पर्धाभि-पास्पर्ध्मि । पास्पर्ध्व । पास्पर्ध्म । पास्पर्धाद्यकार ।  
पास्पर्धिता । पास्पर्धिष्यति । पास्पर्धातु पास्पद्ध-पास्पर्धात् । पास्पर्धतु । हेरपित्वादीड  
भाव सिद्धवत्कृत्य आह । हुङ्गल्भ्यः इति ॥ पास्पर्द्धीति ॥ हेधिभावे 'झरो झरि' इति  
वा धलोप । पास्पर्धात् । पास्पर्धम् । पास्पर्धानि । पास्पर्धाव । पास्पर्धाम । लङि तिपि उदा-  
हरणसूचनम् । ईडि अपास्पर्धात् इति सिद्धवत्कृत्य ईडभावे आह । अपास्पर्त् इति ॥  
अपास्पर्व् तु इति स्थिते हृडयादिना तमारलोपे 'वाऽनसाने' इति चर्त्तविकल्प इति भाव ।  
अपास्पर्धाम् । अपास्पर्धु । सिपि तु अपास्पर्व् म् इति स्थिते जरवे 'दश्च' इति दकारस्य रुत्वपक्षे  
अपास्पर्व् रूस् इति स्थिते हृडयादिना सकारलोपे 'रो रि' इति रेफलोपे 'दूलोपे' इति दीर्घे विसर्गे  
अपास्पा इति रूपम् । 'सिपि च' इति धस्य दत्वपक्षे तु अपास्पर्व् इति रूपमित्यर्थ । नच दीर्घे  
सिपि 'दश्च' इति रुत्वमसिद्धमिति शङ्क्यम् । 'दूलोपे' इति सूने टग्रहणेन लण्सूने जर्गधेः  
अजर्धा इति भाष्यप्रयोगेण च पूर्वत्रामिद्धमित्यस्याप्रवृत्तिबोधनात् । अपास्पर्धम् । अपास्पर्व्व ।  
अपास्पर्ध्म । लङि पास्पर्धात् । पास्पर्धाताम् । पास्पर्धास्ताम् इत्यादि । लुटि अपास्पर्व्व् स्  
इति स्थिते 'अस्तिसिच' इति नित्यमीट् । 'इट ईटि' इति सलोप । अपास्पर्धात् । अपास्प-  
र्धिष्ठाम् । अपास्पर्धिषुः । अपास्पर्धिष्यत् । गाघृधातोर्व्यङ्गुगन्तात् लट्प्रतिपि ईट्पक्षे जागाधीति  
सिद्धवत्कृत्य ईडभावे आह । जागाद्धीति ॥ जागाध् ति इति स्थिते 'झपस्तथो' इति तमा-  
रस्य ध । जागाद्धः । जागाधति । सिपि ईट्पक्षे जागाधीतीति सिद्धवत्कृत्य ईडभावपक्षे आह ।  
जाघात्सीति ॥ जागाध् सि इति स्थिते 'एक चो वश' इति गस्य भप् धस्य चर्त्तविकल्पे  
भावः । जागाद्ध । जागाद्ध । जागाध्मि । जागाध्व । जागाध्म । जागाधाद्यकार । जागा-  
धिता । जागाधिष्यति । जागाधीतु-जागाद्धु-जागाद्धात् । जाग द्दाम् । जागाधतु । जागाद्धि-  
जागाद्धात् । जागाद्धम् । जागाद्ध । जागाधानि । जागाधाव । जागाधाम । लङि अजागर्धात्-  
अजाघान् । अजागाद्धाम् । अजागाधु । सिपि ईट्पक्षे अजागर्धातीति सिद्धवत्कृत्य ईडभाव-  
पक्षे आह । सिपीति ॥ अजागाध् स् इति स्थिते भप्भावे 'सिपि धातोर्वा' 'दश्च' इति  
दस्य रुत्वपक्षे हृडयादिलोपे रेफस्य विसर्गे अजाघा इति रूपमित्यर्थ । दत्वपक्षे तु अजा-  
घाद् इति बोध्यम् । अजागाद्धान्, इत्यादि । जागाध्यात् । लुटि 'अस्तिसिच' इति नित्यमीट् ।  
अजागाधीन् । अजागाधिष्ठाम्, इत्यादि । नाथृ इति ॥ उदाहरणसूचनम् । वर्गद्वितीयान्तो  
ऽय धातुः न झपन्त । तस्य ईट्पक्षे नानाधीति इति सिद्धवत्कृत्य ईडभावपक्षे आह । नाना-

गुच्छ (चुरा० उभ०—गुच्छयति-ते गुच्छित) 1 परिवृत्त करना  
बचना लपेटना परिवेष्टित करना 2 छिपाना ढक  
लेना अथ— ढकना परदा डालना छिपाना अथ  
गुच्छित करना ।

गुच्छनम् [ गुच्छ + क्त ] 1 छिपाना ढकना गोप्य 2 मलना  
—यथा भस्मगुच्छनम् ।

गुच्छित (वि०) [ गुच्छ + क्त ] 1 घिरा हुआ ढका हुआ  
2 चूण किया हुआ पीसा हुआ चरा किया हुआ ।

गुच्छ (चुरा० उभ०—गुच्छयति गुच्छित) 1 ढकना छिपाना  
पीसना चरा करना ।

गुच्छक [ गुच्छ + अच् + क्त ] 1 घूल चुर्ण 2 तेल का  
बर्तन 3 मूद मयूर स्वर ।

गुच्छक [ गुच्छ + क्त ] आटा भोजन चूण ।

गुच्छित (वि०) [ गुच्छ + क्त ] 1 चूण किया हुआ पीसा  
हुआ 2 घूल से ढका हुआ ।

गुण्य (वि०) [ गुण + यत् ] 1 गुणों से युक्त 2 गिन  
जान के योग्य 3 वर्णन किये जान के योग्य प्रशस्य  
4 गुणा करने के योग्य वह राशि जिसे गुणा किया  
जाय ।

गुल्म = गुच्छ ।

गुल्मक [ गुल्म + क्त ] 1 गटटर गुच्छ 2 गुल्मस्ता  
3 चेंबर 4 पुस्तक का अनुभाग या अध्याय ।

गुद् (भ्वा० आ०—गोपते गुदित) क्रीडा करना खलना ।

गुदम् [ गुद् + क्त ] गुदा—गाढ० १३।१ मनु० ५।१३६  
८।२८२। सम० अट्टकुर ववासीर—आवर्त कोष्ठ  
बद्धा—उद्धव ववासीर ओष्ठ गुदा का मूल  
—कीलक ववासीर—ग्रह कल्प महावरोप  
—पाह गुदा की मूजन (मलडार का पक जाना)  
—क्षय काच निकलना—बसव (मनु०) गुदा मल  
द्वार स्तम्भ वज्र ।

गुध 1 (दिवा० पर०—गुधयति गुधित) लपेटना ढकना  
आवेष्टित करना ढापना 11 (भ्वा० पर०—गुधयति)  
कुष्ठ होना 11 (भ्वा० आ०—गोपते) क्रीडा करना  
खलना ।

गुदल [ गुन इति शब्देन द्रव्यतोः सौ—गुन + दल + णिच्  
+ अच् एक छोट आयताकार ढोक का शब्द ।

गुन्दा (श) ल [ गु० ] चालक पत्थी ।

गुप 1 (भ्वा० पर०—गोपायति गोपायित वा गुप्य)  
1 रक्षा करना बचाना आवेष्टित करना रक्षवाली  
करना—गोपायन्ति कुलस्त्रिय आमानाम्—महा०  
जुगोष मानमवस्त—रघु० १।२१ जुगोष गोरुषघरा  
मिरोरौम—२।३ भट्टि० १।७८ 2 छिपाना ढकना  
—कि वषा—वर्षानतिव्यतिवर्षाजान गोपायते—अमर  
२२ दे गुप्य 11 (भ्वा० आ०—जुगुपति—गुप का  
सम्प्रत्यय) 1 गुच्छ समझना कदाचित् पिन करना

अवधि करना निरा करना (अपा० के साथ कभी  
कभी कम० के साथ भी) पापाञ्जुगुप्से—सिद्धा०  
कि त्व मामनगुप्सिष्ठा भट्टि० १।११९ पात्र०  
३।२९६ 2 छिपाना ढकना (इत अथ मे—गोपते)  
11 (दिवा० पर०—गुपयति) धवराना विह्वल हो  
जाना व (चुरा० उभ० गोपायति—ते) 3 चम  
कना 2 बोलना 3 छिपाना (कविरहस्य से उदघत  
निम्नांकित श्लोक धातु के विभिन्न रूपों पर प्रकाश  
डालता है—गोपायति क्षितिमिमा चतुरस्रिपसीमा  
पापाञ्जुगुप्सत उदारमनि सत्त्वं वित्त न गोपयति यस्तु  
वणीयैर्भ्यो धीरो न गुपयति मह्यपि कायजाते ।

गुपित [ गुप + इलच् ] 1 राजा 2 रक्षक ।

गुप्त (मू० क० कृ०) [ गुप + क्त ] 1 प्रक्षित सप्त  
रक्षित—रघु० १।१६ 2 छिपाना हुआ ढका हुआ  
रहस्यमय—मनु० २।१६ ७।७६ ८।३७३ 3 अश्रय  
आश्रय से ओझल 4 सयुक्त—एत वैश्यों के नाम के  
साथ जुड़न वाली वर्ण सूचक उपाधि—चन्द्रगुप्त  
समूद्रगुप्त आदि (राज्याणां के नामों के साथ प्राय  
देव या गर्भन धर्मियों के नामों के साथ 'वर्भन या  
जातु वैश्यों के नामों के साथ गुप्त' भूति अथवा  
वस और शत्रु के नामों के साथ दान जोड़ा जाता  
है तु० शर्मा देवदत्त विग्रह्य वर्मा याता च भुभुज  
भूतिदेवदत्त वैश्वस्य रास गदस्य कारपत्)—एष  
(अप्य०) गुप्त रूप से निजी तौर पर अपने हक पर  
—दा काश्रयदा म धनित मह्य स्त्रीराजो मे से एक  
परकीया नायिका मुरति छिपान वाली नायिका—गुप्त  
मुरतगोपना वतिव्यम्राजमुरतगोपना और वतमान  
मुरतगोपना दे० रसम०—२४। सप०—कथा गुप्त वा  
गोपनीय सभाधार रहस्य गति गुप्तचर जासूस  
—चर जासूस छिप कर घूमन वाला (र) 1 बल  
राज वा विशेषण 2 गुप्तचर जासूस—हानम छिपा  
कर गया जान जाता दान गुप्त उद्धार—बेग बन्दा  
हुआ मस ।

गुप्तक [ गुप्त + क्त ] सघारक प्ररक्षक ।

गुप्ति (स्त्री०) [ गुप + णिच् ] 1 सघारण प्ररक्षा  
—सघारस्य तु सगस्य गुप्यमयम—मनु० १।८७ ९४ ९९  
पात्र० १।१९८ 2 छिपाना सूक्ष्मता 3 डकना म्याल  
म रहनता—अविचारानु गोपयन्ति—राम० १।१ 4 बिल  
कन्धरा कुष्ठ मूषमगूह 5 भूमि में बिल सोपना  
6 प्ररक्षा का उपाय दण्ड दुग्ग्राचीर 7 कारागार  
जत्र—सरभस इव गनिस्कोटमत्र वरोमि—पि०  
१।१६ 8 नाव वा तिकन्धा तल 9 रोह धाम ।

गुप्तक (तुगा० पर०) गुपति गुप्ति गुप्ति गुपना  
गुपन करना कायना लपेटना—भट्टि० ७।१०५  
2 (आन्०) निरन्ता रचना करना ।



(सू २२९९) इति न वृद्धिः । अजङ्गमोन् । अजङ्गनिष्ठाम् । हन्तेर्पङ्लुक् । अन्यास्ताष' (सू २४३०) इति कुत्वम् । यद्यपि 'हो हन्तेः—' (नू ३५८) इत्यतो 'हन्ते' इत्यनुवर्त्य विहितम् । तथापि यङ्लुकि भवत्येवेति न्यासकारः । 'दित्वा शपा' (प १३२) इति निषेधस्त्वानित्यः । 'गुणो यङ्लुकोः' (नू २६३०) इति सामान्यापेक्षज्ञापकादिति भावः । जङ्गतीति । जङ्गन्ति । जङ्गतः । जङ्गति । जङ्गतिता । दित्वा निदेशान्जादेशो न । जङ्गहि । अजङ्गमोन्-अजङ्गम । जङ्ग्यान् । आशिपि तु वध्यान् । अवधीन् । अवधिष्ठानित्यादि । वधादेशस्य द्वित्वन्तु न भवति । स्थानिवत्त्वेन 'अनन्यासस्य' इति निषेधान् । तद्वि समानाधिकरणं धातोर्विशेषणम् । बहुव्रीहिवलान् । आङ्पूर्वात्तु 'आङो

'दित्वा शपा' इति निषेधात्कार्यान्ह 'हो हन्तेः' इति कुत्वानित्याज्जेव । गुणः इति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इति ज्ञापकादित्यन्वयः । 'एकावो द्वे प्रथमस्य' इत्यत्र एकग्रहणायङ्लुकि द्विवचन-स्याभावादनन्यासामान्यात् 'गुणो यङ्लुको' इत्यन्यासस्य गुणविधान 'दित्वा शपा' इत्यादि-निषेधस्य ङाङिद्वन्द्वके अप्रवृत्ते ज्ञापयतात्पर्यं । नन्वेकाग्रपविधेरेव यङ्लुकि ङाङिद्वन्द्व-निष्पन्नानिऽपि 'हो हन्ते' इति दित्वा निदेशानिनिनकनिषेधस्य ऋष यङ्लुके अप्रवृत्तिः स्यादित्यत आह । सामान्यापेक्षेति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इत्यन्यासस्य गुणविधाननेका-ग्रग्रहणस्य नित्यत्व ज्ञापयत् तद्वचनोपानन्दमानान्यात् 'दित्वा शपा' इत्यादिसर्वनिषेधानां यङ्लुके ङाङिद्वन्द्वानि ज्ञापयतात्पर्यं । इति भावः इति ॥ न्यानकृत इति शेषः । जङ्ग-नीतीति ॥ 'जुगन्तः' इति लुक् । जङ्गतः इति ॥ 'अनुदानोपदेश' इत्यनुनासिकलोपः । जङ्गतीति ॥ 'गमहन' इत्युपशालोकः । जङ्गन्तिेति ॥ एकाग्रहणादिनिषेधो न । अङ्गात्त 'हन्तेः' इत्याद्यस्य आह । दित्वापेति ॥ अजङ्गन्तिेति ॥ लङ्ङित्वापि ईदनात् अवङ्गन् इति स्थिते हन्त्यादिलोप इति भावः । आशिपि तु वध्यादिति ॥ अयं भावः । वङ्गन् इत्यस्मादासात्त्विति 'हनो वध स्थिति' इति वधादेशः । प्रवृत्तिग्रहणेन यङ्लुगन्तत्वापि ग्रहणादाते भावः । अवधीदिति ॥ अङ्गन् इत्यन्यासलङ्ङित्वापि 'डाडि च' इति वधादेशे 'अन्ति-सिच' इति नित्यनिमित्ति भावः । ननु हनो यङ्लुगन्तात् आसात्त्वित्ते लुङ्ङत्वादिपि द्वित्वात्प्रत्यये वधादेशे इति तस्य द्वित्वं कुतो न स्यादित्यत आह । वधादेशस्य द्वित्वन्तु न भव-तीति ॥ कुत इत्यत आह । स्थानिवत्त्वेनेति ॥ वधादेशान्तरत्वादादीं द्विवचं कृते नाते इत्यङ्ङिवचनस्य स्थाने वधादेशः । तस्य च स्थानिवत्त्वेन सामान्यतया अनन्यासस्येति निषेधत्र द्विवचनपर्यं । ननु सामान्यतस्य स्थाने भवन् वधादेशः स्थानिवत्त्वेन सामान्यतोऽप्यु । द्विव-चनपूर्वम् । सामान्यतवेऽनन्यासामान्यात्कत्वात् अनन्यासस्येवनेन धातोर्वचनवत्त्वात् द्वित्वानपेक्षादित्यत आह । तद्वीति ॥ धात्ववयवस्य अन्यासत्वात् नापिः । किन्तु अन-न्यासो यो धातुः तदवयवस्यैव इत्येव । अनन्यासग्रहणं सामान्याधिकरण्येन धातोर्विशेषण-

यमहनः' (सू २६९५) इत्यात्मनेपदम् । आजह्वते इत्यादि । 'उत्परस्य—'  
(सू २६३७) इति तपरत्वात् गुण । 'हलि च' (सू ३५४) इति दीर्घस्तु  
स्यादेव । तस्यासिद्धत्वेन तपरत्वनिवर्त्यत्वायोगान् । चञ्चुरिति-चञ्चूर्ति ।  
चञ्चूर्त । चञ्चुरति । अचञ्चुरीन्-अचञ्चू । चह्वनीति-चह्वन्ति । 'जन-  
सन—' (सू २५०४) इत्यात्वम् । चह्वात् । 'गमहन—' (सू २६६३)  
इत्युपधालोप । चह्वरति । चह्वाहि । चह्वनानि । अचह्वरनीत्-  
अचह्वरन् । अचह्वरन् 'ये विभाषा' (सू १३१९) । चह्वरायान्-चह्वर-  
न्यात् । अचह्वरनीन्-अचह्वरानीन् । 'उतो वृद्धि—' (सू २४४३)  
इत्यत्र 'नाभ्यस्तस्य' इत्यनुवृत्तेरुतो वृद्धिर्न । योयोति-योयवीति । अयोयवीत्-

मित्यर्थः । नन्वेवमापि न अभ्यास अनभ्यास इति विग्रहे द्वित्वन्दुनिवारमेव । वधादेशस्य  
स्थानिवत्त्वेन धातो साभ्यासत्वेऽप्यभ्यासानात्मकत्वादित्यत आह । बहुव्रीहियलादिति ॥  
न विद्यते अभ्यासो यस्य धातोरिति बहुव्रीहिमाश्रित्य अनभ्यासस्येत्वेतद्धातो सामानाधि-  
करणेन विशेषणमित्यर्थः । प्रकृते च वधादेशस्य धातो स्थानिवत्त्वेन साभ्यासत्वाद्भ्यासहान-  
त्वाभावान् द्वित्वमिति भावः । आहपूर्वास्थिति ॥ यद्वलुगन्ताद्धनधातोरिति शेषः । 'आटो  
यमहन' इत्यत्र हन्प्रहणेन यत्प्लुगन्तस्यापि प्रहणम् । प्रहृतिप्रहणं यत्प्लुगन्तस्यापि प्रहणा-  
दिति भावः । उत्परस्येति ॥ 'चर गतौ भक्षणे च अस्माद्यत्प्लुक् लिट्स्तिपि ईडभावे  
द्वित्वे 'चरप्लोथ' इत्यभ्यासस्य तुक् । 'उत्परस्यात्' इत्युत्तरखण्डे अमारस्य उक्त्वं 'हलि च'  
इति दीर्घः । चञ्चूर्ताति रूपम् । लिपमाश्रित्य उकारस्य लघूपधगुणस्तु न । उदति तपर-  
करणसामर्थ्यात् । अन्यथा उरित्पुक्तेऽपि "भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति इत्येव दार्ढ्यादि-  
व्यावृत्तेरित्यर्थः । ननु उदिति तपरकरणायथा गुणा निवर्तते तथा 'हलि च' इति दाधोऽपि  
निवर्तते इत्यत आह । हलि चेति दीर्घस्तु स्यादेवेति ॥ कुत इत्यत आह । तस्येति ॥  
'हलि च' इति दीर्घशास्त्रस्य त्रैपादित्वेन 'उत्परस्यात्' इति शास्त्रप्रत्ययमिद्धतया तपरर-  
णेन तन्निवृत्तेरसम्भवादित्यर्थः । वस्तुतस्तु गुणस्यापि यद्विहृत्तया अमिद्धत्वात्तपरत्वनिवर्त्यत्व-  
म भवति । अतएव विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये 'उदोऽण्' इत्युक्त्वे पौर्ण्ये इत्यन्नाभ्यासगुणो दृश्य-  
मान उपपद्यत इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । अचञ्चूरिति ॥ ल-स्तिपि ईडभावे  
हल्ल्यादिना तलेपे प्रत्ययलक्षणेन 'हलि च' इति वा पदान्त-वात् 'वोरपधाना' इति वा  
दीर्घः । 'खनु अवदारणे' अस्माद्यत्प्लुक् उदाहरति । चह्वनीतीति ॥ चह्वाहीति ॥ हेर-  
पित्वेन डित्वात् 'जनसन' इत्यात्वम् । अचह्वनीदिति ॥ 'अस्तिसिच' इति निलमीट् ।  
'अतो हलादे' इति त्रिद्विविभक्त्यः । युधातो योयोतात्त्र 'उतो वृद्धि' इति वृद्धिमाशङ्क्य  
आह । उतो वृद्धिरित्यत्रेति ॥ आशिपि दीर्घः इति ॥ 'अवृत्सावधातुक्वो' इत्यनेनेति  
भावः । अयोयवीदिति ॥ ईदि सिचि वृद्धिः । युधातोरपि युधातुवद्रूपाणीति मत्वा आह ।

गुल्म, लम्ब [गुड+मक डल्प ल—तारा०] 1 वृक्षो का गुड पुरपुर वन घाड़ी—मनु० १।४८ ७।१९२ १२।५८ गज० २।२२९ 2 विषाहिया का दल लम्ब दल त्रिमम ४५ पदादि २७ अरवाराही ९ रवाराही और ९ पानराही हान है 3 दुग 4 तिलो 5 तिल्ली का बड जाना 6 गव को गुल्लि बोवा 7 घट 8

गुल्मिन (वि०) (स्त्री०—नी) [गुल्म+इनि] शुरुमुट या पाडवल् म उगनवाना बडा हुइ निल्ल वाला निल्ला के रान से फल ।

गुल्मी (गुल्म+अच+हीय) तबु ।

गु (गु) वाक [गु+आक] गुपारा का पेड ।

गुह (ग्वा० उभ०—गुह्नि-ते) इज्जा डिपाना परदा डालना गुह ग्वना—गुह व गहनि गुणाम प्रकटा करानि—मनु० २।७२ गह्वकम इवाङ्गानि मनु० १०५ २५० १४।४९ मट्टि० १६।४९ उप—आग्निग करना तरङ्गहस्तेणगुह्याव—रघु० १३।६३ १८।४७ मट्टि० १४।५० नि० १।२८ नि , डिपाना गुह रवना ।

गुह [गुह+क] 1 कानिकेय का विाणप—गुह इवाभति हवाकित—का० ८ कु० ५।१४ 2 घाडा 3 निशाद या चाडाल का नाम जा शृण्वर का राजा तथा भावान राम का मित्र था ।

गुह [गुह+टाप] 1 गुफा कदम टिउन का स्थान—ज्ञानिबद्धप्रतिगम्बदीचम—रघु० २।२८ ५१ वमस्य तत्थ विहित गह्याम—महा० 2 डिपाना इकना 3 गडा बिल 4 हृदय । सम० आहित (वि०) हृदय में रक्या हुआ घरेल बह्य—मुख (वि०) गुफा जैसे गुह का चौड गुह का खुले गुह का—सप 1 चूहा 2 गर 3 परमात्मा ।

गुहिनम [गुह+इतच] वन जगल ।

गुहेर [गुह+एरक] 1 अमिभावन प्ररसक 2 लुजर ।

गुह्य (स० क०) [गुह+कटप] 1 डिपान के याण पोपनाय गुह्य रखन क बोधे निजी—गुह्य व गहनि—मनु० २।७२ 2 गुण एकान्तवासी विरक (नेवानिबन्ध) 3 रहस्यगुण—मग० १८।६३—ह्य 1 पाण्ड 2 बलुवा—ह्यम 1 भर रहस्य—मीन वैदासिम गुह्यानाम—भग० १०।१८ १।२ मनु० १२।११७ 2 गुण इन्द्रिय गुह्य या स्त्री की जनने टिय । सम०—गुह्य वि का विाणप—शेषक जुगल—निष्कन्ते गुह्य—भावितम् 1 गुणवार्त् 2 भर रहस्य की वन—मय कानिकेय का डिाषण ।

गुह्यक [गुह्य गान्तय क गुह्य ययाम—व० स०] यक्ष जैसी एक अंधेरा की श्रणा जा बुद्ध क सबक तथा उनक काप के सारक है—गुह्यकन यवाव—नेष० ५ मनु० १२।४३।

गु (स्था०) [गम+कू टिलोप] 1 बूजा करकट 2 मल विटा ।

गुड (गु० क० ह०) [गुह+क] 1 डिपान हुआ गुल्, गुधा रनिग हुआ 2 डवा हुआ । सम०—अङ्ग बहुवा—अट्टमि साप—आम्पन (समान होकर गुडामन् बनना हि निडो० न इम प्रञ्च समानान किया है—अवेद वर्णामां ह्य मिदो वर्णविपययान गुडामा वष विहृनवणलात्सपादर) परमाया—उत्पन्न—अ हिदुनम गायो म वणि १२ प्रकार के गुधा में से एक यह उव स्त्री का गुल् पुत्र है जिसका पति परदेण गया हुआ है तथा वास्तविक पिता अनात है—गुहे प्रचउउ उरुमी गुडजन्तु गुन समन यान० २।१२९ १७० नौड सजवपणा पय 1 गुडामाग 2 पय डकी 3 मन बुद्धि—पाड—पाड साप—गुह्य जागुम गुतकर मयिया पुष्पक बहुवक्ष माण भुणम माग मधुन बोवा—बचत (पु०) मटक—साक्षिन (पु०) गपत गसाह एम साभी जिसन प्रतिवादी की बना का चुपचाप गुना हो ।

गुध, धम [गु—यक] मल विटा ।

गुन (वि०) [ग+क] उल्मक मल ।

गुरणम—दो गुरल ।

गुषणा ? मोर के पय म बने हुई आभ की आहृति ।

गु (भ्य० पर० वरणि) डिडकना तर बरना गीना करता ।

गुज गुञ्ज (ग्वा० पर०) गजनि गुञ्जनि) शब्द करना दहाडना घरना आदि ।

गुञ्जव [गुञ्ज+स्युट] 1 गजर 2 गलजम 3 गात्र (गात्र को पनिया का चवाना जिसने कि माइकता पैण ह) —नम विरपे तीर स मारे हुए पयु का मात ।

गुचिड (ही) व [?] गौडका का एक जाति ।

गुघ (दिवा० पर०) गुप्यति गड) सन्धवाता इज्जा करना लोभकण प्रयलनान हाना म्पलापित होना अभिन्गारी हाना ।

गुघु (वि०) [गुघ+कु] बामातुर लम्पट—घु बामदेव ।

गुघ्नु (वि०) [गुघ+क] 1 लामो लालची—अनुनुरादे सोयम रघु० १।२१ 2 उलुक इन्दुव ।

गुध्याम, ध्या [गध+वय] इज्जा लाम ।

गुध्र (वि०) [गुध+क] 1 लामो लालचा—ध्र—ध्रम् टिड—माजारेस्य हि दाफल हूयो गुडा जदुगव हि० १।५९ रघु० १२।५० ५९। सप०—कूट राजगोह क निकट विद्यमान एक पहाड बनि—राज गिडो का राजा जटापु—अपेवासीमहनि निमरे म्परापस्य दाम—उमर० २।५५—बाज, बाजिन (वि०) गिड के परा न युवन (वाण आदि) ।

गुह्यि (स्त्री०) [गुह्यति मञ्च कणम् घृ+सिच]

अयोयोत् । योयुयात् । आशिषि दीर्घः । योयूयात् । अयोयावीत् ।  
 नोनवीति—नोनोति । जाहेति—जाहाति । 'ई हत्यघोः' (सू २४९७) ।  
 जाहीतः । इह 'जहातेश्च' (सू २४९८) 'आ च हौ' (सू २४९९)  
 'लोपो यि' (सू २५००) 'घुमास्था' (सू २४६२) 'एलिङि' (सू २३७४)  
 इत्येते पश्चापि न भवन्ति । रितपा निर्देशात् । जाहति । जाहासि—जाहेपि ।  
 जाहीथः । जाहीथ । जाहीहि । अजाहेत्—अजाहात् । अजाहीताम् ।  
 अजाहुः । जाहीयात् । आशिषि जाहायात् । अजाहासीत् । अजाहासिष्टाम् ।  
 अजाहिष्यत् । लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणाभावात् 'स्वपित्स्यमि—' (सू २६४५)  
 इत्युत्त्वं न । 'रुदादिभ्यः—' (सू २४७४) इति गणनिर्दिष्टत्वादीण्यन । सास्व-

नोनवीतीति ॥ हाङ्हाकोर्यङ्लुकि तुल्यानि रूपाणि । डित्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्य यङ्लुकि  
 अप्रवृत्तेरुक्तत्वादिति मत्वा आह । जाहेतीति ॥ हाङ्हाकोर्यङ्लुगन्ताङ्गटस्तिपि ईटि आहुणे  
 रूपम् । नच हाङोऽभ्यासस्य 'भृजामित्' इति इत्त्वम् । हाकस्तु तत्रास्ति । भृञ् भाङ् ओहाङ्  
 एपान्त्रयाणामेव तत्र ग्रहणान् क्व हाङ्हाकोस्तुल्यत्वमिति शङ्क्यम् । 'भृजामित्' इत्यस्य  
 श्वावेव प्रवृत्ते । न चाकित इति निषेधात् हाकोऽभ्यासस्य दीर्घाभावात् कथमुभयोस्तुल्यरूपत्व-  
 मिति वाच्यम् । क् इत् यस्य स. त्रित् न विद्यते कित् यस्य सः अकित् तस्य अकित् इति  
 बहुव्रीहिरुर्भवहुव्रीह्याश्रयणात् । इह च हाको धातो कित्त्वेऽपि न किद्वत्त्वम् । तदभ्यासस्य तु  
 दूरेतरान् किद्वत्त्वम् । 'द्वि. प्रयोगो द्विर्वचन पाठम्' इति सिद्धान्तात् । बहुव्रीह्याश्रयणसाम-  
 र्थादेव व्यपदेशित्वत्वेन हाको न कित्त्वम् । अतो हाकोऽप्यभ्यासदीर्घो निर्वाध इति भावः ।  
 जाहीतः इति ॥ हाङ्हाकोस्तसि ईत्वमेव । ननु हाको 'जहातेश्च' इति इत्त्वविकल्पः कुतो  
 नेत्यत आह । इहेति ॥ हलादौ किङिति सार्वधातुके 'जहातेश्च' इति इत्त्वविकल्पः । तथा  
 'आ च हौ' इति जहातेर्हौ परे आत्वमीत्वञ्च, तथा 'लोपो यि' इति यादौ सार्वधातुके जहाते-  
 रलोपश्च, तथा 'घुमास्था' इति जहातेर्हलादौ किट्त्वार्धधातुके ईत्वञ्च, तथा 'एलिङि'  
 इति जहातेरार्धधातुके परे किट्त्वत्त्वञ्च, इत्येते पश्चापि विधयो यङ्लुकि न भवन्तीत्यर्थः ।  
 कुत इत्यत आह । रितपेति ॥ एतच्च जाहीत इत्यत्र 'ई हत्यघोः' इति ईत्वमेव ।  
 नत्वित्त्वविकल्प इति स्थितम् । जाहतीति ॥ 'अदभ्यस्तात्' इत्यदादेशः 'भ्राभ्यस्तयोः'  
 इत्यालोपः । जाहास्यकारः । जाहिता । जाहिष्यति । जाहेतु—जाहातु—जाहीतात् । जाहीताम् ।  
 जाहतु । जाहीहीति ॥ हेरपित्त्वेन टित्त्वादीत्वम् । इह 'आ च हौ' इति न । विधिलिट्याह ।  
 जाहीयादिति ॥ 'ई हत्यघोः' इति ईत्वमेव । 'लोपो यि' इत्यालोपस्तु न । आशिषि । जाहाया-  
 दिति ॥ इह 'घुमास्था' इति ईत्वम् । 'एलिङि' इत्यापि न । अजाहासीदिति ॥ 'यमरम्'  
 इति समिटी । 'जि ष्वप् शये' अस्य यङ्लुकि 'स्वपित्स्यमिभ्येना यङि' इति सम्प्रसारणमाशङ्क्य  
 आह । लुका लुप्ते इति ॥ उच्चप्रेति ॥ वस्य सम्प्रसारणनेत्यर्थः । ईङ्भावपक्षे 'रुदादिभ्यः'

प्रा० तारा० १ एक घर व्याड हई नै पहलौठी  
— (महामुखा गी) त्रपीनमारोडहृत्प्रवत्तारमण्टि  
— १८ स्त्री तावत्यसृज पठन्ती दानवनस्या  
इव गण्टि नृनाड वराणि मच्छ० २ (दूसरे  
प्रा० क तावा क नव बुद्धर) किन्तो भी पशु का  
(मादा बच्चा वासिनागण्टि रविना का(माता)बच्चा ।

गृहम् [गृह + क] १ घर निवास आवास भवन—न गृ  
गृहमिवाहृत्प्रवत्तारमण्टि—पञ० ४८१ दण्ड वानर  
मथण मण्डा निहाहृत्प्रवत्तारमण्टि—पञ० १ ३९० २ पत्नी  
(उपयुक्त उद्धरण कर्त्त वार निदान क रूप में प्रयुक्ता  
होता है) ३ गृहस्थ आवन ४ इयादि राशि ५ नाम  
या आनमान हा (५० व० व०) १ घर निवास  
इम ता गृहा—मंडा० १ स्फटिकापस्त्रविषया गृहा  
गामाङ्गुलनिरङ्गुभिलय वै० २७० त्रयानार  
मण्डिकाहृत्प्रवत्तारमण्टि—मण्डा० मेष० ३५ २ पत्नी  
३ घर के निवासी कुत्रः मण०—अथ शरका  
माता स्त्री या आननाकार विदकी—अपिप—ईडा  
—ईश्वर १ गृह्य २ किसी राशि का स्वामी  
—अपनिक्त गृह्य—अथ घरेलु मानला घरेलु बाने  
—गृहार्थो निवारिण्यया—मनु० २।१०—अन्तम  
मण्ड प्रका क बायी—अवग्रहो दहली अरमान  
(५०) मिल् (एक आननाकार पत्थर जिस  
पर समान पास जाय ह) आराम गृहवाटिका  
—आधम गृहवा का आराम श्राद्धाण क धार्मिक  
जीवन का दूसरी संख्या—दे० आधम उत्पान  
काड करल ज्यो—उपकरणम परलु बानत गृहस्थ  
क श्रया की नामया—कचअथ—गृहस्थन दे०  
कपोल—तक पालतू कचनर करणम १ पाल  
दानया २ घर का इमान्य—कवन (५०) गृहस्थ  
के लिए विहित कम शस चाकर धरल नोकर  
गृहस्थमण्डा—मण० १ १—कच घरेलु ग्रांठा भा  
भाड की लडाई—कारक घर बनाने वाला रात्र  
पञ० २ १४६—कुक्कुट पालतू मुर्ति कायम घर  
का कामकाज मनु० ५ १५०—बुली माथ लग  
हूँ दा कमरा का घर बिमसे से एक का मुख पूद  
और दूसर का पश्चिम की ओर हो छिन्न १ घर  
की गज दान या श्यज्राणि २ सौमिक अनवन  
—अत्रा घर म ही पैंग हुआ नोकर—आलिवा  
बाया कपटप आनिक (गृहगानि भी) घर  
म ही तावमारडा अनुभवगुच जेड मुख तदी  
घर क नामन बना बदनरा—दख घरेलु लेवक  
—इचना च का अगिठापी देवता (३० व०)  
कुल देवताया का समूह—बैहली घरकी दहलीर—वासा  
बलि मसाद मगृहहृत्प्रवत्तारमण्टि—मण्ड० ११\* मम

नम् हुवा मानन अगली कचनर—नोड चिडिया  
गारना—पति १ गृहस्थ ब्रह्मण्य आयम के पन्चान  
विवाहित जीवन विधान वाला घर का मालिक  
२ यजमान ३ गृहस्थ के उपयुक्त कम अथान आनिय  
आर्ति—पाल १ घर का सरसक २ घर का कुत्ता  
—पोल्क घर की जगह वह भूभाग जिस पर घर  
की इमारत बनी हुई है और जो घर की घरछी है  
प्रदेश नय घर म विधिवुक्त प्रवण करना बंध  
पालतू कवला—बलि वैश्वदेव यज्ञ म दी जान वाली  
जाहुति अविगण्ट अथ सब जोवननुया की विवरण  
करना मत० २।२६ भूज (५०) १ घोडा  
२ बिडिग नाशारभंगहृत्प्रवत्तारमण्टि—मेष० ३  
—देवता घर का देवता जिसे जाहुति दी जाती  
है बह्म १ घर म निर्वासित व्यक्ति प्रवासी २ घर  
का नाग बरना ३ घर में लक्ष गाला ४ अस्तरलता  
किसी दुवान या घर की बर्बादी या नाश—भूमि  
(स्त्री०) वास्तु स्थान वह जमीन जिस पर कांड  
मजान बना हा—अदिम (वि०) १ घर के कामो  
य ताव झाक करन वाला २ घर म कलह करान  
वाला भणि दोनक—पाश्चिमा चमगाण्ड—मय  
कुत्ता—मेष १ गृहस्थ २ पथमज—मेदिना (५०)  
गृहस्थ—गृहहृत्प्रवत्तारमण्टि—मण्ड० प्रजापे गृह  
दिवनाम—रेणु० १।३ दे० गृहगानि—यजम जसव  
आदि के अवसर पर पढ़ा पठान का इडा या काई  
और उपकरण—गृहय कपलाबायीस्त्रीरादरतिमिता—कु०  
५।४१—वाडिका बाटी घर से मिली हुई बगानी  
—वित्त घर का स्वामी—गृह पालतू तागा आमीद  
के लिए पाला हुवा तावा—कमर १३—संशक  
व्यावसायिक भवननिर्माण स्थपति—कृष् गृहा दूसरे  
आधम म प्रवण करक रहल वाला खपटा ह्यहित  
कीना प्रयुक्तगृहस्थका—उत्तर० १।९ ३० गृहपति  
और मनु० ३ २८ ६।९० आधम गृहस्थ का आवन  
दे० गृहस्थम धम गृहस्थ के कतव्य ।

गृहस्थम् [गृह + स्थि + ग्यम्] १ गृहस्थ घरबार वाला  
(तारा० क अनुसार गृहस्थमण्डु म दिवा गया  
गृहस्थ रूप म नही है) ।

गृहपाल (वि०) [गृह + पाल + आत्] पकड़न वाला  
ग्रहण करन वाला ।

गृहियो [गृह—इति + ङीप्] गृहस्थामिनी पत्नी गृहपती  
(घर का कार्यकार सहायन वाली स्त्री)—न गृह  
गृहमिवाहृत्प्रवत्तारमण्टि गृहमुच्यते गृह तु त्रिपीहीन  
वासा रादरतिमिच्यते पञ० ४।८१। मण०—यजम  
गृहस्थामिनी का पर या प्रतिष्ठा यायेव गृहियोण्ड  
युवतया वासा कुलस्थापय—२० ४।१० स्थिता  
गृहियापदे १८ ।

पीति—सास्वप्ति । सास्वप्नः । सास्वपति । असास्वपीत्—असास्वप् । सास्व-  
प्यात् । आशिपि तु 'वचिस्वपि—' (सू २४०९) इत्युत्त्वम् । सामुप्यात् ।  
असास्वापीत्—असास्वपीन् ।

२६५२ । रुग्रिकौ च लुकि । (७-४-९१)

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य 'रक्' 'रिक्' 'रीक्' एते आगमाः  
स्युर्यङ्लुकि ।

२६५३ । ऋतश्च । (७-४-९२)

ऋदन्तधातोरपि तथा । वर्ध्वातीति—वरिवृतीति—वरीवृतीति । वर्वति—  
वरिवर्ति—वरीवर्ति । वर्धत.—वरिवृत्.—वरीवृत्तः । वर्ध्वातीति—वरिवृत्तीति—वरीवृत्तीति ।  
वर्ध्वातीमास—वरिवर्तीमास—वरीवर्तीमास । वर्ध्वातीति—वरिवर्तीति—वरीवर्तीति ।  
गणनिर्दिष्टत्वात् 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः' (सू २६४८) इति न । वर्ध्वातीत्यति—वरिवर्ती-  
त्यति—वरीवर्तीत्यति । अवर्ध्वातीन्—अवरिवृतीन्—अवरीवृतीन् । अवर्वन्—अवरि-  
वर्त्—अवरीवर्त् । सिपि 'दश्च' (सू २४६८) इति रुत्वपक्षे 'रो रि' (१७३)  
अवर्वाः—अवरिवा—अवरीवा । गणनिर्दिष्टत्वाद्ङ् न । अवर्वतीन्—अवरिवर्तीन् ।

इत्माशङ्क्य आह । रुद्रादिभ्यः इति ॥ असास्वप् इति ॥ लडस्तिपि ईडभावे हल्ङ्गा-  
दिलोप । असास्वापीत् इति ॥ 'अतो हलादे' इति वृद्धिविकल्प । 'अस्तिसिच' इति  
निल्यमाद् । रुग्रिकौ च लुकि ॥ 'ऋदुपधस्य च' इत्यतः ऋदुपधस्येत्यनुवर्तते । रिगपि  
इह चकारात् समुञ्जीयते । 'अत्र लोप' इत्यतः अभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'गुणो यङ्लुङोः'  
इत्यतः यङ्लुङप्रहणञ्च । तदाह । ऋदुपधस्येत्यादिना ॥ रकि उरार उच्चारणार्थः ।  
रिक्कि तु इकार. ध्रूयत एव । एव रीक्कि ईकारथ । व्याख्यानात् । ऋतश्च ॥ तथेति ॥ अभ्या-  
सस्य रक् रिक् रीक् एते आगमाः स्यु यङ्लुङीत्यर्थः । 'वृत्तु वर्तने' अस्माद्यङ्लुङान्तात् बभूव  
इत्यस्मात्लटस्तिपि ईट्पक्षे अभ्यासस्य क्रमेण रक् रिक् रीक् उदाहरति । वर्ध्वातीति—वरि-  
वृत्तीति—वरीवृत्तीति इति ॥ ईट्पक्षे 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति नियेधान्न  
लघूपधगुण । ईडभावेऽपि रगाद्यङ्गमत्रयमुदाहरति । वर्ध्वातीत्यादि ॥ इति नेति ॥ इभि-  
षेधो नेत्यर्थः । लोटि वर्ध्वातीत्—वर्वत्तु—वर्ध्वात् । वर्ध्वात् । वर्ध्वात् । वर्ध्वात् । वर्ध्वात् । वर्ध्वात् ।  
लटस्तिपि ईटि आह । अवर्ध्वातीदिति ॥ ईडभावे त्वाह । अवर्वत् इति ॥ हल्ङ्गादिना  
तिपो लोप । 'रात्सस्य' इति नियमान्न सयोगान्तलोपः । अवर्वाः इति ॥ लडस्तिपि  
अवर्वत् सि इति स्थिते 'दश्च' इति दकारस्य रुत्वे 'रो रि' इति पूर्वरेफस्य लोपे ङ्लोपे इति  
दीर्घे हल्ङ्गादिना सिपो लोपे रेफस्य विसर्ग इति भावः । अङ् नेति ॥ 'पुषादिशुतादि'  
इत्यनेनेति शेषः । 'अस्तिसिचः' इति निल्यमाद् । अथ 'ङ् कृन् करणे' इति धातोश्चादाहरति ।

गहिन (वि०) [गह+इनि] घर का स्वामी गहम्भ घरकारी पौन्यने गहिया कथ नू तनपाविरलेपयुस नव गां ४५ उत्तर० २।२२ गां० २।२४।

गहीत (म० क० कृ०) [गह+त्ति] 1 लिया हुआ पकड़ा हुआ केशय गहीत 2 स्वीकृत 3 प्राप्त अवाप्त 4 परिहिन पना हुआ 5 लटा हुआ 6 अधिगत ज्ञान—दे० प्रह 1 सय० गर्भो गभवनी स्त्री—दिग (वि०) 1 भागा हुआ भगोडा तिनरविनर हुआ 2 तिरोभत लापता

गहीतिन (वि०) (स्त्री०—ती) [गहीत+इनि] जिसन कोई जान समन सी ह (अधि० के साथ)—नगीती घन्सन्नय दग० १२०

गह्य (वि०) [गह+क्यप] 1 आच्छेद या प्रसन्न होन के योग्य जसा कि गृणगह्य 2 घरेलू 3 जो अपना स्वामी ने तो परतत्र 4 पालनू घर म सघाया हुआ 5 बाहर स्थित घामगह्य सेना (गवि के बाहर स्थित सेना) ह्य 1 घर म रहन वाला 2 पालनू जानवर ह्यम गुण सम० अग्नि अविहोत्र की जग दिनको स्थापित रखना प्रयक ब्राह्मण का विहित कर्म ह

गह्या [गह्य+दाप] गहर के निकट यता हुआ गांव

ग 1 (कदा० पर०—गघाति गण) 1 ग करना पुका रना आवाहन करना 2 घापणा करना बोलना उच्चारण करना प्रसूचन करना रघ० १० १३ 3 बयान करना प्रघारित करना 4 प्रगसा करना स्तुति करना—केचिद्गोषा प्रञ्जलयो गणनि भय० ११ २१ भट्टि० ८।७७ अम प्रोसाहित करना भट्टि० ८ ७७ 1 (गुण० पर० गिरति या मिलति) 1 निगलना हन्य करना सा जाना 2 निकालना उदलना घक देना महु से फकना अद—(आ०) खाना निगलना—सवाकीरमागसब निगाघदासि गोणितम भट्टि० ८।३० उ—1 फकना घक देना वमत करना उगिरतो य मरल कणित पुण्यासि परिमन्तोयार भासि० १।११ गि० १।४ 2 उन्म जन करना निहाल बाहर करन ग्गत देना कुं० १ ३ रघ० १।४ ५३ बेगी० ५ १४ पच० ५ ६३ नि निगलना सा जाना भासि० १ ३८ सम 1 निगलना 2 प्रविज्ञा करना इन करना (आ०) सम 1 बाहर फक देना निहाल देना 2 जोर से चिल्लाना 1 (चर० आ० गारयने) 1 मन जाना धनन करना 2 अध्यायन करना

गघ (डु) क [ग+घीति ग इन्डरिघ गघु+कन गडक परा०] सन्त के लिए गघ (गडक की)।

गघ (वि०) [ग+घन्] 1 गायक गाने वाला—गदो माण वक साम्याम—गां० ३ ४।६८ मिडा० 2 गाय जन

के योग्य घम 1 गीन गायन गान की कला—गघ केन विनीची वाम रघ० १५।६९ मेघ० ८६ अन्ता वाडमप्रसाहो गवस्यव विविपना गि० २।७२।

गघ् (भा० जा० गपने गण) दडना खोदना तलाप करना—तु० गघेन 1।

गहम [ग गणगो गघर्वा वा ईह ईसिनी यत्र तारा०] घर, अवात सा भारी विपका जाना गहे रानिनि तत्पति (गुभा० वि० दस ग का अधि० का रूप अलक त० स० बनाव के लिए कर् गघने के साथ प्रयोग होता ह उग० गहेदेविन (वि०) घर पर तोडमारखा अर्थात् कायर मोह गहेदाहिन् (वि०) घर पर ही तेज अर्थात् कायर गहेवेदिन (वि०) घर पर ही लकालन वाला अर्थात् कायर पूरे वा मर्गा या डरपोक गहेदेहिन् (वि०) घर म ही मनन वाला अर्थात् अलसी गहेपाड डींग मारनवाला आमरलाधो गहोसीध गहेशर अण मोन्ले म कुला भी गर होता ह चारणभारो के शूरमा कालीन के गर डींग मारनवाला कायर

गहिन (वि०) (स्त्री०—ती) [ग+इदि] गहिन गहिनी [गहिन+डोप] पत्नी घर की स्वामिनी—घद यस्य विना क्षमा च जतनी गान्निविचर गहिनी—गां० ४९ मन्गहिन्या प्रिय इति मत केनता कातरेण मेघ० ७७

ग (भा० पर० गायति गीन) 1 गाना गीत गाना—जगो साध रेभिनेन गीनम घच्छ० ३ घोमसमव मविहृय गीवनाम ज० १ मन० ४ ६४ ९ ४७ 2 गान के स्वर म बालना या पाड करना 3 बगन करना घोषणा करना काना (उन्मोयपी भाषा म) गीनरवायमयोङ्करता—मां० २ 4 गान क स्वर म बगन करना बयान करना या प्रकान करना चारण इन्डरिगि—गां० २ १४ प्रभवलस्य गीयने—कु० २ ५ अन्—गान म अनकरण करना—अनगायनि काचिदुन्मिचनपञ्चमरागन्—गीत० १ हि० ३ ६० अथ निल्म करना कलङिन करना उन् उडे स्वर म गाना उन् स्वर म गायन उन्गाम्यना मिन्डनि किररायास कुं० १८ गयमगातुशामा—मेघ० ८६ उन्गीयमान वनैवपासि—रघ० २ १२ उप—गाना निकट गाना गियप्रगिधयगपीयमा नमवेहि लमन्ममिधयाम उडुर् कि० १८ ४७ परि—गाना बयान करना बगन करना वि 1 बन्नाम करना लिङकना कर्त्तव्य करना विनी यने मन्मपहेहाहिना—ज० १।७ 2 विषम स्वर (अवेय स्वर) म गाना।

गर (वि०) (स्त्री० री) [गिर+अण] पहाड म आया हुआ पहाडी पहाड पर उतरन।

अवरोवर्तान् । चर्करीति—चर्करीति—चरिर्कार्ति—चरोर्कार्ति । चर्कृतः । चर्कृति ।  
 चर्कराञ्चकार । चर्करिता । अचर्करीन्—अचर्करः । चर्कृत्यान् । आशिपि रिङ् ।  
 चर्कृत्यान् । अचर्करीन् । ‘ऋतश्च’ (सू २६५३) इति तपरत्वाच्चेह ।  
 ‘ऋ विशेपे’ । चाकर्ति । तावति । तावीर्तिः । तातिरति । तावीर्हि । तातराणि ।  
 अतातरीन्—अतातः । अतावीर्ताम् । अतातरुः । अतातारीन् । अतातारिष्ठा-  
 नित्यादि । अर्तेर्यङ्लुकि द्वित्वेऽभ्यासस्योरदत्त्वं रपरत्वम् । ‘ह्लादिः शेषः’  
 (सू २१७९) रुक् । रिग्रीकोस्तु ‘अभ्यासस्यासवर्णे’ (सू २२९०) इति इयङ् ।  
 अरति—अरिर्वाति । अररीति—अरियरीति । अर्कृत—अरियृन्ः । स्त्रि अन् । यण् । ऋको  
 ‘रो रि’ (सू १७३) इति लोपः । न च तस्मिन्कर्तव्ये यणः स्थानिवत्त्वम् ।

चर्करीतीत्यादि ॥ चर्कृत्यादिति ॥ विबिलिटस्तिङ्स्सार्वधातुऋत्वात् ‘अङ्गत्सार्वधातुऋयोः’  
 इति दीधो न । आशिपीति ॥ आशीलिङ् आर्षधातुऋत्वात् ‘रिङ् शचग्लिङ्धु’ इति  
 शिञि न । लुकि अचर्करीदिति ॥ सिचि गृह्ये । ऋतश्च इति तपरत्वाच्चेहिति ॥  
 श्मिप्राक् इति शेषः । चाकर्तीति ॥ ईट्भावे रूपम् । नचाभ्यासद्वस्त्वत्वे ‘रीट्त्वत्’ इति राङ्  
 शङ्घः । नित्यत्वादुरदत्त्वस्य प्राप्ते । चाकीति । चाकिरति । इत्यादि । डिक्वाट्टुभावे ऋत इव  
 रपरत्वम् । चाकरीति । चाकीर्ति । चाकिरति । चाकराञ्चकार । चाकरिता । चाकर्तुं—चाकर्ताम् ।  
 चाकिरतु । चाकीर्हि । चाकराणि । लडि अचाकरीन्—अचाकः । अचाकर्ताम् । अचाकरः । विधावा-  
 शिपि च चाकीर्ताम् । यामुट्टो डिक्वात्र गुणः । इत्वं ‘हलि च’ इति दाषः । चाकायांताम्, चाकीर्त्या-  
 स्ताम्, इत्यादि । लुटि अचाकरान्, अचाकरिष्ठां, इत्यादि । एव ‘तृ ऋनतरणयोः’ इत्यस्या-  
 पि रूपाणि । अर्द्धतदापिनाया तु चोय नावतरातर्ताति लेखकप्रमादः । चोयन्तु नावतातर्ताति  
 पाठः प्रामाणिकः । अर्तेरिति ॥ ‘मूचिमूक्ति’ इत्यादिना ऋधातोर्देह् । तस्य लुक् । व्यपदेशिकत्वेन  
 ऋ इत्यस्य आदिभूतादत्र परत्वात् द्वितीयैकाच्चाच्च द्वित्वम् । अभ्यासऋवर्णस्य अत्वे रपरत्वं अर्  
 ऋ इति स्थिते ह्लादिशेषेण रेफस्य निवृत्तिः । अ ऋ इति स्थिते अभ्यासस्य रुक् । लट्प्रतिपि  
 ईट्भावे अर् ऋ ति इति स्थिते तपि ऋदास्य गुणे अकारे रपरे सति अर्ताति रूपमित्यर्थः ।  
 रिग्रीकोस्त्विति ॥ यङ्लुकि द्वित्वे उरदत्त्वे ह्लादिशेषे अ ऋ इति स्थिते रिक् रिक् च वृत्ते  
 ति । उत्तरखण्डस्य ऋकारस्य गुणे अकारे रपरे वृत्ते अरि अर्ताति स्थिते अभ्यासे रेफादिवर्णस्य यण-  
 न्वाधित्वा ‘अभ्यासस्यासवर्णे’ इति इयादि अरियर्ताति रिग्रीकोस्तुन्य रूपमित्यर्थः । अथ लट्-  
 स्तिपि ईट्प्रभे आह । अररीति—अरियरीतीति ॥ अर्कृतः इति ॥ रुक् तपि रूपम् । डि-  
 क्वात्र गुणः । अरियृतः इति ॥ द्वित्वे उरदत्त्वे ह्लादिशेषे अ ऋ तन् इति स्थिते रिक् रिक् च  
 वृत्ते इयडादेशे रूपम् । स्त्रि अर्दिति ॥ स्त्रि इत्यविभक्तिरनिदशः उदाहरणमूचनार्थः । ‘अदन्वस्ता-  
 त्’ इति ज्ञेः अर्देद्य इति यङ् । यणिति ॥ रुक् वृत्ते अर् ऋ भवति इति स्थिते ऋकारस्य यण्  
 रेफ इत्यर्थः । तथाच अर् र् अर्ताति स्थिते आह । रुको ये रीति लोपः इति ॥ ननु



पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधान् । आरति-अरियूति । लिङि शितपा निर्देशान् 'गुणोऽ-  
र्ति—' (सू २३८०) इति गुणो न । रिङ् । रलोप । दीर्घः । आरियात्-  
अरियूयात् । 'गृह् प्रहणे' जर्गृहीति-जर्गाडि । जर्गृढः । जर्गृहति ।

रेफलोपे कर्तव्ये यणादेशसम्पन्नस्य रेफस्य अच परस्मिन् इति स्थानिवत्त्वात् ऋकारपरकत्वात्प-  
परकत्वाभावात् कथ पूर्वरेफस्य लोप इत्यत आह । पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधादिति ॥  
पूर्वत्रासिद्धीयकार्ये कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः । आरतीति ॥ अर् अति इति स्थिते  
पूर्वरेफस्य लोपे सति 'ढलोपे' इति दार्ढ्यं । नच यण स्थानिवत्त्व शङ्क्यम् । दीर्घविधौ तन्निषे-  
धादिति भावः । अरियूतीति ॥ द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे रिक्कि रीक् च कृते परत्वाद-  
भ्यासस्य इत्यङि ततो यणि रिप्राकोस्तुल्यमेव रूपमित्यर्थः । अरपि-अरियापि-अररीपि-  
अरियरीपि । अर्कृष-अरियथ । अरामि-अरियामि-अररीमि-अरियरीमि । अर्कृष-  
अरियव । अरराञ्चकार-अरियराञ्चकार । अररिता-अरियरिता । अररिष्यति-अरियरिष्यति ।  
अर्तुं-अरियतुं-अररीतु-अरियरीतु-अर्कृतात्-अरियतात् । अर्कृताम्-अरियताम् ।  
आरतु-अरियतु । अर्कृहि-अरियहि । अरराणि-अरियराणि । अरराव-अरियराव ।  
लुङि आर - आरिय - आररीन् - आरियरीत् । आर्कृताम् - अरियताम् । आरह -  
आरियह । आर - आरिय - आररी - आरियरी । आर्कृतम् आरियृतम् ।  
आर्कृत-आरियत । आररम्-आरियरम् । आर्कृष-आरियव । विधिलिङि अर्कृ-  
यात्-अरिययात् । अर्कृयाताम् अरिययाताम् । अर्कृत्यु-अरिययु । इत्यादि ।  
आशीर्लिङि विशेषमाह । लिङि शितपेति ॥ एकं अर् ऋ यात् इति स्थिते 'अर्ति' इति शितपा  
निर्देशात् 'गुणोऽर्ति' इति गुणो नेत्यर्थः । रिङिति ॥ ऋकारस्येति शेषः । तथाच  
अर् रि यात् इति स्थिते आह । दीर्घ इति ॥ 'री रि' इति लोपे 'ढलोपे' इति दीर्घ  
इत्यर्थः । तथाच परिनिष्ठितमाह । आरियादिति ॥ रिप्राकोस्त्वाह । अरियियादिति ॥  
अरि ऋ यात् अरी ऋ यात् इति स्थिते इवर्णस्य इयङ् ऋकारस्य रिङ् । 'लोपो व्यो' इति यलोपस्तु  
न । बहिरङ्गत्वेन रिगोऽसिद्धत्वात् । 'अच परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वाच्च । 'न पदान्त' इति  
निषेधस्तु न शङ्क्यः । 'स्वरदीर्घ्यलोपेषु लोपट्पाजादेश एव न स्थानिवत्' इत्युक्तेऽनुलुम् ।  
लुङि आररीन्-आरियरीत् । लुङि आररिष्यत्-आरियरिष्यत् । गृह् प्रहणे इति ॥  
ऋदुपधोऽयम् । यन्लुकि द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्यासस्य रुप्रिप्रीक् । तदाह ।  
जर्गृहीतीत्यादि ॥ ईटपक्षे नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति लघूपधगुणनिषेधः ।  
ईडभावे त्वाह । जर्गाडि इत्यादि ॥ जर्गृह ति इति स्थिते लघूपधगुणे रपरत्वे टत्वधत्वट्त्वलोपा ।  
'यणो मय' इति शिष्टस्य टस्य द्वित्वविकल्पः । एव जरिगन्-जरीगाडि । जर्गृढः इति ॥  
रुक् ङत्वधत्वट्त्वलोपा । चित्त्वान गुणः । एव जरिगृट-जरीगृट । जर्गृहतीति ॥ ३ ।  
'अदभ्यस्तान्' इत्यत् । जर्गृहीपि-जरिगृहीपि जरीगृहीपि । 'नाभ्यस्तस्याचि पिति' इति  
न लघूपधगुणः । जर्गृक्षि-जरिगृक्षि-जरीगृक्षि । जर्गृष्ट-जरिगृष्ट-जरीगृष्ट । जर्गृट-जरि-  
गृट-जरीगृट । जर्गृहीमि-जरिगृहीमि-जरागृहीमि । जर्गृक्षि-जरिगृक्षि-जरीगृक्षि । जर्गृष्ट-

गोमूत्र—घनम गोओ का समूह, भवेसी—घर पहाड़  
—धूम, धूम 1 गृह 2 सनरा—धूलि पत्थी की  
धूल सन्धा का समय (सन्धा समय ही गोएँ जगलो  
से घर लौटती हैं उनके चलन से धूल के काले एकर  
हो जाते हैं इनो लिए इस काल का नाम शार्धलि  
पदा) —घनू दूध देन वाली गाय जिसके गोचे बछड़ा  
हो—प्र पहाड़—नन्दी मान्य सारस (पत्थी)—नद  
1 सारस पत्थी 2 एक देश का नाम—नदीय महा  
भाष्य के कर्ता पतञ्जलि मनि—नस्त नास्त 1 एक  
प्रकार का छाप 2 एक प्रकार का रत्न काश्  
1 सांड 2 भ्रमिचर 3 म्वाला 4 गोओ का स्वामी  
—नाय म्वाला निष्कर्म गोमूत्र—य म्वाला (एक  
वणसकर जाति)—गोपवेगस्य विष्णु—मेघ० १५  
2 गोपाल का प्रवाल 3 गाय का अधीशक 4 राजा  
5 प्रसक्त अभिभावक (पौ) 1 म्वाल को पत्नी  
—गोपीपीनार्यारमन्वचलकरदुभाली—गोन० ५  
°अप्यस इन्द्र ईश म्वाला का मूलिया कृष्ण का  
विशेषण दल गुफारी का पेड़ °बन् (स्त्री०) म्वाल  
की पत्नी °बन्टी गायी म्वाले की नरुण पत्नी गाय  
बूट्टीदुकुलचौराय भाग० १—पति 1 गोओ का  
स्वामी 2 सांड 3 नवा मखिया 4 मूय 5 इन्द्र  
6 कृष्ण का नाम 7 गिव का नाम 8 वरुण का नाम  
9 राजा—पशु यज्ञाय गाय—पानसी छप्पर का सजा  
लन के लिए °सके गोचे लगी टटो बल्ली बलमी  
पात 1 म्वाला 2 राजा 3 कण का विषयण  
°घातो गोपाला गोपर—पान्क 1 म्वाला 2 गिव  
का विषयण—पालिका—पाली म्वाले की पत्नी  
गोपी पीत सजन गणो का एक प्रकार बुच्छम  
गाय का घूल (छत्र) 1 एक प्रकार का बंदर 2 दा  
चार या चौतीस लडा का एक हार—पुटिकम गिव के  
द्वैल (नायिका) का मित्र—पुत्र जबान बछड़ा पुरम  
1 नगरदार 2 मुख्य दरवाजा वि० ५५  
3 मन्दिर का सजा हुआ तोरणदार—पुरीवम गाय का  
गोबर—प्रकाण्डम घणिया गाय का नाम—प्रचार  
गोबरमूमि पनाआ का बरागाह—योग० २११६६  
—प्रवेश गोओ का जगल स लोदन का समय माय  
काल या सन्धा समय भूज (पु०) पहाड़—घणिक  
(वि०) डाम कुनामासी—बइलम 1 भुगोल  
2 गोओ का समूह—मनम—० पन्थि—मन्तिलका  
सीधी गाय अष्ट गो—मन् म्वाला—मासम गो का  
मास—माय 1 एक प्रकार का मंडक 2 गो—अन  
कुहने घनघरि न हि गोमायमानि केवरी गि०  
१६१२५ 3 गाय का विलासक 4 एक गाय का  
नाम—मूष—मूषम एक प्रकार का वाद्ययंत्र  
मप० ११३ ( क ) 1 मगरमच्छ घडियाल

2 एक तरह की (चोर के द्वारा लगाई गई) लप  
(सम) टकमेडा बना हुआ मकान (—सम  
—सो) जमाता रखन की छायाणकु व आकार की  
पैली जिसम हाथ डाल कर भाग के दाना की पिलते  
रहन ट मूड (वि०) बैल की भाँवि दूड मूषम  
गाय का मूत्र—मग नोलगाय गवय एक प्रकार  
का बैल—मेद गाभद नाम का एक रत्न (यह  
रत्न हिमालय पहाड़ और सिंधु नदी से प्राप्य  
हैं तथा वेद पीला लाल और गहरे नाल रंग का  
होता है) पावस बैलगाडी रख 1 म्वाला  
2 गोपाल 3 सनरा—रदुड 1 भुगोली 2 बनी  
3 नलपुष्ट गिवर हायू रत्न 1 गाय का दूध  
2 दही 3 छाल जम मटडा—राज बटिया सांड—रतम  
से काल के बराबर दूरी का माय—राटिका राटी  
घना पत्नी रोचना एक मुर्गाघन पनाय जिसकी  
उत्पत्ति सामय गोपित स माना जाती है अथवा जा गाय  
के गिर से उपलब्ध होता है लवणम नमक की भासा  
जो गाय को दी जाती है—साय (ग) स तगूर एक  
तरह का बन्त—मा० ११०—सोओ देया—बल  
बडडा आदिन (पु०) भडिया बधन मयुरा के  
निकट बन्धान प्रेण म स्थित एक विशाल पहाड़  
°घर धारित (प०) कण का विषयण बना  
वाज गाय वाग्म वास गोपाला विद 1 गो  
पात्रक गोपाला का लच्छड 2 कण 3 बह्यमति  
—विष (स्त्री०) विष्ठा गावर विषय भोर  
तडके (उत्र गौण जगल म चरल के लिए सानी जाना  
है) धीयम दूध का माय ध्वनम गोओ का लूटा  
°ध्वरक बडिया सोड या गाय—वध बडिया सोड  
°ध्वज गिव का विषयण इन्द्र 1 गोपाला 2 गोओ  
का समूह गोवर भ्रमि भृत् (नपु०) गोवर  
पालम लो गोओ की रखन का स्थान ध्वजम  
गोओ की मान जोग छ गोओ का स्थान ग  
सह्य म्वाला—सदृण नीन्गाय गवय की एक  
जाति सप भोर तडके (यह समय जब गोएँ  
प्रात काल चरन के लिए खाल दी जाती हैं) दूधिका  
गाय चीजन की रत्ना लवण 1 गाय का  
गन ओडा 2 कृष्ण का गुच्छा गुन्मता जाति  
3 चार लड की घणिया का मान लवण जो  
आरो का गुच्छा स्थानम मापाला इवामिन  
(पु०) गोओ का स्वामी 2 घासिक मायू 3  
सनाआ व माय लगत बानी सम्पालपुषक पत्थी  
(प०) वण्डे गाय्वाभिन—हृया गायध—हृम  
(हृलव) गावर हित (वि०) गोओ की रथा कर्म  
वाला ।

गोह्वम [२] तरवृ ।

अजघर्त् । गृहातेस्तु जाग्रहीवि-जाग्राडि । तत्सादौ द्वित्रिमितं सम्प्रसारणम् ।  
तस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वान्न रुगादयः । जागृढः । जागृहति । जाग्रहीषि-  
जाग्रक्षि । लुटि । जाग्रहिता । 'ग्रहोऽलिटि'—(सू २५६२) इति दीर्घस्तु न ।  
तत्र 'एकाचः' इत्यनुवृत्तेः । नाधवस्तु दीर्घनाह । तद्भाष्यविरुद्धम् । जर्गृधीति—

जरिगृह-जरीगृह । जर्गृह-जरिगृह-जरीगृह । जर्गृहोच्चकार-जरिगृहोच्चकार-जरीगृहो-  
च्चकार । जर्गृहिता-जरिगृहिता-जरीगृहिता । जर्गृहिष्यति-जरिगृहिष्यति-जरीगृहिष्यति ।  
जर्गृहीतु-जरिगृहीतु-जरीगृहीतु-जर्गृडु-जरिगृडु-जरीगृडु-जर्गृटात्-जरिगृडात्-जरीगृडात्-  
जर्गृटाम्-जरिगृटाम्-जरीगृटाम् । जर्गृहन्तु-जरिगृहन्तु-जरीगृहन्तु । जर्गृटि-जरिगृटि-  
जरागृटि । जर्गृहाणि-जरिगृहाणि-जरीगृहाणि । लडि अजर्गृहोच्चकार-अजरिगृहोच्चकार-अजरी-  
गृहात् । ईडभावे तु अजर्गृहत् इति स्थिते हृड्यादिना तलोपे हृस्य ढत्वे नस्य नप्  
घकार । अजघर्त्-अजरिघर्त्-अजरीघर्त् । एकाज्रहणे सत्यपाह चङ्लुकि नप् । 'गुणो यङ्लुको'  
इत्यनेन "दिपा दापा" इति निषेधस्यानित्यत्वज्ञापनादित्याहुः । अजर्गृटाम् ३ । अजर्गृहुः ३ ।  
अजर्गृहा ३-अजघर्त् ३ । अजर्गृटम् ३ । अजर्गृट ३ । अजर्गृहन् ३ । अजर्गृह ३ ।  
अजर्गृह्य ३ । जर्गृयात् ३ । लुडि 'अस्तिचिच' इति नित्यमीट् । अजर्गृहोच्चकार । अज-  
र्गृहिष्यत् ३ । गृहातेस्त्विति ॥ 'ग्रह उपादाने' इत्यस्मादित्यर्थः । अदुपधोऽयम् ।  
ईटि आह । जाग्रहीतीति ॥ यद्यो लुका लुप्तत्वात् तिपि पित्वाच्च 'ग्रहिष्या' इति  
सम्प्रसारणमेति नाव । ईडभावे त्वाह । जाग्रादीति ॥ जाग्रह् ति इति स्थिते टत्वधत्वदृत्व  
टलोपदर्शा । जाग्रह् तस् इति स्थिते आह । तत्सादाविति ॥ ननु इत्वे सम्प्रसारणे  
ऋदुपधत्वान् रुगादिनाशङ्क्य आह । तस्येति ॥ सम्प्रसारणस्थेत्यर्थः । जागृढः इति ॥  
ढत्वधन्वदृत्वडलोपाः । 'टलोपे' इति दीर्घस्तु न । ऋकारस्यानपूर्वत्वात् । जागृहति । निरः  
पित्वाच्च सम्प्रसारणमिति नाव आह । जाग्रहीषि-जाग्रक्षीति ॥ ईडभावे हृस्य ट-  
तस्य क सस्य प । जागृढः । जागृट । जाग्रहीषि-जाग्रक्षि । जागृह्यः । जागृह्यः । इत्य-  
नुवृत्तेरिति ॥ 'एकाचो द्वे' इति मूत्रे हरदत्तेन तपोक्तत्वादिति नाव । नाधवस्त्विति ॥  
एक ज्रहणानुवर्तत इति तदाशय । नाप्यविरुद्धमिति ॥ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति सूत्रनाथे  
'ग्रह उपादाने' इत्यस्मादाडि सम्प्रसारणे अन्यासस्य साकि यदन्तात् जरीगृहिता । जरागृहितम् ।  
जरागृहितव्यमित्यत्र इत्यो दर्शाभाव सिद्धवत्त्व तत्र शधनाशङ्क्य ग्रहोऽज्ञात्पुंस्य इत्यो दापा  
विधायत । जरागृह् इत्यङ्ग तच्च न ग्रहधानुरिति निरूप्याङ्गविशेषणमानव्यादिव "प्रहृतिग्रहणे  
यदनुगन्तस्यापि ग्रहणम्" इति नाम प्रवर्तत इति समाहितम् । यदन्ते उच्चो न्यायो यदनुगन्तेऽपि  
जाग्राहतत्सादौ नमान इत्यादि प्रौढमनारनाया ज्ञेयम् । नच हरदत्तमते एकाज्रहणानुवृत्त्ये  
वात्र दर्शानकारण नात नाप्योक्तमिदं समाधानादरणावमिति वाच्यम् । उपावत्य उपादा-  
न्तगदृषकत्वादिति अलम् । जाग्रहिष्यति । जाग्रहीतु-जाग्राडु-जाग्राडात् । जागृटाम् । जा-  
गृहन्तु । हा जर्गृटि । जाग्रहाणि । लडि अजाग्रहात्-अजाग्रात् । अजर्गृटाम् । अजागृटम् ।  
अजागृट । अजाग्रहम् । अजागृह्य । अजागृह्य । जागृयात् । लुडि अजाग्रहात् 'द्वयन्त' इति न

गोभी [गुण+घञ+ङोप] 1 गव शिरा 2 द्रोण के बराबर मार 3 चौबट पटपुरान कपड

गोष्ट [गो अष्ट इच] 1 मासल नरनि 2 दिन्न जाति का पुरुष पहाडी नपना तथा वृष्णा नदी के मध्यवर्ती विष्णु प्रेता के पूर्वी भाग का निवासी

गोतम [गोभि अस्त तथा पत्य व० स० पयो०] अङ्गि राकुल से लवण रत्न वाला एक ऋषि गतानन्द का पिता तथा अन्त्या का पति

गोतमी [गोतम ङोप] गोतम की पत्न अहया । सम० पुत्र गतानन्द का विनायक

गोपा [गुप्यते घट्टपते बाहुलगा गप+घा टाप] 1 धनय के बिल व चाट से बचन क लिए जाए हाथ म दाही जान वाली चमड को पन्टी 2 बहिवाल मारमच्छ 3 स्नाय हात

गोपि (प०) [गोनेत्र घोवनस्मिन् आधाते ण] 1 मन्त्रक 2 गवा म हून वाला पशुवाल

गोपिका [गुप्याति-गप+घल+टाप एक प्रकार की छिपकिला गौह

गोप (स्त्री०-घो) गप+अन् घा वा 1 रसक रस करन वाला गालियोप्या जपमग रघ० ४०० 2 छिपाना गत रहना 3 बुवचन गाली 4 हनुबंदी क्षाम 5 प्रकाण प्रभा दीपित

गोपायनम [गप+आय यट] प्ररक्षण संरक्षण बचाव गोपायित (वि०) [गप आम+क] प्ररक्षित बचाया हुआ

गोप्त (स्त्री० स्त्री) [गप+तघ] 1 प्ररक्षक सचारक अभिभावक-तस्मिन्वन गोपति गौहधान-रघ० १४ १५५ मानवि० ५० नग० ११११ 2 छिपान वाला गत रहन वाला (प०) विष्णु का विनायक

गोमत (वि०) [गो+मगुप] 1 गौओ से सपत्र-सी एक नली का नाम

गोमय यत्त [गो+मयट] गोवर छत्रम त्रियम कुकुर ममा साप का छतरी यमी

गोमिन (प०) [गो+मिनि] 1 मर्गिया का स्वामी 2 गौदड 3 पूजा करन वाला 4 बडवेव का सेवक

गोरणम् घर+ण्यट] स्वनि अद्यबसाय घय

गोदम [गप+ददन वि०] [गो भी] मस्तिष्क निमाद्य

गोल [ग+अच डम्य ल] 1 पिण्ड भगोल 2 निम्न लोप अतरिष्ठ 3 आकाश मंडल 4 विषया का जारज पुत्र तु० कु० 5 एक राशि पर कई ब्रह्मा का समायम-स्र 1 काठ की गद (इससे लटक सलले ह) 2 गोल पानी भरन का बड़ा धडा 3 लाल सखिया मर्गसिल 4 मसी स्पाही 5 सखी सहली 6 दुर्गा देवी 7 गोणवरी नदी ।

गोलक [गड+कुल डम्य ल] 1 पिठ मूगोल 2 बन्धी

के खलन के लिए काठ की गद 3 पानी का मटका 4 विषया का जारज पुत्र 5 पींड या पींच से अधिक बड़ा का सम्मिलन 6 गद की पिठिया 7 सुशुबदार गा

गोळ (म्हा० या०-गोळट) एकत्र होना इकटठ होना टर लगाना

गोळ छम [गोळ+अच] (प्राय गोळम) 1 इत्र गागाना गो घर 2 खाली का स्थान छ सभा या समाज इत्र इत्र का कुत्ता जो हरेक को भौकता ह (खाल) वह आलसी पुरुष जो अपन पत्नीसियों को निरा करता = गोळपण्डित इत्र में निष्ण खडी खोरा मिथ्या दीव हाकन बाला

गोळि-खी (स्त्री०) [गोळ+इल याळ+ङोप] 1 सभा सम्मलन 2 जनसमदाय समाज 3 मलाय बातचात प्रवचन-गोळी सचविभि समम भते० १ ल-मा० १० ५ तनय सह सवदा गोष्ठीमन भवति पच० २ 4 समदाय जमाव 5 पारिवारिक सवध रिनेगर विवात वह जिससे सवध बनाय रसक को आनयका ह) 6 एक प्रकार का एकाकी नाटक पति सभा का प्रधान समापति

गोष्पदम [गो पदम व० त०-गो+प+अच नि० गूट पच च] 1 गाप का पर 2 घरती पर बना घाय के पर का बिल्ड 3 पर के बिल्ड म सदा जान वाले जल की मात्रा अर्थात बहुत ही छोटा गड्डा 4 गाप के तर बिल्ड म म्मनक के योग्य मात्रा 5 वह स्थान जहाँ गोओ वः आना-जाना बहुतायत से हो

गोष्टा (वि०) ग ष्यत गायत्रीय छिपान के योग्य । गोञ्जिक [गञ्ज+ठक] सुनार ।

गौड (ग) एक देग का नाम स्कन्दपुराण इसकी स्थिति इस प्रकार बतलाता ह-बङ्गला समारम्य भवन गाम्ग निजे गौडदेग सदास्थान सवविधाविनारद । 2 ब्राह्मणा का एक नद डा (ब० व०) गौड देग के निवासी डी 1 गड से बनाई हुई गराव-गौडी पट्टी व माष्वी च बिहया विविधा मुरा-मन० ११ १५ 2 एक राशिगी 3 (अल० गा० म) रीति वर्ति या केय रचन की एक गली सा० द० कार चार रीतियों का बणन करता ह काव्य० म केवल तीन का ही उल्लेख ह बड़ा परया का ही दूसरा नाम गौडी ह जोर प्रकाणवस्त (बण) तु परया (अर्थात गौडी) काव्य० ७ जोर प्रकाणवर्ष बन आडम्बर पुन समासबहुला गौडी-मा० द० ६२७ ।

गौडिक [गड+ठक] इस यन्त्र ।

गौम (वि०) (स्त्री० भो) [गुण-अण्] 1 मातहत द्वितीय कोटि का, अनावारक 2 (म्हा० म) जलपक्ष

जर्गद्धि । जर्गद्ध । जर्गधति । जर्गधीपि—नर्धास्ति । अनर्गधीन् । ईडभावे गुण । ह्लङ्-यादिलोप । भङ्भाव । नश्त्वचत्वे । अजर्घर्त् । अजर्गद्धाम् । सिपि 'दश्च' (सू २४६८) इति पक्षे रुत्वम् । अनर्घा । अजर्गर्धान् । अजर्गर्धि-ष्टाम् । पाप्रच्छीति । पाप्रष्टि । तसानो 'ग्राहि-या-' (सू २४१०) इति सम्प्रसारण न भवति । दितपा निर्देशान् । ऋद्धा शृद्ध— (सू २५६१) इति श । 'त्रश्च—' (सू २९४) इति ष । पाप्रष्ट । पाप्रच्छति । पाप्रश्मि । पाप्रच्छु । पाप्रश्म ।

वृद्धि । आस्तमित्व इत नत्वमात् । अत्राग्राह्यत् । गधु अभिका रायाम् । अस्माद्य वृद्धगन्तात्प्रास्ताप इति आह । जर्गधीतीति ॥ नान्यस्तस्य इत न लघूपधगुण । ईडभाव आह जर्गद्धाति ॥ तत्रान इत स्थित क्षपस्तथा इत तकारस्य ध । लघू पधगुण परत्वम् । जगद्ध इति ॥ तसादात्त्वान् गुण । यपस्तथा इत तस्य ध । जर्घर्त्सीति ॥ तत्रान इत स्थित गस्य भप ध गुण रपरव धस्य चत्वम् । नगाध्म २ नग धीान । नग्ध्व नगाध्वकर । नगाधना नगाध्यात । नगाधतु २ नगद्ध ३-जा दान् ३ । हा नगाद्ध । नगधान् लान् ताप इत् अत्राधात् । ईडभावे इति ॥ अत्र गेध न् इत स्थित पित्वात्पित्त्वान् गुण रपरत्व ह्वात्वाद्ना तकारलाप पदात्तवान् गस्य भप धकर धस्य चत्वम् तकार तस्य चवसान इत चन्वावस्त्व इत्यथ । अजर्घर्त् इति ॥ रान्तस्य इत नत्वमात् स्यागन्तान् अत्राद्धाम् । अत्रगु । ताप इत्भावपश्च अत्रग्य सू इत स्थित गुण रपरव ह्वात्वाद्लाप भङ्भाव धस्य चत्वम् तस्य चवधिक्य पूर्वदत्त रूप निद्धवन्त्य आह सिपि दश्चेति पक्षे रुत्वमिति ॥ तथाच अत्रधर् ग्हात स्थित 'रा रि' इत लाप टलाप इत दाघ ग्हात्परस्य विसो अत्रथा रिति रूपाम् यथ । अत्रगद्धम् । अत्रगद्ध । अत्रगृधम् । अत्रगृध्व ह्वा आह अजर्गर्धादिति ॥ आस्तासच' इत नियमात् । पाप्रच्छीतीति ॥ प्रच्छ ताप्तायाम् अस्माद्य वृद्धगन्तात्प्रास्ताप इत् रूपम् । ईडभाव आह । पाप्रष्टीति ॥ त्र-वात् छस्य ष । तकारस्य षन्वन ट । ऋद्धा इत छस्य शकारस्तु नात्र भवात् । तस्य अनुनासिकादा प्रयय क्वा चलादा क्वात् तात् च वाहत्त्वान् । ननु तपि पित्वन पित्वाभावान् 'ग्राहज्या इत सम्प्रसारणाभावऽपि तसात्पित्त्वान् सम्प्रसारण टुकारामत्यत आह । तसा दाधिति । दितपति ॥ ग्राह्या इत मून प्रच्छतात् त्रिपा निदेशादित्यथ । पाप्रच्छ तीति ॥ अदन्यस्तात् इत्यन् । पाप्रच्छाप । ताप ईडभाव तु ऋद्धा' इत छस्य न श । तपा नला दत्तऽपि पित्वाभावान् । ननु त्र-व इत पएव पना इत पस्य क सस्य षत्वम् । पाप्रश्मि । पाप्रष्ट । पाप्रष्ट । पाप्रश्मीनि ॥ अनुनासिकप्रत्ययपरकत्वान् छस्य ऋद्धा इत श इत भावः । पाप्रन्टु इति ॥ अत्र ऋद्धा इत न श । वसा चलादत्वाभावान् । पाप्रश्म इति ॥ अनुनासिकादप्रत्ययपरकत्वान् छस्य श । पाप्रच्छाचकार । पाप्रच्छता । पाप्रि छथ्यति । पाप्र ऋद्धातु पाप्रष्ट पाप्रष्टान् । पाप्रष्टाम् । पाप्रच्छतु । हाद्ध । आपित्वन पित्त्वान् चलादित्वाच्च छस्य श । तस्य त्र-व इति ष । ष्ट्वन धस्य ष । पस्य चन्वन ड । पाप्रष्ट । पाप्रच्छान् ।

या व्यवधान-सहित (व्यं० मुख्य वा प्रधान)---गौण कमलि दुहादे प्रधान गौहृकुष्यहाम---सिद्धा० 3 आल नारिक कृषक अग्रवाल अथ म प्रवृत्त (गद्य वा कथं अदि) 4 प्रधान और अग्रधान अथ की समानता पर स्थापित जैसा कि गौणी लक्षणा में 5 गुणा की गणना से संवद्ध 6 विधापण ।

गौष्यम [गुण+ष्यञ्] मातृहती विचली या घटिया अथ स्थिति ।

गौतम [गौतम+अण्] 1 भाट्टात्र ऋषि का नाम 2 गौतम का पुत्र भवान् 3 द्रोण का साला कृपाचार्य 4 बुद्ध 5 वायणात्र का प्रणता । सम०---समवा गोदावरी नदी ।

गौतमी [गौतम+डीप्] 1 द्रोण की पत्नी रूपी 2 गोदावरी का विधापण 3 बुद्ध की पिता 4 गौतम द्वारा प्रणीत व्याकरण 5 हल्दी 6 गोरोचन ।

गौधुमीनम [गोधूम+घञ्] गहू का खत ।

गौनन्द [गौनन्द+अण्] महाभाष्य के प्रणता पञ्चलि मुनि का विशेषण ।

गौपिक [गौपिका+अण्] गोपी या खाले की स्त्री का पुत्र ।

गौष्येय [गुप्ता+ठक्] वंश स्त्री का पुत्र ।

गौर [वि०] (स्त्री०---रा-री) [गु० र नि०] श्वेन---कैलाशगौर यममाकृष्णा---रघु० २।३५ डिल्ल गच्छदगौरस्य उष्य---मेघ० ५९ ५२ ऋतु० १।६ 2 पीला सा पीत---रत्न-गोरोचनाक्षपिनान्तगौरम---कु० ७।१७ रघु० ६।६५ गौराङ्गि गर्वेन कर्दपि कुर्वा---रघु० 3 लालरंग का 4 भवफना हुआ उज्ज्वल 5 विद्युत् स्वच्छ सुन्दर---र० सफेद रंग 2 पीला रंग 3 लाल रंग 4 सफेद सरसो 5 चन्द्रमा 6 एक प्रकार का शैला 7 एक प्रकार का हरिय रम 1 पञ्चकेसर 2 जाफरान 3 सोना । सम०---आस्य एक प्रकार की काला बदर जिसका मूह सफेद हो---सष्य सफेद सरसो ।

गौरव्यम [गौराधा+ष्यञ्] खाले का काय गोपालन ।

गौरवम [गुह+अण्] 1 वाङ्ग भार (ग०)---मुरन्दमा आश्रितगमगौरवान्---रघु० २।११ 2 महत्त्व ऊँचा मूल्य या मूलावन---स्वविक्रमे गौरवमादधानम्---रघु० ---१।११८ १।१३९ कायगौरवेण मुद्रा० ५ गुणना या महत्त्व 3 सम्मान आदर विचार---तथापि यम ध्यति स गुरुरिन्मि गौरवम्---गि० २।३१ प्रयाजना पेलिनया प्रभुणा प्रायश्चक गौरवमश्रितानु---कु० १।१ अवश १० 4 सम्मान सर्वोदा धृष्टा---बार्थी गता गौरवम् पक्ष० १।१६६ धनु० २।१४५ 5 दुष्कल्या 6 छ० में दीघना (जैन की क्कार की) 7 अर्था दिक् की) गृहार्थी---यन्नापनी गौरवम्---मा० १।३ ।

सम०---आसनम सम्मान वा पद---ईरित (वि०) प्रगत यास्वी विष्णान ।

गौरविन (वि०) [गौरव+इणच्] अपत सम्मानित गौरव युक्त ।

गौरिका [गौरी+कन+टाप इत्तम] कुमांगी कन्या अथ बाहिता लडरी ।

गौरिल [गौर+इलच्] 1 सफेद सरसो 2 इस्पात या लोहे का चूरा ।

गौरी [गौर शीघ्र] 1 पावती---जैसा कि गौरीनाथ में 2 आडवप की आयु की कन्या---अण्वर्षा भवेदगौरी 3 वह लडकी जो अपनी रजस्वला नहीं हुई कुमारी कन्या 4 चारे या पील रंग की स्त्री 5 पत्नी 6 हल्दी 7 गारोचन 8 वरग की पत्नी 9 मल्लिका लता 10 तुलसी का पीया 11 भजीठ का पीया । सम०

---कान्त---नाथ गित का विधापण---गृह हिमालय पहाड

---गौरीगुरोपह्वरमाविगे-रघु० २।२६ क्रि० ५।२१

---ज कान्तिय (जम) अमरक---पट्ट-यादिरुपा अर्था जितमें गिवलिग (की मूर्ति) स्थापित किया जाता है

---गुव कार्तियेय-ललितम हूरताल-मुत् 1 कार्तियेय 2 गणप 3 एनी स्त्री का पुत्र जिसका विवाह आठ वर्ष की अवस्था में हुआ था ।

गौरुत्पिक [गुरान्त+ठक्] गुरुपत्नी से साथ व्यवहार करन वाला ।

गौरुक्षमिक [गौरुषण+ठक्] जो गाय क गुध या अगुन चिह्नो का पहचानता है ।

गौरुत्पिक [गुल्म+ठक्] किसी सेना की टोली का एक सिपाही ।

गौरुत्पिक [वि०] (स्त्री०---की) [गान्त+ठञ्] सो गौजा का स्वामी ।

ग्या [गम+मा जित हितवान अमा लाय] एखा ।

पय प्रत्य (म्वा० आ०)---प्रपने गायने 1 टडा हाना 2 दुष्ट होना 3 मुक्ता ।

पयनम [पय+ल्युट नकेप] 1 जयाना याडा करना आम हो जाना 2 एक जाहू नयी बरना 3 रचना करना लिखना (इय अर्थ में---पयना गद्य भी है) ।

पय [पय+नङ्] गृह मुच्छा लच्छा ।

पयिन (पू० क० इ०) [पय+कन नत्पण] 1 एक जगह नया किया हुआ या दोषा हुआ 2 रचित वर्ण कतिरदेव पयिनम् स्वर्गैरि पि० १।३० 3 जम बद्ध धर्मीबद्ध 4 याडा किया हुआ 5 गान्तना ।

पय (म्वा०, कपा० पर० कपा० उम० म्वा० आ०)---प्रयति यन्नाति प्रयति न प्रयति प्रयन 1 गृथना वापना नया करना नदि० ७।१०५ सदा प्रयान 2 जम में गवन धनवद्ध करना नियमित नियमित में जाहन्त 3 यना बना याना

‘यकारवकारान्तानां तु ऊठ्भाविनां यङ्लुङ् नास्ति’ इति ‘चङ्घोः—’ (सू २५६१) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनित कैयटेन स्पष्टीकृतम् । इदं च ‘चङ्घोः—’ (सू २५६१) इति यत्रोठ् तद्विषयकम् । ‘ज्वरत्वर—’ (सू २५६४) इत्युठ्भाविनो स्त्रिविमव्योस्तु यङ्लुगस्त्येवेति न्याय्यम् । माधवादिसम्मत च । ‘मव्य बन्धने’ अय यान्त ऊठ्भावी ‘तेषु देषु देवने’ इत्यादयो वान्ताः । ‘ह्य गतौ’ जाहयीति—जाहति । जाहत् । जाहयति । जाहयीषि—जाहसि ।

लडि तिपि-ईति अपाप्रच्छीत् । ईडभावेतु अपाप्रच्छत् इति स्थिते हल्ङ्यादिना तलोपे छस्य प तस्य जस्त्वचत्वं । अपाप्रष्ट् । अपाप्रष्टाम् । अपाप्रच्छु । अपाप्रच्छी-अपाप्रष्ट् । अपाप्रष्टम् । अपाप्रच्छम् । अपाप्रच्छत् । अपाप्रष्टम् । लिडि पाप्रच्छयात् । लुडि अपाप्रच्छीत् । ‘अस्तिसिच’ इति निलमीत् । अपाप्रच्छिष्यत् । ऊठ्भाविनामिति ॥ ‘भू प्राप्तौ’ नुरा दिराधुपाय । तस्मात् ‘भावश्यनाधमर्ष्ययोगिनि’ इति भविष्यदर्धे णिनि । ऊठ् प्राप्स्यता मित्यर्थः । ऊठ्विषयाणां गति यावत् । ध्वनितमिति ॥ सूचितमित्यर्थः । स्पष्टीकृतमिति ॥ तथाहि ‘चङ्घो’ इति सूत्रे डिप्रहणानुवृत्तां काश्चित् दोषानुद्भाव्य परिहृत्य किङ्कहणानुवृत्तं स्वाकृत्योक्तं भाष्ये । एतावानेव विशयः । अनुवर्तमाने किङ्कहणे छपत्व वक्तव्यमिति । अत्र कैयटः । प्रष्ट्, पृष्ठमित्यादौ ‘चङ्घो’ इति छस्य शत्वे कृते तस्य ‘प्रथ’ इति पत्वे ङुत्वमिति स्थितिः । तत्र किङ्कतीत्यनुवृत्तौ छस्य शत्वन् स्यात् । अतः छस्य पत्व वक्तव्यमित्यर्थः । नच किङ्कहणानुवृत्तावत्तं शत्वाभावेऽपि न दोषः । ब्रश्वादिना छस्य पत्वे इष्टसिद्धेरिति वाच्यम् । ‘चङ्घो’ इत्यत्र “छस्य पत्व वक्तव्यम्” इत्यनेनैव प्रष्ट्यादिसिद्धे ब्रश्वादिसूत्रे छप्रहणानुवृत्तं कर्तव्यमित्याशयात् । नच प्राडिति किञ्चन्तात् सोलौपे पत्वार्थं ब्रश्वा दिसूत्रे छप्रहणमिति वाच्यम् । तत्रापि किञ्चिन्मित्तशादेशस्य दुर्निवारत्वात् । विचि तु प्रच्छ धातोरनभिधानान्तास्ति । एवञ्चान्न भाष्ये “ऊठ्भाविभ्यो यङ्लुङ्नास्ति” इत्युक्तप्राथम्यम् । अन्यथा ‘चङ्घो’ इत्युक्त्वात् किङ्कहणानुवृत्तौ दिवेर्यङ्लुकि तिषादौ ईडभावे लघूपधगुणे ‘लोपो व्यो’ इति बलोपे द् इति देदेपीत्याद्युठ् अभावे रूपम् । तदनुवृत्तौ तु वस्य ऊठि देशोति, देशोपि, इत्यादि रूपमिति विशेषस्य सत्त्वादेतावानेवेत्येवकारो विरुध्येत । अतः ऊठ्भाविना यकारवकारान्तानां यङ्लुङ्नास्तीति विज्ञायते इत्यलम् । इदञ्चेति ॥ ‘चङ्घो’ इति सूत्रेण यत्र ऊठ् प्रवर्तते ताद्विषय इत्यत्रमेव इदम् उक्तं ज्ञापनमित्यर्थः । स्त्रिविमव्योस्त्विति ॥ ‘स्त्रिवु गतिशोपणयो, मव्य बन्धने’ इत्यनयो इत्यर्थः । न्याय्यमिति ॥ उक्तज्ञापनस्य ‘चङ्घो’ इति सूत्रस्थभाष्यमूलकत्वादित्येव भावः । ननु ज्ञापनस्य सामान्यापेक्षत्वद्गतौ नाश्रायते इत्यत आह । ‘माधवादिसम्मतञ्चेति’ अत्र ॥ उक्तविशेषवक्तव्यमिति शेषः । ऊठ्भावीति ॥ अतो नास्य यङ्लुगिति भावः । वान्तः इति ॥ ऊठ्भाविन इति शेषः । नैतयामपि यङ्लुगागति भावः । ऊठ्भाविनामिति विशेषणस्य प्रहाः व्यावर्त्यमाह । ह्य गताविति ॥ अस्य यान्तत्वेऽपि ऊठ्विषयत्वाभावादस्त्येव यङ्लुगागति भावः । जाहतीति ॥ द्विप ईडभावे ‘लोपो व्यो’

4 लिखना रचना करना ग्रन्थानि काव्यांगनि  
वित्तापरोपिम काव्य० १० ७ बनाना निर्माण  
करना पना करना—ग्रन्थानि बाष्पविन्दनिकर पद्य  
पद्यस्तय वा० ६० भट्टि० १७ ६९ उच— बाधना  
नष्टी करना मुद्रा० १५ अन्ववटित करना—लगा  
प्रतापोदप्रथित स वेग—रथ० २१८ 2 खोलना  
डोला करना ।

ग्रन्थ [ग्रन्थ—ग्रन्थ] 1 वाधना गधना (आठ० से भी)  
2 कृति प्रवच रचना साहित्यिक कृति पुस्तक  
—ग्रन्थारम्भ प्रयत्न प्रयत्नमाप्ति आदि 3 खोलत  
सम्पत्ति 4 २ मात्राओं का श्लोक अनुच्छेप छ ।  
सम० कार—कृत (५०) लेखक रचयिता—ग्रन्था  
रथ समवितेष्टदेवता प्रयत्नपरामर्शनि—काव्य० १  
—कृती—कृती 1 पुस्तकालय 2 बलाभिनिर  
—विस्तार—विस्तार ग्रन्थ का कई भागों में विना  
अन विस्तारमयो गली सचि विज्ञा पुस्तक का  
अनभाग या व्याप्य (सकृत म अनभाष) आदि के  
पयाय व्याप्य शब्द के अन्वगत दस ) ।

ग्रन्थनम—ना [ग्रन्थ+नम] दे० ग्रन्थ ।

ग्रन्थि [ग्रन्थ—इति] 1 गाँठ गच्छा उमार स्तनी भास  
ग्रन्थी कनकबलाविषयमिनी—भत० २१२० इसी  
प्रकार मदाग्रन्थि 2 रस्वी का बपन या गाँठ वरथ  
की गाँठ—इयमपहितमूमप्रयिता स्त्रापदेग १०१ १८  
मच्छ० १११ मन० २१४३ भन० १५७ 3 हथिया  
पसा रखन के लिए कपड के अचल म गाँठ अरण्य  
दरवा धन सम्पनि नुसोहाहरिदथ परकरगतग्रन्थि  
गनान—पच० ११११ 4 नरकुल की गाँठ यत्र  
आँि की शोरा की गाँठ या जो 5 गरीर क अवयवा  
का जो 6 टगपन ताडना-मरोडना मिध्याच सचाई  
म उलट फर 7 गरीर की वादिकाआ म भूबन  
कडोरना । सम०—छदक—भद पीचक गिरहकट  
अवधनरा अङ्गलोपन्थिभन्थ छवत प्रथमे पहे  
—मनु० ११२७७ यात्र० २७४ पण० पणम  
1 एक मुण चयकत वत—विषभाष० १११७ 2 एक  
प्रकार का मुणय द्रव्य—अन्वयन 1 विवाह के अवसर  
पर डूहे और हुजदित का गठजोडा करना 2 बचन  
हर यत्री ।

ग्रन्थिक [ग्रन्थ+क+क] 1 ज्यामिती दवज 2 रात्रा  
विघट क यहाँ अनावास के अवसर पर बकुल का  
नाम ।

ग्रन्थित दे० ग्रन्थित ।

ग्रन्थिन (५०) [ग्रन्थ+इति] 1 जो बहन से पुस्तक पढ़ता  
या कितानी—अनम्यो ग्रन्थिन भय्ठा ग्रन्थिम्यो  
वादिणा वरा—मनु० १ १०३२ विद्वान पण्डित ।

ग्रन्थिल (वि०) [ग्रन्थिबिधतत्त्व—लप] गाँठवाला जटिल ।

ग्रस्त 1 (भा० जा०—ग्रस्ते दस्त) 1 निगलना भस्वनना  
या जाना समाप्त कर देना स इभा पथिवी कुत्सा  
सक्षिप्य ग्रस्ते पुन—महा० भग० ११३० 2 पक  
डना 3 ग्रहण लगना द्राव्ये ग्रस्ते दिनचरनिता  
प्राणचरी भास्वरी भत० २१३४ हिमागुणा ग्रस्ते  
तद्ग्रस्तिन स्पट पत्न्य—वि० २१६९ 4 गधो की  
मिला-जुला कर अस्पट लिखना 5 गूट करना  
सम गूट करना भट्टि० १२१४ ७ (भा० प०  
चरा० उभ०—ग्रस्ति प्राणयनि-ते) खाना निगलना ।

ग्रस्तम [ग्रस्त+म] 1 निगलना खा लेना 2 पकडना  
मूय या चंद्रमा का गणनास ।

ग्रस्त (मू० क० क०) [ग्रस्त+क] 1 छाया हुआ निगला  
हुआ 2 पकडा 3 आ पीडित दस्त अविहित—ग्रह  
विषद० आँि 3 ग्रहण-यत्न—स्तम् अर्पणकारित शब्द  
या वाक्य सम० अस्तम ग्रहणग्रस्त मूय या चन्द्रमा  
का अस्त होना—उदय-ग्रहण-ग्रस्त मूय या चन्द्रमा  
का उगना ।

ग्रह (कपा० उभ० (वेद में यत्)—ग्रहणाति गहोत  
प्रे० ग्रहयति सन्नन्त-विधयति) 1 पकडना लेना ग्रहण  
करना पकड लेना शामना लपक लेना कम कर  
पकडना तयौग्रहणु पादानु राजा रात्री व माघकी  
—रथ० १५७—आलज गहोते हस्ती वाजा क्ल्यामु  
गहोते मच्छ० ११५० त वच्छ जग्राह वा० ३६३  
पाणि गहोत्वा चरथ गहोत्वा 2 प्राप्त करना लेना  
स्वीकार करना बतपुत्रक वमूल करना—प्रत्रागामेव  
नयथ स गाम्नेो बलिमप्रहीन—रथ० १११८ मन०  
७१२४ ९ ६६२ 3 द्विरागत म लेना विरपवार  
करना बन्धो बनाना बन्धियाह गहोत्वा विक्रम०  
१ दास्तज चारान गहोत्वायु—मन० ८१३४ 4 गिर  
पसार करना रोकना पकडना भा० ६ ३५ 5 मोह  
लना आकृष्ट करना—महाराजग्रहोतहृयया मया  
—विक्रम० ४ हृदये गहोते गारा मच्छ० ११५०  
माघपमीट हरिषान ग्रहोतुम—धु० १८ १३  
6 जोन लेना उकसाना अपनी आर करने के लिए पुम  
जाना लव्यभणन गहोत्वाय चान० ३७ प्रसज  
करना सन्नुट करना तप्त करना अनुकल करना  
—ग्रहोतुमापेनि परिचयया महूमहानभावा हि निना  
न्मथिन पि० १११७ ७ ३ 8 दस्त करना पकडना  
विपटना (मून प्रत्येक का) अत कि पिनाचगहोत  
या वेतालगहोत्वा म 9 दाण करना लेना छनिम  
पहीन ग्रहण पि० ११२२ भट्टि० १११२९  
10 सीखना जानना पढ़ाना समझना वि०  
१०८ II ध्यान देना विचार करना विरास  
करना मान लेना मयादि मलिषडुद्धिना तथव ग्नी  
उभ—ग० ६ परिहासविबलिपित सत्र परदायन न



बलि लोपे यच्चादौ दीर्घः । जाहामि । जाहावः । जाहामः । 'हर्य गतिकान्त्योः' । जाहर्त्याति-जाहर्ति । जाहर्तः । जाहर्त्यति । लोटि । जाहर्हि । अजाहः । अजाहर्ताम् । अजाहर्त्युः । 'मव वन्धने' ।

२६५४ । ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च । (६-४-२०)

ज्वरादीनामुपधावकारयोरूठ् स्यात्कौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । अत्र किञ्चिदिति नानुवर्तते । अवतेस्तुनि 'ओतुः' इति दर्शनान् । अनुनासिक-प्रहणं चानुवर्तते । अवतेर्मनिन्प्रत्यये तस्य टिलोपे 'ओम्' इति दर्शनान् । ईड-भावे ऊठि पिति गुणः । मामोति-मामवीति । मामूत् । मामवति । मामोपि ।

इति यलोपः । मिति ईडभावे जाह्यु मिति स्थिते आह । बलि लोपे इति ॥ इटि जाहर्त्यामि । जाह्यावकार । जाह्यिता । जाह्यिष्यति । लोटि जाहर्त्यातु-जाहृतु-जाहृतान् । जाहृतान् । जाहृतु । जाहर्हि । जाह्यानि । जाह्याव । लटि अजाहर्त्यान् अजाहर्त् । अजाहृतान् । अजाहृत्यु । अजाहृत्या-अजाहृत्यात् । अजाहृतम् । अजाहृत । अजाहृत्यम् । अजाहाव । अजाहाम । जाहर्त्यात् । लुङि 'ह्यन्त इति न वृद्धि । 'अस्तिसिच' इति नित्यमात् । अजाहर्त्यान् । अजाहर्त्यिष्टम् । अजाहर्त्यिष्यत् । जाहर्त्याति ॥ तिपि जाहर्त्यु ति इति स्थिते ईडभावे यलोपः । जाहर्त्याति ॥ हो यलोपः । लट्स्तिपि अजाहर्त्युत् इति स्थिते यलोपः । हल्ङ्यादिना तकारलोपः । रेफस्य विमर्गः इति मत्वा आह । अजाहः इति ॥ विभ्यन्वेव रूपम् । ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च ॥ ज्वरत्वरस्त्रिवि-अवि मव् एयान्द्वन्द्व । 'न्द्यो श्' इत्यत वकारप्रहणम् ऊट्प्रहणम् अनुनासिके इति चानु-वर्तते । छस्य श इति नानुवर्तते । ज्वरादिषु छस्य अभावेन असम्भवान् । 'अनुनासिकस्य क्रिसलो किञ्चिदिति' इत्यत क्रिसलोरिति चानुवर्तते । चकारो वकारसमुच्चयार्थः । तदाह । ज्वरादीनामिति ॥ अवतेस्तुनीति ॥ अवधातोरौणादिके तुन्प्रत्यये कृते अकारवकारयो-रूठि तस्य गुणे ओतुगिति दृश्यते । किञ्चिदित्यनुवृत्तौ तु तत्र स्यादिति भावः । ओमिति ॥ 'अवतेटिलोपश्च' इत्याणादिक्रमूत्रम् । 'अव रक्षणे' इति धातोर्मन्प्रत्ययः स्यात् । प्रत्यगुस्य टेलोपश्चेति तदर्थः । तथाच अव् म् इति स्थिते उपधाभूतस्य अकारस्य वकारस्य च ऊठि तस्य गुणे ओमिति दृश्यते । 'ज्वरत्वर' इत्यत्र अनुनासिकप्रहणाननुवृत्तौ तु मनिनि परे अवतेरूठ् न स्यात् । क्रिसलारेव लङ्घिलामादिति भावः । ऊठि पितीति ॥ मवधातोर्-इलुक् । मामव ति इति स्थिते ईडभावपक्षे अकारवकारयोरेकस्मिन् ऊठि तिपि । पित्त्वेन डित्त्वा भावाद्ङकारस्य गुणे मामोतीति रूपमित्यर्थः । उपधाया वकारस्य च प्रलेकमूठ् इति पक्षे सवर्णदीर्घः । पञ्चद्वयमपि 'एकः पूर्वपरयो' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । ईडपक्षे आह । माम-वीतीति ॥ अत्र ऊट् न । ईः झलादा अनुनासिकादौ च परे ताद्विधानात् । मामूत्-इति ॥ अकारवकारयोरूठि तसो टित्त्वान गुण इति भावः । मामवतीति ॥ 'अदभ्यस्तात्' इत्यन् । मामवीपीति सिद्धवन्प्रत्यय आह । मामोपीति ॥ झलपरकत्वाद् । मामूथः । मामूथः ।

गहना बच—१० २।१८ एव जने गहणाति  
 मन्त्रि० १ मुद्रा० ३ 12 (इन्धियो द्वारा) समय  
 लेना या प्रयत्न करना—अनादिनाममय गहनी तयो  
 —२५० ११।१५ 13 पारगत होना मन्त्रि० ३  
 पकडना संभव लना—रघु० १८ ४६ 14 अनुमान  
 लगाना अटवल लगाना अन्दाज करना अनुवक्त  
 विकाररूच गहानप्लवत मन्—मनु० ८।२६  
 15 उच्चारण करना—ल्लेख करना (नाम आदि का)  
 यत्नि मयाप्य नामाणि न गृहीतम ३० ३०५ न  
 तु नामाणि गृह्योमानि पथो प्रये परस्य तु मनु०  
 ५ १५७ 16 माल लेना खरीदना क्रियमा मत्पयन  
 तुल्यक गृहीतम—प० ० ० यात्र० २।१६९ मनु०  
 ८।२०१ 17 किसी को बंधित करना छीन लेना  
 लट लेना बन्धुवक ले लेना मट्टि० ११ १५ ६३  
 18 पन्थना धारण करना ( बह्वात्मिक ) वासाति  
 जीर्णानि यथा विन्ये नवादि गहणाति नरोत्तराणि  
 —दश० २ २२ 19 गन्ध धारण करना 20 (उपवास)  
 रखना 21 कल्प लगना 22 उत्तरात्मिक लेना [इत  
 धानु रु अथ उग सजा के अनुगार विभिन्न प्रकार से  
 परिष्कारित हा जात है जिससे इसे बोझा जाय] प्र०  
 1 घृहण करवाना पकडवाना स्वीकार करवाना  
 2 विवाह म उपहार देना 3 मित्राना परिचिन  
 करवाना अनु— अनुग्रह करना आभार मनना  
 हुना प्रशंसित करना—अनुगृहीतो हननया मभवत्  
 समान्तया १० ७ अनुगताना स्म अतक धन्वसा  
 ह्य बड आभारी इ अनुसक्त विनम्र नमस्कार  
 करना अथ— दूर बनना पकडना अग्नि बलपूर्वक  
 पकडना अथ 1 विरोध करना मुकाबला करना  
 2 दण्ड देना 3 हस्तगत करना परामृत करना  
 आ आग्रह करना उद्— 1 उठाना ऊपर करना  
 सीधा खडा करना—उपगृहीतालवन्ता—मेष० ८  
 मट्टि० १५ ५२ 2 जमा करना निकालना उद्—  
 1 बेचना 2 पकड लेना अधिकार म ले लेना—मनु०  
 ७।१८४ 3 स्वीकार करना मचुरी देना 4 सहायना  
 करना अनन्त करना नि— 1 धाम लेना जाव  
 पडनाक करना 2 दमन करना रोचना दवाना  
 नियंत्रण करना—भग० २।६८ 3 टहराना बाधा  
 हानिन निगहोती बला इति—महा० 4 दण्ड  
 दना सजा देना—मनु० ८।११० १।०८ 5 पकडना  
 लेना हाथ लाना नमामपुह्य निगहोतपनु रघु०  
 २ ३ 6 (अथ आदि) बन् करना मन्ना—माधुरी  
 भिषा विगह्य—मच्छ० २ वरि— 1 बोली भरना  
 आशिंगल करना 2 धरना 3 हलियन करना पकडना  
 4 लेना धारण करना 5 स्वीकार करना 6 महापडा  
 करना बरसण देना प्र— 1 लेना पकडना 2 दमन

करना रोचना 3 पलाना विस्तार करना प्रति—  
 1 धामना पकडना सहायना देना पथप्रशंगिगहोत  
 मनम माल्त्रि० ४ मनु० २।४८ 2 लेना स्वाकार  
 करना प्राप्त करना दणति प्रनिगहणाति—प०  
 २ अनोधा प्रतिगहणनावध्यानिपदमाणि—रघु०  
 १।४४ २।२२ 3 उपहार स्वका लेना या स्वीकार  
 करना 4 अनुवन व्यवहार करना विरोध करना  
 मुकाबला करना रावना प्रनिजग्राह काकुत्स्थल  
 पश्यजसाधन रघु० ४।४० १।४४ 5 पाणि  
 ग्रहण करना—मनु० ९ ७२ 6 आना मानना  
 समनुरूप होना ध्यान से सुनना 7 आशय लेना  
 अवलंबित होना वि— 1 धामना या पकडना 2 कलह  
 करना लडाई विवाह करना विगह्य चक्र मन्त्रि०  
 बली य हापमस्वास्वमहर्षि वि वि० १५१  
 मट्टि० ६ ८६ १७।२० सम 1 सग्रह करना  
 एकत्र करना सबय करना आटना सगह्य धनम  
 पासान 2 सातपहु प्राप्त करना 3 दमन करना  
 रोचना (बोझा को) लगाम देना 4 (धनुष आदि  
 को) डोरी खोलना १ (ध्वा० पर० चुरा० उर्ध०  
 प्रहति प्राहर्षि ते) लेना प्राप्त करना आदि।

घृह [ग्रह + अच्] 1 पकडना घृहण करना अधिकार  
 जमाना अभिग्रहण दण्ड बचप रघु० १०।११  
 2 पकड घृहण प्रभाव—कटकग्रहोत प०  
 १।२६ 3 लेना प्राप्त करना स्वाकार करना प्राप्ति  
 4 चुराना लटना अङ्गुलीप्रविभ्रम्भ छापप्रधमे घृह  
 मनु० १।२७७ इसा प्रकार रावह 5 लुट का  
 माल लटमारी 6 घृहण लगना ७ घृहण 7 घह  
 (यह निन्दनी म नोह—मृगच—) मगलन्व बध्नाति  
 बह्म्यति गत्र गन्धरा राहु केतुवेति प्रहा नव।)  
 —नभशरादाशुमदकुलाति (रात्रि) रघु० १।२२ १।३  
 १।२।२८ गृहणा सुनभाये मयचन्द्रम धारवता  
 गन्धराय्या वाग्या देव घृहयोव मा—भर्तु०  
 १।१७ 8 उल्लेख उच्चारण लगाना (नाम आदि  
 का) नामजातिग्रह त्वेगग्निग्रहण कुबध—मनु०  
 ८ २०१ अमर ८३ 9 मगरमच्छ घृहियात्  
 10 विषाणिया प्रतना 11 अतिस्वर राधमा का  
 एक विषय वा आ बचना म विना कर उन् लगन  
 मरौड या कुमडा मे घल कर देना ह 12 (विवाहा  
 व धारणाया का) घृहण प्रयत्नकरण 13 समग्रद का  
 अण वा उपकरण 14 श्रवाहिता घप अध्वरगाम  
 15 प्रयाजन आकल्पन 16 अग्रह मरदाण। म०  
 —अधोव (वि०) एते के प्रभाव पर निरत अथ  
 धरन् राहु का विषय (मन्) प्रहा की टकर  
 —अधोव मृप —आधार आशय ध्रुव नभय  
 (नभ्या का स्थिर बन्) —अन्य 1 किर्य 2 मूना

मामोमि । मामावः । मामूम् । मामोतु—मामूतात् । मामूहि । मामवानि ।  
अमामोत्—अमामो' । अमामवम् । अमामाव । अमामूम् । 'तुर्वा हिंसायाम्' ।  
तोतूर्वाति ।

२६५५ । राह्लोपः । (६-४-२१)

रेफात्परयोश्चोर्लोपः स्यात्कौ शलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । इति  
बलोपः । लघूपधगुण ।

२६५६ । न धातुलोप आर्धधातुके । (१-१-४)

धात्वशलोपनिमित्ते आर्धधातुके परे इको गुणवृद्धी न स्तः । इति नेह

मानवानि इति सिद्धवत्कृत्य आह । मामोमीति ॥ अनुनासिकपरकत्वाद् । गुण । मामावः  
इति ॥ मानव् वस् इति स्थिते परनिमित्ताभावाद् न । 'लापो व्या' इति बलोपे 'अतो  
दाधा यणि' इति दीर्घः । मामूमः इति ॥ मानव् नस इति स्थिते अनुनासिकपरकत्वाद् ।  
डित्त्वान् गुण । मानवान्कार । मानवित्ता । मानविष्यति । लोटि आह । मामोत्विति ।  
मामूतादिति ॥ डित्त्वान् गुण । मामूताम् । मानवतु । मामूहीति ॥ ऊटि हेरापत्त्वेन  
डित्त्वान् गुण । नामूतात् । नामूतम् । मामूत । मामवानीति ॥ आट् पित्वादिङित्त्व-  
द्रुण । मानवाव । मानवाम् । लङ्गितिप्याह । अमामोदिति ॥ अनामूताम् । अनामवु ।  
सिप्याह । अमामोरिति ॥ अनामूतम् । अनामूत । लिङि मानव्यात् । लुङि 'आस्तासिच'  
इति नित्यमीट् । अनामवीन्—अमानावात् । अनामविष्यन् । ज्वरतेसु जाज्वरतीति—ताज्वान  
इत्यादि । त्वरतसु तात्वरतीति—तातृति इत्यादि । स्निग्धेसु सखवाति । ईडभावे तु ऊटि सेखान,  
इत्यादि । अवतेसु ऋडभावात् क्विप्युदाहरणम् । ऊ । उवौ । उव । इत्यायुह्यम् । तोतूर्वा  
तीति ॥ 'उपधायाम्' इति दीर्घः । ईडभावे तानुव् ति इति स्थिते 'न्धा श्ङ्' इत्युटि प्राप्ते ।  
राह्लोपः ॥ 'न्धोः शङ्गुनासिके च' इति मूत्रमूठवर्जमनुवर्तते । 'अनुनासिकस्य क्विजलो'  
इत्यल्-क्विजलोरिति च । तदाह । रेफात्परयोरित्यादि ॥ अत्रापि क्विजताति नानुवर्तते । पूर्वं  
मूत्र तदननुवृत्त । बलोपः इति ॥ तथाच तानुरति इति स्थिते उकारस्य लघूपधगुण । तिप'  
पित्त्वेन अटित्त्वादित्यर्थः । न धातुलोपे ॥ 'इको गुणवृद्धी' इत्यनुवर्तते । तत्र धातुलोपे सात  
इको गुणवृद्धी न स्त आर्धधातुके परत इत्यथ लघातो यङन्तात् पचाद्यचि यङो लुकि लोटव इत्यत्र  
गुणनिषेधाभावप्रसङ्गात् । अत्र धात्ववयवस्य यङो लोपेऽपि धातोर्लोपाभावात् । धात्ववयवलोप  
सर्तात्त्वर्थं तु शाङ्धातोस्तृचि शत्रिता, इत्यत्र गुणो न स्यात् । तत्र धात्ववयवङकारलोपसत्त्वात् ।  
आर्धधातुके परे यो धात्ववयवलोप तस्मिन् सर्तात्त्वर्थं शेते इत्यत्रापि गुणनिषेध स्यात् ।  
तत्र ङकारलोपस्य आर्धधातुपरकत्वमन्त्वादित्यतो व्याचष्टे । धात्वशलोपनिमित्ते इति ॥  
धातु लोपदतीति धातुलोप कर्मण्यन् । धातुलोपनिमित्ते आर्धधातुके परे इति यावन् ।  
गालव इत्यायुदाहरणम् । मूत्रधातोर्यङन्तात् पचाद्यचि 'यङोऽच च' इत्यच्यत्वमन्त्रिल



निषेधः । तिवादीनामनार्धधातुकत्वान् । तोतोर्ति । 'हलि च' (सू ३५४)  
इति दीर्घः । तोतूर्त् । तोतूर्वति । तोथोर्नि । दोदोर्ति । दोधोर्ति । 'मुच्छा' ।  
मोमोर्ति । मोमूर्त् । मोमूर्च्छतीत्यादि । 'आर्धधातुके' इति विषयसप्तमी ।  
तेन यडि विचक्षिते अजेर्वा । वेवीयते । अस्य यङ्लुग्रास्ति । लुकापहारे  
विषयत्वासम्भवेन वीभावस्याप्रवृत्तेः ।

इति तिङन्तयङ्लुक्प्रकरणम् ।

यद्ये लुकि अच्प्रत्ययमाश्रित्य प्राप्ते गुणोऽनेन निदिश्यते । मर्मजीताति तु वृद्धिनिषेधो  
दाहरणम् । धात्विति किम् । शीङ् शेता । इह उँत्तृष्टानुबन्धस्य धातुत्व, नतु सानु  
बन्धस्येति । कैयटादिमते तु धातुग्रहण स्पष्टार्थम् । इद सूत्र भाष्ये प्रत्याख्यातम् । हरदत्तेन  
पुनरुद्धतम् । कोस्तुमे तु तदपि दूषयित्वा प्रत्याख्यातमेव । इति नेहेति ॥ तोतुरतीत्यत्र  
अय गुणनिषेधो नेत्यर्थः । हलि चेति ॥ तोतुर्व तस् इति स्थिते 'लोपो व्यो' इति  
बकारस्य लोप बाधित्वा 'च्छो शृठ' इत्यूठि प्राप्ते बकारस्थानेन लोपे 'हलि च' इति दीर्घ  
इत्यर्थः । यद्यपि तोतोर्तीत्यत्र 'च्छो' इत्यूठ अप्रवृत्तेर्बकारस्य लोपो व्यो' इति लोप  
सिद्ध्यति । तथापि तोतूर्त् इत्यादौ ऊठा बाधनाय आवश्यकोऽय लोपो न्याय्यत्वात्तोतोर्तीत्य  
त्रोपन्यस्त इति बोध्यम् । तोतूर्वतीति ॥ 'अदभ्यस्ताव' इत्यत् । 'उपधायाच्च' इति दार्ढ्यं ।  
तोतोर्वापि-तोतोपि । तोतूर्त् । तोतूर्थः । तोतूर्त्वाभि-तोतोभि । तोतूर्त् । तोतूर्त्म् ।  
तोतूर्त्वाच्चकार । तोतूर्त्विता । तोतूर्त्विष्यति । तोतूर्त्वातु-तोतोर्त्तु-तोतूर्त्वात् । तोतूर्त्ताम् ।  
तोतूर्त्वेतु । तोतूर्त्विह । तोतूर्त्वाणि । लडि अतोतूर्त्वात्-अतोतो । अतोतूर्त्ताम् । अतोतूर्त्तु ।  
अतोतूर्त्वा-अतोतो । अतोतूर्त्तम् । अतोतूर्त् । अतोतूर्त्म् । अतोतूर्त् । अतोतूर्त्म् । तोत्  
व्यात् । लुकि 'अस्तिसिच' इति नित्यमाट । अतोतूर्त्वात् । अतोतूर्त्विष्यत् । दुर्वाधातोऽदाह  
रति । तोथोर्तीति ॥ तुर्वाधातो रूपम् । दोदोर्तीति ॥ दुर्वाधातो रूपम् । दोधोर्तीति ॥  
दुर्वाधातो रूपम् । मुच्छाधातो मोमूर्च्छातीति सिद्धबकृत्व ईडभावे आह । मोमोर्तीति ॥  
'राडपे' इति छस्य लोपः । इत्यादीति ॥ मोमूर्च्छाणि-मोमोषि । मोमूर्च्छामि मोमोभि ।  
मोमूर्च्छं । मोमूर्त् । अमोमूर्च्छात्-अमोमू । सिष्यप्येवम् । लुडि 'अस्तिसिच' इति नित्यमाट् ।  
अमोमूर्च्छात् । अमोमून्छप्यत् । विषयसप्तमीति ॥ 'अनेर्व्यघजपो' इति वाभावविधौ  
आर्धधातुके इत्यनुवृत्त विषयसप्तम्यन्तनाश्रयते । नतु परसप्तम्यन्तमित्यर्थः । तत किमित्यत  
आह । तेनेति ॥ विषयसप्तम्याश्रयणनेत्यर्थः । विचक्षिते इति ॥ यटि विचक्षिते तत  
प्रागेव अनेर्वाभाव इत्यर्थः । एवञ्च कृत वाभावे हलादत्वाद्यद् लभ्यते इति मत्वा आह ।  
वेवीयते इति ॥ नतु अनेर्वाभावानन्तर यटि सति तस्य 'योऽचि च' इति पाक्षिको लुक्  
कुतो नोदाश्रियते इत्यत आह । अस्य यङ्लुङ्नास्तीति ॥ विषयत्वेति ॥ लुका लुप्तयड  
भाविज्ञानविषयत्वाभावेनेत्यर्थः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषण विरचिताया सिद्धान्तकौमुदीव्याख्याया

बालमनोरमाया यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्ता ।

पालतू (पग आदि) 4 आर्चविन (विपु ० जय) 5 नीच अगिष्ट (गर्भ का तरह) केवल जोड़ व्यक्तिया द्वारा प्रयुक्त—चन्द्रन त्हि मे भाय कामचागलत्तय—रस० या कटिस्त हूने मन—सा० द० ५७४ यह धाम्य उक्तियों के उगहरण ह 6 अमर अरल्ल—म्य पालतू सूजर—म्यम 1 गवार भायन 2 देहात म तैवार किया हुआ भाजन 3 मधुन । सम०—अश्व गधा—कमन धामीण का व्यवसाय—कुडकुमम कुमुभ—घम 1 धामीण का जन्म 2 स्त्रीसभोग मधुन—पशु पालतू जानवर—वडि (वि०) उवहु मत्रा किया अनाडी—बल्लभा बरया रडी—सुलम स्त्री सभोग मधुन ।

प्राचन (प०) [प्रस—उ प्र प+आ+वन+क्वि] 1 पयर चटान वि हि नापतदम्बनि मम्बन्त्यला वनि शवाण सप्लवन इति पहावी० १ अवि धावा रोनिनि अवि दलनि वक्षस्य हृष्यम—उत्तर० ११२८ वि० ४१२३ 2 पहा 3 बाल ।

प्रास [पम+पञ] 1 कौर कौर के बरजर कोई वस्तु मनु० ३११३३ ६२८ याग० ३१५५ 2 भोजन पोषण 3 मूय या चक्रमा का प्रहणप्रस्त भाय । सम० आच्छादनम भोजन वस्त्र अर्पण अनिवाप जीवन साधन—गल्पम गले म अरुन वाला (मछली का कोटा) आदि कोई पण्य ।

प्राह (वि०) (स्त्री० हो) [प्रह+पञ] पकड़न वाला मूठो से जकड़न वाला लन थाथा धामन वाला प्राप्त करन वाला ह 1 पकड़ना जकड़ना 2 अग्नि दाल मगरमच्छ राधाहवनी भत० ३१४५ 3 बन्नी 4 स्वीकरण 5 संमचना जान 6 हट टूटपह 7 निर्वाणन दन् निर्दय भय० १७११९ 8 राग ।

प्राक्त (वि०) (स्त्री०—हिक्का) [प्रह+भवत्] प्राक्त करन वाला जेन वाला 1 दाज धन 2 विप चिकित्सक 3 कृपा सरोगर 4 पुलिस अधिकारी ।

प्रीबा [गिर-उनरा—न+विनिद वि०] गयेन गन्न का पिछला भाग—प्रीबाम ज्ञाभिराम बहु-नुपतति स्वन्नन्तदुष्टि ह० ११७ । सम० घष्ठा घोट के गले म लकड़ा हुआ घना ।

प्रीबालिका १० प्रीबा ।

प्रीविन (प०) [प्रीवा+वि] ऊ० ।

प्रीधम (वि०) [पयने ग्मान्—धम+धनिन] गरम उष्ण धम 1 गर्मी का मीधम गरम ऋतु [ज्येष्ठ और आषाढ के मनेन]—प्रीधममयमविह्वर गायनाम ग० १ १८० १६१५४ नामि० १ १५ 2 गर्मी उष्णता । धम०—कस्तौन (वि०) गर्मी के मीधम

से मयव रखन बाधा—उडुवा—जा—भवा नव मलिनका लना नवारो ।

प्र (स्त्री-बी) प्रयेय (स्त्री०-पी) (वि०) [प्रीवा+अण टञ वा] गन्न पर होन वाला या गन्नसवधो धम—धम 1 गले का पट्टा या हार 2 हाथी की गन्न म पहनी जान वाली जकोर—नाखलन करिणा इव विपरीटिनामपि रथ० ४४८ ७५ ।

प्रयेयकम [प्रीवा+कञ] 1 गले का जानूपन—उग० अरुमाक सखि वाससी न रश्चिरे प्रयेयक मोम्बलम—सा० ४० ३ 2 हाथी के गले में पहन जानवाली जकोर ।

प्रथक (वि०) (स्त्री० मित्रा) [प्रीधम+कुञ] 1 गरमी के मीधम म बोरा हुआ 2 गरमी के ऋतु म गिया जान वाला (कण आदि) ।

प्रथपम [प्र+प्रिच+स्तुट पुक ह्रस्व] 1 पृथाना मुख जाता 2 बकावट ।

प्रस (म्रा० आ०—मलने मलन) साना निगलना ।

प्रसह (म्रा० उभ० चुरा० आ०—म्लृडि—ने म्लृहवति—ने) 1 जडा जलना जए म बीनता 2 लेना प्राप्त करना ।

प्रसह [म्लृह—अण] 1 पाने से सलन बाधा 2 दाव बाजी समाप्ता गन लगाना 3 पाना 4 जडा सलना 5 विसान ।

प्रसान (म० क० कु०) [प्र+पञ] 1 कान्ता शान्त यका हुआ शान्त अवसन्त 2 रोगी बीमार ।

प्रसानि (स्त्री०) [प्र—नि] 1 अवसाथ कल्पानि यका वत्—मनश्च म्कानियच्छति मन० ११५३ अज्ञानानि मुरतत्रिणा—मय० ७० ११ गा० ४४ 2 हाम क्षय अनाथ परलानियथ नीतिरिहोयता—गि० २१३० यण यण हि धमस्व म्कानिभवति भारत भग० ४७ 3 दुबलता निवन्ता 4 बीमारो ।

प्रसाम्नु (वि०) [प्र+म्नु] कान्त शान्त ।

प्रसूच (म्रा० पर०—म्लवति म्लृक्त) 1 जाना चाना फिरना 2 चुराना लुटना 3 छीन लेना धञ्जिन करना—वृत्तामयवृत्तन प्राणान अग्नीवीचरणा यण—भट्टि० १५३० ।

प्रस (म्रा० पर०—म्लवति म्लान) 1 विरतिन या अरवि अनभव कान्ता काम करन का जी न करना (गुनु प्रल के माध) 2 कान्त या धान्त होना यका हुआ या अवसन्त अनुभव करना 3 मह्य छात्रा हरो साहहाना उगत नोना भट्टि० १९ १७ ६११२ 4 क्षीण हुआ मतिन गना प्र० म्ल म्ना—पयति 1 मुना लेना गुण कर लेन चान पृचाना सति पृचाना 2 यका देना ।

प्रसो (प०) [प्र+प्री] 1 चाम्ना 2 कूर

श्रीरस्तु ।

## ॥ अथ तिङन्तनामधातुप्रकरणम् ॥

२६५७ । सुप आत्मनः क्यच् । (३-१-८)

इपिकर्मणः एपितृसम्बन्धिनः सुवन्तादिच्छायामर्थे क्यन्प्रत्ययो वा स्यात् । धात्ववयवत्वात्सुञ्छुक् ।

२६५८ । क्यचि च । (७-४-३३)

अस्य ईत् स्यात् । आत्मन पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । 'वान्तो यि प्रत्यये' (सू ६३) गव्यति । नाव्यति । 'लोपः शाकल्यस्य' (सू ६७) इति तु न । अपदान्तत्वात् । तथा हि ।

अथ नामधातुप्रक्रिया निरूप्यन्ते । सुप आत्मनः क्यच् ॥ प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुवन्तादिति लभ्यते । 'धातो कर्मण' इति सूत्रात्कर्मण इच्छाया वेल्लुबर्तते । कर्मण इति पञ्चमी । कर्मकारकादिति लभ्यते । सन्निधानादिच्छाम्प्रत्येव कर्मत्व विवक्षितम् । आत्मन्शब्द स्वपर्याय । तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षाया पठ्यते । स्वार्थात्कर्मण इति लभ्यते । स्वथ इच्छाया सन्निधापितत्वादेपितैव विवक्षित । तथाच स्वस्मै यद्विष्यते कर्मकारक तद्वृत्ते स्फुटत्वादिच्छाया क्यञ्चा स्यादिति फलति । तदिदमभिप्रेत्य आह । इपिकर्मणः एपितृसम्बन्धिनः इत्यादिना ॥ एपिनर्थादिधिकर्मण इत्यर्थ । एपिना स्वार्थं यद्विष्यते कर्मकारक तद्वाचकात्सुवन्तादिति यावत् । धात्ववयवत्वादिति ॥ सुवन्तात् क्यचि कृते तदन्तस्य सनायन्ता इति धातुत्वादिति भावः । क्यचि च ॥ 'अस्य च्चौ' इत्यनुवर्तते । 'ई प्राप्नो' इत्यत ईग्रहणमेति मत्वा शेषम्पूरयति । अस्येति ॥ अकारस्येत्यर्थः । पुत्रीयतीति ॥ क्यचि पुत्र य इति स्थिते ईत्वे पुत्रीय इति धातोर्लडादिरित्यर्थः । आत्मन किम् । राज्ञ पुत्रमिच्छति । पदविवक्षित्वेन समर्थपरिभाषाया प्रवृत्तेर्महान्त पुत्रमिच्छतात्यत्र पुत्रशब्दान् क्यच् । गव्यतीति ॥ गान्नात्मन इच्छतात्यर्थः । नाव्यतीति ॥ नावनात्मन इच्छतीत्यर्थः । अपदान्तत्वादिति ॥ 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यस्य पदान्त एव प्रवृत्तेरिति भावः । नन्वन्तर्वर्ति विभक्त्या पदत्वमस्त्वेवेत्यत आह । तथा हीति ॥ यथा पदस्य भवति तथोच्यते इत्यर्थः ।

२६५९ । नः क्ये । (१-४-१५)

न्यचि क्यडि च नान्तमेव पठ न्यात्रान्यन् । सन्निपातपरिभाषया  
 क्यचो यस्य लोपो न । गवत्राश्चकार । गन्विता । नाव्याश्चकार । नाव्यिता ।  
 नलोप । राजीयति । प्रत्ययान्तरपदयोश्च (सू १७३) । त्वद्यति । मद्यति ।  
 'एकार्थयो' इत्येव । युग्मद्यति । अम्मद्यति 'हलि च' (सू ३५४) ।  
 गीर्यति । पूर्यति । धातो इत्येव । नेह । द्विरभिच्छति दिव्यति । इह पुर-  
 मिच्छति पुर्यतीति माधवोक्त प्रत्युदाहरण चिन्त्यम् । पुर्गिरो. साम्यान् ।

न. क्ये ॥ नकारादकार उच्चारणार्थ । सुभ्रान्तम् इत्यतस्सुभ्रान्त पदमित्यनुवर्तते ।  
 सुभ्रान्त नकारेण विशेष्यत । नदन्तावात् । नकारान्त सुभ्रान्त पदसङ्ग स्यादिति लभ्यत । सुवृत्त  
 त्वादेव पदत्वे मिद्ध निरुपमाधामडम् । क्यप्रत्ययेन क्यन्तमप्यहणम् । लोहितादिजात्रभ्य क्यप  
 वचनम्' इति वक्ष्यमाणता हलन्तात् क्यपाऽभावात् । तदाह । न्यचि न्यटि चेत्या  
 दिना ॥ ननु गव्यात्राकारेण आम पात्रानुक्तवानाम्भान् परे वकाराद्धल उत्तरस्य यकारस्य  
 'यस्य हल' इति याप स्यादित्यत आह । सन्निपातेति ॥ यकारनिमित्तत्वादेशाम्भ  
 नवकारस्य यकारलोप प्रति निमित्तवाम्भवादान भाव । गन्वियेति ॥ इष्टि अतो लोप ।  
 राजीयतीत्यत्र आह । नलोप. इति ॥ राजानमिच्छताप्ये न्यचि राजन् य ति इति स्थिते 'न  
 क्ये' इति पदन्तानकारस्य लोप इत्यथ । हृते नलोप क्यचि च' इत्यकारस्य ईत्वमिति मन्वा  
 आह । राजीयतीति ॥ नच ईत्त्वे क्तन्ये नलोपस्यामिद्धत्वं शक्यम् । 'नलोपस्सुभ्रान्त' इति  
 नियमादित्यलम् । ननु त्वामान्न इच्छति मामान्न इच्छतात्वत्त युष्मदस्मद्द्रवाङ्घञि  
 धान्ववचनवान् सुभो लुकि प्रत्ययलभ्याभावात् 'त्वमावेकवचने' इति कथं त्वमा स्याताम् ।  
 विभक्तौ परत एव तद्विधानादित्यत आह । प्रत्ययान्तरपदयोश्चेति ॥ सुभो लुका लुप्त-  
 त्वेऽपि क्यचमादाय मपयन्तस्य त्वमाविति भाव । ननु युष्मानाम्न इच्छति, अस्मानाम्न  
 इच्छति, युष्मद्यति, अस्मद्यति, इत्यत्रापि क्यचमादाय त्वमा स्यातामित्यत आह । एकार्थयो-  
 रित्येवेति ॥ 'प्रत्ययान्तरपदयोश्च' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति सूत्रमनुवृत्तम् । एकवचनस्य  
 वद्ध न ह्य किन्तु एन्वविशिष्टाथश्चिन्त्वमेकवचनशब्देन विवक्षितमिति युष्मदस्म प्रक्रियाया  
 प्रयोजित प्राक् । तथाच युष्मदस्मदोरेकवविशिष्टाथगतित्वाभावात् त्वमाविति भाव । गिरमा  
 त्मन इच्छति पुरमात्मन इच्छताम्यत्र गिरा दापुत्र दाच क्यचि विशेषमाह । हलि चेति ॥  
 उपधादाथे इति शेष । ननु द्विरभिच्छति दिव्यता यत्रापि 'हलि च' इति दीर्घे स्यादित्यत  
 आह । धातोरित्येवेति । 'हलि च' इति सूत्रे 'मिपि धातो' इत्यतस्तदनुवर्तेरिति भाव ।  
 दिव्यतीति ॥ दिव्याद् अव्युपन प्रातिपादकमिति भाव । इहेति ॥ 'हलि च' इति सूत्रे  
 धातोरित्यनुवृत्ते पुर्यतायत्र न दीर्घे इति माधवग्रन्थे चिन्त्य इत्यर्थ । कुन इत्यत आह ।  
 पुर्गिरो. साम्यादिति । 'गृ शब्दे, पू पालनपूरणयो' इत्याभ्याङ्किपि 'ऋत इद्वातो' इति  
 'उदाङ्पूर्वस्य' इति च इत्त्वे उत्त्वे च हृते रपरत्वे गिर्वाद्स्य पुर्वाद्स्य च निष्पत्तेरिति भाव ।





दीव्यतीति दीर्घस्तु प्राचः प्रानादिक एव । अदस्यति । 'रीकृतः' (सू १२३४) ।  
कर्त्रीयति । 'क्यच्छयोश्च' (सू २११९) । गार्गीयति । वात्सीयति ।  
'अकृत्सार्व—' (सू २२९८) इति दीर्घ । कवीयति । वाच्यति । समिध्यति ।

२६६० । क्यस्य विभाषा । (६-४-५०)

हलः परयो क्यचक्यङोरलोपो वा स्यादार्धधातुके । 'आदेः परस्य'  
(सू ४४) । 'अतो लोपः' (सू २३०८) । तस्य स्थानिवत्त्वाद्घूपधगुणो न ।  
समिधिता-समिध्यिता । 'मान्तप्रकृतिकसुवन्तादव्ययाच्च क्यच् न' (वा  
१७१४) । किमिच्छति । इदमिच्छति । स्वरिच्छति ।

२६६१ । अशनायोदन्यधनाया वुमुक्षापिपासागर्धेषु । (७-४-३४)

प्रामादिक एवेति ॥ दीर्घशब्दस्य अव्युत्पन्नप्रतिपदिकन्वान धातुत्वम् । दिग्धातो विवन्तात्  
क्यचि ऊठि युशब्दाच्च क्यचि वृचतीत्येव उचितम् । विचि तु लघूपधगुणे 'लोपो व्यो' इति  
लोपे देशब्दात् क्यचि देयतात्येवोचितमिति भावः । अदस्यतीति ॥ अनुनात्मन इच्छतात्पर्ये  
अदस्यशब्दात् क्यचि सुपो लुक्का लुप्तत्वाद्दिनक्तिपरकत्वाभावात् त्वदाद्यत्वम् । सान्तत्वान्नोत्वनस्ये ।  
'न क्ये' इति नियमेन पदान्तत्वाभावात् सस्य रत्वमिति भावः । क्वृशब्दात् क्यचि विशेष  
नाह । रीकृतः इति ॥ गार्गीशब्दात् क्यचि विशेषनाह । क्यच्छयोश्चेति ॥ आप  
त्यस्य ययो यकारस्य लोप इति भावः । कृते लोपे 'क्यचि च' इत्यकारस्य ईत्व नत्वा  
आह । गार्गीयतीति ॥ वात्सीयतीति ॥ वान्त्वशब्दात् क्यचि पूर्ववत् । क्विशब्दात्  
क्यचि विशेषनाह । अकृत्सार्वेति ॥ वाच्यतीति ॥ वाच्यशब्दात् क्यचि 'न क्ये' इति  
नियमेन पदत्वाभावात् कुत्वम् । 'वचिस्वपि' इति सन्प्रसारणन्तु न । धातो कार्यमुत्पन्नान  
धातुविहितप्रत्यये एवेति नियमात् । समिध्यतीति ॥ समिध्यशब्दात् क्यचि 'न क्ये' इति  
नियमेन पदत्वाभावात् जश्त्वम् । लुटस्तासि इति समिध्य इति स्थिते 'यस्य हल' इति  
नित्ये यलोपे प्राप्ते । क्यस्य विभाषा ॥ 'यस्य हल' इत्यत हल इति परमन्वन्तनडु  
वर्तते । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । तदाह । हलः परयोः क्यचक्यङोरिति ॥  
क्यप्तु नात्र गृह्यते । 'लोहितडाजभ्य क्यच्यचनम्' इति वक्ष्यमाणतया हलन्तात्तदभावात् । अन्त  
लोपनास्यह्य आह । आदेः परस्येति ॥ तथाच समिध् अ इति स्थिते आह ।  
अतो लोपः इति ॥ तथाच समिध् इति स्थिते लघूपधगुणनास्यह्य आह । तस्य  
स्थानिवत्त्वादिति ॥ क्यच्युक्ते 'मान्ताव्ययेभ्य प्रतिपध' इति वार्तिकम् । मान्तेभ्य  
अव्ययेभ्यश्च क्यच प्रतिपेध इत्यर्थे पुत्रनात्मन इच्छति पुत्रापतात्स्त्र न स्यात् । पुत्रविच्छ-  
तीत्यादावेव स्यात् । मान्तानि मान्ताव्ययानि तेभ्य इत्यर्थे स्वरिच्छतात्स्त्र क्यच प्रतिपेधा  
न स्यात् । अतस्तद्वातिक विवृण्वन्नाह । मान्तप्रकृतिकसुवन्तादव्ययाच्च न्यच् नेति ॥  
अशनायोदन्य ॥ अशनाय उदन्य धनाय श्लेषान्द्र । क्यजन्ताः इति ॥ एते

अथवा डोतवन—मूलम (गणित म) घन राशि का मूल अंक—रस 1 गाढा रस 2 अंक गाढा 3 कपूर 4 जल—धम घन का वग (गणित म) छडा घात—बलम् (नव०) आकाश घनवम सहस्रधर कुवन—कि० ५।१७ बलिष्ठा बल्लो बिजली बाल एक प्रकार का कदरू कुम्हडा बाहुन 1 गिब 2 इत्र—इयाम (वि०) बाल की भाँति काला गहरा काग़ पक्का रंग (-स) 1 राम और कुप्य का बिद्यपण सम्यक वर्णोक्तु—सार 1 कपूर—घन सालीहाराहार—दग० १ (नवन पनाथो म उल्लेख) 2 घारा 3 तत्र—स्वम मेघमन्न—हस्तसहदा (गणित म) सार्दा की पिटटी आँति नापन की माप (एक हाथ लम्बा एक हाथ मोटा या चौड़ा और एक हाथ ऊँचा डर)

घनधन [हन—जब हनेष्वनम दिवधम्यमस्य आरु च] 1 इत्र 2 बिदबिडा या मदमल हाथो 3 पानी से भरा हुआ या बरसान वाला बादल ।

घरट्टे [घर सवम अदृति अतिशामनि—घर—अट्ट +अथ गन्० पररूपम] बरसा घराट्ट चकोर

घघर (वि०) [घघ+रा+क] 1 अस्यष्ट घघराट्ट करन वाला घघररा गच्छ करन वाला घघररका घघरम दान सति मा० ५।१९ 2 कलकड ध्वनि करन वाला (बादल को नाति) गडगड गच्छ करन वाला र 1 अस्यष्ट कलकल ध्वनि मन् नडबडे या घघर की ध्वनि 2 कीनाहन गौर 3 दरवाजा डार 4 ह्यो अदृहात् ० उल्लेख 6 तुपानि ।

घघरा—हो [घघर+राय शीघ वा] 1 सूँघर जो आभयष की भाँति काम आव 2 घघरको की गवर ध्वनि 3 गगा 4 एक प्रकार की बाणा ।

घघरिका [घघर+टन टाप] 1 आभयष की नाति प्रयुक्त होन वाले घघर 2 एक प्रकार का बाणध्वज ।

घघरितम [घघर+इतच] सूँघर के घघरतन का गच्छ

घम [घरनि अज्ञान घ+मक नि० गण] 1 नाप गर्मी—हि० ११७ 2 गर्मी को उदु निग्न निवास हाथीनामजगम घम त्रिवावेगिबीरश्टम रच० १६।४ 3 स्वद पक्षीना—गि० १५८ 4 कडा उडालन का पात्र । सन० अश सूत्र ग० ५१४—अत वपादुतु अम्ब अम्भस (ना०) स्वेद पक्षीना श० १३० म० १। ७ धबिका घाम पित्त घमोरी (ब टूए वसीन और गर्मी से गठेर पर पदा होन वाल डोट-छाट गन) दाबितल मूय रच० ११।६४ सति सूय कि० ५।१९ वजस (नव०) स्वेन पक्षीना गि० ९।३५ ।

घम घघणम [घघ+घञा ह्यट वा] 1 रगट विसर 2 पीसना चरा कम्पा ।

घस (म्या० अदा०—पर०—घसति घसि घस्त) खाना निपलना (यह अथी धातु ह अद् धातु के कुछ लकारो म ही इसक रूप बनते है) ।

घस्मर (वि०) [घस+नवरध] 1 भाऊ पेट—गवानकी घस्मर—भायि० १।३४ 2 निपल जान वाला हृष्य करन वाला दुषदसुतचमूयस्मरो शीगिरिम—वेपी० ५।३६ ।

घस (वि०) [घस+रक] पीडाकर सतिकर छ 1 पिन—घसा गमिध्वनि भविध्वनि मुद्रनोपध—मुभा० 2 मूय—महावी० ६।८—छम कसर जाकरान ।

घाट टो [घट+अथ स्त्रिया टाप] गदन का पिछला भाग ।

घाष्टिक [घटा ठक] 1 घटी बजान वाला 2 भाट या धारण 3 धूरे का पीथा ।

घात [हन विच+घञा] 1 प्रहार आघात खरोच चोट ज्वाघात—ग० २।१३ तयनारघात—गीत० १० इसी प्रकार पार्थिवघात गिरीघात आदि 2 मार गाना चोर पहुचाना सहार करना बध करना—विद्योगा मगास्था सलल गिपुधानावधिरथन—उत्तर० ३।४४ पयाघात गीत० १ खान० २ १५९ २ २५२ 3 बाण 4 गणनफल सम०—चण्ड अशुभ राशि पर स्थित शत्रुमा तिषि आगम चाद्र गिन रस त्रम आगम नखन वार आगम गिन—स्वात्मम वचड खाना बधस्थान

घातक (वि०) [हन+ध्वल] मारनवाला सहार करन वाला हथियार सहारक कातिल बध करन वाला ।

घातन (वि०) [हन+विच+ह्यट] हथियार कातिल नम 1 प्रहार करना मार गलना हुआ करना बध करना (यस म) एतु बलि देना ।

घातिन (वि०) (स्त्री०—नी) [हन विच+जिनि] 1 प्रहार करन वाला मारन वाला 2 (पक्षियो को) पकडन वाला या मारन वाला 3 विनागकारी सम०—वसिन—विहय वाड स्थन

घातुक (वि०) (स्त्री० की) [हन+विच+उक्ञा] 1 मारन वाला सहायकारी अनिष्टकर चोट पहुचान वाला 2 धर नमस हिल ।

घाय (वि०) [हन+विच ध्वन मारने जान के योग्य वह व्यक्ति जिसे मार देना चाहिए ।

घार [घ घञा डिङ्कना तर करना ।

घातिक घतेन निव ठका] धो म ठक हुए पूड (विधायन विनम डिङ्क होते है) (दन्ही को देनकर पवतन म मस पक्षियो न कहा था—उद्विष्यनया बहुलीभयनि) ।

घास [घस+घञा] 1 काहार 2 घोषरध्वनि या बरपाघ का घाम—घासीभाषात पच० ५ घासमुष्ट परगवे

क्यजन्ता निपात्यन्ते । अशनायति । उदन्यति । धनायति । 'बुभुक्षादौ'  
किम् । अशनीयति । उदकीयति । धनीयति ।

२६६२ । अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि । (७-१-५१)

एषा क्यचि असुगागम स्यात् । 'अश्ववृषयोर्भेधुनेच्छायाम्' (वा  
४३०९) । अश्वस्यति वड्ना । वृषस्यति गौ । 'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्'  
(वा ४३१५) । क्षीरस्यति जाल । लवणस्यत्युष्ट्र । 'सर्वप्रातिपदिकाना क्यचि  
लालसाया सुगसुकौ' (वा ४६१६-१७) दधिस्यति—दध्यस्यति । मधुस्यति—  
मध्वस्यति ।

२६६३ । काम्यच्च । (३-२-४)

उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । इह  
'यस्य हल' (सू २६३१) इति लोपो न । अनर्थकत्वान् । यस्य इति सद्भात-

त्रय शब्दा क्रमण बुभुक्षादिष्वथपु निपात्यन्त इत्यथ । भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा । पातुमिच्छा  
पिपासा । गर्द्ध अभिक्रान्ता । अशनायतीति ॥ अश्यते यत् तदशनम् अन्न, तद्रोक्तुमि  
च्छतीत्यर्थः । 'क्यचि च इति इत्वाभावा निपात्यते । 'अकृन्सार्व' इति दार्ढ्य ।  
उदन्यतीति ॥ उदक् पातुमिच्छतालथ । उदकशब्दस्य उदनादेशो निपात्यते  
नलोपाभावश्च । धनायतीति ॥ नावनार्थं सत्यपि धन अधिक धन वाञ्छतीत्यर्थः ।  
ईन्वाभावो निपात्यते । अशनीयतीति ॥ अशनम् अन्न तस्मद्ब्रह्महातुमिच्छति । वैश्व-  
देवागर्धमित्यर्थः । उदकीयतीति ॥ सस्यादिसेवनार्थमुदकमिच्छतीत्यर्थः । धनी  
यतीति ॥ दरिद्रस्मन् नावनाय धनमिच्छतालथ । अश्वक्षीर ॥ क्यचि परे  
ऽसुगिति शपदूरणम् । 'नाचमेरमुक्' इत्यतस्तदनुत्तोरिति भावः । असुकि क्वार इत्  
उकार उच्चारणार्थः । किन्वादन्यावयव । अश्ववृषया इति वातकम् । अश्वस्यति  
यड्वेति ॥ मैथुनाथमश्वमिच्छनीयथ । वृषस्यति गौरिति ॥ मैथुनार्थं वृषमिच्छती  
त्यर्थः । 'वृषस्यन्ती तु कामुका' इति बोशस्तु अश्ववृषरूपप्रकृत्यर्थपरित्यागेन मैथुनेच्छा  
मात्रे लाभणिक । 'क्षीरलवणया' इति वातकम् । असुगिति शेषः । लालसा उत्कटेच्छा ।  
सर्वप्रातिपदिकानामिति ॥ इदमपि वातिकम् । लालसाया सर्वया प्रातिपदिकाना क्यच्  
वक्तव्यः । तस्मिन् पर प्रकृताना सुगसुकौ च वक्तव्या इत्यर्थः । न चानेनैव वातिकेन सिद्धे  
'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्' शत वातिकं व्यथमिति शङ्क्यम् । 'क्षीरलवणयो' इति वातिकं  
कालायनायम् । 'मवप्रातिपदिकानाम्' इति तु मतान्तरमित्यदोषान् । एतच्च भाष्ये अपर आह-  
त्यनन ध्वनितम् । काम्यच्च ॥ 'सुप आ मन क्यच्' इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । तदाह । उक्त-  
विषये इति ॥ पुत्रकाम्यतीति ॥ कस्येन्सज्ञा तु न, फलाभावात् । अनर्थकत्वा  
दिति ॥ काम्यच्च एकदेशस्य यकारस्य अर्थाभावादित्यर्थः । ननु बेभिदिता इत्यत्रापि

दत्तात सवत्सर तु य—यहां। सम०—कृद्म  
—स्वात्म चरागाह।

घृ (म्वा० आ०—घवते घृत) गन्ध करना हल्ला मवाना।

घृ [घृ+किल्प] नबूतर की गुटर गू।

घृड १ (म्वा० पर०—घृटति घृटित) १ फिर प्रहार करना बदला लेने के लिए प्रहार करना मुकाबला करना २ विरोध करना ॥ (म्वा० आ०—घोटते) ३ वापिस आना लौटना २ वस्तु विनिमय करना बन्सा-बन्सी करना।

घृट घृटि, टो (स्त्री०) घृटिक—का [घृट+अच इन वा घटि+शेष बने स्विधा टाप वा] टखना।

घृज १ (म्वा० आ० तुग० पर०—घाणते घृजति घृजित) लुडकना चक्कर खाना लडखाना अटरना ॥ (म्वा० आ०) लेना प्राप्त करना।

घृण [घृण+क] लकड़ी में पाग जाद वाला विषय प्रकार का कौडा। सम०—अक्षरम—लिपि (स्त्री०) लफ्डी या पुस्तक के पत्रों में कौडी के द्वारा बनाइ हुई रेखाएँ जा कुट कुछ अणरो जैसी प्रतीत होती हैं। न्याय दे० 'वाय' के अन्वयत।

घृष्ट घृष्टक घृष्टिका [घृष्ट+क घृष्ट+कन घृष्टक+टाप इजम] टखना।

घृष्ट [घृष्ट+ड नि०] भौटा।

घृ (मुदा० पर०—घृरति घृरित) १ सञ्च करना कालाहल करना खुरटि भरना घृचकारना (सूजर कुत्त आदि का) घृरघुराना—न क कुच न घृघुरायित घृरीघोरो घृरेच्छकर—का० उ २ डरावना बनना भयकर होना ३ दुख में पिल्लाना।

घृती [घृ+कि+शेष] नाथना (विणपकर सूजर की धूपन)—घृघुरायितघृरीघोरो घृरेच्छकर काव्य० उ।

घृघुरो [घृर इज्यक घृरति—घृर+घृर+क] १ बालर पिल्लड (एक प्रकार का कौडा) २ खुरटि भरना घृरति सूजर आदि जायवर के गले से निकलन वाली आवाज।

घृघुर [घृघुर+अच+शेष] सूजर की आवाज।  
घृलघुराव [घृलघृच इत्यप्यन्तमारोडि—घृलघुर+आ +घ+अच] एक प्रकार का कपूर।

घृ १ (म्वा० पर० घृरा० उम०—घोषति घोषयति—ते ध्वनि घृत् घोषयति) १ गन्ध करना कालाहल करना २ ऊँचे स्वर से बिल्लाना नावजनिक रूप से घोषणा करना स फगगान्ने तासा दुध्यन्त इति घृभगाम —ग० ६१२२ घोषयतु ममयतिनेम—गीत० १० इति धारयडोड इतिम करिणहृस्तिपराहृत् भवयत —हि० २१८६ रघु० १११० आ—उच्च स्वर से खाना सावजनिक रूप से घोषणा करना—भट्टि०

३१२। उद्—उच्च स्वर से घोषणा करना साव जनिक रूप से घोषणा करना ॥ (म्वा०—आ०—घुवने) सुन्दर या उज्ज्वल होना।

घृमुषम [घृष+कणक पयो०] केसर जाफरान—यत्र स्त्रीणा मनुष्यमुत्सालेपनाणा कुचयो विक्रम० १४।३१।

घक [घृ इत्यप्यन्त कायति घृ+कं+क] उल्लू। सम०—अरि कौश।

घृण (म्वा० आ०—मुदा० पर०—घृणने घृणति घृणित) इधर-उधर लुडकना इधर उधर घृणना चक्कर काटना मुडना हिलाना छिपटना लडखाना—घोषितामतिभनेन कुचुचविभ्रमातिगधुयति कपूनि—सि० १०।३२ भयात्कावन्धनिपु—भट्टि० १५।३२ ११८ नि० ११।१८ अथापि ता सुरतजायर घृणमाना—चौर० ५ पर०—घृणति—ने हिलाना अटरना या लपेटना—नयनान्यहानि घृणयत—कु० ४।१८ नि० २।१६ भन० १।८० (आ तथा वि उपमग के लग जान पर भी धानु का वही अर्थ रहता है)।

घृण (वि०) [घृण+अच] हिलाने वाला इधर उधर चलन फिरल खाला। सम०—वायु बवधर।

घृणनम—ना [घृण+त्यट]—हिलाना हुलाना लपेटना चक्कर खाना मुडना घमना मौलिघृणनचलत—गीत० ० घृणनामाभवततत्रमणा—नान्दित—सा० ६०।

घ १ (म्वा० पर० घरति घृत्) छिडकना।

॥ (चुंग० उम०—घारयति—ल घारति) छिडकाव करना गोला करना तर करना अर्धि— छिडकना आ छिडकाव करना।

घृष (तना० पर० घणोति घृष्य) चमकना जलना।

घृषा [घृ+नक+टाप] दया तमस मुकुमारता—ता विदोकर वनिताकध पूना पविष्ठा सह मुभोव राधव—रघु० ११।१७ १।८१ कि० १५।१२ २ उच अर्धि घिन तल्लात्र तोप परपुटघृष्ट घृषा च वीणाकवणिते विदेव—ने० १।६० १।२० रघु० ११।६५ ३ मिडको विष्ठा।

घृषालू (वि०) [ घृषा+आलुच ] सफरुण दयापूष मनु-द्वय।

घृषि [घृ+नि नि०] १ समी घृष २ प्रकाश की निरण ३ सूय ४ सहर (रघु०) जल। सम०—विधि सूय।

घृतम [घृ+कन] १ धो ताया इत्रा भवतन—(सपिबिलीन माञ्ज स्यात् प्रसीभूत् घृत भवेत्—सा०) २ मक्कन ३ जक। सम०—अप्र—अर्धि (घृ०) बहती हुई जाग आहृति (स्त्री०) धो की आहृति—आहृ

प्रहणमित्युक्तम् । यशस्काम्यति । सर्पिष्काम्यति । मान्ताव्ययेभ्योऽप्ययं स्या-  
देव । किङ्काम्यति । स्वःकाम्यति ।

### २६६४ । उपमानादाचारे । (३-१-१०)

उपमानात्कर्मणः सुवन्तादाचारार्थं क्यच् स्यात् । पुत्रमिवाचरति पुत्री-  
यति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् । 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' (वा १७१७) ।  
प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः । कुटीयति प्रासादे ।

### २६६५ । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । (३-१-११)

उपमानात्कर्तुः सुवन्तादाचारे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य तु कर्तृवा-  
चकस्य लोपो वा स्यात् । क्यङ् वेत्युक्तेः पक्षे वाक्यम् । सान्तस्य लोपस्तु  
क्यङ्सन्नियोगशिष्टः । स च व्यवस्थितः । 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां

यकारस्य अनर्थकत्वात्त्रेपो न स्यादित्यत आह । यस्य इतीति ॥ 'यस्य हल.' इत्यत्र  
यस्येत्यनेन यकाराकारसद्वातप्रहणमित्यनुपदमेवोक्तमित्यर्थः । तथाच वेभिद्य इता इति स्थिते  
यद्यो यस्य सद्वातस्यार्थवत्त्वाद्यकारलोपो निर्वाहः । प्रकृते तु काम्यजेकदेशस्य यस्यानर्थकत्वा  
त्त्रेपो नेति भावः । यशस्काम्यतीति ॥ 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । ननु मिमात्मनः इच्छति  
किङ्काम्यति स्व काम्यतीति कथम् । मान्ताव्ययाना नेत्यनुवृत्तेरित्यत आह । मान्ताव्ययेभ्यो-  
ऽप्ययमिति ॥ उपमानादाचारे ॥ 'तुप आत्मन. क्यच्' इत्यनुवर्तते । 'धातोः कर्मण-  
स्मानकर्मृणात्' इत्यतो धातोरिति । तदाह । उपमानात्कर्मणः इत्यादिना ॥  
उपमान यत्कर्मभारक तद्भूतेस्तुवन्तादित्यर्थः । पुत्रमिवेति ॥ 'धातोः कर्मणः' इत्यतः  
वेत्यनुवृत्तेरनेन सूचिता । छात्र पुत्रत्वेन उपचरतीत्यर्थः । विष्णूयतीति ॥ द्विज विष्णु-  
त्वेन उपचरतीत्यर्थः । अधिकरणाच्चेति ॥ उपमानभूताधिकरणवृत्तेरपि सुवन्तादाचारे  
क्यजिति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रासादीयति कुट्यामिति ॥ प्रासाद इव कुट्या हृद्यो वर्तते  
इत्यर्थः । कुटीयति प्रासादे इति ॥ कुट्यामिव प्रासादे क्लिष्टो वर्तते इत्यर्थः । कर्तुः  
क्यङ् सलोपश्च ॥ कर्तुरित्वावर्तते । कर्तुः क्यङित्येक वाक्यम् । अत्र कर्तुरिति पदस्य-  
न्तम् । उपमानादाचारे इत्यनुवर्तते । 'धातोः कर्मणः' इत्यतः वेति च । तदाह । उपमाना-  
दिति ॥ उपमान यत्कर्मभारक तद्भूते सुवन्तादित्यर्थः । कर्तुं सलोपश्चेति द्वितीय वाक्यम् ।  
चकार तुपर्याय भिन्नक्रमः । स इति लुप्तपट्टीक पृथक्पदम् । कर्तुरिति पञ्चमस्य विशेषणम् ।  
तदन्ताविधिः । तदाह । सान्तस्य त्विति ॥ पक्षे इति ॥ क्यङ्भावपक्षे इत्यर्थः । क्यङ्-  
भावपक्षे गनारलोप इति भ्रन वारयति । सान्तस्य लोपस्त्विति ॥ एतच्च महाभाष्ये  
स्पष्टम् । म्यङि सलोपविमल्यः स्यादित्यत आह । स च व्यवस्थितः इति ॥ सान्तस्य  
मलोप इत्यर्थः । व्यवस्थानेव दर्शयति । ओजसोऽप्सरसः इति ॥ इदं वार्तिकम् । ओज-

विभाषया' (वा १७१९-२०) । कृष्ण इवाचरति कृष्णायते । ओजशब्दो वृत्तिविषये तद्वति । ओजायते । अप्सरायते । यशायते-यशस्यते । विद्यायते-विद्वस्यते । त्वद्यते । मद्यते । अनेकार्थत्वे तु युष्मद्यते । अस्मद्यते । 'क्यङ्-मानिनोश्च' (सू ८३७) कुमारीवाचरति कुमारायते । हरिणीवाचरति हरितायते । गुर्वाव गुरुयते । सपत्नीव सपत्नायते । सपतीयते । सपत्नीयते । युवतिरिव युवायते । पट्टीमृद्वाविव पट्टीमृदूयते । 'न कोपधाया' (सू ८३८) पाचिकायते । 'आचारेऽवगतमङ्गीवहोडेभ्य क्त्वा' (वा १७२१) ।

शब्दः इति ॥ न्यन्तोऽयम् । सनाद्यन्ता इति धातुत्वाद् इति । तत्र ओजशब्द ओजस्विनि वर्तत इत्यर्थः । ओजायते इति ॥ ओजस्वीवाचरतीत्यर्थः । ओजशब्दात् क्यङि सलोपे 'अह्रस्वार्थ' इति दार्ढ्य इति भावः । अप्सरायते इति ॥ अप्सरशब्दात् क्यङि सलोपदीपा । क्यङो द्वित्वादात्मनेपदम् । इतरेषां विभाषयेत्यस्योदाहरति । यशायते-यशस्यते इति ॥ यशस्वावाचरतीत्यर्थः । विद्यायते-विद्वस्यते इति ॥ विद्यानिवाचरतीत्यर्थः । विद्वच्छब्दात् क्यङि सलोपावन्त्यम् । त्वद्यते । मद्यते इति ॥ त्वमिव अहमिव आचरतीत्यर्थः । युष्मदस्मच्छब्दात् क्यङि 'प्रत्ययान्तरपरयोश्च' इति मपर्यन्तस्य त्वमौ । युष्मद्यते । अस्मद्यते इति ॥ यूयमिव वयमिव आचरतात्यर्थः । 'त्वमावेकवचने' इत्यस्मात् 'प्रत्ययान्तरपदयोश्च' इति सूत्रे एकवचने इत्यनुवृत्तेरेकवचनविशिष्टार्थवृत्तित्वे सत्येव युष्मदस्मदो रवमाविति भावः । कुमारीदिशब्दात् क्यङि पुवत्त्वं स्मारयति । क्यङ् मानिनोश्चेति । कुमारायते इति ॥ पुवत्त्वेन दीपो निवृत्तौ दीर्घः । हरितायते इति ॥ हरिणीशब्दात् क्यङि पुवत्त्वेन 'वर्णादनुदात्तात्' इति नत्वस्य ङापथ निवृत्तौ दीर्घः । गुरुयते इति ॥ गुर्वाशब्दात् क्यङि ङापो निवृत्तौ दीर्घः । सपत्नायते इति ॥ सपत्न्यायात् सपत्नशब्दात् शार्ङ्गरवादित्वेन ङीनन्तात् पुवत्त्वेन ङीनो निवृत्तौ दार्ढ्य इति भावः । सपतीयते इति ॥ समान पति स्वामी यस्या इति बहुव्रीहौ सपतिशब्दस्य नत्वे ङीपि च सपत्नीशब्दान् क्यङि पुवत्त्वेन ङीत्वान्तरव्यानिवृत्तौ दीर्घ इति भावः । सपत्नीयते इति ॥ विवाहनिबन्धन पतिशब्दमात्रेण समान पति यस्या इति बहुव्रीहौ सपत्नीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वान् पुवत्त्वमिति भावः । युवायते इति ॥ युवतिशब्दात् क्यङि पुवत्त्वे तिप्रत्ययस्य निवृत्तौ नलोपे दीर्घ इति भावः । वयोवाचिनाच्चातिकार्य वैकरिपक्वमिति 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । एतेन 'जातेश्च' इति निवेधादिह पुवत्त्वं दुर्लभमित्यपास्तमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । पट्टीमृदूयते इति ॥ इह पूर्वपदस्य क्यङ्परकवाभावान् पुवत्त्वम् । ननु पाचिनेवाचरति पाचिकायते इत्यत्रापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुवत्त्वेन ङाप 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वस्य च निवृत्तौ पाचिकायते इति स्यादित्यत आह । न कोपधायाः इति ॥ 'आचारेऽवगतमङ्गीवहोडेभ्य क्त्वा' इति वार्तिकम् । उपमानादित्यनुवर्तते । 'धातो कर्मण' इत्यतो वाग्रहणस्यास्मिन्प्रकरणे अनुवृत्त्यैव सिद्धे वाग्रहण व्यर्थमित्यत आह । चा-

वाग्रहणान् क्यङपि । अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः । किप्सन्नियोगेनानुदात्तत्व-  
मनुनासिकत्व चान्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । तेन तङ् । अवगल्भते । ङीनते ।  
होङते । भूतपूर्वादप्यनेकाच आम् । एतद्वातिकारम्भसामर्थ्यान् । न च  
अवगल्भते इत्यादिसिद्धिस्तत्फलम् । केवलानामेवाचारेऽपि वृत्तिसम्भवान् ।  
धातूनामनेकार्थत्वान् । अवगल्भाश्चक्रे । ङीनाश्चक्रे । होडाश्चक्रे । वार्तिकेऽवे-  
त्युपसर्गाविशिष्टपाठात्केवलादुपसर्गान्तरविशिष्टाच्च क्यङेवेति भाववादयः ।

ग्रहणात् क्यङपीति ॥ अन्यथा विशेषविहितत्वान् त्रिषा क्यङो वाध स्यादिति भावः ।  
तथाचात्र वाशब्दो विकल्पार्थक इति फलितम् । अत्र मुप इति नानुवर्तते । प्रातिपदिकान्  
क्यङोऽप्राप्तौ वाग्रहणान् समुच्चीयते इति केचित् । अवगल्भादयः इति ॥ 'गल्भ धाञ्'   
(अवपूर्व) 'ङीव अधाप्र्ये' 'होङ अनादरे' एभ्यः पचाद्यचि अवगल्भादिशब्दाभ्यो  
निष्पन्ना इत्यर्थः । तथाच अवगल्भ इवाचरति ङीव इवाचरति होङ इवाचरतीत्यर्थे अवगल्भादि  
शब्देभ्यः त्रिपुञ्जडाविति स्थितम् । अवगल्भते इत्यात्मनेपदलाभायाह । किप्सन्नियोगे  
नेति ॥ अन्त्यस्य अकारस्य अनुदात्तत्वमनुनासिकत्वञ्चात्र प्रतिज्ञायते । ततश्च तस्य इत्स  
ज्ञाया लोपे अनुदात्तत्वादात्मनेपद लभ्यते । तदाह । तेन तङिति ॥ अवगल्भते इति ॥  
त्रिपि भस्तरादकारस्य लोपे हल्न्ताङ्गडादां तानि शानिति भावः । ननु अवगल्भाश्चक्रे, ङीना  
श्चक्रे, हाडाश्चक्रे, इत्यत्र कथमाम् । अन्त्यस्य च इत्सज्ञालोपाभ्यामपहारेण धातूनामस्यत्वेन  
'कास्यनेकाच्' इत्यस्याप्रवृत्ते । नच अवगल्भ इत्यस्य त्रिचन्तस्य धातोरेनेकाच्त्वमस्तीति  
वाच्यम् । 'उपसर्गसमानाकार पूर्वपद धातुमज्ञाप्रयोगेके प्रत्यये चिक्रापिते पृथक् क्रियत' इत्य  
नुपदमेव वक्ष्यमाणत्वादित्यत आह । भूतपूर्वादपीति ॥ त्रिपुपने प्राचन्मनेकाच्च भूत  
पूर्वगला आधिल्येत्वं । भूतपूर्वगलाश्रयणे प्रमाणमाह । एतद्वातिकेनेति ॥ 'सर्वप्रातिपदिके  
भ्यः ङीवा' ति वक्ष्यमाणवार्तिकेनदेव अवगल्भते अवगल्भते इत्यादि सिद्धौ पुनरेभ्यः त्रिपिधान  
तन्सन्नियोगेन अन्त्यवर्णस्य अनुदात्तत्वानुनासिकत्वप्रतिज्ञानार्थं सद्गतपूर्वगला अनेकाच्चवाश्रयण  
ज्ञापयतीत्यर्थः । नन्वनुदात्तत्वानुनासिकत्वप्रतिज्ञानस्यात्मनेपदसिद्धानुपधाणवान् कथमुक्तशप  
कतेत्याशङ्क्य निराकराति । न चावगल्भते इत्यादिसिद्धिस्तत्फलमिति ॥ कुत इत्यत  
आह । केवलानामिति ॥ अन्प्रत्ययविहितानान्धातुपाठसिद्धानामनुदात्तेनामेव गल्भादिधा  
तूनामवगल्भ इवाचरतीत्याद्यर्थेषु वृत्तिसम्भवान् । तच्च कुत इत्यत आह । धातूनामनेकार्थ-  
त्वादिति ॥ एवम 'आचारेऽवगल्भ' इति त्रिपिधानमनुगन्धसम्भवार्थं सद्गतपूर्वगला अनेका-  
च्चवाश्रयण ज्ञापयतीति सिद्धम् । नच 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति त्रिपि अवगल्भतीत्यादिवारणाय  
अनुबन्धामन्मनुपशीणमिति कथन्तस्य उत्त्वापत्तेरिति वाच्यम् । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति  
वार्तिकेन त्रिपि तथा प्रयोगे दृष्टापत्तेः । भूतपूर्वाश्रयणपरभाष्यप्रामाण्येन 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति  
वार्तिकस्य अवगल्भादिभ्यः अप्रवृत्तिविज्ञानाद्रेन्यास्तान्तावन् । 'आचारेऽवगल्भ' इत्यत्र अवगल्भस्य  
प्रयाजनमाह । अवेत्युपसर्गिति ॥ केवलादिति ॥ उपसर्गविहीनादवगल्भशब्दादित्यर्थः ।



तद् नेति तूचितम् । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य क्विच्वा वक्तव्य' (वा १७२२) ।  
पूर्ववार्तिकं तु अनुबन्धासङ्गार्थं तत्र क्विचन्द्यते । प्रातिपदिकग्रहणादिह सुप  
इति न सम्बध्यते । तेन पदकार्यं न । कृष्ण इमाचरति कृष्णाति । 'अतो गुणे'  
(सू १९१) इति शपा सह पररूपम् । अ इवाचरति अति । अत । अन्ति ।  
प्रत्ययग्रहणमपनीय अनेकाच इत्युत्तेर्नाम् । औ । अतु । उ । द्वित्वम् ।  
'अतो गुणे' (सू १९१) 'अत आदे' (सू २०४८) इति दीर्घं णल ।

उपसर्गान्तरेति ॥ प्रगभानुगभादिनादादिलथ । क्यटेनेति ॥ न तु क्विविलथं । माध  
वादय इत्यस्वरसाद्भवन्म् । तत्रान्माह । तद् नेति तूचितमिति ॥ केवलादुपसर्गान्तरविशि  
ष्टाच्च गल्भशब्दान् अनन क्विचभावऽपि नवप्रातिपदिकेभ्य' इति वार्तिकेन क्विप् निर्बाध ।  
परन्तु अवपूर्वत्व एवानुबन्धासङ्गत्वादाभनेपदमेव तत्र नेति वक्तुमुचितमित्यर्थं । सर्वप्राति  
पदिकेभ्यः इति ॥ आचार इति शप । नन्वनेनेव वार्तिकेन सिद्धे 'आचारेऽवगल्भ' इति  
वार्तिक व्यर्थमित्यत आह । पूर्ववार्तिकान्तिवति ॥ अन्यवर्गस्य इमहासिद्धार्थमित्यर्थं ।  
तर्हि तत्र क्विचग्रहण व्यथमित्यत आह । तत्र क्विचनूद्यते इति ॥ तन्मन्त्रियोगेनानुबन्धा  
सङ्गार्थमित्यर्थं । पदकार्यं नेति ॥ राजानतात्यादा नलोपादिकनेत्यर्थं । अन्यथा अन्तर्वर्ति-  
विभक्त्या पदत्वानलोपादिक स्यादिति भाव । पररूपमिति ॥ कृष्णादात् क्विचन्तादादा  
शपि 'अतो गुणे' इति पररूपमित्यर्थं । कृष्णाच्चकार । कृष्णिता । कृष्णिप्यति । कृष्णतु । अह-  
ष्णत् । कृष्णोत् । कृष्णायात् । अता लोपापरत्वान् 'अकृन्सार्व' इति दीर्घं । विशेषविहि  
तत्वादतो लोप इत्यन्ये । अ इवेति ॥ अ विष्णु । स इवेत्यर्थं । अतीति ॥ शपा  
पररूपम् । अति । अथ । अथ । आमि । आव । आम । क्विप्प्रत्ययान्तत्वादि  
'कास्प्रत्ययात्' इत्याम्प्रत्ययमाशङ्क्य आह । प्रत्ययग्रहणमपनीयेति ॥ औ । अतु ।  
उ । इति सिद्धरूपप्रदर्शनम् । तत्र प्रक्रियान्दर्शयति । द्वित्वमिति ॥ णलि 'द्विर्वच  
नेऽचि' इति लोपस्य निषेध इति भाव । अतो गुणे इति ॥ द्वित्वे कृते अ अ  
इति स्थिते अन्तरङ्गत्वादात् लोप बाधित्वा पररूपमिति भाव । अत आदेरिति ॥ नच  
परत्वानित्यत्वादपवादत्वाच्च 'अतो गुणे' इत्यस्मात्प्राक् 'अत आदे' इत्यस्य प्रवृत्ति  
रिति वाच्यम् । तस्य बहिरवत्वान् । 'अत आदे' इत्यस्यापवादत्वेऽपि आनदत्यत्र  
ह्लादिशेषा प्रागेव परत्वात् 'अत आद' इत्यस्य चरितार्थत्वेन बाधनत्वासम्भवात् । "अप-  
वादोऽपि यद्यन्यत्र चरितार्थस्ततश्चन्तरङ्गेण बाध्यते" इत्युक्ते इत्यन्यत्र विस्तर । यद्यप्यत्र  
प्रक्रियाव्युत्क्रमे फलविशेषो नास्ति । तथापि न्याय्यन्वादेवमुक्तम् । णल औ इति ॥ पररूपे

१ 'अनेकाग्रहणं लुलुम्पाद्यर्थम्' इतिवत् एकाज्यावृत्त्यर्थम् इत्यनुक्त्या प्रत्ययान्तका-  
ज्याऽप्याम् भवलेव-इति नागेशसिद्धान्त ।

औ । वृद्धि । अनुसादिषु तु 'आतो लोप इटि च' (सू २३७२) इत्याहोप । मालेवाचरति मालाति । लिङ्गविशिष्टपरिभाषयैकादेशस्य पूर्वान्तत्वाद्वा क्विप् । मालाञ्चकार । लडि । अमालात् । अत्र हल्ङ्-यादिलोपो न । डीप्साहचर्यादा-  
पोऽपि सोरेव लोपविधानात् । इट्सकौ । अमालासीत् । कविरिव क्वयति ।  
आशीलिङि । कवीयात् । 'सिचि वृद्धि —' (सू २२९७) इत्यत्र 'धातो' ।  
इत्यनुवर्त्य धातुरेव यो धातुरिति व्याख्यानान्नामधातोर्न वृद्धिरिति कैयटादय ।  
अकवयीत् । माधवस्तु नामधातोरपि वृद्धिमिच्छति । अकवयीत् । विरिव

दीष च आ अ इति स्थिते 'आत औ णल' इत्यौत्वमिति भाव । वृद्धिरिति ॥ आ औ  
इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिरित्यर्थ । तथा च औ इति रूप परिनिष्ठितम् । अनुसा  
दिष्विति ॥ अ अनुस, अ उस्, इति स्थिते द्वित्वे पररूपे 'अत आदे' इति दीर्घे आता  
लोप इत्यर्थे । अनु । उ । इति प्रत्ययमात्र शिष्यने । थलि इटि द्वित्वे दाधे आलोपे, इथ । अधु ।  
अ । औ । इव । इम । वस्तुतस्तु 'कास्यनेकाजग्रहणम्' इति वार्तिकव्याख्यावसरे प्रत्ययग्रहणम  
पनीयेति भाष्ये नोक्तम् । कासेथ प्रत्ययान्ताच्च आमिति लभ्यते । अत एव 'आचारेऽवगल्भर्ह  
बहोडेभ्य' इति वार्तिक अवगल्भश्च इत्यादीं अन्त्यवर्णस्यानुवन्वत्वेन एकाच्चेऽपि 'कासूप्रत्य  
यात्' इत्यामित्युक्त भाष्ये इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । इता । इष्यति । अनु-अतात् ।  
अताम् । अन्तु । अ-अतात् । अतम् । अत । आनि । आव । आम । आन् । आताम् ।  
आन् । आ । आतम् । आत । आम् । आव । आम । विधिलिङि एत् । एताम् । एयु ।  
ए । एतम् । एत । एयम् । एक । एम । आयात् । आयास्ताम् । आयासु । लुङि 'इट  
ईटि' इति सिञ्जलोपे 'आटश्च' इति वृद्धि वाधित्वा परत्वादतो लोपे इटा सह आटो वृद्धौ  
ऐत्, ऐटाम्, ऐषु, इत्यादीति क्विच् । आर्धधातुकोपदेशकाले एव परत्वादतो लोपे अङ्गस्या  
भाषादाट् नेत्यन्ये । ईत् । ईस्ताम् । इत्यादि । ऐष्यत् । वस्तुतस्तु आकारान्तेभ्य आचारे क्विप्  
नास्त्येवेति विश्वपाशब्दनिरूपणे प्रपञ्चितम् । ननु मालाशब्दस्य टाप्रत्ययान्तत्वेन प्रातिपदि  
क्त्वाभावात्तत क्व क्वित्यत आह । लिङ्गविशिष्टेति ॥ टीप्साहचर्यादिति ॥  
इयन्तादाचारक्विन्तात् गौरीशब्दान् लुङि अगौरयीत् इत्यादीं तिस्रोऽर्धन्तापरत्वात्सम्भवात्  
तत्साहचर्यादायन्तादपि न तयोर्लोप इत्यर्थ । कथयतीति ॥ शपि गुणयादेशौ । कवी  
यादिति ॥ 'अकृत्सार्व' इति दाधे । लुङि अक्वि ईत् इति स्थिते सिचि वृद्धिमासाङ्ग्य  
आह । सिचि वृद्धिरित्यनेति ॥ सिचा धातोरक्षेपतो लाभेऽपि 'ऋत इद्धातो' इत्यत  
स्तदनुवृत्तेधातुरेव यो धातुरिति लभ्यते इति भाव । कैयटादय इति ॥ 'इको गुणवृद्धौ'  
इति सूत्रे गोशब्दादाचारक्विपि अगवीदित्युपक्रम्य तयोक्तत्वादिति भाव । माधवस्त्विति ॥  
'सिचि वृद्धि' इत्यत्र 'ऋत इद्धातो' इत्यतो धातुग्रहणानुवृत्तौ मानाभावेन धातुरेव यो  
धातुरित्युक्तार्थालाभादिति तदाराय । वस्तुतस्तु 'इको गुणवृद्धौ' 'वदत्रनहलन्तस्याच'  
इत्यादिसूत्रप्रभाष्य सिचि परत एजन्त नास्तीत्युक्तत्वादेजन्तेभ्य आचारक्विप् नास्त्येवेति

वयति । विवाय । विव्यतु । अवयीत्—अवायीत् । श्रीरिव श्रयति । शिश्राय । शिश्रियतु । पितेव पितरति । आशिपि रिङ् । पिष्रियान् । भूरिव भवति । अत्र 'गातिस्था—' (सू २२२३) इति 'भुवो वुक्—' (सू २१७४) इति 'भवतेः—' (सू २१८१) इति च न भवति । अभिव्यक्तत्वेन धातुपाठ-स्थस्यैव तन्न प्रहणान् । अभावीन् । बुभाव । दुरिव द्रवति । 'णिशि—' (सू २३१२) इति चङ् न । अद्रावीन् ।

२६६६ । अनुनासिकस्य किङ्गलोः किङ्गति । (६-४-१५)

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घं स्यात्क्वौ झलादौ च किङ्गति । इदमिवाचरति इदामति । राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति । मथीनति । रुभुर्क्षीणति । द्यौरिव देवतीति माधव । अत्र ऊठि द्यवतीत्युचितम् । क इव कति । 'चकौ' इति हरदत्त । माधप्रस्तु 'प्यङ्गोपौ' इति वचनाण्णलि

शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । चिरिवेति ॥ वि पक्षी स इवेत्यर्थः । अभिव्यक्तत्वेनेति ॥ अभावीदिति ॥ इह 'गातिस्था' इति मिचो न लुक् । भुभावेति ॥ इह न वुक् । अभ्यासस्य अत्वबन् न । चङ् नेति ॥ 'णिशि' इति सूत्रे द्रुप्रहणेन धातुपाठस्यैव प्रहणादिति भावः । अनुनासिकस्य ॥ अङ्गस्येत्थिङ्गुतमनुनासिकेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'नोपधाया' इत्यत उपधाया इति 'द्वलोपे' इत्यतो दीर्घं इति चानुवर्तते । तदाह । अनुनासिकान्तस्येत्यादिना ॥ इदामतीति ॥ 'हलन्तेभ्य आचारकिप् नास्ति' इति 'ह्रस्वनद्याप' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । पथीनतीति ॥ पथिन्शब्दान् किपि अनुनासिकस्येति श्कारस्य दीर्घः । इदन्तु माधवानुरोधेन । किञ्चन्युपगमे तिपि पथेनतीत्येव युक्तम् । 'इन्हन्' इति नियमेन दार्ढ्याप्राप्ते । नच नियमस्य सजातायापेक्षत्वात् सुवानन्तर्य एवायनियमो नान्यत्रेति वान्यम् । तथा सति वृत्तप्र स्त्री वृत्तत्रायत्रापि अलोप बाधित्वा अन्तरङ्गत्वात् 'अनुनासिकस्य' इत्युपधादीर्घापत्तेरित्याहुः । देवतीतीति ॥ दिव्शब्दादाचारकिवन्तात् शपि लघूपधगुणः । 'न क्ये' इति नियमेन अपदान्तत्वान् 'दिव उत्' इत्युत्त्वनेति भावः । अत्र ऊठीति ॥ दिव्शब्दात् किपि 'न्टो' इति वकारस्य ऊठि कृते लघूपधगुण बाधित्वा परत्वादिकारस्य यपि दृशब्दान् शपि ऊकारस्य गुणे अत्रादेशे च द्यवतीति रूपमुचितमित्यर्थः । चकाधिति ॥ कशब्दात् किवन्ताङ्गि णलि द्वित्वे चुवे चक अ इति स्थिते ककारादकारस्य अतो लोपापरत्वाद्द्वौ आकारे 'आत औ णल' इत्यौन्वे वृद्धिरेकादेश इति भावः । माधवस्त्विति ॥ चरु अ इति स्थिते पूर्वविप्रतिषेधद्विदि बाधित्वा ककारादकारस्य अतो लोपे कृते णलोऽकारेण सह चक इति रूपमित्यर्थः । नचैव सति अ इवाचरति अति । औ । अनु इत्यत्रापि लिटि 'अत आदे' इति दीर्घं बाधित्वा अतो लोप स्यादिति वान्यम् । प्यङ्गोपाविति पूर्वविप्रतिषेधलभ्य 'अतो लोप' सन्निहितमेव 'अङ्गत्सार्व' इति दीर्घं बाधते । 'ननु

वृद्धिं बाधित्वा अतो लोपान् चक इति रूपमाह । स्व इव सस्वौ । सस्व । यत्तु स्वामास । स्वाश्वकार इति । तदनाकरमेव ।

२६६७ । भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः । (६-१-१२)

अभूततद्भाविपयेभ्यो भृशादिभ्यो भवत्यर्थे क्यङ् स्याद्धलन्तानामेपां लोपश्च । अभृशो भृशो भवति भृशायते । ‘अच्चेः’ इति पर्युदासवलात् ‘अभूततद्भावे’ इति लघ्वम् । तेनेह न । क्व दिवा भृशा भवन्ति । ये रात्रौ भृशा नक्षत्रादयस्ते दिवा क्व भवन्तीत्यर्थः । ‘सुमनम्’ अस्य सलोपः । सुमनायते । चुरादौ ‘संग्राम युद्धे’ इति पठ्यते । तत्र ‘संग्राम’ इति प्रातिपदिकम् । तस्मात् ‘तत्करोति—’ इति णिच् सिद्धः । तत्सन्नियोगेनानुबन्ध आसज्यते ।

अत आदे’ इति दीर्घमपि । ‘अनन्तरस्य’ इति न्यायादिति माधवाशय इत्याहुः । तदनाकर मेवेति ॥ अनेकाच्चाभावादिति भावः । वलुनस्तु प्रत्ययग्रहणमपनीयेत्यस्य भाष्ये अदर्शान्त् प्रत्ययान्तत्वादात्मवत्त्वेवेति युक्तमेवेत्यनुपदमेवोक्तम् । भृशादिभ्यो ॥ भवन भू भावे ऋप् । तदाह । भवत्यर्थे इति ॥ भवने इत्यर्थः । क्यङ् स्यादिति ॥ ‘कर्तुं क्यङ् सलोपश्च’ इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । हलन्तानामेपामिति ॥ भृशादिषु ये हलन्ताः तेषां सलोपः क्यङ् चेत्यर्थः । ‘ननु अभूततद्भावे’ इति कुतो लघ्वमित्यत आह । अच्चेरिति पर्युदासवलादिति ॥ अभूततद्भावग्रहणमिति वार्तिनमेतद्व्याख्यानपरमिति भावः । ये रात्रौ भृशाः इति ॥ प्रशाशातिशयवन्त इत्यर्थः । भृशादिषु हलन्तमुदाहरति । सुमनस् इति ॥ सुमनायते इति ॥ असुमना सुमना भवतीत्यर्थः । यद्यपि स्त्रियामित्यधिकारे ‘अप्सुमनस्तमासिक्तावर्षाणाम्बहुत्वञ्च’ इति लिङ्गानुशासनसूत्रे सुमनश्शब्दस्य नित्य बहुवचन विहितम् । तथापि तद्देवादिपर्यायशब्दविषयम् । सु शोभन मनो यस्येति सुमना इति बहुव्रीहिसौमिक इति भावः । सुमनायत इति क्यङि सलोपे ‘अहृत्सार्व’ इति दीर्घः । ननु लङि मनश्शब्दात्प्रागटि ‘स्वमनायत’ इति बक्ष्यमाणमनुपपन्नम् । अङ्गस्य अङ्घ्रिधानात् सुमनश्शब्दस्य समस्तस्यैव लङ् प्रत्यङ्गत्वात् । “प्रत्ययग्रहणे यस्मान् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इत्याशङ्क्य आह । चुरादौ संग्राम युद्धे इति पठ्यते इति ॥ ततश्च क्वचिद् सोपसर्गापाठवलादन्यस्मान् सोपसर्गाद्वाचाराङ्गिणि उपसर्गस्य न धातुसङ्गाप्रवेश इति विज्ञायते इत्यर्थः । ननु चुरादौ सङ्गामेति समस्तो धातुः, ननु सोपसर्गो ग्रामशब्दः । एवञ्चास्य प्रातिपदिकत्वाभावात् सोपसर्गात् ऋषिणि उपसर्गस्य न धातुसङ्गाप्रवेश इत्यत्र कथमिदं कर्मकमित्यत आह । तत्र संग्राम इति प्रातिपदिकमिति ॥ ‘प्रसेराच’ इत्याणादिके मन्प्रत्यये निष्पन्नस्य ग्रामशब्दस्य ‘कृत्तद्धित’ इति प्रातिपदिनम् । अव्युत्पत्तिपक्षे ‘अर्थवदधातु’ इति प्रातिपदिनत्वमित्यर्थः । ननु चुरादावस्य पाठो धात्वविशेषविहितचौरादिकणिकार्थः । एवञ्च प्रातिपदिकत्वेन चुरादौ तस्य पाठो व्यर्थ इत्यत आह । तस्मादिति ॥ तस्मात्सङ्गाम इति

युद्धे योऽयं प्रामशब्दः इत्युक्तेऽपि सामर्थ्यात्संप्रामशब्दे लक्ष्ये विशिष्टपाठो ज्ञापयति । 'उपसर्गसमानाकारं पूर्वपद धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते' इति । तेन मन,शब्दात्प्रागट् । स्वमनायत । उन्मनायते । उदमनायत । एवं च अवागल्भत अवागल्भिष्टेत्यादावप्यवेत्यस्य पृथक्करणं बोध्यम् । ज्ञापकं च सजातीयविषयम् । तेन यत्रोपसर्गस्वरूपं सकलं श्रूयते न

प्रातिपदिकान् चौरादिकणिसम्भवेऽपि 'तन्करोति' इत्यर्थे णिच मिद्ध इत्यर्थे । ननु 'तन्करोति' इत्यनेनैव सङ्ग्रामशब्दान् प्रातिपदिकाणिण्यिमिद्धे ञ्मिर्धमिद् चुरादीं तस्य पाठ इत्यत आह । तस्स न्नियोगेनेति ॥ णिन्मन्त्रियोगेन अनारस्य इत्यन्तकस्य अनुदात्तेत्त्वार्थकस्य आमन्त्रणार्थ इत्यर्थे । नच मगरादनारस्य इत्यन्तकन्वे अत्रोपस्य णिनिमित्तकत्वाभावादमसङ्ग्रामत इत्यत्र 'णौ चट्युपधाया' इत्युपधाह्रस्व स्यादिति वाच्यम् । सङ्ग्रामेत्त्रय हि न्यादिवाद्दन्त । तस्मादकार, अनुन्धन्वेनासज्यते इत्यर्थे । एवञ्च णौ अतो णेपे सति णावग्लोपित्वानोपधाह्रस्व । कथादिन्व-लक्षणान्तत्वात्वालाभाद्येकास्य चुरादीं पाठ इति भावः । ननु चुगदीं सङ्ग्रामशब्दस्य 'तन्करोति' इति णिचि परे अस्त्वनुबन्धामह । तथापि आचारकृपि उपसर्गस्य न धातुसंज्ञाप्रवेश इत्यत्र कथमस्य ज्ञापकतेत्यत आह । युद्धे इति ॥ सामर्थ्यादिति ॥ प्राम युद्धे इत्येतावतव सङ्ग्रामशब्दो लभ्यते । केवलस्य प्रामशब्दस्य युद्धे प्रयोगाभावादित्यर्थे । विशिष्टपाठः इति ॥ सङ्ग्रामशब्दपाठ इत्यर्थे । ज्ञाप्यमर्थमाह । समानाकारमिति ॥ सङ्ग्रामशब्दे युद्धवाचिनि समित्यस्य नियायोगाभावान् समानानारमित्युक्तम् । धातुसंज्ञाप्रयोजके इति । त्रिवादाविति शेषः । पृथक् क्रियते इति ॥ तथाच न तस्य धातुसंज्ञाप्रवेश इत्यर्थे । तत्र किमित्यत आह । तेनेति ॥ सम् इत्यस्य धातुसंज्ञाप्रवेशाभावेनेत्यर्थे । तथाच मुमनश्चान् आचारकृपि विवक्षिते मनश्शब्दमानस्य धातुत्वात्ततो लटि - नश्शब्दस्यैवाङ्गत्वात्तत्र प्रागेव अट् । न तु मुमनम् इति समुदायात्प्रागित्यर्थे । एनेन सङ्ग्रामयन्तरेव सोपसर्गान् नान्यस्मादित्यादि भाष्ये 'भृशादिभ्यः' इति मूनस्थ व्याख्यातमिति बोध्यम् । उन्मनायते इति ॥ नशादिन्वान् न्यटि सलोपः । एवञ्चेति ॥ एवमुक्तरीत्या 'आचारेऽवगन्भ' इति क्विञ्चि धावपि अवेत्यस्य पृथक्करणान् गल्भशब्दात्प्रागेव अट् इत्यर्थे । ननु आ ऊट ओट 'कुगति' इति ममास । अस्माद्गशादित्वान् क्यटि आटायते इत्यादि रूपम् । अप्रापि आटो धातुसंज्ञाप्रवेशो न स्यात् । तत्र यद्यपि लटि ऊटशब्दाद्वा आटो वा प्राक् आटि न रूपे विशेषः । उभयथापि आटायतेयेव रूपं मिद्धमेव । तथापि ओटायति क्यटन्तान् चाप्रत्यये अतो णेपे ओटाद्यित्वेये-वेत्यते । अत्र क्यटि चिकीर्षिते उक्तरीत्या पृथक्करणस्य आड 'कुगतिप्रादयः' इति चाप्रत्ययान्तेन समाने सति 'ममामेऽनञ्पूर्वे चो ल्यप्' इति ल्यप् स्यादित्यत आह । ज्ञापकञ्च सजातीयविषयमिति ॥ तदेवोपपादयति । तेनेति ॥ चुरादीं 'सङ्ग्राम युद्धे' इति सम्प्रहणस्य उक्तार्थे पृथक्करणे ज्ञापकस्य सजातीयविषयकत्वाप्रयत्नेन यत्र उपसर्गस्वरूपं ज्ञिकृतं श्रूयते नन्वेकादेशोनापहत तत्रैव उपसर्गस्य पृथक्कृतिरिति विज्ञायते इत्यर्थे । सङ्ग्रामे सम्प्रह-

त्वादेशेनापहृतं तल्लैष पृथक्कृतिः । एवं च 'आ ऊढः ओढः' स इवाचर्य ओढायित्वा । अत्र 'उन्मनाय्य, अवगल्भ्य' इतिवन्न ल्यप् । ज्ञापकस्य विशेषविपयत्वे पाष्ठवार्तिकं तद्भाष्यं च प्रमाणम् । तथाहि । 'उस्योमाङ्क्वाटः प्रतिषेधः' (३६३६) । उस्योमाङ्कोश्च परयोराटः पररूपं नेत्यर्थः । उस्त्रामैच्छत् औम्नीयत् । औङ्कारीयत् । औढीयत् । 'आटश्च' (सू २६९) इति चशब्देन पुनर्द्विविधानादिदं सिद्धमिति पाष्ठे स्थितम् ।

णस्य ज्ञापकस्य एवविधत्वादिति भावः । ततः किमिल्यत आह । एवञ्चेति ॥ ओढायित्वेति ॥ ओटशब्दात् भृशादित्वात् क्यटि ओढायेत्यस्मात् क्यङन्तात् क्त्वाप्रत्यये अतो लोपे रूपम् । अत्रेति ॥ अत्र न ल्यविल्यन्वयः । क्यटि विवक्षिते आड एकादेशेनापहृतत्वेन पृथक्करणाभावे सति तस्य आड. क्त्वाप्रत्ययान्तेन समासाभावात् त्वविति भावः । उन्मनाय्य, अवगल्भ्यवदिति व्यतिरेकदृष्टान्तः । उन्मनसुशब्दात् भृशादित्वादाचारे क्यटि सकारलोपे 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे उन्मनायेत्यस्मात् क्तो ल्यपि अतो लोपे उन्मनायेति रूपम् । अवगल्भशब्दात् आचारेऽवगल्भेति क्तिबन्तात् क्तो ल्यपि रूपम् । अत्र उदित्यस्य अवैत्यस्य च उपसर्गस्वरूपस्य अनपहृतत्वेन क्यटि क्विपि च विवक्षिते पृथक्कृततया तयोः क्तान्तेन समासे सति ल्यबुचितः । इह तु ओढायित्वेत्यत्र न तथेति व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम् । ज्ञापकस्य सजातीयत्वे प्रमाणं दर्शयति । ज्ञापकस्येति ॥ पाष्ठं वार्तिकं दर्शयति । उस्योमाङ्क्विति ॥ उस्ति ओम् आङ् एषान्द्वन्द्वः । पष्ठस्य प्रथमे पादे 'ओमाङ्कोश्च' इति सूत्रे इदं वार्तिकं पठितम् । तद्याचष्टे । उस्योमाङ्कोश्च परयोरिति ॥ 'एटि पररूपम्' इत्यतः पररूपग्रहणं नुवृत्तिं मत्वा आह । पररूपं नेति ॥ उस्ति तावदुदाहरति । औम्नीयदिति ॥ उस्त्रामात्मन ऐच्छदित्यर्थं 'सुप आत्मनः' इति क्यजन्ताङ्गि उस्त्रायशब्दाद्ङात्प्रागाटि कृते 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा त्वनित्या । अस्मादेव भाष्योदाहरणात् । अन्यथा भिन्दुरित्वादीं पररूपं न स्यात् । आगमसहितस्य युस एवार्थवत्त्वादिति भावः । ओमि परतः उदाहरति । औङ्कारीयदिति ॥ ओङ्कारशब्दात् क्यजन्ताङ्गि अङ्गस्य आटि कृते 'ओमाङ्कोश्च' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । आङि उदाहरति । औढीयदिति ॥ आ ऊढः ओटः तस्मात् क्यजन्ताङ्गि अङ्गस्य ओटशब्दस्य आटि कृते 'ओमाङ्कोश्च' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । उदाहरणत्रयमिदं भाष्ये स्थितम् । तत्र यदि उपसर्गस्वरूपस्य एकादेशेनापहारेऽपि क्यन्ति पृथक् स्यात् तर्हि क्यन्ति विवक्षिते आड. पृथक्कृतां सत्या धातुबहिर्भावाद्दशब्दात् प्रागाड परत्र आटि सति पररूपस्याप्रसक्तोराडि पररूपप्रतिषेधो व्यर्थः स्यात् । तथाच उक्तज्ञापकस्य सजातीयविपयत्वे तु अत्र आड एकादेशेनापहारात् पृथक्करणाभावाद्दशब्दात् प्रागाडगमे सति आङि पररूपप्राप्तेस्तानिषेधोऽर्थवान् भवति । अतो ज्ञापकस्य सजातीयविपयत्वे 'उस्योमाङ्क्वु' इत्याङ्गग्रहणम् औटैक्यदिति तदुदाहरणपरिभाष्यम् अत्र प्रमाणमिति भावः । ज्ञापकस्य सजातीयविपयत्वे प्रमाणान्तरमाह । आटश्चेति चशब्देनेति ॥ 'आटश्च' इति चकारः पुनर्द्विविधानार्थः । तथाच आटोऽपि शृङ्गिरेव

२६६८ । लोहितादिडाज्भ्यः क्यप् । (३-१-१३)

लोहितादिभ्यो डाजन्ताश्च भवत्यर्थे क्यप् स्यात् ।

२६६९ । वा क्यपः । (१-३-९०)

क्यपन्तात्परस्मैपदं वा स्यात् । लोहितायति-लोहितायते । अत्र 'अच्चेः' इत्यनुष्टुत्या अभूततद्भावविषयत्वं लब्धम् । तच्च लोहितशब्दस्यैव विशेषणम् । न तु डाचोऽसम्भवात् । नाप्यादिशब्दग्राह्याणाम् । तस्य प्रत्याख्यानात् । तथाच वार्तिकं—'लोहितडाज्भ्यः क्यप्चचनं, भृशादिधित्तराणि' (वा १७२९-३०) इति । न चैवं काम्यच इव क्यपोऽपि ककारः श्रूयेत । उच्चारणसामर्थ्यादिति वाच्यम् । तस्यापि भाष्ये प्रत्याख्यानात् । पटपटायति-पटपटायते । कृभ्वस्तियोगं विनापीह डाच् । डाजन्तात्क्यपो विधानसामर्थ्यात् । यत्तु—

लोहितश्यामदुःस्नानि हर्षगर्वसुरस्नानि च ।

मूर्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा नित्यचर्मणी ॥

यथा स्यात् नान्यत्पररूपमिति लभ्यते इत्यपि पष्ठाध्याये 'ओमाटोश्च' इति सूत्रे 'आटश्च' इति सूत्रे च भाष्ये स्थितमित्यर्थः । एवञ्च एतद्वार्तिकप्रत्याख्यानपरस्मैपदकारस्तद्ग्राह्याणां ज्ञापकमित्युक्तम्भवति । लोहितादि ॥ भवत्यर्थे इति ॥ 'भृशादिभ्यो भुवि' इत्यतः भुवि इति अनुवृत्तेरिति भावः । वा क्यपः ॥ परस्मैपदमिति ॥ 'शेषात्कर्त्तरि' इत्यतः स्तदनुवृत्तेरिति भावः । लोहितायतीति ॥ अलोहितो लोहितो भवतीत्यर्थः । अत्रेति ॥ 'लोहितादि' इति सूत्रे इत्यर्थः । तच्चेति ॥ अभूततद्भावविषयत्वमित्यर्थः । असम्भवा-दिति ॥ अव्यक्तानुकरणात् डाचो विहितत्वेन तस्य अभूततद्भावविषयवे अनुकरणस्य भङ्गापत्तेरिति भावः । नाप्यादिशब्दग्राह्याणामिति ॥ श्यामादिशब्दानामिति शेषः । तस्ये-ति ॥ आदिग्रहणस्येत्यर्थः । आदिग्रहणप्रत्याख्याने प्रमाणं दर्शयति । तथाचेति ॥ आदि-ग्रहणमपनीय लोहितशब्दान् डाजन्तेभ्यश्च क्यप्चचनं कर्तव्यम् । इतराणि लोहितादिगणपठि-तानि श्यामादीनि प्रातिपदिकानि भृशादिष्वेव पठनीयानित्यर्थः । एवञ्च श्यामादिशब्देभ्यः क्यदि आत्मनेपदमेवेति फलितम् । तस्यापीति ॥ आदिग्रहणस्येव स्यपः ककारस्यापि भाष्ये प्रत्याख्यातत्वादित्यर्थः । पटपटायतीति ॥ अव्यक्तानुकरणात् व्यजवराडादीनि डाजिति पटच्छब्दान् डाचि विवक्षिते सति 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इति द्वित्वे 'निल्लमात्रेणित्ते डाचि' इति पूर्वखण्डान्तस्य तकारस्य उत्तरखण्डादेः पकारस्य च पररूपे एकस्मिन् पकारे द्वित्वा-त्रिलोपे पटपटाशब्दान् डाजन्तात् क्यपि तदन्ताद्डादीति भावः । 'अभूततद्भावे' इति तु नात्र सम्बन्धते इत्युक्तम् । नह्यपटच्छब्द पटच्छब्दो भवतीति युज्यते । ननु कृभ्वस्तियोगाभावादिह कथं डाजित्यत आह । कृभ्वस्तियोगं विनापीति ॥ भवार्थसत्तामात्रेणेत्यर्थः । कुन्

इति पठित्वा श्यामादिभ्योऽपि क्यपि पदद्वयमुदाहरन्ति । तद्भाष्यवार्तिक-  
कविरुद्धम् । तस्मात्तेभ्यः क्यडेव । श्यामायते । दुःखादयो वृत्तिविषये तद्वृत्ति  
वर्तन्ते । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया लोहिनीशब्दादपि क्यप् । लोहिनीयति-  
लोहिनीयते ।

### २६७० । कष्टाय क्रमणे । (३-१-१४)

चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते ।  
पापं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः । 'सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्पायामिति  
वक्तव्यम्' (१७६१) । कण्वं पापम् । सत्रादयो वृत्तिविषये पापार्थाः ।  
तेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यश्चिकीर्पायां क्यङ् । पापं चीर्कृर्पतीत्यस्वपदविग्रहः  
सत्रायते । कक्षायते इत्यादि ।

### २६७१ । कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः । (३-१-१५)

इत्यत आह । जाजन्तादिति ॥ तद्भाष्येति ॥ 'भृशादिष्वितराणि' इत्युक्तवार्तिक तद्भाष्य-  
विरुद्धमित्यर्थः । तस्मादिति ॥ उक्तवार्तिकभाष्यविरोधान् तेभ्यः श्यामादिभ्यः भृशादित्वलक्षण  
क्यडेव ननु क्यपित्यर्थः । ततश्च 'वा क्यप्' इत्यस्याप्रवृत्तेः द्वित्वादात्मनेपदनेवेति मत्वा आह । श्या  
मायते इति । श्यामो भवतीत्यर्थः । ननु देवदत्तस्सुखायते इति कथं । देवदत्तस्य सुखत्वाभावादित्यत  
आह । सुखादयः इति ॥ श्यामादिषु अत्र सुखदुःखादिशब्दा गुणवचनाः ते सुखादिगुणवति वर्तन्ते  
इत्यर्थः । एवञ्च सुखायते इत्यत्र सुखवान् भवतीत्यर्थः । एव दुःखायते इत्यादावपि । ननु  
लोहितशब्दाद्विहित क्यप् कथं लोहिनीशब्दान् स्यादित्यत आह । लिङ्गविशिष्टेति ॥  
कष्टाय क्रमणे ॥ क्रमणशब्द विवृणोति । उत्साहे इति ॥ अस्वरितत्वात् क्यपिति  
नानुवर्तते इति भावः । क्रियाधोपपदस्येति चतुर्थीति मत्वा आह । पापङ्कर्तुमिति ॥ क्रमते  
इत्यत्र 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' इति तट् । 'कण्वचिकीर्पायाम्' इत्यत्र कण्वपद व्याचष्टे ।  
कण्व पापमिति ॥ सत्रादिशब्दान् विवृणोति । सत्रादयः इति ॥ द्वितीयान्तेभ्यः  
इति ॥ चिकीर्षायाः द्वितीयान्तस्यैवान्वययोग्यत्वादिति भावः । कण्वशब्दस्तु मत्तादिशब्दानां  
कण्वपरत्वे तात्पर्यप्राहकः । केचित्तु कण्वस्यविभक्तिवत् । कण्ववतिभ्य इति व्याचष्टते ।  
अस्यपदविग्रहः इति ॥ वृत्तावेव सत्रादिशब्दानां पापवाचित्वादिति भावः । इदं कण्व-  
शब्दादन्यत्रैव । कष्टाय क्रमते इति तु स्वपदविग्रहोऽस्त्येव । भाष्ये एव विग्रहः प्रदर्शय  
सत्तादिषु विग्रहाप्रदर्शनादित्याहुः । कर्मणो रोमन्थ ॥ वृत्तुधातोऽप्यन्तात् 'धान्वर्थनिर्देशो  
इवक्तव्य' इति इकि वतिशब्दः । आवर्तनमर्थः । चरेस्सम्पदादित्वाद्भावे क्विप् । चाँ चर  
अनयोर्द्वन्द्वान्यसमी । आवर्तने चरणे चेति लभ्यते । कर्मशब्देन कर्मकारक विवक्षितम् ।  
द्वित्वे एववचनम् । तथाच कर्मकारकवृत्तिभ्यां रोमन्थतपशब्दाभ्यामिति लभ्यते । यथा



रोमन्थतपोभ्या कर्मभ्या क्रमेण वर्तनाया चरणे चार्थे क्यङ् स्यात् । रोमन्थं वर्तयति रोमन्थायते । ‘हनुचलने इति उक्तव्यम्’ (वा १७६२) । चर्वितस्याकृष्य पुनश्चर्वणमित्यर्थ । नेह । कीटो रोमन्थ वर्तयति । अपान-प्रदेशान्निस्सृतं द्रव्यमिह रोमन्थ । तदभातीत्यर्थ इति कैयट । वर्तुळ करो-तीत्यर्थ इति न्यासकारहरदत्तौ । ‘तपस परस्मैपद् च’ (वा १७६६) । तपश्चरति तपस्यति ।

### २६७२ । वाष्पोष्मभ्यामुद्धमने । (३-१-१६)

आभ्या कर्मभ्या क्यङ् स्यात् । वास्पमुद्धमति वाष्पायते । ऊष्मायते । ‘फेनाच्चेति वान्यम्’ (वा १७६४) । फेनायते ।

### २६७३ । शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणे । ३-१-१७)

एभ्य कर्मभ्य करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्द करोति शब्दायते । पक्षे ‘तत्करोति-’ इति णिजपीड्यत इति न्यास । शब्दयति । ‘सुदिनदुर्दिननी-हारेभ्यश्च’ (वा १७३६-३७) । सुदिनायते ।

सङ्ख्यमन्वय । तदाह । रोमन्थतपोभ्यामिति ॥ रोमन्थमिति ॥ उद्गीर्णस्य निर्गर्ण-स्य वा मन्थो रोमन्थ इति भाष्यम् । उद्गीर्णस्य उदरादुपरि ऋष्टद्वारा निर्गतस्य निर्गर्णस्य अपानद्वारा निर्गतस्य च मन्थ चर्वण रामन्थ इत्यर्थ । वर्तयतीति ॥ आवर्तयतात्यर्थ । हनुचलने इति ॥ हनु ताळ तचलन सत्येव अय विधिरित्यर्थ । तथाच उदरगतभक्षित द्रव्यन्तृणादिक पुन पुनराकृष्य ताळचलनेन चूर्णितस्य पुन पुन प्राग्ने रोमन्थशब्दात् क्यङिति फलितम् । तदाह । चर्वितस्येति ॥ हनुचलनेन भक्षितस्य उदर प्रविष्टस्य पुन पुनराकृष्य हनुचलनेन भक्षण गम्य इति फलितमित्यर्थ । कीट, इति ॥ इह हनुचलना भावान् क्यङिति भाव । तदेवापपादयति । अपानेति ॥ ‘तपस परस्मैपद्च’ इति वार्तिकम् । तपश्शब्द कर्मकारकगति । पूर्वसूत्राचरणे क्यङ् लभते । त्विच्यप्रयुक्तमात्मने पद बाधित्वा परस्मैपदमेव लभते इत्यर्थ । तपस्यतीति ॥ प्रातिपदिकादेवास्य क्यङ्-एतेरन्तर्वृत्तिविभक्त्यभावात् ‘न क्ये’ इति नियमाच्च पदत्वाभावात् रुत्वमिति भाव । वाष्पोष्मभ्यामुद्धमने ॥ आभ्याङ्कर्मभ्यामिति ॥ ‘कर्मणो रोमन्थ’ इत्यत कर्मग्रहण मनुवर्तत इति भव । कर्मकारकगतिभ्यामित्यर्थ । फेनायते इति ॥ फेनमुद्धमतीत्यर्थ । शब्दवैर । ऋण क्रिया । तदाह । करोत्यर्थे इति ॥ तद् करोतीति णिचोऽपवाद । पक्षे इति ॥ वदाचिदित्यर्थ । न्यास- इति ॥ भाष्यानाहटत्वमत्र अहचिवाजम् । ‘सुदिन

२६७४ । सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् । (३-१-१८)

एभ्यः कर्मभ्यो वेदनायानर्थे क्यच् न्याद्वेदनाकर्तुर्गेव चेल्लुगादी-  
नि स्युः । सुखं वेदयते मुगायते । 'कर्तृग्रहणम्' जिम् । परम्य सुखं वेदयते ।

२६७५ । नमोवरिवश्चित्तदः क्यच् । (३-१-१९)

'करणे इत्यनुवृत्तेः क्रियाविशेषे पूजायां परिचर्यायानाश्रयं च । नम-  
स्यति देवान् । पूजयतीत्यर्थः । वरिवस्यति गुरुन् । शुभ्रपते इत्यर्थः । चित्रायते ।  
विम्मयते इत्यर्थः । विस्मापयते इत्यन्ये ।

२६७६ । पुच्छभाण्डत्रीवराणिङ् । (३-१-२०)

'पुच्छादुदमने व्यमने पर्यमने च' । (वा १७४६) । विविधं विम्वद्धं वोत्स्रेपणं  
व्यमनम् । उत्पुच्छयते । विपुच्छयते । परिपुच्छयते । 'भाण्डात्मनाचयने' (वा  
१७४४) । संभाण्डयते । भाण्डानि नमाचिनोति । रागीकरोतीत्यर्थः । नम-  
वभाण्डत । 'चीवराशर्जने परिधाने च' (वा १७४५) । मन्धीवरयते भिभुः ।  
चीवराण्यर्जयति, परिधत्ते वेत्यर्थः ।

दुर्दिन' इति वार्तिकम् । करोत्यर्थे क्यङिति शेषः । सुखादिभ्यः ॥ कर्तृ इति पृथक्पद एव  
पठ्यते । 'कर्मणो रोमन्थ' इत्यत्र कर्मग्रहणानुगति मन्वा आह । एभ्यः कर्मभ्यः इति ॥  
वेदनायामिति ॥ शान्ते इत्यर्थः । कर्तृन् च वेदना प्रत्येव निवक्षितम् । उपस्थितत्वात् प्रति  
पदोच्चा पठ्या । वेदनाकर्तृवृत्तिभ्यस्सुगादिशब्देभ्य इति लभ्यते । पलितमाह । वेदनाकर्तु-  
रेव चेदिति ॥ सुखं वेदयते इति ॥ जननीत्यर्थः । 'विद वेदनायाम्' इति तुरादी ।  
नमो वरिवम् ॥ नमन् वरिवम् विवद् एषा नमाहारद्वन्द्वापदना । अमनेपदार्थेऽत्र-  
गच्छो तिभिदिष्ट । 'शर्द्वर' इत्यत्र करणे इत्यनुवर्तने । करण क्रिया । मा च पूजापरि-  
चर्याश-र्जित्वा विरक्षिता । नमस पूजायाम् । वरिवम परिचर्यायाम् । चित्त आश्रयं ।  
इति वार्तिकं । तदाह । करणे इत्यनुवृत्तेरित्यादिना ॥ नमस्यति देवानिति ॥  
कारवनिनत्तेर्दलीयम्वात् द्वितीया । परिचर्या शुभ्रपति मन्वा आह । शुभ्रपते इत्यर्थः इति ।  
आश्रयशब्दो विम्मयवाचाति मन्वा आह । विम्मयते इत्यर्थः इति ॥ विस्मापयते  
इत्यन्ये इति ॥ आश्रयशब्दो विस्मापनपर इति भावः । नमश्चिनीयनाणोऽमविति मष्टि ।  
असौ नायकस्य विम्मयनुवादयतिचर्थः । पुच्छभाण्ड ॥ 'पुच्छादुदमने' इति वार्तिकम् ।  
उत्पुच्छयते इति ॥ विविध विरद वा पुच्छनुक्षिपनात्यर्थः । 'भाण्डात् नमाचयने'  
इत्यपि वार्तिकम् । ममवभाण्डतेति ॥ उपनर्गमनाकार पूर्वपद घाटस्यप्रयोगेके प्रत्यये  
विराजिते पृथक्कियते अनुस्वत्वात् समान्प्रयोगात् क्यङिति । नान्प्रयोगात् प्रत्येव इति भावः ।

२६७७ । मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो  
णिच् । (३-१-२१)

कृत्र्थे । मुण्ड करोति मुण्डयति । 'व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्यो' (वा ५०६०) । पयः शूद्रान्न वा व्रतयति । 'ब्रह्मात्समान्छादने' (वा ५०६१) । संवस्त्रयति । 'हल्यादिभ्यो ग्रहणे' (वा ५०६२) । 'हलिकल्योरदन्तत्वं च निपात्यते' (वा १७४७) । हलि कलि वा गृह्णाति हलयति कलयति । महद्धल हलि । परत्वाद्दृष्टौ सत्यामपीष्टवद्भावेऽग्रेव लुप्यते । अतः सन्वद्भाव-दीर्घो न । अजहलन् । अचकलन् । कृत गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि विहन्ति वितूस्तयति । तूस्त केशा इत्येके । जटीभूता. केशा इत्यन्ये । पापमित्यपरे । मुण्डादयः 'सत्यापपाश—' (सू २५६३) इत्यत्रैव पठितुं युक्ता । 'प्रातिपदिकाद्भात्वर्थे—' इत्येव सिद्धे केषांचिद्गृह्णं सापेक्षेभ्योऽपि णिज-

एवमुत्पुच्छयते इत्यादावपि । 'चीवरादारजने' इत्यपि वातिकम् । मुण्डमिश्र ॥ कृत्र्थे इति शेषपूरणम् । 'शब्दवैर' इत्यत्र करणे इत्यनुवृत्तेरिति भावः । 'व्रताद्भोजने' इति वाति-कम् । पयः शूद्रान्न वा व्रतयतीति ॥ पयो भुङ्क्ते, शूद्रान्न वर्जयतीत्यर्थः । 'ब्रह्मात्समा-न्छादने' इत्यपि वातिकम् । भाष्ये तु न दृश्यते । संवस्त्रयतीति ॥ वस्त्रेण सम्यगान्छा-दयतीत्यर्थः । ब्रह्मपरिधत्ते इति वा । 'हल्यादिभ्यो ग्रहणे' इति वातिकम् । भाष्ये तु न दृश्यते । हलिकल्योरिति ॥ हलिकली इदन्ता । हलकलशब्दावदन्ता इदन्ता च । यावि-दन्ता तयोरत्स्वनिपात्यते इति भाष्ये स्पष्टम् । हलयति कलयतीति ॥ हलिकलिभ्या णा इकारस्य अकारे इष्टवत्त्वेन टिलपि हलि कलि इति ष्यन्ताभ्या लडादीति भावः । महद्धलं हलिरिति ॥ अत्र वृद्धप्रयोग अन्वेषणीयः । नन्वनयोरिकारान्तयोरदन्तत्वनिपातन व्यर्थम् । इकारस्य णाविष्टवत्त्वाच्चेपे हलयति कलयतीति सिद्धे । नच अजहलन् अचकलत् इत्यत्र सन्वत्त्वाप्रवृत्तये अग्लोपित्वाय तयोरदन्तत्वमिति वाच्यम् । इकारलोपेऽप्यग्लोपित्वसिद्धे इत्यत्र आह । परत्वादिति ॥ इकारस्य णा इष्टवत्त्वे टिलोपात् प्रागेव परत्वात् 'अचो ङिति' इति वृद्धौ कृताया ऐकारस्य इष्टवत्त्वात् टिलोपे अग्लोपित्व न स्यात् । इकारयोरत्स्वे तु अकारस्य टिलोपात् प्राक् परत्वाद्दृष्टौ सत्यामप्याकार एव इष्टवत्त्वाल्लुप्यते इत्यर्थः । अतः इति ॥ अग्लोपित्वात् सन्वत्त्व 'दीर्घो लघो' इति दीर्घत्वनेत्यर्थः । कृतं गृह्णातीति ॥ उपकार स्वाकरोतीत्यर्थः । पठितुं युक्ताः इति ॥ लपवादेकसूत्रत्व युचमित्यर्थः । के-पाञ्चिदिति ॥ मुण्डादीनामित्यर्थः । सापेक्षेभ्योऽपीति ॥ अन्यथा णिजन्तस्यास्य सना-द्यन्तवृत्तित्वाद्दिशेषणसापेक्षत्वे मुण्डादिभ्यो णिच् भवेत् । सविशेषणाना गृह्णिनिषेधान् । इह मुण्डादीना पुनर्ग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् सापेक्षेभ्योऽपि मुण्डादिभ्यो णिच् सिद्ध्यतीत्यर्थः । स्प-ष्टवेद 'सुप आत्मन' इत्यत्र भाष्यकैयटयोः । मुण्डयति माणवकमिति ॥ अत्र माणवक

र्थम् । मुण्डयति माणवकम् । मिश्रयत्यन्नम् । ऋक्ष्णयति वस्त्रम् । लवणयति व्यञ्जनमिति । हलिकल्पोरदन्तत्वार्थम् । सत्यस्यापुगर्थम् । केपांचित्तु प्रपञ्चार्थम् । सत्यं करोत्याचष्टे वा सत्यापयति । 'अर्थवेदयोरप्यापुग्वक्तव्यः' (वा १७५८) । अर्थापयति । वेदापयति । पाशं विमुञ्चति विपाशयति । रूपं पश्यति रूपयति । वीणयोपगायत्युपवीणयति । तूलेनानुकुप्णात्यनुतूलयति । वृणाप्रं तूलेनानुपट्टयतीत्यर्थः । श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनयाभियाति अभिषेणयति । 'उपसर्गात्सुनोति—' (सू २२७०) इति पः । अभ्यषेणयत् । 'प्राक्सितान्—' (सू २२७६) इति पः । अभिषिषेणयिषति । 'स्थादिष्वभ्यासेन च—' (२२७७) इति पः । लोमान्यनुमाष्टि अनुलोमयति । 'त्वच संवरणे' घः । त्वचं गृह्णाति त्वचयति । चर्मणा संनहति सञ्चर्मयति । वर्णं गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरवध्वंसते अवचूर्णयति । इष्टवदित्यति-देशात्पुंवद्भावादयः । एनीमाचष्टे एतयति । दरदमाचष्टे दारदयति ।

मुण्डहरोतीत्यर्थे मुण्डशब्दस्य माणवकसापेक्षत्वेऽपि णिजिति भावः । यदा तु प्रकरणादिना माणवकत्वादिविशेषणं श्रान्यते तदैव मुण्डयतीति णिजिति भावः । 'मुप आत्मनः' इति सूत्रभाष्ये तु मुण्डय माणवकमित्यत्र गमकत्वाण्णिच् । महान्तं पुत्रमिच्छतीत्यादां तु अगमकत्वात् न क्यजित्युक्तम् । तदा प्रपञ्चार्थमेव मुण्डादिग्रहणमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । ऋक्ष्णयति वस्त्रमिति ॥ निर्मलं करोतीत्यर्थः । लवणयति व्यञ्जनमिति ॥ लवणयुक्तं करोतीत्यर्थः । हलिकल्पोरिति ॥ एवञ्च ताम्ब्या सापेक्षाम्ब्या न णिच् । तद्ग्रहणस्य अदन्तत्वनिपातने चरितार्थत्वादिति भावः । ननु सत्यशब्दात् तत्करोति इत्यादिनैव णिच्सिद्धे. 'सत्याप' इति सूत्रे सत्यग्रहणं व्यर्थमित्यत आह । सत्यस्यापुगर्थमिति । केपाञ्चिदिति ॥ पाशादीनामित्यर्थः । सत्यापयतीति ॥ आपुग्विधिसान्ध्यांन टिलोपः । पाशं विमुञ्चतीत्यादां 'प्रातिपदिकाद्वात्वर्थे' इति णिच् । अभिषिषेणयिषतीति ॥ अभिषेणि इति ष्यन्तात्सनि रूपम् । ननु त्वचङ्गृह्णाति त्वचयतीति कथम् । त्वच्छब्दाच्चकारान्वाण्णिवि टिलोपे त्वचयतीत्यापत्तेरित्यत आह । त्वचेति ॥ 'त्वच संवरणे' इत्यस्मान् 'पुमि सज्ञाया घ. प्रायेण' इति घप्रत्यय इत्यर्थः । पुंवद्भावादयः इति ॥ आदिना रभावटिलोपादिग्रहणम् । एतयतीति ॥ 'भस्याडे' इति पुवत्त्वस्य इष्टनि प्रवृत्तेः णावपि तस्यातिदेशान् 'वर्णादनुदात्तान्' इति स्त्रीप्रत्ययस्य तत्सन्धियोगशिष्टनत्वस्य च निवृत्तौ एतच्छब्दे तकारादकारस्य टिलोप इति भावः । नन्वेनांशब्दाणां टिलोपेन स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ तन्मन्धियोगशिष्टनत्वस्यापि निवृत्तौ एतयतीति सिद्धतीत्यस्वरसम्बन्धान् पुवद्भावे उदाहरणान्तरमाह । दरदमिति ॥ दरदिति कश्चिद्राजा, तस्यापत्यं दारदः 'द्यन्मगध' इत्यण् । रूपयत्ये तु दरदोऽपत्यं स्त्रीं दरत् 'अतश्च' इत्यणो लुक् । तामाचष्टे इत्यर्थे दरच्छब्दाणां इष्टव-

पृथुं प्रथयति । वृद्धौ सत्यां पूर्वं वा टिलोपः । अपिप्रथत्—अपप्रथत् । मृदुं म्रदयति । अमम्रदत् । भृशं कृशं दृढं भ्रशयति क्रशयति द्रढयति । अवभ्रशत् अचक्रशत् अदद्रढत् । परिब्रदयति । पर्यवब्रदत् । ऊढिमाख्यत् । औजिढत् । ढत्वादीनामसिद्धत्वात् हृतिशब्दस्य द्वित्वम् । ‘पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे’ इति त्वनित्यमित्युक्तम् । ‘दिशब्दस्य’ द्वित्वमित्यन्ये । औजिढत्—औडिढत् । ऊढिमाख्यन् । औजिढत्—औडिढत् । ‘ओ. पुयण्—’ (सू २५७७) इति वर्गप्रत्याहारजप्रहो लिङ्गं ‘द्वित्वे कार्ये णावच आदेशो न’ इति ऊनयत्तात्त्वान् पुवत्त्वेन खियामिल्यनुवृत्तौ ‘अतश्च’ इति खिया विहितस्य अण्प्रत्ययलुको निवृत्तौ दारदशब्दे टेलोपे दारदयतीति रूप सिद्ध्यति । पुवद्भावे तु दरदशब्दस्य टिलोपे सति दरयतीति स्यादिति भावः । टिलोपस्य अजादेशत्वेन स्थानिवत्त्वान्नोपधागद्वि । ‘पृथु मृदु भृशञ्चैव कृशश्च दृढमेव च । परिपूर्वं वृद्धञ्चैव षडंतात्रविधो स्मरेत् ॥’ इति क्रमेणोदाहरति । पृथुमिति ॥ आचष्टे इति शेषः । प्रथयति । तत्र प्रकिया दर्शयति । वृद्धौ सत्यामिति ॥ पृथु इ इति स्थिते परत्वाद्दृद्धौ कृताया टिलोपः । अथवा कृतायामकृतायाश्च वृद्धौ प्रवृत्त्या नित्यत्वाद्दृद्ध. प्राक् टिलोपः । उभयधापि ‘र ऋत’ इति रभावे प्रथयतीति रूपमिति भावः । वस्तुतस्तु अकृताया वृद्धौ उकारस्य लोपः । कृतायान्तु औकारस्य लोपः । तथा च “शब्दान्तरस्य प्राणुवन ।वधिरनित्य” इति टिलोप अनित्यः । ततश्च परत्वाद् टिलोपात् प्राग्द्विवेति ‘मुष्मिध’ इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । वृद्धौ सत्या पूर्वं वा टिलोप इति मूलन्तु कृताकृतप्रसङ्गित्वाटिलोपस्य नित्यत्वमभिप्रेत्येति बोध्यम् । अपिप्रथदिति ॥ वृद्धौ सत्या टिलोपे अग्लोपित्वाभावात् सन्वत्त्वे ‘सन्वत्’ इति इत्त्वे ‘दीधो लघो’ इति दीर्घ इति भावः । अपप्रथदिति ॥ वृद्धे पूर्व टिलोपेन उकारस्य निवृत्तावग्लोपित्वात् सन्वत्त्वाभावे रूपम् । अवभ्रशदित्यादौ वृद्धे पूर्व टिलोपे अग्लोपित्वान् सन्वत्त्वमिति भावः । वृद्धौ सत्या टिलोपे तु अबिभ्रशदित्याद्युक्तम् । औजिढदिति ॥ ऊहधातो क्तिनि टत्वधन्वश्रुत्वटलोपेषु ऊडि तस्मात् णौ टिलोपे ऊडि इति ष्यन्ताल्लुडि चटि आटि वृद्धौ औडि अत् इति स्थिते प्रकिया दर्शयति । ढत्वादीनामिति ॥ टत्वधन्वश्रुत्वटलोपानामसिद्धत्वात् ‘अजादेशद्वितीयस्य’ इति हृति शब्दस्य द्वित्वमित्यर्थः । इत्युक्तमिति ॥ लुग्विकरणप्रकियाया ऊर्णुजधाताविति शेषः । एवञ्च हातेशब्दस्य द्वित्वे हलादिशोपे ‘कुहोरस्तु’ इति हस्य चुत्वामिति भावः । दिशब्दस्येति ॥ ‘पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे’ इत्यस्य ऋचिदनित्यत्वेऽप्यत्र तदप्रवृत्तौ मानाभावादिति भावः । ऊढिमाख्यदिति ॥ ऊहधातो क्प्रत्यये टत्वधन्वश्रुत्वटलोपेषु ऊडिशब्दात् ष्यन्ताल्लुडि चटि ढत्वादीनामसिद्धत्वात् हृतेत्यस्य द्वित्वे हलादिशोपे अभ्यासस्य चुत्वे रूपम् । औडिढदिति ॥ ‘पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे’ इति ढत्वादानामसिद्धत्वाभावपक्षे दशब्दस्य द्वित्वे रूपम् । नन्विह परत्वात् टिलोपे सति णिच्सहितस्य हृतीति ढीत्यस्य वा द्वित्वे कृते अभ्यासे इकार एव ध्रुयेत नत्वकार इत्यत आह । ओः पुयणित्यादि ॥ स्वदाब्दाणिचि टिलोपमाशङ्क्य आह ।

वुक्तम् । 'प्रकृत्यैकाच्' (सू २०१०) । वृद्धिपुकौ । स्वापयति । त्वा मां वा  
 आचष्टे त्वापयति मापयति । मपर्यन्तस्य त्वमौ । पररूपात्पूर्वं नित्यत्वाट्टिद्धोप-  
 वृद्धिपुकौ । त्वादयति मादयति इति तु न्याय्यम् । अन्तरङ्गत्वात्पररूपे कृते  
 'प्रकृत्यैकाच्' (सू २०१०) इति प्रकृतिभावात् । न च प्रकृतिभावो भाष्ये  
 प्रत्याख्यात इति भ्रमितव्यम् । भाष्यस्य प्रेष्टाद्युदाहरणविशेषेऽन्यथासिद्धि-  
 परत्वात् । युवामावा वा युष्मयति अस्मयति । श्वानमाचष्टे शावयति ।

प्रकृत्यैकाजिति ॥ प्रकृतिभावप्रिलोपाभावे अकारस्य वृद्धौ आकारे पुगागम । तदाह ।  
 वृद्धिपुकाविति ॥ त्वापयति मापयति इत्यत्र प्रक्रिया दर्शयति । मपर्यन्तस्येति ॥ युष्म  
 दस्मन्ना णौ 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति मपर्यन्तस्य त्वमौ । त्व अद् इ, म अद् इ इति स्थिते  
 आह । पररूपादिति ॥ कृते अकृत च पररूपे टिलोपस्य प्रकृतेनित्यत्वम्बोध्यम् । त्व इ  
 म इ इति स्थिते आह । वृद्धिरिति ॥ अकारस्य आकार । टिलोपस्य स्थानिवत्त्वन्तु न  
 शङ्क्यम् । अजादेशत्वाभावात् । पुगिति ॥ 'अर्ति' इत्यनेनेति भाव । तदेवम्प्राचीनमत  
 मुपन्यस्य स्वमतमाह । त्वादयतीत्यादिना ॥ तदेवोपपादयति । अन्तरङ्गत्वादिति ॥  
 त्व अद् र, म अद् इ इति स्थिते नित्यमपि टिलोपम्बावित्वा अन्तरङ्गत्वात्पररूप कृते  
 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावे टिलोपस्याप्रवृत्तौ उपधावृद्धिरिति भाव । ननु 'इष्टेमेयस्सु'  
 किमुदाहरणमिति प्रश्ने प्रेयान् प्रेमा प्रेष्ठ इत्युदाहरणानि प्रदर्श्य नैतदस्ति प्रयोजन 'प्रस्यस्फ'  
 इति विहितप्रादीनामाभीयत्वेनासिद्धतया तस्य टिलोपाप्रसक्तेरित्युक्त्वा श्रेयान् श्रेष्ठ इत्यत्र 'प्रश  
 ख्यस्य श्र' इति श्रादेशस्य पाञ्चमिकतया आभीयत्वाभावेनासिद्धत्वाभावात् टिलोपे अप्राप्ते प्रकृ-  
 तिभावविधिरित्युदाहरणान्तर प्रदर्श्य श्रादेशे अकारोच्चारणसामर्थ्याट्टिलोपो न भविष्यतीत्युक्त्वा  
 सन्निवृतम सन्निष्ठ इत्यत्र 'विन्मतोर्लुक्' इति लुङ्निवृत्त्यर्थं प्रकृतिभावविधानमित्युक्त्वा प्राप्त  
 एव टिलोपे आरभ्यमाणस्य लुक्स्तदपवादतया लुका टिलोपस्य बाधो भविष्यतीति 'प्रकृत्यैका  
 च्' इत्यस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वात् 'त्वादयति, मादयति' इत्यत्र प्रकृतिभावोपन्यासो न युज्यते  
 इत्याशङ्क्य निराकरोति । न च प्रकृतिभावो भाष्ये प्रत्याख्यात इति भ्रमितव्य  
 मिति ॥ कुत इत्यत आह । भाष्यस्येति ॥ उदाहृतभाष्यस्य हि प्रेयान् प्रेष्ठ इत्यादीना  
 प्रकृतिभाव विनाऽपि साधने तात्पर्यं, न तु प्रकृतिभावप्रत्याख्यानमभिमतम् । स्वमाचष्टे स्वाप  
 यतीत्यादा तदावश्यकत्वात् । अत एव 'प्रकृत्यैकाच्' 'इष्टेमेयस्सु' चैत्रिकाच उच्चारणसामर्थ्या  
 दवचनात् प्रकृतिभाव इति वार्तिकव्याख्यावसरे 'अन्तरेणापि वचन प्रकृतिभावो भविष्यति' इति  
 भाष्ये उक्तम् । अन्यथा अन्तरेणैव वचनमित्युच्येत इत्यास्तान्तावत् । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यत्र  
 एकवचने इत्यनुवृत्तम् । तच्च यौगिकमाधीयते । एतद्विशिष्टवाचिनोर्युष्मदस्मदोरिति लभ्यते  
 इति मत्वा आह । युवामावां वेति ॥ न च द्वयोर्लुक् युवावादेशो शङ्क्यो विभक्त्युक्त्वा  
 लभ्यत्वात् । न च लुक् प्रागेव युवावां किञ्च स्यातामिति वाच्यम् । 'अन्तरङ्गानपि विधीन्  
 बहिरङ्गो लुग्वाधते' इत्युक्तेरिति भाव । शाययतीति ॥ श्वानमाचष्टे इत्यर्थ । श्वशब्दाणां

‘नस्तद्धिते’ (सू ६७९) इति टिलोपः । प्रकृतिभावस्तु न, येन नाप्राप्तिन्यायेन ‘टेः’ (सू १७८६) इत्यस्यैव बाधको हि सः । भत्वात्सम्प्रसारणम् । अन्ये तु ‘नस्तद्धिते’ (सू ६७९) इति नेहातिदिश्यते । इष्टानि तस्यादृष्टत्वात् । ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ परत्वान् ‘टेः’ (सू १७८६) इत्यस्यैव प्रवृत्तेः । तेन शुनयतीति रूपमाहुः । विद्वांसमाचष्टे विद्वयति । अङ्गवृत्तपरिभाषया सम्प्रसारणं नेत्येके । सम्प्रसारणे वृद्धावावादेशे च विदावयतीत्यन्ये । नित्यत्वाट्टिलोपात्प्राक्सम्प्रसारणम् । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपं टिलोपः । विदयतीत्यपरे ।

श्वन् इ इति स्थिते आह । नस्तद्धिते इति ॥ ‘प्रकृत्यैकाच्’ इति प्रकृतिभावमाशङ्क्य आह । प्रकृतिभावस्तु नेति ॥ कुत इत्यत आह । येनेति ॥ ‘टे’ इति टिलोपे प्राप्ते सत्त्वेव प्रकृत्यैकाजित्वात् अभ्यत । ‘नस्तद्धिते’ इत्यस्य छजिष्ठ इत्यादौ अप्राप्तोऽपि प्रकृतिभाव आरभ्यते इति भावः । भत्वादिति ॥ इष्टवत्त्वेन भत्वात् ‘श्वयुव’ इति सम्प्रसारणमित्यर्थः । तथा च श्वन् इ इति स्थिते टिलोपे सति तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादनन्तत्वात् वस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उकारस्य वद्धौ आवादेशः । अन्ये त्विति ॥ इष्टानि दृष्टस्यैव इष्टवदित्यतिदेशः । टेरेत्येव टिलोप इष्टानि दृष्ट, न तु ‘नस्तद्धिते’ इति अतो नास्यातिदेश इत्यर्थः । नन्वतिशयेन ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ इत्यत्र नस्तद्धिते इति टिलोपो दृष्ट इत्यत आह । ब्रह्मिष्ठ इत्यादाधिति ॥ तेनेति ॥ ‘नस्तद्धिते’ इत्यस्याप्रवर्तनेनेत्यर्थः । ततश्च प्रकृतिभावात् ‘टे’ इति लोपस्याभावे सम्प्रसारणे शुनयतीति रूपमित्यर्थः । आहुरित्यखरसोद्गावनम् । तद्वीजन्तु ब्रह्मवच्छब्दादिष्टानि टेरेति टिलोपापवादे ‘विन्मतोर्लुक्’ इति मनुषो लुकि ‘नस्तद्धिते’ इति टिलोपो दृष्ट एव । ततश्च इष्टानि तस्यादृष्टत्वात् दित्युक्तम् । किञ्च आदिष्ट इत्यादौ परत्वाद्येरेत्यस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । केवलस्य ब्रह्मन्शब्दस्य वेदादिवचनस्य गुणवचनत्वाभावेन इष्टानो दुर्लभत्वात् ‘अजादेर्गुणवचनादेव’ इत्युक्ते । भत्वन्तादिष्टानि तु मतोर्लुकि तेन ‘टे’ इत्यस्य प्रवृत्तिबाधेन लुगुत्तरन्तदप्रवृत्त्या परत्वादित्यप्यसङ्गतिरिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । विद्वयतीति ॥ विद्वशब्दाण्यौ टिलोपः । ननु इष्टवत्त्वात् भत्वे वसोत्सम्प्रसारणमित्याशङ्क्य आह । अङ्गवृत्तेति ॥ ‘अङ्गवृत्ते पुनर्वन्तावविधि’ इति परिभाषयत्यर्थः । ‘अङ्गवृत्ते कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्’ इति तदर्थः । वस्तुतस्तु विद्वयतीत्यत्र ‘टे’ इत्यसौलोपे वस्वन्तत्वाभावात् सम्प्रसारणाप्रसक्तैरङ्गवृत्तपरिभाषोपन्यासो बुधेल्यखरसमूचयति । इत्येके इति । सम्प्रसारणे इति ॥ विद्वशब्दाण्यौ इष्टवत्त्वेन टिलोपे कृते वकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उकारस्य वद्धौ आवादेशो विदावयतीत्यन्ये मन्यन्ते इत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववदेवास्वरस्य टिलोपे सति वस्वन्तत्वाभावात् । नित्यत्वादिति ॥ आद्याप कृते अकृते च प्रवृत्ते सम्प्रसारणं नित्यम् । टिलोपस्तु कृते सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते उसो भवति । अकृते तु अम् इत्यनित्यः । “शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यः” इति न्यायादिति भावः । ननु कृतेऽपि सम्प्रसारणे परत्वात्प्राक् अस एव टिलोप इति तस्य नित्यत्वमित्यत आह । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपं टिलोपः इति ॥ सम्प्रसारणे पूर्वरूपे कृते

उदश्वमाचष्टे उदीचयति । उदैचिचत् । प्रत्यश्च प्रतीचयति । प्रत्यचिचत् ।  
 'इकोऽसवर्णे—' (सू ९१) इति प्रकृतिभावपक्षे, प्रतिअचिचत् । सम्यश्च-  
 माचष्टे समीचयति । सम्यचिचन्—समिअचिचत् । तिर्यश्चमाचष्टे तिराययति ।  
 अश्वेष्टिलोपेनापहारेऽपि वहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्तिरसस्तिरि । 'असिद्धवदत्र—'  
 (सू २१८३) इति चिणो लुङ्न्यायेन प्रथमटिलोपोऽसिद्ध । अत पुनष्टिलोपो  
 उसो लोपेऽपि बस्वन्तत्वस्य विनक्ष्यत्वान् सम्प्रसारणमित्यस्वरस सूचयति । इत्यपरे  
 इति ॥ एवञ्च विद्वयताति प्रथमपक्ष एव स्थित । तत्राङ्गवृत्तपरिभाषोपन्यास एव वृधेति  
 स्थितम् । उदीचयतीति ॥ उत्पूर्वमादृत्तिगत्यादिना विनि 'अनिदिताम्' इति नलोपे  
 उदचशब्द । तस्माणां इष्टवत्त्वेन भक्त्वादच इत्यकारलोप बाधित्वा 'उद ईत्' इति ईत्वे  
 उदीचि इति ष्यन्त ङादय इति भाव । उदैचिचदिति ॥ लुङि 'द्विर्वचनेऽचि' इति  
 णिलोपनिषेधत् चिशब्दस्य द्वित्वम् 'उपसर्गसमानाकारम्पूर्वपद धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यय चिमा  
 पिते पृथक् इत्युक्ते' इत्युक्ते उपर्वाङ्गिति भाव । एवञ्च उद पृथक्करणेन 'प्रकृत्यैकाच्' इति  
 प्रकृतिभावान् टिलोप । प्रतीचयतीति ॥ अच इत्यङ्गोपे 'चा' इति पूर्वस्य दीर्घ । इह  
 अच इत्यङ्गोपे चिशब्दात्प्रागटि तकारादिकारस्य यण् । अच इत्यकारलोपस्याभीयत्वेऽपि अस  
 मानाश्रयत्वानासिद्धत्वम् । लोपस्य णिनिमित्तत्वात् । आटस्तु लुङ्निमित्तत्वात् । इकोऽसव  
 णे इतीति ॥ 'न समासे' इति तु न । पृथक्करणेन समासनिवृत्ते । समीचयतीति ॥ 'सम  
 स्सामि' इति सम्यादेश । अच इति लोप चाविति दीर्घ । सम्यचिचदिति ॥ सम्यादेशस्य  
 स्थानिवत्त्वेनोपसर्गत्वात् पृथक्करणम् । पृथक्करणेन उत्तरपदपरत्वाभावेऽप्यन्तरङ्गत्वाज्जातस्सम्या  
 देशो न निवर्तते । तिराययतीति ॥ तिरस् इत्यव्ययम् । तत्पूर्वात् अञ्जे किनि नलोपे तिरस्  
 अच् इत्यम्माणां टिङ्गोपेन धातोनिवृत्तौ तिरसस्तिर्यलोपे इति तिरिभावे इकारस्य वृद्धावायादेशे  
 तिरायि इत्यस्मात् ष्यन्ताङ्गादिति भाव । न च तिरस पृथक्करणे सति धातो 'प्रकृत्यैकाच्' इति  
 प्रकृतिभावात् कथं टिलोप इति वाच्यम् । तिरसित्यस्य कदायानुपसर्गंतया उपसर्गसमानाकार  
 त्वाभावेन पृथक्करणाभावात् । नन्वेव सति अञ्जेष्टिलोपेनापहारे सति अञ्जतिपरकत्वविरहा-  
 त्कथमिह तिरसस्तिरिभाव इत्यत आह । अञ्जेष्टिलोपेनेति । वहिरङ्गत्वेनेति ॥ वहि  
 भूतणिनिमित्तत्वादिति भाव । नन्वस्तु तिरसस्तिरि । तत्र रेफादिकारस्य टेरिति लोप स्या  
 दित्यत आह । असिद्धवदनेति ॥ प्रथमटिलोपोऽसिद्ध इत्यन्वय । तिरस् अच् इ इति  
 स्थिते प्रथमप्रवृत्त अच इत्येवरूपेणोपे तिरोटिलोपे कर्तव्ये आभीयत्वादसिद्ध इत्यर्थ ।  
 ननु प्रथमटिलोपस्य कथन्तिरोटिलोपे कर्तव्ये असिद्धत्वम् । टिलोपशास्त्रस्य एतत्वादित्यत आह ।  
 चिणो लुङ्न्यायेनेति ॥ पचधातोर्भावनर्मणोलुङ्गस्तडि प्रथमपुरुषैकवचने तशब्द परे 'चिण्  
 भावनर्मणा' इति च्लेधाणि उपधावृद्धौ अटि अपाचि ट इत्यस्मात् 'तिच्य' इति तरपि तदन्तात्  
 'किमेत्तिच्ययथाशाम्' इत्याम्प्रत्यये अपाचिततरामिति स्थिते 'चिणो लुक्' इति प्रथमस्य तशब्दस्य  
 लुकि कृते पुनस्तरप्रययतशब्दस्य लुङ् न भवति । स्थानिभेदेन लुङो भेदमाश्रित्य प्रथमलुक्  
 अभिद्वन्त्वेन व्यवधानादिति स्थिति । एवमिहापीत्यथ । अतः इति ॥ प्रथमटिलोपस्यासिद्ध



पदार्थकः सम्पद्यते । एवमिहापि नवा शब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानो नवा-  
शब्द स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति । सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात्  
प्रच्युतो यासौ शब्दपदार्थकता तस्या लौकिकमर्थं प्रत्याययति न चेति  
यद् गम्यते, न वेति यत् प्रतीयते इति ।

समानशब्दप्रतिषेध ।

समानशब्दानां<sup>१</sup> प्रतिषेधो वक्तव्यः । नवा कुण्डिका नवा  
घटिकेति

किंच स्यात् । यद्येतेषामपि विभाषासंज्ञा स्यात् ।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ । दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम् ।  
अचिरकृतायां संप्रत्ययः स्यात् ।

न वा विधिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधसम्प्रत्ययो यथा लोके ।

यद् शब्दस्वरूप है उस से हटा कर उस के लोकप्रसिद्ध निषेध अर्थ का बोध  
करायेगा । जैसे त्व ग्राम गमिष्यामि न वा इस लौकिक वाक्य में तू गाँव जायगा या  
नहीं इस प्रकार न वा का अर्थ निषेध समझा जाता है । यहाँ इतना ही भेद है कि  
लोक में इति लगाने पर अर्थबोधक शब्द शब्दबोधक हो जाता है और शास्त्र में  
इति लगाने पर शब्द स्वरूप बोधक शब्द उस के अर्थ का बोधक हो जाता है । इति  
शब्द अर्थ को बदल देता है ।

न वा शब्द का समान शब्द जिन अर्थों का वाचक है उनकी विभाषा संज्ञा  
का निषेध कहना चाहिये जैसे न वा कुण्डिका ( नई कुण्डी ) । नवा घटिका  
( नई घड़ी ) । यहाँ न वा का अर्थ नया है, निषेध नहीं है । उसकी भी विभाषासंज्ञा  
प्राप्त होती है जिसका निषेध कहना चाहिये ।

क्या हो जायगा यदि नवा अर्थवाचक न वा शब्द की भी विभाषासंज्ञा  
हो जाय तो ?

विभाषा दिक् समासे बहुव्रीहौ में विभाषा कहने से नवीन अर्थबोधक दिक्  
शब्दों के समास की सरितामसंज्ञा होगी तो दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम् में नूतन  
रचित शाला की प्रतीति होने लगेगी ।

१ यह बहुव्रीहि समास है । समानः शब्दो वाचको येषामर्थानाम् ते समान-  
शब्दाः ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । विधिपूर्वकत्वात् । विधाय किञ्चिन्न-  
वेत्युच्यते । तेन प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति । तद्यथा लोके  
ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा । नेति गम्यते ।

अस्ति कारणं येन नवेति लोके प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति ।  
किं कारणम् । विलिङ्गं हि भवान् लोके निर्देशं करोति । अङ्गं हि समान-  
लेङ्गो निर्देशः कियतां प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति । तद्यथा  
ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः । प्रत्यग्र इति गम्यते ।

एतच्चैव न जानीमः क्वचिद् व्याकरणे समानलिङ्गो निर्देशः  
ह्यते इति । अपि चात्र कामचारः प्रयोक्तुः शब्दानामभिसम्बन्धे ।

यह कोई दोष नहीं । विधिस्थलों में पहले कुछ विधान कर के फिर नवा  
वह कहा जाता है तो उससे निषेध अर्थ ही समझा जायगा । नूतन अर्थ  
नहीं । क्योंकि विभाषा यह संज्ञा संज्ञाप्रदेशों में अर्थपरिष्कार के लिये की गई  
है वहां विधिशास्त्र में नवा की उपस्थिति होती तो नवा शब्द से निषेध  
अर्थ का बोध होगा । जैसे लोक में ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा ऐसा कहने पर  
नवा शब्द का आप गांव जायेंगे या नहीं, यह निषेध अर्थ ही समझा जाता है,  
नवीन नहीं । विधिवाक्यों को अनुकूलता के लिये प्रकृतसंज्ञा सूत्र में भी नवा  
निषेधार्थक ही लिया जायगा ।

लोक में नवा शब्द से निषेध अर्थ के समझ जाने का तो कारण है । आप  
ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा इस लौकिक वाक्य में ग्राम शब्द से भिन्न लिङ्ग वाले  
व्यधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करते हैं । ग्राम पुलिङ्ग है । नवा स्त्रीलिङ्ग है ।  
इस लिये वहां निषेध अर्थ समझा जाता है । यदि आप ग्राम शब्द के समान लिङ्ग  
वाले समानाधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करके ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः  
ऐसा कहें तो निश्चित ही नव शब्द से आप नवा गांव जायेंगे इस प्रकार नवा  
इस अर्थ की प्रतीति होगी ।

हम यही नहीं जानते कि व्याकरण में कहां नवा शब्द का समानलिङ्ग  
निर्देश किया है । अर्थात् कहीं नहीं हुआ है । दूसरी बात यह भी है कि वाक्यस्थ

१. यद्यपि विभाषा सेनासुराच्छायाशाळानिशानान् इस सूत्र में सेना  
सुरादिके स्त्रीलिङ्ग होने से विभाषा उद्बोधस्थापि नवा शब्द स्त्रीलिङ्ग समझ है  
तो भी भिन्न विभक्ति होने से दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं बनता । सेना सुरादि  
में पष्ठी बहुवचन का निर्देश है । विभाषोपस्थापि नवा में नहीं है ।

तद्यथा यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा । यदा यवागूशब्दो भुजिना सम्बध्यते भुजिर्नवाशब्देन तदा प्रतिपेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति । यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा । नेति गम्यते । यदा तु नवाशब्दो यवागूशब्देनाभिसम्बध्यते न भुजिना तदा प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति । यथा यवागूर्नवा भवता भोक्तव्या । प्रत्यग्रेति गम्यत । न चेह वयं विभाषाग्रहणेन सर्वादीन्यभिसवर्णनामः— दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि विभाषा भवन्तीति । किं तर्हि सर्वनामसंज्ञाभिसन्बध्यते दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति विभाषति ।

विधिनित्यत्वमनुपपन्न प्रतिपेधसंज्ञाकरणात् ।

विधेरनित्यत्वं नोपपद्यते । शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः । शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः । किं कारणम् । प्रतिपेधसंज्ञाकरणात् । प्रतिपेधस्येयं संज्ञा क्रियते । तेन विभाषाप्रदेशेषु प्रतिपेधस्येव संप्रत्ययः स्यात् ।

शब्दों का परस्पर सम्बन्ध करना बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर है । जैसे— यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा इस वाक्य में यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध भोजन-क्रिया से विवक्षित हो और भोजन क्रिया का नवा से तो धार यवागू (खिचड़ी) खायेंगे या नहीं इस प्रकार नवा शब्द का निपेध अर्थ समझा जायगा । और यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध नवा से विवक्षित हो भोजन क्रिया से न हो तो भाप नई यवागू खायेंगे इस प्रकार नवा शब्द का नया अर्थ समझा जायेगा । हम यहां विभाषा दिक् समासे में विभाषा का सम्बन्ध सर्वादि के साथ करके ऐसा अर्थ नहीं करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञक सर्वादि विभाषा होते हैं । बल्कि विभाषा का सम्बन्ध भवति क्रिया के साथ कर के ऐसा अर्थ करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वादि सर्वनामसंज्ञक विभाषा होते हैं । सर्वनामसंज्ञा होने के साथ विभाषा का सम्बन्ध है । सर्वादि के साथ नहीं । इस लिये निपेध अर्थ का ही बोध होगा । नये का नहीं ।

विभाषा संज्ञा में विधि की अनित्यता अर्थात् विकल्प नहीं बनता । विकल्प को विभाषासंज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्योंकि नवा यह शब्द अथवा को तरह एक ही निपातसंज्ञक अव्यय है । जिसका अर्थ निपेध है । उस से विभाषा स्थलों में केवल निपेध की प्रतीति होगी विकल्प की नहीं तो विभाषा स्त्रेः में विभाषा को सम्प्रसारण के विकल्प से होने वाले शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः । शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः ये दो २ रूप नहीं बन सकेंगे ।

सिद्ध तु प्रसज्यप्रतिषेधात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसज्यप्रतिषेधात् । विधाय किं चिन्नवे-  
त्युच्यते तेनोभय भविष्यति ।

विप्रतिषिद्ध तु ।

विप्रतिषिद्ध तु भवति । अत्र न विज्ञायते केनाभिप्रायेण प्रसजति ।  
केन निवृत्तिं करातीति ।

न वा प्रसङ्गसामर्थ्यादन्यत्र प्रतिषेधविषयात् ।

न वा एष दोष । किं कारणम् । प्रसङ्गसामर्थ्यात् । प्रसङ्गसामर्थ्याच्च  
विधिर्भविष्यति अन्यत्र प्रतिषेधविषयात् । प्रतिषेधसामर्थ्याच्च प्रतिषेधो  
भविष्यति अन्यत्र विधिविषयात् ।

तदेतत् क सिद्ध भवति । या अप्राप्ते विभाषा । या हि प्राप्ते

पहल विधान करक त्रि नवा गन्ध स निरध कडा गया है उस स विधि  
और निरध क दाना रूप बन जायग । प्रत्यय=विधाय प्रतिषेध निरध =प्रत्ययप्रतिषेध ।  
विभाषा श्व यहा दिग्धातु यत्तादि ह । उस में बचन्वय० स किन् प्रत्यय पर रहते  
सम्प्रसारण का विधान है । विभाषा कहन स निरध दा चायगा विसस पित्  
प्रत्यय पर रहत विधिका अनुमान दा चायगा क्याक निरध प्राप्तेपूर्वक हाता है ।  
वा विकल्प हाकर दा रूप बन जायग ।

इस में वा परस्पर विरोध प्राप्त हो जायगा । दो रूप कस बन जायेंग ।  
क्योकि विधि और निरध दाना स य० नहीं मालूम हागा कि किस अभिप्राय स  
विधि है और किस अभिप्राय स निरध है । इस लिय दाना युगल नहीं हो  
सकत । एक ही विषय स विधि और निरध परस्पर विरुद्ध हैं ।

प्रसङ्ग-विधि क सामर्थ्य स वा विधि दा चायगा निरध निरध का छाड कर ।  
विभाषा द्वारा निरध किया गया है उस के सामर्थ्य से निरध हो चायगा विधि  
विषय का छाड कर । इस प्रकार पत्रान स विधि और निरध दाना हाकर दा रूप  
बन जायेंगे । विधि नी व्यर्थ न हो भार निरध भी व्यर्थ न हा इस लिय दाना का  
पर्याय मान कर काम चड जायगा । परस्पर विरुद्ध दान स दाना का यौत्तरध ता  
असभव है ।

विधि और निरध का पर्याय वही सिद्ध हो सकगा जो अप्राप्त विभाषायें  
हैं । अप्राप्तविभाषाया में विना प्राप्ति क हा निरध कहन स विधि का अनुमान  
कर लिया जायगा क्याकि प्राप्तेपूर्वक ही निरध हाता हे । इस लिय वहा विधि  
और निरध दाना का पर्याय होकर दा रूप बन जायेंग । लकिन जा प्राप्त विभाषायें

विभाषा कृतसामर्थ्यस्तत्र पूर्वैव विधिरिति कृत्वा प्रतिषेधस्यैव सम्प्रत्ययः स्यात् ।

एतदपि सिद्धम् । कथम् । विभाषेति महती संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् उभयोः संज्ञा यथा विज्ञायेत । नेति च वेति च । तत्र या तावद् अप्राप्ते विभाषा तत्र प्रतिषेधं नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या हि प्राप्ते विभाषा तत्रोभयमुपस्थितं भवति नेति च वेति च । तत्र नेत्यनेन प्रतिषेधे वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति ।

एवमपि ।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनानुपपत्तिः ।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनं नोपपद्यते । शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः ।

हैं वहाँ तो पूर्व से प्राप्त का निषेध ही जाना जायगा । कारण कि वहाँ विधि पूर्व शास्त्र द्वारा कृतसामर्थ्य है अर्थात् विधान से उस ने निषेध की विधि कल्पना करने की शक्ति को नष्ट कर दिया है । सो निषेध विधि का अनुमान नहीं करायेगा । उस अवस्था में विधि और निषेध का पर्याय न होकर निषेध का ही एक रूप बन सकेगा, विधि का नहीं ।

यह भी सिद्ध हो जायगा । अप्राप्तविभाषा की तरह प्राप्तविभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे । कैसे ? विभाषा यह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की है । और संज्ञा छोटी से छोटी होनी चाहिये । क्योंकि लाघव के लिए संज्ञा की जाती है तो बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन होगा कि नवा यह निषेधवाची एक निपात न मान कर न और वा ये दो निपात माने जायेंगे जिन का अर्थ निषेध और विकल्प होगा । उस से निषेध और विकल्प दोनों की विभाषा संज्ञा होगी केवल निषेध की नहीं । ऐसा मानने पर जो अप्राप्तविभाषायें हैं वहाँ बिना प्राप्त के ही विभाषा कहने से निषेधार्थक न-अंश का कोई प्रयोजन नहीं होगा तो वा-अंश से विकल्प हो कर दो रूप बन जायेंगे । और जो प्राप्त विभाषायें हैं उन में प्राप्त का निषेध आवश्यक है इसलिये पहले न-अंश से निषेध होकर फिर वा अंश से विकल्प हो जायगा तो वहाँ भी दो रूप बन जायेंगे ।

निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा मानने पर भी जो उभयत्र विभाषायें हैं अर्थात् एक साथ ही किसी अंश में प्राप्त और किसी में अप्राप्त विभाषायें हैं वहाँ विधि और निषेध के दो रूप एक साथ नहीं सिद्ध हो सकते । क्योंकि निषेधार्थक न-शब्द वहाँ प्राप्त अंश में निषेध कर देगा फिर वा से विकल्प हो

शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियु । किं कारणम् ।

भवतीति चेन्न प्रातिषेध ।

भवतीति चेत् प्रतिषेधो न प्राप्नोति ।

नेति चेन्न विधिः ।

नेति चेद् विधि न सिध्यति ।

सिद्ध तु पूर्वस्योत्तरेण बाधितत्वात् ।

पूर्वविधिमुत्तरो विधिर्बाधते । इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थ इत्युक्तम् ।

जायगा तो प्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे । अप्राप्त अंश खाली रह जायगा । वहाँ कुछ न होगा । और जो वहाँ अप्राप्त अंश है वहाँ न का प्रयोजन न होने से या से विकल्प हो जायगा तो केवल अप्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे । प्राप्त अंश रह जायगा । जैसे—विभाषा श्वे. यह उभयत्र विभाषा है । लिट् के कित् अंश में तो वचिस्वपि० स शिव को प्राप्त सम्प्रसारण है वहाँ भी दो रूप बनाने हैं । और लिट् के अकित् अंश में किसी से भी सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है वहाँ भी दो रूप बनाने हैं । शुशाव, शिश्वाय ये अकित् लिट् क रूप हैं । शुशुवतु शुशुवु, शिश्वियतु शिश्वियु. ये कित् लिट् के रूप हैं । दोनों में एक साथ दो २ रूप नहीं बन सकेंगे । क्योंकि विभाषा शब्द की वा भवति 'विकल्प से होता है' इस प्रकार यदि विधिमुख से प्रवृत्ति मानें तो प्राप्त अंश में निषेध नहीं सिद्ध होता । और यदि वा न भवति 'विकल्प से नहीं होता है' इस प्रकार निषेधमुख से प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त अंश में विधि नहीं सिद्ध होती ।

उभयत्र विभाषाओं में भी दोनो अंशों में दो २ रूप सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि सूत्र में पठित न यह पूर्वविधि वा इस उत्तरविधि से बाधित हो जायगी तो पहले प्राप्त अप्राप्त सभी अंशों में न की प्रवृत्ति हो कर निषेध हो जायगा । निषेध द्वारा प्राप्त अप्राप्त सब अंश समान कर दिये जायेंगे । फिर वा से सभी प्राप्त अप्राप्त अंशों में विकल्प हो जायगा । इस प्रकार उभयत्र विभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे । न वेति में न हात और वा इति इस प्रकार न वा शब्दों में इति लगाना दोनो के निषेध और विकल्प अर्थ के निर्देश के लिये है यह अभी कह चुके हैं<sup>१</sup> ।

१. न और वा की सूत्र पठित क्रम से ही प्रवृत्ति होगी । यदि पहले वा की प्रवृत्ति कर के फिर न की प्रवृत्ति करें तो वा की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायगी । इस लिये

साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम् ।

साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा क्रियते स विभाषा साधुः स्यात् । समासश्चेच्च हि विभाषा क्रियते तेन समासस्यैव विभाषा साधुत्व स्यात् ।

साधुशब्दों के अनुशासन रूप इस व्याकरण शास्त्र में जिस को विभाषा कहा है उस का साधुत्व भी विभाषित एवं त्रैकल्पिक होना चाहिये। अर्थात् कार्य के विकल्प के साथ उस के साधुत्व में भी विकल्प होना चाहिये। वह एक पक्ष में साधु हो और दूसरे पक्ष में असाधु रहे। विभाषा इस सूत्र से समास प्रकरण को विभाषा कहा गया है। समास विकल्प से होता है इसलिये समास में ही साधुत्व

पहले सर्वत्र निषेध कर के फिर सर्वत्र विकल्प का विधान होगा। मीमांसा आदि अन्य शास्त्रों में केवल विकल्प को ही विभाषा माना जाता है निषेध को नहीं। किन्तु यहाँ व्याकरण में निषेध और विकल्प दोनों की विभाषामहा मानी गई है। न और वा की एक साथ विभाषातंशा मानने का प्रयोजन उभयत्र विभाषाओं में है। प्राप्त विभाषा और अप्राप्तविभाषा तो इस सूत्र के बिना भी सिद्ध हो सकती हैं। प्राप्त विभाषाओं में विधि तो पहले से ही थी, पक्ष में विभाषा कहने से निषेध हो कर दो रूप बन जायेंगे। अप्राप्त विभाषाओं में भी अप्राप्ति रूप निषेध पहले से ही पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो कर दो रूप बन जायेंगे। किन्तु विभाषा इवे. इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में इस सूत्र के बिना काम नहीं चल सकता। वहा विकल्प स होता है इस प्रकार यदि विधियुक्त से प्रवृत्ति मानें तो जहा पहले से सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है ऐसे अकिच् जो तिप् सिच् मिप् हैं वहाँ दो रूप बन सकेंगे। शुशाव शिश्वाय । शुशविथ शिश्वविथ । क्योंकि वहाँ निषेध तो पहले से सिद्ध है ही, पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो जायगा। किच् जो अनुस् आदि है उन में चचिस्वपि० से नित्य ही सम्प्रसारण प्राप्त रहेगा। और यदि विकल्प से नहीं होता है इस प्रकार निषेधयुक्त से प्रवृत्ति मानें तो किच् अनुस् आदि में प्राप्त सम्प्रसारण का पक्ष में निषेध हा कर वहाँ शुशुवतुः शुशुवुः । शश्विचतुः, तिश्चिचुः आदि दो रूप बन सकेंगे। अकिच् तिप् आदि में नहीं बन सकेंगे। इस सूत्र के बना देने पर पहले किच् अकिच् दोनों जगह निषेध की प्रवृत्ति होगी। फिर दोनों जगह विकल्प की प्रवृत्ति हो कर सर्वत्र दो रूप बन जायेंगे। बाद तो विभाषा इवे. इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में भी विधियुक्त एवं निषेधयुक्त दोनों प्रवृत्तियां लक्ष्यभेद से एक साथ इष्ट मानें तब तो इस सूत्र के बिना भी उभयत्र विभाषाओं में दो रूप सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। यह बात आगे अशिष्यो वा विदित्वात् इस वार्तिकद्वारा स्वयं कहेंगे।

अस्तु यः साधुः स प्रयोक्ष्यते असाधुर्न प्रयोक्ष्यते ।

न चेव हि कदाचिद् व्याकरणे राजपुरुष इत्येतस्यामवस्थायाम-  
साधुत्वमिष्यते । अपि च—

द्वेधाऽप्रतिपत्तिः ।

द्वैध शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात् । इच्छामश्च पुनर्विभाषाप्रदेशेषु  
द्वैधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति । तच्च न सिध्यति । यस्य पुनः  
कार्याः शब्दाः । विभाषासो समास निर्वर्तयति ।

यस्यापि नित्याः शब्दास्तस्याप्येव दोषो न भवति । कथम् । न  
विभाषाग्रहणेन साधुत्वमभिसम्बध्यते । किं तर्हि । समाससज्ञाभिसम्बध्यते ।  
समास इत्येषा सज्ञा विभाषा भवतीति । तद्यथा मध्यः पशुर्विभाषितः ।

का विकल्प भी प्राप्त है ।

अच्छा, जो साधु शब्द होगा उस का प्रयोग करेंगे । असाधु का नहीं करेंगे ।

किन्तु राजपुरुष. यह समस्त पद तो सर्वथा साधु है । इसमें असाधुत्व की  
संभावना ही इष्ट नहीं है । यहाँ तो विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ होन से इस  
में भी पक्ष में असाधुत्व प्राप्त होता है । इस के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि  
विभाषा कहने में शब्दों के दो रूप इष्ट हैं वे नहीं सिद्ध हों । क्योंकि विभाषा  
का सम्बन्ध तो साधुत्व के साथ हो गया । कार्य के साथ न रहा तो दो रूप कैसे  
बनेंगे । हम चाहते हैं कि शब्दों के दो रूप बनें । ये विभाषा कहने पर भी नहीं  
बन पाते । जो तो शब्दों को कार्य अर्थात् कृति निष्पन्न एवं अनित्य मानता है  
उसके मत में तो विभाषा का सम्बन्ध विधीयमान कार्य के साथ होन से शब्दों  
के दो रूप बन जायेंगे । यह समास का विकल्प से विधान करता है न कि उसके  
साधुत्व का । नित्यशब्दशब्दों के मत में समास के नित्य सिद्ध होने से उसका  
अन्वयाख्यानमात्र किया जाता है । नया विधान नहीं ।

जिसके मत में शब्द नित्य हैं उसमें भी यह दोष नहीं आता क्योंकि वह  
विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ न कर के समाससज्ञा के साथ ही करेगा ।  
साधुत्व पुरुषहृत नहीं है । समाससज्ञा के पुरुषहृत होने से उसी के साथ विभाषा  
का सम्बन्ध होगा तो नित्यशब्दवादों के मत में भी शब्दों के दो रूप बन जायेंगे ।  
जैसे—नव्यः पशुर्विभाषितः । नेव्याऽनङ्गान् विभाषितः इस शास्त्ररचन में विभाषा  
का सम्बन्ध आङ्गमन क्रिया के साथ है । इसका अर्थ है—यज्ञिय पशु विभाषित है ।  
यज्ञिय बैल विभाषित है । अर्थात् यज्ञिय बैल या अन्य पशु का आङ्गमन



मेघ्योऽनङ्वान् विभाषित इति । नैतद् विचार्यते अनङ्वान् नानङ्वान् इति । किं तर्हि । आलम्ब्यो नालम्ब्य इति ।

कार्येषु युगपदन्वाचयेनौगपचन् ।

कार्येषु शब्देषु युगपदन्वाचयेन च यदुच्यते तस्य युगपद्वचनता प्राप्नोति । 'तस्यस्तज्यानीयर.' । 'ढक् च मण्डूकादि'ति । यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः प्रयुक्तानामसौ साधुत्वमन्वाचये ।

ननु च यस्यापि कार्यास्तस्याप्येव न दोषः । कथम् । प्रत्ययः परे भ्रतीऽनुच्यते । न चक्रत्याः प्रकृतेरनेकस्य प्रत्ययस्य युगपत्परत्वेन संभवोस्ति ।

नापि भ्रूमः प्रत्ययमाला प्राप्नोतीति । किं तर्हि । कर्तव्यमिति

विकल्पित है । उसका आलम्बन किया भी जा सकता है, नहीं भी । यहाँ विभाषा शब्द से उस पद के अनङ्वान् होने या न होने का विकल्प नहीं है । यह नहीं विचार किया जाता कि यह अनङ्वान् है या नहीं है । अर्थात् वह आलम्बन योग्य है या नहीं इसका विचार होता है ।

इसके अतिरिक्त अनित्य शब्दवाद में यह दोष है कि जो कार्य एक साथ या अन्वाचय चक्र से योग से कहे गये हैं वे एक साथ प्राप्त होते हैं । त्व्यतन्वाचय यहाँ त्व्यन् त्व्यनीयर च तीनों प्रत्यय एक साथ उच्चारित हैं इस लिये धातु से एक साथ ही उत्पन्न होने चाहिये । अलग २ नहीं । ढक् च मण्डूकार यः चक्र से ङ् प्रत्यय अन्वाचयश्लेष है वे दोनों एक साथ ही मण्डूक शब्द से उत्पन्न होने चाहिये । अलग २ नहीं । नित्यशब्दवादो तो अलग २ प्रयुक्त त्व्यदादि के साधुत्व मात्र का अन्वाख्यान करता है उस के नव में नये शब्द उत्पन्न नहीं किये जाते इस लिये वहाँ यह द प नहीं जाता ।

अनित्यशब्दवादी के नव में भी यह दोष नहीं है । क्योंकि प्रत्ययः परथ के वचन से प्रत्यय, धातु या प्रातिपदिक से परे होता है । एक प्रकृति से परे एक साथ अनेक प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकते । इस लिये एक २ ही होगा ।

हम यह कब कहते हैं कि प्रकृति से परे त्व्यदादि सब प्रत्ययों की एक साथ माला प्राप्त होता है । अर्थात् यह कहते हैं कि एक शब्द के साथ ही दूसरे

१. युगपद्=युगपद्भाव ।

२. अन्वाचय=समुच्चय, त्रिसुक्त चक्र से अथवा स्वरित्व से विधान है ।

प्रयोक्तव्ये युगपद् द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगः प्राप्नोतीति ।

नैष दोषः । अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः । अर्थे संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते । तत्रैकेनोक्तत्वात् तस्यार्थस्य द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम् । उक्तार्थानामप्रयोग इति ।

आचार्यदेशशीलनेन च तद्विषयता ।

आचार्यदेशशीलनेन च यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य । प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलमिति । गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन् । प्राक्षु च व हि । फिन् स्यात् । तद्यथा जमदग्निवी पतत्पञ्चममयदानमवाद्यत् । तस्मान्नाजामदग्न्यः पञ्चावृत्त जुहाति । यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः गालवग्रहण तस्य पूजार्थम् । देशग्रहण च कीर्त्यर्थम् ।

तीसरे शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । वर्तव्यम् के प्रयोग के साथ ही करणायम् का प्रयोग भी प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । अर्थ को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग होता है । मैं शब्द बोल कर इस अर्थ को समझाऊंगा इस लिये शब्द बोला जाता है । उसमें एक शब्द से उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर फिर उसी अर्थ वाले दूसरे तीसरे शब्द का प्रयोग नहीं होगा । उक्तार्थानामप्रयोगः यह न्याय प्रसिद्ध है । इस का अर्थ है—गतार्थे हुए शब्द का प्रयोग नहीं होता । जिस ( करणाय ) शब्द का अर्थ ( वर्तव्य ) शब्द द्वारा एक बार कहा जा चुका वह शब्द नहीं बोला जाता ।

अनित्यशब्दवाद में यह भी दोष है कि किसी आचार्य या देश का नाम ले कर जो कार्य कहे हैं उनका प्रयोग का विषय वह आचार्य या देश ही होना चाहिये, सब नहीं । व कार्य उसी आचार्य या देश द्वारा प्रयुक्त होने चाहिये । इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य में गालव आचार्य के नाम से ह्रस्व कहा है तो गालव आचार्य ही ह्रस्व का प्रयोग करे । प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् में प्राग्दश वासियो के नाम से फिन् कहा है तो प्राग्दशवासी ही फिन् का प्रयोग करे । सब नहीं । जैसे—जमदग्निवी एत पञ्चममयदानमवाद्यत्० यह किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है । इसका अर्थ है—क्योंकि जमदग्नि ऋषि ने इस पुरोडाश का पाचवा अवदान किं वा खण्ड किया था इस लिये जमदग्निस्वरोत्र ही पाच खण्ड वाल पुरोडाश की आहुति देवे । दूसरा अनामदग्न्य जमदग्निगोत्रीय स भिन्न नहीं । पञ्चावृत्तम्= पाच खण्ड वाला पुरोडाश । यद्वा पञ्चावृत्त पुरोडाश की हवि कवल जमदग्नि-

ननु च यस्यापि कार्याः शब्दास्तस्यापि गालवग्रहणं पूजार्थं स्यात् । देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम् ।

तत्कीर्तने च द्वेषाऽप्रतिपत्तिः ।

तत्कीर्तने च द्वेष शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात् । इच्छामश्च पुनराचार्यग्रहणेपु देशग्रहणेपु च द्वेष शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति । तच्च न सिध्यति ।

अशिष्यो वा विदितत्वात् ।

अशिष्यो वा पुनरयं योगः । किं कारणम् । विदितत्वात् । यदनेन योगेन प्रार्थ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात् । येषि ह्येतां सज्ञां नारभन्ते

गोत्रोत्पन्न व्यक्ति का ही विषय है । अन्य का नहीं । नित्यशब्दवाद में तो यह दोष नहीं आता । उसके मत में गालव का ग्रहण पूजा के लिये है और प्राग् देश का ग्रहण उस देश की चिरस्थायी कीर्ति के लिये है ।

अनित्यशब्दवाद में भी यह दोष नहीं आता । उसके मत में भी गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण उस देश की कीर्ति के लिये हो सकता है । अनित्यशब्दवादी इका ह्रस्वो० का ऐसा अर्थ कर सकता है कि जिस प्रकार गालव आचार्य न इक् को ह्रस्व किया है वैसे तुम भी करो ।

यह ठीक है कि अनित्यशब्दवादी के मत में गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण देश की कीर्ति के लिये रहे, किन्तु इक् को ह्रस्व तो गालव के मत में ही विदित होगा । फिर भी प्राक् देश में ही विहित होगा तो शब्द के दो रूप तो निश्चय न हुए । हम चाहते हैं कि आचार्य और देश वाले कार्य में भी शब्दों के दो रूप हों । यह बात अनित्य शब्दवाद में सिद्ध नहीं होती इस लिये यह पक्ष अयुक्त है । नित्यशब्दवाद में तो ह्रस्व और दाघ वाले दो रूप पहले से ही विद्यमान हैं । उनका नया विधान नहीं करना है अतः गालवग्रहण कवल ह्रस्व की स्मृति द्वारा पूजार्थ है । इस लिये शब्दों को नित्य मानना ही युक्तियुक्त एवं निद्राप है ।

विचारपूर्वक देखने पर नवेति विभाषा यह सूत्र भी अशिष्य है । अनुशासन की अपेक्षा नहीं रखता । इसकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि जो इसका अर्थ है, जो इस सूत्र के बनाने से हम चाहते हैं वह लोकाशास्त्र-विदित है । लोक तथा शास्त्र व्यवहार से ही सिद्ध है । जो लोग इस विभाषा सज्ञा को नहीं बनाते वे भी विभाषा शब्द कहने पर उस कार्य का

तेपि विभापेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति । याज्ञिकाः खल्वपि संज्ञामना-  
रभमाणा विभापेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति । तद्यथा मेघ्यः पशुर्विभापितो  
मेघ्योऽनड्वान् विभापित इति । आलब्धन्यो नालब्धव्य इति गम्यते ।  
आचार्यः खल्वपि संज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्येरपि शब्देरेतमर्थं  
संप्रत्याययति । बहुलमन्यतरस्याम् उभयथा वा एकेयामिति ।

अप्राप्ते त्रिसंशयाः ।

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामः अप्राप्ते ता द्रष्टव्याः ।  
त्रिसंशयास्तु भवन्ति । प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

द्वन्द्वे च विभाषा जति ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते कथं चाप्राप्ते कथं चोभयत्रेति ।

अनित्यता समझ लेते हैं । याज्ञिक लोग भी इस संज्ञा को न जानते हुए ही  
विभाषा शब्द से कार्य की अनित्यता जान लेते हैं । जैसे मेघ्यः पशुर्विभापित-  
इस वचन में विभाषा शब्द से भाङ्गभन क्रिया का विकल्प समझ लिया जाता  
है । स्वयं आचार्य पाणिनि भगवान् भी इस विभाषा संज्ञा को बनाते हुए ही  
अन्य शब्दों से भी इसी विकल्प अर्थ को समझा रहे हैं । जैसे सूत्रों में आने  
वाले बहुलम् । अन्यतरस्याम् । उभयथा । वा । एकेयाम् । इत्यादि शब्द विभाषा  
के ही पर्याय हैं । जब उन शब्दों से बिना कोई भी विकल्प अर्थ का बोध हो जाता  
है तो विभाषा से भी हो जायगा । इस लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता  
नहीं है ।

इससे आगे जो विभाषा कहेंगे वे अप्राप्त विभाषा समझनी चाहियें । किन्तु  
वे प्राप्त अप्राप्त तथा उभयत्र अर्थात् प्राप्ताप्राप्त इन तीन संशयों वाली तो  
होगी । उनमें प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त का संदेह तो अवश्य होगा ।

द्वन्द्वे च विभाषा जति इस सर्वनामसंज्ञा के प्रकरण में पठित प्रथमचरमतया-  
ल्यार्थकतिपयनेमाश्च के तय ग्रहण की विभाषा में सन्देह है कि यह विभाषा प्राप्त  
है या अप्राप्त है या उभयत्र है ।

प्रथमचरमतयाल्यार्थ० सूत्र की तय ग्रहण वाली विभाषा में कैसे सन्देह है ?

१. त्रयः संशया यासु ताः, बहुमीहिः ।

यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्जयायान्कनीयसो देष्णम् ।

अमृत इत्पर्यासीत दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥ ७ ॥

यत् । इन्द्र । पूर्वः । अपराय । शिक्षन् । अयत् । ज्यायान् । कनीयसः । देष्णम् ।

अमृतः । इत् । परि । आसीत् । दूरम् । आ । चित्र । चित्र्यम् । भर । रयिम् । नः ॥७॥

हे ऽचित्र चायनीय ऽइन्द्र ऽयत् धनं ऽपूर्वः पिता ज्येष्ठो भ्राता वा ऽअपराय पुत्राय कनीयसे वा ऽशिक्षन् प्रयच्छन् । शिक्षतिर्दानकर्मा 'प्रीणाति शिक्षति' इति दानकर्मसु पाठात् । भवतीति शेषः । यच्च ऽदेष्णं देयं धनं ऽज्यायान् ज्येष्ठः ऽकनीयसः ऽअयत् प्राप्नुयात् । यच्चापि धनं पितृतो लब्ध्वा पुत्रः ऽअमृत ऽइत् अमृत एव सन् पितृगृहं विहाय ऽदूरं ऽपर्यासीत आस्ते तत्त्रिविधं ऽचित्र्यं चायनीयं ऽरयिं धनं ऽनः अस्मभ्यम् ऽआ ऽभर आहर ॥

यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाशदसन्निरेके अद्रिवः सखा ते ।

वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ ८ ॥

यः । ते । इन्द्र । प्रियः । जनः । ददाशत् । असत् । निरेके । अद्रिवः । सखा । ते ।

वयम् । ते । अस्याम् । सुऽमतौ । चनिष्ठाः । स्याम । वरूथे । अघ्नतः । नृऽपीतौ ॥८॥

हे ऽइन्द्र ऽयः ऽते तुभ्यं ऽप्रियः सखा ऽजनः ऽददाशत् हवींषि दद्यात् हे ऽअद्रिवः सः ऽसखा ऽते तव ऽनिरेके दाने ऽअसत् स्यात् । ऽवयं च वसिष्ठाः ऽअघ्नतः अहिंसतः ऽते तव ऽअस्यां ऽसुमतौ अनुग्रहबुद्धौ वर्तमानाः ऽचनिष्ठाः स्तुतिमत्तरा अतिशयेनान्नवन्तो वा । चनोऽन्नम् । ऽनृपीतौ नृणां रक्षके ऽवरूथे गृहे वरणीये वा धने ऽस्याम वसेम अवेम वा ॥

एष स्तोमो अचिक्रद्वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट ।

रायस्कामो जरितारं त आगन्त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शक्रो नः ॥ ९ ॥

एषः । स्तोमः । अचिक्रदत् । वृषा । ते । उत । स्तामुः । मघऽवन् । अक्रपिष्ट ।

रायः । कामः । जरितारम् । ते । आ । अगन् । त्वम् । अङ्ग । शक्र । वस्वः । आ । शक्रः । नः ॥९॥

हे ऽमघवन् धनवन्निन्द्र ऽते त्वदर्थं ऽवृषा सेक्ता ऽएषः ऽस्तोमः सोमः सूयमानः<sup>१</sup> ऽअचिक्रदत् क्रन्दति । ऽउत अपि च ऽस्तामुः स्तोता ऽअक्रपिष्ट अस्तौत् । अपि च हे ऽशक्र ऽते तव ऽजरितारं स्तोतारं मां ऽरायः धनस्य ऽकामः अभिलाषः ऽआगन् आगतः । अतः ऽत्वं ऽवस्वः धनम् । कर्मणि पठौ । नः अस्मभ्यम् ऽअङ्ग क्षिप्रम् ऽआ ऽशक्रः धेहि ॥

स न इन्द्र त्वयताया इपे धास्त्वना च ये मघवानो जुनन्ति ।

वस्वी पु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

सः । नः । इन्द्र । त्वऽयतायै । इपे । धाः । त्वना । च । ये । मघऽवानः । जुनन्ति ।

वस्वी । सु । ते । जरित्रे । अस्तु । शक्तिः । युयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥१०॥

न ध्याप्नुवन्नित्यर्थः । १ स्वैन १ हि आर्मायेन च १ शवमा बलेन १ वृत्र १ जयन्त्य त्वमवधी । १ शत्रु-  
च १ युधा युद्धेन १ ते तव १ अन्त हिंसा १ न १ विविदत् न लब्धवान् ॥

देवाश्चित्ते अमुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांमि । -

इन्द्रो मघानि दयते विपक्षेन्द्रं वाजस्य जोहुयन्त सातो ॥ ७ ॥

देवा । चित् । ते । असुर्याय । पूर्वे । अनु । क्षत्राय । ममिरे । महासि ।

इन्द्र । मघानि । दयते । विऽमहं । इन्द्रम् । वाजस्य । जोहुयन्त । सातो ॥ ७ ॥

१ पूर्वे १ देवाश्चित् अमुरा अपि १ अमुपाय बलाय १ क्षत्राय । क्षदिहिंसकमा । उल । इहमा चामे  
कर्तुमित्यर्थः । इ इन्द्र १ ते तव १ महासि बलानि १ अनु १ ममिरे ॥ 'हीन' ( पा सू । ४ ८६ )  
इत्यनु कर्मप्रवचनीय ॥ तत्र बलेभ्या हीना ममिर इत्यर्थः । तथा च निगमान्तरम्—'अनु ते  
पार्श्वेहीनी वीर्यं ममे' ( न स १ ५७ ५ ) इति । अय पराक्षस्तुति । 'इन्द्र शत्रुन् विपक्ष  
१ मघानि महनीयानि धनानि १ दयते अनेभ्य प्रयच्छति । अपि च १ इन्द्र १ वानस्य अन्नस्य १ मातो  
लाभार्थं १ जोहुयन्त स्तुवन्ति स्तातार आह्वयन्ति वा ॥

कीरिश्चिद्धि त्वामवसे जुहावेशानमिन्द्र सौभगस्य भूरः ।

अवो वभूथ शतमूते अस्मे अभिक्षत्तुस्त्वामतो वरूता ॥ ८ ॥

कीरि । चित् । हि । त्वाम् । अवसे । जुहाव । इशानम् । इन्द्र । सौभगस्य । भूरै ।

अव । वभूथ । शतम्ऽऊने । अस्मे इति । अभिऽक्षत्तु । त्वाऽऽत । वरूता ॥ ८ ॥

इ इन्द्र १ ईशान १ त्वा १ कीरि स्तोता । 'कार कीरि' इति स्तोत्रनामसु पाठात् । वसिष्ठ  
१ अवसे रक्षणाय १ जुहाव १ हि स्नाति हि ह्वयति वा । १ चित् इति पूरण । अपि च इ १ शतमूत  
वृद्धरक्षेन्द्र १ अस्मे अस्माक १ भूरै प्रभूतस्य १ सौभगस्य धनस्य १ अव रक्षा १ वभूथ उभूविथ ।  
१ अभिक्षत्तु अभिहिंसकस्य १ त्वाऽऽत. १ अल्पदशस्य १ वरूता वारयिता च भव ॥

सखायस्त इन्द्र विश्वहं स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र ।

वन्वन्तु स्म तेऽवसा समीकेऽभीतिमुर्यो वनुपां शत्रांसि ॥ ९ ॥

सखाय । ते । इन्द्र । विश्वहं । स्याम् । नमऽवृधास । महिना । तरुत्र ।

वन्वन्तु । स्म । ते । अत्रेमा । समीऽके । अभिऽइतिम् । अर्य । वनुपाम् । शत्रांसि ॥ ९ ॥

इ इन्द्र १ ते तव १ नमोवृधास नमसा स्तुत्या हविषा वा वधयितारा वय १ विश्वह सर्वदा  
१ सखाय १ स्याम भवम । १ महिना महिना १ तरुत्र अत्यन्त तारकेन्द्र १ ते तव १ अवसा रक्षणेन  
१ समीके सग्रामे १ अर्य १ अभीतिम् अभिगमन १ वनुपा हिंसकाना १ शत्रांसि बलानि च १ वन्वन्तु  
स्तोतारा हिंसन्तु ॥

हे वशूर वइन्द्र वत्वम् वहिना वृत्रेण वपरिष्ठिताः आक्रान्ताः वपूर्वाः बह्वीः वअपः उदकानि वस्रवितवै स्रवितुं वकः अकार्षीः । वधेनाः नद्यश्च वत्वत् त्वत्तो हेतोः वस्थ्यो वन रथिन इव ववावक्रे निर्गच्छन्ति । ' वकि कौटिल्ये ' इति धातुः । वविश्वा विश्वानि वकृत्रिमाणि भुवनानि च वभीषा त्वत्तो भीत्या वरेजन्ते कम्पन्ते ॥

भीसो विवेपायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान् ।

इन्द्रः पुरो जर्हषाणो वि दूधोद्वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥ ४ ॥

भीमः । विवेष । आयुधेभिः । एषाम् । अपांसि । विश्वा । नर्याणि । विद्वान् ।

इन्द्रः । पुरः । जर्हषाणः । वि । दूधोत् । वि । वज्रहस्तः । महिना । जघान् ॥ ४ ॥

वइन्द्रः वनर्याणि नरहितानि वविश्वा विश्वानि वअपांसि कर्माणि वविद्वान् जानन् वआयुधेभिः आयुधैः वभीमः भयंकरः सन् वएषाम् । कर्मणि पष्ठी । एतानसुरान् वविवेष व्यासवान् । वपुरः च तेषां ववि दूधोत् अकम्पयत् । अपि च वजर्हषाणः हृष्यन् वमहिना महिना युक्तः ववज्रहस्तः सन् तान् ववि वजघान ॥

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः ।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्रदेवा अपि गुर्कृतं नः ॥ ५ ॥

न । यातवः । इन्द्र । जूजुवुः । नः । न । वन्दना । शविष्ठ । वेद्याभिः ।

सः । शर्धत् । अर्यः । विषुणस्य । जन्तोः । मा । शिश्रदेवाः । अपि । गुः । कृतम् । नः ॥ ५ ॥

हे वइन्द्र वयातवः राक्षसाः वनः अस्मान् वन वजूजुवुः न हिंस्युः । जूजुवुरिति हिंसाक्रियः पृथक्करणक्रियो वा । अपि च हे वशविष्ठ बलवत्तेमेन्द्र वन्दना वन्दनानि रक्षांसि ववेद्याभिः वेद्याभ्यः प्रजाभ्यो नोऽस्मान् वन जूजुवुः न पृथक्कुर्वन्तु । किञ्च वअर्यः स्वामी वसः इन्द्रः वविषुणस्य विषमस्य वजन्तोः प्राणिनः शासने वशर्धत् उत्सहेत । अथ च वशिश्रदेवाः । शिश्रेण दीव्यन्ति क्रीडन्त इति शिश्रदेवाः । अव्रह्मचर्या इत्यर्थः । वनः अस्माकम् वकृतं यज्ञं सत्यं वा वमा वअपि वगुः मा अपिगमन् । तथा च यास्कः— ' स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य मा शिश्रदेवा अव्रह्मचर्याः । शिश्रं शयतेः । अपि गुर्कृतं नः सत्यं वा यज्ञं वा ' ( निरु. ४. १९ ) इति ॥ ३ ॥

अभि क्रत्वैन्द्र भूरधु ज्मन्न ते विव्यङ्गाहिमानं रजांसि ।

स्वेना हि वृत्रं शर्वसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद्युधा ते ॥ ६ ॥

अभि । क्रत्वा । इन्द्र । भुः । अर्ध । ज्मन् । न । ते । विव्यक् । महिमानम् । रजांसि ।

स्वेन । हि । वृत्रम् । शर्वसा । जघन्थ । न । शत्रुः । अन्तम् । विविदत् । युधा । ते ॥ ६ ॥

हे वइन्द्र त्वं वक्रत्वा कर्मणा वज्मन् पृथिव्यां<sup>१</sup> वर्तमानान् जन्तून् वा वअभि वभूः अभ्यभूः । वअध अपि च वते तव वमहिमानं वरजांसि सर्वे<sup>२</sup> लोकाः<sup>३</sup> वन वविव्यक् । व्यचिर्व्याप्तिकर्मा ।

१. स-न-भ-श-पृथिवीं पृथिव्याम् । २. ख-श-सर्वलोकाः; घ-लोकाः; झ-सर्वे लोके ।

वोर् । सु । मे । मघवन् । वाचम् । आ । इमान् । यान् । ते । वनिष्ठ । अर्चति । प्रदर्शस्तिम् ।  
इमा । वक्ष । सुधऽमादे । जुपस्व ॥ ३ ॥

हे मघवन् धनवधिन्द्र ते तव प्रदर्शस्ति स्तुतिरूपा या वाच वनिष्ठ अर्चति वदति  
ताम् इमां मे वनिष्ठस्य सर्वस्मिन्ना वाच सु आ वाध सुष्ठु अभिव्युध्यस्व । किञ्च इमा इमानि  
प्रक्ष प्रक्षानि मघमादे यत्ते जुपस्व सेयस्व ॥

श्रुधी हवँ विपिपानस्याद्रेवोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।

कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ ४ ॥

श्रुधि । हवँम् । विऽपिपानस्य । अद्रे । वोर् । विप्रस्य । अर्चत । मनीषाम् ।

कृष्व । दुवासि । अन्तमा । मचा । इमा ॥ ४ ॥

हे इन्द्र विपिपानस्य विपीतवतो विपिवतो या मम अद्रे ग्राव्य हवम् आह्वान श्रुधि  
श्रु । तथा च निगमान्तर—‘ ग्राव्यो वाच वदता वदन्नय ’ ( ऋ स १० १४ १ ) इति ।  
विप्रस्य प्राज्ञस्य वनिष्ठस्य अर्चत सुवत मनीषा स्तुति बोध व्युध्यस्व च । इमा इमानि  
क्रियमाणानि दुवासि परिचरणानि अन्तमा अन्तिकतमानि बुद्धिस्थानि सचा सह सहायभूत  
सन् वा हृष्व कुरु च ॥

न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिर्मसुर्यस्य विद्वान् ।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्षिम् ॥ ५ ॥

न । ते । गिर । अपि । मृष्ये । तुरस्य । न । सुऽस्तुतिम् । असुर्यस्य । विद्वान् ।

सदा । ते । नाम । स्वऽयश । विवक्षिम् ॥ ५ ॥

हे इन्द्र तुरस्य शत्रूणा हिमकस्य ते तव गिर स्तुती असुर्यस्य द्वितीयाय पृष्टी ।  
त्वदीयमसुर्य बल विद्वान् जानन्नह न अपि मृष्ये । मृषिमान्नकम्मा । न मार्तयामि । न परि  
त्यजामीयर्थ । सुष्टुति शोभना स्तुति च न अपि मृष्ये । मृषेमान्नकर्मत्वमन्यत्रापि दृश्यते ।  
तद्यथा—‘ मा नो अक्षे सत्या पित्र्याणि प्र नपिष्टा ’ ( ऋ स १ ७१ १० ) इति । किन्तु स्वयश  
असाधारणयश ते तव नाम स्तोत्र सदैव विवक्षिम् व्रवामि ॥ ५ ॥

भूरि हि ते सर्वना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।

मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक्तेः ॥ ६ ॥

भूरि । हि । ते । सर्वना । मानुषेषु । भूरि । मनीषा । हवते । त्वाम् । इत् ।

मा । आरे । अस्मत् । मघवन् । ज्योक् । करिति क ॥ ६ ॥

हे मघवन् ते तव सर्वना सर्वनानि सोनाभिव्यव्यानि भूरि भूरीणि मानुषेषु अस्मानु  
वर्तन्त इति शेष । मनीषा स्तोत्रा त्वामित् त्वामेव भूरि हवते नितरा ह्वरति स्तौति । अत  
अस्मत् अस्मत् अरे दूरे ज्योक् चिरकाल मा क आत्मान मा कार्षी । क्षिप्रमात्मानम  
स्मदासन्नं कुर्वित्यर्थ ॥



स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।

वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

सः । नः । इन्द्र । त्वयतायै । इषे । धाः । त्मना । च । ये । मघवानः । जुनन्ति ।  
वस्वी । सु । ते । जरित्रे । अस्तु । शक्तिः । युयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ १० ॥

इयमृग्याख्यातचरा ॥ ४ ॥

‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा ’ इति नवर्चं पञ्चमं सूक्तम् । अनुक्रम्यते च—‘ पिब नव वैराजमृतेऽन्त्याम् ’ इति । वसिष्ठ ऋषिः । आदितोऽष्टौ विराजो नवमी त्रिष्टुप् । इन्द्रो देवता । दशरात्रे चतुर्थेऽहनि निष्केवल्यशस्त्रे ‘ पिबा सोममिन्द्र ’ इति षट् स्तोत्रियानुरूपौ । सूत्रितं च—‘ वैराजं चेत्यृष्टं पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति षट् स्तोत्रियानुरूपौ ’ ( आश्व. श्रौ. ७. ११ ) इति । महाव्रतेऽपि निष्केवल्य आद्याः षट्चः । सूत्रितं च—‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति षट् ’ ( ऐ. आ. ५. ३. १ ) इति । आद्या निष्केवल्यशस्त्रयाज्या । सूत्रितं च—‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति याज्या ’ ( आश्व. श्रौ. ५. १५ ) इति । चतुर्थेऽहनि माध्यंदिनसवने होत्रकशस्त्रेषु सप्त विराजर्षी-स्तृचान् कृत्वैकैकस्तृचः शंसनीयः । तत्र ‘ न ते गिरः ’ इत्याद्याश्रतस्र ऋचः । सूत्रितं च—‘ न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य प्र वो महे महिवृधे भरध्वम् ’ ( आश्व. श्रौ. ७. ११ ) इति ॥

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्षश्चाद्रिः ।

सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥

पिब । सोमम् । इन्द्र । मन्दतु । त्वा । यम् । ते । सुसाव । हरिऽअश्च । अद्रिः ।

सोतुः । बाहुऽभ्याम् । सुयतः । न । अर्वा ॥ १ ॥

हे ऽइन्द्र ऽसोमं ऽपिब । स सोमः ऽत्वा त्वां ऽमन्दतु मादयतु । हे ऽहर्षश्च ऽते त्वदर्थं ऽसोतुः अभिपवकर्तुः ऽबाहुभ्याम् ऽअर्वा ऽन रश्मिभ्यामश्च इव ऽसुयतः सुष्टु परिगृहीतः ऽअद्रिः ग्रावा ऽयं सोमं ऽसुपाव ॥

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्षश्च हंसि ।

स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

यः । ते । मदः । युज्यः । चारुः । अस्ति । येन । वृत्राणि । हरिऽअश्च । हंसि ।

सः । त्वाम् । इन्द्र । प्रभुवसो इति प्रमुऽवसो । ममत्तु ॥ २ ॥

हे ऽहर्षश्च ऽते तव ऽयः<sup>१</sup> ऽयुज्यः अनुगुणः ऽचारुः समीचीनः ऽमदः मदकरः सोमः ऽअस्ति विद्यते ऽयेन च पीतेन सोमेन ऽवृत्राणि ऽहंसि हे ऽप्रभूवसो प्रभूतधन ऽइन्द्र ऽत्वां ऽसः सोमः ऽममत्तु मादयतु ॥

वोधा सु मे मघवन्वाचमेसां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।

इमा ब्रह्म सधमादे जुपस्व ॥ ३ ॥

१ध्रुवस्या अरच्छया १ब्रह्माणि स्तोत्राणि हवींषि च इन्द्रायन् १उत् १एत १स्य ऋष्य इति शेष । १उ इति पूरण । ह १वसिष्ठ त्वनपि १समय यने १इन्द्र १मह्य स्तोत्राणि हविषा च पूतय । अपि च १ध इन्द्र १विधानि भुवनानि १शवमा रलेन १आ १ततान स १इवन उपाननवत १म नम १वचामि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि १उपगता भवतु ॥

अयामि धोषे इन्द्र देवजांमिरिज्यन्त यच्छुभो विषाचि ।

नहि स्वमार्युश्चिकित्ते जनैषु तानीदंहास्यति पर्यस्मान् ॥ २ ॥

अयामि । धोषे । इन्द्र । देवजाभि । इत्यन्त । यत् । शुभ । तदवाचि ।

नहि । स्वम् । आर्षु । । चक्रुत । जनैषु । तानि । इत् । अहाम । नति । परि । स्मान् ॥२॥

१यत् यदा १शुभ । शुच रूपताति पुरुष नापथ्य । १इत्यन्त वधन्त तदा ह १इन्द्र त्वदर्थं १विवाचि स्तानरि १देवजामि देवाना इन्नु १घाय । स्तुतिरूप रज्या गाय । १अजामि अकारि । अपि च १वनपु मध्य कनापि १स्वनायु स्वभावित १नहि १चिकित न ज्ञानत । धै १आयु धीयते १तानात् तानि सवाप्यव १अहामि पापानि १स्मान् १अति १पाप अतिशय ॥

युजे रथं गोपेणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषामस्युः ।

वि वाधिष्ट स्य रोदसी महित्सेन्द्रो वृत्राप्यप्रती जघन्वान् ॥ ३ ॥

युजे । रथम् । गोऽपेणम् । हरिऽन्याम् । उपे । ब्रह्माणि । जुजुषाम् । अस्युः ।

वि । वाधिष्ट । स्य । रोदसा गति । महिऽत्वा । इन्द्र । वृत्राणि । अप्रति । जघन्वान् ॥३॥

१गवपण गवा प्रापकमिन्द्रस्य १रथ १हरिभ्याम् इन्द्रग्राह्या १उप स्तोत्रह पुनग्नि । १ब्रह्माणि स्तोत्राणि १जुजुषाम परिचारे सव्यनानमिन्द्रम् १उप १अस्यु उपातिष्ठन् । १स्य माऽय मिन्द्र १महित्वा नहत्यन १रोदसी चावापृथिन्या १वि १वाधिष्ट स्ववाधिष्ट च । अपि च १इन्द्र १वृत्राणि जघ्नून् अप्रतिद्वन्द्वानि १वघन्वान् हतवान् ॥

आपश्चित्पिपुः स्तुर्योऽं न गावो नक्षत्रं जरितारस्त इन्द्र ।

याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि राजान् ॥ ४ ॥

आप । चित् । पिपु । स्तय । न । गाव । नक्षत्रम् । जरितार । त । इन्द्र ।

याहि । वायु । न । निऽयुत । न । अच्छ । त्वम् । हि । धीभि । दयसे । वि । राजान् ॥४॥

ह इन्द्र त्वप्रसादात् १आपश्चित् आप १स्तया १न १गाव स्तया वशा गाव इय १पिपु वधन्ताम् । अपसूता गावा मासला भवन्ति हि । १त तय १जरितार स्तोत्रात् १स्तम् उदक १नक्षत्रं व्याप्नुवन् । अपि च त्व १न अस्मान् १नियुत १वायुन वायुरिव १अच्छ १याहि अभियाहि । १त्व ह हि १धीभि प्रज्ञाभि कननिर्वा १वाचान् अज्ञानि १वि १दयसे स्तान्भ्य प्रयच्छसि ॥

१. ज-ऐरत प्रेरितवत् । २ त-राज्ञान् । ३ त-न भ श स्व पावतम् । ४ ख-भ-सेव्यमिन्द्रम् । ५ ख-अप्रतिद्वन्द्वानौ क्ष-प्रातद्वन्द्वानि न भ इति द्वन्द्वानि ।

तुभ्येदिमा सर्वना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि ।  
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ ७ ॥

तुभ्यं । इत् । इमा । सर्वना । शूर । विश्वा । तुभ्यम् । ब्रह्माणि । वर्धना । कृणोमि ।  
त्वम् । नृभिः । हव्यः । विश्वधा । असि ॥ ७ ॥

हे वशूर वतुभ्येत् तुभ्यमेव वइमा इमानि विश्वा विश्वानि वसवना सोमाभिपवणानि मया  
क्रियन्त इति शेषः । वतुभ्यं त्वदर्थमेव वर्धना वर्धनानि वब्रह्माणि स्तोत्राणि वकृणोमि करोमि ।  
वत्वम् एव वनृभिः यजानां नेनृभिः विश्वधा सर्वप्रकारैः वहव्यः ह्यातव्यः स्तुत्यो वा असि ॥

नू चिन्तु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्रुवन्ति महिमानमुग्र ।  
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ ८ ॥

नु । चित् । नु । ते । मन्यमानस्य । दस्म । उत् । अश्रुवन्ति । महिमानम् । उग्र ।  
न । वीर्यम् । इन्द्र । ते । न । राधः ॥ ८ ॥

हे वदस्म दर्शनीय मन्यमानस्य स्तूयमानस्य वते तव महिमानम् । नू चिदिति प्रति-  
पेधार्थः । वनु क्षिप्रं वनू वचित् वउदश्रुवन्ति केचन न प्राप्नुवन्ति । हे वउग्र उदूर्णं वते तव  
वराधः धनं वन उदश्रुवन्ति ॥

ये च पूर्वं ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ।

अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ९ ॥

ये । च । पूर्वं । ऋषयः । ये । च । नूत्नाः । इन्द्र । ब्रह्माणि । जनयन्त । विप्राः ।  
अस्मे इति । ते । सन्तु । सख्या । शिवानि । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ ९ ॥

वये वच वपूर्वं प्राक्तनाः वऋषयः वये वच वनूत्नाः वनूत्नाः वविप्राः मेधाविन ऋषयः  
वब्रह्माणि स्तोत्राणि वजनयन्त अजनयन्त तेष्विव वअस्मे अस्मास्वपि हे वइन्द्र वते तव वसख्या  
सख्यानि वशिवानि भद्राणि वसन्तु । स्पष्टमन्यत् ॥ ६ ॥

‘उदु ब्रह्माणि’ इति पठुच्चं पठं सूक्तं वसिष्ठस्यार्पं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । अनुक्रम्यते च— ‘उदु  
पट्’ इति । अग्निष्टोमे माध्यंदिने सवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र एतस्सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्य-  
जीषी वज्री वृषभस्तुरापाळिति याज्या’ ( आश्व. श्रौ. ५. १६ ) इति । चालुर्विशिकेऽहनि माध्यंदिन-  
सवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र एतदहरहःशस्यसंज्ञकं सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्यभि तष्टेवेतीतरावह-  
रहःशस्ये’ ( आश्व. श्रौ. ७. ४ ) इति । अहर्गणेषु द्वितीयादिष्वहःसु एतदेव सूक्तम् । महाव्रतेऽपि  
निष्केवल्य एतस्सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या ते मह इन्द्रोत्पुयेति पञ्च सूक्तानि’  
( ऐ. आ. ५. २. २ ) इति ॥

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।

आ यो विश्वानि शर्वसा ततानोपश्रोता म ईर्वतो वचांसि ॥ १ ॥

उत् । ऊँ इति । ब्रह्माणि । ऐरत । श्रवस्या । इन्द्रम् । सऽमर्ये । महय । वसिष्ठ ।

आ । यः । विश्वानि । शर्वसा । ततान । उपऽश्रोता । मे । ईर्वतः । वचांसि ॥ १ ॥

गृभीतम् । ते । मन । इन्द्र । द्विऽवर्हाः । सुत । सोम । परिऽसिक्ता । मधूनि ।  
विऽसृष्टऽधेना । भरते । सुऽनुक्ति । इयम् । इन्द्रम् । जोहुंती । मनीषा ॥ २ ॥

हे १इन्द्र १द्विवर्हा । पृथ्व्यं प्रथमा । द्विवर्हा द्वयो स्थानयो १ परिऽसृष्टस्य १ते तत्र १मन  
१गृभीतम् अस्माभि परिगृहीतम् । १सोम च १सुत अभिपुत । १मधूनि च १परिऽसिक्ता पात्रेषु  
परिऽसिक्तानि । १विऽसृष्टधेना विऽसृष्टजिह्वा मध्यमस्वरेणोच्चार्यमाणा १सुऽनुक्ति सुसमाप्ति १इय  
१मनीषा स्तुति १इन्द्र १जोहुवती शृशनाह्वयन्ती १भरते सन्निधये च ॥

आ नो दिव आ पृथिव्या ऋजीपिन्निदं बर्हिः सोमपेयाय याहि ।

वहन्तु त्वा हरयो मद्यञ्चमाङ्गुपमच्छा त्वसं मदाय ॥ ३ ॥

आ । न । दिव । आ । पृथिव्या । ऋजीपिन् । इदम् । बर्हि । सोमपेयाय । याहि ।  
वहन्तु । त्वा । हरय । मद्यञ्चम् । आङ्गुपम् । अच्छ । त्वसम् । मदाय ॥ ३ ॥

हे १ऋजीपिन् इन्द्र १न अस्माकम् १इदं बर्हि इम यज्ञ १सोमपेयाय १दिव स्वर्गात् १आ  
१याहि आगच्छ । १पृथिव्या अन्तरिक्षाच्च । आप पृथिवी १ इत्यन्तरिक्षनामसु पाप्मात् । १आ  
याहि । अपि च १तवस प्रतुद्ध बलवन्त वा १मद्यञ्च मदभिमुख १त्वा त्वाम् १आङ्गुप स्तोत्रम्  
१अच्छ अभि १मदाय मदार्य १हरय अथा १वहन्तु ॥

आ नो विश्वाभिरुतिभिः सजोषा ब्रह्म जुषाणो हर्यश्च याहि ।

वरीवृजत्स्थविरेभिः सुशिप्रास्मे दधद्वृषणं शुष्ममिन्द्र ॥ ४ ॥

आ । न । विश्वाभि । ऊतिभि । सजोषा । ब्रह्म । जुषाण । हरिऽअश्च । याहि ।  
वरीवृजत् । स्थविरेभि । सुऽशिप्र । अस्मे इति । दधत् । वृषणम् । शुष्मम् । इन्द्र ॥ ४ ॥

हे १हर्यश्च हरिनामकाश्च १सुशिप्र शोभनहनो १इन्द्र १विश्वाभि सर्वाभि १ऊतिभि रक्षाभि  
१सजोषा सगत १स्थविरेभि वृद्धैर्मरिद्धि सह १वरीवृजत् नानु शृश हिंसत् १अस्मे अस्मभ्य १वृषण  
कामाना वपितार १शुष्म बलवन्त पुत्र १दधत् प्रयच्छन् १ब्रह्म स्तोत्र १जुषाण सेवमान १न  
अस्मान् १आ १याहि ॥

एष स्तोमो मह उग्राय वाहे धुरीव्वात्यो न वाजयन्नधायि ।

इन्द्र त्वायमर्क ईहे वसूनां दिवीव दामर्धि नः श्रोमतं धाः ॥ ५ ॥

एष । स्तोम । मह । उग्राय । वाहे । धुरीऽव । अत्य । न । वाजयन् । अधायि ।  
इन्द्र । त्वा । अयम् । अर्क । ईहे । वसूनाम् । दिविऽव । दाम् । अधि । न । श्रोमतम् । धा ॥ ५ ॥

१मह महते १उग्राय उद्गूर्णाय आत्स्वने वा १वाह विश्वस्य वोद् इन्द्राय १धुरीव रथस्य  
१वत्यो १न अथ इव १वाजयन् बल कुर्वन् १एष १स्तोम १अधायि व्यधायि । अथ प्रत्यक्षस्तुति ।  
हे १इन्द्र य त्वाम् १अयमर्क स्तोता १वसूना वसूनि धनानि १इहे याचते स त्व १न अस्मासु १धा  
१दिवीव १श्रोमत श्रवणीयमद्य पुत्र वा १अधि १धा अधिधेहि ॥

१. न-स्थानयो । तथा च निरुक्त-‘परिऽसृष्टो मध्यमे च स्थाने उत्तमे च’ (निब. १. १७) ।

२. श-प्रयच्छस्त्वम् ।

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविरार्धसं जरित्रे ।

एको देवत्रा दयसे हि मर्तान् अस्मिञ्छूर सर्वने मादयस्व ॥ ५ ॥

ते । त्वा । मदाः । इन्द्र । मादयन्तु । शुष्मिणम् । तुविऽरार्धसम् । जरित्रे ।

एकः । देवऽत्रा । दयसे । हि । मर्तान् । अस्मिन् । शूर । सर्वने । मादयस्व ॥ ५ ॥

हे इन्द्र इत्वा त्वां वते एते मदाः मदकराः सोमाः मादयन्तु । अपि च जरित्रे स्तोत्रे शुष्मिणं बलवन्तं तुविरार्धसं बहुधनं पुत्रं प्रयच्छतीति शेषः । हे शूर त्वं देवत्रा देवेषु एकः एव मर्तान् मनुष्यान् दयसे हि । दयतिरनुकम्पार्थः । अस्मिन् सर्वने यज्ञे मादयस्व ॥

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यकैः ।

स नः स्तुतो वीरवद्भ्रातु गोमद्वयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । इत् । इन्द्रम् । वृषणम् । वज्रऽबाहुम् । वसिष्ठासः । अभि । अर्चन्ति । अकैः ।

सः । नः । स्तुतः । वीरऽवत् । धातु । गोऽमत् । युयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

वसिष्ठासः वसिष्ठाः वज्रबाहुं वज्रकल्पबाहुं वृषणं कामानां वर्षितारम् इन्द्रम् एवेत् उक्तेन प्रकारेणैव अकैः अर्चनीयैः स्तोत्रैः अभ्यर्चन्ति अभिपूजयन्ति । स्तुतः सः इन्द्रः नः अस्मभ्यं वीरवत् पुत्रादियुक्तं गोमत् गोयुक्तं च धनं धातु ददातु । स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

‘ योनिष्ट इन्द्र सदाने अकारि ’ इति षडृचं सप्तमं सूक्तं वसिष्ठस्यार्थं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । अनुक्रम्यते च—‘ योनिः ’ इति । महाव्रते निष्केवल्य एतत्सूक्तम् । सूत्रितं च—‘ योनिष्ट इन्द्र सदाने अकारीत्ये- तस्य चतस्रः शस्वोत्तमासुपसंतत्योपोत्तमया परिदधाति ’ ( ऐ. आ. ५. ३. १ ) इति ॥

योनिष्ट इन्द्र सदाने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।

असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥ १ ॥

योनिः । ते । इन्द्र । सदाने । अकारि । तम् । आ । नृभिः । पुरुऽहूत । प्र । याहि ।

असः । यथा । नः । अविता । वृधे । च । ददः । वसूनि । ममदः । च । सोमैः ॥ १ ॥

हे इन्द्र वते तव सदाने सदानार्थं योनिः स्थानम् अकारि । हे पुरुहूत नृभिः मरुद्भिः सार्धं वतं योनिम् आ प्र याहि । नः अस्माकं यथा अविता रक्षिता असः भवसि नोऽस्माकं वृधे वर्धनाय च असः । तथा च वसूनि ददः अस्मभ्यं देहि । सोमैः अस्मदीयैः ममदः मादयस्व च ॥

गृभीतं ते मन इन्द्र द्विवर्हीः सुतः सोमः परिषिक्त्वा मधूनि ।

विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिरियमिन्द्रं जोहुवती मनीषा ॥ २ ॥

शतम् । ते । शिप्रिन् । ऊतय । मुऽदाने । सुहस्रम् । शर्मा । उत । रानि । अस्तु ।  
जहि । यथ । नुतय । मर्त्यस्य । अस्मे इति । युन्नन् । अपि । रानम् । च । गेह ॥३॥

हे ऽशिप्रिन् उष्णापित्रिन्द्र ऽते त्वदाया ऽशत उद्धर ऽउतय रक्षा ऽमुदास शान्तदानाना  
मद्य सन्तु । ऽसहस्र ऽशता शसनाग कामाश्च सन्तु । ऽउत अपि च रानि जनम् ऽस्तु ।  
ऽवनुप हिस्रस्य ऽमर्त्यस्य ऽयथ हिमामाधनमायुध च ऽजहि । अपि च ऽजन्म ऽअपि जन्मानु  
ऽयुन्न दीप्तिमदत्र यशो वा ऽरत्न ऽच ऽधेहि । तथा च यास्क — ' युन्न योततेयशा वात्र रा । अन्न  
युन्नमधि रत्न च धेहि । अस्मासु युन्न च रत्न च धेहि ' ( निरु ५ ५ ) इति ॥

त्वार्वतो हीन्द्र ऋत्वे अस्मि त्वार्वतोऽवितुः शूर रातो ।

विश्वेदहानि तमिपीर उग्रं ओकः कृणुष्व हरिरो न मर्धीः ॥ ४ ॥

त्वाऽर्त । हि । इन्द्र । ऋत्वे । अस्मि । त्वाऽर्त । अवितु । शूर । रातो ।

विश्वी । इत् । अहानि । तमिपीऽत् । उग्र । ओक । कृणुष्व । हरिऽत् । न । मर्धी ॥४॥

इ ऽइन्द्र ऽस्वावत त्वत्पदशस्य ऽऋत्वं कर्मणे ऽअस्मि भवामि ऽहि । इ ऽशूर ऽअवितु  
विश्वस्य रक्षितु ऽस्वावत त्वत्पदशस्य ऽशर्तो दान चास्माति शप । इ ऽतत्रिपीर वन्वन् ऽउग्र  
ओनस्विभिन्द्र १ ऽविश्वेत् विश्वान्येव ऽअहानि ऽओक ऽस्माक स्यान् ऽकृणुष्व उरु । इ ऽहरि  
हरिवन् ऽन ऽमर्धी अस्माक हिस्या ॥

कुत्सा एते हर्यश्वाय शूपमिन्द्रे सहो देवर्जूतमियाः ।

सत्रा कृधि सुहर्ना शूर वृत्रा वयं तरुत्राः सनुयाम वाजम् ॥ ५ ॥

कुत्सा । एते । हरिऽअश्वाय । शूपम् । इन्द्रे । सह । देवऽइन्द्रम् । इयाना ।

सत्रा । कृधि । सुऽहर्ना । शूर । वृत्रा । वयन् । तरुत्रा । सनुयाम । वाजम् ॥ ५ ॥

ऽएते ऽवय वसिष्ठा ऽहर्यश्वाय हरिनामकाश्वान्द्राय ऽशूप सुखकर स्तात्र ऽकुत्सा कुवाजा ।  
करोते कुत्सशब्दनियत्ति । ऽइन्द्रे ऽदवभूत दवै प्रेरित ऽसह बलम् ऽइयाना याचनाना ऽतरुत्रा  
दुगाणि तीर्णा सन्त ऽवाच बल ऽसनुयाम लभेमहि । अपि च इ ऽशूर ऽवृत्रा वृत्राणि शनून्  
ऽसुहर्ना हन्तु मुशकानि ऽसत्रा सवदा ऽकृधि कुरु ॥

एषा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम ।

इषं पिन्व मध्वत्ऽभ्यः सुवीरौ यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । न । इन्द्र । वार्यस्य । पूर्धि । प्र । ते । महीम् । सुऽमतिम् । वेविदाम ।

इषम् । पिन्व । मध्वत्ऽभ्य । सुऽवीराम् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभि । सदा । न ॥६॥

इय व्याख्यातचरा ॥ ॥ ९ ॥

' न सोम इन्द्रम् ' इति पञ्चमं नवमं सूक्तं वसिष्ठस्यापि ग्रहभर्मन्द्रम् । तथा चानुक्रम्यते—  
' न सोम पद्य ' इति । महाव्रत उक्तो विनियोग ॥

१ श-तेजस्विभिन्द्र ।

एवा न इन्द्र वार्यस्य पूधिं प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम ।

इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । नः । इन्द्र । वार्यस्य । पूधिं । प्र । ते । महीम् । सुऽमतिम् । वेविदाम् ।

इषम् । पिन्व । मघवत्ऽभ्यः । सुऽवीराम् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र वनः अस्मान् एव एवं वार्यस्य । तृतीयाथे षष्ठी । वरणीयेन धनेन पूधिं पूय ।  
ते तव महीं महतीं सुमतिम् अनुग्रहबुद्धिं वेविदाम भृशं लभेमहि । मघवद्भ्यः हविष्मद्भ्यो-  
ऽस्मभ्यं सुवीरां शोभनपुत्रादियुताम् इषम् अन्नं पिन्व प्रयच्छेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ॥ ८ ॥

‘ आ ते मह इन्द्र ’ इति षडृचमष्टमं सूक्तं वसिष्ठस्यार्थं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । ‘ आ ते ’ इत्यनुक्रान्तम् ।  
महाव्रते निष्केवल्य इदमादीनि पञ्च सूक्तानि । सूत्रितं च—‘ आ ते मह इन्द्रोत्युग्रेति पञ्च सूक्तानि ’  
( ऐ. आ. ५. २. २ ) इति ॥

आ ते मह इन्द्रोत्युग्र समन्यवो यत्समरन्त सेनाः ।

पताति दिद्युन्नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विष्वद्वक् वि चारीत् ॥ १ ॥

आ । ते । महः । इन्द्र । ऊती । उग्र । सऽमन्यवः । यत् । सम्ऽअरन्त । सेनाः ।

पताति । दिद्युत् । नर्यस्य । बाह्वोः । मा । ते । मनः । विष्वद्वक् । वि । चारीत् ॥ १ ॥

हे उग्र उद्गूर्ण ओजस्विन् इन्द्र यत् यदा समन्यवः । समो मन्युरभिमानो यासां ताः  
समन्यवः । सेनाः समरन्त युध्यन्ते संगच्छन्ते वा तदा नर्यस्य नरहितस्य महः महतः ते  
तव बाह्वोः स्थिता दिद्युत् आयुधम् । ‘ दिद्युत् हेतिः ’ इति वज्रनामसु पाठात् । ऊती ऊत्यै  
अस्मद्रक्षायै आ पताति आपततु । तव<sup>२</sup> विष्वद्वक् विष्वगन्तु मनः च मा वि चारीत्  
अस्मास्वेव स्थिरं भवतु ॥

नि दुर्ग इन्द्र श्रथिह्यमित्रानभि ये नो मर्तासो अमन्ति ।

आरे तं शंसं कृणुहि निनित्सोरा नो भर संभरणं वसूनाम् ॥ २ ॥

नि । दुःऽगे । इन्द्र । श्रथिहि । अमित्रान् । अभि । ये । नः । मर्तासः । अमन्ति ।

आरे । तम् । शंसम् । कृणुहि । निनित्सोः । आ । नः । भर । सम्ऽभरणम् । वसूनाम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र दुर्गे युद्धे ये मर्तासः मर्ताः अभि अभिमुखाः सन्तः नः अस्मान् अमन्ति  
अभिभवन्ति तान् अमित्रान् शत्रून् नि श्रथिहि निजहि । अपि च निनित्सोः अस्मान्निन्दतु-  
मिच्छतो नरस्य तं शंसम् आशंसनम् आरे दूरे कृणुहि कुरु । अपि च नः अस्मभ्यं वसूनां  
धनानां संभरणं समूहम् आ भर आहर ॥

शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासै सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु ।

जहि वर्ध्वनुपो मर्त्यस्यास्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि ॥ ३ ॥

एव । तम् । आहु । उत । शृण्वे । इन्द्र । एक । त्रिऽभक्ता । तरणि । मघानीम् ।  
मिथुऽतुर । ऊतये । यस्य । पूर्वा । अस्मे इति । भद्राणि । सध्वत । प्रियाणि ॥ ४ ॥

यस्य इन्द्रस्य मिथ परस्पर तुर वाधमाना सक्षिणा वा पूर्वा पूष्या बहुव्य उतय रक्षा सन्ति तम् एव एवमुक्तगुणम् आहु एव रूपय । उत अपि चाद्यापि स इन्द्र मघाना महनीयाना घनाना विभक्ता दाता इति तरणि आपदस्तारयितेति एव ध्रुयते । तस्य च प्रसादान् अस्मे अस्मान् प्रियाणि भद्राणि कत्याणानि सध्वत सेत्रन्ताम् ॥

एवा वसिष्ठ इन्द्रमृतये नृन्कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति ।

सहस्रिण उपे नो माहि वाजान्पूयं पात स्वस्तिभिः सर्दा नः ॥ ५ ॥

एव । वसिष्ठ । इन्द्रम् । ऊतये । नृन् । कृष्टीनाम् । वृषभम् । सुते । गृणाति ।

सहस्रिण । उपे । न । माहि । वाजान् । पूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सर्दा । न । ॥ ५ ॥

वसिष्ठ नृन् नृणाम् । पञ्चम्ये द्वितीया । उतये रक्षायै कृष्टीना प्रचाना वृषभ कामाना वरिणारम् इन्द्रम् एव एव पूर्वोक्तप्रकारेण गृणाति स्ताति । अथ प्रत्यक्षस्तुति । ह इन्द्र न अस्मभ्य सहस्रिण सहस्रसत्याकान् वाजान् अन्नानि उपे माहि । प्रयच्छेयथ । स्पष्ट मन्यत् ॥ ॥ १० ॥

‘ इन्द्र नर ’ इति पञ्चमं दशम सूक्त वसिष्ठस्यायं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । ‘ इन्द्र नर ’ इत्यनुक्रान्तम् । महाप्रते निष्केवप्य एतःसूक्तसुक्त तृतीयत्वेन । ऐन्द्रे पशौ वषापुराडादाहत्रिपामाद्यास्तिस्र क्रमेणानु वास्या । सूत्रित च—‘ इन्द्र नरो नमधिता हवन्त इत्युरु’ ना लोकमनु नेयि विद्वान्’ ( आश्र श्री ३ ७ ) इति ॥

इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।

शूरो नृपाता शर्वसश्चकान आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥ १ ॥

इन्द्रम् । नर । नेमधिता । हवन्ते । यत् । पार्या । युनजते । धिय । ता ।

शूर । नृऽपाता । शर्वस । चकान । आ । गोऽमति । व्रजे । भजा । त्वम् । न । ॥ १ ॥

यत् यदा पार्या युद्धभरणनिमित्ता ता प्रसिद्धा धिय कर्माणि युनतत प्रयुज्यन्ते तदा नर नेतार यम् इन्द्र नेमधिता नमधितौ सप्रामे हवन्ते ह्यन्ति स एव शूर नृपाता नृणा सभक्ता च शर्वस बलस्य बले चकान कामयमानश्च सन् गोमति व्रजे गाधे गोसमूहे न अस्मान् वा भज प्रापय ॥

१ इ-इति तिल उद्धम् । २ ख न-न भ श- तदा नरो नेतारो यमिन्द्र हवन्ते त-य-नेमधिता नेमधितौ सप्रामे नर कर्मणा नेतार इन्द्र हवन्त आह्वयतास्वर्थ । यमिन्द्र हवन्ते । ३ ख इ भ-श- ‘ गोमति प्रापय ’ नास्ति, घ- न अस्माक गोमति गोनुक्ते व्रजे गोष्ठे गोष्ठमाभज सरक्ष, इ-गोमति गाव सन्त्यस्मिन्निति गोमत् तस्मिन् व्रजे गोष्ठे समूहे नोऽस्मानाभज प्रापय, त-गामति गाव सन्त्यस्मिन्निति गोमत् व्रजे गोष्ठे समूहे नोऽस्माना भज प्रापय, य-गोमति व्रजे नोऽस्माना भज देहात्यर्थ ।



न सोम इन्द्रमसुतो ममाद् अब्रह्माणो मघवानं सुतासः ।

तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद्यथा नः ॥ १ ॥

न । सोमः । इन्द्रम् । असुतः । ममाद् । न । अब्रह्माणः । मघवानम् । सुतासः ।

तस्मै । उक्थम् । जनये । यत् । जुजोषत् । नृवत् । नवीयः । शृणवत् । यथा । नः ॥ १ ॥

मघवानं धनवन्तम् इन्द्रम् असुतः नाभिषुतः सोमः न ममाद् न तर्पयति । सुतासः अभिषुता अपि सोमाः अब्रह्माणः स्तोत्रहीनाः न ममदुः । ममाद् इत्येतदाख्यातं बहुवचनान्ततया विपरिणतं सदत्र संबध्यते । अत एव त्रिष्वपि सवनेषु पावमानैः स्तोत्रैः स्तुता एव सोमा ह्यन्ते । अपि च नः अस्मदीयं यत् उक्थम् इन्द्रः जुजोषत् सेवेत यथा च नृवत् राजेवादरेण शृणवत् शृणुयात् तथा नवीयः नवतरम् उक्थं शस्त्रं तस्मै इन्द्राय जनये । पठामीत्यर्थः ॥

उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद् नीथेनीथे मघवानं सुतासः ।

यदी सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते ॥ २ ॥

उक्थेऽउक्थे । सोमः । इन्द्रम् । ममाद् । नीथेऽनीथे । मघवानम् । सुतासः ॥

यत् । ईम् । सबाधः । पितरम् । न । पुत्राः । समानदक्षाः । अवसे । हवन्ते ॥ २ ॥

यत् यस्मात् उक्थेउक्थे शस्त्रेशस्त्रे क्रियमाणे सोमः मघवानम् इन्द्रं ममाद् मादयति नीथेनीथे स्तोत्रेस्तोत्रे क्रियमाणे सुतासः अभिषुताः सोमाः मादयन्ति तस्मात् ईम् एनमिन्द्रं सबाधः परस्परं मिलिताः समानदक्षाः समानोत्साहा ऋत्विजः पुत्राः पितरं न पितरमिव अवसे तर्पणाय स्वरक्षणाय वा हवन्ते । शस्त्रैः स्तोत्रैश्च स्तुवन्ति ॥

चकार ता कृणवन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु ।

जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः ॥ ३ ॥

चकार । ता । कृणवत् । नूनम् । अन्या । यानि । ब्रुवन्ति । वेधसः । सुतेषु ।

जनीःऽइव । पतिः । एकः । समानः । नि । मामृजे । पुरः । इन्द्रः । सु । सर्वाः ॥ ३ ॥

वेधसः स्तोत्राणां विधातारः सुतेषु सोमेष्वभिषुतेषु यानि कर्माणि ब्रुवन्ति तानि ब्रुवथादीनि कर्माणीन्द्रः पूर्वस्मिन् काले चकार । नूनं संप्रत्यपि अन्या अन्यानि कर्माणि इणवत् कुर्यात् । अपि च सः इन्द्रः सर्वाः पुरः शत्रुनगरीः समानः समवृत्तिः एकः इत्याहः पतिः जनीरिव जाया इव सु नि मामृजे सम्यक् शोधयेत् ॥

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम् ।

निस्तुर ऊतयो यस्य भद्राणि सश्वत प्रियाणि ॥ ४ ॥

‘ एकः असहायः ’ नास्ति ।

शतम् । ते । शिग्रिन् । ऊतय । सुऽदामै । सहस्रम् । शसा । उत । राति । अस्तु ।  
जहि । वध । वनुप । मर्त्यस्य । अस्मे इति । युन्नन् । अधि । रनम् । च । धेह ॥३॥

हे १ शिग्रिन् उष्णापिचिन्द्र १ ते चदाया १ वसत बह्व्य १ ऊतय रक्षा १ सुदास शामनदानाय  
मद्य सन्तु । १ सहस्र १ शसा शसनाया कामाऽ सन्तु । १ उत अपि च १ राति धनम् १ अस्तु ।  
१ वनुप हिसकस्य १ मर्त्यस्य १ वध । हसासाधनमायुध च १ जहि । अपि च १ रनम् १ अत्रि अस्मानु  
१ युन्न दीक्षिमद्व यशो वा १ रन १ च १ धेहि । तथा च यास्क — ' युन्न घानतेयसा वात्र रा । अस्मे  
युन्नमधि रन च धेहि । अस्मानु युन्न च रन च धेहि ' ( निरु ५. ५ ) इति ॥

त्वारंतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्पारंतोऽवितुः शूर रातौ ।

विश्वेदहानि तत्रिपीव उग्रं ओकः कृणुष्व हरिषो न मर्धाः ॥ ४ ॥

त्वाऽरंत । हि । इन्द्र । न र्थै । अस्मि । त्वाऽरंत । अत्रितु । शूर । रातौ ।

विधा । इत् । अहानि । तत्रिपीऽन् । उग्र । ओक । कृणुष्व । हरिऽव । न । मर्धा ॥४॥

हे १ इन्द्र १ त्वावत त्वत्सदृशस्य १ क्रत्वे कमणे १ अस्मि भवामि १ हि । हे १ शूर १ अवितु  
विश्वस्य रक्षितु १ त्पावत त्वत्सदृशस्य १ राता दान चास्माति शेष । हे १ त्रिपाव बलवन् १ उग्र  
ओत्स्विचिन्द्र १ विश्वेत् विश्वान्येव १ अहानि १ आक अस्माक स्थान १ कृणुष्व करु । हे १ हरिव  
हरिवन् १ न १ मर्धा अस्माच्च हिंस्या ॥

कुत्सा एते हर्यश्वाय शूपमिन्द्रे सहो देवर्जतभियाः ।

सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा युयं तरुत्राः सनुयाम् वार्जम् ॥ ५ ॥

कुत्सा । एते । हरिऽअश्वाय । शूपम् । इन्द्रै । सह । देवऽर्जतम् । इयाना ।

सत्रा । कृधि । सुऽहना । शूर । सत्रा । युयम् । तरुत्रा । सनुयाम् । वार्जम् ॥ ५ ॥

१ एते १ वय वसिष्ठा १ हर्यश्वाय हरिनामकाश्वयेन्द्राय १ शूप सुखकरं स्तात्र १ कुत्सा कुत्राणा ।  
करोते कुत्सशब्दनिष्पत्ति । १ इन्द्रे १ देवर्जत दैवै प्ररित १ सह बलम् १ इयाना याचमाना १ तत्रा  
दुगाणि तार्णा सन्त १ वान बल १ सनुयाम लभेमहि । अपि च हे १ शूर १ वृत्रा वृत्राणि शत्रून्  
१ सुहना हन्तु सुशकानि १ सत्रा सर्वदा १ कृधि करु ॥

एवा न इन्द्र वार्यस्य पृथि प्र ते महीं सुमतिं वैविदाम ।

इयं पिन्व मध्वत्ऽभ्यः सुवीरां युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । न । इन्द्र । वार्यस्य । पृथि । प्र । ते । महींम् । सुऽमतिम् । वैविदाम ।

इयम् । पिन्व । मध्वत्ऽभ्य । सुऽवीराम् । युयम् । पात । स्वस्तिऽभि । सदा । न ॥६॥

इयं व्याख्यातचरा ॥ ॥ ९ ॥

' न सोम इन्द्रम् ' इति पञ्चवं नवमं सूक्त वसिष्ठस्यापे प्रथममन्द्रम् । तथा चानुग्म्यते—

' न साम पञ्च ' इति । महाव्रत उक्ता विनियोग ॥

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । अभिजानासि देवदत्त यत् कदमीरेषु  
वत्स्यामः । यत् कदमीरेष्वसाम । यत्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । यत्तत्रौदनम-  
भुञ्जमहि । अप्राप्ते । अभिजानासि देवदत्त कदमीरान् गमिष्यामः । कदमी-  
पतगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । तत्रौदनमभुञ्जमहि ।

विभाषा श्वेः ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

कितीति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । शुशुवतुः, शुशुनुः । शिश्वियतुः, शिश्वियुः ।  
अप्राप्ते । शुशाव, शुशविथ । शिश्वाय, शिश्वयिथ ।

पर निषेध का विकल्प मानें और यद् के योग में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा साक्षात्के  
को बाध कर न यदि की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से न यदि  
को बाध कर विभाषा साक्षात्के की प्रवृत्ति मानें तो यद् योग में प्राप्त तद्धिन्न में  
अप्राप्त होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा साक्षात्के यद् उभयत्र विभाषा है । प्राप्त अप्राप्त दोनों में विकल्प  
होता है । प्राप्त में जैसे—अभिजानासि देवदत्त यत् कदमीरेषु वस्यामः, अवसाम ।  
यत् तत्र दन भोक्ष्यामहे, अभुञ्जमहि । यहाँ यद् के योग में प्राप्त निषेध का विकल्प  
हो जाता है । लृट् और लङ् दोनों का प्रयोग होता है । अप्राप्त में जैसे—अभिजानासि  
देवदत्त कदमीरान् गमिष्यामः, अगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्जमहि । यहाँ यद्  
योग न होने पर भी लृट् और लङ् का विकल्प हो जाता है ।

विभाषा श्वेः में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि वचि स्वपि यजादीना किति से कित् की अनुवृत्ति करके कित् लिट् में  
नित्य प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि कित् की  
अनुवृत्ति न करके कित् अकित् सब लिट् में सम्प्रसारण का विकल्प मानें और कित्  
लिट् में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा श्वेः को बाध कर वचि स्वपि० की प्रवृत्ति मानें तो  
कित् शंस में प्राप्त अकित् शंस में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा श्वेः यद् उभयत्र विभाषा है । इस से कित् और अकित् सारे लिट् में  
दिव को विकल्प से सम्प्रसारण होता है । प्राप्त में जैसे—शुशुवतुः, शुशुनुः, शिश्वियतुः

विभाषा न्युशत्वानाम् ।

सपूर्वाद् घुपे प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देह ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

‘घुपिरविशब्दने’ इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र चाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तात् । सघुपि सघुपिता वा रज्जु । अप्राप्ते सघुपि सघुपित वा वाच्यमाह ।

आटपूर्वात् स्वने प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

शिवान्तु । यद्वा अनुस आदि क्विप् लिट० में व चस्वदि० स प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है । अप्राप्त में जैसे—गुशात् गुशात् । शिवात्, शिवविष । यद्वा अक्विप् तिव सिप में अप्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है ।

स्वन्त्वरसघुपस्वनाम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है । वह भी पहले सन्देहक घुप में ।

कैसे सन्देह है ।

यदि घुपिरविशब्दने स अविशब्दने की अनुवृत्ति करके अविशब्दनेविकल्पक सघुप स नित्य प्राप्त इट् निरय का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि अविशब्दने होन या न हाने पर सघुप् स इट् निरय का विकल्प मानें और अविशब्दने में पूर्वप्रतिषेध स स्वन्त्वर० को बाध कर घुपविश० का प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परावप्रतिषेध स घुपिरव० का बाध कर स्वन्त्वर० का प्रवृत्ति मानें तो अविशब्दने में प्राप्त तद्धित में अप्राप्त विकल्प होन से उभयत्र विभाषा है ।

स्वन्त्वर० में सन्देहक घुप का विभाषा उभयत्र विभाषा है । प्राप्त में जैसे—गुशा सघुपिता रज्जु । यद्वा अविशब्दने में प्राप्त इट्निरय का विकल्प होता है । अप्राप्त में जैसे—सघुपि सघुपित वाच्यमाह । यद्वा अविशब्दने अर्थ में अप्राप्त इट्निरय का विकल्प होता है ।

स्वन्त्वर० के आन्देहक स्वन् का जो विभाषा है उस में भा प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

आन्देहक स्वन् का विभाषा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का कैसे सन्देह है ।

मनसीति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । आस्वान्त मनः । आस्वनितं मनः । अप्राप्ते ।  
आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तो देवदत्त इति ।

यदि ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० सूत्र से मनस् की अनुवृत्ति करके मन सम्बन्धी अर्थ में नित्य प्राप्त इटनिषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि मनस् की अनुवृत्ति न करके मन सम्बन्धी अर्थ में होने या न होने पर विकल्प माने और मनस् अर्थ में पूर्वविप्रतिषेध से रुध्यमत्वर० को बाध कर ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० को बाध कर रुध्यमत्वर० की प्रवृत्ति मानें तो मनस् में प्राप्त तद्भिन्न में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

रुध्यमत्वर० में आहपूर्वक स्वन् की विभाषा उभयत्र विभाषा है । प्राप्त में जैसे—आस्वान्त, आस्वनित मन । यहाँ मनस् अर्थ में नित्य प्राप्त इटनिषेध का विकल्प होता है । अप्राप्त में जैसे—आस्वनित आस्वान्तो वा देवदत्तः । यहाँ मनस् से भिन्न अर्थ में अप्राप्त इटनिषेध का विकल्प है ।<sup>१</sup>

१ वार्तिककार तथा भाष्यकार ने दैवयज्ञि शौचिदृशि सात्यमुद्रि० इत्यादि अष्टाध्यायीस्थ सारी विभाषाओं पर विचार नहीं किया है । ये कुछ विभाषाएँ उपलक्षण तौर पर विचारार्थ प्रस्तुत की हैं । स्थालापुलाकन्याय से उन्हीं के द्वारा विभाषा पदार्थ का तत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

यहाँ षष्ठ आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ ।

## सप्तम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में इग्यण सम्प्रसारणम् ॥१११४५॥ इस सूत्र से ले कर अष्टाकात्-शित्सर्वस्य ॥१११५५॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

इग्यण सम्प्रसारणम् ॥१११४५॥ इक् यण्, इस पदसमूहप वाक्य का जो अर्थ है कि यण् क स्थान में इक् हो उस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है, या यण् के स्थान में हो चुके केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इन दोनों पक्षों में प्राप्त दोषों का समाधान करके दोनों ही पक्ष स्वीकार भिये हैं। विधि स्थलो में वाक्यपक्ष काम देगा। उससे विधिवाक्यो में सम्प्रसारण कहने से यण् के स्थान में इक् हो जायगा। अनुवाद स्थलों में वर्णपक्ष काम देगा। उससे केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होगी जो कि यण् के स्थान में हो चुका है।

आद्यन्तौ टकितौ ॥१११४६॥ यथासप्य नियम से टित् कित् को कम से आवि अन्त सिद्ध किया है।

टित् कित् को आगम मानने में प्राप्त दोष का समाधान करते हुए इस सूत्र को परिभाषा सूत्र मानने के साथ सज्ञा सूत्र भी स्वीकार किया है। संज्ञा पक्ष में अर्थ होगा—इत्संज्ञक टकार ककार कम से आदि अन्त की संज्ञा होते हैं।

टित् कित् प्रत्ययो का आदि अन्त में न होना सिद्ध किया है।

मिदचोऽन्त्यात्पर. ॥१११४७॥ सूत्र का प्रयोजन बताते हुए त्रकौण्डिन्यन्याय का उदाहरण दिया है। उससे सभ्य में भी बाधकता होती है न केवल असभ्य में ही यह सिद्ध किया है।

अन्त्यात्पूर्वो मरुजे इस वार्तिक को स्वीकार करके भर्जिमर्च्योश्च इस वार्तिक का खण्डन किया है।

मित् में पूर्वान्त परादि अभक्त ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है।

एच इग्रन्वादेशे ॥१११४८॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर दीर्घ इक्प्राप्ति रूप दोष का निराकरण किया है। अन्त में अन्यथासिद्ध होने से सूत्र का ही खण्डन कर दिया है।

पृष्ठी स्थानेयोगा ॥११११४९॥ स्थानेयोगा शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर सूत्र का प्रयोजन बताया है ।

शास इदद्दुह्योः इत्यादि अवयव पृष्ठी स्थलों में इस परिभाषा सूत्र की अप्रवृत्ति दिखाई है ।

अन्त में प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन करके इसे निर्दिश्यमान-स्यादेशा भवन्ति इस परिभाषा में तात्पर्यप्राप्तक सिद्ध किया है ।

स्थानेन्तरतम. ॥११११५०॥ सूत्र के उदाहरण देकर पुनः स्थानग्रहण के प्रयोजन के साथ तन्मू ग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बताते हुए स्थानेन्तरतम उरणपरः इम सन्धि में अन्तरतमे यह सप्तम्यन्त है या अन्तरतम. यह प्रथमान्त है इम पर शुणदोष दिखाते हुए विचार किया है । अन्त में निर्दोष होने से अन्तरतम यह प्रथमान्तपक्ष स्वीकार किया है ।

सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का तथा अन्य सूत्र निष्पन्न कार्य के नियमप्रतिपादकत्व का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है ।

प्रत्यात्म वचन का खण्डन करने के साथ स्वभावसिद्ध लोकेव्यवहार से इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है ।

सूत्र की वियमानता में भी प्राप्त दोषों का समाधान किया है ।

उरण रपर. ॥११११५१॥ सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का खण्डन किया है । जिसमें ऋ के स्थान में रपरसहित केवल अणु का ही विधान तथा ऋ के स्थान में अणु अनणु दोनों की सत्ता में अणु को केवल रपरन्वमात्र का विधान इन दोनों बातों का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है ।

अणु ग्रहण का प्रयोजन बता कर एकादेश के उपसर्गान का खण्डन किया है ।

रपर में पूर्वान्त परादि अभज ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है ।

अलोन्त्यस्य ॥११११५२॥ अलः को पृष्ठी का एकवचन मान कर अन्त्य का विशेषण माना है । इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बनाई है ।

चित्च ॥११११५३॥ तातद् आदेश के चित् होने पर भी उसमें इस सूत्र की अप्रवृत्ति सिद्ध की है ।

आदेः परस्य ॥१११५४॥ अलोन्त्यस्य, आदेः परस्य, अनेकाल् शित्सर्वस्य इन तीनों में अलोन्त्यस्य को उत्सर्ग माना है । अगले दोनों उसके अपवाद हैं । उन दोनों में भी पर होने से अनेकाल् शित्सर्वस्य को आदेः परस्य का बाधक सिद्ध किया है ।

अनेकाल् शित्सर्वस्य ॥१११५५॥ शित् ग्रहण का प्रयोजन अन्यथा सिद्ध करके उससे नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् यह परिभाषा स्थापित की है ।





## अथ सप्तममाहिकम्

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१॥१४५॥

किमिय वाक्यस्य सम्प्रसारणसज्ञा क्रियते इग्यण इत्येतद् वाक्यं सम्प्रसारणसज्ञं भवतीति । आहोस्विद् वर्णस्य, इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसज्ञो भवतीति ।

कश्चात्र विशेषः ?

सम्प्रसारणसज्ञाया वाक्यस्य सज्ञा चेद् वर्णविधिः ।

सम्प्रसारणसज्ञायां वाक्यस्य सज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यति । सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवतीति । सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति । न हि वाक्यस्य सम्प्रसारणसज्ञायां सत्यामेव निर्देश उपपद्यत । नाप्येतयोः कार्ययोः सम्बन्धोऽस्ति ।

क्या यह वाक्य की सम्प्रसारणसज्ञा का जाती है या वर्ण की ? वाक्य इह से यह वाक्यार्थ का ग्रहण है । इक् यण इस पदसमूह रूप वाक्य का जो अर्थ है—यण् के स्थान में इक् होता है इस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसज्ञा मानते हैं या यण् के स्थान में हुप् केरल इक् वर्ण की । वाक्यसज्ञा पक्ष में इक् यणो भवति इस प्रकार भवति क्रिया का अभ्यादार कर के यण् के स्थान में जब इक् किया जा रहा हो तब सम्प्रसारणसज्ञा होगी, अर्थात् यण् के स्थान में इक् के विधान की सम्प्रसारणसज्ञा होगी । और वर्णसज्ञा पक्ष में पहले से विधान किये हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारणसज्ञा होगी ।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ।

यदि वाक्य की सम्प्रसारणसज्ञा मानते हैं तो वर्ण के कार्य (वर्णाश्रय दीर्घादि) नहीं सिद्ध होते । जैसे—सम्प्रसारणाच्च सूत्र से सम्प्रसारण से अच् पर रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्व रूप एकादेश होता है वह वाक्य की सज्ञा में नहीं बनता । इसी प्रकार सम्प्रसारणस्य सूत्र से सम्प्रसारणसज्ञक लण् को दीर्घ होता है वह भी वाक्य की सज्ञा में नहीं बनता । यहाँ अनुवाद स्थलों में यण् के स्थान में इक् का विधान नहीं किया जा रहा है इस लिये सम्प्रसारणसज्ञा न होगी तो उक्त कार्य नहीं सिद्ध होंगे । वाक्य की सज्ञा में न तो सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्य ये निर्देश ही ठीक बनते हैं और न ही इन कयों का सम्भव है ।

अस्तु तर्हि वर्णस्य ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निवृत्तिः ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निवृत्तिर्न सिध्यति । 'प्यङः सम्प्रसारणमि'ति । स एव हि तावदिग् दुर्लभो यस्य संज्ञा क्रियते । अथापि कथं चिल्लभ्येत । केनासौ यणः स्थाने स्यात् । अनेन चैव ह्यसौ व्यवस्थाप्यते । तद्विद्वे-  
तराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

विभक्तिविशेषनिर्देशास्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य ।

यद्यं विभक्तिविशेषनिर्देशं करोति सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति, प्यङः सम्प्रसारणं भवतीति तेन ज्ञायते उभयोः संज्ञा भवतीति । यत्तावदाह सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति तेन ज्ञायते वर्णस्य भवतीति । यदप्याह—

अच्छा तो वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मान लीजिये ।

यदि वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा मानते हैं तो निवृत्ति अर्थात् यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान नहीं सिद्ध होता । प्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपयोमत्पुष्पे इत्यादि विधिसूत्रों में पहले से विधान किया हुआ इक् वर्ण न मिलने से सम्प्रसारण-संज्ञा न होगी तो सम्प्रसारण का विधान न हो सकेगा । प्यङः सम्प्रसारणं आदि विधिसूत्रों में वह इक् वर्ण ही मिलना दुर्लभ है जिसकी सम्प्रसारणसंज्ञा होनी है । यदि किसी तरह शब्द को नित्य मान कर इक् वर्ण मिल भी जाय तो भी वह यण् के स्थान में हुआ है यह कैसे मालूम होगा । विधिसूत्र से पूर्व उसे यण् के स्थान में करने वाला कौन होगा । प्यङः सम्प्रसारणम् इत्यादि विधिसास्त्र द्वारा सम्प्रसारण विधान होने पर इस सम्प्रसारणसंज्ञा विधायक सास्त्र से ही वह इक् यण् के स्थान में स्थिति में लाया जाता है ऐसा कह कर यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान व्यवस्थित किया जाता है । और विधान किये हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा है तो प्यङ सम्प्रसारणं कैसे प्रवृत्त होगा । इस प्रकार वर्ण की संज्ञा में यह इतरतराश्रय दोष हो जाता है । इतरतराश्रय दोष वाले कार्य नहीं सिद्ध हो सकते ।

सूत्रों में भिन्न २ विभक्तियों का निर्देश इस बात का ज्ञापक है कि दास्य और वर्ण दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है । सम्प्रसारणाच्च, सम्प्रसारणस्य यदा पञ्जी, पञ्जी विभक्तियों के निर्देश से इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा समझी

प्यड्. सम्प्रसारणमिति तेन ज्ञायते वान्म्यस्यापि संज्ञा भवतीति ।

अथवा पुनरस्तु वान्म्यस्येव । ननु चोक्तं सम्प्रसारणसंज्ञायां वान्म्यस्य संज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यतीति । नेप दोषः । यथा काकाज्जातः कान् । श्येनाज्जातः श्येनः । एव सम्प्रसारणाज्जात सम्प्रसारणम् । तस्मात्परः पूर्वो भवति, तस्य शीर्षो भवतीति ।

अथवा दृश्यन्ते हि वान्म्येषु वान्म्यैकदेशान् प्रयुञ्जानाः । पदेषु च पदैन्देशान् । वान्म्येषु तावद् वान्म्यैकदेशान्—प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् इति । पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः । सत्यभामा भामेति । एवमिहापि सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्तस्य एतस्य वान्म्यस्यार्थं सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्येत्येष वान्म्यैकदेशः प्रयुज्यते । तेन

जायगा और प्यड्. सम्प्रसारणम् इस सूत्र में तन्त्र आशुति शक्यते इन में से किसी एक का आश्रयण कर के दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

अथवा केवल वाक्य की ही सम्प्रसारणसंज्ञा मान लीजिये । उभरमें वर्णविधि सिद्ध न होने का जो दोष कहा है वह कुछ नहीं । जैसे कौए या श्येन (वान्) से उत्पन्न बच्चे को भी उपचार से कौया या श्येन कह देते हैं उसी प्रकार सम्प्रसारण से निष्पन्न इक् वर्ण भी सम्प्रसारण शब्द से व्यवहृत हो जायगा तो सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप तथा सम्प्रसारणस्य से शीर्ष सिद्ध हो जायगा ।

अथवा वाक्यो और पदों का पूरा प्रयोग न कर के उनके एकदेश या अत्रयवो का प्रयोग भी करत देखे जाते हैं । जैसे गृह प्रविश इस पूरे वाक्य के स्थान में केवल प्रविश का ही प्रयोग कर दिया जाता है । पिण्डी भुञ्ज्व के स्थान में केवल पिण्डीम् का ही प्रयोग हो जाता है । तर्पण इर के स्थान में केवल तर्पणम् ही पयाप्त समझ लिया जाता है । पदों म भी देवदत्त के स्थान में केवल दत्त और सत्यभामा के स्थान में केवल भामा का ही प्रयोग हो जाता है । इसी प्रकार यहा सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्तस्य इन पदों के स्थान में सम्प्रसारणान्, सम्प्रसारणस्य इव एकदेश का प्रयोग किया हुआ समझना चाहिये । सम्प्रसारण से जो निवृत्त निष्पन्न वर्ण है वह सम्प्रसारणनिवृत्त है उसी का एकदेश सम्प्रसारणाच्च में सम्प्रसारणात् है । उसल परे पूर्वरूप एकादेश होता

१. वाक्यैकदेश से यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य सम्प्रसारणात्, सम्प्रसारणस्य इम पदभूत के एकदेश से है । क्योंकि दोनों पदों में एकदेश का प्रयोग समझा गया है इस लिय उसे वान्म्यैकदेश कह दिया है ।

निवृत्तस्य त्रिधिं विज्ञास्यामः । सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्त-  
स्येति ।

अथवा आहाय सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति । सम्प्रसारणस्य  
दीर्घो भवतीति । न च वान्यस्य सम्प्रसारणसहायां सत्यामेव निर्देश  
उपपद्यते । नाप्येतयोः कार्ययोः सम्भवोऽस्तीति तत्र वचनाद् भविष्यति ।

अथवा पुनरस्तु वर्णस्य । ननु चोक्त वर्णसज्ञा चेन्निवृत्तिरिति ।  
नेष दोषः । इतरेतराश्रयमात्रमेतच्चोदितम् । सर्वाणि चेतरेतराश्रयाण्ये  
कत्वेन परिष्टतानि सिद्ध तु नित्यशब्दत्वादिति ।

नेद् तुल्यमन्येरितरेतराश्रयैः । न हि तत्र किञ्चिदुच्यते अस्य स्थाने  
ये आकारेकारौकारा भाव्यन्ते ते वृद्धिसंज्ञा भवन्तीति । इह हि पुनरुच्यते  
इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसज्ञो भवतीति ।

एव तर्हि भाविनीय सज्ञा विज्ञास्यते । तद्यथा कश्चित् कचित्  
तन्तुवायमाह अस्य सूत्रस्य शाटक वयेति । स पश्यति यदि शाटको,

है । सम्प्रसारणस्य में भी सम्प्रसारण से निवृत्त वर्ण को सम्प्रसारण समझ कर  
उसे ही दीर्घ होता है ।

अथवा सम्प्रसारणाच्च और सम्प्रसारणस्य इन वचनो के सामर्थ्य से  
वाक्य की सज्ञा में भी इक् वर्ण की सम्प्रसारणसज्ञा हो जायगी । अन्यथा  
वाक्य की सज्ञा में उक्त सूत्रों का निर्देश ठीक न बनने से तथा तद्विहित कार्य  
का असम्भन होने से ये सूत्र व्यर्थ हो जायेंगे ।

अथवा वर्ण की ही सम्प्रसारणसज्ञा मान लीजिये उसमें भी दोष नहीं ।  
यद् वो इतरेतराश्रय मात्र दोष कहा था वह शब्दों को नित्य मानने से न  
होगा । क्योंकि सभी इतरेतराश्रय दोषों का यह एक ही समाधान किया गया  
है कि शब्दों को नित्य माना जाये ।

यद् इतरेतराश्रय दोष अन्य इतरेतराश्रय दोषों के समान नहीं है ।  
क्योंकि वृद्धिरादैच् इत्यादि सज्ञा स्थलो में किसी के स्थान में हुण् आकार ऐकार  
औकार की वृद्धिसज्ञा नहीं कही गई है । यहाँ तो यण् के स्थान में हुण्  
इक् की सम्प्रसारणसज्ञा का जाती है हर एक इक् वर्ण की नहीं । तो इक् को  
नित्य मानने पर भी वह यण् के स्थान में हुआ है यह नहीं जाना जा सकता ।

अष्टा तो सम्प्रसारण यद् भाविनी (भाग्य होने वाली) सज्ञा मान ली जायगी ।  
यण् के स्थान में वह इक् होगा त्रिसका नाम आगे सम्प्रसारण होगा । ऐसा

न वातव्यः। अथ वातव्यो न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रति-  
पिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते  
शाटक इत्येतद् भवतीति। एवमिहापि स यणः स्थाने भवति  
यस्याभिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति।

अथवा इजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते। यजाद्युप-  
देशात्तु इजादिनिवृत्तिः प्रसभता। प्रयुञ्जते च पुनर्लोका इष्टम् उप्तम्  
इति। ते मन्यामहे अस्प यण स्थाने इममिकं प्रयुञ्जते इति। तत्र  
तस्यासाध्वभिमत्स्य शास्त्रेण साधुत्वमन्वाच्यायते किति साधुर्भवति  
इति साधुर्भवतीति।

मानने पर कोई दोष नहीं होगा। जैसे कोई किसी जुलाहे से कहे कि इस सूत  
का शाटक (घोती) चुन दे। वह सोचता है यदि शाटक है तो चुनने की  
आवश्यकता नहीं। और यदि चुनना है तो अभी शाटक नहीं। शाटक चुन दे  
यह दोनों बातें विरोधी होने से कैसे की जायेंगी। तो फिर सोचता है कि इस  
सूत को ऐसे चुन दे जिसके चुने जाने पर यह शाटक कहलायेगा। इसी प्रकार यहाँ  
प्यङ्गः सम्प्रसारण० में भी यण् के स्थान में यह इक् होगा जिस की भागे  
सम्प्रसारणसंज्ञा होगी।

अथवा सम्प्रसारणसजा के बिना भी लक में यज इज्, वप उप् इन दो  
प्रकार के धातुओं के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। धातुपाठ में केवल यज, वप्  
का उपदेश है उससे इज् उप् का प्रयोग नहीं होना चाहिये। पर होता है जैसे—  
इष्टम् यहाँ इज् का। और उप्तम् यहाँ उप् का। इससे यण् के स्थान में  
इक् का होना लोकसिद्ध है। इस लोकसिद्ध यण के स्थान में प्रयुक्त होने वाले  
इक् की शास्त्र द्वारा सम्प्रसारणसंज्ञा कर के किन् या डिन् में सम्प्रसारण का  
प्रयोग साधु है अन्यत्र असाधु है यह बताया जाता है।<sup>१</sup>

१. इग्यणः सम्प्रसारणम् में यथासत्य नियम से यकार के स्थान में हुए इकार  
की, वकार के स्थान में हुए उकार की, रेफ के स्थान में हुए ऋकार की और  
लकार के स्थान में हुए लृकार की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इन लिये अदुहितराम्  
(दुह, रुह्, इह्, तर, आम्) यहाँ लृक् के लृकार-रूप यण् के स्थान में हुए इह्  
प्रथम रूप इक् की सम्प्रसारणसंज्ञा न होगी तो हलः से इह् को दीर्घ न होगा।  
दुभ्याम् (दिव्, भ्याम्) में दिव् उह् में वकार के स्थान में हुए उकार की  
सम्प्रसारणसंज्ञा होने पर यद्यपि दिह् के इकार को यण् हो कर हलः से दीर्घ

## आद्यन्तौ टकितौ ॥११॥४६॥

समासनिर्देशोऽयम् । तत्र न क्षायते क आदिः कोऽन्त इति ।  
तद्यथा अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्युक्ते तत्र न क्षायते कस्याजा धनं  
कस्यावय इति ।

यद्यपि तावल्लोक एव दृष्टान्तः । दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारम्भो  
नियतको भवति ।

अस्ति वेह कश्चित् पुरुषारम्भः ?

अस्तीत्याह ।

टकितो मे समास का निर्देश होने से यह पता नहीं लगता कि टिक् और  
किक् में कौन आदि में होता है और कौन अन्त में । जैसे—अजाविधनौ  
देवदत्तयज्ञदत्तौ यह समस्त वाक्य है । इसका अर्थ है—देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों  
बरूरी और भेड़ धन वाले हैं । इसमें यह पता नहीं लगता कि किसका बरूरी  
धन है और किसका भेड़ । दोनों के दोनों धन होने भी संभव हैं । यहाँ  
भी टिक् किक् दोनों ही आदि में और दोनों ही अन्त में हो जावें यह अर्थ भी  
संभव है ।

यद्यपि लोक में अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ यह दृष्टान्त है । फिर भी  
उस लौकिक दृष्टान्त की पुरुषारम्भ से यत्नविशेष से बाधा हो सकती है ।

क्या यहाँ कोई यत्न विशेष है ?

हाँ है ।

प्राप्त होता है तो भी वह उत् में तपरकरणसामर्थ्य से नहीं होगा । तपर का  
प्रयोजन वहाँ यही है कि उकार ह्रस्व ही रहे । अक्षयुवौ (अ.३ दू-औ) में दिक्  
के वकार के स्थान में हुए ऊट् यी सम्प्रसारणवृत्ता होने पर सम्प्रसारणाच्च से प्राप्त  
औ का पूर्वरूप एमोदेश भी वार्णादाह्न बलीयो भवति इस परिभाषा बल से न होगा ।  
उमके अनुसार वर्णसम्बन्धी पूर्वरूप शास्त्र से अह्नसम्बन्धी अचि श्नुधातु० यह  
उवक्शास्त्र चयवान् होगा तो पूर्वरूप को घाथ कर पहले ऊट् को उवक् हो  
जायगा । फिर पूर्वरूप की प्राप्ति न रहने से कोई दोष न होगा । इस प्रकार  
सम्प्रसारणवृत्ता में ययामेग्य सम्बन्ध बनाने के लिये श्रुल्लक् सूत्र में लृकार वा उपदेश  
करना आवश्यक हो जाता है । वार्तिककार द्वारा वही लृकार का प्रत्याख्यान उस  
अवस्था में चिन्त्य बन जाता है ।

कः ।

सख्यातानुदेशो नाम ।

कौ पुनःप्रकृतावाचन्तौ भवत ?

आगमाविन्याह ।

युक्तं पुनर्यन्तित्येषु नाम शब्देषु आगमशासनं स्यात् । न नित्येषु नाम शब्देषु कृत्स्थेरत्रिचालिभिर्गणैर्भूषितज्यमनपायोपजनविकारिभिः । आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः ।

अथ युक्तं यन्तित्येषु शब्देष्वन्तरेणः स्युः ।

यत् न युक्तम् । शब्दान्तरेण भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तरेण शब्दान्तरस्थं प्रतिपत्तियुक्तम् ।

आदेशास्तर्हिमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत्

कौन सा ?

यथासप्यमनुदेश समानाम् यह यथासख्य का नियम । यहाँ शास्त्र में यथासप्यमनुदेश समानाम् इस यत्नविशेष से लौकिक दृष्टान्त की बाधा हो जायगा ता टिक् और क्रिक् क्रम से आदि अन्त में समझ जायेंगे । टिक् आदि में होगा और क्रिक् अन्त में ।

क्रम से आदि अन्त में होने वाले ये टिक् क्रिक् कौन हैं ?

आगम हैं ।

क्या यह ठीक है कि नित्य शब्द मानते हुए आगम क्रिये जायें । क्या नित्य शब्दों में वर्णों को कृत्स्थ (परिणाम शून्य) अत्रिचाली (अचल) तथा नाश वृद्धि विकार रहित नहीं होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये । आगम तो एक नये शब्द की वृद्धि का नाम है । उससे शब्द में वृद्धि हो कर नित्यता कैसे रहेगी ।

नित्य शब्द को मानते हुए आदेशों का होना भी कैसे ठीक है ?

सो तो ठीक है । आदेशों में पहले शब्द की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग होने से प्रयोग ही बदलता है शब्द नहीं इस लिये आदेश पक्ष में शब्द की नित्यता में कोई बाधा नहीं आती ।

तो ये भी आदेश ही मान लिये जायेंगे । अनागमक अर्थात् इडादि आगम रहित वच्य के स्थान में सागमक अर्थात् इडादि आगमसहित इतव्य शब्द आदेश

Prokoplje, Dir -Gen of Machine Building Directorate, Serbia, mem Exec. Council, Serbia, Pres. Board of Management, Fed Chamber of Industry; Fed. Sec for Foreign Trade 62-67.  
c/o Secretariat for Foreign Trade, Belgrade, Yugoslavia.

**Dzyubenko, Grigori Nikiforovich;** Soviet diplomatist; b. 1914; ed Ukrainian Inst of Journalism  
Member CP of Soviet Union 40-; Journalistic work

31-36; Party work 40-42; at Ministry of Foreign Affairs 44-45; Senior Asst. Deputy Political Counsellor to Soviet Section, Allied Comm. on Austria 45-50; Asst Head, Third European Dept., Ministry of Foreign Affairs 50-56; Counsellor, Soviet Embassy, Vienna 56-59; Counsellor, Ministry of Foreign Affairs, Moscow 59-65. Amb. to Nepal 65-; Red Banner of Labour, etc.  
USSR Embassy, Katmandu, Nepal.



## E

**Eagle, Harry**, A. B., M. D., American researcher in cell biology, b 13 July 1905, New York City; m Hope Whaley 1928, one d, ed Johns Hopkins Univ and Johns Hopkins Medical School

Assistant and Instructor Dept of Medicine, Harvard Medical School 28-32, Nat Research Fellow 32-33, Asst Prof of Microbiology, Univ of Pa Medical School 33-36, U S Public Health Service 36-61, Dir Venereal Disease Research Lab and Lab of Experimental Therapeutics, Johns Hopkins School of Hygiene and Public Health, and the Public Health Service 36-48, Adjunct Prof of Bacteriology, Johns Hopkins School of Hygiene and Public Health 46-48, Scientific Dir, Research Branch, Nat Cancer Inst 47-49, Chief, Section on Experimental Therapeutics at Nat Microbiological Inst, Nat Inst of Health 49-59, Laboratory of Cell Biology at Nat. Inst of Allergy and Infectious Diseases 59-61, Prof and Chair, Dept of Cell Biology, Albert Einstein Coll of Medicine, N Y 61-, Div. of Biological Sciences 68-, Harvey Lecturer 59, Trustee Microbiological Foundation (Waksman), mem numerous cttees including Scientific Advisory Council of Sloan Kettering Inst for Cancer Research, Council for Research Analysis and Projection of American Cancer Soc, mem numerous socs including Nat Acad of Sciences (also on its Cttee on Science and Public Policy), American Acad of Arts and Sciences, Soc of American Microbiologists (Pres 57-58), American Acad of Microbiology, American Asscn of Cancer Research (on Board of Dir 63-66), Hon M Sc Yale Univ, Hon D Sc Wayne Univ, Eli Lilly Award in Microbiology 36, Alvarenga Prize, Coll of Physicians of Pa 36, Presidential Certificate of Merit 48, Borden Award American Asscn of Medical Colls 64, Albert Einstein Commemorative Award 68

Publs Studies relating to Bacterial physiology, Immunochemistry serodiagnosis of syphilis, blood coagulation, Chemotherapy syphilis, trypanosomiasis and tropical diseases, Detoxification of mental poisoning, Mode of action of antibiotics, Cell and tissue culture  
Albert Einstein College of Medicine, Eastchester Road and Morris Park Avenue, Bronx, N Y 10461, Home 370 Orienta Avenue, Mamaroneck N Y 10543, U S A Telephone 212-430 2815 (Office), 914 OW 8-8218 (Home)

**Eagleton, Thomas Francis**, LL B., American lawyer and politician, b 4 Sept 1929, ed Amherst Coll and Harvard Univ  
Admitted to Mo Bar 53, private law practice St Louis 53-56, Circuit Attorney, St Louis 57-60, Attorney Gen State of Mo 61-65, Lieut-Gov 65-68, Senator from Mo 69, Democrat  
U S Senate, Washington, D C, U S A

**Eames, Charles**; American designer  
Independent designer of furniture, toys, films, exhibits etc., in partnership with wife, Ray Eames  
Office 909 Washington Boulevard, Venice, Calif, Home 203 Chautauqua Boulevard, Pacific Palisades Calif, U S A

**Earle, Arthur Frederick**, PH D., Canadian economist and business executive, b 13 Sept 1921, Toronto Ont s of Frederick Charles Earle and Hilda Mary (nee Brown), m Vera Domm Lithgow 1946, two s one d  
ed Univ of Toronto and London School of Economics  
Royal Canadian Navy 39-40, Canada Packers Ltd 46-48, Aluminum Ltd in British Guiana, West Indies and Canada 48-53, Treas Alumina Jamaica Ltd 53-55, Sales Exec, Aluminum Union, London 55-58, Vice-Pres Aluminum Ltd Sales, Inc, New York, Dep

Chair Hoover Ltd 61-65, Managing Dir 63-65, Principal, London Graduate School of Business Studies 65-, Dir. Hoover Ltd., and The British Aluminum Co Ltd, mem. The Consumer Council 63-68, mem of Council of Management of Ditchley Foundation, Gov Nat Inst of Econ and Social Research, Nat Econ Devt Council for the Electrical Eng Industry, N E D C Cttee on Management Educ, Training and Devt, Gov London School of Econs, Fellow, British Inst. of Management.

Leisure interest hill climbing  
The London Business School, 28 Northumberland Avenue, London, W C 2, "Rotherfield", The Ridgeway, Gerrards Cross, Bucks, England  
Telephone 01-930-2180 (Office), 498 2110 (Home).

**Earle, Ion**, B A., T D., British commercial official, b 12 April 1916, Neath, Glamorgan, s of Stephen Earle and Beatrice (nee Blair White), m Elizabeth Dain Stevens 1946, one s one d, ed Stowe School Univ Coll, Oxford and Univ of Grenoble  
Head of Regional Org Fed of British Industries 52-60, Chief Exec Export Council for Europe 60-64, Dir British Nat. Export Council 64-66, Deputy Dir Gen 66

Leisure interests golf gardening travel  
British National Export Council, 6-14 Dean Farrar Street London, S W 1, Home 5 McKay Road, London, S W 20 England

**Eason, Henry**, C B E., J P., B COM., F I B., British banking administrator, b 12 April 1910, Middlesbrough, s of late H and F J Eason, m Florence Isobel Stevenson 1939 one s two d ed Yarm and King's Coll, Univ of Durham  
Barrister, Lloyds Bank Ltd until 39, Royal Air Force (Wing Commr), Second World War, Sec-Gen Inst of Bankers 59-  
Leisure interests golf travel reading  
Institute of Bankers, 10 Lombard Street, London, E C 3, England

**Eastland, James O.**; American politician, b 28 Nov 1904, ed Univs of Mississippi and Alabama and Van derbilt Univ  
Admitted to Mississippi Bar 27, Practised law, mem Mississippi House of Reps 28-32, Senator from Miss 43-, Democrat  
Ruleville, Miss, U S A

**Eaton, Cyrus Stephen**, A B., D C L., LL D. American industrialist and railroad executive b 27 Dec 1883 ed McMaster Univ, Toronto  
Co-founder Chifs Corpn founder Republic Steel Corpn, former Dir Cleveland Trust Co Republic Steel Corpn, Youngstown Sheet and Tube Co, Inland Steel, Nat. Acme, Chair and Dir Chesapeake and Ohio Riv. Steep Rock Iron Mines Ltd, West Kentucky Coal Co, Chair Pres and Dir Portsmouth Steel Corpn, fmr Dir Sherwin-Williams Co, Cleveland Electric Illumination Co Kansas City Power and Light Co, Trustee, Denison Univ, Univ of Chicago Cleveland Museum of Natural History, mem American Council of Learned Soci., American Historical Asscn, American Philosophical Asscn, Dir Harry S Truman Library Inst. of Nat and Int Affairs, mem Atlantic Province Econ Council, Royal Norwegian Acad of Sciences, American Acad of Arts and Sciences  
Publs *The Third Term Tradition*, '40 *Fair Dealment* *cracy*, '41, *The Professor Talks to H. Kelly*, '42 *Investment Bankers*—*Compilation of Decisions*, '44 *A New Plan to Re-open the U S Capital Market*, '45, *A Capitalist Looks at Labor*, '47, *Is the Glob. B g Enough for Capitalists?* and

*Communism* 58, *Canada's Choice* 59, *The Engineer as Philosopher* 61  
Terminal Tower, Cleveland 44101, Home Acadia Farms, Northfield, Ohio 44067, U S A  
Telephone. 216-861 2200 (Office), 216-467-7125 (Home).

**Eban, Abba;** Israeli diplomatist and politician, b 2 Feb 1915, ed Univ of Cambridge  
Research Fellow and Tutor for Oriental Languages, Pembroke Coll 38, apptd Liaison Officer of Allied HQ with the Jewish population in Jerusalem for training volunteers 42, Chief Instructor at the Middle East Arab Centre in Jerusalem 44, entered service of Jewish Agency 46, apptd Liaison Officer with UN Special Comm on Palestine 47, apptd by the Provisional Govt of Israel as its rep in the UN 48, perm rep with rank of Minister 49 59, Vice-Pres Gen Assembly 53, Amb to U S A 50-59, elected to Knesset 59 Minister without Portfolio 59 60, Minister of Educ and Culture 60 63, Deputy Prime Minister 63-66, Minister of Foreign Affairs 66-, Pres Weizmann Inst of Science 58 66, Vice-Pres. UN Conf. on Science and Technology in Advancement of New States 63, mem UN Advisory Cttee on Science and Technology for Devt, M A (Cambridge), Hon Dr (Univs of New York, Boston, Maryland, Cincinnati, Temple, etc.), Fellow World Acad of Arts and Sciences, Fellow American Acad of Arts and Sciences  
Publs *The Modern Literary Movement in Egypt* 44, *Maze of Justice* 46, *Social and Cultural Problems in the Middle East* 47, *The Toynbee Heresy* 55, *Voice of Israel* 57 9 *Tide of Nationalism* 59, *Chaim Weizman A Collective Biography* 62 *Reality and Mission in the Middle East (Foreign Affairs)* 65 *Israel in the World* 66 *My People* 68 numerous articles in English, French, Hebrew and Arabic  
Ministry of Foreign Affairs, Jerusalem, Israel  
Telephone 51042

**Ebdon, Hubert George;** American engineer, b 98, ed Cooper Union and Brooklyn Polytechnic Inst  
Joined Combustion Eng Inc, N Y C 17, Sales Rep. 29 38, Asst Sales Man 38-40 Gen Sales Man 40-50, Vice-Pres (Sales) 50-56, Exec Vice-Pres 56-57, Pres 57-63, Vice Chair Board 63 65, Chair 65-, mem various professional orgs  
277 Park Avenue, New York, N Y 10017, U S A

**Eberhard, Harmon Sewell;** American manufacturer; b 1900  
Joined Caterpillar Tractor Co 16, successively Draftsman, Chief Engineer, Vice-Pres Research, Eng and Mfg, Exec Vice Pres 16 54, Pres 54-, Chair of Board 62 66, Dir Central Illinois Light Co, Commercial Nat Bank, Illinois Central Industries, Caterpillar Tractor Co, Whirlpool Corpn, Del Monte Corpn  
7618 North Edgewild Drive, Peoria, Ill, U S A

**Eberhart, Richard,** M A, LITT D; American poet, b 5 April 1904 Austin, Minn, s of late Alpha La Rue Eberhart and late Lena Lowenstein, m Helen Elizabeth Butcher 1941, one s one d, ed Univ of Minnesota, Dartmouth Coll, St John's Coll, Cambridge and Harvard Univ  
United States Naval Reserve World War II rose to Lieut Comdr, Asst Man. Butcher Polish Co 46, now Hon Vice Pres and mem of Board of Dirs, Master of English, St Mark's School, Southborough Mass 33 41, Cambridge School, Kendal Green Mass, 41-42, Visiting Prof of English and Poet in residence, Univ of Washington 52 53, Prof of English, Univ of Connecticut 53-54, inaugural Visiting Prof of English, Poet in residence, Wheaton Coll, Norton, Mass 54 55, Resident Fellow in Creative Writing, Christian Gauss Lecturer, Princeton 55 56, Prof of English, Poet in residence, Dartmouth 56-, Class of 1925 Prof 68-; mem Advisory Cttee on Arts for Nat Cultural Center, Washington (now John F Kennedy Center for Per-

forming Arts) 59, Consultant in Poetry, Library of Congress 59-61; mem. Nat Inst Arts and Letters 60, Peace Corps Mission to Kenya Aug 66, American Acad Arts and Sciences 67, Founder and Pres Poets' Theatre Inc, Cambridge, Mass 51, Harriet Monroe Memorial Prize 50, Shelley Memorial Prize 51, Bollingen Prize 62, Pulitzer Prize 66, Fellow of Acad of American Poets 69, Hon Consultant in American Letters, Library of Congress 63 66, 66-69  
Leisure interests cruising on coast of Maine and swimming  
Publs *A Bravery of Earth* 30, *Reading the Spirit* 37, *Song and Idea* 42, *Poems New and Selected* 44, *Burr Oaks* 47, *Brotherhood of Men* 49, *An Herb Basket* 50, *Selected Poems* 51, *Undercliff* 53, *Great Praises* 57, *Collected Poems 1930-60* 60, *Collected Verse Plays* 62, *The Quarry* 64, *Selected Poems 1930-65* 65, *New Directions* 65, *Thirty One Sonnets* 67, *Shifts of Being* 68  
5 Webster Terrace, Hanover, New Hampshire 03755, U S A  
Telephone 643 2938

**Eberle, Josef;** German newspaper publisher, b 1901, Rothenburg, Neckar, m Else Lemberger, ed Grammar School, Rothenburg  
Former bookseller, with Radio Stuttgart until 33, served American consulate, Stuttgart until 42, publisher and ed *Stuttgarter Zeitung* 45-, Pres Württemberg Bibliotheksgesellschaft and Galerie-Verein, Stuttgart, Vice-Pres Deutsche Schullergesellschaft, Stuttgart-Varbach, mem Deutsche Akad Darmstadt, PEN Club, Prof Dr phil h c Tübingen  
Leisure interests collecting antiques, bronzes, Latin poetry  
Publs *Interview mit Cicero, Laudes, Stunden mit Ovid, Ovid, Heilmittel* (translation), *Amores* (Latin poetry), *Sal Niger* (100 Epigrams, Latin and German) *Latensische Nächte* (essays)  
Rosengartenstrasse 9, Stuttgart Frauenkopf, German Federal Republic  
Telephone 299-171.

**Ebert, Carl (Anton Charles),** CBE American (b. German) opera director, b. 20 Feb 1887, ed Max Reinhardt's School of Dramatic Art, Berlin  
Began career as actor at Max Reinhardt's Deutsches Theater, Berlin 09-14, Schauspielhaus, Frankfurt a M 15-22, Staatstheater, Berlin 22 27, Founder, Dir, teacher in Schools of Dramatic Art in Frankfurt 19, and Berlin (Prof) 25, acted in silent films, recited European Literature, parts included Faust, Egmont, Lear, Brutus, Petruccio, Peer Gynt, etc, Gen Dir and Producer, Hess Landestheater 27-31, Stadtische Oper, Berlin, 31-33, left Germany because of Nazi regime March 33, acted Zurich and Basle, Guest Producer Basle, Salzburg Festival, State Opera and Burgtheater Vienna, Arena Verona 32-38, Maggio Musicale Florence 33-37, Teatro Colon Buenos Aires 33-36, Artistic Dir and Producer Glyndebourne Opera 34-59, of Glyndebourne productions at Edinburgh Festivals 47-55, Adviser to Turkish Ministry of Educ, Founder Dir (and teacher) Turkish State School of Opera and Drama, Ankara 36- and Turkish Nat Theatre, Ankara 39-47, Prof and Head Opera Dept, Univ of Southern Calif, Los Angeles 48-54, Artistic Dir and Producer Guild Opera Co, Los Angeles 50-, Gen Dir and Producer Stadtische Oper, Berlin 54-61, Pres German section of Int Theatre Inst, Berlin 56-61, Guest Producer London, Milan, Ankara, Venice, Paris, New York, Copenhagen 47-59, Biennale world premiere Stravinsky's *The Rake's Progress*, Producer Metropolitan Opera New York, Glyndebourne Opera England, also Zurich, Ireland, Copenhagen, Deutsche Oper, Berlin 61-67, Master Class in Opera, B.B.C. TV London 65, Hon mem Deutsche Oper Berlin, Staatstheater Darmstadt, Board of Dirs Opera Guild of S California, Int

## मिदचोऽन्त्यात्परः ॥१॥१॥४७॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

मिदचोन्त्यात्पर स्थानपरप्रत्ययस्यापनाद ।

मिदचोन्त्यात्पर इत्युच्यते । स्थानेयोगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य, चापवादः । स्थानेयोगत्वस्य तावत् । कुण्डानि वनानि । पर्यासि यशांसि । प्रत्ययपरत्वस्य । भिनत्ति छिनत्ति ।

भवेदिदं युक्तमुदाहरणम्—कुण्डानि वनानि । यत्र नास्ति संभयो यद्यमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति । इदं त्वयुवतम्—पर्यासि यशांसीति । अस्ति हि संभयो यद्यमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति ।

एतदपि युक्तम् । कथम् । नैवेश्वर आशापयति नापि धर्मसूत्रकाराः

यद् सूत्रं क्यो वनाया है ?

यद् सूत्रं इस लिये बनाया है कि स्थानेयोग पट्टी से सम्बद्ध अलोन्त्यस्य सूत्र का और परश्च सूत्र का अपवाद हो कर बाधक हो जाये । जैसे—कुण्डानि वनानि । पर्यासि । यशांसि । (कुण्ड वन पर्यस यशास्-जम् दास्) यहाँ नपुंसक्य शब्द से हुआ नुम् का आगम मित् होने से अलोन्त्यस्य को बाध कर कुण्ड आदि के अन्तिम अच् से परे होता है । प्रत्ययपरत्व का उदाहरण जैसे भिनत्ति छिनत्ति । ( भिनद् छिनद्-लट् तिप् ) यहाँ ऋधादिभ्यः इन्म् से हुआ इन्म् प्रत्यय मित् होने से प्रत्यय परश्च को बाध कर भिद् छिद् के अन्तिम अच् से परे होता है ।

कुण्डानि वनानि यह उदाहरण तो ठीक है यहाँ एक साथ कुण्ड के अन्तिम अल् अकार के स्थान में और उसी अन्तिम अच् अकार से परे नुम् का होना सम्भव नहीं । इस लिये अलोन्त्य को बाध कर मिदचोन्त्यात्पर-हो जाये । परन्तु पर्यास यशांसि यह उदाहरण ठीक नहीं । यहाँ एक साथ पर्यस के अन्तिम अल् सकार के स्थान में और अन्तिम अच् अकार के अकार से परे नुम् का होना सम्भव है इस लिये मिदचोन्त्यात्पर से अलोन्त्य को बाधा न हो कर अलोन्त्य सूत्र से सकार के स्थान में ही नुम् प्राप्त होता है ।

पर्यासि यशांसि यह उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि अपवादों से उत्सर्ग

पठन्ति अपवादैरुत्सर्गा वाध्यन्तामिति । किं तर्हि । लौकिकोऽय दृष्टान्तः । लोके हि सत्यपि सभवे वाचन भवति । तद्यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तत्र कौण्डिन्यायेति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तत्रदान नियतक भवति । एवमिहापि सत्यपि सभवे अचामन्त्यात्परत्वं पृथीस्थानेयोगत्वं वाधिष्यते ।

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिदनुपङ्गसयोगादिलोपार्थम् ।

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिद्वक्तव्यः । किं प्रयोजनम् । अनुपङ्गसयोगादिलोपार्थम् । अनुपङ्गलोपार्थं सयोगादिलोपार्थं च । अनुपङ्गलोपार्थं तावत् । मग्नः । मग्नवान् । सयोगादिलोपार्थम् मङ्क्ता मङ्क्त्वम् मङ्क्त्वम् ।

वाधे जाते हैं यह लोकव्यवहार सिद्ध बात है इस के लिये न तो राजाजा है और न ही धर्मशास्त्र बनाने वाले कोई वचन पढ़ते हैं । लोक में सम्भव होने पर भी बाधा होती है । जैसे सब ब्राह्मणों को दही देओ किन्तु कौण्डिन्य कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण को तत्र (लस्सी) देओ ऐसा कहने पर कौण्डिन्य को दही देने का सम्भव होने पर भी तत्र ही दिया जाता है । तत्र कहने से दही का देना रुक जाता है । इसी प्रकार पयासि यशास यहाँ अलोन्य का सम्भव होने पर भी मिदचो० से उसकी बाधा हा जायगी ता अन्तिम अच से परे ही नुम् होगा ।

मस्ज धातु में मित् आगम को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये । जिससे अनुपङ्ग अर्थात् नकार का लोप और सयोगादि सकार का लोप सिद्ध हो सकें । अनुपङ्ग जैसे—मग्न मग्नवान् । (मस्क्त्, क्तवत्) यदा मस्क् धातु से क्त क्तवत् प्रत्यय परे होने पर मस्जिनरोर्त्ति से हुआ नुम् का आगम मस्क् के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो मस्क्न् हो कर नकार के उपधा में आ जाने से अनिर्दा हल उपधाया से नकार का लोप सिद्ध हो जाता है । साथ ही सकार के सयोगादि हो जाने से स्को सयोगाद्यो० से सकार का लोप भी सिद्ध हो जाता है । अकेले सयोगादिलोप का उदाहरण जैसे—मङ्क्ता मङ्क्त्वम् मङ्क्त्वम् । (मस्क्त्, तुमुन्, तव्यत्) यदा मस्क्त् इस स्थिति में सकार के सयोगादि हो जाने से स्को सयोगाद्यो से सकार का लोप सिद्ध हो जाता है ।

भर्जिमर्च्योश्च ।

भर्जिमर्च्योश्चान्त्यात्पूर्वो मिद्वक्तव्यः । भरुजा मरीचय इति ।

स तर्हि वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः । निपातनात् सिद्धम् । किं निपातनम् । भरुजा शब्दोऽङ्गुल्यादिषु पठ्यते । मरीचिशब्दो वाह्यादिषु ।

किं पुनरय पूर्वान्तः, आहोस्वित् परादि, आहोस्विदभक्तः ।

कथं चाय पूर्वान्त स्यात्, कथं वा परादिः कथं वाऽभक्तः ।

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । अथादिरिति वर्तते ततः परादिः । अथोभय निवृत्त ततोऽभक्तः ।

भृञ् और मर्च धातुओं में भी मित् को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये । जैसे—भरुजा मरीचय । ये उदाहरण हैं । भरुजा में भृञ् धातु से अच् प्रत्यय पर होने पर लघूपधगुण हो कर औणादिक ऊम् का आगम भृञ् के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो भरुजा सिद्ध हो जाता है । मरीचि में मर्च धातु से इ प्रत्यय पर रहते औणादिक ईम् का आगम मर्च के अन्तिम अक्षर चकार से पूर्व हो जायगा तो मरीचि शब्द सिद्ध हो जाता है ।

भर्जिमर्च्योश्च यह वचन क्या कह दिया जाय ?

इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं । भरुजा मरीचि ये दोनों शब्द निपातन से सिद्ध हो जायेंगे । क्या निपातन है ? भरुजा शब्द तो अङ्गुल्यादिभ्यश्चु इस सूत्र के अङ्गुल्यादिगण में पड़ा गया है । मरीचि शब्द वाह्यादिभ्यश्चु इस सूत्र के वाह्यादिगण में । गणपाठ में पठित होने से दोनों शब्द निपातन से सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या यह मित् का आगम पूर्व का अन्ताग्रय होता है या पर का आदि अग्रय, या अभवत् अर्थात् दोनों में से किसी का भी अग्रय नहीं होता ?

कैसे तो यह पूर्व का अन्ताग्रय हो सकता है, कैसे पर का आदि अग्रय और कैसे अभवत् किसी का भी अग्रय नहीं ।

यदि आन्ती टक्री इस पूर्व सूत्र से यहाँ अन्त की अनुवृत्ति लार्गे तो पूर्व का अन्ताग्रय हो सकता है । यदि आदि की अनुवृत्ति लार्गे तो पर का आदि

कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घनलोपस्वरणत्वानुस्वारशीभावा ।

यद्यभक्तो दीर्घत्व न प्राप्नोति । कुण्डानि वनानि । नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धावि'ति दीर्घत्व न प्राप्नोति । दीर्घ ॥ नलोप-  
नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने त्री ते वाजिना त्री पथस्था । ता ता  
पिण्डानाम् । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपो न प्राप्नोति । न-  
लोप ॥ स्वर-स्वरश्च न सिध्यति । सर्वाणि ज्योतीषि । सर्वस्य सुपी'-  
त्याद्युदात्तत्व न प्राप्नोति । स्वर ॥ णत्व-णत्व च न सिध्यति । मापवापाणि ।  
व्रीहिवापाणि । पूर्वान्ते प्रातिपदिकान्तनकारस्येति सिद्धम् । परादौ

अवयव । और यदि दोनो में से किसी की भी अनुवृत्ति न लावें तो अभक्त हो सकता है ।

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है ?

अभक्त पक्ष मानने पर दीर्घ, नलोप, स्वर, णत्व, अनुस्वार और शीभाव सिद्ध नहीं होते । कुण्डानि वनानि यहाँ नुम् के अभक्त होने से नान्त अङ्ग न होगा तो नोपधाया की अनुवृत्ति से सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ सूत्र से उपधा दीर्घ नहीं प्राप्त होता । ता ता पिण्डानाम् यहाँ तानि के स्थान में वैदिक व्यत्यय से ता यह रूप होता है । शेरच्छन्दसि बहुलम् से शि का लोप हो कर तान् इस अवस्था में नुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा तो नलोप प्रातिपदि० से नकार का लोप नहीं प्राप्त होता । सर्वाणि यहाँ नुम् के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो सर्वशब्द स परे अव्यवहित सुप् न मिलने से सर्वस्य सुपि से आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । मापवापाणि व्रीहिवापाणि यहाँ नुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा तो प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च से णत्व नहीं प्राप्त होता । उसके लिये सूत्र में नुम् ग्रहण करना होगा । पूर्वान्त पक्ष में तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार हो जाने से प्रातिपदिकान्त कहने से ही णत्व सिद्ध है । परादिपक्ष में भी

१. यदि कहो यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययऽङ्गम् इस सूत्र में तदादिग्रहण तदादिवचन स्यादिनुमर्थम् इस वचन द्वारा नुम् सहित का अङ्गसजा क न्ये नुम् के अभक्त होने पर भी कुण्डानि वनानि में कुण्डन् वनन् ये नान्त अङ्ग बन जायेंगे तब तो यह दोष न होगा ।

विभक्तिकारस्येति । अभक्ते नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् ।  
क्रियते एतन् न्यास एव । 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु चे'ति । णत्व ॥  
अनुस्वार-अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विपन्तपः परन्तपः । मोनुस्वारो  
हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'नश्चापदान्तस्य हली'त्येवं  
भविष्यति । यस्तर्हि न श्त्परः । चहंलिहो गौः । अभ्रंलिहो वायुः ।  
अनुस्वार ॥ शीभाव-शीभावश्च न सिध्यति । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी ।  
नपुसकादुत्तरस्यौडः शीभावो भजतीति शीभावो न प्राप्नोति । शीभाव ॥

एवं तर्हि परादिः करिष्यते ।

परादौ गुणवृद्धयैत्त्वदीर्घनलोपानुस्वारशीभावे नकारप्रतिषेधः ।

यदि परादिः गुणः प्रतिषेध्यः । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे । 'घेडिंती'ति  
गुणः प्राप्नोति । गुण ॥ वृद्धि-वृद्धिः प्रतिषेध्या । अतिसस्त्रीनि ग्राहण-

विभक्ति का अवयव हो जाने से विभक्ति कहने से णत्व सिद्ध है । उन दोनों  
में नुम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । यदि कहे प्रातिपदिकान्तनुम् विभ० सूत्र  
में नुम् ग्रहण कर ही रखा है तब तो यह णत्व का दोष न होगा । द्विपन्तप  
परन्तप यहाँ मुम् के अभक्त होने से मान्त पद न होगा तो मोनुस्वारः से  
अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । यदि कहे मोनुस्वारः से न सही, नश्चापदान्तस्य  
हलि से अनुस्वार कर लेंगे तो वहँलिह्, अभ्रंलिह् यहाँ लिह् के एकार के  
हल् न होने से हल् परे न होगा तो नश्चापदान्तस्य० से भी अनुस्वार नहीं  
प्राप्त होगा । नपुर्णा जतुनी तुम्बुरुणा यहाँ नुम् के अभक्त होने से उसका  
व्यवधान हो जायगा तो नपुंसकाच्च से औड् को शी आदेश नहीं प्राप्त होता ।

तो फिर मित् को परादि मान लेंगे ।

मित् को परादि मानने पर गुण वृद्धि, औत्प, दीर्घ, नलोप, अनुस्वार  
और शीभाव में नकार का प्रतिषेध करना होगा । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे यहाँ  
नुम् परादि हो कर ङे विभक्ति का अवयव हो जायगा तो त्रपु आदि को

१ द्विपन्तप यह उदाहरण तो परन्तपः के प्रत्यय से वह दिया है । इसमें  
मुम् को अनुस्वार की अप्राप्ति का दोष नहीं है । क्योंकि द्विपन् शब्द को हुआ मुम्  
का आगम तन्मध्यपठितरन्द्ग्रहणेन गृह्यते इग न्याय से द्विपन् के ग्रहण से  
पृथीत हो जायगा । द्विपम् इग के मान्त पद बन जाने से मोऽनुस्वारः गिद्ध है ।

कुलानि । सत्प्युरसमुद्धौ इति णित्त्वे 'अचो ङ्णित्ति'ति वृद्धिः प्राप्नोति ।  
 वृद्धिः ॥ औत्त्व-औत्त् च प्रतिषेध्यम् । त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि ।  
 'इदुद्भ्याम् औदच्च घेरि'ति औत्त्व प्राप्नोति । औत्त्व । दीर्घ दीर्घत्व  
 च न सिध्यति । कुण्डानि वनानि । 'नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'  
 इति दीर्घत्व न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'अतो दीर्घां यञि सुपि  
 चेत्ये'व भविष्यति । इह तर्हि अस्थीनि दधीनि प्रियसखीनि ब्राह्मणकुलानि ।  
 दीर्घ । नलोप-नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने त्री ते वाजिना त्री पथस्था ।  
 ता ता पिण्डानाम् । नलोप प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपो न प्राप्नोति ।  
 नलोप । अनुस्वार-अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विपन्तपः परन्तप-  
 'मोनुस्वारो हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'नश्चापदान्तस्य  
 झली'त्येव भविष्यति । यस्तर्हि न झल्पर' । वहलिहो गौः । अभ्रलिहो  
 वायुः । अनुस्वार । शीभावे नकारप्रतिषेधः । शीभावे नकारप्रतिषेधो  
 वक्तव्य' । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी । सनुम्बुरुस्य शीभावः प्राप्नोति ।

घोडिति से गुण प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । सखायमतिव्रान्तानि  
 अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि यहा नुम् परादि हो कर जस् विभक्ति का अवयव  
 हो जायगा तो सत्प्युरसमुद्धौ से णित्त्व हो कर अदन्त अतिसखि शब्द को  
 अचो ङ्णिति से वृद्धि प्राप्त हाती है उसका निषेध कहना होगा । त्रपुभि  
 जतुनि तुम्बुरुणि यहा नुम् परादि हा कर णि विभक्ति का अवयव हो जायगा  
 तो अच्च घे से औत्त्व प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । कुण्डानि  
 वनानि यहा नुम् क परादि हो जान से नान्त अङ्ग न होगा तो सर्वनामस्थाने  
 चासम्बुद्धौ से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । यदि कहे कुण्डानि वनानि में नि के  
 यजादि सुप् हो जाने से सुपि च से दीर्घ कर लेंगे तो अस्थान दधानि प्रियसखीनि  
 यहा अस्थि आदि क अदन्त न होने से सुपि च से भी दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।  
 अग्ने त्रा त० इस वैदिक प्रयोग में त्रीणि क स्थान में त्री यह रूप होता है ।  
 यहा नुम् के परादि होने से प्रातिपदिकान्त नकार न मिलेगा तो नलोप  
 प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार तानि के स्थान में  
 प्रयुक्त ता इसमें नुम् के परादि होने से नलोप नहीं प्राप्त होता । द्विपन्तप  
 परन्तप यहा नुम् के परादि होने से नान्त पद न होगा तो मोनुस्वार से अनुस्वार  
 नहीं प्राप्त होता । यदि कहे मोनुस्वार से न सही, नश्चापदान्तस्य झलि स  
 कर लेंगे तो वहलिह अभ्रलिह यहा लिह का लकार च् परे न होने से  
 नश्चापदान्त० से भी अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणा यहा  
 औद् को शीभाव करने में भी नकार का प्रतिषेध करना होगा । नुम् परादि



नैष दोषः । 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ती'त्येवं न भविष्यति । यस्तर्हि  
निर्दिश्यते तस्य न प्राप्नोति । कस्मात् । नुमा व्यचहितत्वात् ।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्ते नपुसंकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च ।

यदि पूर्वान्तः क्रियते नपुसंकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च न  
सिध्यति । नपुसंकोपसर्जनह्रस्वत्वम् । आराशस्त्रिणी । धाना शष्कुलिनी ।  
निष्कौशाम्बिनी । निर्वाणसिनी । द्विगुस्वर—पञ्चारत्निनी । दशारत्निनी ॥

हो कर औ विभक्ति का अरथ हो जायगा तो नुम् सहित औ को शी प्राप्त  
होता है । यदि वही निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस न्याय से नपुसंकोप  
में निर्दिष्ट करल नुम् रहित औ को ही शी होगा तो भी नुम् का व्यवधान हो  
जाने से औ को शी नहीं प्राप्त होता ।

अरुदा तो फिर मित् को पूर्वान्त मान लेंगे ।

मित् को पूर्वान्त मानने पर नपुसक को और उपसर्जन को होने वाला  
ह्रस्व तथा द्विगुस्वर नहीं सिद्ध होते । आराशस्त्रिणी । धानाशष्कुलिनी । यहाँ  
आरा च शस्त्री च ते आराशस्त्रिणी । धानाश्च शष्कुत्वश्च ते धानाशष्कुलिनी  
इस द्वन्द्व समास में जातिरप्राणिनाम् से एवञ्जाव हो कर नपुसक हो जाता है ।  
आरा शस्त्री-औ, धाना शष्कुली-औ इस अवस्था में नपुसंकोप से औ को शी  
हो कर ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिक्य से प्राप्त ह्रस्व को नित्य होने से इकोचि  
विभक्ती से विहित नुम् बाध होगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त  
मानने पर आरा शस्त्री, धानाशष्कुली ये अजन्त न रहेंगे तो ह्रस्वो नपुसके से  
नपुसंकोप नहीं प्राप्त होता । निष्कौशाम्बिनी निर्वाणसिनी यहाँ निर्गते कौशाम्ब्याः  
ये ते । निर्गते वाराणस्याः ये ते इस प्रादिसमास में नपुसक लिङ्ग का प्रथमा  
द्विचन औ होता है । निग् कौशाम्बी-औ, निग् वाराणसी-औ इस अवस्था में औ को  
शी हो कर गोभिर्योऽपसर्जनस्य स प्राप्त ह्रस्व को नित्य होने से इकोचि विभक्ती  
यद् बाध होगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त मानने पर कौशाम्बी  
वाराणसी क अजन्त न रहने से उपसर्जन ह्रस्व नहीं प्राप्त होता । पञ्चारत्निनी  
यहाँ पञ्च अरथ्यः प्रमाणमनयो ते । पञ्चानामरत्निनां समाहारो वा ते । इस प्रकार  
तद्विधार्थ में वा समाहार में द्विगु समास है । पञ्चारत्नि-औ इस अवस्था में नपुसक  
में औ को शी हो कर इकोचि विभक्ती से नुम् होता है । नुम् को पूर्वान्त मानने

नुमि कृतेऽनजन्तत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति ।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । बहिरङ्गलक्षणत्वात् । बहिरङ्गो नुम् । अन्तरङ्गा एते विधयः । 'असिद्धे बहिरङ्गमन्तरङ्गे' । द्विगुस्वरे भूयान् परिहारः । संघातभन्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमिति कृत्वा द्विगुस्वरो भविष्यति ।

एच इग्रस्त्रादेशे ॥११॥४८॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

एच इग्रचन सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थम् ।

एच इग् भवतीत्युच्यते सवर्णनिवृत्त्यर्थमकारनिवृत्त्यर्थं च । सवर्ण-

पर पञ्चारणि के इगन्त न रहने से इगन्तकालकपालभगालक्षरावेपु द्विगौ सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर नहीं प्राप्त होता ।

ये कोई दोष नहीं । आराशस्त्रिणा आदि में नित्य नुम् को भी अन्तरङ्ग ह्रस्व बाध लेगा तो पहले नपुंसक ह्रस्व और उपसर्जन ह्रस्व हो कर बाद में नुम् होगा । क्योंकि विभक्ति की अपेक्षा रखने वाला नुम् बहिरङ्ग है । और विभक्ति की अपेक्षा न रखने वाला ह्रस्व अन्तरङ्ग है । असिद्धे बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा बल से ह्रस्व के प्रति नुम् असिद्ध हो जायगा तो पहले ह्रस्व ही होगा । नुम् न होगा । ह्रस्व के बाद नुम् ही जाने से कोई दोष न होगा । पञ्चारिणी यहाँ द्विगुस्वर के विषय में विशेष समाधान यह भी है कि पञ्चारिणी इस समुदाय का भक्त ( अवयव बना हुआ ) नुम्, पञ्चारिणी की ही इगन्तता को पूर्वान्त हो कर नष्ट करेगा । उसके अवयव अरलि की इगन्तता को नष्ट नहीं करेगा तो नुम् होने पर भी अरलि के इगन्त रहने से इगन्तकालकपाल० से पूर्वपदप्रकृतिस्वर निर्बाध हो जायगा ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ।

यह सूत्र इस लिये बनाया है कि एचों को इक् ही ह्रस्व होवे । एचों में

१. यहा पूर्वान्त परादि अभक्त इन तीनों पक्षों में निर्दोष होने से पूर्वान्त पक्ष को ही माध्यकार तथा वार्तिककार ने स्वीकार किया है ।

निवृत्त्यर्थं तावत्-एडो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वा मा भूदिति । अकारनिवृत्त्यर्थं च । इमावेषौ समाहारवर्णौ । मात्रावर्णस्य, मात्रावर्णोवर्णयोः । तयोर्ह्रस्वशासनेषु कदाचिद्वर्णः स्यात् । कदाचिद्वर्णो वर्णौ । मा कदाचिद्वर्णो भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्ह्यिति ।

दीर्घप्रसङ्गस्तु ।

दीर्घांस्त्विऋः प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । स्थानेन्तरतमो भवतीति ।

ननु च ह्रस्वादेश इत्युच्यते तेन दीर्घा न भविष्यन्ति ।

विषयार्थमेतत् स्यात् । एचो ह्रस्वप्रसङ्गे इग् भवतीति ।

दीर्घाप्रसङ्गस्तु निवर्तकत्वात् ।

दीर्घाणां त्विकामप्रसङ्गः । किं कारणम् । निवर्तकत्वात् । नानेनेको नियत्यन्ते । किं तर्हि । अनिको नियत्यन्ते । सिद्धा एषा ह्रस्वा इकश्चानिश्चयः ।

ए ओ ऐ औ ये चार अक्षर हैं । उनमें ए ओ के सर्णी भाषा ए और भाषा ओ भी मात्रिक होने से ह्रस्व प्राप्त होते हैं । वे न होंगे । ए ओ ये दोनों प्रदिष्टावर्ण हैं । इन में अकार का प्रिभाग नहीं हो सकता इस लिये अकार की ह्रस्व-प्राप्ति की तो संभावना नहीं । किन्तु ऐ औ ये दोनों विदिष्टावर्ण हैं । इनमें एऊ मात्रा अवर्ण की है । एक इवर्ण उवर्ण की । दोनों का प्रिभाग सम्भ्र है । दोनों में इवर्ण उवर्ण के साथ अवर्ण की भी मात्रा होने से कभी अवर्ण ह्रस्व न होवे अपितु इवर्ण उवर्ण ही होंगे इस लिये यह सूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु एर्णों के दीर्घ होने से उनके स्थान में होने वाले इक् भी अन्तरतम परिभाषा से दीर्घ ही प्राप्त होते हैं ।

सूत्र में ह्रस्वादेशे कहने का प्रयोजन तो ह्रस्वप्रिय में एर्णों को इक् करना है । एर्णों को ह्रस्व करते समय इक् भी ह्रस्व ही होंगे यह कैसे मानें ?

एर्णों के स्थान में इक् ह्रस्व ही होंगे, दीर्घ नहीं । क्योंकि हम सूत्र को इर्कों का निर्गक ( निव्यादक ) न मान कर अनिर्कों का निर्गक ( इटाने वाला ) मानेंगे । ह्रस्व करने वाले सूत्र के साथ इस की एकवाक्यता हो जायगी तो एर्णों को जो भी ह्रस्व होंगे वे इक् ही होंगे । इस प्रकार एर्णों में इक्-भिन्न ह्रस्वों को इटाना इस सूत्र का काम होगा । यह एर्णों को ह्रस्व इक् का विधान न कर के

तत्रानेनातिको निवर्त्यन्ते ।

सवर्णानिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

सिद्धमेडः सस्थानत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । एडः सस्थानत्वात् इकारोकारौ भविष्यतः । अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा न भविष्यति ।

ननु च एडः सस्थानतरावर्धेकारार्धोकारौ ।

न तौ स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् ।

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्निराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते । सुजाते ए अश्वसूत्रे । अर्धयो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्रं ते ए अन्यत् । यजतं ते ए अन्यदिति ।

पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम् । नैव लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वास्ति ।

इक् भिन्न ह्रस्वो को ह्रस्वायेगा । एचो को इक् और अनिक् दोनों प्रकार के ह्रस्व प्राप्त हैं ।

एड् में ए ओ के सवर्णी आधा ए और आधा ओ ह्रस्व न हो जायें इसके लिये तो एच इग्नस्वादेशे इस सूत्र के बनाने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि ए ओ के सस्थान अर्थात् तुल्यस्थान वाले इकार उकार हैं वे ही ह्रस्व होंगे ।

ए ओ समानस्थान वाले आधा ए और आधा ओ जब विद्यमान हैं तो वे ह्रस्व क्यों न हों ?

आधा ए और आधा ओ तो कहीं हैं ही नहीं । यदि होते तो आचार्य मात्रिक होने से उन्हीं का अक्षरसमाम्नाय में उपदेश करते । द्विमात्रिक ए ओ का नहीं ।

छन्दोग शाखाध्यायिओ सात्यमुग्निराणायन के शिष्य सुजाते ए अश्वसूत्रे अर्धयो ओ अद्रिभि सुतम्, शुक्रं ते ए अन्यत्, यजतं ते ए अन्यत्, यहाँ आधा ए और आधा ओ पड़ते हैं । ( ये ए ओ कहां से आये ? )

वह उनकी पार्षदकृति है । अपने प्रातिशारय का नियम है । वे अपने यहाँ जैसा उच्चारण करना चाहें करें । किन्तु लोक या अन्य किसी वेद में आधा ए और आधा ओ नहीं है ।

अकारनिवृत्त्यर्थेनापि नाथः ।

ऐचोश्चोत्तरभूपस्त्वाद् ।

ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वाद्घर्षो न भविष्यति । भूयसी मात्रेवर्णोघर्षयो-  
ग्ल्यायन्यवर्णस्य । भूयम् एव ग्रहणानि भविष्यन्ति । तद्यथा ब्राह्मण-  
ग्राम आनीयतामिन्युच्यते । तत्र चावरतः पञ्चकारकी भवति ।

पष्ठी स्थानेयोगा ॥१॥१॥४९॥

किमिदं स्थानेयोगेति ?

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । सप्तम्यलोपो निपातनात् ।

ऐ औ में अवर्ण डस्व न हो जावे इस के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं । क्योंकि ऐची में उत्तरभूयस्त्व अर्थात् पिछले इवर्ण उवर्ण की अधिकता होने से वही डस्व होगा, अवर्ण नहीं । ऐ औ ये दोनों सिद्धिष्टावर्ण हैं इनमें अवर्ण की मात्रा थोड़ी और इवर्ण उवर्ण की अधिक मुनने में आती है । इस लिये अधिक मात्रा वाले इवर्ण उवर्ण का ही ग्रहण होगा । जैसे ब्राह्मणग्राम त्वान्दनाम् इस वाक्य द्वारा ब्राह्मणों का गात्र बुलाओ ऐसा कहा जाता है । उसमें त्रिम गांव में अधिकता से ब्राह्मण हैं वही बुलाया जाता है । यद्यपि वहां कम से कम पञ्चकारकी अर्थात् थोड़ी, उलाहा, बटई, नाई और कुम्हार ये ५ तिल्ली अवश्य ही होते हैं । पश्यानी काठकानी मनाहारः = पञ्चकारकी ।

यह स्थानेयोगा क्या है ? ( यदि यह समस्त पद है तो मुष् का लुक् हो कर स्थानयोगा होना चाहिये । अममस्त अवस्था में स्त्रीलिङ्ग षष्ठी शब्द का विशेषण स्थाने युक्ति, ऐमा होना चाहिये ) ।

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । यह बहुव्रीहि समास है । इसमें निपातन से सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं हुआ । अथवा स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । इस प्रकार तृतीयाखंड यात्रा बहुव्रीहि समास है । तृतीया का लुक् हो कर निपातन से एकार हो गया है । या निपातन से तृतीया विभक्ति २१ के स्थान में एकार हो कर उसका अलुक् है । त्रिम का स्थान में या स्थान के कारण योग है सम्बन्ध है वह षष्ठी स्थानेयोगा कहाती है । जैसे—देवदत्तस्य वरदत्तः यदी षष्ठी में देवदत्त के साथ वरदत्त का पुत्रादिशब्द सम्बन्ध

१. इस प्रकार भाष्य वार्तिककारों ने इस सूत्र का उद्घाटन कर दिया है ।

तृतीयाया वा एत्वम् । स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगेति ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

पष्ठी स्थानेयोगवचन नियमार्थम् । नियमार्थोऽयमारम्भः । एकशतं पष्ठ्यर्था यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे पष्ठ्यामुच्चारिताया प्राप्नुवन्ति । इष्यते च व्याकरणे या पष्ठी सा स्थानेयोगेव स्यादिति तच्चान्तरेण यत्न न सिध्यतीति पष्ठ्या. स्थानेयोगवचन नियमार्थम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

अत्रयवपष्ठ्यादिश्रुतिप्रसङ्ग शासे गाह इति

अत्रयवपष्ठ्यादयस्तु न सिध्यन्ति । तत्र को दोषः । शास इद् इद् हलो-रिति शासेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च । 'ऊदुपधाया गोह' इति गोहश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च ।

समझा जाता है उसी प्रकार अस्तर्भू इत्यादि पठिषो में इस परिभारा द्वारा स्थाननिमित्तक सम्बन्ध समझा जायगा । स्थान शब्द प्रसङ्गनाची या अथनाची दोनो प्रकार का माना गया है ता अस्तर्भू का अर्थ होगा—अस् के स्थान में प्रसङ्ग में उसका प्रयोग की प्राप्ति में भू का प्रयोग होता है । या अस् क अर्थ में भू का प्रयोग होता है ।

यह सूत्र क्यों बनाया है ?

यह सूत्र नियम के लिये बनाया है । एक सौ या उससे अधिक और नितने भी पष्ठी के अर्थ हैं वे सब पष्ठी का उच्चारण करने पर प्राप्त हाते हैं । हम चाहते हैं कि व्याकरण में जो पष्ठी है उसका स्थान के साथ ही सम्बन्ध हो । यह बात बिना यत्न किये सिद्ध नहीं होती इस लिये पष्ठी स्थानेयोगा यह नियमसूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु शास गाह इन अवयव पठिषो में भी स्थान का सम्बन्ध प्राप्त होता है । किसी का अङ्ग बनी हुई पष्ठी को अवयव पष्ठी कहते हैं । वैप शास इद् इद् हला यहा उपधाया इस पष्ठी का अङ्ग बनी हुई शास यह पष्ठी अवयवपष्ठी है । उस में भी स्थान का योग होगा तो शास के स्थान में और क्रिसा भी उपधा के स्थान में इकार प्राप्त होता है । ऊदुपधाया गाह यहा भी गोह के स्थान में और

अवयवपष्ठ्यादीनां चाप्रातिर्योगस्यासदिग्धत्वात् ।

अवयवपष्ठ्यादीनां च नियमस्याप्राप्तिः । किं कारणम् । योगस्यासं-  
दिग्धत्वात् । सन्देहे नियमः । न चावयवपष्ठ्यादिषु सन्देहः ।

किं वक्तव्यमेतत् ।

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

लौकिकोऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा लोके कश्चित् कंचित् पृच्छति  
ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति । स तस्मायाचष्टे  
अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो<sup>१</sup> ग्रहीतव्यः । अमुष्मिन्नवकाशे हस्तवाम इति ।

किसी भी उपधा के स्थान में उकार प्राप्त होता है ।

शासः गोहः आदि अवयवपष्ठियों के योग में सन्देह न होने से  
स्थान योग का नियम न होगा । जहाँ योग में सन्देह होता है वही  
पृष्ठी स्थानेयोगा यह नियम लगता है । शासः गोहः में शास और गोह की  
अवयव जो उपधा इस प्रकार पृष्ठी का अवयव रूप अर्थ सन्देह रहित है  
इस लिये वहाँ इस सूत्र की उपस्थिति न होगी ।

क्या यह बात कहनी होगी कि सन्देह में ही यह स्थानेयोग का  
नियम लगता है ?

नहीं । कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

पिर बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

लोक व्यवहार से यह बात समझ ली जायगी । सन्देह में ही नियम  
हुमा करता है । जैसे लोक में कोई किसी से पूछता है कि मैं दूसरे  
गाँव जाऊँगा, आप मुझे रास्ता बता दें तो वह उसे बताता है कि ऐसे  
स्थान में दाएँ हाथ ही जाना और ऐसे स्थान में बाएँ हाथ । जो वहाँ  
तिरपट्ट पथ अर्थात् गन्तव्य दिशा से भिन्न दिशा का मार्ग होना है उस में  
जाना न होने से सन्देह नहीं तो उसे नहीं बताया जाता । इसी प्रकार

१. हस्तो दक्षिणो यस्य स पन्था हस्तदक्षिणः । बहुव्रीहिः । भाष्यकारवचन  
से यहाँ गर्वनाम वा परनिर्वाण गायु है ।

यस्तत्र तिर्यक्पथो' भवति न तस्मिन् सन्देह इति वृत्त्वा नासावुपदिश्यते ।  
एवमिहापि सन्देहे नियमः । न चात्रयवपष्ठ्यादिषु सन्देहः ।

अथवा स्थाने अयोगा स्थानेयोगा । किमिदमयोगेति । अन्यक्तयोगा  
अयोगा ।

अथवा योगवती योगा । का पुनर्योगवती । यस्या वहवो योगाः ।  
कुत एतत् । भूमि हि मत्तुप् भवति ।

विशिष्टा वा पष्ठी स्थानेयोगा ।

अथवा किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि इत्यंलिङ्गा पष्ठी स्थानेयोगा  
भवतीति । न च तल्लिङ्गमवयवपष्ठ्यादिषु करिष्यते ।

यद्यत्र 'शास इद्द्रहलो । शा हौ । शासिग्रहण कर्तव्य स्थाने-

यहां भी सन्देह में स्थानेयोग का नियम है । शास गोह आदि अवयवपष्ठियों  
में सन्देह न होने से इस नियम की उपस्थिति न होगी ।

अथवा स्थानेयोगा में स्थाने अयोगा इस प्रकार अयोगा का प्रक्षेप  
समझेंगे । यह अयोगा क्या है । अन्यक्तयोगा अयोगा । जो अस्पष्ट  
(अनिर्धारित) योग (सम्बन्ध) वाली है । जहां योग का साफ पता नहीं लगता  
ऐसी पष्ठी का स्थान के साथ योग होता है यह सूत्र का अर्थ होगा ।

अथवा योगवती योगा इस प्रकार योगा शब्द में बहुत अर्थ में  
मत्वर्याय अच् प्रत्यय मान कर जहां बहुत से योग सम्भव हैं उस पष्ठी का स्थान  
अर्थ के साथ योग माना जायगा ।

अथवा किसी विशेष सकृत् वाली पष्ठी को ही स्थानयोगा मानेंगे । कोई  
विशेष चिह्न लगा कर कहेंगे कि इस चिह्न वाली पष्ठी स्थानेयोगा होती है ।  
वह चिह्न अवयवपष्ठियों में नहीं लगायेंगे । उस से उनका सम्बन्ध स्थानयोग  
से नहीं होगा ।

तब तो शास इद्द्रहलो में शास के स्थान पष्ठी न होने से शा हौ इस  
उत्तर सूत्र में भी अनुवृत्त शान यह स्थान पष्ठी न होगी तो वहां स्थान

१ टेडा मार्ग । पूर्व अथवा पश्चिम दिशा में जाते हुए के लिये दक्षिण व उत्तर  
को जाने वाला मार्ग ।



योगार्थं लिङ्गमासङ्ख्यामीति ।

न कर्तव्यम् । यदेवादः पुरस्तादवयवपष्ठ्यर्थं प्रकृतम्, एतदुत्तरानुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति । कथम् । अधिकारो नाम त्रिप्रकारः । कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिव्यलयति । यथा प्रदीप सुप्रज्वलितः सर्वं घटमाभिव्यलयति । अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वा अयसा वा घटं काष्ठमनुवृष्यते तद्वदनुवृष्यते चकारेण । अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थं इति योगे योगे उपतिष्ठते । तद् यदप पक्षः अधिकारः प्रतियोग तस्यानिर्देशार्थं इति, तदा हि यदेवादः पुरस्तादवयवपष्ठ्यर्थम् एतदुत्तरानुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति ।

सम्प्रत्ययमात्रमेतद् भवति । न ह्यनुच्चार्य शब्दं लिङ्गं शक्य-  
मासङ्ख्यन्तुम् ।

पत्नी बनाने के लिये अलग शास्त्र प्रवृत्त करना पड़ेगा । अन्यथा शास्त्र के स्थान में शास्त्र आदेश न हो सकेगा ।

शास्त्री ही में स्थान पत्नी के लिये अलग शास्त्र प्रवृत्त करने की आवश्यकता नहीं । शास्त्र इदं ह्येतत् से ही शास्त्रों की अनुवृत्ति कर लेंगे । ऊपर शास्त्रः यह अर्थव्यवस्था होता हुआ भी शास्त्री में अनुवृत्त होकर स्थान पत्नी बन जायगा । कैसे ? अधिकार तीन प्रकार का होता है । एक परिभाषा रूप जो एक स्थान पर रहता हुआ ही सारे शास्त्र में व्यापृत होता है । सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करता है । जैसे सम्पूर्ण प्रदीप्त दीपक एक कोने में रखा हुआ ही सारे घर को प्रकाशित करता है । दूसरा अधिकार अनुवृत्ति करे है जो 'च' शब्द लगा कर ऊपर से खींचा जाता है जैसे रस्ती या लोहे से बंधी लकड़ी खींची जाती है । तीसरा अधिकार स्वरित चिह्न से समझा जाता है जो कि अधिवृत्त हर जगह निर्दिष्ट (उच्चारित) न किया जाकर भी स्वरितचिह्न द्वारा उदात्त जरूरत होती है यहाँ तक प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होता है । इन तीनों में जो तीसरे प्रकार का अधिकार मानेंगे तो शास्त्र इदं ह्येतत् में अथवा पत्नी बना हुआ 'शास्त्रः' यह शब्द स्वरितचिह्न द्वारा अनुवृत्ति से शास्त्री में स्थान पत्नी बन जायगा । अर्थात् यहाँ शास्त्राधिकार का आधायन किया जायगा ।

स्वरितचिह्न में अनुवृत्ति करके स्थान पत्नी का अनुमान तो हो जायगा पर गिना शास्त्रः पढ़ें उस में स्थान पत्नी का लिङ्ग (चिह्न) नहीं लगाया जा सकता ।

एवं तद्वादेशे तल्लिङ्गं करिष्यते । तत् प्रकृतिमास्कन्त्यति ।

यदि नियमः करिष्यते । यत्रेका पष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति । अङ्गस्य हलः अणः सम्प्रसारणस्येति । हलपि विशेष्योऽणपि विशेष्यः । सम्प्रसारणमपि विशेष्यम् । असाति पुनार्णयमे कामचारः । एकया पष्ठ्या अनेकं विशेषयितुम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बल इति । तस्मान्नार्थो नियमेन ।

ननु चोक्तम् एकशतं पष्ठ्यथाः यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे पष्ठ्या-मुच्चारितायां प्राप्नुवन्तीति ।

नैप दोषः । यद्यपि लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्था यौना मौखाः स्त्रौवाश्चेति । शब्दस्य तु शब्देन कोऽन्योभिसम्बन्धो भवितुमर्हति

तो या आदेश में वह लिङ्ग लगा देंगे । आदेश किसी के स्थान में ही होता है इस लिये वह अपनी प्रकृति (स्थानी) शास्त्र को पकड़ लेगा ।<sup>१</sup>

यदि यह नियम सूत्र बनाते हैं तो जहाँ एक पष्ठी (स्थान में ही हुई) का अनेक विशेष्यो के साथ सम्बन्ध अभीष्ट है वहाँ काम नहीं चलता । जैसे—अङ्गस्य, हल, अणः, सम्प्रसारणस्य । यहाँ स्थानपष्ठी से अङ्ग भी विशेष्य है । हल भी विशेष्य है, अण भी विशेष्य है । सम्प्रसारण भी विशेष्य है । सत्रके स्थानपष्ठी हो जाने से हलः सूत्र का अर्थ ठीक नहीं बनता । नियम न बनाने पर तो हमारी इच्छा है एक ही पष्ठी से अनेक को विशेषित करने में किसी को स्थानपष्ठी या अवयवपष्ठी दुष्ट भी बनावे । जैसे—देवदत्तस्य पुत्रः पाणि कम्बल । देवदत्त का पुत्र, देवदत्त का हाथ और देवदत्त का कम्बल यहाँ देवदत्त में पष्ठी का पुत्रादि के साथ जन्यजनक भाव अवयवावयवविभार, स्वस्वामिभाष आदि भिन्न भिन्न सम्बन्ध होता है । इस लिये इस सूत्र का न बनाना ही ठीक है ।

यह जो कहा था कि बिना इस नियम सूत्र के सैकड़ों पष्ठी के अर्थ पष्ठी के उच्चारण करने पर प्राप्त होंगे उसका क्या समाधान है ?

वह कोई दोष नहीं । यद्यपि लोक में आर्थ=घन से होने वाले स्वामी भृत्य आदि, यौन=योनि से होने वाले पिता पुत्रादि, मौख=मुख से होने वाले गुरु शिष्य आदि, स्त्री=स्त्रुवा से होने वाले यजमान पुरोहित आदि बहुत

१. आदेश में विद्ये हुए लिङ्ग का कार्य उसके स्थानी में फलित होगा ।

अन्यदतः स्थानात् ।

शब्दस्यापि शब्देनानन्तरादयोऽभिसम्बन्धाः । अस्तेर्भूमवतीति सन्देशः स्थाने अनन्तरे समीपे इति ।

सन्देशमात्रमेतद् भवति । सर्वसन्देशेषु चेदमुपतिष्ठते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देशादलक्षणम्' इति । स्थान इति व्याख्यास्यामः ।

न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः । वक्तव्यदच । किं प्रयोजनम् । पठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत यतः पठ्युच्चारिता । किं कृतं भवति । निर्दिश्यमानस्थादेशा भवन्तीति परिभाषा न कर्तव्या भवति ।

से सम्बन्ध है किन्तु शब्द का शब्द के साथ और क्या सम्बन्ध हो सकता है सिवाय स्थान के । हम लिये सूत्र के बिना भी स्वतः स्थानरूप सम्बन्ध समझ लिया जायगा ।

शब्द के भी शब्द के साथ अनन्तर समीप आदि सम्बन्ध होते हैं । इस सूत्र के बिना अस्तेर्भूः में सन्देश है कि अस् के स्थान में भू हो या अस् के समीप अथवा अनन्तर भू हो ।

यह तो केवल सन्देश मात्र हुआ । और सन्देशों में सब जगह व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देशादलक्षणम् यह परिभाषा उपस्थित होती है । हम परिभाषा का अर्थ है—आचार्यकृत व्याख्यान से ही विशेष बात का ज्ञान होता है । केवल सन्देशमात्र से लक्षण (शिष्यायक सूत्र) अलक्षण (अप्रमाण) नहीं हो जाता । उससे अस्तेर्भूः में व्याख्यान से स्थान अर्थ समझ लिया जायगा ।

तो यह सूत्र न बनावे । हम समझते हैं यह सूत्र बनाना चाहिये । जिससे पठ्यन्त का ही स्थान से सम्बन्ध हो अन्य का न हो । जिसमें पृथी विभक्ति का उच्चारण किया है उसी के स्थान में कार्य हो । उसका साथ जुड़े हुए दूसरे शब्द में यह कार्य न हो । उससे क्या होगा कि निर्दिश्यमानस्थादेशा भवन्ति यह परिभाषा अलग नहीं बनानी पड़ेगी । हम परिभाषा का अर्थ इसी सूत्र में निकल जायगा । हम परिभाषा का अर्थ है—पृथी विभक्ति से निर्दिष्ट शब्द के स्थान में आदेश होते हैं । उसमें पाद पर से कहा हुआ पाद आदेश अत्रापिकार में लदन्तशिधि मान कर द्विपाद् शब्द से शिहित हो कर भी द्वि को छोड़ कर केवल पाद को होगा क्योंकि पादः पर में पाद शब्द में ही पृथी का उच्चारण किया है । द्विपाद् से नहीं । इस प्रकार यह

स्थानेन्तरतमः ॥११॥५०॥

किमुदाहरणम् ?

‘इको यणचि’ । दध्यत्र । मध्यत्र । तालुस्थानस्य तालुस्थानः । ओष्ठस्थानस्य ओष्ठस्थानो यथा स्यादिति ।

नैतदस्ति । सत्यातानुदेशेनाप्येतत् सिद्धम् ।

इदं तर्हि तस्यस्थमिपां तान्तन्तामः इति । एकार्थस्यैकार्थः । द्वयर्थस्य द्वयर्थः । वद्वर्थस्य वद्वर्थो यथा स्यादिति ।

सूत्र निर्दिष्टमानम्यादेशा भवन्ति इम परिभाषा में तत्पर्यभाइक हो कर चरितार्थ हो जाता है ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

इको यणचि । दध्यत्र । मध्यत्र । ये इस सूत्र के उदाहरण हैं । दधि+अत्र =दध्यत्र । मधु+अत्र=मध्यत्र । यहा इको यणचि से विहित यगादेश इस अन्तरतम परिभाषा के नियम से तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाला यकार और ओष्ठ स्थान वाले उकार के स्थान में ओष्ठस्थान वाला हाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । इको यणचि में इक् और यण् समान सत्या वाले हैं । इस लिये यथामध्यमनुदेश मनानाम् इस नियम से इक् के स्थान में ऋ से यण् हो जायेंगे ।

तो फिर तस्यस्थमिपा तान्तन्ताम यह उदाहरण हीत्रिये । यहा एकत्व अर्थ वाले मिप के स्थान में एकत्व अर्थ वाला अम्, द्वित्व अर्थ वाले तस्य के स्थान में द्वित्व अर्थ वाले ताम् तम् और बहुत्व अर्थ वाले थ के स्थान में बहुत्व अर्थ वाला त भावेश होता है ।

१ यद्यपि अर्थत साम्य मानने पर इक अपने इन्व दार्धादि सर्वाणियों के भेद से ६६ होते हैं और अण् कवल ७ । इस लिय वैषम्य होन से सत्यातानुदेश नहीं प्राप्त होता तो भा यथासकमनु० इम सूत्र में शब्दित साम्य मान कर कम से इक् के स्थान में यण् हो जायेंगे । घस्त्व+आदेश=घस्त्वादेश यहा लकार के स्थान में लकार आदेश भा दीखता है इस लिये इ उ ऋ के समान लृ के भी स्थानी मिलने से इक् और यण् का सत्यासाम्य हो जायगा ।

ननु च एतदपि संख्यातानुदेशेनेव सिद्धम् ।

इदं तर्हीकः सवर्णे दीर्घ इति । दण्डाग्रम् । क्षुपाग्रम् । दर्धीन्द्रः ।  
मधूष्टः । कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः । तालुस्थानयोस्तालुस्थानः । ओष्ठ-  
स्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यात् ।

अथ स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ।

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं वलीयो यथा म्यात् ।  
किं पुनस्तत् । चेता स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति । स्थानत  
एकारोकारौ । पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः ।

अथ तमग्रहणं किमर्थम् ।

‘ज्ञयो होन्यतरस्यामित्यत्र सोष्मणः सोष्माण इति द्वितीया-

यहां भी यथामत्वमनुदेश • के नियम से तत् आदि के स्थान में क्रम  
से ताम् आदि हो जायेंगे ।

अच्छा तो अस् सवर्णे दीर्घः यह उदाहरण हीजिये । दण्डाग्रम् क्षुपाग्रम्  
यहां दण्ड=अग्रम्, क्षुप+अग्रम् इस अवस्था में कण्ठस्थान वाले अकार के  
स्थान में कण्ठस्थान वाया षाकार दावे होता है । दर्धीन्द्रः यहां दधि+इन्द्रः  
इस अवस्था में तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाटा ईकार दीर्घ  
होता है । मधूष्टः यहां मधु+उष्ट इस अवस्था में ओष्ठस्थान वाले उकार के  
स्थान में ओष्ठस्थान वाला उकार दीर्घ होता है ।

पत्नी स्थानेयोगा से स्थान की आबुति आने पर फिर यहां स्थान  
ग्रहण क्यों किया है ?

जहां स्थान अर्थ गुण प्रमाण आदि अनेक प्रकार का भान्तर्य (सादृश्य)  
सम्भव हो वहां स्थान का भान्तर्य ही चलान् माना जाये इस लिये यहां पुनः  
स्थान ग्रहण किया है । चेता स्तोता ( चि स्तु-गृच् ) यहां चि स्तु में इकार उकार  
के एकमात्रिक होने से उनके स्थान में प्रमाणहृत (मात्राहृत) भान्तर्य को ले  
कर एकमात्रिक अकार गुण प्राप्त होता है । और स्थानहृत भान्तर्य को ले कर  
एकार ओकार गुण प्राप्त होते हैं । स्थान का भान्तर्य चलान् मान कर एकार  
ओकार गुण होते हैं । अकार नहीं ।

अन्तरतमः यहां तम ग्रहण क्यों किया है ?

वाक्+इसति=वाग्पसति । त्रिष्टुप्+इसति=त्रिष्टुभ्यसति । यहां ज्ञयो होन्य-

सा किं प्रकृतितो भवति स्थानिन्यन्तरतमे पठ्तीति । आहोस्विदादेशतः स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति ।

कुतः पुनरियं विचारणा ।

उभयथा हि तुल्या संहिता । स्थानेन्तरतम उरण् रपर इति ।

किं चातः । यदि प्रकृतितः । इको यणचीति यणां ये, अन्तरतमा इक्-स्तत्र पठ्ती । यत्र पठ्ती तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् इत्यत्र न स्यात् । आदेशत पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्यां सर्वत्र पठ्ती । यत्र पठ्ती तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति । तथा इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धयोर्ये अन्तरतमा इक्स्तत्र पठ्ती । यत्र

प्रकृति (स्थानी) से माना जाता है या आदेश से ? स्थानेन्तरतम उरण् रपरः इस संहितापाठ में यदि अन्तरतम शब्द को सप्तम्यन्त समझ कर स्थानेन्तरतमे ऐसा सूत्र मानें तो अन्तरतम स्थानी में स्थानयोगा पठ्ती हो कर अन्तरतम स्थान में आदेश होगा अर्थात् आदेश को अपना अन्तरतम स्थानी देखना होगा । उस पक्ष में स्थानी अन्तरतम हो जायगा । और यदि अन्तरतम शब्द को प्रथमान्त समझ कर स्थानेन्तरतम, ऐसा सूत्र मानें तो स्थान में प्राप्त होने वाले आदेशों में जा अन्तरतम आदेश है वह होगा । उस पक्ष में आदेश अन्तरतम ही जायगा ।

यह विचार किस लिये किया जा रहा है ।

दोनों पक्षों में एक सी सन्धि होने से यह विचार किया जा रहा है ।

इस में क्या है यदि स्थानेन्तरतमे इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ मानते हैं तो अन्तरतम (अर्थात् आदेश के) स्थानी में ही स्थान पठ्ती होगी । जहाँ पठ्ती होगी वहाँ आदेश होंगे तो इको यणाच् से दधि+अत्र=दध्यत्र । मधु+अत्र=मध्वत्र । यद्वा इस्व इक् में ही यण् हो सकेगा । कुमारी+अर्थम्=कुमार्यर्थम् । ब्रह्मबन्धु+अर्थम्=ब्रह्मबन्ध्वर्थम् यद्वा दीर्घ इक् में न हो सकेगा । क्योंकि यण् अर्धमात्रिक हैं । उन का अन्तरतम स्थानी 'स्वल्पान्तर न दोषाय' के न्याय से एकमात्रिक इक् ही समीप पडता है द्विमात्रिक नहीं । स्थानेन्तरतम इस प्रथमान्त पाठ में तो प्राप्त प्रसङ्ग आदेशों में से अन्तरतम आदेश होगा उस से स्थानी के अन्तरतम न होने पर भी सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम यणादेश हो जायगा ।

सप्तम्यन्तपाठ में यह भी दोष है कि इको गुणवृद्धी से इक् के स्थान

पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् नेता लघिता नायको लावकः । चेता स्तोता चायक स्तावक इत्यत्र न स्यात् । आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति ।

तथा ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे गुणवृद्धयोर्दन्तरतममृवर्णं तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् । कर्ता हर्ता आस्तारको निपारकः । आस्तरिता निपरिता कारको हारक इत्यत्र न स्यात् । आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवतीति ।

आदेशतोऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामय दोषः । 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यत्र स्थानिनिर्देशः कर्तव्य । ओकारौकारयोरिति वक्तव्यम् । एकारेकारयोर्मा भूदिति । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां वान्तादेशस्य

में होने वाले गुण वृद्धि नेता लावता ( नी लृ-तृच् ) । नायक लावकः ( नी लृ-ण्वुल् ) यहाँ दीर्घ इक् मे ही हो सकेगा । चेता स्तोता ( चि स्तु-तृच् ) । चायक स्तावकः ( चि स्तु-ण्वुल् ) यहाँ इस्व इक् में न हो सकेगा । क्योंकि ए ओ ऐ औ के दीर्घ होने से उन का अन्तरतम स्थानी दीर्घ इक् ही होगा, इस्व नहीं । प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम गुण वृद्धि हो जायेंगे ।

सप्तम्यन्त पाठ में यह एक और दोष है कि ऋवर्ण के स्थान में होने वाला गुण कर्ता हर्ता ( कृ, हृ, तृच् ) यहाँ इस्व ऋकार में ही होगा । निपरिता आस्तरिता ( आस्तृ निपृ-तृच् ) यहाँ दीर्घ ऋकार में न होगा । और वृद्धि आस्तरकः निपारकः ( आ स्तृ नि पृ-ण्वुल् ) यहाँ दीर्घ ऋकार में ही होगी । कारक हारकः ( कृ हृ-ण्वुल् ) यहाँ इस्व ऋकार में न होगी । क्योंकि गुणसंज्ञक अकार के इस्व होने से उसका अन्तरतम स्थानी इस्व ऋकार ही होगा, दीर्घ नहीं । और वृद्धिसंज्ञक आकार के दीर्घ होने से उसका अन्तरतम स्थानी दीर्घ ऋकार ही होगा, इस्व नहीं । प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र ऋवर्ण के स्थान में अन्तरतम अकार और आकार गुणवृद्धि हो जायेंगे ।

प्रथमान्त पाठ में यह दोष है कि वान्तो यि प्रत्यये में वकारान्त भव् आव् आदेश के लिये उसके स्थानी ओ औ का प्रहण करना होगा । ओदौतोरिति वक्तव्यम् ऐसा वचन कहना होगा । जिससे ओ औ के स्थान में ही क्रम से भव् आव् हो, ए ऐ के स्थान में न हो । सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थान

एक्षु या अन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेण स्थानिनिर्देशं सिद्धं भवति ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्घृत्तौ सत्यां न दोषः । कथम् । वान्तग्रहणं न करिष्यते । यि प्रत्यये एचोऽयादयो भवन्तीत्येव ।

यदि न क्रियते चेय जेयमित्यत्रापि प्राप्नोति ।

‘क्षय्यज्य्यौ शक्यार्थे’ इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति । क्षिज्योरेवैच इति ।

तयोस्तर्हि शक्यार्थादन्यत्रापि प्राप्नोति । क्षेयं पापं, जेयो वृषलः ।

उभयतो नियमो विज्ञास्यते क्षिज्योरेवैचस्तयोश्च शक्यार्थ एवेति ।

में आदेश होगा उससे अच् भाच् के अन्तरतम स्थानी ओ औ ही मिलेंगे । ए ऐ नहीं तो वहाँ अच् भाच् नहीं होगा । उस पक्ष में ओदौतोरिति वक्तव्यम् यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं ।

यह कोई दोष नहीं । वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण ही हटा देंगे । यि प्रत्यय इतना सूत्र रखेंगे । यकारादि प्रत्यय पर होने पर एचो को अयादि आदेश होते हैं ऐसा कहेंगे ।

यदि वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण नहीं करेंगे तो चेयम् जेयम् (चि जि-यत्) यहाँ यकारादि यत् प्रत्यय पर होने पर चि जि के एकार को भी अयादेश प्राप्त होता है ।

क्षय्यज्य्यौ शक्यार्थे इस सूत्र के नियमार्थ होने से चेयम् जेयम् में एकार को अयादेश नहीं होगा । अन्यथा यि प्रत्यये इतने सूत्र से ही क्षि जि के एकार को अयादेश सिद्ध होने पर क्षय्यज्य्यौ० सूत्र व्यर्थ है । वह व्यर्थ हो कर नियमार्थ होगा कि क्षि, जि के एच् को अभ्यादेश होता है अन्य के नहीं ।

तब तो क्षेय पापम्, जेयो वृषलः यहाँ शक्य अर्थ से अन्यत्र भी क्षय्यज्य्यौ से क्षि जि के एच् को अयादेश प्राप्त होता है ।

दोनों तरफ से नियम समझा जायगा । यादि प्रत्यय पर होने पर यदि एच् को अयादि आदेश हो तो क्षि जि के ही एच् को हो और उनको भी शक्य अर्थ में ही हो इस प्रकार दोनों ओर से नियम होने पर क्षेयं पापम्, जेयो वृषलः यहाँ अयादेश न होगा । यहाँ शक्य अर्थ न हो कर अर्ह अर्थ है । क्षेतुमर्ह पापं क्षेयम् । जेतुमर्हो वृषलो जेयः ।



इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् ।  
अवश्यपान्यमिति ।

तुल्यजातीयस्य नियमः ।

कश्च तुल्यजातीयः ।

यथाजातीयक क्षिज्योरेच् ।

कथजातीयकः क्षिज्योरेच् ।

एकार ।

एवमपि रायमिच्छति रेयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ।

रा यिच्छान्दसः<sup>१</sup> । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

क्षय्य च्य ० क नियम से च्यम् चैयम् की तरह लव्यम् पव्यम् (लू पू पयत्) अवश्यलाव्यम् अवश्यपान्यम् (अवश्य लू पू पयत्) यहा भी ना नौ को अव् भाव् आदेश नहीं प्राप्त होते ।

क्षय्य जय्यौ० सूत्र अपने तुल्यजातीय का ही नियम करेगा ।

उसका तुल्यजातीय कौन है ?

किस प्रकार का क्षि नि का एच् है ।

किस प्रकार का क्षि नि का एच् है ?

एकार है । इस लिय चैयम् चैयम् यहा एकारान्त का ही नियम होगा । लव्यम् पव्यम् अवश्यलाव्यम् अवश्यपान्यम् मे एकार न होने से उसका नियम न होगा तो वहा ओ नौ को अव् भाव् हा जायेंगे ।

फिर भी रायमिच्छति रयात यहा कश्च् प्रत्ययान्त रे इस नामधातु क एकार को नाय आदेश प्राप्त होता है क्योंकि क्षि नि के एच् से एकार की ही नियम से न्यावृत्ति होगी एकार की नहीं ।

यकारादि प्रत्यय परे होने पर रे शब्द का प्रयोग छान्दस है । अर्थात् वैदिक है । इस लिय रैयति में आयादेश न होगा । क्योंकि छन्द म दृष्टानुविधि होती है । यहा दृष्ट का अनुविधान होता है । जैसा देखते हैं वैसा कर लेते हैं । रैयति को छान्दस मान कर आयादेश का अभाव समझेंगे ।

१ रा यि च्छान्दस यहा भाष्य का पाठ है । कुछ लोग रायिश्छान्दस ऐसा

‘ऊदुपधाया गोह’ । आदशतोऽन्तरतमनिवृत्तौ सत्यामुपधाग्रहण क्तव्यम् । प्रकृतित पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्यामूकारस्य गो हो यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेणोपधाग्रहण सिद्ध भवति ।

आदशतोऽप्यन्तरतमनिवृत्तौ सत्या न दोष । क्रियत एतन् न्यास एव ।

‘रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द’ । आदेशतोऽन्तरतमनिवृत्तौ सत्या तकारग्रहण क्तव्यम् । प्रकृतित पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्या नकारस्य निष्ठाया याऽन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरणापि तकारग्रहण सिद्ध भवति ।

प्रथमान्त पाठ म यह भी दाप है कि ऊदुपधाया गोह में उपधा ग्रहण करना होगा । जिसस गोह क उपधा ओकार क स्थान में उकार हो । अन्य अल हकार क स्थान में न हो । सप्तम्यन्तपाठ में तो अन्तरतम स्थान में आदश होगा । उसस उकार आदश अपन अन्तरतम स्थानी ओकार को ही देखगा तो वना उपधा ग्रहण किय काम चल जाता है ।

यह क ई दाप नहीं । ऊदुपधाया गोह में उपधा ग्रहण किया हुआ ही है । अन्यथा गाह क अन्य अल हकार क स्थान म उकार प्राप्त होता है । उपधा ग्रहण स नहीं हाता ।

प्रथमान्त पाठ में यह एक ओर दोष है कि रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द सूत्र में तकार ग्रहण करना होगा । जिसस निष्ठा क तकार का मत्व हो सक । सप्तम्यन्त पाठ म तो अन्तरतम स्थान में आदश हागा । उसस

पाठ मानत हैं । वह पाठ अनुपपन्न है । क्यन्त रै धातु स धातुनिर्देश में इक प्रत्यय करन पर भी रायि यह रूप नहा बन सकता । रा यि च्छान्दस का अर्थ है कि यि अर्थात् यकारादि प्रत्यय परे होन पर रै शब्द छांदस है । अथात् यकारादि क्यच् प्रत्यय परे रहत रै शब्द का प्रयोग केवल वद म होता है लोक में नहीं । क्यच स अन्यत्र ता रै का प्रयोग लोक म भी हो सकता ह । किन्हीं क मत में र शब्द का प्रयोग लोक म सवथा हो नहीं होता । विस गो समानाश्रनान्तात् इस वचन द्वारा परिगणित गो आदि स ही क्यच का वधान होन स एतान्त रै शब्द स क्यच होगा ही नहीं तो रैयति का प्रयोग भी न होगा उसमें आयास का प्रदन ही नहीं उठता ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । क्रियते एतन्  
न्यास एव ।

किं पुनरिदं निर्वर्तकम् । अन्तरतमा अनेन निर्वर्त्यन्ते । आहोस्वित्  
प्रतिपादकम् । अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः ।

कश्चात्र विशेषः ।

स्थानन्तरतमनिर्वर्तकं सर्वस्थानिनिवृत्ति ।

स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके सर्वस्थानिनां निवृत्ति प्राप्नोति । अस्यापि  
प्राप्नोति दधि मधु ।

नत्व अपने अन्तरतम स्थाना का हूढेगा तो बिना तकार ग्रहण किये भी काम  
चल जाता है ।

यह कोई दध नहीं । रशान्यां निष्ठातो न.० सूत्र में तकार ग्रहण किया  
हुआ ही है । अन्यथा भिन्नवद्भ्याम् ( भिद्-क्त्ववतु ) यहा निष्ठाप्रत्यय क्त्ववतु  
के दकार का भी नत्व प्राप्त होता है । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा इस वर्णो-  
च्चारण शिक्षा के बचनानुसार नकार का अन्तरतम स्थाना दकार हो जाता है  
उसको नत्व रोकने के लिये निष्ठात इस प्रकार निष्ठा के साथ तकार ग्रहण  
करना आवश्यक है ।<sup>१</sup>

क्या यह सूत्र निर्वर्तक है । अर्थात् स्वय ही अन्तरतम आदेश करने  
वाला है या प्रतिपादक है । अन्य से किय हुए आदेशों की अन्तरतमता का  
प्रतिपादन करने वाला है ।<sup>२</sup>

इसमें क्या विशेष है ?

यदि यह स्वतन्त्र रूप से स्वय ही अन्तरतम आदेश करने वाला है तो  
सब स्थानियों की निवृत्ति प्राप्त होती है । दध मधु यहा भी कोई न कोई  
अन्तरतम आदेश हो कर दधि मधु शब्दों की निवृत्ति हो जानी चाहिये ।

१. इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानन्तरतम. इस प्रथमान्त पाठ का निर्दोष  
सिद्ध कर के स्वीकार कर लिया है । स्थानन्तरतमे इस सप्तम्यन्त पाठ के दोषों का  
समाधान न होने से वह पक्ष स्वकृत नहीं हुआ ।

२. प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्र लक्षण है अथवा अन्य से विहित आदेशों  
का नियामक है अथवा लक्षणान्तर का शेष है ।

अस्तु । न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते । तत्रान्तयतो  
दधिशब्दस्य दधिशब्द एव, मधुशब्दस्य मधुशब्द एवादेशो भविष्यति ।

यदि चैवं क्वचिद् वैरूप्यं तत्र दोषः स्यात् । विसं मुसलमिति ।  
'इण्कोरादेशप्रत्यययोरिति' पत्यं प्राप्नोति । अपि च इष्टा व्यवस्था न  
प्रकल्पेत । तद्यथा तप्ते भ्राष्ट्रे तिलाः प्रक्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते  
एवमिमे वर्णा मुहूर्तमपि नावतिष्ठेरन् ।

अस्तु तर्हि प्रतिपादकम् । अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः ।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिः ।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिर्न सिध्यति । सर्वे सर्वत्र प्राप्नुवन्ति ।

किं तद्युच्यते निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति । न साधीयो निर्वृत्तिः

अच्छी बात है । दधि मधु में और तो कोई आदेश नज़दीक दीखता  
नहीं । अन्तरतम होने से दधि मधु ही आदेश हो जायेंगे ।

इस प्रकार आदेश मानने पर किन्हीं शब्दों में विरूपता आ जाने से दोष  
होगा । जैसे—विसं मुसलम् । यहाँ सकार को सकार आदेश मानने पर आदेश  
का सकार हो जायगा तो इण् कवर्ग से परे आदेशप्रत्यययोः से विधीयमान  
पत्व प्राप्त होगा ।

इसके अतिरिक्त बार २ आदेश होते रहने से वर्णों की इष्ट व्यवस्था भी  
न बनेगी । जैसे गर्म तप हुए भाइ में डाले तिल क्षण भर भी नहीं ठहरते  
वैसे ये वर्ण भी क्षण भर नहीं ठहरेंगे ।

तो फिर इस सूत्र को प्रतिपादक मान लें । और से क्रिये हुए आदेशों में  
अन्तरतमों की साधुता का बोधक यह सूत्र है ऐसा समझ लें ।

अन्यों से निष्पत्तियों का प्रतिपादक मानने पर (अभिमत शब्द की)  
निष्पत्ति नहीं सिद्ध होती । सब जगह सब आदेश प्राप्त होते हैं ।

यह क्या कहा है कि निष्पत्ति सिद्ध नहीं होती । क्या अन्तरतम आदेशों की

१. जब विस शब्द के स्थान में विस आदेश और मुसल के स्थान में  
मुसल आदेश करेंगे तब तो पत्व प्राप्त का दोष नहीं होगा । क्योंकि उस समय  
सम्पूर्ण शब्द के स्थान में आदेश हुआ है केवल सकार के स्थान में नहीं इस लिये  
आदेश का सकार न होने से पत्व न होगा ।

सिद्धा भवति ।

न द्रूमो निर्वृत्तिर्न रितीति । किं तर्हि । इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पते । न सर्वे सर्वत्रेप्यन्ते ।

इदमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

अनर्थकं च ।

अनर्थकमेतत् स्यात् । यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयात् मा भुक्त्वा इति किं तेन कृतं स्यात् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'सिद्धं तु पण्यधिकारे वचनादिति' । पण्यधिकारेऽयं योगः कर्तव्यः । स्थानेन्तरतमः पण्यनिर्दिष्टस्येति ।

निष्पत्ति अच्छी तरह सिद्ध नहीं हो रही । साधीयः = अच्छी तरह ।

हम यह नहीं कहते कि निष्पत्ति सिद्ध नहीं होती । आदेश की निष्पत्ति तो हो रही है परन्तु आदिश्यमान वर्णों की इष्ट व्यवस्था नहीं सिद्ध होती । सब जगह सब वर्णों के आदेश इष्ट नहीं हैं । अक् के स्थान में सब दीर्घ आदेश हो जायेंगे तो अन्तरतम दीर्घ आदेश नहीं सिद्ध होते ।

फिर स्थानेन्तरतमः यह सूत्र क्या करेगा ?

यह सूत्र एक प्रकार से व्यर्थ ही होगा । जो किसी के भोजन खा चुकने पर कहे कि तुम भोजन मत खाना तो उसके ऐसा कहने से क्या होगा । वह तो खा चुका । जब और से आदेश हो चुके तब शास्त्र प्रामाण्य से उन के साधुत्व ज्ञान के बाद यह सूत्र अन्तरतम हों ऐसा कह कर उन के असाधुत्व का प्रतिपादन कैसे करेगा ।

इस दोष का समाधान कह चुके हैं । क्या ? इस सूत्र को निर्वर्तक या प्रतिपादक दोनों ही न मान कर लक्षणान्तरशेषभूत मानेंगे । पण्यी स्थानेयोगा के अधिकार में इसे पढ़ देंगे । उस से जहाँ पण्यी के निर्देश से दीर्घ आदि आदेशों का विधान हो रहा होगा वहीं इस की उपस्थिति हो जायगी तो इसके द्वारा आदेश परिष्कृत हो कर अन्तरतम हो जायेंगे । सब आदेश सब जगह नहीं होंगे । इस प्रकार विधिसूत्रों के साथ इस की एकत्राक्यता होने से कोई दोष न होगा ।

प्रत्यात्मवचनं च ।

प्रत्यात्ममिति च वक्तव्यम् । वि<sup>म</sup>योजनम् । यो यस्यान्तरतमः स तस्य स्थाने यथा स्यात् । अन्यस्यान्तरतमोऽन्यस्य स्थाने मा भूदिति ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात् ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यम् । किं कारणम् । स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावत एतत् सिद्धम् । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति प्रत्यात्मं चासते ।

अन्तरतमवचनं च ।

अन्तरतमवचनं चाशिष्यम् । योगश्चाप्ययमशिष्यः । कुतः । स्वभावसिद्धत्वादेव । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशेः सहासते' न पाण्डवः पाण्डुभिः । येषामेव किञ्चिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते । तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते । तथा यान्येतानि गीयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति ।

अन्तरतमविधानं मे प्रत्यात्म शब्द का ग्रहण करना चाहिये । प्रत्यात्म अर्थात् अपना अपना जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में हो । अन्य का अन्तरतम अन्य के स्थान में न हो यह कहना चाहिये ।

प्रत्यारम ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह तो स्वभाव से ही सिद्ध है कि जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में होता है । जैसे समाज=उत्सव पर जन-समागम, समाश=सहभोज, और समवाय=सभा आदि में 'वैठिये' ऐसा कहने पर जो जिस स्थान के योग्य होता है वह वहीं बैठता है । अपने अपने स्थान पर न कहने पर सब अपने अपने स्थान पर ही बैठते हैं ।

इस प्रकार स्थानान्तरतमः इस सूत्र की भी आवश्यकता नहीं रहती । यह भी अशिष्य है । उपदेश की अपेक्षा नहीं रखता । क्योंकि सभा आदि में बैठिये ऐसा कहने पर न तो दुबले आदमी दुबलों के साथ बैठते हैं, न पीले वर्ण वाले पीले वर्ण वाले के साथ, बल्कि जिन के साथ कुछ अर्थकृत (विद्या जाति धनादि के कारण) आम्सत्यं (सादृश्य) होता है उन्हीं के साथ बैठते हैं । दिन में बाहर चर कर आई हुई गौएं घर में जो जिसका बच्चा होता है उसी के साथ सोती हैं ।

एवं तावच्चेतनावत्सु ।

अचेतनेष्वपि । तथाथा ( ) ष्टः क्षितो बहुवेगं' गत्वा नैव तिर्यग्  
गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीं । आरः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा  
या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः । स धूम आकाशे  
निवाते नैव तिर्यग् गच्छति नावांगवरोहति । अर्धविकारोऽप एव गच्छत्या-  
न्तर्यतः । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं  
नैव तिर्यग् गच्छति नावांगवरोहति । ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्या-  
न्तर्यतः ।

व्यञ्जनस्वरव्यतिक्रमे च तत्कालप्रसङ्गः ।

व्यञ्जनव्यतिक्रमे स्वरव्यतिक्रमे च तत्कालता प्राप्नोति । व्यञ्जनव्यति-

संघुष्टकानि=एक साथ जुड़ में जुटने वाले होने से अत्यन्त परिचित गोयुक्तकानि=वैलों  
के जोड़े जब एक दूसरे को नहीं देखते तो रंभाने लगते हैं ।

यह व्यवहार तो केवल चेतना वाले प्राणियों में दीखता है (पर यहां भादिष्ट  
होने वाले वर्ण अचेतन हैं) ।

अचेतनों में भी दीखता है । जैसे फैंका हुआ मिट्टी का डेला बड़े वेग  
से ऊपर जा कर न तो तिरछा जाता है और न ऊपर ही चढ़ता है । पृथिवी का  
विकार होने से नीचे पृथिवी पर ही आ गिरता है । पृथिवी के साथ उसका  
आन्तर्य है, सादृश्य है । इस लिये वह पृथिवी में ही मिल जाता है । यह जो  
अन्तरिक्ष में सूक्ष्म समुद्र का पानी है, अग्निसंयोग से कायादि में उत्पन्न उस  
का विकार धुआं आकाश में बन्द हवा में न तो तिरछा जाता है और न नीचे  
उतरता है । पानी का विकार होने से अन्तरिक्ष के पानी में ही मिल जाता है ।  
सूर्य का विकार जो ज्वालायें हैं वे आकाश में बन्द हवा में तिरछी या नीचे न  
जाकर सूर्य का विकार होने से सूर्य में ही मिल जाती हैं । अग्नि की लपटें अग्नि में  
मिल जाती हैं । सूर्य की किरणें सूर्य में मिल जाती हैं ।

व्यञ्जन के परिवर्तन में और स्वर के परिवर्तन में स्थानान्तरतमः इस

१. किन्हीं पुस्तकों में बाहुवेगं पाठ है । उसमें अर्थ होगा बाहु के वेग के  
साथ । बहुवेगं=बहुत वेग के साथ । यह क्रियाविशेषण है ।

२. इस प्रकार भाष्यकार ने चेतनाचेतन जगत् के व्यवहार से अन्तरतम नियम  
को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

क्रमे । इष्टम् । उप्तम् । आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्यार्धमात्रिक इक् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे अर्धमात्रिक इक् ।

कस्तर्हि ? ।

मात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

स्वरव्यतिक्रमे । दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् । आन्तर्यतो मात्रिकस्य द्विमात्रिकस्येको मात्रिको द्विमात्रिको यण् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति ।

कस्तर्हि ।

अर्धमात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

अन्तरतम नियम के मानने पर तत्समकाल वर्ण का ग्रहण प्राप्त होता है । व्यञ्जन के परिवर्तन में जैसे—इष्टम्, उप्तम् (यञ् वप-वत्) यहाँ यञ् वप् में यकार वकार व्यञ्जन अर्धमात्रिक हैं उन के स्थान में होने वाले इकार उकार भी अन्तरतम परिभाषा से अर्धमात्रिक प्राप्त होते हैं ।

लोक और वेद में कहीं भी इकार उकार अर्धमात्रिक (आधी मात्रा वाले) नहीं हैं ।

फिर कौन से हैं ।

मात्रिक हैं । जो हैं वे हो जायेंगे । इस लिये इष्टम् उप्तम् में एक मात्रिक ही इकार उकार होंगे, अर्धमात्रिक नहीं

स्वर के परिवर्तन में जैसे—दध्यत्र मध्वत्र (दधि-अत्र, मधु अत्र) । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् (कुमारी-अर्थम्, ब्रह्मबन्धु-अर्थम्) यहाँ मात्रिक और द्विमात्रिक इवर्ण उवर्ण स्वर के स्थान में होने वाला यण् भी अन्तरतमपरिभाषा से मात्रिक द्विमात्रिक प्राप्त होता है ।

लोक और वेद में कहीं भी यण् मात्रिक और द्विमात्रिक नहीं है ।

फिर कौन सा है ।

आधी मात्रा वाला है । जो है वह हो जायगा । इस लिये दध्यत्र आदि में अर्धमात्रिक ही यण् होगा मात्रिक द्विमात्रिक नहीं ।



नेप दोषः । तपरे गुणवृद्धी ।

ननु च तः परो यस्मात् सोऽय तप  
नेत्याह । तादपि परस्तपर इति ।

यदि तादपि परस्तपर । ऋदोरविति इहेव स्यात् यवः स्तवः ।  
लवः पव इत्यत्र न स्यात् ।

नेप तकारः । कस्तर्हि । दकारः ।

किं दकारे प्रयोजनम् ?

अथ किं तकारे ? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि । अथ मुख

यह कई दोष नहीं । गुणवृद्धि सज्ञा में अद् अद् कद् कर अ ए ओ  
और आ ऐ औ ये सब तपर किये गये हैं । इस लिये तपरस्तत्कालस्य के नियम से  
सर्वण का ग्रहण न होगा तो त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक भादेश न होंगे ।

तपरस्तत्कालस्य यद्वा तपर शब्द में तो त परो यस्मात् स तपर इस प्रकार  
वृद्धीहि समास माना है । उससे अ आ ही तपर बनेंगे । ए ओ ऐ औ तपर  
नहीं बनेंगे । उनके तपर न होने से तत्काल का नियम न होगा तो सर्वणग्रहण प्राप्त  
होता है ।

यह बात नहीं है । तपर शब्द में तात् पर तपर इस प्रकार पञ्चमी तत्पुरप  
समास भी मानत हैं । उससे ए ओ ऐ औ भी तपर हो जायेंगे तो तत्काल का  
नियम हो कर उनमें सर्वणग्रहण न होगा ।

यदि तपर शब्द में तात् पर तपर, इस प्रकार पञ्चमीतत्पुरप समास भी  
मानते हैं तो ऋदोरप में उवर्ण भी तपर हो जायगा । उसके तपर हो जाने से तत्काल  
का नियम हो कर ह्रस्व उकारान्त धातु से ही अप प्रत्यय हो सकगा । दीर्घ  
उकारान्त से न हो सकगा । तो यव स्तव (यु स्तु-अप्) ये ही रूप बन सकेंगे ।  
लव पव (लू पू-अप्) ये न बन सकेंगे । यव स्तव में यु स्तु धातु ह्रस्व उकारान्त  
है । लव पव में लू पू दीर्घ उकारान्त हैं ।

ऋदोरप् में ऋत् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार तकार नहीं मानेंगे । किन्तु  
ऋद् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार दकार मानगे ।

ऋदोरप् में दकार मानने का क्या प्रयोजन है ?

यद्वा तकार मानने का भी क्या प्रयोजन है क्योंकि आप तपर शब्द में केवल

सुखार्थस्तकारः, दकारोपि ।

एज्भावे । कुर्वाते कुव आन्तर्यतोऽर्धतृतीयमात्रस्य टिसंज्ञकस्या-  
र्धतृतीयमात्र एच् प्राप्नोति ।

नैव लोके नच वेदेऽर्धतृतीयमात्र एज्स्ति ।

ऋवर्गस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात् ।

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गः । सर्वगुणवृद्धिप्रसङ्गः । सर्वे  
गुणवृद्धिसंज्ञका ऋवर्णस्य स्थाने प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । अविशेषात् ।  
न हि कश्चिद् विशेष उपादीयते एवंजातीयको गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य  
स्थाने भवतीति । अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः ।

बहुव्रीहि समास मान्ते है उससे ऋ ही तपर बनेगा । उकार तो तपर न होगा ।  
और ऋ के लिये तपर करना ग्यर्थ है । वह स्वतः ही दीर्घ पढ़ा है । हाँ, उकार  
के लिये तपर करना सफल हो सकता है पर वह पञ्चमी तत्पुरुष समास में ही  
सम्भव है । इस लिये हम वहाँ तकार न मान कर दकार मानते हैं । जिससे  
तपरस्तकालस्य की प्रवृत्ति न हो । और उवर्ण अर्धतृतीयों का प्रहण कर  
सके । केवल बहुव्रीहि समास मानने वाले के लिये ऋदोरप् में तकार दकार  
दोनों समान हैं । वहाँ यदि सन्देहाभाव के लिये तपर किया हुआ मानेंगे तो दपर  
भी सन्देहाभाव के लिये हो सकता है । यदि सुखपूर्वक मुख से उच्चारण करने में  
सहायक होने के लिये तपर मानेंगे तो दपर भी उसके लिये हो सकता है ।

एच् भाव का उदाहरण कुर्वाते कुर्वाथे है । कुर्वाते कुर्वाथे (इ-भाताम्,  
आयाम्) यदां आताम् आयाम् में टि संज्ञक आम् के ढाई मात्रा वाला होने  
से उसके स्थान में होने वाला टेरेव भी अन्तरवम परिभाषा से ढाई मात्रा  
वाला प्राप्त होता है ।

लोक और वेद में कहीं भी ढाई मात्रा वाला एकार नहीं है । द्विमात्रिक तो  
है । इस लिये द्विमात्रिक हो जायगा ।

ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धी कहने पर गुणवृद्धिसंज्ञक सभी वर्ण प्राप्त होते हैं ।  
क्योंकि ऋवर्ण के स्थान में होने के लिये गुणवृद्धिसंज्ञा वाले किसी विशेष वर्ण  
को नहीं कहा गया है कि यह गुणवृद्धिसंज्ञक वर्ण ऋवर्ण के स्थान में होता है ।  
बिना विशेष वर्ण के कहे सभी वर्ण प्राप्त होते हैं ।

न वा ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गस्य अवर्णस्यान्तर्यम् ।

न वा एप दोषः । किं कारणम् । ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात् ।  
उः स्थाने अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते तत्र ऋवर्णस्यान्तर्यतो  
रेफघतो रेफवानकार एवान्तरतमो भवति ।

सर्वादेशप्रसङ्गस्वनेकाल्त्वात् । सर्वादेशस्तु गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्ण-  
स्य प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेकाल्त्वात् । अनेकाल् शित् सर्वस्येति ।

नवानेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णदेशस्याविधात् ।

न वा एप दोषः । किं कारणम् । अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वात् ।  
यदायमुः स्थानेऽण् तदायमनेकाल् । अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णा-  
देशस्य विधातो न भविष्यति ।

अथवाऽनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम् । एकस्याप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ।

यह कोई दोष नहीं । उरण् रपरः से ऋवर्ण के स्थान में प्रसज्यमान होते ही अण् रपर कहा गया है । उससे रेफ वाले ऋवर्ण के स्थान में उसके अन्तरतम रेफ वाले अर् आर् गुणवृद्धि हो जायेंगे ।<sup>१</sup>

यदि ऋवर्ण के स्थान में अर् आर् गुणवृद्धि होंगे तो वे अनेकाल् होने से अनेकाल् शित्सर्वस्य के नियम से सारे ऋवर्णान्त अङ्ग को प्राप्त होते हैं ।

यह कोई दोष नहीं । ऋवर्ण के स्थान में होने वाले अण् के द्वारा रपर हो कर ही अर् आर् अनेकाल् होते हैं । पीछे अनेकाल् होने पर वे अपने आश्रयभूत ऋवर्ण का विधात नहीं कर सकते । जब तक ऋवर्ण के स्थान में अर् आर् नहीं हो पाते तब तक वे अनेकाल् नहीं बनते । जब तक अनेकाल् नहीं बनते तब तक सर्वादेश नहीं हो सकते इस लिये पहले ऋवर्ण के स्थान में हो, फिर अनेकाल् हों इस उक्त आनुपूर्वी से अनेकाल् हो कर भी पूर्वप्रवृत्त ऋवर्ण के स्थानित्व का विधात नहीं हो सकता ।

अथवा ऋवर्ण और अवर्ण का अनान्तर्य (असादृश्य ही आन्तर्य (सादृश्य) है । उनका परस्पर न मिलना ही मिलना है । एक अवर्ण के अनुकूल तो प्रकृति नहीं ।

१ उरण् रपर. इसके साथ गुणवृद्धिशास्त्र की एकवाक्यता होने पर ऐसा अर्थ होगा—अङ्ग के अन्त्य इक् ऋवर्ण की रपर अण् रूप गुण होता है ।

अपरस्यान्तरतम आदेशो नास्ति एतदेवैतयोरान्तर्यम् ।

सम्प्रयोगो नष्टाश्वदग्धरथवत् ।

अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रयोगो भविष्यति । तद्यथा तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः । उभौ सम्प्रयुज्यावहा इति । एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्ति, अस्तु नौ सम्प्रयोग इति ।

विषम उपन्यासः । चेतनावत्स्वर्थात् प्रकरणाद्वा लोके सम्प्रयोगो भवति । वर्णाश्च पुनरचेतनाः । तत्र किंकृतः सम्प्रयोगः ।

यद्यपि वर्णा अचेतनाः, यस्त्वसौ प्रयुक्ते स चेतनावान् ।

एजवर्णयोरदेशोऽवर्णं स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात् ।

दूसरे ऋवर्ण के अनुकूल आदेश नहीं । इस प्रकार दोनों के न मिलने से मेल हो जायगा ।

अथवा नष्टाश्व दग्धरथ न्याय से दोनों का मेल हो जायगा । नष्टाश्वदग्धरथ न्याय का स्वरूप यह है कि एक का घोड़ा नष्ट हो गया । दूसरे का रथ जल गया तो वे आपस में कहते हैं—तेरा घोड़ा खोया गया और मेरा रथ जल गया । चलो दोनों मिल जावें । तू मुझे रथ दे और मैं तुझे घोड़ा दूँ । दोनों का काम हो जायगा । इसी तरह यहाँ भी तेरा तो अन्तरतम स्थानी नहीं और मेरा अन्तरतम आदेश नहीं, चलो दोनों मिल लें इस प्रकार अवर्ण और ऋवर्ण मिल जावेंगे ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । चेतनावान् पदार्थों में प्रकरण या सामर्थ्य से लोक में मेल हो सकता है । वर्ण तो अचेतन हैं इन में कैसे मेल होगा ।

यद्यपि वर्ण अचेतन हैं तो भी उन का प्रयोग करने वाला तो चेतन है उस से मेल हो जायगा ।

१. अब सूत्रान्तर से निर्गत (निश्चिन्) अणु को रपर करने में भी कोई दोष नहीं इसे इस प्रकार करते हैं । सदृश सम्बन्धी के अभाव वाला होना दोनों का साधारण धर्मरूप सादृश्य है यह भाष्य तात्पर्य है ।

२. सूत्र प्रत्याख्यान पक्ष में समाधान करते हैं— सम्प्रयोगो वा इत्यादि ।

एजवर्णयोरादेशोऽवर्णं प्राप्नोति । खट्वैलका । मालौपगवः । किं कारणम् । स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात् । स्पमृ ह्यत्रावर्णप्रधानः ।

सिद्धं तूभयान्तयोः ।

सिद्धमेतत् । कथम् । उभयोर्योऽन्तरतमस्तेन भवितव्यम् । नचावर्णमुभयोरन्तरतमम् ।

उरण् रपरः । १।१।५१।

किमिदमुरण् रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् । उः स्थाने अणव भवति रपरश्चेति । आहोस्विद् रपरत्वमात्रमनेन विधीयते । उः स्थाने अण् च अनण् च । अण् तु रपर इति ।

कश्चात्र विशेषः ।

एच् और अवर्ण के एकादेश में अवर्ण की प्रधानता होने से दोनों के स्थान में अवर्ण आदेश ही प्राप्त होता है । खट्वा-एलका=खट्वैलका । माला-औपगव = मालौपगव । यहा वृद्धिरेचि से विधीयमान आ ऐ औ के एकादेश में ऐ औ न होकर आ होना चाहिये । क्योंकि स्थानी ए औ में भी अवर्ण के विद्यमान होने से उस की प्रधानता है ।

यह कोई दोष नहीं । खट्वैलका, मालौपगव में ऐ औ वृद्धि एकादेश सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि जो उभय अर्थात् आ और ऐ औ दोनों का अन्तरतम होगा वही आदेश होगा । आकार केवल कण्ठस्थान वाला होने से दोनों का अन्तरतम नहीं है । ऐ औ तो कण्ठ के साथ तालु क्षोण्ठ स्थान वाले भी होने से दोनों स्थानियों के अन्तरतम हैं इस लिये दोनों के स्थान में ऐ औ ही वृद्धि होगे, आकार नहीं ।

क्या उरण् रपर इस सूत्र से ऋ के स्थान में अण् ही हो और वह रपर हो इस प्रकार अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है या ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण तो रपर हो इस प्रकार अण् को केवल रपर मात्र किया जाता है । पहले पक्ष में यह ऋ के स्थान में प्राप्त अन्तरतम आदेशो को भी बाधकर अण् ही करेगा और उसे रपर भी साथ में कर देगा । दूसरे पक्ष में किसी से प्राप्त ऋ के स्थान में अण् को रपरमात्र करेगा ।

इस में क्या विशेष है ।

उरण्परवचनमन्यति त्पर्यमिति चेदुदात्तादिषु दोषः ।

उरण्परवचनमन्यति त्पर्ये चेदुदात्तादिषु दोषो भवति ।

के पुनरुदात्तादयः ।

उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकाः । कृतिः हृतिः । कृतं हृतम् ।  
प्रकृतं प्रहृतम् । नूँः पाहि ।

अस्तु तर्हि उः स्थाने अण् च अनण् च । अण् तु रपर इति ।

य उः स्थानेऽण् स रपर इति चेद् गुणवृद्धयोर्वर्णाप्रतिपत्तिः ।

यदि यह अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति करता है तो उदात्त आदि में दोष होगा ।

उदात्त आदि कौन से हैं ?

उदात्त अनुदात्त स्वरित और अनुनासिक । कृतिः हृतिः (कृ ह-च्छिन्) यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम न्निन्यादिर्नियम् से उदात्त ऋ न होकर अण् (अ इ उ) में से ही कोई अक्षर प्राप्त होना चाहिये । क्योंकि ऋ अण् नहीं है उसे बाध कर यह ऋ के स्थान में अण् ही करेगा तो कृतिः हृति में उदात्त ऋ न हो सकेगा । इसी प्रकार हृतम् हृतम् यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुदात्तं परमेऋवर्तम् से अनुदात्त ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । प्रकृतम् प्रहृतम् यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम उगतादनुदात्तस्य स्वरितः से स्वरित ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । नूँः पाहि (नृन्-पाहि) यहाँ नृन् पे से नृन् के न् को स् होने पर अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुनासिक ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है ।

अच्छा तो ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण् तो रपर हो यह दूसरा पक्ष मान लीजिये ।

यदि ऋ के स्थान में अण् अनण् सब मान कर अण् को केवल रपर किया जाता है तो ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धि करने में ऋवर्ण का मिळना

१. यद्यपि इन पक्ष में नृन् शब्द में नृ से शस् परे रहते पूर्ववर्ण दीर्घ ऋ न होकर अण् ही प्राप्त होता है । उस अवस्था में नृन् यह रूप भी नहीं बन सकता तो भी नृन् पे सूत्र में निनातन से ऋ दीर्घ हो जायगा । उससे नृन् यह रूप बन जायगा ।

य उः स्थाने अण् स रपर इति चेद् गुणवृद्धिधोरवर्णस्याप्रतिपत्तिः । कर्ता  
हर्ता वार्धगण्यः । किं हि साधीयः-ऋणम् पासवर्णे यदवर्णं स्यात् न  
पुनरेकैचौ ।

पूर्वस्मिन्नपि पक्षे एष दोषः । किं हि साधीयः । तत्रापि ऋवर्णस्या-  
सवर्णे यदवर्णं स्यात् न पुनरिकारोकारौ । अथ मतमेतत्-उः स्थाने अणश्चा  
नणश्च प्रसङ्गे अणोव भवति रपरश्चेति सिद्धा पूर्वस्मिन् पक्षेऽवर्णस्य  
प्रतिपत्तिः । यत्तु तदुक्तमुदात्तादिषु दोष इति स इह दोषो जायते न वा  
जायते ।

जायते स दोषः । कथम् । उदात्त इत्यनेनाणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते  
अनणोपि ।

यद्यपि अणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते न तु प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् ।

ही दुर्लभ है । कर्ता हर्ता (कृ ह लृच्) । वार्धगण्यः नृप्रगणस्यापत्यम्, वृषगण-यन्) । यहाँ  
कृ ह और वृषगण के ऋ को गुणवृद्धि करने में कौन सा ऐसा बढ़िया साधक  
हेतु है जिस से ऋ के सभी असवर्णी गुणवृद्धि संज्ञक वर्णों में अ आ ही  
गुणवृद्धि होंगे, ए ओ ऐ औ नहीं होंगे । जैसा गुणसंज्ञक अण् अकार ऋ का  
असवर्ण है वैसे ही ए ओ भी हैं । इसी प्रकार जैसा वृद्धिसंज्ञक ऋण् आकार  
ऋ का असवर्ण है । वैसे ही ऐ औ भी हैं । ऋ के स्थान में अ आ ही  
गुणवृद्धि होंगे ए ओ ऐ औ नहीं होंगे इस में क्या साधक हेतु है ?

यह दोष तो पहले पक्ष में भी है । वहाँ भी कौन सा ऐसा बढ़िया  
साधक हेतु है जिस से ऋ के स्थान में असवर्णी अणों में से अ आ ही  
होंगे इ उ न होंगे । यदि कइो पहले पक्ष में यह दोष नहीं क्योंकि वहाँ ऋ  
के स्थान में अण् अनण की प्राप्ति में अण् ही हो और वह रपर हो ऐसा  
नियम कर देने से अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है । इ उ के अण्  
होने पर भी गुणवृद्धि संज्ञक न होने से ऋ के स्थान में उन की प्राप्ति ही  
नहीं तो इ उ न होकर अ आ ही होंगे । तो पहले पक्ष में जो उदात्त आदि  
का दोष कहा है उस पर तो विचार होना चाहिये कि वह इस पक्ष में भी  
दोष है या नहीं ।

हाँ वह दोष इस पक्ष में भी होता है । क्योंकि कृति हति आदि में  
अण् भी उदात्त आदि प्राप्त हो सकते हैं और अनण् ऋ भी ।

यद्यपि अण् भी उदात्त आदि हो सकते हैं पर कृतिः हति आदि में

स्थानेन्तरतमो भवतीति ।

कुतो जु खल्वेतत् द्वयोः (अपयोः सावकाशयोः समवस्थितयोः स्थानेन्तरतम इति उरण् रपरः) च, स्थानेन्तरतम इत्यनया परिभाषया व्यवस्था भविष्यति न पुनरुण् रपर इति ।

अतः किम् ?

अत एव दोषो जायते उदात्तादिषु दोष इति । ये चाप्येते ऋवर्णस्य स्थाने प्रतिपदमादेशा उच्यन्ते तेषु रपरत्वं न प्राप्नोति । ऋत इद् धातो-रुदोष्य पूर्वस्येति ।

सिद्ध तु प्रसङ्गे रपरत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसङ्गे रपरत्वात् । उः स्थाने अण् प्रसज्यमान

वे प्राप्त तो नहीं हैं । क्योंकि स्थानेन्तरतमः इस अन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में ऋ ही उदात्त आदि होगा । अण् नहीं ।

यह कैसे मानें कि स्थानेन्तरतम. और उरण् रपरः इन दोनों सावकाश परिभाषाओं की एक साथ उपस्थिति में यहाँ अन्तरतम परिभाषा की बात मान कर प्रयोग व्यवस्था की जायगी । उरण् रपरः की बात नहीं मानी जायगी ?

इस से क्या ?

इस से यही है कि उरण् रपरः से व्यवस्था मानने पर कृति हृतिः आदि में कहा हुआ उदात्त आदि का दोष इस दूसरे पक्ष में भी प्राप्त रहेगा इस के साथ पहले पक्ष में यह भी दोष है कि जो ऋ के स्थान में प्रतिपदविहित है ( साक्षात् विधान किण् हुण् ) आदेश कहे हैं उनमें अण् को रपर नहीं प्राप्त होता । जैसे—ऋत इद् धातो. उदोष्यपूर्वस्य । यहाँ ऋ के स्थान में इकार उकार का साक्षान् विधान है । क्योंकि यह सूत्र तो जहाँ अण् अनण् की प्राप्ति में अण् ही हो इस प्रकार अनियम प्रसङ्ग में नियम विधान द्वारा अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की गई है वहाँ इस नियम का शेषभूत रपर करेगा । ऋत इद् धातोः उदोष्यपूर्वस्य में अनियमप्रसक्ति रहित साक्षात् इकार रूप अण् का विधान है इस लिये वहाँ रपर न हो सकेगा ।

ऋ के स्थान में विधि सूत्रों से प्राप्त होता हुआ ही अण् इससे रपर लिया जायगा तो कोई दोष न होगा । विधि सूत्रों के साथ इसकी एक वाक्यता हो जायगी तो यह लक्षणान्तर शेषभूत बन कर स्वतन्त्र विधायक न होगा । कर्ता हर्ता वार्षगण्यः में गुणवृद्धि के प्रसङ्ग में विधानकाल में ही अण् रपर हो जायगा



एव रपरो भवति ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ।

स्थान इति वर्तते । स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची ।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति ।

आदेशश्च विशेषितः । कथम् । द्वितीयं स्थानग्रहणं प्रकृतमनुवर्तते । तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते । उः स्थाने अण् स्थाने इति । उः स्थाने

तो ऋ के स्थान में अर् आर् गुणवृद्धि मिल जावेंगे । कृतिः हति, आदि में अण् का प्रसङ्ग ही नहीं है क्योंकि स्थानेन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में ऋ ही उदात्त आदि प्राप्त है । इस लिये वदां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी ।

क्या यह बात कहनी होगी कि प्रसङ्ग में ही रपर होता है ।

नहीं ।

बिना कोई कैसे समझी जायगी ?

स्थानेऽन्तरतम से यहाँ स्थान शब्द की अनुवृत्ति करेंगे । स्थान का अर्थ प्रसङ्ग है ही इस लिये प्रसक्त होता हुआ अण् रपा होता है यह अर्थ निकल आयगा ।

ऐसा होने पर भी अण् आदेश ऋवर्ण के स्थान सम्बन्ध से विशेषित न हो सकेगा । अर्थात् ऋ के स्थान में होना रूप सम्बन्ध अण् का न बन सकेगा । स्थान शब्द की अनुवृत्ति से केवल यह अर्थ निकलेगा कि दूसरों से प्रसक्त होता हुआ अण् रपर होता है । पर वह ऋ के स्थान में प्रसक्त होता हुआ रपर होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता । हम चाहते हैं कि ऋवर्ण के स्थान में ही प्रसक्त होता हुआ अण् रपर हो ।

अण् आदेश ऋ के स्थान सम्बन्ध से भी विशेषित हो जायगा । कैसे ? पष्ठी स्थानियोगा से दूसरा स्थाने शब्द का ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त होता था

१. उ. यह जो पष्ठी है इसे ही स्थान पष्ठी क्यों न मान लिया जाय, जिससे स्थाने पद की अनुवृत्ति न करनी पड़ेगी । नहीं, ऐसा नहीं हो सकता ।

प्रसङ्गे अण् प्रसज्यमान एव रपरं भवति ।

अथाण् ग्रहणं किमर्थम् ? ऋ रपरो भवतीत्येवोच्येत ।

ऋ रपरः इतीयत्युच्यमान इदानीं रपरः स्यात् ?

यः स्थाने भवति ।

कश्च स्थाने भवति ।

आदेशः ।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरप्रतिषेधः ।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरत्वस्य प्रतिषेधो  
वक्तव्यः ।

के पुनः रीरिविधयः ?

अकङ् लोपानङ् नङ् रीङ् रिङ् आदेशाः । अकङ्-सौघातकिः । अरुङ् ।

रहा है । उससे उ स्थाने अण् स्थाने रपरः ऐसा वाक्यांश होगा । ऋ के स्थान  
में प्रसक्त होता हुआ ही अण् रपर होगा यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो कर कहीं  
दोष न होगा ।

अण् ग्रहण किस लिये किया है । ऋ रपरः इतना ही सूत्र क्यों न बना  
दिया जाय ?

ऋ रपरः इतना सूत्र होने पर ऋ के स्थान में कौन रपर होगा ?

जो ऋ के स्थान में होगा ।

ऋ के स्थान में कौन होगा ?

आदेशः । इस लिये ऋ के स्थान में होने वाला आदेश रपर हो जायगा ।

आदेश को रपर मानने में रीरि विधियों में प्राप्त रपर का निषेध  
कहना चाहिये ।

रीरि विधियाँ कौन सी हैं ?

अकङ्, लोप, आनङ्, अनङ्, रीङ्, रिङ् ये आदेश रीरि विधियाँ हैं ।

उरण् रपरः यह ऋ के स्थान में अण् का विधान नहीं करता, अण् तो लक्षणान्तर से  
किया जाता है तो यह इस अंश में विधिसून नहीं रहता । पन्नी स्थानेयोगा यह  
परिभाषा विधिशास्त्र का अङ्ग है, वहीं उपस्थित होती है, अनुवाद में नहीं । अतः  
स्थाने की अनुवृत्ति अवश्य कर्तव्य है ।

लोप-पैतृष्वसेयः । लोप । आनङ् होतापोः । आनङ् । अनङ्-कर्ता हर्ता ।  
अनङ् । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । रीङ्-क्रियते हियते । रिङ् ।

उदात्तादिषु ।

उदात्तादिषु च किम् । रपरत्वस्य प्रतिषेधो चक्तव्यः । कृतिः ।  
हृतिः । कृतं हृतम् । प्रकृतं प्रहृतम् । नूँः पाहि । तस्मादण्प्रहणं

इन में रीङ् रिङ् आदेश की सहचरित सभी विधियों को रीरिविधि कह दिया है । अक् जैसे—तौघातकिः । (सुधातुरपत्यं, सुधातृ-इञ्) यहाँ सुधातृ शब्द से अपत्य अर्थ में सुधातुरक् च से इञ् प्रत्यय और सुधातृ के ऋ के स्थान में अक् आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । लोप जैसे—पैतृष्वसेयः । (पितृष्वसुरपत्यं, पितृष्वस्-टक्) यहाँ पितृष्वस् शब्द से अपत्य अर्थ में टकि लोपः से टक् प्रत्यय और पितृष्वस् के ऋ का लोप रूप आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है ।<sup>१</sup> आनङ् जैसे—होतापोतारी । (होता च पोता च) यहाँ होतृ पोतृ शब्द के द्वन्द्व में होतृ के ऋ के स्थान में आनङ् ऋतो द्वन्द्वे से आनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है ।<sup>२</sup> अनङ्-कर्ता हर्ता (कृ ह-वृच्) यहाँ कर्तृ हर्तृ शब्द के ऋ के स्थान में ऋदुशनस्फु० से अनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । (मातरमिच्छति पितरमिच्छति मातृ पितृ-क्यच् तिप्) यहाँ मातृ पितृ शब्द के ऋ के स्थान में रीङ् ऋतः से रीङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रिङ्-क्रियते हियते । (कृ ह-यक् त) यहाँ कृ ह के ऋ के स्थान में रिङ् शयग्लिङ्छु से रिङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त कृतिः, हृतिः, कृतम् हृतम्, प्रकृतम् प्रहृतम्, नूँः पाहि इत्यादि में उदात्त अनुदात्त

१ यदि वही लोप को रपर मानने पर पैतृष्वसेयः यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । यह रूप तो टकि लोपः से ऋ का लोप न कर के भी इको यणचि से यण् हो कर प्राप्त हो सकता था इस लिये लोप विधान सामर्थ्य से रपर न होगा तो इस का उत्तर यह है कि लोप तो सर्वादेश हो कर चरितार्थ हो सकता है । सारे पितृष्वस् शब्द के स्थान में लोप हो जावे इस लिये भी लोप विधान रह सकता है अतः सामर्थ्य न होने से वह रपर को नहीं रोक सकता ।

२. यद्यपि आनङ् को रपर हो कर रेफ का संयोगान्त लोप हो जायगा तो भी उसके असिद्ध होने से आनङ् के न का लोप न हो सकेगा ।

कर्तव्यम् ।

एकादेशस्त्वनान कर्तव्यम् ।

एकादेशस्योपसर्गान् वदन्त्यम् । खट्वर्श्यः । मालर्श्यः ।

किं पुनः कारणं न सिद्धम् ।

उः स्थानेऽण् प्रसज्यमानस्य रपरो भवतीत्युच्यते, न चायमुच्च स्थानेऽण् शिष्यते । किं तर्हि । अन्वयस्य च ।

अन्वयग्रहणात् सिद्धम् ।

यद्वा ऋणं तदाश्रय रपरत्व भविष्यति । तद्यथा मापा न भोक्तव्या इत्युक्ते मिश्रा अपि न भुज्यन्ते ।

अन्वयग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तप्रतिषेधः ।

अन्वयग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

स्वरित अनुनासिक ऋ आदेश हाता है उसके अण् न हाने पर भी रपर प्राप्त होता है । इस लिये उक्त दाया की निवृत्ति के लिये अण् ग्रहण करना चाहिये ।

एकादेश में रपर का उपसर्गान् करना चाहिये । जैसे—खट्वा+ऋश्य = खट्वर्श्यः । मापा+ऋश्य = मालर्श्यः । यहा पूर्व पर के स्थान में आद्युण् से गुण एकादेश हुआ है वह रपर इष्ट है ।

क्या कारण है जो एकादेश में रपर सिद्ध नहीं होता ।

ऋ के स्थान में प्रसज्यमान अण् को रपर कहा है । खट्वर्श्य यहा एकादेश में केवल ऋ के ही स्थान में आदेश नहीं हुआ बल्कि ऋ और आ दोनों के स्थान में हुआ है । इस लिये रपर प्राप्त नहीं होता ।

आ और ऋ इस अनुदाय के अन्वय ऋ के स्थान में आदेश होने से रपर हो जायगा । जैसे—उड्द न खान चाह्ये पसा कहन पर चावल आदि में मिले हुए उड्द भी नहीं खाये जात ।

यदि आ और ऋ अनुदाय के अन्वय ऋ के स्थान में आदेश मानने से खट्वर्श्यः, मालर्श्यः में रपर हो जायगा तो अण् अनम् (अण्भिन्न) उभय मिश्रित

१ उ यह वर्णग्रहण सर्वत्र तदन्त विधि का प्रयोक्त होता है—यह न्याय है । इससे यहाँ ऋकारान्त शब्द का ग्रहण हो जायगा ।

होतापोतारौ । यथैवोश्चान्यस्य च स्थाने ऋणो भवतीति एवं य उः  
स्थानेऽण् चानण् च सोपि रपरः स्यात् ।

यदि पुनर्ऋवर्णान्तस्य स्थाने ऋणो भवतीति रपरत्वमुच्येत—खट्वर्द्यः ।  
माल्दर्थः ।

नैवं शक्यम् । इह न प्रसज्येत कर्ता हर्ता । किरति गिरति ।  
ऋवर्णान्तस्येत्युच्यते न चैतद् ऋवर्णान्तस्येति

ननु चैतदपि व्यपदेशिवद्भावेन ऋवर्णान्तम् ।

अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः । न चोऽर्थवान् । तस्मान्नैवं शक्यम् ।

आदेश मे भी अण् को अवयव मान कर रपर प्राप्त होता है उसका निषेध  
कहना चाहिये । जैसे—होतापोतारौ यहा आनङ् आदेश में अण् अनण् दोनो  
होने से उसमे अण् अवयव को मान कर रपर हो जाना चाहिये ।

ऋ के स्थान में रपर न मान कर यदि ऋवर्णान्त के स्थान में रपर मानें तो  
खट्वर्द्य माल्दर्थ में आ और ऋ समुदाय के अन्त में ऋवर्ण होने से रपर  
सिद्ध हो जायगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । ऋवर्णान्त को रपर मानने में कर्ता हर्ता (कृ ङ्-तृच्) ।  
किरति गिरति (कृ गृ श त्विप्) यहा रपर नहीं प्राप्त होता । क्योंकि ऋवर्णान्त के  
स्थान में अकार इकार नहीं हुए हैं बल्कि ऋवर्ण के स्थान में हुए हैं ।

कर्ता हर्ता आदि में ऋवर्ण के स्थान में हुए अकार इकार को भी व्यपदेशि-  
वद्भाव से ऋवर्णान्त के स्थान में हुआ मान लेंगे । अमुख्य में मुख्यवत् व्यवहार को  
व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं ।

व्यपदेशिवद्भाव अर्थवान् से होता है, अनर्थक से नहीं । कर्ता हर्ता किरति  
गिरति में कृ आदि के अर्थवान् होने पर भी केवल ऋवर्ण के अनर्थक होने से  
व्यपदेशिवद्भाव नहीं होगा तो रपर प्राप्त नहीं होता । इस लिये ऋवर्णान्त के  
स्थान में रपर नहीं मान सकते । उस अवस्था में खट्वर्द्य माल्दर्थ में रपर  
नहीं प्राप्त होता तो एकादेश मे रपर का उपसख्यान ही करना चाहिये ।  
उपसख्यान करने के साथ ही मातृ पितृ यहाँ एकादेश मे रपर का निषेध भी  
कहना चाहिये । अन्यथा मातृ ङस् इस अवस्था मे ऋत् उत् से मातृ के  
ऋ और ङस् प्रत्यय के अकार क स्थान में हुए उकार एकादेश में रपर  
प्राप्त होता है । उ को रपर हो कर ङस् के स् को ङ हो जायगा तो रोरि

न चेदेवमुपसंख्यानं कर्तव्यम् । च रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
मातुः पितुरिति ।

उभयं न वक्तव्यम् । यो द्वयोः पष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे  
भवति लभतेऽसावन्यतरतो द्वादशम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः ।  
देवदत्तायाः पुत्र इति ।

कथं मातुः पितुरिति ?

अस्त्वन्न रपरत्वम् । विसर्गसिद्धिः । रात्सस्येति सकारस्य लोपः ।  
रेफस्य विसर्जनीयः ।

नैव शक्यम् । इह, मातुः करोति पितुः करोतीति । अप्रत्यय-  
विसर्जनीयस्येति पत्वं प्रसङ्गम् ।

अप्रत्ययविसर्जनीयस्येत्युच्यते । प्रत्ययविसर्जनीयश्चायम् ।

से पूर्व रेफ का लोप और टूलोपे पूर्वस्य० से दीर्घ हो कर मातुः पितुः ऐसा अनिष्ट  
रूप प्राप्त होगा। एकादेश में रपर न मानने पर तो उ से परे इस् के सकार  
को स्व विसर्ग हो कर मातुः पितुः यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है ।

एकादेश में रपर का उपसख्यान और मातुः पितुः के एकादेश में रपर  
का निषेध इन दोनों के ही कहने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि जो दो के स्थान  
में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है । जैसे देवदत्त  
और देवदत्ता के पुत्र को दोनों में से किसी का भी कह सकते हैं । तो ऋ के  
और आ के स्थान में हुए एकादेश को हम ऋ के स्थान में हुआ भी कह  
सकते हैं । इस लिये सद्दर्श मालार्थ में रपर हो जायगा ।

एकादेश में रपर होने पर मातुः पितुः कैसे बनेंगे ?

मातुः पितुः में भी उकार एकादेश को रपर हो कर मातुर् स् ऐसा होगा  
तो स्व के असिद्ध होने से रात्सस्य से स का लोप और खरवसानयो० से रेफ  
को विसर्ग हो कर मातुः पितुः बन जायेंगे ।

ऐसा नहीं हो सकता । इस प्रकार मातुः करोति पितुः करोति यहाँ मातुः पितुः  
के प्रत्यय भिन्न विसर्ग हो जाने से उससे करोति का कवर्ग परे होने पर इहुदुपवस्य  
चाप्रचयस्य से पत्व प्राप्त होगा ।

प्रत्ययभिन्न विसर्ग को पत्व कहा है । मातुः पितुः में प्रत्यय का विसर्ग

१. ऋन उव् सू सौ ।

लुप्यतेऽत्र प्रत्ययो रात्सस्येति ।  
एवं तर्हि ।

भ्रातृपुत्रग्रहण ज्ञापकमेकादेशः तात् पत्वप्रतिषेधस्य ।

यद्यं 'कस्कादिषु' भ्रातृपुत्रशब्द पठ्यते ; तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेश-  
निमित्तात् पत्वं भवतीति ।

किं पुनरयं पूर्वान्तः, आहोस्वित् परादिः, आहोस्विदभक्तः ?

कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्, कथं वा परादिः, कथं वा अभक्तः ?

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । इत्यादिदिरिति वर्तते ततः परादिः ।

अथोभयं निवृत्तम् । ततोऽभक्तः ।

है । यहाँ डस् प्रत्यय के अवयव अकार के स्थान में ऋत उव् से हुए उकार को रपर हुआ है । उस रेफ के विसर्ग को प्रत्यय मान कर प्रत्यय का विसर्ग हो जायगा तो पत्व न होगा ।

डस् प्रत्यय के अवयव सकार का तो रात्सस्य से लोप हो गया । शेष अकार का ऋ के साथ एकादेश हो कर उसे रपर हो गया । फिर प्रत्यय कहाँ रहा जिस का विसर्ग हो ?

अच्छा तो फिर कस्कादिषु च इस सूत्र से पठित कस्कादिगण में भ्रातृपुत्र शब्द का पाठ इस बात का ज्ञापक होगा कि एकादेश को निमित्त मान कर इदुदुपध बने हुए विसर्ग को पत्व नहीं होता । अन्यथा भ्रातृः शब्द में भी भ्रातृ के ऋ और डम् के अकार के स्थान में उकार एकादेश हो कर रपर हुआ है । तत्स्थानिक विसर्ग के प्रत्ययभिन्न ह्रस्व उकार उपधा वाला होने से इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य से ही पत्व सिद्ध हो जाता फिर पत्व के लिये उसका कस्कादिगण में पाठ करना व्यर्थ है ।

रपर कह कर हुआ यह रेफ क्या पूर्व का अन्तावयव माना जाता है या पर का आदि अवयव या अभक्त अर्थात् दोनों में से किसी का भी अवयव नहीं माना जाता ?

कैसे तो यह पूर्व का अन्तावयव हो सकता है । कैसे पर का आदि अवयव और कैसे अभक्त ?

आवन्ती टकितौ से यदि अन्त की अनुवृत्ति करें तो पूर्वान्त हो सकता है । आदि की अनुवृत्ति करें तो परादि हो सकता है । और आदि अन्त में से किसी की भी अनुवृत्ति न करें तो अभक्त हो सकता है ।

कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घत्वयगः । स्वरहलादिः शेषविसर्जनीयप्रतिषेधः

यथाव्यवस्था च ।

यद्यभक्तः दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः । रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ।

किं पुनः कारणं रेफवकाराभ्यां धातुर्विशेष्यते न पुनः पदं विशेष्यते रेफवकारान्तस्य पदस्येति ।

नैवं शक्यम् । इति प्रसज्येत—अग्निर्वायुरिति ।

एवं तर्हि रेफवकाराभ्यां पदं विशेषयिष्यामो धातुनेकम् । रेफवकारान्तस्य पदस्येको धातुर्वाप्येति ।

एवं प्रियं ग्रामीणि कुल्मसस्य प्रियग्रामणिः प्रियसेनानिः अत्रापि प्राप्नोति । तस्माद् धातुरेव विशेष्यते । धृतौ च विशेष्यमाणे इह

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है ?

रेफ को अभक्त मानने पर दीर्घत्व, यक् और अभ्यस्त का स्वर, हलादिः शेष, विसर्ग का निषेध और प्रत्यय की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। गीः पूः ( गृ पृ क्रि प्र ) यहाँ गिर् पुर शब्दों में रेफ के अभक्त होने से रेफान्त धातु न होगा। बौध्वाध्याया दीर्घ इक् से इक् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता।

क्या कारण है जो बौध्वाध्याया ० सूत्र में रेफ और वकार से धातु को विशेषित किया गया है अर्थात् रेफवकारान्त धातु के इक् को दीर्घ माना जाता है, रेफवकारान्त पद के इक् को दीर्घ क्यों न माना जाय। गीः पू में रेफ के धातु का अभक्त होने पर भी रेफान्त पद होने से दीर्घ हो जायगा।

ऐसा नहीं हो सकता। रेफ वकारान्त पद के इक् को दीर्घ मानने पर अग्निर्वायुर् यहाँ भी रेफान्त पद होने से इक् को दीर्घ प्राप्त होता है।

शब्दा तो रेफ वकार से पद विशेषित करेंगे और धातु से इक् को। अर्थात् रेफवकारान्त पद के धातुसम्बन्धी इक् को दीर्घ होता है ऐसा अर्थ मानेंगे।

ऐसा मानने पर भी प्रियं ग्रामणि कुल्मसस्य स प्रियग्रामणिः। प्रियं सेनानि कुल्मसस्य स प्रियसेनानिः यहाँ प्रियग्रामिर् प्रियसेनानिर् इस रेफान्त पद में धातु का इक् होने से दीर्घ प्राप्त होता है। इस लिये रेफवकारान्त धातु के इक् को ही दीर्घ मानना होगा। वैसा मानने पर गीः पूः में रेफ के धातु



दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः ॥ दीर्घं ।

लत्व । लत्वं च न सिध्यति । गीः गीः लयते । 'प्रो यङी'ति लत्वं न प्राप्नोति ।

नैप दोषः । अ इत्यनन्तरयोगैषा पप् ।

एवमपि स्वर्जैगिलयते इत्यत्रापि प्राप् ।

एवं तर्हि यङ्गा आनन्तर्ये विशेषणीयामः । अथवा अ इति पञ्चमी । लत्व ।

यक्स्वर । यक्स्वरश्च न सिध्यति । गीर्यते स्वयमेव पूर्यते स्वयमेव । 'अच कर्तृयकी'त्येष स्वरो न प्राप्नोति । रेफेण व्यवहितत्वात् ।

नैप दोषः । 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवती'ति नास्ति

का अभक्त होने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।

रेफ को अभक्त मानने पर लत्व भी नहीं सिद्ध होता । निजेगित्यते (नि गृ यङ् त) यहाँ गिर के रेफ के अभक्त होने से गृ का रेफ न होगा तो प्रो यङि से लत्व नहीं प्राप्त होता ।

यह कोई दोष नहीं । प्रो यङि में अ यह सम्बन्ध पृष्ठी न मान कर अनन्तर सम्बन्ध में पृष्ठी मानेंगे । उससे गृ के अनन्तर रेफ को लत्व हो जायगा ।

फिर भी स्वर्जैगिन्यते (स्वर गृ-यङ् त) यहाँ गृ के अन्तर पूर्व स्वर शब्द के रेफ को भी लत्व प्राप्त होता है ।

अच्छा तो यङ् परे रहते गृ के अनन्तर रेफ को लत्व मानेंगे । अथवा प्रो यङि में प्रः को पञ्चमी मान कर गृ से परे रेफ को लत्व मानेंगे तो कहीं पर दोष न होगा । उससे अभक्त पक्ष में भी निजेगित्यते में लत्व हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर यक् स्वर भी सिद्ध नहीं होता । गीर्यते पूर्यते (गृ पू-यक् त) यहाँ यक् परे रहते गिर पुर् में रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो अच कर्तृयकी से आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता ।

यह कोई दोष नहीं । स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से

व्यवधानम् । यक्स्वर ।

अभ्यस्तस्वर । अभ्यस्तस्वर इव न सिध्यति । मा हि स्म ते पिपरुः ।  
मा हि स्म ते विभरुः । अभ्यासनामादिरुदात्तो भवति अजादौ लसार्व-  
धातुके इत्येष स्वरो न प्राप्नोति । रेफेण व्यवहितत्वात् ।

नैप दोषः । 'स्वरा' व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवतीति नास्ति  
व्यवधानम् । अभ्यस्तस्वर ।

हलादिः शेष । ह्रस्वः शेषश्च न सिध्यति । ववृते ववृधे ।  
अभ्यासस्येति हलादिः शेषः न प्राप्नोति । हलादिः शेष ।

विसर्जनीय । विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । नार्कुटो नार्पत्यः ।  
'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्जनीयः प्राप्नोति । विसर्जनीय ।

स्वर करने में रेफ व्यञ्जनमविद्यमान मान कर व्यवधान न होगा तो यक् स्वर  
हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर अभ्यस्तस्वर भी सिद्ध नहीं होता । मा हि  
स्म ते पिपरु (पृ-रु-सु) । मा हि स्म ते विभरु (मृ-रु-सु) । यहाँ पृ मृ  
को जुसि च से गुणाने पर रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो  
जायगा तो अभ्यास हलादि से विधीयमान अजादौ लसार्वधातुक जुस् परे  
रहते आशुदात्त स्वरो प्राप्त होता । यहाँ माइ का योग अडागम को रोकने  
के लिये है । अन्यु में इ का स्वर हो जाता । इ का योग हि च से क्रिया के  
निघात को रोकने के लिये है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ भी स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् इस परिभाषा  
से रेफ को अविद्यमान मान कर अभ्यस्त स्वर हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर हलादिः शेष भी सिद्ध नहीं होता । ववृते  
ववृधे (वृत् वृध्-लिट् त्) यहाँ अभ्यास में उरद्वच को रपर हो कर रेफ के  
अभक्त होने से अभ्यास का अग्रयव रेफ न होगा तो हलादि शेष से उसकी निवृत्ति  
नहीं प्राप्त होती ।

रेफ को अभक्त मानने पर विसर्ग का प्रतिषेध कहना होगा । नार्कुटः  
नार्पत्य (नृकुट्यां नृपतौ वा भव) वहाँ तद्धित पर रहते आदिवृद्धि हो कर  
नार् शब्द का रेफ है । वद् पदसञ्ज्ञक नृ शब्द का अभक्त हो कर भी तदादि  
सुवन्त होने से पद हो जायगा तो खरवसानय विसर्जनीय से रेफ को विसर्ग  
प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा ।

प्रत्ययाव्यवस्था च, प्रत्यये च स्थाने प्रकल्पते । किरतः गिरतः । रेफोऽप्यभक्तः प्रत्ययोपि, तत्र स्थाने प्रकल्पते ।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्तर्वधारण विसर्जनीयप्रतिषेधो यकृस्वरश्च ।

यदि पूर्वान्तः रोरवधारणं कर्तव्यम् । 'रोः सुपि' रोरेव सुपि नान्यस्य । सर्पिषु धनुषु । इह मा भूत्-गीर्षु ।

परादावपि सत्यवधारणं कर्तव्यम् । चर्णाः इत्येवमर्थम् ।

विसर्जनीयप्रतिषेधः । विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

रेफ को अभक्त मानने पर प्रत्यय की व्यवस्था से दूरी नहीं होती । किरत गिरत. (कृ गृ-र-तस्) यहाँ विकरण सञ्जक श प्रत्यय और इत्व की प्राप्ति में पर होने से इत्व पहले ही जाता है । उसको रपर पर रेफ के अभक्त होने से श प्रत्यय की व्यवस्था ही बनती । क्योंकि कि गिर में रेफ के धातु का भव्यव न होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो सि. प्रत्यय न हो सकेगा । रेफ भी अभक्त है श विकरण भी । यदि रेफ से पूर्व रे प्रत्यय करें तो रेफ इकार रूप अण से पर न रहेगा ।

अच्छा तो रेफ को पूर्वान्त मान लें ।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर रू का अवधारण करना ही अर्थात् रोः सुपि यह सूत्र नियमार्थ बनाना है । जिससे सप्तमी बहुवचन रू के ही रेफ को विसर्ग हो अन्य रेफ को न हो । उससे गीर्षु पूर्षु ( गिर सुप् ) यहाँ रू का रेफ न होने से खरवसानयो० से विसर्ग नहीं होता है । सर्पिषु धनुषु (सर्पिस् धनुस् सुप्) यहाँ रू को रू हो कर रू का रेफ हो जाने से उनको विसर्ग हो जाता है । परादि में तो रेफ पदान्त ही नहीं इस लिये वहाँ विसर्ग की प्राप्ति न होने से रो. सुपि यह नियम सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं ।

रो. सुपि यह नियम सूत्र तो रेफ को परादि जानने पर भी बनाना होगा । जिससे चतुर्षु (चतुर सुप्) में चतुर शब्द के पदान्त रेफ को खरवसानयो० से विसर्ग न हो जावे । चतुर् शब्द का रेफ स्वतः प्रातिपदिक का है वह रपर नहीं है जो गर्षु पूर्षु की तरह परादि माना जाय । अभक्त पक्ष में भी रो. सुपि यह नियम सूत्र बनाना अनिवार्य है । वहाँ भी सदादि वचन से अभक्त रेफ भी पदान्त हो जायगा तो विसर्ग प्राप्त होता है । इस प्रकार रोः सुपि इस नियम सूत्र का बनाना सब पक्षों में आवश्यक है ।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर नार्कुटः नार्पत्यः (गुरुक्यां नृपतौ वा भव.) यहाँ

नार्कुट् नार्पत्यः सरवसानयोर्विर्जनीयः प्राप्नोति ।  
 परादाधपि विसर्जनीयः प्रतिपेधो वक्तव्यः । नार्कल्पिरित्येव-  
 मर्थम् । कल्पिपदसंघातभक्तोऽपि विसर्जतेऽवयवस्य पदान्तां विहन्तुमिति  
 विसर्जनीयः प्राप्नोति ।  
 यक्स्वर । यक्स्वरश्च सिध्यति । गीर्यते स्वयमेव । स्तीर्यते  
 स्वयमेव । “अचः कर्तृयकीत्येव प्रो न प्राप्नोति” ।  
 नैप दोषः । उपदेश इति व्रते ।

नार् शब्द के पदान्त रेफ को, विसानयोर्विर्जनीय से विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा ।

रेफ को परादि मात्र पर भी नार्कल्पि में सरवसानयोः से विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । नृक्प्रत्यय अन्य नार्कल्पि । (नृकल्प-इञ्) यहाँ नृकल्प शब्द इञ् प्रत्यय पर रहते आदि वृद्धि और रपर हो कर नार्कल्पि बनता है परादि ही कर भी कल्पि इस इजन्त प्रत्यय समुदाय का अवयव होगा कल्पि के अवयव कल्प नहीं । क्योंकि कल्प् प्रत्यय पर रहते स्वादिष्ट स्थानों से विधीयमान नृक्प्रत्यय की पदसज्ञा तदादि इस अधिकार से रेफ नार् शब्द की होगी । रेफ कल्पि के प्रति परादि हो कर भी कल्पि प्रति अपनी पदान्तता वृद्धि नहीं कर सकता इस लिये कल्प पर रहते रेफ होने से उसको विसर्ग प्राप्त होता है ।<sup>१</sup>

रेफ को पूर्वान्त पर यक् स्वर नहीं गीर्यते होता । गीर्यते स्तीर्यते (गृ स्तृ-यक्-त्) यह वृक्त्ति में रेफ के पूर्व होने से गृ स्तृ धातु अजन्त न रहेंगे तो कर्तृयकि से यक् पर रहते आगुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता ।

अच कर्तृयकि में उपदेशान् विदुपदेशान् उपदेश ग्रहण की अनुवृत्ति कर के उपदेशावस्था में धातु लिया जाता । गृ स्तृ उपदेशान्स्था में अजन्त हैं ही । बाद में रेफ होने पर भी अच कर्तृयकि से यक्स्वर हो जायगा ।<sup>२</sup>

१. यहाँ पद से पारिभाषिक पद का ग्रहण नहीं । पद्यतेऽनेनार्थ इति पद प्रत्यय इस व्युत्पत्ति के आश्रयण रेफ का उचित प्रयय है ।

२. तीनों पक्षों में विसर्ग प्रतिषेध कहना पड़ेगा । अतः यह कोई दाव नहीं यह भाष्य-तार्थ्य है ।

३. इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष में कोई दोष न होगा । से सुवि यह नियम

अथवा पुनरस्तु परादिः ।

परादावकारलोपौत्त्वपुक्प्रतिषेधश्च । स्वत्वमितोऽव्यवस्थाऽभ्यास-  
लोपोऽभ्यस्ततादिस्व । धित्वं च ।

यदि परादिः । अकारलोपः प्रतिषेधः । कर्ता हर्ता । 'अतो लोप  
आर्धधातुके' इत्यकारलोपः प्राप्नोति ।

नैप दोषः । उपदेश इति वर्तते ।

यद्युपदेश इति वर्तते, धिनुतः कृण्वन् अत्र लोपो न प्राप्नोति ।

नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसम्बध्यते । के तर्हि । आर्धधातुकमभि-

अथवा रेफ को परादि ही मान लें ।

रेफ को परादि विनने में अकारलोप अर्धधातु और पुक् का निषेध, चङ्युपधाह्रस्व, इद् की अर्धधातु, अभ्यासलोप, अभ्यस्ततादिस्व और दीर्घ सिद्ध नहीं होते । अकारलोप का निषेध जैसे कर्ता हर्ता । (कृ हृ तृच्) यहाँ कृ हृ को अर्ध गुण हो कर रेफ के परादि होने से अकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अतो लोपः से आर्धधातुक परे रहते अकार को प्राप्त होता है । उस का निषेध कहना होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अतो लोपः में अनुदात्तोत्त्वान्ति से उपदेश की अनुवृत्ति आती है उससे उपदेशावस्था में जो अकारान्त उसका लोप होगा । कर्ता हर्ता में कृ हृ इस उपदेशावस्था में अकार न होने से अकार लोप न होगा ।

यदि अतो लोपः में उपदेश की अनुवृत्ति से उपदेशावस्था में अकारान्त का लोप होगा तो धिनुतः कृण्वन् (धिन्व् कृण्वन्) यहाँ धिन कृण के अकार का लोप नहीं प्राप्त होता । क्योंकि धिन्व् कृण्वन् ये उपदेशावस्था में अकारान्त नहीं हैं ।

अतो लोपः में उपदेश का सम्बन्ध प्रकृति धातु से नहीं है । अपितु

सूत्र बनाया हुआ है ही । अभक्त परादि पर भी यह बनाना आवश्यक है । नार्कुटः नार्पत्यः में खरवसानयोः अन्तरङ्गार्पण के प्रति बहिरङ्ग वृद्धि के असिद्ध होने से नारु का रेफ दीर्घात् नहीं आता उसे विसर्ग न होगा । जिस प्रकार मिदचोऽन्त्यात्परः यहा मित आर्ध को दीर्घ होने के कारण पूर्वान्त स्वीकार किया गया है उसी प्रकार यहाँ उरण् रपरः मन्त्र में अण् को होने वाला रपर भी निर्दोष होने से पूर्वान्त ही स्वीकार किया गया है ।

सम्बध्यते आर्धघातुकोपदेशे यन् आन्तमिति । अकारलोप ।

औस्व । औस्त्वं च प्रतिषेधः । अकार जहार । आत औ णल् इत्यौत्वं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । निर्दिश्यमानादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति ।

यस्ताहि निर्दिश्यते तस्मात्स्मान् भवति ।

रेफेण व्यवहितत्वात् ।

पुक्प्रतिषेधः । पुक् च प्रतिषेध्यः । कारयति हारयति । आतः पुगिति पुक् प्राप्नोति । पुक् प्र

चद् उपधाह्रस्व । उपधाह्रस्वत्व च न च्यति । अर्चीकरत् ।

आर्धघातुक प्रत्यय से है । आर्धघातुक प्रत्यय की रक्षावस्था में जो अकारान्त है उसके अकार का लोप होता है । धिनुत वृणुत में आर्धघातुक उ प्रत्यय की उपदेशावस्था में ही धिन्-चोरच सूत्र द्वारा अकारान्तादेश होता है । इस लिये आर्धघातुकोपदेशका अर्थ धिन् वृणु के अकारान्त होने से वहाँ अकार लोप हो जायगा ।

रेफ को परादि मानने पर औत्वं का नियम कहना होगा । जैसे— अकार जहार ( वृ ह्-णिच् ) यहाँ वृ ह् को वृ हो कर रेफ के परादि होने से आकारान्त अङ्ग जायगा तो आत औ णल् का औकार प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं निर्दिश्यमानस्यादेशात् । अतः इस परिभाषा से सूत्र में पठनी विभक्ति से निर्दिष्ट किये हुए णल् के अकार को ही औकार होगा । यहाँ रेफ विशिष्ट णल् हो औकार नहीं होगा ।

जिसका निर्देश है उस णल् ही रेफ छोड़ कर क्यों नहीं औकार होता ?

उसको रेफ का व्यवहार होने से न । इस प्रकार औत्वं का दोष तो हट गया ।

रेफ को परादि मानने पर पुक् प्रत्यय कहना होगा । कारयति हारयति ( वृ ह् णिच् तिप् ) यहाँ वृ हो कर रेफ के परादि होने से आकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अर्चीकीरा का आगम प्राप्त होता है ।

रेफ को परादि मानने पर चद् परे रहते उपधाह्रस्व भी सिद्ध नहीं

इत्युच्यते । तत्रोपा... ते । वेदेपि । सोमस्य स्थाने  
पूतीकृतान्य... गुयादित्... यते । ननु... सोमो भूतपूर्वो भवति ।

कार्यविपरिणामाद्वा... म् ।

अथवा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेत

किमिदं कार्यविपरिणामादिति ।

कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते ।

ननु च कार्याविपरिणामादिति भवित

सन्ति चेपोत्तरपदिकानि ह्रस्वानि । पि च बुद्धि सम्प्रत्यय

उपाध्याय काम करता था वहा उसके अभाव में वही शिष्य काम करे । वेद में भी जैसे—सोमलता के अभाव में उसके न मिलने पर मलता के स्थान में पूतीक नामक घास विशेष का अभिषव कर ऐसा प्रयोग होता है । वहां सोमलता हटायी नहीं जाती बल्कि कहने का एक ढंग है कि सोमलता से अभिषव होता था वहा उसके अभाव में पूतीक स कर लेये । इससे यह आवश्यक नहीं है कि पहले हो कर पीछे न होने वाले अर्थ में ही स्थान शब्द का प्रयोग होता है । जहां भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग होता है वहां उक्त उदाहरणों द्वारा अभूतपूर्व अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग इष्टिगोचर होता है इस लिये शब्द अनित्य नहीं होंगे । नित्य ही रहेंगे ।

अथवा कार्य का = बुद्धि का विपरिणाम होना ही स्थानी या आदेश समझा जायगा तो शब्द अनित्य न होंगे । बुद्धि का परिवर्तन मात्र ही स्थानी-आदेश-भाव है । शब्द उसी प्रकार व्यवस्थित रहते हैं केवल हमारी बुद्धि ही स्थानी या आदेश रूप से परिवर्तित होता है ।

यह कार्य विपरिणामात् क्या है ?

कार्याया विपरिणामात् कार्यविपरिणामात् । कार्या बुद्धि-शब्द नाम है । उसके विपरिणाम को परिवर्तन को कार्यविपरिणाम कहते हैं । उससे हेतु में पञ्चमी हो कर कार्यविपरिणामात् ऐसा बनता है ।

फिर तो कार्याविपरिणामात् ऐसा होना चाहिये । कार्यविपरिणामात् कैसे हुआ ?

उपाधो. संज्ञाछन्दसोर्वहलम् इस सूत्र में बहुल ग्रहण से औत्तरपदिक (उत्तर पद पर रहते) ह्रस्व हो कर कार्यविपरिणामात् बन जायगा । अथवा बुद्धि और सम्प्रत्यय (ज्ञान) ये दोनों अनर्थान्तर हैं । एक ही अर्थ के वाचक हैं । क्रिया-

इत्यनर्थान्तरम् । कार्यं बुद्धिः । कार्यस्य सत्यस्य  
विपरिणामः कार्यविपरिणामः क. वपरीमादिः।

परिहारान्तरमेवेदं मत्वा ।

कथं चेदं परिहारान्तरं स्त्यम् ।

यदि भूतपूर्वं स्थानशब्दं निते ।

भूतपूर्वं चापि स्थानशब्दं वर्तते । कथम् । बुद्ध्या । तद्यथा कश्चित्  
कचिदुपदिशति प्राचीनं ग्रामं इन्द्रा इति । तस्य सर्वत्रान्नबुद्धिः प्रसन्ता ।  
ततः पश्चादाह ये क्षीरिणोऽदीहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति । स  
तत्रान्नबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते । स ततः पश्यति बुद्ध्या आम्रांश्चाप-

निगन्न होने में बुद्धि कार्य है । उनमें पुल्लिङ्ग सम्प्रत्यय शब्द  
का समानाधिकरण कार्य शब्द मान कर कार्यस्य सम्प्रययन्य विपरिणाम कार्य-  
विपरिणाम तस्मान् कार्यविपरिणामात् यह निदेश बन जायगा । दोनों में अर्थ  
समान है । बुद्धिविपरिणाम मात्र ही स्थान्यादेशमान है और उछ नहीं ।

आपने कार्यविपरिणामाद्वा मिदम् यह समाधान दूसरा मान कर किया है ।  
वा कहने से यही भाव निकलता है कि पहले समाधान के अतिरिक्त यह दूसरा  
समाधान भी है ।

यह समाधान दूसरा किस प्रकार बन सकता है ।

यदि स्थान शब्द का प्रयोग भूतपूर्वं अर्थ में भी मान लें । पहला समाधान  
तो अभूतपूर्वं अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर किया गया था अब कार्य-  
विपरिणामाद्वा यह दूसरा समाधान भूतपूर्वं अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर  
होना चाहिये ।

भूतपूर्वं अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग होता है । कैसे ? बुद्धि से । क्योंकि  
किसी को हटा कर उसके स्थान में किसी को करना यह सब बुद्धि का ही  
परिणाम है । शब्द परिणत नहीं होते बल्कि बुद्धि ही परिणत होती है । जैसे  
कोई किसी से कहता है कि गाव से पूर्व की ओर आम के वृक्ष हैं । यह सुन  
कर वह सब वृक्षों को आम समझने लगता है । फिर उसे वह कहता है कि जो  
दूध वाले नाच को उतरी हुई नालाभा वाले और चौड़े पत्ते वाले हैं वे वृक्ष  
के वृक्ष हैं । यह सुन कर आमों का रयाल छोड़ देता है वृक्षों का



कृष्यमाणान् न्यग्रोधान् । नित्या एव च स्वस्मिन् विषये  
 आम्नाः । नित्या एव च स्वस्मिन् विषये । एवमिहाप्य-  
 स्तिरस्मायन्पशेणोपदिष्टस्तस्य सर्वस्त्वुद्धिः प्रसक्ता । सोऽस्तेभू-  
 रित्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रति । स ततः पश्यति बुद्ध्या  
 अस्ति चापकृष्यमाणं भवति चोपधीनम् । नित्य एव च स्वस्मिन्  
 विषयेऽस्तिः, नित्यो भवतिश्च । बुद्धिस्त्वुद्धिः विपरिणम्यते ।

अपवादप्रसङ्गस्तु स्थानान्तरत्वात् ।

अपवादे उत्सर्गकृतं च प्राप्नोति । कर्मण्यण्, आतोनुपसर्गे क इति  
 कपि अण्कृतं प्राप्नोति । किं कारणम् । स्थानान्तरत्वात् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'विषयेण तु नानालिङ्गकरणैः सिद्धमिति । अथवा

ख्याल करने लगता है । तब उसे आम हटते हुए और वड़ उनके स्थान में  
 संनिहित हुए प्रतीत होते हैं । वस्तुतः आम अपनी जगह और वड़ अपनी जगह  
 नित्य अग्रस्थित है । न आम हटते हैं और न वड़ आते हैं । केवल उसकी  
 बुद्धि बदलती जाती है । जैसे यहाँ भी अस् धातु के सामान्य उपदेश से इस  
 अध्येता को सब जगह अस् का ही ख्याल होने लगता है । अस्तेभूः से अस् के  
 स्थान में भू कहने से अस् का ख्याल छूट कर भू का ख्याल हो जाता है ।  
 उसकी बुद्धि में अस् हटता हुआ और भू उपस्थित हुआ अनुभव होता है ।  
 वस्तुतः अस् और भू अपने २ विषय में अवस्थित ही हैं । केवल बुद्धि के परिवर्तित  
 होने से स्थानी या आदेश प्रतीत होते हैं ।

यदि बुद्धि परिवर्तन मात्र ही स्थानिवद्भाव है तो अपवाद सूत्र के कार्य में  
 उत्सर्ग सूत्र का कार्य भी प्राप्त होता है । जैसे कर्मण्यण् यह उत्सर्ग सूत्र है ।  
 आतोऽनुपसर्गे क इसका अपवाद है । उत्सर्ग अण् प्रत्यय की बुद्धि में अपवाद  
 क प्रत्यय के बुद्धिपरिवर्तन को स्थानिवद्भाव मान कर अस्तेभूः की तरह क प्रत्यय  
 में भी अण् का कार्य होना चाहिये ।

अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता इस विषय में पहले अ इ उण्

१. वस्तुतः अन्कर्ष (हटाना) तथा उपधान (लगाना) यह बुद्धि के धर्म हैं,  
 ये बुद्धि में होने हैं, वृक्षों में इनका आरोप हो जाता है । इसी प्रकार बुद्धि में ही  
 उत्सर्ग और अनाश तथा स्थान्यादेश भाव है, शब्दों में उसका आरोप होता है ।

सिद्ध तु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानेन विभक्तिः ।

सिद्धमेतत् । कथम् । उपनिर्दिष्टस्योऽशः १ निवदिति वक्तव्यम् ।

तत्तर्हि षष्ठीनिर्दिष्टग्रहणं कथं वक्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते ।

क प्रकृतम् ?

षष्ठी स्थानेयोगेति । अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्नापयति नापवादे उत्सर्गकृतं भवतीति यदयं श्यन्नादीन् काश्चित् शितः करोति । श्यन् श्ना श् श्नु रिति ।

सूत्र के भाष्य में कह चुके हैं—विषयेण तु नानाविह्वरणान् सिद्धम् । उससे सूत्रों में अलग २ ण कट आदि अनुबन्ध रूप लिङ्ग लगाने से क प्रत्यय में अण का कार्य नहीं होगा। अथवा षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानवत् ऐसा कह कर जहाँ षष्ठी विभक्ति का निर्देश होगा वहीं स्थानिवद्भाव हाता है ऐसा मानेंगे। उससे आतोनुपसर्ग कः इत्यादि प्रत्यय विधि में षष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो क में अण का कार्य नहीं प्राप्त होगा।

तो फिर इस सूत्र में षष्ठीनिर्दिष्ट का ग्रहण कर देना चाहिये ।

ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। ऊपर से अनुवृत्ति कर लेंगे।

कहा से अनुवृत्ति करेंगे।

षष्ठी स्थानेयोगा से षष्ठी की अनुवृत्ति करेंगे। उससे षष्ठी विभक्ति के निर्देश में ही आदेश स्थानिवत् हाता अन्यत्र नहीं। अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता। उन्होंने राष्ट्र के अपवाद श्यन् श्ना श् श्नु आदि में जा श्त् किया है उससे यह बात सिद्ध होती है। अन्यथा उत्सर्ग शप् प्रत्यय का श्त् श्यन् आदि में स्थानिवद्भाव से आ ही जाता तो श्यन् आदि को श्त् करना व्यर्थ है।

१ इसी प्रकार गापोऽक् में क प्रत्यय के अपवाद टक प्रत्यय का कित्व भी इस बात का ज्ञापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता। अन्यथा क प्रत्यय का कित्व टक् में आ ही जाता तो फिर टक् को कित्व करना व्यर्थ है। यद्यपि षष्ठीनिर्दिष्ट में ही स्थान्यादेश भाव मानने पर नाभि नभं च, विभ्रवण रवण इत्यादि में षष्ठी का निर्देश न होने से नाभि के स्थान में नभ आदेश तथा विभ्रवस्

उभयप्रतिषेधः ।  
 तस्य लक्ष्यस्य दोषः । देशे उभयप्रतिषेधो वक्तव्यः ।

उभये देवमनुष्याः । तयो ग्रहणेन अयच् जसि विभाषा प्राप्नोति ।

नैष दोषः । अयच् प्रत्ययान्तरम् ।

यदि प्रत्ययान्तरम्, उभयी इति ईकारो न प्राप्नोति ।

मा भूदेवम् । मात्रच इत्येवं भविष्यति । कथम् । मात्रजिति नेदं प्रत्ययग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् । क संनिविष्टानां प्रत्याहारः । मात्रशब्दात् प्रभृति आ अयचश्चकारात् ।

अत्र स्थानित्सूत्र के दोष गिनाते हैं । तयप् के आदेश में उभय शब्द का प्रतिषेध कहना होगा । उभये देवमनुष्याः । यहाँ उभ शब्द से परे तयप् के के स्थान में उभाहुदात्तो नित्यम् से अयच् आदेश हो कर उभय शब्द बनता है । अयच् आदेश को इस सूत्र से स्थानित् मान कर तयप् समझा जायगा तो उभय से जस् परे रहते प्रथमचरमतयात्पार्थ० सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का विकल्प प्राप्त होता है । सर्वादीनि सर्वनामानि से नित्य सर्वनामसंज्ञा इष्ट है ।

यह कोई दोष नहीं । उभय शब्द में तयप् को अयच् आदेश न मान कर स्वतन्त्र अयच् प्रत्यय मानेंगे । उस अवस्था में स्थानिवद्भावात् का प्रश्न ही नहीं उठता ।

यदि अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मानेंगे तो उभयी में तयप् न होने से टिट्ढाणन्० से ङीप् नहीं प्राप्त होता ।

उभयी में तयप् न होने के कारण ङीप् न हो, किन्तु मात्रच् होने के कारण ङीप् हो जायगा । क्योंकि मात्रच् को प्रत्यय न मान कर प्रत्याहार मानेंगे । प्रत्याहार कहां से कहां तक होगा ? प्रमाणे द्वयसज दध्ज् मात्रचः के मात्र शब्द से ले कर

के स्थान में विध्रवण रवण ये आदेश नहीं प्राप्त होते तो नाभि नभे च यही नाभि यह पंठी के अर्थ में सौत्र प्रथमा समझनी चाहिये । विध्रवण रवण तो विध्रवस् के स्थान में आदेश न मान कर स्वतन्त्र शब्दान्तर मान लिये जायेंगे । क्योंकि शिवादिगण में स्वतन्त्र ही पड़े गये हैं । जिस प्रकार वर्द्ध शब्द में विदूर यह शब्दान्तर माना जाता है । बालवाय के स्थान में विदूर आदेश नहीं है । आदेश मानने पर तो वहाँ भी पंठीनिर्देश आवश्यक है । इस विषय में सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र भाष्य में शशादेशाः इत्यन्नादयः करिष्यन्ते इस पर टि० भी द्रष्टव्य है ।



अथेदानीमसत्यपि स्थानिवद्भावेऽपि पिच्छासौ भूतपूर्व  
इति कृत्वा याद् कस्मान्न भर्षा । उपधात्

‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः । दीक्तस्यैवेति ।

ननु चेदानीं सत्यपि स्थानिवद्भावे एतया परिभाषया सत्यमिहो  
पस्थातुम् ।

नेत्याह । न तर्हीदानीं कचिदपि स्थानिवद्भावः स्यात् ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् । प्रश्निष्ठनिर्देशात् सिद्धम् । प्रश्निष्ठनिर्देशोऽयम् ।  
ई ई ईकारान्तात् । आ आप् आकारान्तादिति ।

आहिभुयोरीट्प्रतिषेध ।

अच्छा तो अतिखट्वाय अतिमालाय यहां स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने  
पर भी य पर रहते सुधि च से हुए दीर्घ आ, आंर पहले रह चुके आप  
के पकार को मिला कर आप् हो जाने से याडाप से याट क्यों नहीं होता ?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा बल से लक्षण से निःपन्न लाक्षणिक आप्  
की आप् न माना जायगा तो अतिखट्वाय अतिमालाय में आवन्त न होने से याट्  
नहीं होता ।

यूं तो निष्कौशाम्बि. अतिखट्व. में भी स्थानिवद्भाव से माना हुआ इयन्त  
आवन्त लाक्षणिक हो जाता है तो लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा की यहां भी उपस्थिति  
हो कर ये भी इयन्त आवन्त नहीं मानने चाहिये ।

ऐसी बात नहीं है । ऐसा माने पर तो फिर कहीं भी स्थानिवद्भाव न  
होगा । क्योंकि जहां स्थानिवद्भाव किया जायगा वही लाक्षणिक हो जायगा ।

इस लिये ह्यप् प्रहण में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

ह्यप् प्रहण में स्थानिवद्भाव के निषेध कहने को कोई आवश्यकता नहीं ।  
निष्कौशाम्बि अतिखट्व यहां इस्व इयन्त आवन्त में सु का लोप नहीं होगा ।  
क्योंकि हल्ह्यप्० सूत्र में ई ई = ई। आ आप् = आप् । इस प्रकार दीर्घ ई  
आ का प्रश्निष्ठ निर्देश मानेंगे । उससे दीर्घ इयन्त आवन्त से परे ही सु का  
लोप होगा । इस्व से परे नहीं । ई आ के प्रक्षेप से सूत्र में दीर्घप्रहण भी न  
करना पड़ेगा ।

आहिभुयोरीदृ चञ्चल्य भात्थ अभूत् ।  
ग्रहणादीद् प्राप्नोति ।

आहेस्तावन्न वक्तव्यः । आचार्येणास्तिज्ञापयति नाहेरीद् भवतीति ।  
यदयमाहस्थ इति शलादिप्रकरणे धत्वं शोभते ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
भूतपूर्वगतिर्यथा विज्ञायेत । शलादिर्यो भूतपूर्व इति ।

यद्येवं थवचनमनर्थकं स्यात् । आथिमेवायमुच्चारयेत् । प्रुव-  
पञ्चानामादित आथो व्रुवः इति ।

आह, भू मे ईद का निषेध कहना होगा । आत्थ (ब्रू-लट् सिप् थल्) यहाँ  
ब्रू धातु के स्थान में व्रुवः पञ्चानामादितः० से हुप् आह आदेश को स्थानिवद्भाव  
से ब्रू मान कर व्रुव ईद से थल् को ईद प्राप्त होता है । अभूत् (अस्-लुङ्)  
यहाँ अस् के स्थान में अस्तेर्गू से हुप् भू आदेश को स्थानिवद्भाव से अस् मान  
कर अस्तसिचोऽपृक्तं से तिप् को ईद प्राप्त होता है ।

आह में तो ईद के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । आहस्थः सूत्र से  
जो आह के हकार को शल् पर रहते थकार कहा है वह आचार्य का व्यवहार इस  
बात का ज्ञापक है कि ईद नहीं होता । अन्यथा थल् को ईद हो कर शल् पर  
न होगा तो थकार कहना व्यर्थ है ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । शल् पर रहते थकार विधान का प्रयोजन तो ईद  
करने पर भी रह सकता है । क्या ? जो पहले शलादि रह चुका है उस प्रत्यय  
के पर रहते आह को थकार हो । वह केवल थल् ही है क्योंकि णल् अतुस्  
उस् अधुस् इन चारों में भूतपूर्व शलादि कोई भी नहीं । इस लिये ईद करने पर  
भी भूतपूर्व शलादि मान कर थल् के पर रहते आह को थकार हो सकता है ।

तब तो आहस्थ से थकार विधान करना ही व्यर्थ है । व्रुवः पञ्चानामादितः०  
इस सूत्र में आचार्य आह आदेश न कह कर आप् आदेश ही कह देते ।  
भूतपूर्व गति से शलादि मानने पर णल् अतुस् उस् थल् अधुस् ये पाँचों ही  
तिप् तम क्षि सिप् थस् के स्थान में होने से शलादि बन जाते हैं । इस लिये  
आहस्थः सूत्र में भूतपूर्व गति से शलादि नहीं माने जायेंगे तो आत्थ में ईद होने  
पर शलादि न होगा । शलादि पर न रहने से थकार न हो सकेगा । थकार विधान  
सामर्थ्य से ईद का अभाव हो जायगा उसके लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की  
आवश्यकता नहीं ।

भवतेश्चापि न वक्तव्यः <sup>अस्तिस्मिचोऽपृक्ते</sup> इति द्विसकारको  
निर्देशः । अस्ते. सकारान्तादि

वध्यादेशे वधकं त्वप्रतिषेध

वध्यादेशे वृद्धितत्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । वधकं पुष्करमिति ।  
स्थानिवद्भावाद् वृद्धितत्वे प्राप्नुतः ।

नैप दोषः । उक्तमेतन्— नाय ण्वुल् । अन्योऽयमकशब्दः किदौणा-  
दिको रुचक इति यथेति ।

इड्विधिश्च ।

इड विधेयः । आवधिपीष्ट । एकाच उपदेशेऽनुदात्तादितीट्

भू में भी ईट् के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । अस्तिसिचोऽपृक्ते सूत्र में अस्तिसिचोऽपृक्ते' इस प्रकार अस्म यह दो सकार वाला प्रदिल्लट निर्देश है । उससे सकारान्त अस् धातु से परे ही अपृक् हलादि सार्वधातुक को ईट् होगा । अम्नेर्भू से हुण् भ आदेश वाले अस से ईट् नहीं होगा ।

हन् को वधादेश होने पर वृद्धि और तकार का निषेध कहना होगा । वधकम् यहाँ हन्-ण्वुल् इस अरुस्थान में बहुल ताण इस वार्तिक से हन् के स्थान में हुण् वध् आदेश को स्थानिवद्भावात् से हन् मान कर हनस्तोच्चणलोः से तकार और उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

यह कोई दोष नहीं । इसी सूत्र में पहले कह चुके हैं कि वधक में ण्वुल् प्रत्यय नहीं है । अपितु ण्वुल् से अन्य यह औणादिक वयुन् प्रत्यय है जो कित् है जैसे—रुचक यहाँ वयुन् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता वैसे वधकम् में वयुन् प्रत्यय के णित् न होने से उपधावृद्धि और तकार नहीं होंगे ।

हन् को वध् आदेश होने पर इट् का विधान भी करना होगा । आवधिपीष्ट (आट् हन्-सीयुट् सुट् लिट्) यहाँ आहपूर्वक हन् धातु से आठो यमहनः से आरामनेपद होता है । आरीलिट् में हना वव लटि से अगले आम्नेनेपदेष्वन्य-

१ यहा नामेश न अस्तिसिचो० इस प्रकार द्विसकारान्त निर्देश वाला सूत्र पाठ स्वीकार किया है । वह मध्यमणिन्याय या देहलीदीपक न्याय से सकार का मन्वन्य अस्ति और सिच दोनों न जोड़ना चाहते हैं । उसमें अभून् में अस् के साथ ही सिच भी लुट् होने से वयमान नहीं है अतः सर्वथा ईट् न होगा ।





नैप दोषः । लीभियो प्रा <sup>लिङ्गान्तत्वे</sup> । लीभियोः प्रक्षिष्ट-  
निर्देशोऽयम् । ली ई ईकारान्तस्त्वं <sup>वपुश्च ई ईकारोऽस्येति ।</sup>

लोडादेशे शाभावजभावधित्वहिलोपैत्वप्रतिषेध ।

एषां लोडादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः । शिष्टात् । हतात् । भिन्तात् ।  
कुरुतात् । स्तात् । लोडादेशे कृत शाभावो जभावो धित्वं हिलोप एत्व-  
मित्येते विधयः प्राप्नुवन्ति ।

नैप दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम् । लोडादेशः क्रियतामेते विधय  
इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाल्लोडादेशः ।

अथेदानीं लोडादेशे कृते 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् कस्मादेते विधयो

वद्भाव से ली भी मान कर लीलोर्नुग्लुकावन्य० से ली में नुक् का आगम और  
भयो हेतुभये पुक् से भी मे पुक् का आगम प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । लीलोर्नुग्लुका० में और भियो हेतु० मे ली ई ली और  
भी ई भी इस प्रकार ईकार का प्रक्षिष्टनिर्देश मान कर ईकारान्त ली भी मे ही  
नुक् पुक् आगम होंगे । विलापयति, भापयते मे ईकारान्त ली भी न होने से नुक्  
पुक् नहीं होंगे ।

लोट् लकार के हि के स्थान में तातड् आदेश होने पर शाभाव, जभाव,  
धित्व, हिलोप और एत्व ये विधियाँ प्राप्त होती हैं उनका निषेध कहना होगा ।  
शिष्टात् हतात् भिन्तात् कुरुतात् स्तात् यहाँ क्रम से शास् हन् भिद् कृ और  
अस के लोट् लकार में सिप् की हि के स्थान में हुप् तातड् आदेश को  
स्थानिवद्भाव से हि मान कर शास् को शा हौ से शा आदेश, हन् को हन्तेर्ज.  
से ज आदेश, भिद् से परे हुञ्जल्भ्यो० से हि को धि आदेश, कृ से परे  
उतद्वच प्रत्ययादसंयोगपूर्वान् से हि का लुक्, और अस् को ध्वसोरेद्भावभ्यासलोपद्व  
से एत्व प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ यह विचारिये कि हि के स्थान मे तातड् आदेश  
पहले करें या शास् आदि का शा आदेश आदि कार्य पहले करें । क्या करना  
चाहिये । दोनों मे पर होने से हि के स्थान में तातड् पहले हो जायगा तो  
हि के न रहने से उसके परे रहते होने वाले शा आदेश आदि कार्य स्वतः निवृत्त  
हो जायेंगे ।

पहले तातड् आदेश होने पर भी स्थानिवद्भाव से तातड् को हि मान

न भवन्ति ।



'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् वाधितमेव' इति कृत्वा ।

त्रयादेशे सन्तप्रातेषेधः ।

त्रयादेशे सन्तस्य प्रतिषेधो वन्तव्यः । तिसृभावे कृते त्रेस्त्रय इति त्रयादेशः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम्, तिसृभावः क्रियतामाहोस्वित् त्रेस्त्रय इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात् तिसृभावः ।

अथेदानीं तिसृभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् त्रयादेशः कस्मान्न भवति ।

मान कर पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् इत्स परिभाषा द्वारा फिर शा भाव आदि कार्य क्यों नहीं होते । इस परिभाषा का अर्थ है कि विप्रतिषेध में परत्व से बाधा हो कर भी यदि बाधित सूत्र की पुनः प्राप्ति संभव हो तो वह फिर हो जाती है । तातद् आदेश द्वारा परत्वात् बाधित होने पर भी शा आदि आदेश स्थानिवद्भावात् से तातद् को ही मान कर पुनः प्राप्त है ।

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधित तद् बाधितमेव इत्स परिभाषा से पुनः प्रसङ्गविज्ञान की बाधा हा जायगी तो तातद् द्वारा एक बार बाधे जाने पर शा भाव आदि फिर नहीं हो सकते । इस परिभाषा का अर्थ है कि एक बार प्रवृत्त विप्रतिषेध में जो बाधा गया वह बाधा गया ही समझना चाहिये । वह फिर नहीं प्रवृत्त हो सकता । पुनः प्रसङ्ग विज्ञान न्याय और सकृद्गतिसंशय ये दोनों लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं । इष्टसिद्धि के लिये जिस न्याय की जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ वही न्याय मान लिया जाता है ।

त्रयादेश कहने में सृ शब्दान्त तिसृ शब्द का निषेध कहना होगा । तिसृणाम् यहाँ स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरो स्त्रिया तिसृचतस्र से त्रि के स्थान में हुए तिसृ आदेश को स्थानिवद्भावात् से त्रि मान कर त्रेस्त्रय से त्रयादेश प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ यह विचारना चाहिये कि त्रि शब्द के स्थान में तिसृ आदेश पहले करें या त्रय आदेश पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से तिसृ आदेश पहले हो जायगा तो त्रि के न रहने से त्रय आदेश न होगा ।

तिसृ आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से फिर त्रयादेश

सहृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् वाधित तद् वाधितमेवेति ।  
 आरं प्रपञ्चयेत् ।

आम्बिधौ सन्तस्य प्रतिषेधो वन्तस्यः । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतस्र्भावे कृते चतुरनडुहोरामुदात्त इत्याम् प्राप्नोति ।

नैप दोष । इदमिह सम्प्रधार्यम्, चतस्र्भावः त्रियतामाहोस्वित् चतुरनडुहोरामुदात्त इत्याम् इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात् चतस्र्भावः ।

अथेदानीं चतस्र्भावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् आम् कस्मान्न भवति ।

सहृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् वाधित तद् वाधितमेवेति ।

स्वरे वस्वादेशे ।

स्वरे वस्वादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः । विदुषः पदयः । 'शतुरनुमो

क्यो नहीं होता । स्थानिवद्भाव से तिस को त्रि मान कर त्रयादेश प्राप्त है ।

सहृद्गतिन्याय से तिस्र आदेश द्वारा एक बार त्रय आदेश क बाध जाने से फिर त्रयादेश नहीं होगा ।

चतुरनडुहोरामुदात्त से आम् करने में स्र शब्दान्त चतस्र् शब्द का निरर्थक करना होगा । चतस्र (चतुर-न्स) यहाँ चतुर शब्द के स्थान में स्त्रालिङ्ग में त्रिचतुरो त्रिया० में हुए चतस्र् आदेश को स्थानिवद्भाव से चतुर मान कर चतुरनडुहोरामुदात्त से आम् प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ यह विचारना चाहिये कि चतुर शब्द के स्थान में चतस्र् आदेश पहले करें या चतुरनडुगे० में चतुर को आम् आगम पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से चतस्र् आदेश पहले ही जायगा तो आम् आगम न होगा ।

चतस्र् आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से फिर आम् आगम क्यो नहीं होता । स्थानिवद्भाव से चतस्र् को चतुर मान कर आम् प्राप्त है ।

सहृद्गति न्याय से चतस्र् आदेश द्वारा आम् आगम के एक बार बाध जाने पर फिर आम् आगम नहीं होगा ।

वसु आदेश करने पर स्वर का निषेध कहना होगा । विदुषः पदयः (विद्वस्-

नद्यजादीं अन्तोदात्तानि ।

नैप दोषः । अनुम् इति प्राप्तेः विष्यति ।

अनुम् इत्युच्यते न चात्र नुम् पश्यामः ।

अनुम् इति नेदमागमग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् ।  
क सनिविष्टानां प्रत्याहारः । उकारात् प्रभृति आ नुमो मकारात् ।

यदि प्रत्याहारग्रहणं, लुनता पुनता अत्रापि प्राप्नोति ।

नानुम्ग्रहणेन शत्रन्त विशेष्यते । किं तर्हि शतेव विशेष्यते शता

शस्) यहाँ विद्स् शब्द में विद् से परे शत् प्रत्यय के स्थान में विदे, शतुर्वसुः से हुप् वसु आदेश को स्थानिवद्भावे से शत् मान कर शतुरनुमो नद्यजादी से शस् विभक्ति को उदात्त स्वर प्राप्त होता है । अन्तोदात्त शत् प्रत्यय से परे नदी और अजादि सर्वनामस्थान भिन्न विभक्ति को उदात्त किया जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । शतुरनुम् • सूत्र में अनुमः कहने से विदुप में स्वर का निषेध हो जायगा ।

अनुम् कहा है । उसका अर्थ नुम् भिन्न है । नुम् भिन्न अन्तोदात्त शत् प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होता है । विदुषः में नुम् है नहीं तो यह भी नुम् भिन्न है । उस अवस्था में अनुम् यह निषेध कैसे हो जायगा ।

अनुम् का अर्थ नुम् भिन्न नहीं है । नुम् आगम का वहाँ ग्रहण नहीं है । किन्तु उम् प्रत्याहार का ग्रहण है । न उम् = अनुम्, अनुमः इस प्रकार उम् प्रत्याहार भिन्न अन्तोदात्त शत् प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होगा । कहाँ से कहाँ तक उम् प्रत्याहार है । तनादिहृन्म्य उ सूत्र के उकार से लेकर इदितो नुम् धातो- में नुम् के मकार तक उम् प्रत्याहार बनता है । उसमें विदे शतुर्वसुः यह वसु आदेश भी आ लिया है इस लिये वसु के उम् भिन्न न होने से विदुपः में विभक्ति स्वर नहीं होगा । यद्यपि शत् भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न नहीं है फिर भी यह तो शतुः इस वचन से गृहीत हो जायगा ।

यदि शतुरनुम् सूत्र में अनुम् का अर्थ नुम् भिन्न न मान कर उम् भिन्न मानेंगे तो लुनता पुनता (लुनन् पुनन्-त्) यहाँ ल् पू धातुओं से शत् परे रहते विहित इना विकरण भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न न होगा तो विभक्ति स्वर नहीं प्राप्त होता । अनुम् यह निषेध प्राप्त होता है ।

शतुरनुम् सूत्र में अनुम् ग्रहण से शत्प्रत्ययान्त को विशेषित नहीं

योऽनुमुक् इति । अवश्यं चैतदेवं शिमे, तौ, क्तन्ते नोणे हि सतीह प्रस-  
ज्येत-मुञ्चता मुञ्चते इति ।

गो. पूर्वणित्वात्प्रत्ययस्वरेषु ।

गो. पूर्वणित्वात्प्रत्ययस्वरेषु प्रतिपेधो वक्तव्यः । चित्रग्वग्रम् ।  
शबलग्वग्रम् । सर्वत्र विभाषा गोरिति विभाषा पूर्वत्वं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । एङ् इति वर्तने । तत्रानल्विधाविति प्रतिपेधो

किया जाता । अर्थात् अनुम् यह शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण नहीं है बल्कि  
शतृ प्रत्यय का विशेषण है । उम् रहित जो शतृ प्रत्यय तदन्त अन्तोदात्त  
शब्द से परे विभक्तिस्वर हाता है । लुनता पुनता में शतृप्रत्ययान्त लुनत्  
पुनत् शब्द के उम् भिन्न न होने पर भी शतृ प्रत्यय उम् भिन्न ही है । शतृ  
प्रत्यय में कहीं उम् नहीं है । इना प्रत्यय शतृ प्रत्यय से परे नहीं विहित हुआ  
है । शतृ प्रत्यय स्वयं उम् होता हुआ भी शतृः इस वचनसामर्थ्य से गृहीत  
होगा तो अनुम् यह निषेध न लगने से लुनता पुनता में स्वर हो जायगा ।  
यह बात यहाँ अवश्य माननी भी चाहिये कि शतृ प्रत्यय ही उम् भिन्न लिया  
गया है । शतृ प्रत्ययान्त नहीं लिया गया है । अनुम् का अर्थ नुम् आगम  
भिन्न मानने पर भी शतृ प्रत्यय का ही विशेषण नुम् माना जायगा, शत्रन्त  
का नहीं । अन्यथा मुञ्चता मुञ्चते ( मुच्-श शतृ-टा, डे ) यहाँ भी मुञ्चत् यह  
शतृप्रत्ययान्त शब्द नुम् भिन्न नहीं है । शतृप्रत्यय तो नुम् भिन्न है । इस  
लिये शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण मानने पर मुञ्चता मुञ्चते में भी नुम् भिन्न  
न होने से विभक्तिस्वर नहीं प्राप्त होता । वहाँ भी अनुम् यह निषेध प्राप्त  
होगा । जब नुमागमभिन्न अर्थ मानते हुए अनुम् को शतृप्रत्यय का ही विशेषण  
मानते हैं, शत्रन्त का नहीं तो उम् प्रत्याहार भिन्न अर्थ मानते हुए भी उम्  
को शतृ प्रत्यय का ही विशेषण समझेगे शत्रन्त का नहीं । इस प्रकार कहीं  
दोष न होने से विदुष में विभक्तिस्वर न होगा ।

गो शब्द का पूर्वरूप, णित्त्व आत्प्र और स्वर करने में निषेध कहना होगा  
चित्रगु+अग्रम्=चित्रग्वग्रम् । शबलगु+अग्रम्=शबलग्वग्रम् । यहाँ चित्रगु, शबलगु  
शब्दों में गो शब्द के स्थान में गोहिनयोत्पसर्जनस्य से हुए हम्ब आदेश को स्थानिवद्भावात्  
से गो मान कर सर्वत्र विभाषा गा से पूर्वरूप अथवा प्रकृतिभाव का विकल्प  
प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । सर्वत्र विभाषा गोः में एङ्. पदान्तादिति से एङ्

भविष्यति ।

एवमपि हे चित्रगो अग्रम् हे चित्रगु प्राप्नोति ।

णित्वम् । चित्रगुः । चित्रगू । चित्रगवः । 'गोतो णिदि'ति णित्त्वं प्राप्नोति । आत्वम् । चित्रगु पश्य । शबलगुं पश्य । आ ओत इत्याच्च प्राप्नोति ।

नैप दोषः । तपरकरणात् सिद्धम् । तपरकरणसामर्थ्यात् णित्वात्त्वे

की अनुवृत्ति आती है । उससे गो शब्द के एङ् को पूर्वरूप का विकल्प होगा । गो शब्द को नहीं । एङ् के अल होने से अल्विधि हो जायगी तो चित्रगु यहाँ ह्रस्व आदेश में गो का एङ् स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता । एङ् न होने से चित्रगवप्रम् में पूर्वरूप का विकल्प भी न होगा ।

चित्रगवप्रम् में स्थानिवद्भाव से एङन्त गो शब्द न होने से वहाँ दोष न होने पर भी हे चित्रगो अग्रम् यहाँ सम्बोधन में चित्रगु को गुण हो कर गो शब्द हो जाने से पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है । यद्यपि सम्बोधन में गुण हो कर बना हुआ गो शब्द लाक्षणिक है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से सर्वत्र विभाषा गोः में इसका ग्रहण न हो कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त नहीं होता तो भी स्थानिवद्भाव से गो शब्दत्वं ला कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है उसके लिये स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

णत्व जैसे—चित्रगु । चित्रगू । चित्रगव । यहाँ गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व आदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर गोतो णित् से सर्वत्रामस्थान विभक्ति को णित्व प्राप्त होता है । चित्रगुम्, शबलगुम् यहाँ औतोम्शतो से आकार एकादेश प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । गोतो णित् और औतोम्शतो में गोतः ओत.

१. यहा भाष्यकार ने हे चित्रगो अग्रम् के दोष का परिहार नहीं किया उससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस दोष का परिहार हो ही नहीं सकता । यहा भी एङ् पना स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता केवल गो पना ही आ सकता है इस लिये गो शब्द का एङ् न होने से हे चित्रगो अग्रम् में भी पूर्वरूप का विकल्प नहीं होगा । गुण का ओकार तो लाक्षणिक है । वस्तुतः यदि सर्वत्र विभाषा गो में समस्त असमस्त लाक्षणिक अलाक्षणिक सब प्रकार का एङन्त गो शब्द मानें तो हे चित्रगो अग्रम् यहा पूर्वरूप का विकल्प हो जाने में भी कोई हानि नहीं है ।

न भविष्यतः ।

स्वरात् अन्तर्गतः

स्वर । बहुगुमान् । 'न' अपभ्रंशविवर्णे'ति' प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

करोतिपिवत्यो' प्रतिषेधः ।

करोतिपिवत्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुरु पियेति । स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणः प्राप्नोति ।

इस प्रकार तपर करने से द्विमात्रा काल वाला ओकार लिया जायगा । चित्रगु मे ओकार है नहीं इस स्थिये गिर्य और आत्व दोनो ही न होगे । स्थानिवद्भाव से भी गो पना आ सकता है । ओ पना नहीं । ओकार का आश्रयण करने से अह्विधि हो जायगी । अह्विधि मे स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा ।

स्वर जैसे—बहुगुमान् । ( बहुव गामो यस्य स बहुगु । बहुगुर्विद्यते यत्र स बहुगुमान् ) यहाँ गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व जोदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर न गोश्चन् सावर्ण्यराडङ्गुत्तृद्वय से मतुप के उदात्त स्वर का निषेध प्राप्त होता है । बहुगु यह बहुव्रीहि समाप्त बहोर्नन्बदुत्तरपदभूमि से अन्तोदात्त है उससे परे मतुप को ह्रस्वगुडभ्या मतुप् से उदात्त होता है । न गोश्चन्० स उसका निषेध प्राप्त होता है ।

कुरु, पिय यहा कृ और पा धातु के प्रयोगो मे स्थानिवद्भाव का निषेध करना होगा । कुर, पिय इनके लघूपध होने से लघूपधगुण प्राप्त होता है । कृ के स्थान में हुए कृ की और पा के स्थान में हुए पा की स्थानिवद्भाव से अङ्गसज्ञा हो कर लघूपधगुण होना चाहिये ।

१ इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानिवत्स्य मे प्राप्त सभी दोषों का समाधान कर दिया है । केवल यह बहुगुमान् वाला स्वर का दोष रह गया है । उसका भी समाधान हो सकता है । यदि गोतो गित् के गकार की तरह न गोश्चन्० मे गो का गकार भी अविवक्षित मान कर उसे ओकारान्त का उपलक्षण समझें तो ओकार अह्विधि होने से बहुगु न स्थानिवद्भाव द्वारा ओकारान्ता नहीं आ सकती । ओकारान्त न होने से बहुगुमान् मे मतुप् के उदात्त स्वर का निषेध न होगा । वेद मे छत्रि इस आशुदात्त प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि ओकारान्त गो शब्द में भी न गोश्चन्० की प्रगति हो कर विभक्ति स्वर का निषेध हुआ करता है । अन्यथा यदि में गो शब्द न होने से साविक्राचस्ततीयादि० से प्राप्त विभक्तिस्वर का न गोश्चन्० यह निषेध कैसे कर सकता है । गो शब्द को उपलक्षण



किमुक्तम् । 'करोती तपरकर' इति । 'शात् सिद्धम् । पिविरदन्त इति ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥११॥५७॥

अच इति किमर्थम् ?

प्रश्नो विश्नः । दृत्वा स्यूत्वा । आक्राष्टाम् । आगत्य । प्रश्नो विश्नः इत्यत्र छकारस्य शकारः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाच्चे चेति तुक्

इस दोष का समाधान पहले इसी सूत्र में कहा जा चुका है कि अत उत्सार्वाधातुने सूत्र में उत् में तपर करने से कुर में ह्रस्व उकार ही रहेगा उसे गुणादि विकार न होंगे । पिवादेश के अदन्त होने से पिव में भी गुण न होगा । पिव इस प्रकार अकारान्त पिव शब्द में लघु इकार के उपधा में न आने से लघूपधगुण नहीं होगा ।

सूत्र में अचग्रहण किस लिये किया है ।

परस्मिन् पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर प्रश्न विश्न ( प्रच्छ, विच्छ-नङ् ) यहाँ प्रच्छ से परे नङ् प्रत्यय को निमित्त मान कर च्छवो शृङ्गुनासिके च से प्रच्छ क हल् छकार के स्थान में शकार आदेश हुआ है उसके स्थानिवत् होने से छे च से छ स पूर्व तुक् प्राप्त होता है । अच ग्रहण करने पर नहीं

मान कर ओकारान्त से परे प्राप्त विभक्तिस्वर या मत्तुप् प्रत्यय स्वर आदि सभी स्वरों का निषेध होता है ऐसा मानने में वहाँ दोष नहीं आता ।

१. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ यह पहला सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध करता था । अच परस्मिन्० यह सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव करने के लिये बनाया है । इसी लिये वक्त्र ( म्रश्-ल्द् तिप् णल् ) में म्रश् को लिट्भ्या-सस्योभयेषाम् से अभ्यास में म्रश् सम्प्रसारण हो कर उरदत्व करने पर अच परस्मिन् सूत्र से उरदत्व को स्थानिवत् होता है । उसमें ऋकार रूप अल् के परे हो जाने पर न सम्प्रसारण सम्प्रसारणम् से अभ्यास वकार को सम्प्रसारण का निषेध सिद्ध हो जाता है । अचितीक, सुचितीक (अविद्यमाना शोभना वा चितिः यस्य सः) यथा बहुव्रीहि समास में क्प् परे रहत चित्ते. कपि से चिति शब्द के इकार को दीर्घ होता है उसको इस सूत्र से स्थानिवत् हो कर अट् रूप ह्रस्व इकार अन्त में हो जायगा तो ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम् से अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जाता है ।



प्राप्नोति । अच इति वचनान्न श्च इति प्राप्नोति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । अप्प्रहणे अप्प्रहणे अवश्यमत्र तुग्भावे यत्नः कर्तव्यः । अन्तरङ्गत्वादि तुक् प्राप्नोति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्यूत्वा स्यूत्वा । वकारस्य ऊट् परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद्दीर्घात् यणादेशो न प्राप्नोति । अच इति वचनाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्रात्त्वं भविष्यति । अथवा

होता । क्योंकि अच के स्थान में शकार आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो तुक् नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । अचग्रहण करने पर भी प्रश्न विद्मः में तुक् रोकने के लिये अग्रथय यत्न करना होगा । अन्यथा प्रश् इति अवस्था में श आदेश की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने से छे च से छ से पूर्व तुक् प्राप्त होता है ।

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । द्यूत्वा स्यूत्वा ( दिव्, सिव् क्त्वा ) यहाँ दिव् से परे क्त्वा प्रत्यय को निमित्त मान कर च्त्वा शब्द से दिव् के इत् वकार के स्थान में ऊट् आदेश हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से इको यणचि से यणादेश नहीं प्राप्त होता । अच् ग्रहण करने से हो जाता है । क्योंकि अच् के स्थान में ऊट् आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो यण हो जायगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । ऊट् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अच् होने से द्यूत्वा में यण हो जायगा । अथवा जो आदेश हुआ है अर्थात् समुदाय-

१. वह यत्न यही है कि च्त्वा शब्द में च्त् इस प्रकार च् छ मिला कर तुक्महित छकार का निर्देश करके उसके स्थान में श आदेश मानेंगे तो तुक्सहित छकार निर्देश के सामर्थ्य से फिर तुक् न होगा । उसी यत्न से प्रश्न विद्म में तुक् रुक जायगा । तुक् महित छकार स्थानी के निर्देश सामर्थ्य से ही अलोन्व-विधि भी न होगी । विभ्र में प्राप्त लूपधगुण के रोमने के लिये नप् प्रत्यय को छिन् करना भी तभी चरितार्थ हो सकता है जब विच्छ्र में तुक्महित छकार के स्थान में श आदेश हो । अन्यथा तुक् के अवशिष्ट रटने से लघु रकार उपधा में न होगा तो गुण प्राप्त ही नहीं उमके लिये नह् को छित्त करना व्यर्थ है ।

२. वाच्यो इत्यादि में तो इको यणचि से हुए वकाररूप आदेश में स्वाश्रय

योऽत्रादेशो नासावाश्रीयत्  आदेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आक्राष्टिन् इत्कारि चो लोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् 'पढोः क. सी'ति कत्वं प्राप्नोति । अच् इति वचनान्न भवति ।

रूप ऊट्, उसका यणादेश में आश्रयण नहीं किया गया । और जिसका आश्रयण किया गया है अर्थात् अच् वह आदेश नहीं हुआ है । ऊट में उकार के अच् होने पर भी वह आदेश नहीं, आदेश का अवयव है । उस लिये यणादेश में स्थानिवद्भाव न होगा ता यण् हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । अनाशाम् ( आ कृप्-सिच्-ताम् ) यहाँ कृप् धातु से लुट् लकार में सिच् परे रहते ताम् को निमित्त मान कर झलो झलि से मिच् क हल् मकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से सकार परे हो जायगा तो पटो. क सि से कृप् के पकार को ककार प्राप्त होता है । अच् प्रहण करने पर नहीं होता । क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् नहीं होगा तो मिच् का सकार परे न मिलने से प की क नहीं होगा ।

घल् होने पर भी लोपो व्योर्बलि में य का लोप नहीं होता क्योंकि यणादेश के बहिरङ्ग होने से अमिद्धता हो जायगी । शूचा में बहिरङ्ग होने पर भी ऊट् आदेश असिद्ध नहीं होगा । नाजानन्तर्ये बहिष्वप्रकल्पितः इम परिभाषा से अमिद्ध परिभाषा का निषेध हो जायगा तो ऊट् परे मिल जाने से यण् हो जायगा । ऊट् को स्थानिवत् मान कर लोपो व्योर्बलि से यण् के यकार का लोप होने की शङ्का तो नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऊट होने पर यण् हुआ है । उससे पूर्व नहीं था । तो पूर्वविधि न होने से ऊट् को स्थानिवत् नहीं हो सकता ।

१. यदि कहो योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः ऐमा मानते हैं तो ख्याञ् आदि आदेश भी अनुबन्ध रहित हुए आदेश नहीं माने जायेंगे ठमने स्थानिवद्भाव न हो कर ख्या आदि की धातुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये । क्योंकि ख्या आदि ग्याञ् आदि आदेश का अवयव होने से आदेश नहीं है तो इसका उत्तर है कि घस्लु आदेश में लुटिकरणरूप ज्ञापक से अनुबन्ध रहित होने पर भी ख्या आदि को आदेश मान कर धातुसंज्ञा हो जायगी । घस्लु में लुटिक् का प्रयोजन पुरादिदुताश्लुदित ० से अघसत् में च्लि को अट् करना है । वह धातुसंज्ञा हुए बिना हो नहीं सकती ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । त इह स्वस्वस्येति पूर्वत्रासिद्धे न स्थानि-  
वदिति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आगत्य । अभिगत्य । अनुनासिकलोपः  
परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वस्येति तुक् न प्राप्नोति । अच्  
इति वचनाद् भवति ।

अथ परस्मिन्निति किमर्थम् ?

युवजानिः । वधूजानि । द्विपदिका । घैयाघ्रपद्यः । आदीध्ये ।  
युवजानिः वधूजानिः इति जायाया निङ् अपरनिमित्तकः । तस्य स्थानि-  
वद्भावाद् वलीति यलोपो न प्राप्नोति । परस्मिन् इति वचनाद् भवति ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । भागे न पदान्तद्विवचन० सूत्र में यह वार्तिक  
कहेंगे कि पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवद् । इसका अर्थ है कि अष्टाध्यायी के पूर्वत्रासिद्धीय  
प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता । पटोः कः सि सूत्र के पूर्वत्रासिद्धीय  
प्रकरण का होने से उसके कार्य में स्थानिवद् न होगा तो सकार परे न मिलने  
से प को क न नहीं होगा ।

अच्छा फिर यह उदाहरण लीजिये । आगत्य अभिगत्य ( आ, अभि गम्-ल्यप् )  
यहाँ गम् से परे ल्यप् को निमित्त मान कर वा ल्यपि से गम् के हल् मकार  
का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से मकारान्त हो जायगा तो ह्रस्व न  
रहने से तुक् का आगम नहीं प्राप्त होता । अच् ग्रहण करने पर हो जाता है ।  
क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत्  
न होगा तो ह्रस्वान्त मिल जाने से ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् का आगम  
हो जायगा ।

परस्मिन् ग्रहण किस लिये किया है ?

अच्, पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर युवजानि वधूजानिः ( युवतिर् जाया  
यस्य, वधूर्जाया यस्य ) यहाँ बहुव्रीहि समास में जायाया निङ् से तुक् परे  
निमित्त न मान कर जाया शब्द के अन्तिम आकार के स्थान में निङ् आदेश  
हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से वल् परे न रहेगा तो लोपो व्योर्बलि से  
जाया के यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता  
है । क्योंकि निङ् आदेश के परनिमित्तक न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो वल्  
परे मिल जाने से यलोप हो जायगा ।

१. युवजानिः में जाया के अन्तिम आकार को निङ् आदेश हो कर उसके

नैतदस्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्र बलत्वं भविष्यति । अथवा योऽत्रादेशो नासावाधत्वात् न नासावादेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्विपदिका । त्रिपदिका । पादस्य लोपोऽपरनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् पद्भावो न प्राप्नोति । परस्मिन् इति वचनाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् स्थानिवद्भावो

यह कोई प्रयोजन नहीं । निङ् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं बल होने से जाया के य का लोप हो जायगा । अथवा यहां जो आदेश है अर्थात् निङ्, वह बल् नहीं । लोपो व्योर्बल में निङ् का आश्रय नहीं है । बलो में नकार का ही पाठ है निङ् का नहीं । और जो बल् है अर्थात् नकार, वह आदेश का अवयव है, आदेश नहीं । इस लिये स्थानिवद्भाव न होगा तो बल् पर मिल जाने से य का लोप हो जायगा ।

अच्छा तो द्विपदिका, त्रिपदिका यह उदाहरण लीजिये । द्वौ द्वौ पादौ द्विपदिका । यहाँ पादशतस्य संख्यादेवोपस्थाया जुन् लोपश्च से कुछ परे निमित्त न मान कर वीप्सा अर्थ में पाद शब्द से जुन् प्रत्यय और पाद के अन्तिम अच् अकार के स्थान में लोप रूप आदेश हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से हलन्त पाद शब्द न रहेगा तो पादः पत् से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि पाद के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो हलन्त पाद् शब्द मिल जाने से पद् आदेश हो जायगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । द्विपदिका में यस्येति च से पाद के अकार

परे रहते लोपो व्योर्बल से जाया के य का लोप हो जाता है । यदि कही जाया शब्द जन् धातु से औणादिक यक् प्रत्यय कर के ये विभाषा से आत्व हो कर बनता है । निङ् आदेश को स्थानिवत् मानने से आहार दीखेगा । वह यक् प्रत्यय के साथ हुए टाप् के सवर्णदीर्घ एकदेश को पूर्वान्तवद्भाव मान कर अजादि कित्त आर्षधातुक है । उसके परे रहते जन् के स्थान में हुए आकार का आतो लोप इटि च से लोप प्राप्त होता है । ये विभाषा और आतो लोप इटि च दोनों के आसीम होने पर भी समानाश्रय न होने से असिद्धवद्भावात् से ये विभाषा से हुए आत्व की असिद्धता भी नहीं हो सकती तो इसका उत्तर है कि उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस वचन से औणादिक शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं । जाया शब्द को जन् धातु से यक् प्रत्यय करके निष्पन्न नहीं मानेंगे तो जा के आकार का लोप नहीं होगा ।

न भविष्यति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । वैयाघ्रपद्ये

ननु चात्रापि पुनर्लोपवचनसामर्थ्यादेव भविष्यति ।

अस्ति ह्यन्यत् पुनर्लोपवचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र भसज्ञा न, व्याघ्रपात्, श्येनपाद् इति । इदं चाप्युदाहरणम्-आदीध्ये, आवेन्ये ।

का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादगतस्य सत्यदे० से लोप विधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा । पुन लोप विधान का यही तात्पर्य समझा जायगा कि पाद के अकार का लोप ही रहे । उसका श्रवण न हो । इस लिये स्थानिवद्भाव की स्वतः व्यावृत्ति हो जायगी । स्थानिवद्भाव न होने से पद् आदेश निर्बाध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । वैयाघ्रपद्य । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स व्याघ्रपाद् । व्याघ्रपदोऽन्यत् वैयाघ्रपद्य (व्याघ्रपाद्-यत्र) यहा व्याघ्रपाद् इस बहुव्रीहि समास में पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य से लुच् परे निमित्त न मान कर व्याघ्रपाद् शब्द के अन्तिम अच अकार का लोप हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से यञ् प्रत्यय परे रहते भसज्ञा होने पर पाद पत् से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि पादस्य लोपोऽह० स हुआ पाद के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो पाद् शब्द मिल जाने से पद् आदेश हो जायगा ।

वैयाघ्रपद्य में भी यत्येति च से पाद के अकार का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादस्य लोपो० से लोपविधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा और पद् आदेश सिद्ध हो जायगा ।

पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य से पुन लोपविधान करने का अन्य प्रयोजन है । क्या ? जहा भसज्ञा नहीं है वहा पाद् शब्द के अकार का लोप यत्येति च से नहीं हो सकता । क्योंकि वह भसज्ञा में ही अकार के लोप का विधान करता है । जैसे व्याघ्रपात्, श्येनपात् । (व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स ) यहा बहुव्रीहि समास वाले व्याघ्रपाद् शब्द में भसज्ञा न होने से पाद के अकार का लोप यत्येति च से नहीं हो सकता । यहा पाद के अकार का लोप करने के लिये पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य सूत्र की आवश्यकता है । इस लिये लोपविधान में सामर्थ्य न होने से यह स्थानिवद्भाव को रोक नहीं सकता । उस अवस्था में वैयाघ्रपद्य में अकार लोप के स्थानिवत् होने से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता, उसके लिये परस्मिन् ग्रहण

इकारस्य एकारोऽपरि- स्थानिवद्भावाद् यीवर्णयोर्दीधी-  
वेज्योरिति लोपः प्राप्नोति । परस्मिन् इति वचनान्न भवति ।

अथ पूर्वविधाविति किमर्थम् ?

हे गौ । याभ्रणीयाः । नेधेयः । हे गौरित्यौकारः परनिमित्तकस्तस्य  
स्थानिवद्भावाद् एङ्हस्वात्सबुद्धेरिति लोपः प्राप्नोति । पूर्वविधाविति  
वचनात्त भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सम्बुद्धिलोपे  
स्थानिवद्भावो भवतीति । यदयमेङ्हस्वात्सबुद्धेरित्येङ्ग्रहण करोति ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । गोऽर्थमेतत् स्यात् ।

करना चाहिये । इसके अतिरिक्त आधीव्ये आवेव्ये यह उदाहरण भी लीजिये ।  
(आ दीधी लट् इट् ए ) यहा दीधी से परे इट् प्रत्यय के इकार अच् के स्थान  
में कुछ परे निमित्त न मान कर टट आत्मनेपदाना टेरे से एकार हुआ है । उसके  
स्थानिवत् होने से इकार परे मिल जायगा तो यीवर्णयोर्दीधीवेव्यो से दीधी के  
ईकार का लोप प्राप्त होता है । परस्मिन् ग्रहण करने पर नहीं होता । क्योंकि टट  
आत्मनेपदाना० से होने वाला टेरेत्व परनिमित्तक नहीं है इस लिये स्थानिवत् न होगा  
तो दीधी के ईकार का लोप नहीं होगा ।

पूर्वविधौ यह किस लिये ग्रहण किया है ?

अब परस्मिन् इतना सूत्र होने पर हे गौ यहा गो शब्द से परे सम्बुद्धि के  
णित् सु प्रत्यय को निमित्त मान कर गो शब्द के ओकार के स्थान में अचो ङिति  
से औ वृद्धि हुई है । उस के स्थानिवत् होने से ओकार मिल जायगा तो एङ्हस्वात्  
सम्बुद्ध से सम्बुद्धिसञ्ज्ञक सु का लोप प्राप्त होता है । पूर्व विधि ग्रहण करने पर  
नहीं होता । क्योंकि यहा सम्बुद्धि लोप आदेश से पूर्व का कार्य नहीं है इस लिये  
स्थानिवत् न होगा तो ओकार न मिलने से सम्बुद्धि सञ्ज्ञक सु का लोप नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि  
सम्बुद्धिलोप करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता । यह जो एङ्हस्वात् सम्बुद्धे  
में एङ्ग्रहण किया है उस से यह बात मालूम होती है । अन्यथा हे अग्ने हे वायो  
इत्यादि में एकार ओकार को स्थानिवत् होने से हस्त्व मान कर ही सम्बुद्धि का  
लोप हो जाता तो एङ्ग्रहण व्यर्थ है । इस लिये एङ्ग्रहण के ज्ञापक से हे गौ. में  
ओकार को स्थानिवत् नहीं होगा तो उस से परे सम्बुद्धि सञ्ज्ञक सु का लोप न होगा ।

हे गौ में सम्बुद्धिलोप को रोकने के लिये एङ्ग्रहण कोई ज्ञापक नहीं ।

यत्तर्हि प्रत्याहारग्रहण करोति । इत्तुर्त्तेः प्रोहस्वादित्येव ब्रूयात् ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । वाभ्रवीयाः । माधवीयाः । वान्तादेशः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् हलस्तद्धितस्येति यलोपो न प्राप्नोति । पूर्वविधाविति वचनाद् भवति ।

गो शब्द से परे अनिट सम्बुद्धि लोप करने के लिये एट् ग्रहण रह सकता है । क्योंकि हे अग्न हे वायो इत्यादि में स्थानिवत् मानने से ह्रस्व मिल जायगा इस लिये वहाँ ह्रस्व ग्रहण से सिद्ध होने पर भी हे गौ में स्थानिवत् ईं कर भी ओ मिलेगा । इस्व नहीं मिलेगा । वहा सम्बुद्धि लोप करने के लिये एट् ग्रहण की आवश्यकता हो सकती है इस लिये यह ज्ञापक नहीं बन सकता ।

एट् प्रत्याहार में यदि ओकार को गो आदि ओकारान्त शब्दों के लिये रख कर व्यर्थ न भी मानें तो भी एट् प्रत्याहार ग्रहण में एकार तो व्यर्थ ही है । अन्यथा ओहस्वान् सम्बुद्धे इतना ही सूत्र कह देते । वैसा न कह कर जो एट् प्रत्याहार ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि सम्बुद्धिलोप में स्थानिवत् नहीं होता । इस लिय पूर्वविधि ग्रहण किये बिना भी हे गौ में स्थानिवत् नहीं होगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । वाभ्रवीया । माधवीया । वभ्रो मधोर्वा अपय वाभ्रव्य । माधव्य । (वभ्रु मधु-यन्) । तस्य छात्रा वाभ्रवीयाः माधवीयाः (वाभ्रव्य, माधव्य-ः) । यहा वभ्रु को ओर्गुण से ओ गुण हो कर वभ्रो हुआ । उस से पर यञ् को निमित्त मान कर वभ्रो के ओकार के स्थान में वान्तो यि प्रत्यये से अच् आदेश होता है । उस अत्रादेश के स्थानिवत् होने से हल् न रहेगा तो हलस्तद्धितस्य की अनुवृत्ति करक छ प्रत्यय पर रहते होने वाला आगत्यस्य च ताद्धितेऽनात् सूत्र से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि य का लोप अत्रादेश से पूर्व का कार्य नहीं है पर का कार्य है अतः स्थानिवत् न होगा तो हल् मिल जाने से य का लोप हो जायगा ।<sup>१</sup>

१ यदि वही वाभ्रवीया माधवीया यहा सनिपात परिभाषा से यलोप होना हा नहीं चाहिये क्योंकि जिस यञ् प्रत्यय के सम्बन्ध से अच् आदेश हुआ है वह अत्रादेश हल् बन कर यण्य का निमित्त नहीं बन सकता उससे सनिपात परिभाषा का विरोध होता है तो इसका उत्तर है कि सनिपात परिभाषा को अनिन्य मानने से यह दोष न होगा । वाभ्रवीया माधवीया में सनिपात परिभाषा की प्रवृत्ति न होगा तो यलोप हो जायगा ।

एतदपि नास्ति प्रयोगः । स्वाश्रयमत्र हल्त्वं भविष्यति । अथवा योऽत्रादेशो नासावाधीयते, यश्चात्रोक्त नासावादेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । नैधेयः । आकारलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् द्वयञ्जलक्षणो ढक् न प्राप्नोति । पूर्वविधाविति वचनाद् भवति ।

अथ विधिग्रहण किमर्थम् ?

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । अवादेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं हल् होने से य लोप हो जायगा । अथवा जो यहां आदेश है अर्थात् अच्, वह हल् नहीं । क्योंकि हलो में वकार का पाठ है अच् का नहीं । और जो हल् है अर्थात् वकार, वह आदेश का अवयव है आदेश नहीं, इस लिये स्थानिवद्भाव ही न होगा । य लोप में नियम का आश्रयण किया है वह आदेश नहीं है और जो आदेश है उस का आश्रयण नहीं किया गया है । इस लिये वात्रर्वाणा माधर्वायाः में स्थानिवद्भाव न होने से य लोप हो जायगा ।

तब तो यह उदाहरण लीजिये । नैधेय । (निधेरपयम्, नैधेय.) नि पूर्वक था धातु स कि प्रत्यय हो कर निधि शब्द बनता है । उस में धा धातु के आकार का लोप आने लोप इटि च से कि-प्रत्यय को निमित्त मान कर हुआ है उस के स्थानित् होने से निधि शब्द में दो अच् न रह कर तीन अच् हो जायेंगे तो इत्थान्तिज से दो अच् मान कर होने वाला अपत्यार्थक ढक् प्रत्यय नहीं प्राप्त होता । पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि यहां ढक् प्रत्यय आकार लोप रूप आदेश से पूर्व का कार्य न हो कर पर का कार्य है इस लिये स्थानित् न होगा तो दो अच् मिल जाने से ढक् हो जायगा ।

विधि ग्रहण किस लिये किया है ?

१ यद्यपि नैधेय में स्थानिवद्भाव से तीन अच् हो जाने पर भी स्वाश्रय द्वयञ्ज मान कर इत्थान्तिज से ढक् हो सकता है तो भी लौकिकी गौण्यप्युत्तरा सरया पूर्वा सरयां बाधते अथवा न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते इन न्यायों के अनुसार तीन अच् वाले का दो अच् वाला नहीं कहा जा सकता । तीन संख्या दो की विरोधिनी होने से दो को बाध लेगी । स्थानिवद्भाव से अविरोध कार्य का ही अतिदेश होता है, विरोध का नहीं । जो स्वाश्रय कार्य अतिदिष्ट कार्य से विरोध है वह अनिदेश द्वारा बाधित हो जाता है । इस लिये यहा अतिदिरयमान द्वयञ्ज से स्वाश्रय द्वयञ्ज की बाधा हो जायगी तो ढक् प्राप्त नहीं होगा ।



सर्वविभक्तयन्तः समासो यथा विश्रायेत । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः ।  
पूर्वस्माद् विधिः पूर्वविधिरिति ।

कानि पुनः पूर्वस्माद् विधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ।

वेभिदिता चेच्छदिता । माथितिकः । अपीपचन् । वेभिदिता  
चेच्छदितेति अकारलोपे कृते एकाज्जक्षण इट्प्रतिषेधः प्राप्नोति । स्थानि-  
वद्भावान्न भवति । माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तात् क इति कादेशः  
प्राप्नोति स्थानिवद्भावान्न भवति । अपीपचन् इत्येकादेशे कृते अभ्यस्तात्

जिस से पूर्व शब्द में सब विभक्तियों वाला समास समझ लिया जाय  
इस लिये विधिग्रहण करने पर दो पद हो जायेंगे । तभी यथेष्ट समास संभव है ।  
पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः यह पठनी समास है । इसका अर्थ है—पूर्व का कार्य ।  
पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः, पञ्चमी समास है । इस का अर्थ है—पूर्व से परे  
का कार्य अर्थात् पर का कार्य । दोनों प्रकार की विधियों में स्थानिवद्भाव  
करने के लिये विधिग्रहण की आवश्यकता है ।

पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः इस प्रकार पञ्चमी समास में स्थानिवद्भाव  
मानने के क्या प्रयोजन हैं ?

वेभिदिता चेच्छदिता । माथितिकः । अपीपचन् । ये पञ्चमीसमास में स्थानि-  
वद्भाव मानने के प्रयोजन हैं । वेभिदिता (वेभिय-तृच्) यहाँ वेभिय इस यन्त  
भिद् धातु के उपदेश में एकाच् होने से यद् के अकार का अतो लोपः से  
लोप होने पर एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात् से इट् का निषेध प्राप्त होता है ।  
पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो  
यद् के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उस के व्यवधान में तृच् को इट्  
का निषेध नहीं होगा । माथितिक<sup>१</sup> ( मथित षण्यमस्य, मथित-ठक्-इक ) यहाँ  
मथित शब्द से परे ठ प्रत्यय के पूरे ठ शब्द को ठन्येकः से इक आदेश हुआ  
है उसके परे रहते मथित के अकार का यस्थेति च से लोप हो कर मथित्  
यद् तकारान्त हो जाता है । इक आदेश को स्थानिवदादेशो से ठ मान कर  
उस के स्थान में इसुत्तान्तात् क से क आदेश प्राप्त होता है । पञ्चमी  
समास मानने से पर कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो मथित के

१. षष्ठ द्वित्व द्विः प्रयोग (दोबार उच्चारण मात्र) है, इनसे धातु अनेकाच् नहीं  
हो जाता ।

२. मठा बेचने वाला ।

शेर्जुस् भवतीति जुस्भावः प्राप्नोति स्थानिवद्भावश्च भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम् । प्रातिपदिक-निर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या ।

अकारलोप को स्थानिवत् मान कर तकारान्त न रहने से क आदेश नहीं होगा । अपीपचन् ( पच्-णिच्-चच्-लुङ् शि ) यहां णिजन्त पच् धातु के णिच् का चङ् परे रहते णेरनिटि से लोप होता है । चङ् के अकार का शि के स्थान में हुए अन्त आदेश के साथ अतो गुणे से पररूप एकादेश हो जाता है । द्वित्व हो कर अभ्यस्त बने हुए पच् से परे अन्त आदेश को स्थानिवदादेश.—से शि मान कर सिज्भ्यस्तविदिभ्यश्च से जुस् प्राप्त होता है । पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो णिच् के लोप और अतो गुणे से हुए पररूप एकादेश को स्थानिवत् मानने से उन के व्यवधान में जुस् नहीं होगा ।

विधिग्रहण के ये कोई प्रयोजन नहीं । विधिग्रहण के विना भी अचः परस्मिन् पूर्व ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसमें पूर्व यह लुप्तविभक्तिक प्रातिपदिक का निर्देश समझा जायगा । प्रातिपदिक के निर्देश अर्थप्रधान होते हैं । मुख्यतया किसी विशेष विभक्ति के अर्थ का आश्रयण नहीं करते । उसमें पूर्व इस प्रातिपदिक के सामान्य अर्थ निर्देश में जिस २ विभक्ति के अर्थ के निकालने की इच्छा होगी वही २ विभक्ति उसके भागे लगी हुई समझ ली जायगी । पूर्व इसके भागे पूर्वान् और पूर्वस्य ये पञ्चमी और पञ्ची विभक्ति लगी हुई समझ कर पूर्व के कार्य में और पूर्व से परे के कार्य में स्थानिवद्भाव होता है यह अर्थ निकल आयगा । उससे बेभिदिता चेच्छिदिता इत्यादि पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा ।<sup>१</sup>

१. इतदच से इकार का लोप होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से शि ही समझा जायगा ।

२. यदि कही पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव मानने पर हे गौः बाधवीयाः नैधेयः ये पूर्वोक्त उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे तो उसका उत्तर है कि वहाँ अच् से जो पूर्व है उसको निमित्त मान कर विधि करने में स्थानिवद्भाव माना जायगा । अच् अथवा अच् के स्थान में हुए आदेश को निमित्त मान कर विधि करने में

इदं तर्हि प्रयोजनम् । विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात्, अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृतौ । वाच्योः अच्यव्योः, लोपो व्योर्वलीति यलोपो मा भूदिति ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

[ अपरविधाविति तु ]

अपरविधाविति तु घन्तन्यम् । किं प्रयोजनम् । स्वविधावपि स्थानिवद्भावो यथा स्यात् ।

अच्छा तो विधिग्रहण का यह प्रयोजन है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय । चाहे उस विधि में प्रकृति (स्थाना) आश्रीयमाण हो या न हो । अर्थात् स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति हो कर स्थानित्त्व ही रहे । जैसे वाच्यो अच्यव्यो (वायु अच्यव्यु-ओस्) यहाँ वायु अच्यव्यु शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से वकार यणादेश हुआ है । उस वकार के परे रहते लोपो व्योर्वलि से यलोप प्राप्त होता है । विधिमात्र में स्थानित्त्व होने से यणादेश स्थानित्त्व मान लिया जायगा तो वल परे न रहने से यलोप नहीं होता । यहाँ विधिग्रहण से यह लाभ हुआ कि यणादेश के स्वाश्रय बल रूप होने से जो यलोप प्राप्त होता था वह विधिग्रहण सामर्थ्य से रुक गया । यलोप विधि में यणादेश की प्रकृति उकार का कार्य के निमित्त के रूप में आश्रयण नहीं किया गया है ता भी वहाँ स्थानिवद्भाव हो गया । इस प्रकार विधिग्रहण से सर्वत्र स्थानिवद्भाव हो जायगा । चाहे यहाँ स्थानिवद्भाव से शास्त्र लगता हो या रुकता हो ।

विधिग्रहण का यह प्रयोजन है तो, किन्तु पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ ऐसा कह देना चाहिये । जिस से पर विधि को छोड़ कर दीप सब विधियों में चाहे आदेश से पूर्व का कार्य हो या स्वविधि अर्थात् स्वयं आदेश को ही कार्य करता हो वहाँ भी स्थानिवद्भाव हो जावे । न परविधौ=अपरविधौ । अर्थात् परविधि में स्थानिवद्भाव न होवे ।

स्थानिवद्भाव नहीं माना जायगा । हे गौ में गो शब्द के ओकार रूप अच् से पूर्व गकार है उसको निमित्त मान कर मुलोप नहीं प्राप्त होता इस लिये वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होगा । बाभ्रवीया. में भी बभ्रो के ओकार रूप अच् से पूर्व रेफ है और नैधेय में भी निधि के घा धात्वस्थ आकार रूप अच् से पूर्व धकार है उसको निमित्त मान कर यलोप लघवर्षा टक् प्रत्यय नहीं विहित है अतः स्थानिवद्भाव नहीं होगा ।

कानि पुनः स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति । कृष्वन्ति । दध्यत्र मध्वत्र । चक्रतुः चक्रुः । इह तावद् आयन् आसन् इति इणस्त्योर्यण्लोपयोः कृतयोरनजादित्वादाडजादीनामित्याद् न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति । धिन्वन्ति कृष्वन्ति । यणादेशे कृते वलादिलक्षण इद् प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । दध्यत्र मध्वत्र । यणादेशे कृते सयोगान्तस्य लोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । चक्रतुः चक्रुः । यणादेशे कृतेऽनच्क्त्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

स्वविधि मे स्थानिवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति कृष्वन्ति । दध्यत्र मध्वत्र । चक्रतुः चक्रुः ये स्वविधि मे स्थानिवद्भाव के प्रयोजन हैं । आयन् आसन् (इण्, अस्-उङ् स्ति) यहा आयन् में इणो यण् से इण् को यणादेश और आसन् में अस् के अकार का इनसोरलोप से लोप होने पर अजादि न रहने से आडजादीनाम् से आडागम नहीं प्राप्त होता । स्वविधि में स्थानिवद्भाव होने से अजादि मान कर आद् हो जाता है । यहां आदेश से पूर्व कुछ न होने से स्वयं आदेश को ही आडागम कार्य करना है ।

धिन्वन्ति कृष्वन्ति (धिन्-उ-अन्ति, कृष्-उ-अन्ति) यहां धिन्व् वृष्व् धातुओ से परे आर्धधातुक उ प्रत्यय को इका यणचि से वकार यणादेश हुआ है । उस के वलादि आर्धधातुक हो जाने से आर्धधातुकस्येड्वलादेः से इद् प्राप्त होता है । आदेश से पूर्व को कुछ कार्य न होने से स्वयं वकार आदेश को ही इडागम रूप कार्य प्राप्त है । तो स्वविधि मे स्थानिवद्भाव हो कर वलादि न रहने से इडागम नहीं होता । दध्यत्र मध्वत्र (दधि, मधुअत्र) यहां इको यणचि से यणादेश हो कर ध् य् का संयोग हो जाने से संयोगान्तस्य लोप से य का लोप प्राप्त होता है । स्वयं यणादेश को ही कार्य होने से स्वविधि मे स्थानिवद्भाव हो कर य का लोप नहीं होता ।

चक्रतुः चक्रुः (कृ-लिट् तस् अतुस, स्ति उस) यहां कृ के ऋ को इको यणचि से रेफ यणादेश हो कर अच् न रहने से लिटि धातोरनभ्यासस्य से एकाच् को कहा गया द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्वयं आदेश को ही कार्य होने से स्वविधि मे स्थानिवद्भाव मान कर अच् आजाने से द्विरय हो जाता है ।

१ यदि कहे कि अपरविधौ कहने पर यद्यपि स्वविधि में स्थानिवद्भाव

यदि तर्हि स्वविधायपि स्थानिवद्भावो भवति । द्वाभ्यां देयं लवनम् अत्रापि प्राप्नोति । द्वाभ्यामित्यत्रात्वस्य स्थानिवद्भावाद् दीर्घत्वं न प्राप्नोति । देयमितीत्वस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न प्राप्नोति । लवनमित्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भावादवादेशो न प्राप्नोति ।

यदि स्वविधि में भी स्थानिवद्भाव मानते हैं तो द्वाभ्याम् । देयम् । लवनम् यहाँ भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है ।

द्वाभ्याम् में द्वि शब्द के इकार को त्यदादीनामः से अकार हो कर स्वयं अकार आदेश को ही गुणि च से दीर्घ करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अकार न रहने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।

देयम् (दा-यद्) में दा के आ को ईयति से ईकार हुआ है । स्वयं ईकार आदेश के ही कार्य करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो इगन्त न रहने से सार्वधातुक गुण नहीं प्राप्त होता ।

लवनम् (लू-ल्युद्+अन) में लू धातु के ऊकार को ओकार गुण हुआ है । स्वयं ओकार रूप आदेश के कार्य में ही स्थानिवद्भाव हो जायगा तो ओकार न रहने से एचोऽयवायावः से अवादेश नहीं प्राप्त होता ।

सिद्ध हो जाता है तो भी बेभिदिता चेच्छिदिता इत्यादि परविधियों में स्थानिवद्भाव कैसे सिद्ध होगा तो उस का उत्तर है, उक्त स्थलों में निमित्त की अपेक्षा परविधि मानी जायगी । बेभिदिता में यङ् के अकारलोप का निमित्त लृच् आर्धधातुक है उस से परे कोई विधि नहीं करनी बल्कि उसी को इडागमरूप विधि करनी है इसालये स्थानिवद्भाव हो जायगा । इसी प्रकार माथितिक, अपीपचन् ये भी स्वविधि बन जायेगी । परविधि न होगी तो वहा भी स्थानिवद्भाव हो जायगा । हे गौ. में ययि अपरविधि हो जान से स्थानिवद्भाव प्राप्त है क्योंकि वहा णिन् सु प्रत्यय रूप निमित्त से परे किमी की कोई विधि नहीं करनी इस लिये अपरविधि होने से स्थानिवद् हो जायगा तो मुल्लेन प्राप्त होगा तो भी वहा एङ् प्रत्याहार ग्रहण सामर्थ्य से दोष न होगा । बाभ्रवीय में योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यह पूर्वोक्त समाधान है ही । नैधेयः में भी निधि के इकार रूप निमित्त से परे टक् प्रत्यय का विधान करना है इस लिय परविधि हो जाने से स्थानिवद्भाव न होगा । इस प्रकार पूर्वविधौ या अपरविधौ इन दोनों न्यासों में कहीं दोष नहीं आता ।

नैष दोषः । स्वाश्रया अत्रैते विधयो भविष्यन्ति ।

तर्त्तहिं वक्तव्यम् अपरविधाविति ?

न वस्तव्यम् । पूर्वविधावित्येव सिद्धम् । कथम् । न पूर्वग्रहणेनादेशोऽभिसम्बध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्था निवद्भवति । कुतः पूर्वस्य, आदेशादिति । किं तर्हि. निमित्तमभिसम्बध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुतः पूर्वस्य, निमित्तादिति ।

अथ निमित्तेऽभिसम्बध्यमाने यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिपिक्तमुदा-

यह कोई दोष नहीं । द्वाभ्याम् इत्यादि विधियां स्वाश्रय ही जायेगी । स्वाश्रय का अर्थ यहा ज्ञापकाश्रय है । विधिग्रहण का प्रयोजन स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति पहले कह चुके हैं इस लिये यहा स्व शब्द से आदेश का ग्रहण नहीं करना बल्कि अपने २ ज्ञापको के सहारे द्वाभ्याम् इत्यादि बन जायेंगे । किं यत्तदोर्निर्धारण द्वयोरकस्य इतरच् य । द्वयो यह निर्देश द्वाभ्याम् मे स्थानि वद्भाव के निषेध का ज्ञापक समझा जायगा । देयम् में देयपृणे इस ज्ञापक से तथा लवनम् मे किरतौ लवन इस ज्ञापक से स्थानियज्ञान नहीं होगा ।

तो फिर पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ कह दिया जाय ? हम तो समझते हैं कि—

अपरविधौ कहने की आवश्यकता नहीं । पूर्वविधौ से ही काम चल जायगा । उसीसे स्वविधि में भी स्थानियज्ञान सिद्ध हो जायगा । कैसे ? पूर्वविधौ में पूरे शब्द का सम्बन्ध आदेश के साथ कर के यह अर्थ नहीं करेंगे कि पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह आदेश से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है । बल्कि पूर्वविधौ में पूर्व शब्द का सम्बन्ध निमित्त के साथ कर क सूत्र का यह अर्थ करेंगे कि पर निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, यह निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है । उससे आयन् अमन् आदि स्वविधियों में भी स्थानिवत् हो जायगा । जब आदेश से पूर्व की विधि करने में स्थानिवत् मानते हैं तब स्वविधि मे स्थानियज्ञान कहना पड़ता है । निमित्त से पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् मानने पर स्वविधि में भी स्थानिवत् सिद्ध हो जाता है उसके लिये अलग स्थानियज्ञान कहने की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि आयन् आसन् आदि सब विधियां निमित्त से पूर्व विधियां हैं ।

निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् मानने पर इस सूत्र का जो

हरणं तदपि संगृहीतं भवति ?

पट्वया मृद्व्येति ।

धाढं संगृहीतम् ।

ननु च ईकारयणा व्यवहितत्वात् नाम्नौ निमित्तात् पूर्वो भवति ?

व्यवहितेपि पूरंगन्दो वर्तते । तद्यथा पूर्वं मधुगया. पाटलिपुत्रमिति ।  
अथवा पुनरस्तु आदेश एवाभिसम्बध्यते इति ।

कथं यानि स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

नेतानि सन्ति । इह तावत्—आयन् आसन् धिन्वन्ति वृण्वन्ति

मूर्धाभिश्च सब से प्रसिद्ध मुख्य उदाहरण है क्या वह भी संगृहीत हो जाता है ? उसकी सिद्धि भी हो जाती है या नहीं ?

यह कौन सा उदाहरण है ? (भाष्य में अथ इन्द्र प्रनार्थक है) ।

पट्वया मृद्व्या ।

हां, पट्वया मृद्व्या यह प्रसिद्ध उदाहरण भी निमित्त से पूर्व विधि में स्थानिवत् मानने पर ठीक सिद्ध हो जाता है ।

पट्वया मृद्व्या ( पटु ईं आ, मृदु ईं जा ) यद्य पटु ईं आ इस अवस्था में टा के आ को निमित्त मान कर इन्को यणचि से ईं को यण होता है । उस यणादेश को इप सूत्र से स्थानिवत् मान कर पटु के उकार को भी यण हो जाता है । किन्तु पटु का उकार निमित्त भूत आ से अव्यवहित पूर्व में नहीं है । उसके बीच में ईं क यण का व्यवधान है इस लिये निमित्त से पूर्वविधि में स्थानिवत् मानने पर यहाँ स्थानिवत् कैसे होगा ?

पूर्वदृढ का प्रयोग व्यवधान में भी होता है । जैसे मथुरा से पूर्व पटना है ऐसा कहते हैं पर बीच में बहुत से अन्य नगरो का व्यवधान होता है । इसी प्रकार पट्वया में पटु का उकार व्यवधान होने पर भी है तो आ से पूर्व ही । परे तो नहीं है । इस लिये निमित्तभूत आ से पूर्वविधि मान कर स्थानिवत् हो जायगा । अथवा आदेश से पूर्वविधि में ही स्थानिवद्भाव मानिये । उसमें भी दोष न होगा ।

आदेश से पूर्वविधि में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वविधि में कैसे स्थानिवद्भाव होगा । स्वविधि के आयन् आयन् आदि प्रयोजन कैसे सिद्ध होंगे ?

आयन् आगन् आदि जो स्वविधि में स्थानिवद्भाव के प्रयोजन कहे हैं वे

इति । अयं विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनो विधीयते विधिरिति । अस्ति भावसाधनः । विधानं विधिरिति । तत्र कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्गमिष्टं संगृहीतमिति कृत्वा भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादानं विज्ञास्यते । पूर्वस्य विधानं प्रति पूर्वस्य भावं प्रति, पूर्वः स्यादिति स्थानिवद् भवतीति । एवमाद् भविष्यति । इद् च न भविष्यति । दध्यत्र मध्वत्र चक्रतु चक्रुर्न्यत्र परिहारं चक्षति ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

कुछ नहीं । उनकी अन्यथा सिद्धि हो जायगी । पहले आयन् आसन् धिन्वन्ते कृष्वन्ति इनको लीजिये । इनकी सिद्धि इस प्रकार होगी कि हम पूर्वविधी में विधि शब्द को कर्मसाधन न मान कर भावसाधन मान लेंगे । क्योंकि विधि शब्द एक तो कर्मसाधन है । विधीयते इति विधि इस प्रकार कर्मवाच्य में कि प्रत्यय करके बनता है । एक भावसाधन है । विधानमेव विधि इस प्रकार भाव में कि प्रत्यय करके बनता है । कर्मसाधन पक्ष में पूर्वविधि शब्द का अर्थ होता है—पूर्व को क ई विधि (=कार्य) करने में आदेश स्थानिवद् होता है । भावसाधन पक्ष में अर्थ होगा—पूर्व का विधान करने में, पूर्वता लाने में, किसी को पूर्व बनाने में स्थानिवद् होता है । कर्मसाधन पक्ष में आयन् आसन् आदि इष्ट सिद्ध नहीं होते क्योंकि वहाँ आदेश से पूर्व कुछ है ही नहीं जिसको विधि करनी हो । इस लिये भावसाधन पक्ष वहा मॉनेगे । उससे आयन् आसन् में आद् की पूर्वता लाने में यणादेश और अल्लोप को स्थानिवद्भाव हो जायगा तो आद् हो जायगा । धिन्वान्त कृष्वन्ति में इद् की पूर्वता लाने में यणादेश स्थानिवद् हो जायगा तो बलादि न रहने से इद् न होगा । दध्यत्र मध्वत्र, चक्रतु चक्रु यहाँ भी आगे समाधान कहेंगे ।

इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं ?

१ वत् समाधान यही है कि दध्यत्र मध्वत्र में प्राप्त सयोगान्त लोप का सयोगान्तलोपे यण प्रतिषेधो वाच्य इस वार्तिक से निषेध हो जायगा । चक्रतु चक्रु म ह्र को यण हो कर अन् रहित हो जान पर भी द्विर्वचनेचि सूत्र से यणादेश को स्थानिवद् मान कर ह्र रूप हो जाने से द्वित्व सिद्ध हो जायगा । द्विर्वचनेचि सूत्र में कार्यादिदेश न मान कर रूपादिदेश माना गया है । उससे ह्र इस रूप का ही स्थानिवद् स अतिदेश हो जाता है । इस प्रकार स्वविधि के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं । वही लोप नहीं रहता । अत अपरविधी न कह कर पूर्वविधी कहना ही ठीक है ।



स्तोष्याम्यह पादिकमौदवाहिं तत श्वोभूते शातनीं पातनीं च ।

नेतारावागच्छत धारणिं रावणिं च तत पद्चात् स्रस्यते ध्वंस्यते च ॥

इह तावत् पादिकम्, औदवाहिम्, शातनीम्, पातनीम्, धारणिम्, रावणिम् इति । अकारलोपे कृते पद्भावः, ऊट्, अल्लोपः, टिलोपः इत्येते विधयः प्राप्नुवन्ति । स्थानिवद्भावान्न भवन्ति । स्रंस्यते ध्वंस्यते इत्यत्र णिलोपे कृते अनिदितां हल उपधायाः किञ्चितीति नलोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवतीति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । 'असिद्धवदनाभादि'त्यनेनाप्येतानि

हे श्वोभूति नामक शिष्य ! और नेता नामक दोनों शिष्य ! तुम आओ । मैं तुम्हें इस सूत्र के प्रयोजन करूँगा । पादिक, औदवाह, शातनी पातनी, धारणि रावणि, स्रस्यते ध्वंस्यते ये इस सूत्र के प्रयोजन हैं । पादिक (पादोस्यास्तीति, पाद ठ्) यहाँ पाद शब्द से मत्वर्थीय ठ् प्रत्यय पर रहते यस्यात् च से पाद के अकार का लोप हो कर पाद प् से पदादेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । औदवाहि (उदवाहस्यापत्यम्, उदवाह इञ्) यहाँ उदवाह शब्द से इञ् पर रहते यस्येति च से उदवाह के अकार का लोप हो कर वाह ऊट् से ऊट आदेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । शातनी पातनी (शातन पातन-डीप्) यहाँ शातन पातन शब्द जो गौरादिगण पठित हैं उनसे स्त्रीलिङ्ग में डीप् पर रहते यस्येति च से अकार लोप हो कर अल्लोपोऽन से अन् के अकार का लोप प्राप्त होता है । अकार लोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । धारण रावणि (धारणस्य रावणस्य अपत्यम्, धारण रावण-इञ्) यहाँ धारण रावण शब्दों से इञ् पर रहते यस्येति च से अकार का लोप हो कर नस्तद्धिते से टिसञ्क अन् शब्द का लोप प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । स्रंस्यते ध्वंस्यते (स्रस् ध्वस्-णिच् थक् त) यहाँ णिचन्त स्रस् ध्वस् धातुओं से यक् पर रहते णेरनिटि से णि का लोप हो कर स्रस् ध्वस् का नकार उपधा में भा जाने से अनिदिता हल उपधायाः किञ्चितीति से नकारलोप प्राप्त होता है । णिञोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

ये कोई प्रयोजन नहीं । असिद्धवदनाभात् इस सूत्र से भी ये सब सिद्ध हैं ।

१. उदकस्येद संज्ञायाम् इस सूत्र से उदक को उद आदेश हुआ है । उदवाहो नाम कश्चिन् ।

सिद्धानि ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । याज्यते वाप्यते णिलोपे कृते यजादीनां कितीति सम्प्रसारणं प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । यजादिभिरत्र कित् विशेषयिष्यामः । यजादीनां यः किदिति । कश्च यजादीनां कित् ? यजादिभ्यो यो विहित इति । न चायं यजादिभ्यो विहितः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । पठ्व्या मृद्व्येति । परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति । ईकारयणा व्यवहितत्वात् । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

किं पुनः कारणं परस्य तावद् भवति न पुनः पूर्वस्य ?

नित्यत्वात् । नित्यः परयणादेशः । कृतेपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति ।

क्यों कि पाठ पत् वाह ऊठ आदि सभी सूत्र आभीय प्रकरण के हैं । उनके करने में यस्येति च और णरानटि स हुण् अकारलोप तथा णिलोप भी आभीय होने से असिद्ध हो जायेंगे तो पादिन औदवाह आदि में पदादि आदेश नहीं होगा ।

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । याज्यते वाप्यते ( यञ् वप्-णिच् यकन्त ) यहाँ णिञ्न्त यञ् वप् धातुओं से यक परे रहते णि का लोप हो कर वचिस्वप्-से सम्प्रसारण प्राप्त होता है । णिलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । वचिस्वपि सूत्र में यजादि धातुओं से कित् प्रत्यय का विशेषित करेंगे । यजादि सम्बन्धी कित् परे होना पर सम्प्रसारण होता है । जो कित् प्रत्यय यजादियों से विहित है ऐसा मानेंगे । याज्यते वाप्यते में यत् वप् धातुओं से कित् प्रत्यय यक् का प्रधान नहीं है किन्तु णिञ्न्त याञि वापि से है इस लिये यहाँ सम्प्रसारण नहीं होगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पठ्व्या मृद्व्या । यहाँ पठ् ई आ इस अवस्था में आ परे रहते पहले ई को यणादेश हो कर उस का व्यवधान हो जाने से पूर्ववर्ती पठ् के उकार को यणादेश नहीं प्राप्त होता । ई के यण् को इत् मूत्र से स्थानिवत् मान कर हो जाता है ।

क्या कारण है जो पठ्व्या मृद्व्या में आप पहले ई को यण् करते हैं पठ् के उकार को नहीं करते ?

पठ्व्या, मृद्व्या में हम नित्य होने से पहले ई को यण् करते हैं । ई का यण् नित्य है । पठ् के उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है ।

अकृतेपि प्राप्नोति । नित्यत्वात् परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । 'असिद्ध बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य परयणादेशस्य अन्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति । अत्रय चैषा परिभाषा आश्रयितन्या स्वार्थम् । कर्त्या हर्ष्येति । 'उदात्तयणो हल्पूर्वाद्' इत्येष स्वरो यथा स्यात् ।

अनेनापि सिद्धः स्वरः । कथम् ।

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ ।

और न करने पर भी । इस लिये पटु के उकार को पहले यण् न कर के नित्य होने के कारण ई को यण् करना पडता है । ई को यण् करन पर उस का व्यवधान हो जाने स पटु ऋ उकार को यण् नहीं प्राप्त होता । स्थानिवत् मान कर हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा से परवर्ती ई का यण् बहिरङ्ग होने स असिद्ध हो जायगा । पूर्ववर्ती पटु के उकार का यण् पूर्व पूर्वमन्तरङ्ग पर पर बहिरङ्गम् इस न्याय क अनुसार प्रथमोपस्थित होने से अन्तरङ्ग है । इस लिये पहले बड़ा होगा । ई का यण् उस के बाद में होगा । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा का अर्थ है कि बहिरङ्ग लक्षण कार्य अन्तरङ्ग लक्षण कार्य करने में असिद्ध रहता है । अन्तरङ्ग से पहले बहिरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इस लिये पहले पटुवी बना कर फिर पटुव्या बनाया जायगा । उस में स्थानिवत् की आवश्यकता ही नहीं है । असिद्ध परिभाषा का मानना स्वर के लिये भी आवश्यक है । जिस से कर्त्या हर्ष्या यद्वा उदात्तयणो हल्पूर्वात् से टा विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो सके । कर्तृ ई आ इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने से कर्तृ के ऋ को पहले यणादेश रेफ हो कर फिर ई को यण् होगा तो उदात्तयणो हल्पूर्वात् से ई को उदात्त हो कर फिर आ विभक्ति को भी उसी सूत्र से उदात्त सिद्ध हो जायगा । अन्यथा पहले ई को यण् हो कर फिर ऋ को यण् होगा तो ई के यण् का व्यवधान होने स आ विभक्ति को उदात्त न हो सकेगा ।

कर्त्या, हर्ष्या में विभक्ति स्वर तो इस सूत्र स भी सिद्ध हो जायगा । कैसे ? अच परस्मिन् पूर्वविधौ इस स्थानित्सूत्र के बना देने पर पूर्वयणादेश

१. कर्तृ हर्तृ वृजन्त होन से अन्तोदात्त हैं । बित सूत्र से ऋ उदात्त है ।

आरभ्यमाणे त्वस्मिन् योने नित्यः पूर्वयणादेशः । कृतेपि परयणादेशे प्राप्नोति । अकृतेऽपि ।

परयणादेशोऽपि नित्यः । कृतेपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति, अकृतेपि ।

परश्चासौ व्यवस्थया ।

व्यवस्थया चासौ परः ।

युगपत् सभवो नास्ति ।

न चास्ति यौगपद्येन सभवः । कथं च सिध्यति ।

बहिरङ्गेण सिध्यति ।

असिद्ध बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इत्यनेन सिध्यति ।

एव तर्हि योऽत्रोदात्तयण् तदाश्रयः स्वरो भविष्यति ।

ईकारयणा व्यवहितत्वाच्च प्राप्नोति ।

भी नित्य हो जायगा । कर्तुं ईं आ इस अरस्था में परवर्ती ईं के यण् को स्थानिवत् मान कर पूर्ववर्ती ऋ का यण् भी नित्य हो जाता है । ईं को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी । नित्य होने से ऋ का यण् ही पहल हो जायगा तो विभक्ति स्वर निर्बाध है ।

क-र्यां, ह-र्यां अथवा पट्ब्या, मृद्ब्या में परवर्ती ईं का यण् भी नित्य है । पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी । दोनों के विप्रतिषेध की व्यवस्था से ईं का यण् परे भी है । एक साथ दोनों यणा का सम्भव नहीं है । ऐसी विषम स्थिति में कैसे सिद्ध होगा ? असिद्ध परिभाषा से ही सिद्ध होगा । परवर्ती ईं का यण् बहिरङ्ग होने से असिद्ध है । उस क असिद्ध होने के कारण पहले पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार का यण् हो जायगा । उस से क-र्यां ह-र्यां में स्वर भी अध्याहृत रहेगा और पट्ब्या मृद्ब्या में स्थानिवत् के बिना ही काम चल जायगा ।

असिद्ध परिभाषा न भी माने तो भी क-र्या ह-र्यां में स्वर सिद्ध हो जायगा । कर्तुं ईं आ इस अरस्था में पहले ईं का यण् करने पर फिर ऋ को यण् हो जायगा । ऋ का यण् उदात्त स्थानिक होने से उदात्तयण् है उस स परे विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा ।

ईं के यण् का व्यवधान होने से क-र्यां ह-र्यां में विभक्ति को उदात्त

सुहृदां तत सम्बन्धिनाम् । प्रातिपदिक चाप्युपदिष्ट सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते । सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते' । व्यक्तस्य सतो लिङ्गसख्याभ्यामन्वितस्य बाह्यनार्थेन योगो भवति । यथेव चानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावस्तथेव शब्दानामपि, तद्वत् कार्येरपि भवितव्यम् ।

इमानि तर्हि प्रयोजनानि । पठयति । लघयति । अवधीत् । बहुखट्वक' । पठयति लघयतीति णिचि टिलोपे कृते 'अत उपधाया' । इति वृद्धिः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । अवधीदित्यकारलोपे कृते 'अतो हलादलघोरिति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । बहुखट्वक इति 'आपोऽन्यतरस्यामि'ति ह्रस्वे कृते ह्रस्वान्तेऽन्त्या-

अन्य सम्बन्धियो क काम दखता है । इसी प्रकार यहा शास्त्र म प्रातिपदिक भी पहले सामान्य अर्थ का वाचक होता है । सामान्य स विशेष व्यक्ति (द्रव्य) का । फिर उस का लिङ्ग और सख्या के साथ योग हो कर बहिर्भूत कर्ता कम करण आदि अर्थ जो दूसर का (क्रिया की) अपेक्षा रखन वाल है उन स योग हो जाता है । जिस क्रम से पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी क्रम स शब्दों का तथा तत्सम्बन्धी कार्यों का योग भी होना चाहिये । इस प्रकार लोकसिद्ध असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का आश्रयण कर क पठ्या मृद्व्या में पहले पूर्ववर्ती पठु क उकार को यण् हा कर पठ्वा बनायेंग । फिर आ परे रहत ई को यण् हो कर पठ्वा बन जायगा । प्रथमोपस्थित यणादश अन्तरङ्ग है इस लिये पहल वही होगा । उस अवस्था में स्थानियत् की आवश्यकता नहीं रहती ।

अच्छा तो ये प्रयोजन लीनिये । पठयति लघयति । अवधीत् । बहुखट्वक । पठयति लघयति ( पठु लघुं वा आच्छे पठु लघु णिच् ) यहा पठु शब्द स णिच पर रहते ट स पठु क टि सञ्जक उकार का लोप हो कर उपधा में अकार हो जान से पठ् को अत उपधाया से उपधावृद्धि प्राप्त होती है । उकारलोप क स्थानिवत् होने से नहीं होती । अवधीत् ( हन्+धृ सिच्-उष् ) यहा सिच पर रहते वध के अकार का अतो लोप से लोप हो कर अतो हलादलघो स विकल्प स वृद्धि प्राप्त होती है । अकारलोप क स्थानिवत् होने स नहीं होती । बहुखट्वक ( बहुथ सटवा यास्मन् स ) यहा बहुधीहि समास में

१ उपजायत का अर्थ उत्पद्यत उत्पन्न होता है नहीं । बो २ का विषय होता है एसा अर्थ है ।

पूर्वमिति एष स्वरः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् न भवति ।

इह वैयाकरणः सौवश्व इति ख्योः स्थानिवद्भावादायावौ प्राप्नुत-  
स्तयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

अच. पूर्वविज्ञानादैचो. सिद्धम् ।

योऽनादिष्टादच. पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भाव. । आदिष्टा-  
च्चैपोऽच. पूर्व. ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

कप् परे रहते खद्वा को आपोऽन्यतरस्याम् से ह्रस्व हो कर ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम् से ट्व से पूर्व 'ख' को उदात्त स्वर प्राप्त होता है । स्थानिवत् होने से ह्रस्व न रहेगा तो ख पर स्वर न हो कर कपि पूर्वम् से ट्व को इष्ट उदात्त स्वर सिद्ध हो जाता है ।

वैयाकरणः सौवश्व. ( वि आ करणम्=व्याकरणम् । व्याकरणमर्थात् वेद वा ।  
सु अश्वः=स्वश्व. । स्वश्वे भव । व्याकरण, स्वश्व-अण् ) यहाँ वि आ करण, सु  
अश्व इस अवस्था में इको यणचि से हुण् यकार वकार आदेश को इस सूत्र  
से स्थानिवत् मान कर अच् परे हो जाने से (ऐच् आगम हो जाने पर) वे  
और सौ के ए औ को आय् आव् आदेश प्राप्त होते हैं उन का निषेध  
कहना चाहिये ।

वैयाकरणः, सौवश्व. में आय् आव् आदेश के निषेध की आवश्यकता  
नहीं । क्योंकि यहाँ पूर्वविधि न होने से यकार वकार आदेश स्थानिवत् न  
होंगे । अनादिष्टे जो अच् है अर्थात् जब तक अच् के स्थान में आदेश नहीं  
हुआ उस से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में ही स्थानिवद्भाव होता है ।  
आदिष्ट हुण् अच् से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में स्थानिवत् नहीं होगा ।  
यहाँ यकार वकार आदेश होने के बाद न ख्याम्या पदान्ताभ्या पूर्वी तु ताभ्यामैच्  
से ऐ औ हुण् हैं । इस लिये आदिष्ट अच् से पूर्व ऐ औ होने से यहाँ स्थानिवद्भाव  
न होगा तो आय् आव् आदेश न होंगे ।

क्या यह बात कहनी होगी कि अनादिष्ट अच् से पूर्व विधि में ही  
स्थानिवद्भाव होता है, आदिष्ट अच् से पूर्व की विधि में नहीं होता ?

१. अनादिष्टादच. —अविद्यमानम् आदिष्टमादशो यस्याचः, तस्मात् । आदिष्ट  
यहाँ भावे क्त समझना चाहिये ।

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

अच इति पञ्चमी । अच. पूर्वस्य ।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति ।

आदेशश्च विशेषितः । कथम् । न ब्रूमो यत् पष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तत् पञ्चमीनिर्दिष्टं कर्तव्यमिति ।

किं तर्हि । अन्यत् कर्तव्यम् ?

अन्यच्च न कर्तव्यम् । यदेवादः पष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तस्य दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी भविष्यति । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुतः पूर्वस्य ? अच इति । तद्यथा आदेशः

इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

अच परस्मिन् पूर्वविधौ इस सूत्र में अचः यह पञ्चमी पष्ठी दोनो का रूप संभव है । हम अच को यहाँ पञ्चमी मानेंगे । सूत्र का अर्थ होगा अच् से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवत् होता है । आदेश से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवत् नहीं होगा तो वैयाकरणः सौवश्व-इकार उकार रूप अच् से पूर्व ऐ औ ऋ न होने से स्थानिवत् नहीं होगा ।

यदि अचः को पञ्चमी मानेंगे तो पष्ठी न रहने से अच् के स्थान में जो आदेश वह स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकेगा । अच् द्वारा आदेश विशेषित न होगा तो इल् के स्थान में हुआ आदेश भी स्थानिवत् होने लगेगा ।

अच् से आदेश भी विशेषित हो जायगा ? कैसे ? हम यह नहीं कहते कि अच परस्मिन् में अचः जो पष्ठी विभक्ति का निर्देश है उसे पञ्चमी विभक्ति का निर्देश बना लिया जाय ।

तो फिर क्या दूसरा अचः यह पञ्चमी विभक्ति के लिये पढ़ना चाहिये ?

पञ्चमी के लिये दूसरा अचः पढ़ने की आवश्यकता नहीं । पष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट यह अचः शब्द ही पूर्व इस दिक्शब्द के योग में पञ्चमी विभक्त्यन्त यत्न जायगा । पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश वह पूर्व विधि करने में स्थानिवत् होता है । किस से पूर्व को विधि करने

प्रथमानिर्दिष्ट । तस्य दिक्शब्दयोगे पञ्चमी भवति । अजादेश परनिमित्तक पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुत पूर्वस्य ? आदेशादिति ।

तत्रादशलक्षणप्रतिषेध ।

तत्रादेशलक्षण कार्यं प्राप्नोति । तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य । वाय्वो अध्वर्यो । 'लोपो व्योर्बली'ति लोप प्राप्नोति ।

असिद्धवचनात् ।सद्धम् ।

में स्थानिवत् हाता है जब यह विचार होगा ता साक्षात् उचरित अच शब्द ही पञ्चमी में बदल जायगा । अर्थ हाता—अच क स्थान में हुआ आदेश, अच से पूर्व का विधि करन में स्थानिवत् होता है । जिस प्रकार अच सूत्र क अर्थ म (पूर्वसूत्र स अनुवृत्त) प्रथमा निर्दिष्ट आदेश शब्द पूर्व इस दिक् शब्द क याग म पञ्चमा म बदल जाता है । सूत्र का अर्थ हाता है—पर को निमित्त मान कर हुआ ता अच क स्थान म आदेश वह आदेश स तो पूर्व है उस का विधि करन में स्थानिवत् होता है । इन प्रकार एक 'अ' अच यह शब्द आदेश को भी विनापित कर दगा और पर्वता में निमित्त भी बन जायगा ।

आदेश का स्थानिवत् करन में स्वय आदेश के आश्रित ता कार्य हैं वे भा प्राप्त हेत हैं । क्योंकि स्थानिवत् इस अतिदेश स स्थानी क कार्य आदेश में हो जायें किंतु आदेश क अपन कार्य भी हात रहें । उनका निषेध कहना चाहिये । तैस—वाय्वा अध्वर्यो यहा वायु अध्वर्यु शब्दा स भास पर रहते इको यणत्ति स वकार रूप यणादेश हुआ है । उसका स्थानिवत् मान कर भी वकार आदेश क स्वय वलादि होने स उसक पर रहत गेयो व्योवत्ति स यकार का लोप प्राप्त हाता है ।

१ यह वाच वार्तिककार का तरफ स समझना चाहिये । भाव्यकार तो विधिग्रहण को स्वाध्यायनिवृत्त्यर्थ पहलू कह चुक ह । उन क मत में यह वाच नहीं आता । विधिग्रहण क सामर्थ्य से स्थाना के वाच हा आदेश म अतिदिष्ट होंगे । आदेश सम्बन्धा अपन कार्यों की निवृत्ति हो जायगा । उहा भाव्यकार का वह वचन स्मरण रखना चाहिये—

विधिमात्र स्थानिवद्भावा यथा स्यात् । अनाश्रायमाणायामपि प्रकृतौ । वाय्वा अध्वर्या इति ।



अजादेशः परनिमित्तक पूर्वस्य विधिं प्रत्यसिद्धो भवतीति वक्तव्यम् ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः कर्तव्यः । पठव्या, मृद्व्येति ।

ननु चेतदप्यसिद्धवचनात् सिद्धम् ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेन्नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । नान्यस्या-

आदेश को स्थानिवत् न कह कर असिद्ध कहना चाहिये उससे उक्त दोष न होगा । बाबू अश्वर्यों में बकार रूप आदेश क असिद्ध होने न बकार परे न होगा तो यकार का लोप न होगा । सूत्र का अर्थ इस प्रकार करेंगे— पर को निमित्त मान कर हुआ अच् के स्थान में आदेश पूर्व को कार्य करने में असिद्ध होता है ।

यदि स्थानिवत् की जगह असिद्ध कह कर उक्त दोष का समाधान करेंगे तो उत्सर्गलक्षण कार्य नहीं सिद्ध होते । उन का अतिदेश भी करना होगा । यहाँ उत्सर्ग का अर्थ स्थानी है । आदेश में इन स्थानी के कार्य ना चाहते हैं और आदेश के स्वाध्य कार्यों की निवृत्ति भी चाहते हैं । स्थानिवत् की जगह असिद्ध कहने से केवल आदेशाश्रित कार्यों की निवृत्ति तो हो जायगी । किन्तु स्थाना के कार्य न हो सकेंगे क्योंकि स्थानिवद्भाव तो भाव मानते ही नहीं । उस में पठव्या मृद्व्या इन पूर्वोक्त उदाहरणों में परवर्ती ई के यन् आदेश को स्थानिवत् न होने से पूर्ववर्ती पठु मृदु के उकार का यन् न हो सकगा । असिद्ध कहने से ई का यन् असिद्ध हो जायगा तो परे अच् न मिलने से पूर्व उकार को यन् कैसे होगा ।

पठव्या मृद्व्या में ना असिद्ध कहने से दोष न होगा । क्योंकि पठु ई ना इस अवस्था में शास्त्रासिद्धत्व पक्ष का मानते हुए परवर्ती इ क स्थान में प्राप्त यणादेश विधायक शास्त्र को ही असिद्ध कर देंगे तो अच् परे मिल जाने से पूर्ववर्ती उकार को यन् हा जायगा ।

पठव्या मृद्व्या में जो समाधान किया है वह नहीं बनता । क्योंकि अन्य के

१. अनुदेशः—अतिदेशः ।

२. उत्सृज्यते निवृत्तं इत्युत्सर्गः स्थानी ।

सिद्धवचनादन्यस्य भावः । न ह्यन्यस्यासिद्धत्वादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति ।  
तद्यथा नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति ।

तस्मात् स्थानिवद्बचनमसिद्धत्वं च ।

तस्मात् स्थानिवद्भावो वक्तव्यः असिद्धत्वं च । पटव्या मृद्व्येति  
स्थानिवद्भावः । वाय्वोरध्वर्य्वोरित्यत्रासिद्धत्वम् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'स्थानिवद्बचनानर्थमन्य शास्त्रासिद्धत्वादि'ति ।

विषम उपन्यास । युक्तं तत्र यदेकादेशशास्त्रं तुक्शास्त्रे असिद्धं  
स्यात् । अन्यदन्यस्मिन् । इह पुनर्युक्तम् । कथं हि तदेव नाम तस्मिन्-  
असिद्धं स्यात् ।

असिद्ध कहने से अन्य की सत्ता नहीं हो सकती । पटव्या में हुण् ई के यणादेश  
के विधायक सूत्र को असिद्ध कहने से ईंकार नहीं आ सकता । ईं को तो यणादेश  
नष्ट कर चुका है । अब उस नष्ट करने वाले का नष्ट करने से इ कसे  
प्रादुर्भूत हो सकता है । उस देवदत्त को मारने वाले का मार देने पर देवदत्त  
जीवित नहीं हो सकता । इस लिये कबल असिद्ध न कह कर स्थानिवत् भी  
कहना चाहिये । आदेश स्थानिवत् होता है और असिद्ध भी होता है । लक्ष्या  
नुरोध से व्यवस्था होना पर पटव्या मृद्व्या में स्थानिवत् हो जायगा और वाय्वो-  
अध्वर्य्वो में असिद्ध हो जायगा ।

पञ्चतुरासद् सूत्र पर यह उचन कहा गया है कि स्थानिवद्बचनानर्थक्य  
शास्त्रासिद्धत्वात् ॥ कार्योसिद्धत्वं पक्ष न मान कर हम शास्त्रासिद्धत्वं पक्ष मानेंगे ।  
उस में यण विधान करने वाला इका यणचि यह शास्त्र ही असिद्ध हो जायगा  
तो कार्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता । पटव्या मृद्व्या में इ का यण करने के  
लिये प्रवृत्त हुण् इको यणच को ही असिद्ध कर देंगे तो ईंकार क अव्याहत  
रहने से परे ईंकार मिल जायगा । उस से पूर्ववर्ती उकार को यण सिद्ध  
हो जायगा ।

पञ्चतुरासद् के असिद्ध वचन के समान यह असिद्ध वचन नहीं हो  
सकता । वहाँ तो एकादेशविधायक सूत्र अन्य है । और तुक् विधायक अन्य  
है । इस लिये तुक् शास्त्र करने में एकादेश शास्त्र असिद्ध हो सकता है ।  
अन्य शास्त्र का अन्य शास्त्र क प्रति असिद्ध होना युक्त है । किन्तु यहाँ पटव्या

तदेव चापि तस्मिन्नसिद्ध भवति । वक्ष्यति ह्याचार्यः 'चिणो लुक्  
तग्रहणानर्थस्य संघातस्याप्रत्ययत्वात् तलोपस्य चासिद्धत्वादि'ति ।  
चिणो लुक् चिणो लुक्च्येवासिद्धो भवति ।

काममतिदिश्यता वा सच्चासच्चापि नेह भारोस्ति ।

कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्य वक्तृर्यथान हि ॥

अथवा वतिनिर्देशोऽयम् । कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेष  
समर्थयितुम् । तद्यथा उशीनरवन्मद्रेषु यवाः । सन्ति न सन्तीति । मातृ-  
वदस्याः कलाः । सन्ति न सन्तीति । एवमिहापि । स्थानिवद् भवति  
स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे । इह तावत् पट्व्या  
मृद्व्यति यथा स्थानिनि यणादेशो भवति एवमादेशेपि भवति । इहेदानीं

मृद्व्या में एक ही इको यणचि शास्त्र स्वय इको यणचि शास्त्र के प्रति असिद्ध कैसे होगा ?

वही शास्त्र स्वय अपने प्रति भी असिद्ध हो जाता है । आगे चिणो लुक् सूत्र पर यह वचन कहेंगे कि चिणो लुक् चिणो लुक्च्येवासिद्धो भवति । वहाँ चिणो लुक् शास्त्र को स्वय चिणो लुक् शास्त्र के प्रति ही असिद्ध माना गया है । वैसे यहाँ भी पट्व्या मृद्व्या में ई को यण करने वाला इको यणचि शास्त्र उ को यण करने वाले इको यणचि के प्रति असिद्ध हो जायगा । अथवा असिद्ध न कह कर स्थानिवत् ही रहने दीजिये । स्थानिवत् में वतिप्रत्यय का निर्देश है । और वतिप्रत्यय में प्रयोग करने वाले की इच्छा है—वह भाव या अभाव दोनों में किसी का भी अतिदेश कर लेवे । कामम्=इच्छानुसार । अति-दिश्यताम्=अतिदेश कर लेवे । सच्च असच्च अपि=भाव और अभाव का भी । नेह भारोऽस्ति=इस सूत्र में अभाव का अतिदेश करने में कोई भार या कष्ट नहीं है अर्थात् कोई अधिक सूत्र नहीं बनाना पड़ता । क्योंकि वाक्य यत्ता के अधीन होता है इस लिये यह अपनी इच्छा के अनुसार वाक्यशेष की कल्पना कर ले । जैसे मद्र देत में उशीनर देश की तरह यत्र है ऐसा कहने पर यह अर्थ समझा जाता है कि यदि मद्र देत में यत्र है तो उशीनर में भी है । यदि वहाँ नहीं है तो वहाँ भी नहीं है । माता के समान इस कन्या के भङ्ग हैं ऐसा कहने पर यही समझा जाता है कि यदि माता के भङ्ग सुन्दर हैं तो इसके भी हैं । यदि वे सुन्दर नहीं हैं तो इसके भी नहीं हैं । इसी प्रकार स्थानिवत् कहने पर यह समझा जायगा कि वैसा स्थानी है वैसा

वाच्योरध्वर्योरिति यथा स्थानिनि यलोपो न भवति एवमादेशेऽपि न भवतीति ।

किं पुनरनन्तरस्य त्रिधिं प्रति स्थानिवद्भावः, आहोस्वित् पूर्वमात्रस्य ।  
कश्चात्र विशेषः ?

अनन्तरस्य चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानम् ।

अनन्तरस्येति चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानं कर्त-  
व्यम् । एकाननुदात्त—लुनीह्यत्र । पुनीह्यत्र । अनुदात्तं पदमेकवर्ज-

आदेश है । यदि स्थानी में स्थानी के रहते किसी कार्य की सत्ता है तो आदेश में आदेश होने पर भी उस की सत्ता का अतिदेश हो जायगा । और यदि स्थानी में कोई कार्य नहीं दीखता तो आदेश में भी उस के अभाव का अतिदेश समझा जायगा । उस से पट्वा मृट्वा में स्थानी में यण दीखता है तो आदेश में भी यण का भावातिदेश हो जायगा । वाचोः अध्वर्योः में स्थानी उ के पर रहते य का लोप नहीं दीखता तो आदेश में भी उसके अभाव का अतिदेश हो जायगा ।

क्या अनन्तर अर्थात् व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिवत् होता है या पूर्वमात्र में अर्थात् व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी ?

दोनो पक्षों में क्या विशेष है ?

यदि व्यवधानरहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिवत् मानते हैं तो एकाननुदात्त= एक अक्षर को छोड़ कर सारे पद को अनुदात्त करने वाले अनुदात्त पदमेकवर्जम् इस सूत्र के स्वर में तथा इगन्तमालकमालमगालशरविषु द्विगौ इस द्विगुस्वर में ओर तिङि चादात्तवाने से रिधीयमान गति के निघात स्वर में स्थानिवत् कहना होगा । एकाननुदात्त जैसे— लुनीह्यत्र पुनीह्यत्र । (लुनीहि+अत्र पुनीहि+अत्र) यहाँ लुनीहि पुनीहि में सर्वपच्च से हुआ सिप् के स्गान में हि आदेश अपित् कहा गया है । इस लिये अनुदात्तौ सुप्पितौ से वह अनुदात्त न हो कर आनुदात्तश्च इस प्रत्ययस्वर से उदात्त है । उस के स्थान में इचो

१ एकम् अननुदात्तं यस्मिन् स एकाननुदात्तः स्वरः । एक है अनुदात्त-भिन्न अर्थात् उदात्त या स्वरित स्वर जिस में वह साम्नीय स्वर एकाननुदात्त कहाता है । उदात्त या स्वरित को छोड़ कर शेष निघात करने वाले सूत्र को एकाननुदात्त स्वर कहते हैं ।

मित्येप स्वरो न प्राप्नोति । द्विगुस्वर—पञ्चारत्न्यः । दशारत्न्यः । इगन्त-  
कालेत्येप स्वरो न प्राप्नोति । गतिनिघात—यत् प्रलुनीह्यत्र । यत् प्रपुनीह्यत्र ।  
तिङ् चोदात्तवर्तीत्येप स्वरो न प्राप्नोति ।

अस्तु तर्हि पूर्वमात्रस्य ।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वम् ।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वं वक्तव्यम् । वादितवन्तं प्रयोजितवान् ।

यणचि से यणादेश हो कर उदात्त न रहने से शेष अर्धों को अनुदात्त पद-  
मेकवर्जम् से अनुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त  
अच् मानें तो लुनी, पुनी के व्यवधान रहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि  
नहीं है । द्विगुस्वर जैसे—पञ्चारत्न्य दशारत्न्य । (पञ्च अरत्न्यः प्रमाणमेवा ते  
दश, अरत्न्यः प्रमाणमेवा ते ) यहाँ प्रमाण रूप तद्धित के अर्थ में पञ्चन् भरति  
शब्दों का द्विगुसमास हो कर प्रमाणे द्वयसञ् दणच् मात्रचः से मात्रच् प्रत्यय  
होता है । प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् से मात्रच् का लुक् हो जाता है । पञ्च-  
रति शब्द से जस् परे रहते जसि च से प्राप्त गुण का जसादिपु छन्दसि  
वा वचनं प्राह् णौ चङ्युपधायाः इस वचन द्वारा अभाव होकर इको यणचि से  
यणादेश होता है । यणादेश हो कर इगन्त न रहने से इगन्तकालकपाल० इस  
सूत्र से द्विगुसमास में होने वाला पूर्वपदप्रकृति स्वर नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानि-  
वद्भाव से इगन्त मानें तो पञ्चन्, दशन् शब्दों के व्यवधानरहित पूर्व में न  
होने से पूर्वविधि नहीं है । गतिनिघात जैसे—यत् प्र लुनीह्यत्र । यत् प्र पुनीह्यत्र ।  
यहाँ लुनीहि पुनीहि ये तिङन्त क्रियाएँ हैं । प्र उपसर्ग गति संज्ञक है । यत्  
शब्द का योग तिङ्ङितिङ् से प्राप्त निघात को रोकने के लिये है । क्योंकि  
निपातर्यशदिहन्तकुविञ्चेत्० इस सूत्र से तिङन्त क्रिया के निघात का यत्  
के योग में निषेध होता है । लुनीहि के उदात्त हि शब्द में इको यणचि से  
यणादेश होकर उदात्त न रहने से तिङ् चोदात्तवति से विहित गति संज्ञक  
प्र शब्द को निघात (अनुदात्त) नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त  
तिङ् परे मानें तो प्र शब्द के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं  
है । इस प्रकार व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वर-  
सम्बन्धी उक्त तीनों स्थलों में स्थानिवद्भाव नहीं प्राप्त होता । यहाँ स्थानि-  
वद्भाव का उपसंख्यान करना होगा ।

तो फिर पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मान ले ।

यदि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी स्थानिवद् मानते हैं तो

अवीवद् वीणां परिव्यादकेन ।

किं पुनः कारण न सिध्यति ?

योऽसौ णो णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्व न प्राप्नोति ।

गुरुसज्ञा च ।

गुरुसज्ञा च न सिध्यति । श्लेष्मश्च । पित्तश्च । दग्धश्च । मग्धश्च । 'हलोऽनन्तराः सयोग' इति सयोगसज्ञा । 'सयोगे गुरु' इति गुरुसज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।

ननु च यस्याप्यनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्तस्याप्यन-

उपधाह्रस्वत्व कदना होगा । वादितवन्त प्रयत्नितवान् = अवन्दन् । (व् णिर्लुप्यते च लुक् तिप् ) यदा णिन्त वादि धातु ऊ उपधाभूत आकार को णौ चङ्पुनधाया ह्रस्व स उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । वह कदना होगा ।

क्या कारण है जो अवावद् में उपधाह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता ?

अवावद् में णिन्त वद् धातु स दूसरा णिच् पर रहत जो पहल णिच् का णरनाट से छाप हुआ है उस का स्थानिवत् मान क णिच् का व्यवधान हो जायगा तो वादि क आकार क उपधा में न रहने स णौ चङ्पुनधाया से उपधा ह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने पर गुरुसज्ञा भी नहीं सिद्ध होती श्लेष्मश्च । पित्तश्च । श्लेष्माण । पत वा हन्ति शनि तन्म्युद्धौ प्लुतः) यदा ह्नु धातु स अननुचक्रुक् च स विहित टक प्रत्यय पर रहत गमहनचन खन० से हुप् अकारलोप को स्थानिवत् मानने स ण शब्द का सयोगसज्ञा न होगी तो सयोग गुरु स पूर्व की गुरु सज्ञा नही प्राप्त होती । गुरुसज्ञा न होने से गुरोरनृत० स प्लुत न हो सकगा । इसी प्रकार दग्धश्च । मग्धश्च । यदा दधि मधु क यनादेश का स्थानिवत् मानने से च, च् शब्दों का सयोग सज्ञा न होगी । क्योंकि हलोऽनन्तरा सयोग. सूत्र स व्यवधानरहित हलो की सयोगसज्ञा होती है सयोगसज्ञा न होने स पूर्व की गुरु सज्ञा न होगी । गुरु सज्ञा न होने से गुरोरनृत से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

गुरुसज्ञा की असिद्धिरूप दोष तो व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने में भा है । क्योंकि व्यवधान रहित हलो का सयोग सज्ञा कही है । वह व्यवधान रहित पूर्व का कार्य है । उसने अकार लोप और यनादेश

न्तरलक्षणो विधिः सयोगसज्ञा विधेया ।

न वा सयोगस्यापूर्वविधित्वात् ।

न वा एष दोष । किं कारणम् । सयोगस्यापूर्वविधित्वात् । न पूर्वविधिः सयोग । किं तर्हि । पूर्वपरविधिः सयोग ।

एकादेशस्योपसख्यानम् ।

एकादेशस्योपसख्यानं कर्तव्यम् । श्रायसौ गौमतो । चातुरौ ।

को स्थानिवत् मानन से व्यसधान हो जायगा तो स्फेष्मन्, दश्ध्रव यहा अनन्तर हल् न होने से सयोग सज्ञा न हो सकेगी । सयोग सज्ञा न होने से गुरु सज्ञा न होगी और गुरु सज्ञा न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता । इस लिये दोनो पक्षों में गुरुसज्ञा की असिद्धि रूप दोष का उचित समाधान यही है कि—

स्फेष्मन्, दश्ध्रव यहा ञ् और ध्य की सयोगसज्ञा केवल पूर्वविधि नहीं है बल्कि परविधि भी है । अकारलोप और यणादेश से पूर्व घ् और ध हैं । उनसे पर न और य हैं । दोनो मिल कर सयोग होते हैं । इस लिये सयोगसज्ञा में केवल पूर्वविधि न हान से स्थानिवत् न होगा तो सयोगसज्ञा हो कर गुरुसज्ञा और प्लुत सिद्ध हो जायगा । इस प्रकार दोनो पक्षों में गुरुसज्ञा की असिद्धि रूप दोष का समाधान हो जाता है ।<sup>१</sup>

पूर्व पर के स्थान में हुए एकादेश में स्थानिवद्भाव कहना चाहिये । सूत्र में परासनं यह अन्वयार्थ है । अर्थ है—आदेश के केवल परिमितक होने पर ।

१ पूर्वमानन में स्थानिवद्भाव मानने पर केवल अक्षीवद्दत्त वाला दाप रहता है । उमका भा समाधान आग न पदा तद्विचन० सूत्र पर करें—क्विलुगुपधास्व-चङ्परनिर्हासित्कूपसख्यानम् इस वार्तिक से चङ्परक णि परे रहते उपधा ह्रस्व करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता । उससे अक्षीवद्दत्त में पहला णिलोप स्थानिवत् न होगा तो वाद का आकार उपधा में आ जाने से णौ चङ्गुपधायाः से उपधाह्रस्व निर्गम्य सिद्ध हो जायगा । इस प्रकार पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मानने में कोई दोष नहीं रहता । बल्कि अनन्तर पूर्व वाच में स्थानिवद्भाव मानने में ना कोई दोष नहीं है । एताननुदात्तम्बरादे तानो दोष असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का साध्यण न करने से प्राप्त हात ह । लुनीद्यप्र आदि तानो स्वरस्थलों में द्विपरम्प्य हान न य् बहिरङ्ग हो कर असिद्ध हो जायगा तो उदात्त धन् मित्रन से अक्षीवद्दत्त सिद्ध हो जायेंगे ।

आनडुहौ । पादे । उदवाहे । एकादेशे कृते नुमामौ पद्मावः ऊर् इत्येते  
विधयः प्राप्नुवन्ति ।

किं पुनः कारण न सिध्यन्ति ?

उभयनिमित्तत्वात् ।

अजादेशः परनिमित्तक इत्युच्यते । उभयनिमित्तश्चायम् ।

उभयादेशत्वाच्च ।

अच आदेश इत्युच्यते । अचोश्चायमादेशः ।

ध्रायसौ गौमतौ ( श्रेयसि गोमति च भवौ । ध्रयस्, गोमत् अण् ) यहा श्रेयस्  
गोमन् शब्द भ्रम स ईयसुन् और मत्तुप् प्रत्ययान्त है । उनसे भवार्थ मे तद्धित  
अण् प्रत्यय कर के ध्रायमे गौमत बनते हैं । और विभक्ति परे रहते वृद्धि  
एकादेश होता है । उसे परादिवद्भाव से औ मान कर ध्रायस गौमन् का उगिदचा०  
से नुम् प्राप्त होता है । वृद्धि एकादश को स्थानिवत् मानने से अकार का  
व्यवधान हो जायगा तो नुम् नहीं होता । चातुरौ आनडुहौ (चतुर्थ, अनडुहि च  
भवौ । चतुर, अनडुह अण् ) यहा भवार्थक अण् प्रत्ययान्त चातुर आनडुह शब्दो  
से औ विभक्ति परे रहते वृद्धि एकादेश होता है । उस परादिवद्भाव से औ  
मान कर चातुर आनडुह का चतुरानडुहीरामुदत्त से आम् प्राप्त होता है ।  
वृद्धि एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो  
आम् नहीं होता । पादे उदवाहे । यहाँ पाद और उदवाह शब्दो से डि विभक्ति  
पर रहते गुण एकादश होता है । उस को परादिवद्भाव स डि मान कर  
भसत्तक पाद् को पाद् पत् से पदादश उदवाह को वाह ऊर् से ऊर् आदेश  
प्राप्त होता है । गुण एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान  
हो जायगा तो पदादेश और ऊर् आदेश नहीं होता ।

ध्रायसो गौमतो आदि एकादेश मे स्थानिवद्भाव द्वारा नुम् आदि का  
अभाव क्यों नहीं सिद्ध हाता ? अच परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवत् सिद्ध  
है तब एकादश मे स्थानिवद्भाव के उपसर्गान की क्या आवश्यकता है ?

ध्रायसो गौमता आदि एकादश के स्थलो मे अचः परस्मिन् सूत्र से  
स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता । क्योंकि परनिमित्तक अच् के स्थान मे हुआ

१. श्रेयसि भव. ध्रायस । अण् । द्विकाशिरापा—इत्यादि सूत्र से ए को  
आकार हुआ है ।



नैप दोषः । यत्तावदुच्यते उभयनिमित्तत्वादिति । इह यस्य ग्रामे नगरे वा अनेक कार्य भवति, शक्नोत्यसौ ततोऽन्यतरतो व्यपदेश्चुम् । तद्यथा गुरुनिमित्तं वसामः । अध्ययननिमित्तं वसाम् । इति । यदप्युच्यते- उभयादेशत्वाच्चेति । इह यो द्वयोः पष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति, लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति ।

आदेश स्थानिवत् कहा है । ध्रायसौ आदि में उभयनिमित्तक अजादेश है । ध्रायस का अकार और औ विभक्ति का औकार ये दोनों मिल कर आदेश हुए हैं । उस में जहाँ पर औ को निमित्त मान कर आदेश हुआ है वहाँ पूर्व अकार को भी निमित्त मान कर हुआ है । क्योंकि पूव पर के स्थान एकादेश होता है । इस लिये केवल पर को निमित्त मान कर अजादेश न होने से अच. परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता । इस के साथ यह भी है कि एक अच के स्थान में आदेश नहीं हुआ है बल्कि पूर्व और पर इन दो अचों के स्थान में हुआ है । अच के स्थान में होने वाला आदेश स्थानिवत् कहा है । यहाँ अचों के स्थान में आदेश है । अतः उक्त सूत्र से स्थानिवद्भाव की सिद्धि न होने से एकादेश के उपसख्यान की आवश्यकता है ।

एकादेश में स्थानिवद्भाव के उपसख्यान की कोई आवश्यकता नहीं । अच. परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा । यह जो कहा कि एकादेश, पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होता है केवल पर को निमित्त मान कर नहीं होता तो यह कोई बात नहीं । जैसे किसी मनुष्य को गाव या नगर में अनेक काम होते हैं । वह उन में से किसी एक काम का नाम लेकर भी कह सकता है कि मैं यहाँ पढ़ने के लिये रह रहा हूँ या गुरु की सेवा के निमित्त रह रहा हूँ । उसी प्रकार पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होने वाला एकादेश, पर को निमित्त मान कर होने वाला भी कहा जा सकता है । और जो यह कहा कि दो अचों के स्थान में आदेश होने से केवल अच् के स्थान में आदेश नहीं, सो भी कुछ नहीं । जो दो पष्ठीविभक्तयन्तों के स्थान में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है । जैसे देवदत्त और देवदत्ता से हुआ पुत्र उन दोनों में से किसी का भी कहा जाता है वैसे दो अचों के स्थान में हुआ एकादेश, दोनों में से किसी भी अच् का माना जायगा इस लिये अच. परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध होने पर एकादेश के लिये पृथक् उपसख्यान व्यर्थ है ।

अथ हलचोरादेशः स्थानिवद् भवति उताहो न ।

कश्चात्र विशेषः ?

हलचोरादेश स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेश ।

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेशो वक्तव्यः ।  
विंशकम् । विंश शतम् । विंशः ।

हल् और अच् दोनों क स्थान में हुआ आदेश अजादेश मान कर स्थानिवत् होता है या नहीं ? क्योंकि उस मिश्रित आदेश में अच् का भी सम्बन्ध है ।<sup>१</sup>

इस में क्या विशेष है ?

यदि हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् होता है तो ये दोष आते हैं—विंशति शब्द के ति का लोप होने पर पररूप एकादेश कहना होगा। विंशत्म् । (विंशत्या क्रीतम् । विंशति-ड्वुन्) यहा विंशति शब्द से क्रीत अर्थ में विंशतिविंशद्भ्या इजुन्नसज्ञायाम् से ड्वुन् प्रत्यय हो कर तिविंशतेर्दिति से ति शब्द का लोप हुआ है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अतो गुणे से पररूप एकादेश नहीं प्राप्त होता। वह कहना होगा। ति शब्द में तकार और इकार ये हल् अच् हैं इनका लोप-रूप आदेश हुआ है। इसी प्रकार विंश शतम् (विंशति अधिका यस्मिन् शते । विंशति-ड) यहा विंशति शब्द से शदन्विंशतेश्च से ड प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है। विंश (विंशते पूरण । विंशति डट्) यहा तस्य पूरण डट् से डट् प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है। उसका स्थानिवत् मानने से पररूप नहीं प्राप्त होता। स्थूल आदि शब्दा का यणादिलोप होने पर अवादेश कहना होगा। स्थवायान् । दवायान् (अयमनया अतिशयेन स्थूल दूरे वा । स्थूल, दूर ईयसुन्) यहा स्थूल दूर शब्दा स ईयसुन् प्रत्यय परे रहते

१ शास्त्र में दोनों प्रकार का व्यवहार दाखता है। उरण रपर में अण् को रपर करते हुए अण् और अण् क समुदाय का अण् नहीं माना गया है। इसी लिये सौधातकि यहा मुघात् के ऋ के स्थान में हुए अक् आदेश को रपर नहीं जाता। इस के विरुद्ध नाग्लोपिशास्त्रदिताम् में अक् अनक् ऋ लोप में अक् लोप को स्वीकार किया है। जैसे अत्यररान्त (राजानमतिक्रान्तवान्) यहा राजन् की अन् सज्ञक टि के लोप को अक्लोप मान कर उपधा ह्रस्व का निषेध होता है। इस प्रकार हल् अच् के आदेश को अच् आदेश मान कर वहा स्थानिवद्भाव की शङ्का समभव है।

स्थूलादीनां यणादिलोपेऽवादेशः ।

स्थूलादीनां यणादिलोपे कृते अवादेशो वक्तव्यः । स्थवीयान्  
दवीयान् ।

केकयमित्रव्योरियादेशे एत्वम् ।

केकयमित्रव्योरियादेशे कृते एत्वं न सिध्यति । कैकेयः । मैत्रेयः ।  
अचीत्येत्वं न सिध्यति ।

उत्तरपदलोपे च ।

उत्तरपदलोपे च दोषो भवति । दध्युपसिक्ताः सकवो दधिसकवः ।  
अचीति यणादेशः प्राप्नोति ।

यङ्लोपे यणियङुचडः ।

यङ्लोपे यण् इयङ् उवङो न सिध्यन्ति । चेच्यः । नेन्यः । चेक्षियः ।

स्थूलदूरयुबहस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः से स्थूल दूर के ल र शब्दों  
का लोप और स्थू दू की गुण होता है । ल र शब्दों का लोप हल् अच् के  
स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो उससे पूर्व स्थो दो को  
अवादान नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

केकय मित्रयु शब्दों में इयादेश होने पर एत्व नहीं सिद्ध होता । वह कहना  
होगा । कैकेयः मैत्रेयः । (केकयस्य मित्रयोश्च अपत्यम् । केकय-अन् । मित्रयु-अण्)  
यहाँ केकय मित्रयु शब्दों में केकय शब्द जनपदक्षत्रिय बाची है । उससे अपत्य  
अर्थ में जनपदशब्दान् क्षत्रियादम् से अन् प्रत्यय और मित्रयु से सामान्य  
प्राग् व्यतीय अण् प्रत्यय पर रहते केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः से यथाक्रम य  
यु शब्दों के स्थान में इय आदेश हुआ है । वह हल् और अच् के स्थान में  
आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे न रहने से आद् गुणः से  
एकार गुण नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

उत्तरपद का लोप होने पर भी दोष होगा । दधिसक्तवः (दध्ना उपसिक्ताः  
सक्तवः) यहाँ दधि से परे उपसिक्त शब्द का लोप समानाधिकरणाधिकारोक्त-  
मृतीयापूर्वपदे उत्तरपदलोपश्च इति वातिक से हुआ है । वह हल् और अच् के  
स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे हो जाने से इक्षे यणचि  
से दधि के इकार को यण् प्राप्त होता है । वह रोकना होगा ।

यह् का लोप (लुक्) होने पर यण् इयङ् उवङ् नहीं सिद्ध होते । वे कहने

चेक्रियः । लोलुवः । पोपुवः । अचीति यण् इयङ् उवडो न सिध्यन्ति ।

अस्तु तर्हि न स्थानिवत् ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धिप्रतिषेध ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोलुवः  
पोपुवः । सरीसृपः मरीमृज इति ।

नैप दोषः । 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति प्रतिषेधो भविष्यति ।

किं पुनराश्रीयमाणायां प्रकृतौ स्थानिवद् भवति आहोस्विन्द-

होंगे । चेच्य. नेन्य । चेचीयते नेनीयते इति चेच्यः नेन्य । (चचीय, नेनीय अच्) यद्वा यञ्चन्त चेचीय नेनीय धातुओं से पचाशच् परे रहते यञोचि च से यङ का लुक् होता है । वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे न रहने से एरनेकाचो० से यण् नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार चेक्षिय चेक्रिय (चेक्षीयते चेक्रीयते-अच्) यद्वा यङ् लुक् क स्थानिवत् होने से अचिदनुधातु० से इयङ् नहीं प्राप्त होता । लोलुव पोपुव (लोलूयते पोपूयते-अच्) यद्वा यङ् लुक् के स्थानिवत् होने से उवङ् नहीं प्राप्त होता ।

हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता । केवल अच् के स्थान में हुआ आदेश ही स्थानिवत् होता है ऐसा मानने पर ये दोष न होंगे ।

यदि हल् और अच् क स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता है तो लोलुव पोपुवः सरीसृप मरीमृज यद्वा यङ् का लुक् होने पर गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं । उन का निषेध कहना होगा । (लोलूयते पोपूयते सरीसृप्यते मरीमृज्यते-अच्) लोलूय आदि यञ्चन्त धातुओं से पचाशच् कर क उस क परे रहते यञोचि च से यङ् का लुक् होता है । वह हल् और अच् क स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् न होगा तो ङित् पर न रहने से लोलुव पोपुव में सार्वधातुकगुण, सरीसृप में लघूपधगुण और मरीमृज में मृजृद्धि. स वृद्धि प्राप्त होती है । स्थानिवत् होने पर तो ङिति च से गुण वृद्धि का निषेध मभव है ।

यह कोई दोष नहीं । लोलुव आदि में यङ् लुक् के स्थानिवत् न होने पर भी गुण वृद्धि नहीं होगे । न धातुलोपे आर्धधातुक स गुण वृद्धि का निषेध हो जायगा । इस लिये हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता यही पक्ष निर्दोष होने से प्राय है ।

क्या जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण किया है वही स्थानिवद्भाव

विशेषेण ?

कश्चात् विशेषः ?

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः ।

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिर्न सिध्यति ।  
श्लेष्मश्च । पित्तश्च । दश्वश्च । मश्वश्च । 'ह्लोनन्तराः संयोग'  
इति संयोगसंज्ञा । 'सयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।  
द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे ।

द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे चक्तव्याः । द्विर्वचनवरेयलोप इति ।

होता है या सामान्यतया सर्वत्र । जहाँ स्थानी का आश्रयण नहीं किया है वहाँ भी स्थानिवद्भाव होता है । प्रकृति = स्थानी । तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय कार्य में ही स्थानिवद्भाव मानते हैं या शास्त्रीय अशास्त्रीय दोनों में ही । यहाँ स्थानिवत् मानने से शास्त्र छूता है वह अशास्त्रीय कार्य है क्योंकि शास्त्र की प्रवृत्ति का न होना अशास्त्रीय है । और जहाँ स्थानिवत् मानने से शास्त्र लगता है उसकी प्रवृत्ति होती है वह शास्त्रीय कार्य है । इस प्रकार आश्रीयमाण और अनाश्रीयमाण स्थानियो में स्थानिवद्भाव संभव है ।

जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण नहीं किया गया अथवा स्थानी को निमित्त नहीं माना है यदि वहाँ भी स्थानिवत् होता है तो लोप और यणादेश होने पर गुरु संज्ञा का कार्य नहीं सिद्ध होता । श्लेष्मश्च, दश्वश्च, यहाँ क्रम से हन् के अकारलोप और यणादेश का स्थानी अकार और इकार संयोगसंज्ञा में निमित्त नहीं माना गया है । क्योंकि अर्चों के व्यवधान से रहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है । यहाँ भी स्थानिवत् हो जायगा तो अच् का व्यवधान होने से संयोग संज्ञा नहीं प्राप्त होती । संयोग संज्ञा के न होने से गुरु संज्ञा और गुरु संज्ञा के न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

अनाश्रीयमाण प्रवृत्ति में स्थानिवद्भाव मानने पर न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र में द्विर्वचनवरेयलोप आदि भी पढ़ने होंगे । जिस से वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो सके । अन्यथा दृष्ट्यत्र यहाँ यणादेश का स्थानी इकार अर्चि च से द्वित्व करने में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वह अच् परे होने पर द्वित्व का निषेध करता है इस लिये वहाँ स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे हो जाने से अकार को द्वित्व नहीं प्राप्त होता । यायावरः (यायाय-वरच्) यहाँ यदन्त या धातु से वरच् प्रत्यय परे रहते अतो लोपः से यह

क्सलोपे लुक्वचनम् ।

क्सलोपे लुक् वक्तव्यः । अदुग्ध अदुग्धाः । 'लुग्वा दुहदिहलिह-  
गुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति ।

हन्तेर्घत्वम् ।

हन्तेर्घत्व वक्तव्यम् । घ्नन्ति । घ्नन्तु । अघ्नन् ।

अस्तु तर्ह्याश्रीयमाणायां प्रकृताविति ।

के अकार का लोप हो कर लोपो व्योर्वाल स य का लोप हो जाता है । यद् के अकारलोप का स्थानी अकार लोपो व्यो० मे निमित्त नहीं माना गया है तो वहा स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से य का लोप नहीं प्राप्त होता उस क लिये न पदान्त सूत्र मे वरेयलोप कह कर स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति मे स्थानिवद्भाव मानने पर क्स का लोप न कह कर लुक कहना होगा । जिससे स्थानिवद्भाव का झगड़ा ही मिट जाय । अदुग्ध, अदुग्धा ( दुह्-क्स-लुङ् त, धास ) यहा दुह धातु से लुक् मे त, यास् परे रहते लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये से क्स का लुक होता है । यदि क्स का लुक न कर के घोर्लोपो लेटि या से अनुवृत्त लोप ही विकल्प से विधान कर दें तो अलोन्त्य परिभाषा से क्स के अन्वय अकार का लोप हो कर शेष स् शब्द का झलो झलि से लोप होने स इष्ट रूप बन सकता है किन्तु क्स के अकारलोप का स्थानी अकार झलो झलि मे निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर झल परे न रहने से क्स के सकार का लोप नहीं प्राप्त होता । उसके लिये लुक् ग्रहण कर के सम्पूर्ण क्स शब्द का लुक करना होगा । वैस अदुहहि अधुक्षावहि यहा वहि प्रत्यय परे रहते क्स का वैकल्पिक लुक करना आवश्यक भी है । क्योंकि वहि का वकार झल् नहीं है । उसके पर रहते झलो झलि से क्स का लोप नहीं प्राप्त होता ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति मे स्थानिवद्भाव मानने पर हन् क हकार को घकार कहना होगा । घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । यहा गमहनजनखन० से हुण उपधालोप का स्थानी अकार, हो हन्तेर्णिन्नेपु मे निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से हन् के ह को घ नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो फिर आश्रीयमाण प्रकृति मे ही स्थानिवद्भाव मान लीजिये । जिस कार्य मे स्थानी का आश्रयण किया गया है अथवा उसे निमित्त माना गया

प्रहणेपु स्थानिवदिति चेज्जग्ध्यादिभादेशप्रतिषेध ।

प्रहणेपु स्थानिवदिति चेद् जग्ध्यादिषु आदेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
निराद्य, समाद्य । 'अदो जग्धिल्यप् ति किति' इत्यदो जग्धिभाव  
प्राप्नोति ।

यणादेशे युलोपत्वानुनासिकात्त्वप्रतिषेध ।

यणादेशे युलोपेत्त्वानुनासिकात्त्वाना प्रतिषेधो वक्तव्यः । यलोप—  
वाय्वो. अध्वर्य्वो. । 'लोपो व्योर्वली'ति यलोपः प्राप्नोति । उलोप—  
अकुर्वि आशाम् अकुर्व्याशाम् । 'नित्य करोते ये चे'त्युकारलोप प्राप्नोति ।  
ईत्य—अलुनि आशाम् अलुन्याशाम् । 'ई हल्यघो'रितीत्य प्राप्नोति ।  
अनुनासिकात्त्व—अजङ्घि आशाम् अजङ्घ्याशाम् । 'ये विभापे'त्यनुनासि-  
कात्त्व प्राप्नोति ।

है वहा स्थानिवद्भाव होता है अन्यत्र नहीं पसा मान लेंगे ।

जहा स्थानी का प्रहण किया गया अथवा उस निमित्त माना गया है  
यदि वहाँ स्थानिवद्भाव हाता है ता जग्धि आदि भादेश का निषेध कहना  
होगा । निराद्य समाद्य । (निर सम् अद् णित्त्व-त्यप्) यहा णित्तन्त अद् धातु स  
त्यप् पर रहते णरनिट स णि का लोप हुआ है । णि लोप का स्थानी णि  
अदो जग्धि-र्यप् ति किति स जग्धि भादेश करने म निमित्त नहीं माना गया  
है ता स्थानिवत् न हान स णि का व्यवधान न होगा इस लिये त्यप् पर  
रहते जग्धि भादेश प्राप्त होता है । यणादेश होने पर यणेप, उलोप, ईत्व,  
और अनुनासिक को हाने वाल आत्व का निषेध कहना होगा । वाय्वो अध्वर्य्वो  
(वायु, अध्वर्यु भोस् यद् इका यणचि से हुए यणादेश का स्थानी उकार लोपो  
व्योर्वलि में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न हाने स यल् पर  
हो कर यकार का लोप प्राप्त हाता है । अकुर्वि आशाम्=अकुर्व्याशाम् (कृ-उ  
लृ इद्) यहाँ यणादेश का स्थाना इकार ये च में निमित्त नहीं माना गया  
है ता स्थानिवत् न हाने स यकार परे हो कर कृ धातु के उकार का लोप  
प्राप्त होता है । अलुनि आशाम्=अलुन्याशाम् । (लृ-भा लृ इद्) यहाँ इद्  
प्रत्यय क स्थान में हुए यणादेश का स्थानी इकार ई हल्यघो म निमित्त नहीं  
माना गया है ता स्थानिवत् न होने से यकार परे हो कर भा क आकार को

१ प्रहणेपु = गृह्यमाणेषु स्थानेषु । स्थानियों के गृहात हान पर । यहाँ  
बहुल प्रहण स कर्म में ल्युट हुआ है ।

रायात्वप्रतिषेधश्च ।

रायात्वस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः । रायि आशाम् राय्याशाम् ।  
'रायो हली'त्यात्वं प्राप्नोति ।

दीर्घे यलोपप्रतिषेधः ।

दीर्घे यलोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे ।  
तद्वान् सौर्या हिमवानिति । सौ इन्नाश्रये दीर्घे कृते 'सूर्यतिष्येति' यलोपः  
प्राप्नोति ।

अतो दीर्घे यलोपवचनम् ।

अतो दीर्घे यलोपो वक्तव्यः । गार्गाभ्याम् । वात्साभ्याम् । दीर्घे

ईकार प्राप्त होता है । अजज्ञि आशाम्=अजज्ञ्याशाम् । (जन् लङ् इट्) यहाँ जौहोत्यादिक  
जन् धातु से लङ् में वैदिक व्यत्यय से आत्मनेपद इट् प्रत्यय हो कर शप्  
को श्लु हुआ है । श्लौ से धातु को द्वित्व हो गया । इट् के स्थान में हुण्  
यणादेश का स्थानी इकार ये विभाषा में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत्  
न होने से यकार परे हो कर जन् के अनुनासिक नकार को आत्व प्राप्त होता  
है । रायो हलि से होने वाले आत्व का निषेध कहना होगा । रायि आशाम्=  
राय्याशाम् । (रै-ङि) यहाँ ङि के स्थान में हुण् यणादेश का स्थानी इकार  
रायो हलि में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से हल् परे  
हो कर रै शब्द को आत्व प्राप्त होता है ।

दीर्घ होने पर यलोप का निषेध कहना होगा । सौर्या हिमवान् । सूर्येण  
एकदिक् सौर्यम् । (सूर्य-अण्) । सौर्ये शृङ्गे विद्यते यस्य सः सौर्या (सौर्य-इनि)  
यहाँ इन्नन्त सौर्यिन् शब्द से सु परे रहते सौ च से दीर्घ हुण् इन् प्रत्यय का  
स्थानी ह्रस्व इकार सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्याना य उपधायाः में निमित्त नहीं माना  
गया है तो स्थानिवत् न होने से ईकार परे हो कर सूर्य के य का लोप  
प्राप्त होता है ।<sup>१</sup>

अकार को दीर्घ करने पर यलोप कहना होगा । गार्गाभ्याम् । वात्साभ्याम् ।  
गार्गा अपत्यम् गार्ग ताभ्याम् । (गार्गी-ण्) यहाँ गात्र स्त्रीप्रत्ययान्त गार्गी शब्द  
से युवापत्य में गोत्रस्त्रियाः कुत्सेने ण च से ण प्रत्यय हुआ है । न्याम् परे

१. यदि कहो सूर्यतिष्यागस्त्य० में तो डी की ई परे रहते यलोप का विधान  
है यहाँ डी की ई नहीं है तब तो यह दीप हट जायगा ।



कृते 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाती'ति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नेप दोषः । आश्रीयते तत्र प्रकृतिस्तद्धित इति ॥ सर्वेषामेप परिहारः । उक्तं विधिग्रहणस्य प्रयोजनम्—विधिमात्रे स्थानिवद् यथा स्याद् अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृताविति ।

अथवा पुनरस्त्वविशेषेण स्थानिवदिति । ननु चोक्तम्—'अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः । द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे । क्सलोपे लुग्वचनम् । हन्तेर्घत्वम् इति' । नेप दोषः । यत्ता-चदुच्यते—अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिरिति । उक्तमेतत् । 'न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वादि'ति । यदप्युच्यते द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे यत्तव्या इति । उच्यन्ते न्यास एव । क्सलोपे

रहते उक्ते नुप च से दीर्घे हो गया है । दीर्घे हुण् ण प्रत्यय के आकार का स्थानी ह्रस्व अकार आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वहाँ अनाति कह कर अकार पर रहते यलोप का निषेध किया गया है । तो स्थानिवत् न होने से आकार पर हो जायगा उससे गार्ग्यशब्दस्थ यकार के लोप का निषेध प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि आकार पर रहते आपत्य सम्बन्धी तद्धित यकारलोप का निषेध होता है बल्कि यह अर्थ है—आकारभिन्न तद्धित पर रहते आपत्यसम्बन्धी यलोप का विधान होता है । अनाति शब्द में प्रसज्यप्रतिषेध न मान कर पर्युदात्त मानेंगे । तो गार्गाभ्याम् में ण प्रत्यय को दीर्घे हुण् आकार का स्थानी ह्रस्व अकार आकारभिन्न तद्धित है ही । उसका स्थानी में आश्रयण होने से स्थानिवत् हो जायगा । उससे यलोप निर्गम्य सिद्ध है । इस पक्ष में कहे गये अन्य सब दोषों का भी यह समाधान है—पहले सूत्र में विधिग्रहण का यह प्रयोजन कह चुके हैं कि विधिमात्र में स्थानिवत्ताय होता । जहाँ स्थानी को निमित्त माना गया है वहाँ भी और जहाँ निमित्त नहीं माना गया है वहाँ भी । जहाँ स्थानी को निमित्त माना गया है वहाँ स्थानिवत्ताय मानने में भी कोई दोष नहीं होगा । लोप यणादेशे गुरुविधि, द्विवचनादयश्च प्रातेषेधे क्सलोपे लुग्वचनम्, हन्तेर्घत्वम् ये

२. गार्गी शब्द से ण प्रत्यय होने पर भस्यादे तद्धित से पुनरुच्चारण हो कर गार्ग्ये प्रकृति बन जाती है । गार्ग्ये न भ्याम् इस स्थिति में सुपि च से दीर्घ हो कर यलोप की अप्राप्ति है ऐसा मननना चाहिये ।

लुग्वचनमिति । क्रियते न्यास एव । हन्तेर्घत्वमिति सप्तमे परिहारं वक्ष्यति ।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार-  
दीर्घजश्चरविधिषु ॥१॥१॥५८॥

पदान्तविधिं प्रति न स्थानिवदित्युच्यते । तत्र वेतस्वानिति रुः प्राप्नोति ।

जो चार दोष उस पक्ष में कहे थे उनका समाधान इस प्रकार होगा कि श्लेष्मश्च, दश्च्यश्च में सयोगसज्ञा होने में कोई बाधा न होगी । क्योंकि सयोगसज्ञा बनाने में उक्त स्थलो में केवल पूर्वविधि ही नहीं है अपितु परविधि भी है । पूर्वविधि न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो सयोगसज्ञा बन जायगी । उससे गुल्सज्ञा और गुल्लवप्रयुक्त प्लुत भी हो जायगा । द्विर्वचनवरेयलोप आदि न पदान्तसूत्र में पढ़े ही हैं । इस लिये उनकी भी सिद्धि हो जायगी । दध्ध्व, यायावरः आदि में स्थानिवद्भाव निषेध करने के लिये नया वचन नहीं कहना पड़ेगा । अटुग्ध, अटुग्धा यहाँ कस का लुक् पहले ही लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र से विहित है अतः लुक् का विधान भी अपूर्व नहीं कहना पड़ेगा । घ्नन्त घ्नन्तु, अघ्नन् में हन् के हकार को घकार करने का समाधान भी सप्तमाध्याय में हो हन्तेर्णिग्नेषु सूत्र पर कहेंगे, इस लिये वह भी कोई दोष नहीं ।

इस सूत्र द्वारा पदान्तविधि में अर्धान् (पदान्त विधि शब्द को भाव साधन निर्देश मानकर) पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है । उस से वेतस्वान् में स को रु प्राप्त होता है । क्योंकि वेतस शब्द से कुमुदनडवेतसेभ्यो इमत्तुप् से तदस्मिन्नस्ति इस चातुरधिक अर्थ में इमत्तुप् प्रत्यय कर के टे से टिसञ्जक वेतस के अकार का लोप होता है । स्वादि-ष्वसर्वनामस्थाने से पूर्व की पदसज्ञा हो जाती है । उस अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कर देने से सकार पदान्त हो जाता है । इस लिये सकार की पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर सकार पदान्त हो जायगा तो ससनुषो रु से सकार को श्व प्राप्त होता है ।

१. वहाँ यह समाधान है कि घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन् में उपधा लोप को स्थानिवत् मान कर चाहे अकार का व्यवधान बौद्धिक हो जाय पर ध्रौत अव्यवधान तो स्पष्ट है । लिखने सुनने बोलने में तो घ्नन्ति आदि में ह से पर सीवा व्यवधान रहित नकार है ही । स्थानिवद्भाव से तो बुद्धिकृत व्यवधान होगा । ध्रुतिकृत तो

नैष दोषः । भसंज्ञाऽत्र याधिका भविष्यति तसौ मत्वर्थे इति ।

अकारान्तमेतद् भसंज्ञां प्रति । पदसंज्ञां प्रति तु सकारान्तम् ।

ननु चैवं विज्ञायते यः सम्प्रतिपदान्त इति ।

कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने पतदेवं स्यात् । अयं च

यह कोई दोष नहीं । अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर वेतस शब्द सकारान्त हो जायगा तो पद संज्ञा की याधक तसी मत्वर्थे से भसंज्ञा हो जायगी उस से पदान्त सकार न होने से रत्न नहीं होगा । तदस्मिन्नस्ति इस अर्थ में होने वाला वेतस्वान् में इमतुर् प्रत्यय भी मत्वर्थे में स्पष्ट है ।

भसंज्ञा के विधान में तो अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा । इस लिये भसंज्ञा के प्रति अकारान्त ही वेतस शब्द होगा, सकारान्त नहीं । पदसंज्ञा के विधान में सकार को पदान्त बनाना है इस लिये स्थानिवद् भाव का निषेध हो जायगा । तब अकारलोप स्थानिवत् न होगा तो सकारान्त वेतस् शब्द के स्वादिप्त्वसर्वनामस्थाने से पदसंज्ञक होने से रत्न प्राप्त होता है ।

पदान्तविधि का अर्थ सम्प्रतिपदान्त<sup>१</sup> को विधि करने में स्थानिवत् नहीं होता ऐसा यदि माने तो वेतस्वान् में दोष न होगा । सम्प्रतिपदान्त से तात्पर्य है जो स्थानिवद्भाव के निषेध के विना ही पदान्त बना हुआ रिद्यमान है जैसे गी स्त, कानि सन्ति इत्यादि में उस को कोई कार्य करना हो तो स्थानिवत् का निषेध होता है । पदान्तता का विधान करने में नहीं होता । वेतस्वान् में वतस् यह सकारान्त पद स्थानिवद्भाव के निषेध से पढ़े नहीं बना हुआ है । इस लिये पदान्तविधि न होने से अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा । तब अकारलोप स्थानिवत् हो जायगा । उस से पदान्त सकार न मिलने से रत्न न होगा ।

कर्मसाधन विधि शब्द को मानने पर सम्प्रतिपदान्त को विधि करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता यह अर्थ हो सकता है । किन्तु भाव साधन विधि

अव्ययस्थान है । अन्यथा हन् के द्वार से पर सीधा नगर नहीं पर भी न मिलने से हो हन्ते० में नगर पर रहते कहा हुआ कृत्वविधान ध्यर्थ हो जाता है । इस लिये पदा नगर पर रहते कृत्व विधान के सामर्थ्य से श्रुतिकृत आनन्तर्य माना जायगा उद्यमे च्छन्ति आदि में ह की घ निर्वाप सिद्ध है ।

१ सम्प्रति शब्द या पद शब्द के साथ मुष्पुषा समास होकर भन्त शब्द के साथ पत्नी समास होता है ।

विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनः । विधीयते इति विधिरिति । अस्ति च भावसाधनो विधानं विधिरिति । तत्र भावसाधनस्य विधि-शब्दस्योपादाने एष दोषो भवति । इदं च ब्रह्मबन्धा ब्रह्मबन्ध्वे धकारस्य जश्त्वं प्राप्नोति ।

शब्द को मानने पर उक्त अर्थ नहीं हो सकता । कर्मसाधन का अर्थ कर्मवाच्य है । वि पूर्वक धा धातु से कर्मवाच्य में उपसर्गे धो कि से कि प्रत्यय करके विधि शब्द बनाये तो अर्थ होगा—विधीयते इति विधि । पदान्तस्य सत विधिः पदान्तविधि । पदान्तस्य यह शैषिकी पन्थी है । पहले से विद्यमान पदान्त को कोई विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव का निषेध होता है । विधि शब्द एक तो कर्मवाच्य है । जैसा कि अभी दिखाया है । और एक भाववाच्य भी है । भाव में कि प्रत्यय करके विधि शब्द बनायेगे तो अर्थ होगा—विधान विधि । पदान्तस्य विधान पदान्तविधि । यहा पदान्तस्य यह कर्म में पन्थी है । पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है । भाववाच्य विधि शब्द मानने पर वेतस्वान् में दोष आता है । उसमें पदान्तता का विधान करन में किसी को नया पदान्त बनाने में स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो वेतस्वान् में सकार को पदान्त बनाने के लिये स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा उससे पदान्त सकार हो जाने से रुत्व प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त भाववाच्य विधि शब्द मानने पर ब्रह्मबन्धा, ब्रह्मबन्ध्वे यहा धकार को जगं जशन्ते से जश् भी प्राप्त होता है । क्योंकि ब्रह्मबन्धु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङुत से ऊङ् प्रत्यय कर के सवर्णदीर्घ एकादेश होता है तो ब्रह्मबन्धू ऐसा बनता है । उससे टा डे विभक्ति परे रहते यर्ण हो जाता है । यहाँ ब्रह्मबन्धु के उकार के साथ ऊङ् प्रत्यय के दीर्घ एकादेश को परादिवद्भाव से ऊङ् मान कर उसके परे रहते पूर्व धकार को स्वादिन्वसर्वनामस्थाने से पदान्त बनाना है इस लिये पदान्तविधि होने से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो धकार पदान्त को जश् प्राप्त होता है । भसज्ञा के विधान में तो स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा इस लिये एकादेश स्थानिवत् हो जायगा । उससे अजादि ऊङ् परे होने पर ब्रह्मबन्धु उकारान्त रहेगा । उस अवस्था में भ और पद दोनो को अलग २ अवधि हो जाने से ऊङ् परे होने पर भी भसज्ञा पदसज्ञा को बाध नहीं सकेगी । इस प्रकार पदान्त विधि में धकार को पदान्त बना कर जश् प्राप्त होता है ।

१. यणादेश का उच्चारण अकिञ्चिकर है । एकादेश ही उदाहरण है ।

अस्ति पुनः किञ्चिद् भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने सतीष्ट  
सगृहीतम् । आहोस्वियद् दोषान्तमेवेति ।

अस्तीत्याह । इह कानि सन्ति यानि सन्ति कौ स्तः यौ स्तः इति ।  
योऽसौ पदान्तो यकारो वकारो वा श्रूयेत न स श्रूयते । पडिकश्चापि सिद्धो  
भवति ।

वाचिकस्तु न सिध्यति ।

भावसाधन विधिशब्द के मानने में कोई इष्ट संगृहीत होता है क्या ? उस  
से कोई लाभ भी है या दोष ही दोष है ?

भावसाधन विधि शब्द मानने में लाभ भी है । कानि सन्ति, यानि  
सन्ति । कौ स्त, यौ स्तः । यद्वा सन्ति और स्त में स्नसोरलोपः से हुआ  
अस् धातु के अकार का लोप स्थानिवत् हो जाता है तो कानि में इको यणचि  
से इ को यकार और कौ में एचोऽयवायाव से औ को आव् हो कर यकार  
वकार पदान्त बन सकते हैं । उन की पदान्तता के विधान में स्थानियद्वाव  
का निषेध हो जाने से अच् परे न मिलेगा तो यकार वकार पदान्त नहीं  
सुनाई देते । अर्थात् पदा-तविधान में स्थानियद् न होने से कानि सन्ति कौ  
स्त में यणादेश और आयादेश नहीं होते । इस के अतिरिक्त पडिक भी सिद्ध  
हो जाता है । अज्ञात पडङ्गुलिदत्त पडिक । (पप्-ठच् इक) यद्वा पडङ्गुलिदत्त  
शब्द से अज्ञातादि अर्थ में बहुचो मनुष्यनाम्नऽञ् या से ठच् प्रत्यय करक  
ठाजादावूर्ध्व द्वितीयादय से पड के दूसरे अच् उकारोत्तररती अकार से परे सारे  
एगुलिदत्त शब्द का लोप हो कर पड क अकार का यस्येति च से लोप होता है । समास  
में पप् (अन्तर्वर्तिनी रिभक्ति को लेकर) के सुबन्त होने के कारण पहले ही उसकी पद  
सज्ञा है । उसके द्वितीय प् को नया पदान्त नहीं बनाना है इस लिये पदान्तविधि न  
होने से स्थानियद्वाव का निषेध न होगा तो अकारान्त पप की ठच् परे रहते नसज्ञा  
रहेगी । पदसज्ञा तो पहले से ही पप् इस पञ्जारा-न्त की है । इस प्रकार अलग अलग  
अर्थ होने से अपने रिषय में भी भसंज्ञा पदसज्ञा को न बाध सकेगी तो  
पद सज्ञा होने से सप्त जशोन्ते से प् को इ होकर पडिक बन जाता है ।

पर वाचिक यह प्रयोग तो सिद्ध नहीं होता । भावसाधन विधि शब्द  
मानने पर वाचिक की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि पडिक की तरह यद्वा भी अज्ञातः

१. यह दोनों पक्षों ( विधि शब्द को भाव साधन अथवा कर्म साधन मानने )  
में साक्षा प्रयोजन है ।

२. यह विधि शब्द भाव साधन है इय पक्ष में ही प्रयोजन बनता है ।

अस्तु तर्हि कर्मसाधनः ।

यदि कर्मसाधनः, पडिको न सिध्यति ।

अस्तु तर्हि भावसाधनः ।

वाचिको न सिध्यति ।

वाचिकपडिकौ न सवदेते ।

कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

वागाशीर्दतः वाचिकः वाच्-ठच् इक । इस प्रकार वागाशीर्दत शब्द से अज्ञातादि अर्थ में ठच् प्रत्यय परे रहते ठाजादा० से शीर्दत शब्द का लोप हो कर अवशिष्ट वागा के आकार का यस्येति च से लोप होता है । समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लेकर वाच् पहले ही सुबन्त होने से पद है । इस लिये उस को पदान्तता का विधान न होने से आलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा तो ठच् प्रत्यय परे रहते आकारान्ठ वाच् की भसज्ञा और चकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी । दोनों की अलग अलग अवधि होने से भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पदसंज्ञा हो कर चोः कु से कुन्व प्राप्त होता है ।

तो फिर कर्मसाधन विधि शब्द मान लें ।

यदि कर्मसाधन विधि शब्द मानते हैं तो पडिक नहीं बनता । क्योंकि कर्मसाधन विधि शब्द मानने पर पदान्त को कोई विधि करने में स्थानिवत्त्व का निषेध होगा तो पडिकः में पप् के पदान्त प् को जश् करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर अकार अन्त में न रहने से भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों पप् इस प्रकारान्त की हो जायगी । उस समय दोनों को एक अवधि हो जाने से अज्ञादि ठच् परे रहते अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी तो पप् के पद न होने से जश् नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो भावसाधन विधि शब्द मान ले ।

भावसाधन विधि शब्द मानने पर वाचिक नहीं बनता ।

ये वाचिक और पडिक दोनों एक साथ मेल नहीं खाते ।

इनके लिये यत्न करना चाहिये । वह यत्न यही है कि वाचिक में तो एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः इस वार्तिक से उत्तरपद आशीर्दत शब्द का लोप मानेंगे । वहाँ अच् के स्थान में आदेश न होने से स्थानिवद्भाव का

१. दोनों एक पक्ष का आश्रयण करने से सिद्ध नहीं होते ।

कथं ब्रह्मवन्ध्वा, ब्रह्मवन्ध्वै ।

‘उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्’ इति ।

कथं वेतस्यान् ? ।

नैनं विज्ञायते पदस्यान्तः पदान्तः । पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः ।

प्रश्न ही नहीं उठता । भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों चकारान्त वाच् शब्द की हो जायगी । तब अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी । उससे वाच् के पद न होने से उत्तर नहीं होगा । पठिक में परगुणजादिवचनात् सिद्धम् इस वचन से ठाजादापूर्व० से द्गुलिदत्त शब्द का लोप कर के अशिश्ट पड के अकार का यस्येति च से लोप मानेंगे । वहाँ अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवद्भाव हो कर अकारान्त की भसंज्ञा और पप् इस प्रकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी । इस प्रकार अलग २ अवधि हो जाने में भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पद मान कर प् को ड् हो जायगा ।

भाजसाधन विधि शब्द में ब्रह्मवन्ध्वा, ब्रह्मवन्ध्वै कैसे बनेगे ?

उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् इस परिभाषा से ब्रह्मवन्ध्वा ब्रह्मवन्ध्वै में दोष न होगा । वहाँ उच् का एकादेश परादिवद्भाव से उच् नहीं माना जायगा । उक्त परिभाषा का अर्थ है कि जिस विधि में पूरं और पर के स्थान में हुप् एकादेश को पूर्व के अन्तावयव की तरह भी मानना पड़े और पर के धादि अवयव की तरह भी मानना पड़े वहाँ अन्तादिवद्भाव नहीं होता । क्योंकि स्वादियु० सूत्र से पदसंज्ञा प्रत्यय परे रहते पूर्व की होती है उस में पूर्व और पर दोनों का आश्रयण होता है । इस लिये सर्वत्र दीर्घ हुप् एक ही ऊ को पूरं ब्रह्मवन्धु का उ और पर उक्त प्रत्यय का ऊ एक साथ नहीं माना जा सकता तो ब्रह्मवन्धु के अकारान्त रहने से धकार अन्त में न मिलेगा इस लिये जन् नहीं होगा । टा लं विभक्ति परे रहते तो भसंज्ञा निर्बाध है । उच् परे रहते सर्वत्र दीर्घ एकादेश से परादिवद्भाव मान कर जो धकार की पदान्तता के विधान में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त होता है उस अन्तादिवद्भाव के निषिद्ध हो जाने से व्यर्थ हो जाता है । ब्रह्मवन्धु का उकार उच् प्रत्यय के साथ मिल कर भी उच् नहीं कड़ावेगा तो उच् के पर रहते ब्रह्मवन्धु के उकार की भसंज्ञा ही रहेगी । भ और पद दोनों की अवधि भय ब्रह्मवन्धु का उकार ही होने से अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी ।

भाजसाधन विधिशब्द मानने में वेतस्यान् कैसे बनेगा ?

पदान्तविधि शब्द में पदस्यान्तः पदान्तः तस्य विधिः प्रति इस प्रकार

पदान्तविधिं प्रतीति । कथं तर्हि पदे अन्तः पदान्तः । पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः । पदान्तविधिं प्रतीति । अथवा यथैवान्यान्यपि पदकार्याण्युपप्लवन्ते इत्वं जश्त्वं च, एवमिदमपि पदकार्यमुपप्लोप्यते । किम् । भसञ्जा नाम ।

वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीत्युच्यते तत्र ते 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्' इति । अवणलोपविधिं प्रति स्थानिवत् स्यात् ।

पष्ठीसमास मान कर पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ नहीं मानने बल्कि पदे अन्तः पदान्त. तस्य विधिं प्रति इस प्रकार सप्तमीसमास मान कर पद पर रहते किसी को अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ मानेंगे तो वेतस्वान् में भी दोष न होगा । वेतस्वान् में वेतस से परे इमदुप् प्रत्यय है, पद नहीं है । इम लिये पदान्त-विधि न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर अन्त में सकार न मिलने से इत्वं नहीं होगा ।

अथवा जैसे पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध मानने से वेतस्वान् में स् को रु ब्रह्मबन्ध्वा में ध को जगत्वं ये अन्य पद के कार्य प्राप्त होते हैं ऐसे भसञ्जा भी पद का कार्य होने से पदान्तविधि हो जायगी । क्योंकि पद हो कर भसञ्जक होता है इस प्रकार भसञ्जा भी पद का कार्य है । तो भसञ्जा करने में स्थानिवत् का निषेध हो कर सकारन्त की भसञ्जा हो जायगी उस से वेतस्वान् में स् को रु नहीं होगा । उपप्लवन्ते=प्राप्त होते हैं । उपप्लोप्यते=प्राप्त हों जायगी । मान ली जायगी । किम्=क्या । भसञ्जा । इस प्रकार पदान्तविधि शब्द में विधि को भावसाधन या कर्मसाधन कुछ भी मान लें, कहीं दोष नहीं आता ।

सूत्र में वरे यलोपविधि शब्द से वरच् प्रत्यय पर रहते यकार के लोप में ही स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है । उससे यायावरः ( यायाय वरच् ) यहाँ यदन्त या धातु से वरच् प्रत्यय पर रहते अतो लोपः से हुण् यञ् के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर अजादि किन् डित् आर्धधातुक पर हो जाने से आतो लोप इटि च से या के अकार का लोप प्राप्त होता है । इस लिये जैसे लोपो व्योर्बलि से यलोप करने में अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है वैसे आलोप करने में भी अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।



नेप दोषः । नैवं विज्ञायते वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति । कथं तर्हि । वरे अयलोपविधिं प्रतीति । किमिदमयलोपविधिं प्रतीति । अघर्णलोपविधिं प्रति, यलोपविधिं च प्रतीति ।

अथवा योगविभागः करिष्यते । 'वरे लुप्तं न स्थानिवत्' ततो 'यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति ।

यलोपे किमुदाहरणम् ?

कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूः इति ।

नैतदस्ति । क्वौ लुप्तं न स्थानिवत् ।

यह कोई दोष नहीं । वरेयलोप में अकार का प्रत्यय वर के वरे अयलोप ऐसा समझेगे । उससे वरच् प्रत्यय पर रहते अघर्णलोप और यलोप दोनों में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा । तो यायावर में या के आ का लोप न होगा ।

अथवा वरयलोप को एक पद न समझ कर वरे यह योगविभाग समझेगे । वरे यह पृथक् है । यलोप पृथक् है । वरे का अर्थ होगा कि वरच् पर रहते जो भी लुप्त हुआ है वह स्थानिवत् नहीं होता । उससे यायावरः में वरच् पर रहते अकारलोप स्थानिवत् न होगा । तो आतो लोप इटि च से आलोप न होगा और लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जायगा । यलोप विधि का अर्थ होगा कि यलोप करने में जो भी अजादेश है वह स्थानिवत् नहीं होता । उसका उपयोग वरच् प्रत्यय से अन्यत्र भी हो सकेगा ।

यलोपविधि में क्या उदाहरण है ?

कण्डूयतीति कण्डूः । ( कण्डूय क्तिप् ) यहाँ इच्छान्तकण्ठ कण्डूय धातु से क्तिप् प्रत्यय हुआ है । कण्डूयादिभ्यो यक् से यक् कर के यन्त कण्डूय से तो क्तिप् नहीं होता । क्योंकि भाष्यकार ने कण्डूयादिभ्यो यक् सूत्र पर स्पष्ट यह कहा है कि—नैनेभ्य क्तिप् दस्यते इति । अप्रत्यय का अर्थ अविद्यमान प्रत्यय है । अविद्यमान प्रत्यय अप्रत्ययः । जो प्रत्यय सर्वथा लुप्त हो कर विद्यमान नहीं रहता जैसे क्तिप्, क्तिन्, क्तिन्, क्तिट, क्ति भादि, वह अप्रत्यय कहाता है । यहाँ कण्डू में क्तिप् पर रहते य के अकार का अतो लोपः से लोप हुआ है । उसको स्थानिवत् मान कर लोपो व्योर्वलि से य का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । क्तिप् पर रहते क्तिट्गुणरात्वचत्परनिर्हाणत्त्वेपू-पठेयानम् इस वाक्य से स्थानिवत् का निषेध किया गया है उसीसे यहाँ

इदं तर्हि प्रयोजनम् । सौरी बलाका ।

नैतदस्ति । उपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आदित्यः ।

नैतदस्ति । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । कण्डूतिर्वल्गूतिः ।

अच्छा यह उदाहरण लीजिये । सौरी बलाका । सूर्येण एकदिक् सौरी (सूर्य अण् डीप्) । यहाँ अण् प्रत्ययान्त सूर्य शब्द से डीप परे रहते अण् के अकार का और अण् परे रहते सूर्य के अकार का यस्येति च से लोप हुआ है । उन दोनों के स्थानिवत् होने से यकार उपधा में न रहेगा तो सूर्य-तिष्यागस्त्यमन्स्याना य उपधायाः से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से अण् के अकार लोप को समानाश्रय होने के कारण असिद्धवद्राभात् से असिद्ध मान कर यकार उपधा में मिल जायगा तो य का लोप हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यहाँ उपधा का कार्य होने से किरुगुपधात्व चङ्पर० से ही स्थानिवत् का निषेध हो जायगा ।

तो फिर यह उदाहरण लीजिये । आदित्यः । आदित्ये भव आदित्य । आदित्य (आदित्य-अण्) यहाँ आदित्य शब्द से भव अर्थ में दित्यदित्यादित्य० से हुप् प्य प्रत्यय के परे रहते यस्येति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर हलो यमा यमि लोप से आदित्य के यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यहाँ भी हलो यमा यमि लोप यह सूत्र पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण का है । और पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के कार्यों में पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इस वार्तिक से ही स्थानिवत् का निषेध कहा गया है । उसी से सिद्ध हो जाने से इस की आवश्यकता नहीं ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । कण्डूतिः वल्गूतिः । (कण्डूय-क्तिन्) यहाँ यक्प्रत्ययान्त कण्डूय धातु से क्तिन् परे रहते अतो लोपः से यक् के अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से यलोप नहीं प्राप्त होता । यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

नेतदस्ति प्रयोजनम् । कण्डूया वल्गूया इति भवितव्यम् ।

इदं तर्हि-कण्डूयतेः क्त्विच् । ब्राह्मणकण्डूतिः । क्षत्रियकण्डूतिः ।

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् ।

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम् । स्वर—आकर्षिकः । चिकीर्षिकः जिहीर्षिकः । यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति । पञ्चारत्न्यो दशारत्न्यः । स्वर । दीर्घ—प्रति-

यह भी कोई उदाहरण नहीं । क्योंकि कण्डूवादिगन्त कण्डूय धातु प्रत्ययान्त है । उस से स्त्रीलिङ्ग में इत्यां क्त्विच् को बाध कर अ प्रत्यय से अ प्रत्यय होगा । उस के बाद टाप् हो कर कण्डूया वल्गूया ये रूप बनेंगे । कण्डूति वन्तुति नहीं ।

तब तो ब्राह्मणकण्डूति, क्षत्रियकण्डूति यह उदाहरण लीजिये । यहाँ गन्त कण्डूय धातु से कर्ता में क्त्विच् च सतायाम् से क्त्विच् प्रत्यय हुआ है । उस के पर रहते अतो लोप से हुप् अकार लोप को स्थानिवत् मान कर यलोप नहीं प्राप्त होता । यलोपविधि में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है । कण्डूत शब्द का ब्राह्मण शब्द के साथ पञ्चासमास मान कर ब्राह्मणकण्डूति यह रूप बनता है ।

स्वर, दीर्घ और यलोपविधि में लोप रूप अजादेश ही स्थानिवत् नहीं होता यह कहना चाहिये । लोप से भिन्न अन्य अजादेश तो स्थानिवत् ही होते हैं । स्वर जैसे—आकर्षिक । आर्षेण चरति (आकर्षे ष्ट्) यहाँ आकर्ष शब्द से ष्ट् प्रत्यय पर रहते यस्थिति च से आकर्ष क अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर अकार का व्यग्रधान हो जायगा तो छिति से ककार क अकार का उदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । स्वर में लोप रूप भादन होने से स्थानिवत् का निषेध हो कर ककार के अकार को उदात्त हो जाता है । इसी प्रकार चिकीर्षिक जिहीर्षिक (चिकीर्षे जिहीर्षे णुक्) यहाँ सञ्जन्त चिकीर्षे धातु में णुक् पर रहते सन् क अकार का अतो लोप से लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर अकार का व्यग्रधान हो जाने से छिति से ककार क अकार को उदात्त नहीं प्राप्त होता । स्वर में लोपरूप भादन क स्थानिवत् का निषेध होने से अकार को उदात्त हो जाता है । किन्तु पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः यहाँ तो लोपरूप भादन नहीं है इस लिये यह स्थानिवत् ही हो जायगा । पञ्चारत्नि

दीप्त्वा । प्रतिदीप्त्वे । यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति ।  
कियोः गियोः । दीर्घ । यलोप- ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः । यो  
ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति । वाय्वोः अब्वय्वोः इति ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् । इह हि लोपोपि प्रकृतः । आदेशोपि । विधि-  
ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते । दीर्घादयोपि निर्दिश्यन्ते । केवलं तत्राभि-

शब्द से जस् परे रहते जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्घुपघायाः इस  
वार्तिक से जसि च से प्राप्त गुण का अभाव हो कर इको यणचि से वेद मे  
यणादेश होता है । यह लोप रूप नहीं है । उसके स्थानिवत् होने से इगन्त हो  
जायगा तो इगन्तकालकपालभगाल० से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है । दीर्घ का  
उदाहरण प्रतिदीप्त्वा, प्रनिदीप्त्वे है । यहाँ अन्नन्त प्रतिदिश्वत् शब्द से टा के विभक्ति  
परे रहते अल्लोपोऽन से अन् के अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत्  
मान कर हलि च से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव  
का निषेध हो जायगा तो दीर्घ हो जाता है । किन्तु कियोः गियोः ( किरि गिरि-  
ओस् ) यहाँ किरि गिरि शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से यण् रूप  
आदेश हुआ है । उस के लोपरूप न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा  
तो रेफान्त न मिलने से हलि च से दीर्घ नहीं होता । यलोप का उदाहरण  
ब्राह्मणकण्डूति क्षत्रियकण्डूति. यह कइ ही चुके हैं । कण्डूति मे यक् के  
अकार का लोप हुआ है । उस के लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव का  
निषेध हो जायगा तो वल् परे मिलने से लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जाता है ।  
किन्तु वाय्वोः अब्वय्वोः. यहाँ वायु अब्वयु शब्दों से ओम् परे रहते इको  
यणचि से यणादेश हुआ है । उस के लोप रूप न होने से स्थानिवद्भाव का  
निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर वल् परे न मिलेगा । उस से लोपो व्या० से  
यलोप नहीं होता है ।

तो क्या स्वर दीर्घ यलोप विधि मे लोपरूप आदेश ही स्थानिवत् होता  
है अन्य नहीं यह वचन कहना है गा ?

इस वचन के अलग कहने की आवश्यकता नहीं । यहाँ लोप, आदेश, विधि  
ग्रहण और स्वर दीर्घ यलोप आदि सभी पढ़े हुए हैं । सूत्र मे सभी का  
निर्देश है । केवल इन सब का आपस मे सम्बन्धमात्र करना है कि स्वर

सम्बन्धमात्र कर्तव्यम् । स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानि-  
यदिति ।

आनुपूर्व्येण सनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् ।  
न चेतान्यानुपूर्व्येण सनिविष्टानि ।

अनानुपूर्व्येणापि सनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति ।  
तद्यथा 'अनङ्वाहमुदहारि या त्व हरसि शिरसा कुम्भ भगिनि सा  
र्चीनमभिधानन्तमद्राक्षीः' इति । तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति  
उदहारि भगिनि या त्व कुम्भ हरसि शिरसा अनङ्वाह सार्चीन-  
मभिधानन्तमद्राक्षीः इति ।

दायं और यलोप विधि में लोपरूप अजादेश ही स्थानियत् नहीं होता । अन्य आदेश  
तो स्थानियत् ही होते हैं ।

किसी आनुपूर्वी एव क्रम से रख हुए शब्दों का ही आपस में यथेष्ट  
सम्बन्ध किया जा सकता है । यहाँ लोप आदेश, स्वर, दायं आदि का कोई  
क्रम नहीं है । ये किसी आनुपूर्वी से निर्दिष्ट नहीं हैं इस लिये इन का अभीष्ट  
सम्बन्ध कैसे किया जा सकता कि स्वर दायं यलोपविधि में लोप रूप अजादेश  
स्थानियत् नहीं होता ।

आनुपूर्वी अथवा क्रम से रहित रखे हुए शब्दों का भी यथा की इच्छा  
से यथेष्ट सम्बन्ध होता है । जैसे—अनङ्वाहमुदहारि या त्व हरसि शिरसा  
कुम्भ भगान सार्चीनमभिधानन्तमद्राक्षा इत्य वाक्य में पदों का कोई आनुपूर्व्य  
नहीं है । ये किसी उचित क्रम से नहीं रख हुए हैं । फिर भी यथा अपनी उद्दि-  
ष्ट से इन का उचित सम्बन्ध कर के यूँ रखता है कि—उदहारि भगिनि या त्व  
शिरसा कुम्भ हरसि सार्चीनमभिधानन्तमद्राक्षीः । इस वाक्य का अर्थ  
है कि हे उठ जाने वाली बहिन ! तो तू सिर पर जल का घड़ा लगा रहा है,  
क्या तू न हथर उधर टक मक दौड़ता हुआ बैक देखा है ? इस प्रकार वाक्य  
रचना में यद्यपि किञ्चित् दोष तो है फिर भी अभीष्ट अर्थ का सम्बन्ध हो ही  
जाता है । यहाँ भी बिना कड़े ही स्वर दीर्घ यलोप विधियों में लोप रूप  
अजादेश के स्थानरद्राव का निरर्थक समझ लिया जायगा । उस के लिये धरुण  
वचन की आवश्यकता नहीं । मूयोपात्त शब्दों का ही उद्दिष्टान् अपने अनुरूप  
अन्वय कर के विरक्षित अर्थ निकाल लगा । त्यों के पाठ्यक्रम से अर्थजनक पल्लवान्  
होता है ।

किल्लुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकुत्वेषूपसख्यानम् ।

किल्लुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकुत्वेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् ।

कौ किमुदाहरणम् ?

कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूरिति ।

नेतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पिपठिपतेरप्रत्ययः पिपठी ।

नेतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि लावयते लाः । पावयतेः पौः ।

क्विप्, लुक्, उपधाकार्यं, चङ् परे होने वाला ह्रस्व, और कुत्व इन विषयों में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

क्विप् के विषय का क्या उदाहरण है ?

क्यन्त कण्डून् शतु से क्विप् प्रत्यय करके वण्ड यह रूप बनता है जो क्विप् का उदाहरण है । यहाँ क्विप् परे रहते क्यच् के अकार का अतो लोप हो जाता है । उस अकारलोप को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से यलोप नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । यलोप विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पिपठी । यहाँ सन्तन्त पिपठिप धातु से क्विप् प्रत्यय परे रहते सन् के अकार का अतो लोप से लोप होता है । उसको स्थानिवत् मान कर वौष्पधाया दीर्घ इक् से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । लौ पौः । ( लृ गिच क्विप ) यहाँ गिजन्त लृ धातु से क्विप् परे रहते वृद्धि और आत्रादश हो कर गिच का लोप हुआ है । उसको स्थानिवत् मानने से गि का व्यवधान हो जायगा तो लाव् के वकार को च्च्वो शृङ्गुनासिके च स ऊद् नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

नतदस्ति । अकृत्या वृद्धयावाद्शौ णिलोप । प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिर्भविष्यति ।

इदं तर्हि लघमाचष्टे लवयति । लवयतेरप्रत्यये लौः । स्थानि वद्भासाद् णरुद् न प्राप्नोति । 'को लुप्त न स्थानिवदिति' भवति ।

एवमपि न सिध्यति । कथम् । कौ णिलोपो णाचकारलोपः । तस्य स्थानिवद्भासाद् न प्राप्नोति ।

नप दोषः । नेव विश्वायते कौ लुप्त न स्थानिवदिति । कथं तर्हि ।

यद् भी काइ उदाहरणं नहीं । यद्वा ( लृ णिच-क्विप् ) इस अवस्था में दृ का वृद्धि और भासादश न करके पहले णि का लोप करेंगे । उसको प्रत्यय ण्य प्रत्यय णम् से प्रत्ययलक्षण मानकर लृ का वृद्धि ही प्रायगी । एचोऽववायाव से हान गला आर भासाद तो अच् रूप वर्णक आधित हान से प्रत्ययलक्षण मानकर नहीं होगा क्योंकि वर्णाश्रये नास्त प्रत्ययलक्षणम् इस परिभाषा से वर्णाधित काय में प्रत्ययलक्षण नहीं हुआ करता । उस से ही पी चन प्रायगे इस प्रक्रिया में स्थानिवत्भाव का प्रसङ्ग ही नहीं ।

अत्र ता यद् उदाहरणं लाजियं । लघमाचष्टे लवयति । लवयताति लौ । यद्वा ण्य प्रातिपदिक से तस्मिन् तस्मिन् इत्येव वाचिक से ण्य प्रत्यय हुआ है । णिच पर रहने से टिसङ्क लृ क अकार का लोप होकर लृद् यद् णिच न धातु चन जाता है । उस से क्विप् प्रत्यय पर रहने से णि का लोप होता है । णिच पर स्थानिवत् मानकर च्वा शब्दनुनासिक से हान वाच्यकार का उद् नहीं प्राप्त होता । क्विप् पर रहने से लुप्त में स्थानिवत्भाव का निरर्थक हान से ही जाता है ।

उक्त प्रक्रिया में भी पी में उद् नहीं सिद्ध होता है । क्योंकि ( लृ णिच-क्विप् ) इस अवस्था में क्विप् पर रहने से णि का लोप हुआ है । भीच णिच पर रहने से ण्य क अकार का लोप हुआ है । णिलोप के स्थानिवत्भाव का निरर्थक हान पर भी अकारलोप के स्थानिवत्भाव से उद् नहीं प्राप्त होता । वी यद् निरर्थक ता क्विप् पर रहने से णिलोप के स्थानिवत्भाव का ही राह सकता है । णिच पर रहने से ण्य अकारलोप के स्थानिवत्भाव का नहीं राह सकता ।

यद् काइ दाय नहीं । कि उगुणः इस वाचिक से क्विप् पर रहने से उद् हुआ है उसी में स्थानिवत्भाव का निरर्थक नहीं माना जाता बल्कि क्विप् पर रहने

कौ विधि प्रति न स्थानिवदिति ।

लुकि किमुदाहरणम् ?

विम्बम् । बदरम् ।

नैतदस्ति । पुवद्भावेनाप्येतत् सिद्धम् ।

इदं तर्हि आमलकम् ।

नैतदस्ति । वक्ष्यत्येतत् 'फले लुक्वचनानर्थक्य प्रकृत्यन्तर-

कोई भी विधि करने में स्थानिवद्भाव का निषेध माना जाता है। लौ वी में क्विप् परे है ही। उस क पर रहते णिच् है। णिच् परे रहते अकारलोप हुआ है वह क्विप् परे रहते डुप् विधि है उस में स्थानिवद्भाव का निषेध हो चायगा ता णिलोप और अकारलोप दोनों ही स्थानिवत् न होंगे। फिर ऊद् निर्बाध है।

लुक् विषय में क्या उदाहरण है ?

लुक् विषय में विम्बम् । बदरम् । ये उदाहरण हैं। (विम्ब्या बदर्याश्च फल्म्) यहा विम्बी बदरी शब्दों से विकार अर्थ में अनुदात्तादेश्च से अञ् प्रत्यय हो कर उस का फले लुक् से लुक् हाता है। साथ ही टुक् तद्धितलुकि से विम्बी बदरी के षष्ठी स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। षीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर यत्येति च से विम्ब बदर क अकार का लोप प्राप्त हाता है। लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता।

यह कोई उदाहरण नहीं। यह तो पुवद्भाव से भी सिद्ध है। विम्बी बदरी से अञ् प्रत्यय हुआ है। वह अजादि है। उस के परे रहते पूर्व की भसशा हो चायगी तो भस्याडे तद्धित इस वातिक से विम्बी बदरी का पुवत् हो कर विम्ब बदर शब्द बन जायेगे। तब षष्ठी क लुक् का प्रसङ्ग ही न होने से स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं।

ता फिर आमलकम् यह उदाहरण लीजिये। आमलक्या फल्म् इस अर्थ में आमलकी शब्द के वृद्धसञ्ज्ञक हाने से नित्य वृद्धशरादिभ्य से मयट् प्रत्यय हा कर उय का फले लुक् स लुक् हा जाता है। मयट् प्रत्यय के अनादि न होने से उस क परे रहते पूर्व की भसशा न होगी तो आमलकी को भस्याडे तद्धित से पुवत् न हो कर लुक् तद्धितलुकि से षष्ठी का लुक् ही करना होगा। लुक् होने पर उस स्थानिवत् मान कर आमलक क अकार का लोप प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता।

यह भी क ई उदाहरण नहीं। फल लुक् सूत्र पर कहेग कि फले लुक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। आमलकम् । विम्बम् बदरम् ये शब्द आमलकी विम्बी बदरी इन स्त्रीलिङ्ग शब्दों से बने डुप् नहीं हैं। बल्कि स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर हैं।



त्यादि'ति ।

इदं तर्हि पञ्चभिः पद्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः दशपटुरिति ।

ननु चेतदपि पुंवद्भावेनेव सिद्धम् ।

कथं पुंवद्भावः ?

'भस्याडे तद्धिते' पुंउद् भवतीति ।

भस्येत्युच्यते । यजादौ च भसंज्ञा भवति । न चात्र यजादिं पश्यामः ।

प्रत्ययलक्षणेन यजादिः ।

'पर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' ।

स्वतन्त्र अलग शब्द हैं । उन में स्त्रीप्रत्यय के लुक् का प्रश्न ही नहीं उठता ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पञ्चभिः पद्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः । दशभिः पटुरी न नीत दशपटुः । यहाँ क्रीत अर्थ में हुप् आर्द्धिय ट्क् प्रत्यय का अयर्पूर्वद्विगोऽगसहायाम् से लुक् हो कर लुक् तद्धितलुकि से पटुरी के ङीप् का लुक् हो जाता है । ङीप् के लुक् को स्थानियत् मान कर दशो यणनि से पटु के उच्चार को यणादेश प्राप्त होता है । लुक् में स्थानियत् का निरोध कहने से नहीं होता ।

पञ्चपटुः यह उदाहरण भी तो पुंवद्भाव से सिद्ध हो सकता है ?

यहां पुंवद्भाव कैसे होगा ?

भस्याडे तद्धिते इस वातिक से पञ्चपटुः में पद्वी को पुंवद्भाव हो जायगा । इस वातिक का अर्थ है—टभिन्न तद्धित प्रत्यय पर होने पर भसञ्चक स्त्री शब्द क पुंउद् होता है ।

भस्याः न ङी यह वातिक तो भसञ्चक स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंउद् करता है । और भसंज्ञा यनि भम् मूत्र से यकारादि अजादि प्रत्यय पर रहते होती है । पञ्चपटु में यकारादि अजादि प्रत्यय उठ नहीं दीयता ।

प्रत्ययान्ते प्रत्ययलक्षणम् में लुक् हुप् ट्क् (इक) प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण मान कर अजादि पर हो जायगा तो पूरे की भसंज्ञा हो जायगी ।

वर्ण के आश्रित कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । भसंज्ञा में यकारादि अजादि रूप वर्ण का आश्रयण किया है इस लिये भसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो अजादि पर न मिलने से पूरे की भसंज्ञा न हो सकेगी । भसंज्ञा न होने में 'स्याडे' से पुंउच्चार नहीं प्रत्य होगा ।

एवं तर्हि 'ठक् छसोश्च' इत्येव भविष्यति ।

ठक्छसोश्चेत्युच्यते । न चात्र ठक्छसौ पश्यामः ।

प्रत्ययलक्षणेन ।

'न लुमता तस्मिन्निति' प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधः ।

न खल्वप्यवश्य टगेव क्रीतप्रत्ययः । क्रीताद्यर्था एव वा तद्धिताः । किं तर्हि, अन्येपि तद्धिता ये लुक् प्रयोजयन्ति । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति पञ्चेन्द्रः । दशेन्द्रः । पञ्चाग्निः । दशाग्निः ।

पञ्चपटु. में मस्याडे से न सही, ऋच्छोश्च इस वातिक से पुंवद्भाव हो जायगा । इस में स्पष्ट ही ठक् और छस् प्रत्यय पर रहते पुवद्भाव का विधान किया गया है । पञ्चपटु. में ठक् प्रत्यय है ही ।

ठक्छसोश्च इस वातिक में ठक् और छस् प्रत्यय पर होने पर पुवत् कहा है । पञ्चपटु. में ठक् छस् कुछ नहीं परे दीयता । जो ठक् प्रत्यय किया था वह लुप्त हो चुका है ।

प्रत्ययलक्षण मान कर पञ्चपटु में ठक् प्रत्यय पर है । क्योंकि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से लुप्त होने पर भी प्रत्ययनिमित्त कार्य हो सकता है ।

न लुमतात्रस्य सूत्र पर कहे हुए न लुमता तस्मिन् इस वातिक से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो पञ्चपटु में ठक् प्रत्यय को निमित्त मान कर पुंवद्भाव नहीं हो सकता । वहाँ अन्ततो गत्वा लुप्ततद्धितलुकि से डीप् का लुक् ही मानना होगा । डीप् के लुक् को स्थानिवत् हो कर पटु के उकार को यण् प्राप्त होता है । उस का रोकने क लिये लुक् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना आवश्यक है । न केवल यह पञ्चपटु ही क्रीतार्थक नार्हाय ठक् प्रत्यय वाला लुक् का उदाहरण है या क्रीतार्थक तद्धित ही लुक् विषय में स्थानिवद्भाव निषेध के उदाहरण हैं बल्कि और अर्थों वाले भी तद्धित हैं जो लुक् के उदाहरण में प्रयोजन रखते हैं । जैसे पञ्चेन्द्रः । पञ्चाग्निः । यहाँ पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य इति इत्येव देवता अर्थ में सास्य देवता से अण् प्रत्यय होता है । इन्द्राणी शब्द इन्द्रस्य स्त्री इस पुयोग अर्थ में इन्द्रवरुण० से लीय प्रत्यय तथा आनुक आगत कर के बनता है । इसी प्रकार पञ्च अप्राग्यः देवता अस्य स पञ्चाग्निः । यहाँ अप्रायी शब्द वृषाकन्यग्नि० से अग्नेः स्त्री इस अर्थ में डीप् प्रत्यय तथा ऐकार भाद्रस करके बनता है । देवता रूप तद्धितार्थ में पञ्चेन्द्राणी तथा पञ्चाप्रायी ये दोनों द्विगु समास हैं ।

उपधात्वे किमुदाहरणम् ?

पिपटिपतेरप्रत्ययः पिपटीरिति ।

नैतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि सौरी बलाका ।

उम से विधीयमान अण् प्रत्यय का द्विगोलुगनभ्ये से लुक् हो जाता है। लुक् ताद्वत्लुकि स पञ्चन्द्राणा ने टाप् का तथा पञ्चाभ्यामी में ङीप् का लुक् भी साथ ही हो जाता है। ङीप् के साथ सनियोगशिष्ट भानुक् भागम का तथा ङीप् क साथ सनियोग शिष्ट ऐकार आदेन का लुक् स्वयमेव प्रत्ययों के साथ ही हो जाता है। क्योंकि सनियोग शिष्टानामन्यतरागवे उनपौरुष्यभाव इस परिभाषा से सनियोग शिष्ट=एक साथ विहित कार्यों में एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव भी स्वतः होता है। ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर भानुक् भागम का ध्रुवण प्राप्त होता है। इसी प्रकार टाप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर ऐकार का ध्रुवण प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवद्भाव का निरोध कहने से नहीं होता। इन्द्राणा अभ्यामी शब्दों के भाष्यतपुस्क न होने से उन्हें पुत्र् ना नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ भानुक् भागम अथवा ऐकार आदेन का ध्रुवण रोकने के लिये स्थानिवद्भाव के निरोध का अत्यन्त आवश्यकता है। यदि टाप् टाप् के अभाव में भानुक् अथवा ऐकार आदेन न भी प्राप्त हों तो भी ङीप्, ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर पञ्चन्द्र पञ्चाग्निः में भग्नि और इन्द्र क इकार अकार का वस्यति च से लोप तो सर्वथा प्राप्त है ही उस को भी रकने के लिये लुक् में स्थानिवत् का निरोध करना आवश्यक है।

उपधा विषय में क्या उदाहरण है ?

निरु) यह उपधा विषयक उदाहरण है। यहाँ सक्रान्त विपटिप धातु से क्विप प्रत्यय पर रहते अतो लोपः से सन् के अकार का लोप हुआ है। उस का स्थानिवत् मान कर उपधा में इक् न रहेगा तो बौद्धपथाया ३पं इक् स दीर्घ नहीं प्राप्त होता। उपधा कार्य में स्थानिवत् का निरोध कहने से हो जाता है।

यह कोई उदाहरण नहीं। दीर्घ विधि में स्थानिवत् का निरोध किया है यह उसा न मित्र हा जायगा।

तो फिर सौरी बल का यह उदाहरण लाजिय। मूलन एधदिह्, सुयो देवता मन्वा वा। ( मूर्ध-अण् टाप् ) यहाँ टाप् पर रहत अण् क अकारलोप को, और अण्

नैतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पारिखीयः ।

‘चङ्परनिर्हासे चोपसंस्थानं’ कर्तव्यम् । वादितवन्तं प्रयोजितवान् ।  
अवीवदत् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

योऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति ।

परे रहते सूर्य के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उपधा में यकार न मिलने से सूर्यतिष्यागस्त्य० से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । उपधाकार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यलोपविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह भी सिद्ध हो जायगा ।

तो फिर पारिखीयः यह उदाहरण लीजिये । परिखाया अदूरभव पारिख । पारिखे भवः पारिखीयः । यहाँ परिखा शब्द से अदूरभव अर्थ में चातुरथिक अण् प्रत्यय परे रहते यस्येति च से परिखा के आकार का लोप हुआ है । फिर पारिख शब्द के वृद्धसंज्ञक और खकार उपधा वाला होने से उस से परे वृद्धादकेकान्तखोपधात् से शैथिक छ प्रत्यय होता है । परिखा के आकार लोप को स्थानिवत् मान कर पारिख शब्द के खकार उपधा वाला न रहने से छ प्रत्यय नहीं प्राप्त होता । उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ?

चङ् परे रहते होने वाले ह्रस्व में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये वादितवन्त प्रयोजितवान्=अवीवदत् । यहाँ णिजन्त वद् धातु से दूसरा णिच् हुआ है । णेरनिष्ठि से दोनों णिच् प्रत्ययों का लोप हो जाता है । चङ्-परक णि परे रहते णौ च्पुपधाया ह्रस्व- से वाद् के उपधाभूत आकार को ह्रस्व होता है ।

क्या कारण है जो अवीवदत् में चङ् परे होने वाला ह्रस्व नहीं सिद्ध होता । जिस के लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की आवश्यकता है ।

अवीवदत् में दूसरा णिच् परे रहते जो पहले णिच् का लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर वादि में आकार के उपधा में न आने से णौ चङ्युपधायाः से उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । चङ् परे होने वाले ह्रस्व में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से णि का व्यवधान न रहेगा तो ह्रस्व हो जाता है ।

ननु चैतदप्युपधात्वचिधिं प्रति न स्थानिवदित्येव सिद्धम् ।

विशेषत एव तद् वक्तव्यम् । क । प्रत्ययविधौ इति । इह मा भूत् ।  
पठयति लघयति ।

कुत्वे चोपसंख्यानं कर्तव्यम् । अर्चयतेर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ।

नैतद् घञन्तम् । औणादिक एष कप्रत्ययः । तस्मिन् आप्टमिकं  
कुत्वम् ।

एतदपि णिच्चा व्यवहितत्वाच्च प्राप्नोति ।

अबीवदत् में उपधा ह्रस्व भी तो उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव के निषेध कथन से ही सिद्ध है । फिर उस के लिये चङ्परक ह्रस्व में वृथक् स्थानिवद्भाव के निषेध कथन की क्या आवश्यकता है ?

उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध विशेष कार्य के लिये कहना होगा । कहाँ ? जो प्रत्यय विधि है । अर्थात् जहाँ उपधा मान कर प्रत्यय का विधान किया जायगा वहीं उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध होगा । सर्वत्र नहीं । जैसे— पारिगोप्यः इस पूर्वोक्त उदाहरण में पारिगोप्य शब्द को रोपध मान कर छ प्रत्यय का विधान करने में आकारलोप को स्थानिवत् नहीं माना गया है । किन्तु जहाँ उपधा कार्य में किसी प्रत्यय का विधान नहीं है वहाँ स्थानिवत् का निषेध नहीं होगा । जैसे—पठयति लघयति । पठ् लुं वा आचष्ट । ( पठ् लु-णिच् ) यहाँ उपधावृद्धि रूप उपधाकार्य में पठ् के उकार लोप में स्थानिवत् का निषेध न होगा तो उकार लोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होती । इस लिये अबीवदत् यहाँ चङ्परक ह्रस्व में वृथक् स्थानिवद्भाव का निषेध कहना आवश्यक है ।

पुर्य में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । अर्चयते इति अर्कः । मर्चयते इति मर्कः । यहाँ णञन्त अर्चं मर्चं धातुभो से घञ् प्रत्यय परे रहते णेरनिटि से णि का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर णि का व्यवधान ही जायगा तो चञो. उण्डित्ययो. से अर्चं मर्चं के चकार को पुरर नहीं प्राप्त होता । पुरर विधान में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

अर्चं. मर्चं. इन उदाहरणों को घञ् प्रत्यय कर के नहीं बनायेंगे । अपि तु णिञन्त अर्चं मर्चं धातुभो से औणादिक क प्रत्यय करके बनायेंगे । क प्रत्यय के सहादि होने से उस के पर रहने अष्टमाध्यायस्थ चोः कुः से चकार को पुरर सिद्ध हो जायगा । णिञोप भी क प्रत्यय परे रहते हो ही जायगा ।

चो पुः से विधीयमान पुरर भी अर्चि मर्चि में णिच् का व्यवधान होने से

पूर्वत्रासिद्धे च ।

‘पूर्वत्रामिद्धे च न स्थानिवदिति’ वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजन क्सलोप सलोपे ।

क्सलोपः सलोपे प्रयोजनम् । अदुग्ध अदुग्धाः । ‘लुग्वा दुहदिह-  
लिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये’ इति लुग्ग्रहण न कर्तव्य भवति ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे प्रयोजनम् । धत्से धद्धे धद्धम् ।  
दधस्तथोश्चेति चकारो न कर्तव्यो भवति ।

नहीं प्राप्त होता । इस लिये कुत्व विधान में स्थानिवद्भाव क निषेध को सर्वथा आवश्यकता है ।

पूर्वत्रासिद्धम् इस सूत्र से ऐ कर समाप्ति पर्यन्त अष्टाध्यायी के पिछले तीन पाद पूर्वत्रासिद्धीय या त्रिपादी कइते हैं । उस प्रकरण के सूत्रों क कार्य में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? कस के अकार का लोप सलोप में प्रयोजन है । अदुग्ध, अदुग्धा ( दुह् क्स लुङ् त, धास् ) यहाँ दुह् धातु से लुङ् में चिञ् को कस होता है । त, धास् परे रहते लुग्वा दुहदिहलिहगुहा० से क्स का लुक् न कर के यदि कस के अकार का लोप करे तो भी दोष न होगा । पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में स्थानिवत् का निषेध कहन से पूर्वत्रासिद्धीय श्लो श्लि सूत्र से कस के अवशिष्ट सकार का लोप करने में कस का अकार लोप स्थानिवत् न होगा तो श्ल परे मिल जाने से कस के सकार का लोप हो जाता है और लुग्वा दुहदिह० सूत्र में लुक् ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । यद्यपि अदुहदि यद्वा वहि प्रत्यय के लिये तो लुक् ग्रहण करना अनिवार्य है क्योंकि वहि में वकार के श्ल न होने स श्लो श्लि से वद्वा कस के सकार का लोप नहीं हो सकता । फिर भी त धास् ध्वम् इन तीन दन्त्य आत्मनेपद प्रत्ययों के परे रहते लुक् ग्रहण करना व्यर्थ है । वद्वा कस के लोड से भी काम चल् जायगा । कस क अकार लोप में स्थानिवत् का निषेध हो जायगा तो श्लो श्लि स सकार का लोप निरार्थ सिद्ध हो जायगा ।

द्वित्व हुए धा धातु के अकार का लोप उस के दकार को आदिचतुर्थ धकार अक्षर करने में प्रयोजन है । धत्से । धद्धे । धद्धम् । ( धा-लट् से, ध्वे लोट्-ध्वम् )

हलो यमा यमि लोपे ।

हलो यमां यमि लोपे प्रयोजनम् । आदित्यः । हलो यमां यमि लोपः सिद्धो भवति ।

अल्लोपणिलोपौ सयोगान्तलोपप्रभृतिषु ।

प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ।

द्विर्वचनादीनि च ।

द्विर्वचनादीनि च न पठितान्यानि भवन्ति । पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति । किमविशेषेण ? नन्त्याह ।

यहां धा धातु से लट् लोट् में से ध्ने परे रहते दध् को श्लु हो कर द्वित्व हो जाता है । अनान्यमनयोरान्त से धा के आकार का लोप हो कर दध् होता है । पूर्वत्रासिद्ध कार्य में स्थानियन् का निरोध कहने से पूर्वत्रासिद्धीय एकाचो वशो भप्० से दध् के दकार को धकार करने में धा का आकारलोप स्थानियन् न होगा तो सप्तम्व हो जान से एकाचो वशा भप्० से द को ध हो जाता है । इस से दधस्तथोश्च में धकार भी नहीं लगाना पड़ता । क्योंकि से ध्ने परे रहते एकाचो वशो भप्० से ही द का ध हो जायगा ।

हलो यमां यमि लोप में यकार का लोप होना प्रयोजन है । आदित्यः । आदित्य नम ( आदित्य-ण्य ) यहां आदित्य शब्द से नम अर्थ में दित्यदित्या-दित्य० से ण्य प्रत्यय परे रहते यरयेति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है । पूर्वत्रासिद्धीय हलो यमां यमि लोप से आदित्य के यकार का लोप करने में अकार का लोप स्थानियन् न होगा तो यम् से परे व्यवधानरहित यम् हो जाने से आदित्य के यकार का लोप हो जाता है ।

सयोगान्तलोप आदि करने में अकारलोप और णिलोप प्रयोजन हैं । पापच्य । पाचि । पाष्टि । याष्टि । यहां यदन्त पापच्य यायज्य धातुओं में णिन् परे रहते अतो लोप से यष्ट् के अकार का लोप हुआ है । इसी प्रकार पापच्य याष्टि णिदन्त पष् यत् से णिन् परे रहते णिलोप हुआ है । पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के णः । प्रवरभ्रम्ब्रगृत्तृन् । मूर्ध्नि में वृत्त परत करने में अकार-लोप और णिलोप स्थानियन् न होंगे तो णन् परे हो जाने से पापचिः में वृत्त और यापष्टिः में परत हो जाता है । इसी तरह पाक्तिः में नुत्त और याष्टिः में

वरे यलोपस्वरवर्जम् ।

वरे यलोपं स्वरं च वर्जयित्वा ।

तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेपु ।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेपु । संयोगादिलोपे-काक्यर्थम् । वास्यर्थम् । 'स्कोः संयोगाद्योरिति लोपः प्राप्नोति ।

पठ् होता है । स्कन्दयतीति स्कन् । काष्ठ तक्षयतीति काष्ठतक् । दोहयतीति धोक् । लेहयतीति लेट् । इत्यादि प्रयोगों में णिलोप को स्थानिवत् न मान कर संयोगान्त लोप घट्त्व डत्व आदि पूर्वत्रासिद्धीय कार्य हो जाते हैं । पदान्तविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध से भी स्कन् आदि में संयोगान्त लोप आदि सिद्ध हो सकते हैं इसी लिये भान्यकार ने ये उदाहृत नहीं किये ।

पूर्वत्रासिद्धीय कार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से न पदान्त० सूत्र में द्विवचन आदि भी नहीं पढ़ने पढ़ेंगे । क्योंकि प्रायः सभी पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के हैं । क्या सामान्यतया सभी नहीं पढ़ने पढ़ेंगे ? नहीं । वरे यलोप और स्वर को छोड़ कर । न पदान्त सूत्र में द्विवचन सवर्णानुस्वार दीर्घ जश् और चर् विधिये सब पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण की होने से इन के पढ़ने की आवश्यकता नहीं । पर वरे यलोप स्वर विधि तो पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण की न होने से सूत्र में पढ़नी ही होंगी ।

पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से संयोगादिलोप, लत्व और णत्व में दोष प्राप्त होता है । क्योंकि ये कार्य भी पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के हैं किन्तु इन में स्थानिवद्भाव का निषेध इष्ट नहीं है । संयोगादिलोप जैसे—काक्यर्थम् । वास्यर्थम् । ( काकी+अर्थम् । वासी+अर्थम् ) यहाँ इने यणन्ति से यणादेश हुआ है । उस से क् स्क् इस पदान्त संयोग में ककार सकार के आदि में हो जाने से स्को संयोगाद्योरन्ते च से ककार सकार का लोप प्राप्त होता है । यणादेश को स्थानिवत् माने तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध प्राप्त होता है । उस निषेध का संयोगादिलोप में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो संयोगादि ककार सकार न मिलने से लोप नहीं होता । एत्वं जैसे—निगार्यते निगत्यते । ( नि गृ णिच् यक् एट् त ) यहाँ णिजन्त गृ धातु से यक् परे रहते णिच् का लोप हुआ है । उस से अच्

१. दोष = अतिप्रसक्ति । संयोगादिलोप आदि विधियों में स्थानिवद्भाव का प्रतिप्रसव (निषेध का निषेध) करना चाहिए ।



लत्वम्-निगार्यते निगाल्यते । 'अचि विभापेति' लत्वं न प्राप्नोति ।  
णत्वम्-मापवपनी । त्रीहिवपनी । 'प्रातिपदिकान्तस्येति' णत्वं प्राप्नोति ।

द्विवचनेऽचि ॥११॥५९॥

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्धतो द्विवचनम् ।

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्धतः । त्रिवचनः । आदेशयतो द्विवचनं  
प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ?

तत्राभ्यासरूपम् ।

तत्राभ्यासरूपं न सिध्यति । चक्रतुः चक्रुः इति ।

परे न रहने से अचि विभापे से ग के रेफ का विकल्प से लत्व नहीं प्राप्त होता ।  
णियोप का स्थानिवत् माने तो पूर्वनासदे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध  
प्राप्त होता है । उस निषेध का लत्व में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो  
अच् पर मिल जान से लत्व विकल्प से ही जाता है । णत्व जैसे—मापवपनी  
मीहिवपनी । (मापणा मीहीणां वा वपनी) यद्वा ल्युङन्त वपन शब्द से णिप्  
परे रहते यर्थात् च से अकार का लोप हुआ है । उस से वपन शब्द के नकारान्त  
हो जाने से प्रातिपदिकान्तुम्भञिषु च स वैकल्पिक णत्व प्राप्त होता है ।  
अकारलोप का स्थानिवत् माने तो पूर्वनासदे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध  
प्राप्त होता है । उस निषेध का णत्व में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है  
तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार न रहने से णत्व विकल्प नहीं होता ।

अत्र स्थानिवत् पूर्वपिणो की तरह इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव  
को भी शर्थादिना मानने हुए प्रश्न करते हैं कि आदेश में स्थानी के समान  
कार्य का भविदन्त होने से तद्धत=उस वाक को । त्रिवचन=त्रिस वाले को ।  
आदेशयत्=आदेश वाले शब्द को ही द्वित्व प्राप्त होता है । अर्थात् आदेश में  
समाना क कार्य का भविदन्त होने पर भी द्वित्व तो आदेश वाले शब्द को ही होगा ।

उस में क्या दोष है ?

उस में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता । जैसे—चक्रतुः चक्रुः । यद्वा  
पृ-भ्युग इय भवत्वा मे दृशे यर्थात् से यच् हो कर कृ में अच् न रहने से  
चि ट धातरन्-व्याप्तय से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । द्विवचनेति से स्थानिवद्भाव  
द्वारा यच् में क के अच् कार्य का भविदन्त होने पर भी कृ रूप न होने से यच्  
पुष्प क का ही द्वित्व होगा, जिस से अभ्यास में अकार नहीं गुनाई देगा ।

१ यदचि स्थानिवद्भाव होने पर द्विवचन इत्यत्र दे, यच् नी तो निय दे,  
जी भी पर देने में यद्दे यच् होगा ।

अञ्ग्रहण तु ज्ञापक रूपस्थानिन्द्रभावस्य ।

यद्यमञ्ग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो रूपं स्थानिवद्भवतीति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । अञ्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम् । इह मा भूत् जेघ्रीयते देधीयते । यदि च रूपं स्थानिवद् भवति ततोऽञ्ग्रहणमर्थवद् भवति । अथ हि कार्यं नार्थोऽञ्ग्रहणेन । भवत्येवात्र द्विर्वचनम् ।

तत्र गाड्प्रतिषेध ।

तत्र गाडः प्रतिषेधो वक्तव्यः । अधिजगे । इवर्णाभ्यासता प्राप्नोति ।

यह कोई दोष नहीं । द्विर्वचनेचि सूत्र में अञ्ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि इस सूत्र से पूर्व सूत्र के समान आदेश में स्थानी के कार्य का अतिदेश न होकर स्थानी के रूप का अतिदेश होता है । यह सूत्र कार्यातदेश नहीं बल्कि रूपातिदेश है । अञ्ग्रहण कैसे ज्ञापक हुआ ? क्योंकि अञ्ग्रहण का यह प्रयोजन है कि जेघ्रीयते देधीयते ( प्रा, ध्मा यड ) यद्वा प्रा धातु से यड परे रहते ई प्राभो से हुआ प्रा के आ को ईकार आदेश स्थानिवत् न होवे । यद् प्रत्यय अजादि न होकर हलादि है इस लिये उस क परे रहते स्थानिवत् नहीं होता । यदि यद्वा रूप स्थानिवत् होकर ईकार आदेश में प्रा के आकार रूप का अतिदेश होगा तो अभ्यास में ईकार का रूप हट कर आकार रूप आ जाने से जाघ्रीयते देधीयते ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है उस को रोकने के लिये अञ्ग्रहण करना सार्थक बनता है । अन्यथा यदि कार्य का अतिदेश है तो ईकार आदेश में प्रा स्थानी के अच कार्य का अतिदेश होकर घ्री शब्द को ही द्वित्व हो जायगा । उस से जेघ्रीयते देधीयते यह शुद्ध रूप बने रहने से अञ्ग्रहण व्यर्थ है । अच् का कार्य द्वित्व तो घ्री को हो ही रहा है । फिर अन् ग्रहण ने क्या व्यावर्त्य किया । इस लिये चमत्तु चकु में कृ रूप का अतिदेश होगा तो अभ्यास में अकार सुनाई दे जायगा ।

इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव में रूपातिदेश मानन पर इङ् के स्थान में हुप् गाड् आदेश में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । अधि-जगे । ( अधि इङ् गाड्- लिट त पश् ) यद्वा अधिपूर्वक इङ् धातु से लिट में द्वित्वनिमित्तक अच् प्रत्यय एघ्र परे रहते गाड् णिटि से इङ् को गाड् आदेश हुआ है । उसको द्विर्वचनेचि स स्थानिवद् हो जायगा तो अभ्यास में इकार रूप का श्रवण प्राप्त होता है ।

न यकन्यः । गाड् लिटि इति द्विलकारको निर्देशः । लिटि लकारादाविति ।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपम् ।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपं न सिध्यति । पृति—अचि-  
कीर्तित् । एजन्त—जग्ल मग्ले । दिवादि—दुद्यूपति । नामधातु—भवन्-  
मिच्छति भवनीयति । भवनीयतेः सन् विभनीयपति ।

गाड् भादेन मे स्थानिवज्जाय के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । गाड् लिटि में गाड् लिटि इस प्रकार दा एकार वाला निर्देश समझ कर एकारादि लिट् की लारस्था में ही इह् का गाड् भादेन क्रिया जायगा । एर् पर रहते नहीं । तो द्वित्व का निमित्त अच पर न हाने से स्थानिवज्जाय न होगा ।

द्विर्वचनेऽचि सूत्र का यदि यह अर्थ करते हैं कि अच् पर रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदत्त, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है तो निजन्त कृति धातु, एजन्त, दिवादि, और नामधातुओं में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता । कृति जैसे—अचिर्भर्तुः । ( कृत् णिन्-चङ्-लुङ् ।त्त् ) यहाँ चुरादिगण-पठित् कृत् धातु से लुङ् में णिन् पर रहते उभवादात्त से कृत् के ऋकार को इकार भादत्त हुआ है । उस का द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवज्जाय हो जायगा तो अभ्यास में इकार न सुनाई दकर अचर्भर्तुः ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

एजन्त जैसे—जग्ले मग्ले । ( ग्लै ग्लै लिट् त एम् ) यहाँ ग्लै धातु से कर्मगाय्य लिट् में एम् पर रहते आदिच उपदेशोऽविति से ग्लै के ऐ का आकार हुआ है । उस का द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवज्जाय हो जायगा तो अभ्यास में आकार न सुनाई दकर जग्ले मग्ले ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

दिवादि जैसे—दुद्युपति सुसूपात् ( दिव्, सिव्-सन् ) यहाँ सन्नन्त दिव् धातु में हन्गाय्य से सन् को क्तिव् हाकर उस के पर रहते च्चो- शङ्नुनाति के च से दिव् के वकार का ऊर् हाता है । ऊर् पर रहते इय यणति से हुआ यणादेन द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में इकार सुनाई दकर दिव्पति सिव्पति ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

नामधातु जैसे—भवन्नामन इच्छति भवनीयति । ( भवन् भव्-वच् ) भवन्-  
इच्छतिभ्यो न । भवन्नामन इच्छति । यहाँ वचन्त भवनीय नामधातु से सन् पर रहते भवन्  
वच् में नू का हुप् भा गुण का द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवज्जाय हो जायगा  
तो अभ्यास में उकार सुनाई दकर भवन्नामन इच्छति ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

१ इय सूत्र के अर्थ में पाँच पक्ष प्रभव होते हैं । (१) अच् पर रहते हुआ

एवं तर्हि प्रत्यय इति वक्ष्यामि ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्यजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपम् ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्यजन्तनामधातुष्वभ्यासरूप न सिध्यति ।  
दिवाद्य एके परिहृताः ।

एवं तर्हि द्विर्वचननिमित्ते अच्यजादेशः स्थानिवदिति वक्ष्यामि ।

अच्छा तो द्विर्वचनेऽचि सूत्र मे प्रत्यय शब्द जोड़ कर द्विर्वचनेऽचि प्रत्यये ।  
ऐसा सूत्र बना देंगे । उसका अर्थ होगा—अजादि प्रत्यय पर रहते हुआ जो अच्  
के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । उस से दोष  
न होगा ।

द्विर्वचनेचि प्रत्यये । ऐसा सूत्र बना देने पर भी णिजन्त कृत् धातु, एजन्त  
और नामधातुओं में दोष रहता है । केवल दिवादियों का ही परिहार हो सकेगा ।  
क्योंकि ङुष्पति सुस्यूपति में ऊर् अजादि प्रत्यय नहीं है बल्कि आदेश है ।  
अचिकीर्तत् में णिच्, जग्ले मग्ले में एश्, और विभवनीयिपति में भवन शब्द  
का ल्युट् (अन) प्रत्यय ये सब अजादि प्रत्यय हैं । इन में अभ्यासरूप नहीं  
सिद्ध होता ।

तो फिर द्विर्वचननिमित्तक अच् पर रहते अच् के स्थान में आदेश स्थानिवत्  
होता है ऐसा कहेंगे । अचिकीर्तत् में णिच्, विभवनीयिपति में ल्युट्, और दुशूषति  
में ऊर् द्वित्व के निमित्त नहीं हैं इस लिये स्थानिवत् न होने से दोष न होगा ।  
जग्ले मग्ले का परिहार तो अब भी न हा पाया क्योंकि एश् द्वित्व का निमित्त  
अच् है । उस का परिहार आगे करेंगे ।

जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । (२) अजादि  
प्रत्यय पर रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत्  
होना है । (३) द्वित्व निमित्तक अच् पर रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश,  
वह स्थानिवत् होता है । (४) द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहत अच् के स्थान में आदेश  
था निषेध होता है । अर्थात् आदेश नहीं होता । (५) द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहते  
हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में ही स्थानिवत् होता है उस  
के बाद नहीं । अथवा—द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहते द्वित्व करने तक ही अच् के  
स्थान में आदेश नहीं होता । उसके बाद हो जाता है । इन में पाचवा पक्ष ही निर्दोष  
होने से स्वीकार किया गया है । क्रम से पाचों पक्षों को दिखाते हुए पहले प्रथम पक्ष  
को उपस्थित करते हैं—कृत्यजन्त० इत्यादि ।

स तर्हि निमित्तशब्द उपादेयः । नह्यन्तरेण निमित्तशब्द निमित्तार्थो गम्यते ।

अन्तरेणापि निमित्तशब्द निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा दधिप्रपुस प्रत्यक्षो ज्वरः । उग्रनिमित्तमिति गम्यते । नड्यलोदक पादरोगः । पादरोगनिमित्तमिति गम्यते । आयुर्धृतम् । आयुषो निमित्तमिति गम्यते ।

अथवा अरारो मत्वर्थायः । द्विवचनमस्मिन् अस्ति सोऽय द्विवचनः । द्विवचने इति ।

द्विवचननिमित्तक भव पर रहते स्थानिन् मानने में सूत्र में निमित्त शब्द पठना चाहिये । द्विवचनेऽचि के स्थान में द्विवचननिमित्तेऽचि ऐसा सूत्र बनाना चाहिये । क्योंकि निमित्त शब्द बिना पठ निमित्त का अर्थ नहीं जाना जायगा ।

निमित्त शब्द बिना पठे भी निमित्त का अर्थ समझ लिया जायगा । जैसे—दधिप्रपुस प्रत्यक्षो ज्वर ऐसा कहते हैं । उस का अर्थ है—दही और स्तीरे का एक साथ भाजन प्रत्यक्ष उग्र है । यहा निमित्त शब्द के बिना भी प्रत्यक्ष ज्वर का निमित्त है यह समझ लिया जाता है । नड्यलोदकम्=रसाती नदों का पानी पैर का रोग है । निमित्त शब्द क बिना भी पैर क रोग का निमित्त समझ लिया जाता है । या आयु है । यहा निमित्त शब्द के बिना भी आयु का निमित्त समझ लिया जाता है । इसा प्रकार यहा भी द्विवचनेऽचि में द्विवचननिमित्तक भव समझ लिया जायगा । स्मिन् अचि । द्विवचन । द्विवचननिमित्त इत्यर्थे ।<sup>१</sup> उस से द्विवचन का निमित्त भव पर होने पर अनादेश स्थानिन् होता है यह अर्थ निकल जायगा ।

अथवा द्विवचन शब्द में अने आदि को । भाट्टिगण मान कर मत्वर्थाय भव प्रत्यय करग ता अर्थ होगा—द्विवचनमस्मिन् अस्ति स द्विवचन प्रत्यय । तस्मिन् द्विवचन आर प्रत्यय । द्विवचन जिस के पर होता है, जिस में द्विवचन है, जो द्विवचन का निमित्त है यह अनादि प्रत्यय द्विवचन कहायगा । उस स द्विवचन गळ अनादि प्रत्यय पर होने पर अनादेश स्थानिन् होता है यह अर्थ निकल जायगा ।

१ द्विवचन का निमित्त हान स भव ये ही द्विवचन कह दिया गया है ।

अथवा अधिहरण में सुट मान कर ( द्विवचनऽस्मिन् न्ननि द्विवचनम् ) द्विवचन आर का विशेषण ही थायगा । अस्मिन् नह निमित्त यत्नो यमयी थायगी ।

एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालं स्थानिवद्भवतीति । यः पुनराह द्विवचने कर्तव्ये इति, कृते तस्य द्विवचने स्थानिवन्न भविष्यति ।

एवं तर्हि प्रतिषेधः प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते । क प्रकृतः । न पदान्त-द्विवचनेति । द्विवचननिमित्ते अचि अजादेशो न भवतीति ।

एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालमजादेशो न भवतीति । यः पुनराह द्विवचने कर्तव्ये इति । कृते तस्य द्विवचने अजादेशो भविष्यति ।

एवं तर्हि उभयमनेन क्रियते प्रत्ययश्च विशेष्यते द्विवचनं च ।

द्विवचन शब्द का अर्थ द्विवचननिमित्त मान लेने पर यह नहीं मालूम होगा कि कितने समय तक अजादेश स्थानिवत् रहता है । द्विवचन का अर्थ जो द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में स्थानिवत् होगा । द्वित्व करने के बाद स्थानिवत् न रहेगा । किन्तु जब द्विवचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना न होकर द्विवचन का निमित्त हो गया तब द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता । द्विवचनेऽचि में पठित द्विवचन शब्द एक ही है उस से एक ही अर्थ निकल सकता है । या तो द्विवचन का निमित्त अच् या द्वित्व करना । द्विवचन का निमित्त अच् परे रहते अजादेश द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ एक द्विवचन शब्द से नहीं निकलेगा तो कब तक स्थानिवत् होता है यह नहीं मालूम हो सकेगा ।

अच्छा तो ऊपर से निषेध की अनुवृत्ति कर लेंगे । ऊपर कहाँ से निषेध आ रहा है ? न पदान्तद्विवचनवोरयलोप० इस अनन्तर सूत्र से । निषेध की अनुवृत्ति कर के सूत्र का अर्थ होगा—द्वित्व निमित्तक अच् परे रहते अच् के स्थान में आदेश नहीं होता । उस अग्रस्था में आदेश का निषेध हो जाने से आदेश ही न होगा तो स्थानिवद्भास का प्रश्न ही न उठेगा कि कब तक स्थानिवत् होता है ।

द्वित्व-निमित्तक अच् परे रहते अजादेश का निषेध मानने में भी यह नहीं मालूम होता कि कितने समय तक अजादेश का निषेध रहता है । जो तो द्विवचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में आदेश का निषेध होगा । द्वित्व करने के बाद निषेध न होगा तो आदेश हो जायगा ।

अच्छा तो द्विवचनेचि में पठित इस द्विवचन शब्द से दोनों बातें की जायेंगी ।

कथं पुनरुक्तेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह । कथम् । एकशेषनिर्देशात् । एकशेषनिर्देशोऽयम् ।  
द्विवचनं च द्विवचनश्च द्विवचने । द्विवचने कर्तव्ये द्विवचने अत्रि  
प्रत्यये इति ।

द्विवचननिमित्तोऽचि स्थानिवदिति चेष्णौ स्थानिवद्वचनम् ।

द्विवचननिमित्तोऽचि स्थानिवदिति चेष्णौ स्थानिवद्भावो वक्तव्यः ।  
अनुनासिक्यपि अत्रचक्षुष्यपि ।

यद् अत्र प्रत्यय का विसृष्टि नी यनगा और द्वित्व का वाचक नी होगा । द्विवचन  
निमित्तक अत्रादि प्रत्यय पर रहत द्वित्व करन म ही अत्रादस स्थानियत् होगा ।  
द्वित्व क वाद नहीं ।

एक द्विवचन शब्द स उक्त दोनों अर्थ केंस निकल सक्रम ?

एक ही द्विवचन शब्द स उक्त दोनों अर्थ निकल आयग । केंस ? दो  
द्विवचन शब्दा म एकाएक का निर्देश मानन स । द्विवचनेचि म तो द्विवचन  
शब्द है यद् एकाएक का निर्देश है । द्विवचन र द्विवचनश्च शत द्विवचनम् ।  
तस्मिन् द्विवचन प्रत्यय का विसृष्टि एक द्विवचन शब्द पुल्लिङ्ग है । द्वित्व वाचा  
नुसक है । द्विवचनानामत्तक अत्र प्रत्यय पर रहत और द्विवचन करन म  
अत्रादस स्थानियत् हास ह यद् अर्थ एकशेषनिर्देश मान कर सिद्ध हो गाता ।

द्विवचनानामत्तक अत्र पर रहत स्थानियत् कहन म णि पर रहत भी  
स्थानियत् कहना चाहिय । क्याकि णि द्वित्व का निमित्त नहीं है । अनुनासिक्यपि ।  
अनुनासिक्यपि । ( अनु नु धु णि-सन् ) यहाँ णिन्त नु धु धानुभा स सन्  
प्रत्यय हुआ है । सन् पर रहत मय्या स नु धु का प्राप्त द्वित्व यद्विङ्ग है ।  
णि पर रहत नु धु का प्राप्त वृद्धि और भास् भादत अन्तरङ्ग हैं । इस णि  
वृद्धि और भास् भादत पहल हो गात है । णि क द्वित्व का निमित्त न  
होन म इवत्ता म द्वित्व करन म स्थानियत् न होगा ता नास् क्षास् शस्त्वा  
का म्भः । म द्वित्व हाकर अभ्यास म उकार नहीं मुनाई दगा । णि पर  
रहत स्थानियत्ताय कश्च म स्थानियत्ताय हा जायगा ता नु धु का उकार अभ्यास  
म मुनाई व गाता है ।

१ मय्यि ता क अत्रा नें भा दा द्विवचन शब्दसं च णि प्रथम एक एव  
रा मय्या र और एवत्ता म नामकार ता इत् अ व नी ता अ दे इम विषय से  
मं न क णि ससंज्ञानि सयनामानि सूत्र भाष्य पर दा मर्द णि-णी दगिय ।

न वक्तव्यः ।

ओः पुयण्जिपु वचन ज्ञापक गौ स्थानिवद्भास्य ।

यद्यमोः पुयण्ज्यपरे इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति णो स्थानिवद्भाव इति ।

यद्येतज् ज्ञाप्यते अचिकीर्तत् अत्रापि प्राप्नोति ।

तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम् । कश्च तुल्यजातीयः । यथाजातीयकाः पुयण्ज्य- । कथं जातीयकाश्चैते । अर्णपराः ।

णि परे रहते स्थानिवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं । ओ पुयण् यपरे सूत्र में पु अर्थात् पवर्ग, यण् ( य र ल व ) प्रत्याहार, और जकार का ग्रहण करना इस बात का ज्ञापक है कि णि परे रहते स्थानिवत् होता है । अन्यथा विभावायपति थियावविपति रिरावविपति लिलावायपात पिज्जवविपति ( भू, यु, रु, लू, उ णिच्-सन् ) यथा णिच परे रहते भू आदि को हुआ वृद्धि और भाव् आदेश द्वित्व करने में स्थानिवत् न होगा तो अभ्यास में उकार न मिल कर अकार ही मिलेगा । वहाँ सन्वत से ही इच्च सिद्ध हो जायगा । पवर्ग यण् प्रत्याहार और जकार ग्रहण करना व्यर्थ है ।

यदि ओ पुयण् के ज्ञापक से णि परे रहते स्थानिवद्भाव होता है यह बात ज्ञापित होती है तो अचिकीर्तत् यथा भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है । ( कृत्-णिच्-लुङ् तिप् ) कृत् धातु से णिच परे रहते उपवायाश्च से हुआ कृत् की ऋ को इकारादेश स्थानिवत् हो जायगा तो अचिकीर्तत् ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

ओ पुयण्ज्यपरे यह ज्ञापक तुल्यजातीय का है । अपने समान विषय वाले का है । तुल्यजातीय कौन है ? जिस प्रकार के पुयण्णि ( पवर्ग, यण्, और जकार )

१. पिरविपते थियविपति ( पूङ्, यु-रद् सन् ) यथा अपावपते में स्मिपूङ्-रञ्जवशा सनि से सन् को इद् होता है । थियविपति में सनीवन्तर्ध० से पाप्क इद् होता है । द्वित्वनिमित्तक अजादि सन् परे रहते पू यु को हुआ सार्वधातुक्युण और आदेश द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में उकार मिलेगा उसे इकार करने के लिये ओ पुयण् में पू यु का ग्रहण करना आवश्यक है । उस के लिय ओ. पययोः इतना सूत्र पर्याप्त है । शेर पवर्ग, यण् प्रत्याहार तथा जकार का ग्रहण तो सर्वथा इस बात का ज्ञापक है कि णि परे होने पर भी स्थानिवद्भाव होता है ।



कथं जग्ले मग्ले ।

अनेमित्तिकमात्स्यं, शित्ति तु प्रतिषेधः ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । आटिटत् ।

हैं । पुषण्ति किस प्रकार के हैं ? अवर्णपरक हैं । अर्थात् परगं यण् जकार के तुन्वजातीय अक्षर में ही णि परे रहते स्थानियज्ञाय होगा । जिस प्रकार विभावयिषति आदि में णि परे रहते वृद्धि भास् आदेश होकर भास् यास् रास् जास् में अवर्णपरक पुषण्त् हैं वैसे जहां अवर्ण परे होगा वहीं णिच् में स्थानियज्ञाय होगा । अचिचेत्ता में इकारादेश के अवर्ण-परत्वसम्पादक न होने से वहां स्थानियज्ञाय नहीं होगा ।

जग्ले मग्ले कैसे बनेंगे । यहां द्वित्वनिमित्तक भच् एम् परे रहते आदेश उपदेशोपज्ञात से ग्ले के णे को भाकार हुआ है । द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानियज्ञाय प्राप्त होता है ।

जग्ले मग्ले में आदेश उपदेश से ग्ले को भाकार आदेश अनेमित्तिक होता है एन प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ । यत्कि एन् जाने से पहले ही शिना किसी निमित्त के हो जाता है । उस से द्वित्व निमित्तक भच् परे रहते आदेश न होने से स्थानियज्ञाय नहीं होगा । आदेश उपदेशोपज्ञात में अशित्ति यह पर्युदास न हो कर प्रमज्ज्यप्रतिषेध है । शिद्भिन्न प्रत्यय परे रहते भाकार नहीं होता । यत्कि शिना निमित्त के होता है । निष् परे रहते भाकार का निषेध होता है । इस प्रकार द्विर्वचनेचि मूय के अर्थ में उन सभी दोषों का समाधान हो जाता है ।

इस मूय के क्या प्रयोजन हैं ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । चरतुः चरुः । ( पा, स्था, गम्, ट् शिट् भतुम् उम् ) ये इस मूय के प्रयोजन हैं ।

पपतुः यहां पा-भतुम् इस अवस्था में आगे तीव्र इटि न से भा का खोप होकर भच् न रहने से शिटि पा गो रन से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानियज्ञाय हो कर स्थानिरूप पा को द्वित्व हो जाता है ।

जग्मतुः यहां गम्-भतुम् इस अवस्था में गनहनजनगनपगो से उपधा-खोप हो कर भच् न रहने से शिटि पा गो से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानियज्ञाय से हो जाता है ।

आशिशत् । चक्रतुः चक्रुरिति । आल्लोपोपधालोपणिलोपयणादेशेषु कृतेष्वनञ्कत्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । पूर्वविप्रतिषेधेनाप्येतानि सिद्धानि । कथम् ? वक्ष्यति ह्याचार्यः—‘द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिक्नोरुत्वेभ्यः’ इति ।

स पूर्वविप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

चक्रतुः यहाँ कृ अतुस् इस अवस्था में इको यणचि से यणादेश होकर अच् न रहने से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानिवद्भाव से हो जाता है ।

आटिटत् आशिशत् यहाँ णेरनिटि से णि का लोप होकर अद् धातु में दूसरा अच् न रहने से चडि से टि शब्द को द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानिवद्भाव से हो जाता है । इन सब उदाहरणों में द्वित्व की अपेक्षा आलोप उपधालोप आदि नित्य हैं इस लिये द्वित्व को बाध कर उस से पहले हो जायेंगे । फिर द्वित्व प्राप्त नहीं होता । उस के लिये इस सूत्र से स्थानिवद्भाव की आवश्यकता है ।

ये कोई प्रयोजन नहीं । पूर्व विप्रतिषेध से भी ये सब सिद्ध हो जायेंगे । कैसे ? दाखान् साहान् मीड्वाश्च सूत्र पर आचार्य यह वार्तिक कहेंगे कि—द्विर्वचनं यणयवायावादेशः इत्यादि । इस वार्तिक का अर्थ है—यण्, अय्, अच् आय् नान् आदेश, आकारलोप, उपधालोप, णिलोप और किं किन् प्रत्ययों में उच्च इन सब को पूर्व विप्रतिषेध से बाध कर द्वित्व होता है । यह पूर्वविप्रतिषेध वाचनिक है । अन्यथा अनित्य द्वित्व, नित्य आकारलोप आदि से पहले कैसे हो सकता है । इस वचन के सामर्थ्य से आकारलोप उपधालोप आदि से पहले द्वित्व हो जायगा । उस के बाद आकारलोप आदि किये जायेंगे तो पपतुः पपुः आदि सब ठीक बन जायेंगे ।

इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान कर देने से उस पूर्वविप्रतिषेध के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती ।

इन दोनों बातों में कौन अधिक उपयोगी है ? यह स्थानिवद्भाव विधान करे या वह पूर्वविप्रतिषेध पढ़े ?

स्थानिवद्भाव एव ज्यायान् । पूर्वप्रतिषेधे हीदं वक्तव्यं स्यात्—  
ओदौदादेशस्य उद् भवति चुट्टुशरादेरभ्यासस्येति ।

ननु च त्वयापीत्य वक्तव्यम् ।

परार्थं मम भविष्यति सन्यत इद् भवतीति ।

ममापि तर्हि उच्चं परार्थं भविष्यति । 'उत्परस्यातस्ति चेति' ।

इस सूत्र से स्थानिवद्भाव विधान करना ही अधिक उपयोगी है । पूर्वविप्रति-  
षेध पढ़ने पर यह भी कहना होगा कि—ओदौदादेशस्य० इत्यादि । इस वचन  
का अर्थ है—जहाँ ओ औ को कोई आदेश हुआ है ऐसे अक्षर का जो चरगं टवर्ग  
तरगं और शर् प्रत्याहार के अक्षर आदि में रखनेवाला अभ्यास है उस के  
अकार को उकार होता । उस से चुक्षावयिपति ऊर्णनावयिपति तुनावयिपति  
तुतावयिपति शुभावयिपति पुस्फारवियात् ( धु, ऊर्णु, नु, तु, ध्रु, स्फुद्-णिच्-सन् )  
इत्यादि में अभ्यास के अकार को उकार किया जाता है । यहाँ ध्रु नु आदि  
णिन्त धातुओं से सन् प्रत्यय हुआ है । सन् पर रहते द्वित्व प्राप्त है ।  
और णिच् पर रहते वृद्धि भाव् आदेश आदि प्राप्त हैं । अन्तरङ्ग होने के  
कारण पहले वृद्धि भाव् आदि आदेश, इस वाचनिक पूर्वप्रतिषेध के होते हुए भी  
किय जाते हैं । क्षाव् नाव् ताव् स्फार आदि शब्दों को द्वित्व होकर अभ्यास में  
मिले अकार को सन्यत से इत्त्व की प्राप्ति में उकार विधान किया गया है ।  
स्थानिवद्भाव कहने से तो णिच् पर रहते वृद्धि भाव् आदि आदेश को द्वित्व करने  
में स्थानिवत् हो जायगा तो द्वित्व होकर अभ्यास में उकार ही मिलने से ओदौ-  
दादेशस्य० इस वचन की आवश्यकता न होगी ।

स्थानिवद्भाव मानने वाले आप को भी णिच् में शपक द्वारा स्थानिवद्भाव  
सिद्ध करने के लिये ओ पुयण्ज्यपरे यह रूप विधायक सूत्र बनाना पड़ेगा ।  
अन्यथा णिच् में स्थानिवद्भाव न होने से अवनुनावयिपति आदि में भी सन्यत से  
इत्त्व प्राप्त होगा ।

स्थानिवद्भाव मानने वाले मुझे जो पुयण० सूत्र द्वारा किसी नये इकार  
का विधान नहीं करना । किन्तु सन्यत से कहा गया इकार ही मेरे मत में  
परार्थं अर्थात् दूसरे विभावावयात् आदि में करने के लिये और चुक्षावयिपति  
आदि में रोकने के लिये ओ पुयण्० सूत्र में उपयुक्त होगा ।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले मुझे भी ओदौदादेशस्य० यह वचन बना कर

इत्त्वमपि त्वया वक्तव्यम् । यत् समानाश्रयं तदर्थम् । उत्पिप-  
विपते संयियविपतीत्येवमर्थम् । तस्मात् स्थानिवदित्येप एव पक्षो  
ज्यायान् ।

किसी नये उकार का विधान नहीं करना । किन्तु उत्परस्यात् ति च इस सूत्र मे  
कहा गया उकार ही मेरे मत में परार्थ अर्थात् दूसर अवनुनावयिपति भादि मे  
करने के लिये और बिभावयिपति भादि मे रोकने के लिये ओशैदादेशस्य० इस वचन  
में उपयुक्त होगा ।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले आप को ओशैदादेशस्य० इस वचन के साथ  
ओः पुयण्० सूत्र द्वारा इकार भी कहना पड़ेगा । जहाँ द्वित्व और अन् भादेश  
आदि दोनों समानाश्रय हैं । समान निमित्त वाले हैं । दोनों में कोई अन्तरज्ञ  
नहीं है उस के लिये इत्त्व विधान करना होगा । जैसे — उत्पिपविपत् । संयियविपति ।  
( उद् पूङ्-इद् सन् ) ( सम् यु इद् सन् ) यहाँ पूङ् और यु धातुओं से सन् परे  
रहते स्मिपूङ्ग्वशां सनि और सनावन्तर्धभ्रस्ज० इन सूत्रों से यथाक्रम इद् का  
आगम होता है । पू यु को सार्वधातुक गुण हो कर द्वित्व और अवादेश दोनों  
एक साथ प्राप्त होते हैं । पूर्वविप्रतिषेध से अवादेश को बाध कर पहले द्वित्व  
हो जायगा तो अभ्यास मे पू यु का उकार सुनाई देगा । उस को रोकने के लिये  
ओः पुयण्० सूत्र से इत्त्व विधान करना होगा । इस प्रकार पूर्वविप्रतिषेध मानना  
गौरवग्रस्त है । इस लिये उसे न मान कर स्थानिवद्भाव का मानना ही अधिक  
युक्त है ।

१ यहाँ भाष्यकार ने अवनुनावयिपति, बिभावयिपति, दुष्पति, अचिह्नित्व  
इत्यादि प्रयोगों की इष्ट सिद्धि के लिये बहुत कुछ ऊहापोह नर के स्थानिवद्भाव का  
विधान ही श्रेयस्कर माना है । जो स्थानिवद्भाव से भी सिद्ध नहीं हुआ उसे तुल्यजातीय  
ज्ञापक का आश्रयण करके समाहित किया है । परन्तु प्राचीन आचार्यों ने इस सूत्र से  
विधीयमान स्थानिवद्भाव पर आश्रित न रह कर पूर्वविप्रतिषेध आदि द्वारा इष्ट  
प्रयोगों की सिद्धि का यत्न किया है । इन दोनों के मध्यस्थ होकर यदि हम अति सुगम  
रीति से पक्षपात छोड़ कर प्रयोगसाधन पर विचार करें तो कुछ अद्भुत तथ्यों का  
पता लगता है । जिज्ञन्त सन्नन्त आदि मिश्रित प्रक्रिया में यथा सामान्य प्रयोगों में  
यदि हम मान लें कि अन्तरज्ञ एव नित्य सभी विधियों को बाध कर पहले द्वित्व हो  
जाता है तो इस में विचारना चाहिये कि कहा दोष आना है । पपत्. चक्रत्. जग्मतु.  
आदि में नित्य आकारलोप आदि को बाध नर पहले द्वित्व हो जायगा तो इष्ट ही सिद्ध

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादेऽष्टमाह्निकम् ।

यहाँ अष्टम आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ ।

होगा । अवनुनासयिपति आदि में अन्तरङ्ग वृद्धि को बाध कर द्वित्व होने से इष्ट सिद्धि ही होती है । विभावयिपति यियावयिपति आदि में भी पहले द्वित्व होकर अभ्यास में उवर्ण को ओ पुयण् से इत्व क्रिया गया है । वस्तुतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से विभावयिपति आदि की अपेक्षा युभावयिपति युवावयिपति आदि ही अधिक अच्छे जंचते हैं । इसी प्रकार दुष्पति सुस्यूपति की अपेक्षा दिष्पति सिस्सूपति का प्रयोग ही अधिक अच्छा लगता है । ओ. पुयण्यपरे यह सूत्र भी सचेत देता है कि अन्तरङ्ग और नियम विधि को बाध कर पहले द्वित्व करो । फिर उम के बाद जो विधि प्राप्त हो वह कर ली जावे । परन्तु सर्वप्रथम द्वित्व को प्रथम मानने से ह्याय अचिकीर्तन् इत्यादि रूप नहीं बनेंगे । ह्याय में पहले द्वित्व कर के पिछले इ शब्द को वृद्धि करने पर उसके स्थानिवन् होने से पूर्व अभ्यास के इ से इयच् नहीं प्राप्त होता । अचिकीर्तन् के स्थान में अचिकीर्तन् प्राप्त होता है । इस लिये लक्ष्यानुरोध से द्वित्व गुण वृद्धि आकारलोप आदि की व्यवस्था माननी होगी । उनके लिये कहीं स्थानिवद्राय, कहीं पूर्वविप्रतिपथ, कहीं अभ्यास को इत्त्व, कहीं उत्त्व ये सभी यथास्थिति समादरणीय हैं ।

## नवम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में अदर्शन लोप ॥१११६०॥ इस सूत्र से ले कर एह् प्राच्य देशे ॥१११७५॥ इस सूत्र तक विभक्त विषयों पर सहासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार यह है—

अदर्शन लोपः ॥१ ११६०॥ (क) अदर्शन अर्थ की लोप संज्ञा सिद्ध करके उसमें प्राप्त इतरेतराश्रय दोष का समाधान किया है।

(ख) लोप संज्ञा में अतिव्याप्ति दोष को हटाने के लिये प्रसक्त के अदर्शन की लोप संज्ञा मानी है।

प्रत्ययस्य लुक् श्लु लुप ॥१११६१॥ प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन उत्तरसूत्रार्थ सिद्ध किया है।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१११६२॥ (क) प्रथम प्रत्यय ग्रहण को अन्यथा सिद्ध कर के उस का खण्डन किया है। साथ ही द्वितीय प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन स्वीकार किया है।

(ख) सूत्र का सामान्य प्रयोजन बता कर लुक्पुपसंख्यानम् इस वार्तिक का खण्डन किया है।

(ग) यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों का समाधान करने के लिये स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानलविधौ इस न्यास को प्रदर्शित कर के उस का भी खण्डन कर दिया है। साथ ही वर्णाश्रय में प्रत्ययलक्षण का निषेध स्वीकार किया है।

(घ) सूत्र के विशिष्ट प्रयोजन बता कर उन की स्थानिवद्भाव से अन्यथासिद्धि का है। स्थानिवद्भाव स सिद्ध होने पर सूत्र को निघनार्थ माना है कि जहां प्रत्ययलोप में प्रत्यय का असा कारण रूप आधीनता है वहाँ प्रत्ययलक्षण होता है सर्वत्र प्रत्ययलोप में नहीं।

न लुमताद्वस्य ॥१११६३॥ यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों के समाधान के लिये न लुमता तस्मिन् इस न्यास को दिखाया है। साथ ही उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ इस वार्तिक की व्याख्या की है। अन्त में न लुमता तस्मिन् का खण्डन करके न लुमताद्वस्य स ही सब दोषों का समाधान कर दिया है।

अलोऽन्यात् पूर्वं उपधा ॥११११६५॥ (क) अल् प्रहण को अन्त्य का विशेषण मानने में प्राप्त दोष का समाधान लोक व्यवहार से किया है ।

(ख) नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारः इस परिभाषा के प्रयोजन बता कर उस का खण्डन भी साध कर दिया है ।

(ग) अलः को प्रथमा बहुवचन या पष्ठी एकवचन न मान कर पञ्चमी का एकवचन स्वीकार किया है ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥११११६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥११११६७॥ (क) दोनों सूत्रों के सामान्य विशेषण दोनों प्रकार के उदाहरण बता कर निर्दिष्ट प्रहण का प्रयोजन बताया है ।

(ख) दोनों सूत्रों का प्रयोजन बता कर उभयनिर्देशो विप्रतिषेधात् पञ्चमी-निर्देशः इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं ।

(ग) पक्षान्तर में दोनों परिभाषासूत्रों को नियामक न मान कर पष्ठीविभक्ति का प्रकल्पक भी स्वीकार कर लिया है ।

स्व रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा ॥११११६८॥ (क) रूप प्रहण को व्यर्थ कर के उस से अर्थवद्प्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा को ज्ञापित किया है ।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस का खण्डन कर दिया है । सूत्र की सत्ता में भी सित् पिन् जित् शिन् य निर्देश कुछ विशेषण सूत्रों के कार्यार्थ स्वीकार किये हैं ।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय ॥११११६९॥ (क) अप्रत्यय के स्थान में अप्रत्यया-देशदित् किन्मित्तः को पठ कर उस का भी भाष्यमानेन सवर्णानां प्रहण न इस परिभाषा द्वारा खण्डन कर दिया है । फिर अप्रत्यय प्रहण से ही उक्त परिभाषा ज्ञापित की है ।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस की सत्ता में भी अक' सवर्णे ऋर्घः इत्यादि अङ् प्रयाहार में प्रत्याप्यमान इकारादि द्वारा अपने सवर्णों ईंमारादि का अप्रहण रूप दोष दिखाया है । माथ ही अस्य च्चौ इत्यादि में अकार के प्रत्याहारचिह्नस्थ अणु न होने से वही सवर्णप्रहण की अप्राप्त दिखाई ई । इस प्रकार व्यक्ति पक्ष में प्राप्त उक्त दोषों का समाधान के लिये अन्त में जाति पक्ष को स्वीकार कर सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

तपरस्तत्कालस्य ॥११११७०॥ (क) कालस्य निर्देश को शुद्ध सिद्ध कर के इस सूत्र को अणु अनणु सर्वत्र तपरों में व्यापृत मानते हुए निरर्थक स्वीकार किया है ।

(ख) ध्वनि और स्फोट ये दो प्रकार के शब्द मान कर ध्वनि भिन्न होने पर भी स्फोट की अभिन्नता सिद्ध की है। उस से द्रुत विलम्बित आदि वृत्तियों के भेद होने पर भी शब्द में कोई भेद नहीं होता यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है।

आदिरन्त्येन सहेता ॥१११७१॥ आदिरिता सह तन्मध्यस्य इम न्यास का लोक व्यवहार से खण्डन न क यथास्थित सूत्र से ही सज्ञा के साथ सज्ञी का भी निर्देश अर्थादापन्न सिद्ध किया है।

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१११७२॥ (क) इको यणचि इत्यादि में तदन्तविधि रोकन के लिये बनाये गये प्रकृते तदन्तविधि इस नये न्यास का खण्डन किया है।

(ख) ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिप्रसङ्ग इस वार्तिक का खण्डन कर के समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेध, उगिद्वर्णग्रहणवर्णम् इन वार्तिकों को स्वीकार किया है।

(ग) सर्वकै निरवक उच्चकै नीचकै, भिनति छिनात्त मे तदन्तविधि सिद्ध करते हुए तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इस परिभाषा को नेदमदसोरको' इस शापक से सिद्ध किया है।

(घ) सूत्र के प्रयोजन बताते हुए पूर्वानिनि सपूर्वाच्च इन सूत्रों से व्यपदेशि-वद्भावोप्रातिपदिकेन यह परिभाषा ज्ञापित की है।

(ङ) पदाङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च ग्रहणम् प्रत्ययग्रहणे चापन्वम्या, अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति इन परिभाषाओं के प्रयोजन बताने हुए अलैवानर्थकेन इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।

(च) यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहणेन इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१११७३॥ (क) सूत्र का पदकृत्य दिक्ता कर वृद्धसंज्ञायामत्रसनिवेशादनादिस्त्रम् इस वार्तिक का खण्डन किया है।

(ख) वा नामधेयस्य, गोत्रान्त्वाद्वाऽसमस्तवल् इन वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है।

त्यदादीनि च ॥१११७४॥ पूर्व सूत्र से यस्याचामादिः ग्रहण की अनुवृत्ति मानी है किन्तु उस का इस सूत्र से अतम्बन्ध सिद्ध किया है।

एङ् प्राचां दशे ॥१११७५॥ एङ् प्राचा दशे त्रैपिकेऽस्य इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।



## नवम आह्निक

अदर्शनं लोपः ॥१॥१॥६०॥

अर्थस्य सज्ञा कर्तव्या । शब्दस्य मा भूदिति । इतरेतराश्रय च भवति । का इतरतराश्रयता । सतोऽदर्शनस्य सज्ञया भवितव्यम् । सज्ञया चादर्शनं भाव्यते । तदितरतराश्रय भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

छापसज्ञायामर्थसतारुक्तम् ।

किमुक्तम् । अर्थस्य तावदुक्तम्— इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थं' इति । सतोऽप्युक्तम् । सिद्धं तु नित्यशब्दं चादिति । नित्या शब्दा ' नित्येषु शब्देषु च सतोऽदर्शनस्य सज्ञा कियत न हि सज्ञया अदर्शनं भाव्यत ।

अदर्शन शब्द का जो अर्थ है न दासना न मुनाई दना अर्थात् दण का विद्यमान न रहना इस अर्थ की लोप सज्ञा कहनी चाहिये जिस स अदर्शन इस शब्द की लोप सज्ञा न हा । अन्यथा स्व रूप शब्दस्व० क नियम स अदर्शन इस शब्द स्वरूप की लोप सज्ञा प्राप्त होता है । इस क अतिरिक्त लोपसज्ञा में इतरतराश्रय दाप भी प्राप्त होता है । कैसा इतरेतराश्रय दोष ? अदर्शन हाने पर तो लोप सज्ञा हागी । और लोप सज्ञा द्वारा अदर्शन होता है । यह इतरतराश्रय दोष है । एक दूसरे क सहार स हा सकन वाला कार्य इतरतराश्रय कहाता है । इतरतराश्रय या अन्योन्याश्रय स होन या क कार्य नि रक्त न, हा सकन ।

लोप सज्ञा में ता दोष कह है उनक विषय म पहल समाधान कर उक्त है । अदर्शन अर्थ की लोप सज्ञा कहनी चाहिये इस क विषय म ता नरति । आरा सूत्र म इतिररणाऽर्थनिर्देशाय एसा कहा है । जिस अर्थेति० में इति शब्द लगन स निषेध और विकृति इन अर्थों की विभागा सज्ञा हाती है न या शब्द की नहीं हाती उसा प्रकार उस दत्त शब्द का यहा लोप सज्ञा म भी अनुवृत्ति कर क अदर्शनमिति रूप एसा समग्रण । उस का अर्थ होगा कि अदर्शन इस शब्द स ता अर्थ निरुलता है । लोक म अदर्शन कहन पर जो न दीगता अर्थ प्रतात होणा है उस का लोप सज्ञा होता है उस स अदर्शन शब्द की लोप सज्ञा न

सर्वप्रसङ्गस्तु सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् ।

सर्वप्रसङ्गस्तु भवति । सर्वस्यादर्शनस्य लोपसंज्ञा प्राप्नोति । किं कारणम् । सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् । सर्वो हि शब्दो यो यस्य प्रयोग-विषयः स ततोऽन्यत्र न दृश्यते । त्रपु जतु इत्यत्रापि लोपसंज्ञा प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ।

तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध ।

तत्र प्रत्ययलक्षण कार्यं प्राप्नोति । तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

होकर अदर्शन अर्थ की लोपसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । सन् अर्थात् विद्यमान अदर्शन की लोपसंज्ञा विधान में जो इतरेतराश्रय दोष कहा है उस का भी समाधान पहले आदरादेश् सूत्र पर कह चुके हैं । सद् नु निचशब्दत्वात् । अर्थात् इन शब्दों को नित्य मानते हैं । नित्य शब्दों में पहले से विद्यमान अदर्शन अर्थ मान कर उस की लोपसंज्ञा की जाता है । लोपसंज्ञा द्वारा नये अदर्शन अर्थ का विधान नहीं किया जाता । प्रागभाव तो अनादि है । वर्णों का अभाव, अदर्शन, अक्षर अनुच्चारण पहले से विद्यमान है । उम को विद्यमान मान कर लोपसंज्ञा हो जायगी । लोप कह कर किसी वर्ण का अदर्शन कहने में नये अदर्शन का विधान नहीं होता इस लिये इतरेतराश्रय दोष न हागा ।

सब अदर्शन की लोपसंज्ञा प्राप्त होती है । क्योंकि सब शब्दों का अपने प्रयोगविषय से अन्यत्र अदर्शन है । निम्न शब्द का जो प्रयोग का विषय है उस से अन्यत्र वह दिखाई नहीं देता इस लिये अदर्शन होने से उस की वहा लोपसंज्ञा प्राप्त होती है । त्रपु जतु ( त्रपु-जतु सु ) यहा नपुसक लिङ्ग त्रपु जतु शब्दों में तद्धित अण् प्रत्यय या कृदन्त अण् प्रत्यय का अदर्शन है उस की लोपसंज्ञा हो जानी चाहिये ।

वहा क्या दोष है । सभी अदर्शनों की लोपसंज्ञा होने में क्या हानि है ?

वहा प्रत्ययलक्षण कार्यं प्राप्त होता है । उस का निषेध कहना होगा ।

१ इतरेतराश्रय दोष को हटान के लिय शब्द नित्य व पक्ष का आश्रयण कर स्वभाव से अप्रयुक्त का अन्वार्थाननात्र शास्त्र करता है, अपूर्व अदर्शन विधान नहीं करता है ऐसा मानन पर भी यह वातकोक्त दोष आता है इसका समाधान होना चाहिये ।

‘अचो ङ्नितीति’ वृद्धिः प्राप्नोति ।

नेप दोषः । ङ्नित्यङ्गस्याचो वृद्धिरुच्यते । यस्मात्प्रत्ययविधि-  
स्तदादि प्रत्ययेऽङ्ग भवति । यस्माच्च प्रत्ययविधिर्न तत् प्रत्यये परतः ।  
यच्च प्रत्यये परत , न तस्मात् प्रत्ययविधिः ।

किपस्तर्ह्यदर्शनम् । तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति ।  
तत्र को दोषः । तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः । तत्र प्रत्ययलक्षण कार्यं  
प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । ह्रस्वस्य पिति छति तुगिति तुक्  
प्राप्नोति ।

सिद्ध तु प्रसक्तादर्शनस्य लोपसङ्गत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसक्तादर्शन लोपसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम् ।

त्रपु जतु में अण के अदर्शन से अण की लोपसंज्ञा दो जायगी तो प्रत्ययलोपे प्रत्यय-  
लक्षणम् से प्रत्ययलक्षण मान कर णित् परे हो जाने से अचो ङ्नितीति से त्रपु जतु  
को वृद्धि प्राप्त होती है ।

त्रपु जतु में अचो ङ्नितीति से वृद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि णित् णित्  
प्रत्यय परे रहते अङ्ग को वृद्धि कही है । और अङ्गसंज्ञा यस्मान् प्रत्ययविधितदादि  
प्रत्ययऽङ्गम् इस सूत्र द्वारा जिस से जो प्रत्यय किया जाय उस प्रत्यय के परे रहते  
ही उस की होती है । त्रपु जतु में जिस त्रपु जतु शब्द से गु प्रत्यय किया है  
उस गु क परे रहते ही त्रपु जतु अङ्ग है । वह सुप्रत्यय णित् णित् नहीं है । और  
जो अण प्रत्यय णित् णित् है वह त्रपु जतु से किया नहीं गया है इस लिये अण  
का अदर्शन होने पर भी अङ्ग न होने से त्रपु जतु में वृद्धि नहीं होगी ।

अच्छा तो अण के अदर्शन में दोष न सही । त्रपु जतु में णिप् प्रत्यय का  
भी तो अदर्शन है । उस की लोपसंज्ञा प्राप्त हो कर प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध  
कहना होगा । त्रपु जतु ह्रस्वान्त है । उस से परे णिप् मान कर ह्रस्वस्य पिति छति  
तुक् से तुक् प्राप्त होता है । तुक् उर्णाप्रय कार्य है, अङ्ग नहीं है इस लिये  
उस में अङ्ग का अङ्गड़ा नहीं है । णिप् परे रहते त्रपु जतु के अङ्ग न होने पर भी  
तुक् हो जाना चाहिये ।

किसी से प्रसक्त अर्थात् प्राप्त या विहित के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने  
से उक्त दोष न होगा । त्रपु जतु में णिप् किसी से प्रसक्त नहीं है । विहित नहीं

यदि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते । ग्रामणीः सेनानीः ।  
अत्र वृद्धिः प्राप्नोति ।

प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवति पष्ठीनिर्दिष्टस्य । पष्ठीनिर्दिष्टस्ये-  
त्युच्यते ।

पष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते । चाहलोप एवेत्यवधारणम् । चादिलोपे  
विभाषा । अत्र लोपसंज्ञा न प्राप्नोति ।

अथ प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यमाने कथमिचेतत् सिध्यति ?

को हि शब्दस्य प्रसङ्गः । यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते ।

है । अतिरिक्त होने से उसका स्वतः अदर्शन है । अतः ऐसे अदर्शन की लोपसंज्ञा  
न होगी वो लुक् न होगा ।

यदि प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो ग्रामणी सेनानीः  
यहां वृद्धि प्राप्त होता है । ग्रामं नयन्तीति ग्रामणीः । यहाँ ग्राम पूर्वक नी धातु  
से उपपदसमास में कर्मत्वण् प्राप्त है । उम को बाध कर मत्सृष्टिपद्म० से  
किप् होता है । प्रसक्त अण् का अदर्शन होने से लोपसंज्ञा हो जायगी तो प्रत्यय-  
लक्षण से णित् परे मान कर अचो ङिति वृद्धि हो जानी चाहिये ।

पष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानेंगे । ग्रामणी सेनानीः  
में प्रसक्त अण् का अदर्शन पष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट नहीं है इस लिये वृद्धि न  
होगी ।

यदि पष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो  
चाहलोप एवेत्यवधारणम् चादिनापे विभाषा' यहाँ लोपसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।  
यहाँ भी च आदि शब्दों में पष्ठी विभक्ति का निर्देश करके लोप नहीं करा गया  
है बल्कि जहाँ च आदि का अर्थ तो गम्यमान है पर च आदि शब्दों का प्रयोग  
नहीं होता उसे चादिलोप मान कर प्रथम तिङ् विभक्ति का निघात विकल्प कहा  
है । यहाँ लोपसंज्ञा न होने से मुक्ता ग्रीहयो भवन्ति श्वेता गा आज्याय तुहन्ति  
इस वाक्य में भवन्ति इस प्रथम तिङ् विभक्ति को निघात विकल्प न हो  
सकेगा ।

यदि पष्ठीनिर्दिष्ट विशेषण दृष्टा कर केवल प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा  
मानें तो भी चाहलोप एवेत्यवधारणम्, चादिनापे विभाषा यहाँ आप लोपसंज्ञा कैसे  
सिद्ध करेंगे ?

यहाँ हम शब्द का प्रसङ्ग या प्रसक्ति क्या मानेंगे ? यही कि जैसा आप

अस्तु तर्हि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्येव ।  
 कथं ग्रामणीः सेनानीः ?  
 योऽत्राणः प्रसङ्गः कृपासौ वाध्यते ।

प्रत्ययस्य लुक् श्लुलुपः ॥११॥६१॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लुमति प्रत्ययग्रहणमप्रत्ययसंज्ञाप्रतिषेधार्थम् ।

लुमति प्रत्ययग्रहणं कियते । अप्रत्ययस्यैताः संज्ञा मा भूवन्निति ।  
 किं प्रयोजनम् ।

ने कहा जहां च का अर्थ तो गम्यमान है, प्रतीत होता है किन्तु च शब्द का प्रयोग नहीं होता । यही शब्द की प्रसक्ति है । प्रसक्त च शब्द का अदर्शन होने से उस की लोपसंज्ञा हो जायगी ।

तो फिर प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा मान लीजिये ।

ग्रामणी सेनानी, कैसे बनेंगे ?

जो यहाँ प्राप्त अण् का प्रसङ्ग है अथवा अण् की प्राप्ति है वह जिप् द्वारा बाध ली जाती है । अतः अण् प्रसक्त ही नहीं हुआ । उस का विधान ही नहीं हुआ तो उस के अदर्शन की लोपसंज्ञा कैसे होगी । लोपसंज्ञा न होने से वृद्धि प्राप्तिरूप शेष भी न होगा । इस प्रकार प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने में कहीं दोष नहीं आता ।

प्रत्ययग्रहणं किस लिये किया है ?

लुक् श्लुलुप इन तीनों लु शब्द वाले अदर्शनों में प्रत्यय ग्रहण इस लिये किया है कि प्रत्ययभिन्न के अदर्शन की ये संज्ञायें न हो जायें । केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् आदि संज्ञायें होंगी । क्या प्रयोजन है ? तद्धित का लुक् होने पर लुक् तद्धितउक्ति से निर्धीयमान स्त्रीप्रत्यय का ही लुक् हो गोरिप्रबोधनसर्जनस्य से अनुवृत्त गो शब्द का न हो । क्योंकि गोरिप्रयोः को

१. पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चैन्द्रः यदा श्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द में निर्दिश्यमानस्यादेना भवन्ति इम परिभाषा से केवल आनुक् आगम सहित स्त्रीप्रत्यय णीप् या ही लुक् होता है । श्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द का लुक् नहीं होता ।

प्रयोजन तद्धितलुकि कमायपरशब्दयोर्लुकि च गोप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् ।

तद्धितलुकि गोनिवृत्त्यर्थम् । ऋषीयपरशब्दयोश्च लुकि प्रवृत्ति-  
निवृत्त्यर्थम् । 'लुक्तद्धितलुकी'ति गोरपि लुरू प्राप्नोति । प्रत्ययग्रहणात्  
भवति 'कसीयपरशब्दयोर्ब्रजौ लुक् चे'ति प्रवृत्तेरपि लुक् प्राप्नोति ।  
प्रत्ययग्रहणात् भवति ।

गोनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थ ।

योगविभागात् मिदन् ।

योगविभागः करिष्यते । 'गोरुपसर्जनस्य' । गोन्तस्य प्रातिपदिकस्यो-  
पसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । तत 'स्त्रिया.' । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिक-  
स्योपसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । ततो 'लुक्तद्धितलुकी'ति । स्त्रिया इति  
वर्तते । गोरिति निवृत्तम् ।

अनुवृत्ति से स्त्रीप्रत्यय की तरह गो शब्द का लुक भी प्राप्त होता है ।

इसा प्रकार ऋषीयपरशब्दयोर्यजनो लुक् च से विधीयमान लुक कसीय  
और परशब्द में स्थित छ और यत् प्रत्ययो का ही हो, उस जौर परशु प्रवृत्तियो  
का न हो । प्रत्ययग्रहण करने से लुक् ताद्धितलुकि में गो शब्द का और कसीय  
परशब्दयो० में कन परशु प्रवृत्तियो का लुक न होगा ।

गोशब्द के लुक की निवृत्ति क लिये ता प्रत्ययग्रहण की आवश्यकता नहीं ।  
गास्त्रियोपसर्जनस्य सूत्र में योगविभाग करेंगे । गोरुपसर्जनस्य यह एक सूत्र  
होगा । उस का अर्थ होगा—उपसर्जन गोरुदान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता  
है । जैसे—चित्रगु । उस के बाद अत्रया यह दूसरा सूत्र होगा । उस का

१ यदि कौटो लुक्तद्धितलुकि में गो शब्द का भा लुक् मानन पर पञ्चभि.  
गोभि क्रीत पठ पञ्चगु यहा क्रौत्तार्थक तद्धित उक्त प्रत्यय का अध्वधपूर्वद्विगोर्लुग०  
से लुक होन पर उक्तद्धितलुग में गो शब्द का भा लुक् जायगा तो गो शब्द  
अन्त में न रहने से गोरतद्धितलुकि से समासान्त टच् प्रत्यय स्वत ही प्राप्त न  
होगा उस के लिय अतद्धितलुकि यह निषेध व्यर्थ ही जाता है । वत् व्यय न हो  
इस लिय गो शब्द का लुक् स्वयमव रक्त जायगा सो भी बात नहा । समासान्त  
टच् करक फिर गो शब्द का लुक समव है । वह न हो किक टच करन से  
पहले ही गो का लुक् हो जावे इस लिये भी अतद्धितलुकि यह निषेध रह मरना  
है । उस के व्यर्थ न होने से वह इस बात में जापक नहीं हो सकता कि गो शब्द  
का लुक नहीं होता ।

कसायपरशययोपि शिष्टनिर्देशात् सिद्धम् ।

कसायपरशययोपि शिष्टनिर्देशात् कर्तव्यम् । कसायपरशययोपि अत्रो  
भयतदुच्यताश्च लुग भवतीति । स चाप्ययं शिष्टनिर्देशात् कर्तव्यम् ।  
क्रियमाणऽपि च प्रत्ययग्रहणे उकारसकारयोर्ना भूदिति । स्मे. स  
रुस । परान् शृणाताति परशु इति ।

नैव दोषः । उणादयोऽनुत्पन्नानि प्रातिपदिकानि । स एषोऽ  
नन्यार्थो शिष्टनिर्देशात् कर्तव्यम् । प्रत्ययग्रहणं च कर्तव्यम् ।

अथ हाता—उपमन्त्र स्वार्थयान्त प्रातिपदिक का इत्य हाता है । जैम—  
अत्रिण्यव । निद्र गान्धि । तन्तन्तर लुक नदिनटुकि सूत्र में कर्तव्य स्त्रिया  
सूत्र का अनुवृत्ति हागी । उस स स्वार्थय का ही लुक हागा । गा शब्द  
का अनुवृत्ति न इन स उम का लुक न होगा । कसायपरशययो० में भा शिष्ट  
निर्देशात् कर्तव्य न दप न हागा । सूत्र का अर्थ पसा करग—कसाय परशय शब्दा  
स उकार अयय अर्थ में रुस स यज अच् प्रत्यय हात है साथ ही कसाय परशय  
में शिष्ट उ और यच् का लुक भा हा गाता है । उस स उ और यच् का  
शिष्ट निर्देशात् कर्तव्य स उन्हीं स लुक हागा । प्रवृत्तिया का न होगा । उ  
और यज क लुक का शिष्ट निर्देशात् करना आवश्यक ना है । अन्यथा लुक में  
प्रत्ययग्रहण कर इन पर भा कय और परशु शब्दा न स्थित न और उ प्रत्यया  
का भा लुक प्राप्त हाता है । यह न हा इम शिष्ट उ और यच् का शिष्ट निर्देशात्  
करना गाइय । कम स और आपरया चान्गुयो डिल्ल इन उणादि सूत्रों  
स क्रम स स स उ प्रत्यय का क कय और परशु शब्द बनत है । कसाय  
इति क, आह का रस्तु है । परान् शृणाति इति परशु । आ दूसरा का  
हनन पर यह परशु है । प्रत्यय का लुक कहन पर स और उ प्रत्यया का लुक भा  
प्राप्त हाता है । उस शेरुन क लिय उ यच् प्रत्यया का शिष्ट निर्देशात्  
आवश्यक है ।

यदुच्यते नदी । कम और परशु में स और उ प्रत्यया क लुक का  
भा प्राप्त हाता है । कयाकि उणादोऽनुत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इति परिभाषा स

१ उर अत्र प्रयोगे स । विमानमान्य न लुक न हागा । यदि लुक न  
रुने स उ यच् क गाथ यज अज का भा लुक हा जाव ता तन स विमान करना  
न चाई है ।

• अथ वृद्धिमन्त्रग्रन्थपाठे सूत्र न र्नि कय दोषों का नद उ निर्देश

उक्त वा ।

किमुक्तम् । 'ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थमिति ।

पष्ठीनिर्देशार्थं तु ।

पष्ठीनिर्देशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् । पष्ठीनिर्देशो यथा प्रकल्पेत ।

अनिर्देशे हि पष्ठवर्थाप्रासिद्धिः ।

अक्रियमाणे हि प्रत्ययग्रहणे पष्ठवर्थास्याप्रासिद्धिः स्यात् । कस्य । स्थानेयोगत्वस्य ।

से उणादि शब्द अत्युत्पन्न माने जाते हैं । उन में किसी प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं होता । इस लिये कस और परशु शब्द स और उप्रत्ययान्त न होंगे तो स और उ प्रत्ययों का लुक् नहीं प्राप्त होगा । उस अवस्था में छ और यत् प्रत्यय के विशिष्ट निर्देश का और कोई प्रयोजन नहीं रहता सिवाय इस के कि वह कंस और परशु इन प्रकृतियों के लुक् को रोके । उस के लिये यहाँ सूत्र में प्रत्ययग्रहण करे या यहाँ छ यत् के लुक् का निश्चित निर्देश करे । कोई भेद नहीं पड़ता ।

कसीयपरशव्ययो.० सूत्र में छ यत् का विशेष निर्देश किया ही हुआ है जो कि ङ्याप्प्रातिपदिकान् के अधिकार का प्रयोजन है । वातिककार ने स्वयं कहा है—ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थम् । इस लिये यहाँ प्रत्ययग्रहण व्यर्थ है ।

अच्छा तो पष्ठी विभक्ति के निर्देश के लिये प्रत्ययग्रहण करना चाहिये । प्रत्ययस्य कहने से पष्ठी का निर्देश हो जाता है । उस से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो अदर्शन उस की लुक् श्लु लुप् संज्ञाये हो जायेंगी । यदि प्रत्ययस्य नहीं पड़ते हैं तो पष्ठी के अर्थ का अवगमन नहीं होता । पष्ठी का अर्थ क्या है ? स्थानेयोग । पष्ठी स्थानेयोग के नियम से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो अदर्शन यह अर्थ बिना प्रत्ययग्रहण किये नहीं हो सकता ।

करना ही उणादयोऽच्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस परिभाषा का शपक है । अन्यथा कंस शब्द के कम् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण क्विप्रहण से ही कंस का ग्रहण भी हो जाता । दोनों का पृथक् २ निर्देश यह सिद्ध करता है कि उणादि शब्द अच्युत्पन्न होते हैं ।



अथ क्रियमाणेऽपि प्रत्ययग्रहणे कथमिव लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा  
लभ्याः ।

वचनप्रामाण्यात् । प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्नापयति लुक् श्लु-  
लुपः सर्वादेशा भवन्तीति । यद्य 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे  
दन्त्ये' इति लोपे प्रकृते लुक शास्ति ।

उत्तरार्थं तु ।

उत्तरार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् ।

क्रियते तत्रेव प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमिति ।

द्वितीयं कर्तव्यम् । कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् ।  
एकदेशलोप मा भूदिति । आर्घ्नीत । स रायस्पोपेण ग्मीयेति ।

प्रत्ययग्रहण करने पर लुक श्लु लुप् कैसे सर्वादेश हो सकेंगे ?

वचन क प्रमाण से । प्रत्ययरय इस वचन के सामर्थ्य से यह समझा  
जायगा कि अगन्त्य की बाधा हा कर सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान में लुक श्लु लुप्  
आदेश होते हैं । अन्यथा प्रत्ययस्य कहना व्यर्थ है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक  
है कि लुक श्लु लुप् ये सर्वादेश होते हैं । क्योंकि आचार्य जो पोलेंगे लेटि वा  
से लोप का अनुवृत्ति जान पर भा लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र में लुक ग्रहण करते  
हैं उससे यह बात सिद्ध होती है । यदि लोप के समान लुक आदि भी भन्त्य  
क स्थान में आदेश हों तो लुक ग्रहण करना व्यर्थ है ।

भट्टा तो उत्तर सूत्र के लिये यह प्रत्ययग्रहण करना चाहिये । जिस से  
प्रत्ययगरे प्रत्ययलक्षणम् इस उत्तरसूत्र में प्रत्यय की अनुवृत्ति हो सके ।

यह भी प्रयोजन नहीं । उत्तर सूत्र में प्रत्ययग्रहण किया ही हुआ है ।

यहां दूसरा प्रत्ययग्रहण करने के लिये यहाँ प्रत्ययग्रहण करना चाहिये ।  
जिस से सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होन पर प्रत्ययलक्षण हो । प्रत्यय के एकदेश या  
अपर का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण न हो । आर्घ्नीत ( भाश् हन् सीयुद् लिष् ष )  
सुर्न्य ( सम् गम्-सीयुद् लिष् इद् ) यहाँ भाश् पूर्वक हन् धातु और सम् पूर्वक  
गम् धातुओं से विधिलिष् में सायुद् प्रत्यय क सकार का लोप हुआ है । वह

## प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१।१।६२॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतीयत्युच्यमाने सौरथी वैहतीति गुरुपोत्तम-  
लक्षणः प्यङ् प्रसज्येत ।

प्रत्यय के एकदेश का लोप है। सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप नहीं है इस लिये यहाँ प्रत्ययलक्षण न होगा तो झलादि सीयुट् को मान कर अनुदात्तोपदेश वनतितनोत्यादीना० से इन् गम् के अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता ।

प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतना सूत्र होने पर सौरथी वैहती ( सुरथस्य विहृतस्य चापत्यं गोत्र स्त्री ) यहाँ अणिनोरनार्पयोर्गुरुपोत्तमयो प्यङ् गोत्रे से गुरुपोत्तम मान कर होने वाला प्यङ् आदेश प्राप्त होगा । क्योंकि सुरथ विहृत शब्दों से गोत्र में अत इन् से इल् प्रत्यय करके सौरथि वैहति रूप होते हैं। रम् धातु से कथन् प्रत्यय परे रहते मकार का लोप हो कर रथ शब्द बनता है । और इन् धातु से क्त प्रत्यय परे रहते नकार का लोप होकर हत शब्द बनता है । मकार नकार प्रत्यय नहीं है । उनके रहते गुरुपोत्तम होने से जैसे—इन्त सौरथि वैहति शब्दों के इल् को अणिनोरनार्पयो० से स्त्री अपत्य में प्यङ् आदेश प्राप्त होता है ( गुरुपोत्तम शब्द का अर्थ है—त्रिप्रभृतीनामन्त्यमक्षरमुत्तमम् । तस्य समीपे यत् तदुपोत्तमम् । उपोत्तमं गुरु यस्मिन् प्रातिपदिने तद् गुरुपोत्तमम् । जिस प्रातिपदिक में तृतीय आदि अक्षर के समीपस्थ द्वितीय आदि अक्षर गुरु हो उसे गुरुपोत्तम कहते हैं । ) वैसे लोप होने पर भी वह प्यङ् आदेश हो जायगा । अर्थात् प्यङ् प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जायगा । जिससे भौरथ्या वैहत्या ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । सिद्धान्ततः स्त्री अपत्य में इतो मनुष्यजाने से डोप् होकर सौरथी वैहती ये इष्ट रूप बनते हैं ।

१. प्रत्ययस्य लक्षणं दर्शनं प्रादुर्भावः प्रत्यय का लक्षण अर्थात् दर्शन, प्रादुर्भाव ऐसा अर्थ कल्पनाकर यह कहा जा रहा है । सूत्रार्थ यह होगा—जिस किसी का लोप है उसके रहते जो प्रत्यय होता है, उसका लोप होने पर भी उस प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जाता है ।

नेप दोषः । नैव विज्ञायते लोपे प्रत्ययलक्षण भवति प्रत्ययस्य प्रादुर्भाव इति । कथं तर्हि प्रत्ययो लक्षण यस्य कार्यस्य तत् लुप्तेऽपि भवति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । सति प्रत्यये यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । लोपोत्तरकालं यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं मा भूदिति ।

किं प्रयोजनम् ?

ग्रामणिकुल सेनानिकुलम् इत्यत्रोत्तरपदिके ह्रस्वत्वे वृत्ते ह्रस्वस्य पिति वृत्ति तुगिति तुक् प्राप्नोति स मा भूदिति ।

यदि तर्हि यत् सति प्रत्यये प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणेन भवति,

यह कोई दोष नहीं । प्रत्ययलक्षण का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यय का लक्षण दर्शन अथवा प्रादुर्भाव होना । बल्कि प्रत्यय है लक्षण निमित्त जिस कार्य का वह कार्य प्रत्ययलक्षण कहाता है । लोप होने पर प्रत्ययनिमित्तक कार्य का होना ही प्रत्ययलक्षण है । सौर्या वेदता में प्रत्यय को निमित्त मान कर कोई कार्य नहीं करना है इस लिय मकार नकार का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण नहीं होगा ।

बल्कि ता प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के रहते जो कार्य प्राप्त हो वह उस प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण अर्थात् प्रत्यय को निमित्त मान कर ही जाय । प्रत्यय का लोप होने पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण स न होय ।<sup>१</sup>

क्या प्रयोजन है ?

ग्रामणिकुलम् नाना कुलम् ( ग्रामण्य सेनान्य कुलम् ) यहा षष्ठी समास में कुल शब्द उत्तरपद पर रहते ङिप् प्रत्ययान्त ग्रामणा सनाना शब्द को दक्ष ह्रस्वाऽन्तर्गतं गाल्पस्य स ह्रस्व करण पर ह्रस्वस्य त्रित्त वृत्त से तुक् प्राप्त होता है यह न होय । क्योंकि ङिप् प्रत्यय के रहते तुक् प्राप्त नहीं था यह ङिप् का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण से नहीं होगा ।

यदि प्रत्यय क पर रहत जो कार्य प्राप्त हो वही ( प्रत्ययलोप होने पर )

१ प्रत्ययलोप प्रत्ययलक्षणम्—यहाँ प्रत्ययलोपे न प्रत्यय शब्द से ग्रामणा का उक्त मान कर प्रत्यय सति ललोप एवा तात्पर्य नानता जाना है ।

लोपोत्तरकाल यत् प्राप्नोति तन्न भवति, जगत् जनगदित्यत्र तु न प्राप्नोति । लोपोत्तरकाल एव तुगागमः । तस्मान्नार्थ एवमर्थेन प्रत्यय-ग्रहणेन ।

कस्माच्च भवति ग्रामणिकुलं सेनानिकुलम् ।

वहिरङ्ग ह्रस्वत्वम् । अन्तरङ्गस्तुक । असिद्ध वहिरङ्गमन्तरङ्गे ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । इत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण यथा स्याद् एकदेशलोपे मा भूदिति । जाघ्नीत । स रायस्पोपेण ग्मीय ।

पूर्वस्मिन्नपि योगे प्रत्ययग्रहणस्येतत् प्रयोजनमुक्तम् । अन्यतरच्छ-  
क्यमकर्तुम् ।

प्रत्ययलक्षण से होता है और प्रत्यय का लोप हान पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण से नही होता तो जगत् जनम् । गच्छताति गम् । जन गच्छतीति जनगम् । गम् क्पि ) यहा क्पि प्रत्ययान्त गम् धातु से तुक नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहा अन्तरङ्ग होने के कारण पहले क्पि का लोप हो जाता है । उसके बाद गन जौ स गम् क मकार का लोप होकर ह्रस्वान्त वन जान से तुक होता है । क्पि प्रत्यय के परे रहत तुक प्राप्त नहीं था ता क्पि का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण स नहीं होना चाहिये । इस लिये एम दोषयुक्त प्रत्ययग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । लोप होने पर सर्वत्र प्रत्ययलक्षण नान लना चाहिये ।

ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् मे क्पि प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से तुक क्यों नहीं जाता ?

यहा दोहो ह्रस्व ० स हुआ ह्रस्व वहिरङ्ग है और तुक् अन्तरङ्ग है । असिद्ध परिभाषा स अ हरङ्ग ह्रस्व असिद्ध हो जायगा तो तुक नहीं होगा ।

ता फिर प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण हा । प्रत्यय के एकदेश या अवयव का लोप होने पर न हा । यथात स ग्नाय ( आङ् हन्-धीयुट् लिट् । सम् गम्-सायुट् लिट् इद् ) यहा सायुट् प्रत्यय के एकदेश सकार का लोप हुआ है सम्पूर्ण सायुट् का लोप नहीं हुआ है इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो जलादि सायुट् का मकार अनुनासिकदेश-  
वन्ति ० से अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता ।

पहले सूत्र से भी प्रत्ययग्रहण का यही प्रयोजन कहा था । इस प्रत्ययग्रहण का भी आप यही कह रहे हैं । दोनो ने से कोई एक प्रत्ययग्रहण अनावश्यक है ।<sup>१</sup>

१. इस प्रकार भाष्यकार ने यहा प्रथम प्रत्ययग्रहण का खण्डन कर दिया है ।

अथ द्वितीयं प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ।

प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । वर्णलक्षणं मा भूदिति । गवे हित गोहितम् । रायः कुल रैकुलमिति ।

द्वितीय प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण कार्य ही हो । वर्णलक्षण कार्य न हो इस लिये प्रत्ययलक्षणम् यह द्वितीय प्रत्ययग्रहण किया है । गवे हितं गोहितम् । रायः कुल रैकुलम् । यहाँ गो रै शब्दों के पठोत्तमास में छे डस् विभक्तियों का लुक् हुआ है । उस को प्रत्ययलक्षण मान कर भच् परे हो जाने से एनोश्चरायः से भच् भाय आदेश प्राप्त होते हैं । वे भच् रूप वर्ण लक्षण कार्य है । प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाले नहीं हैं इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो भच् भाय आदेश नहीं होते ।

१ एतन्नूतक ही वर्णाश्रयं नास्ति प्रत्ययलक्षणम् यह परिभाषा है । जहाँ वर्ण का प्राधान्य है अर्थात् प्रधान रूप से जहाँ वर्ण का आश्रयण किया है वहाँ प्रत्ययलक्षण मा निरा होना है । किन्तु जहाँ वर्ण प्रधान न होकर प्रत्यय प्रधान है और अप्रधानता में वर्ण का आश्रयण किया है वहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता । जैसे— वृणुत । यहाँ वृद् शतु से लृक् में तिप् का लोप होने पर उसे प्रत्ययलक्षण मान कर वृणुत इम् से इमागम हो जाता है । इमागम करने वाले सूत्र में ह्लादि पित् मात्राशुक्त प्रत्यय की प्रधानता है हल् रूप वर्ण की प्रधानता नहीं है । वही हृत् वर्ण मात्राशुक्त का विशेषण है इस लिये वर्ण की अप्रधानता होने में वर्णाश्रय होने पर भी प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता । वर्ण की प्रधानता में प्रत्ययलक्षण निषेध के समान ही लोपो व्योम्बलि से होने वाला वकार वकार का लोप वृ रूप उन को निमित्त मान कर होने से वर्णाश्रय कटलाग है, प्रत्ययाश्रय नहीं । इसीलिये भास्तेमाणम् ( आर्-सिन्-मनिन् ) में सिन् के वकार का लोप होने पर न धातुलोप आर्धातुके में प्राप्त सार्वधातुगुण का निषेध प्रत्ययाश्रयत्वाद्-न्यग्र सिद्धम् एमा २३ पर रोक गया है । वही लोपो व्योम्बलि से हुआ वकार का लोप आर्धातुके मानने प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ । वल्लि मनिन् में वृ रूप वर्ण को निमित्त मान कर हुआ है । आर्धातुगुणनिमित्तक लोप न होने में गुण निषेध नहीं होता यह सिद्ध किया है । यदि इसी प्रकार गुपूर्वक धिन् वृष् मात्राशुक्त में सिन् प्रत्यय पर और सिन् का सार्वधातु लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण में सिन् परे मनि तो लोपो व्योम्बलि से होने वाला धिन् वृष् के वकार का लोप आर्धातुके सिन् प्रत्ययाश्रय न होकर वृ रूप वर्णाश्रय होगा । उस अवस्था में

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचन सदन्वार्यानाच्छास्त्रस्य ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमित्युच्यते । सदन्वार्यानाच्छास्त्रस्य ।  
सच्छास्त्रेणान्वारयायते । सतो वा शास्त्रमन्वारयायक भवति । सदन्वा-  
र्यानाच्छास्त्रस्य । 'उगिद्वा सर्वनामस्थानेऽधातोरि'ति इहेव स्याद्  
गोमन्तौ यत्रमन्तौ । गोमान् यवमान् इत्यत्र न स्यात् । इष्यते च  
स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्न न सिध्यतीत्यतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण-  
वचनमित्येवमर्थमिदमुच्यते ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र इस लिये बनाया है कि शास्त्र सत् का ही निमित्तत्वन अन्वार्यान करता है । अमन् का नहीं । शास्त्र द्वारा विद्यमान का ही प्रतिपादन हाता है अविद्यमान का नहीं या विद्यमान ही शास्त्र द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । जैसे — उगिद्वा सर्वनामस्थानेऽधाता इस शास्त्र स सर्वनामस्थान परे रहत नुम् का विधान किया है वह गामन्ता, यवमन्तौ (गोमन्, यवमन्-औं) यद्वा सर्वनामस्थानसज्ञक औ प्रत्यय के विद्यमान होन पर हा हो सकता ह । गामान् यवमान (गोमन् यवमन्-सु) यद्वा सु सर्वनामस्थान क विद्यमान न होन से नुम् प्राप्त नहीं हो सकता । इष्ट है यद्वा भी नुम् हो । वह बिना यत्न क सिद्ध नहीं होता इस लिय प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र बनाया है ।

आधधातुक अनमितक धातुलोप न जाने से न धातुलोप सूत्र मे लघूपगुण का नियम न हो सकता ता गुण हाकर सुधेन् सुकरण होंग । प्रथमा एकवचन नु परे रहत नु लोप नलोप नो जादग तब सुध सुक ये इष्ट रूप बनग । न धातुलोप स गुणनियेव मान कर ता सुधिन न सौ च से इन्नन्त को दार्ध होकर विज्ञार्थी का तरह सुधी एना धानष्ट रूप प्राप्त हागा । और सुकृण् में नान्त का उपग को सर्वनामस्थान चासम्बुद्धौ से दाध होकर उपधायाश्च से इच्च रपर हो जायगा तो वोरुपधाया दार्ध इक स पदान्त न दाध होकर गी की तरह सुका यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । यद्यपि एवाऽव्ययाय के उक्त उदाहरण गोदितम् रैकुलम् में अच रूप वर्णाश्रय होन पर भी अतत के क्स् प्रत्ययों का आश्रय भा है पर वह शब्दोपात्त नहीं है इस लिये वहाँ मुख्य रूप से वर्ण का हा आश्रय मान कर प्रत्ययलक्षण नहीं होता ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

लुक्पुसप्तानम् ।

लुक्पुसप्तान्यन कर्तव्यम् । पञ्च सत ।

किं पुनः कारण न सिध्यति ।

लापे हि विधानम् ।

लोप हि प्रत्ययलक्षण विधीयते तेन लुकि न प्राप्नोति ।

न वा दर्शनस्य लोपसहित्वात् ।

न वा कर्तव्यम् । किं कारणम् । अदर्शनस्य लोपसहित्वात् । अदर्शन लोपसञ्च भवतीत्युच्यते । लुमत्सप्तधाप्यदर्शनस्य त्रियन्ते । तेन लुक्पुसप्तान्यन कर्तव्यम् ।

यद्येवम् ।

प्रत्ययादर्शन तु लुमत्सञ्चम् ।

प्रत्ययादर्शन तु लुमत्सञ्चमपि प्राप्नोति ।

मत्र का यह प्रयोजन ता है किन्तु लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहना चाहिये । पञ्च सत ( पञ्च, सतन्, नस्, शस ) यहा पद सञ्चक पञ्चन्, सतन्, शसन् से पर पञ्चा टुर स जन् नस् का लुक् हुआ है । लोप नहीं हुआ है । इस लिये प्रत्ययलोप न होने से प्रत्ययलक्षण प्राप्त नहीं होता । प्रत्ययलक्षण न होने से पद सञ्चा न होगी तो नञ् प न हो सकगा । लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहने से पद सञ्चा होकर नञ्प हा जाता है ।

क्या कारण है जो लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ?

लोप में प्रत्ययलक्षण कहा है इस लिये लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ।

लुक् में भरण प्रत्ययलक्षण कहने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि अदर्शन की लोपसञ्चा कही गई है । लुक् पञ्च वाक्य लुक् श्लु लुक् य सञ्चाये भी अदर्शन की ही होता है । उस से अदर्शन सामान्य को ले कर लुक् में भी प्रत्ययलक्षण हो जायगा ।

तब तो प्रत्यय के अदर्शन सामान्य को ले कर लुक् श्लु लुक् सञ्चाये भी एक हो जाना चाहिये ।

तत्र को दोषः ?

तत्र लुकि श्लुविधिः प्रतिषेध्यः ।

तत्र लुकि श्लुविधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । अत्ति हन्ति ।  
श्लुविति द्विर्वचनं प्राप्नोति ।<sup>१</sup>

न वा पृथक् सज्ञाकरणात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । पृथक् सज्ञाकरणात् । पृथक्  
सज्ञाकरणसामर्थ्याल्लुकि श्लुविधिर्न भविष्यति । तस्माददर्शनसामान्या-  
ल्लोपसज्ञा लुमत्सज्ञा अवगाहते ।

यथैव तर्हि अदर्शनसामान्याल्लोपसज्ञा लुमत्सज्ञा अवगाहते एव  
लुमत्सज्ञा अपि लोपसज्ञामवगाहेरन् ।

वहा क्या दोष है ?

वहां लुक् में श्लु का कार्य प्राप्त होता है । उसका निषेध कइना होगा ।  
अत्ति हन्ति यदा अदिप्रभृतिभ्य शप से हुए शप क लुक को रुतु मान कर  
श्लै से द्वित्व प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । लुक् श्लु लुप इस प्रकार भलग २ सज्ञाये करने  
के सामर्थ्य से लुक् में श्लुविधि न होगी । लुक भादि सज्ञाओं में साकार्य न होगा ।  
इस लिये अदर्शन सामान्य का लेकर लोपसज्ञा लुक् भादि सज्ञाओं को व्याप्त  
कर लेंगे । उनको अपनी लोपट म ले लेंगी । अर्थात् लोप शब्द से लुक् भादि का  
भी ग्रहण हो जायगा तो लुक में प्रत्ययलक्षण क उपसख्यान की आवश्यकता नहीं ।

निस प्रकार अदर्शन सामान्य को लेकर लोपसज्ञा से लुक् भादि सज्ञाये  
गृहीत हो जाती हैं उसी प्रकार लुगादि सज्ञाओं से भी लोपसज्ञा गृहीत हो  
जानी चाहिये ।

१ यह उपलक्षण है । रुतु म लुक वा लुप म लुक् का, लुक् म लुप् का इस प्रकार  
रत्तनों का साकार्य प्राप्त होन से उभका निषेध कइना होगा । जैसे—उद्गत में उद्गत्यादिभ्य  
श्लु स हुए रु को लुक् मान कर उतो वृद्धिर्लुकि हलि स हु को वृद्धि प्राप्न होती  
है । हरीतक्या फल हरीतक, यद्वा हरीतक्यादिभ्यश्च से हुए षप् क लुक् को  
लुक् मान कर लुक तदितलुकि से हरीतकी में स्थित स्त्रीप्रत्यय का लुक प्राप्त होता  
है । लवणेन ससृष्ट लवण सूप यद्वा लवणाल्लुक् से हुए टक् क लुक् को लुक् मान  
कर लुपि युक्त्वद्व्यक्तियचने से युक्त्वद्वाव प्राप्त होता है ।



तत्र को दोषः ।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमती भूतेति 'लुक् तद्धितलुकी'ति  
टीपो लुक् प्रसज्येत ।

ननु चात्रापि न वा पृथक् संज्ञाकरणादित्ये'व सिद्धम् ।

यथेव तर्हि पृथक् संज्ञाकरणसामर्थ्यादत्र लुमत्संज्ञा लोपसंज्ञां  
नावगाहन्त एव लोपसंज्ञापि लुमत्संज्ञां नावगाहेत । तत्र स एव दोषो  
लुम्युपसख्यानमिति ।

अस्यन्यल्लोपसंज्ञाया पृथक् करणे प्रयोजनम् । किम् । लुमत्संज्ञासु  
यदुच्यते तल्लोपमात्र मा भूदिति ।

यहा क्या दोष है ।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमतीभूता ( गोमती चि,भू ) यहा अभूत्तद्वात्  
अर्थ में चिप्रत्ययान्त गोमती शब्द से परे चि का सर्वापहारी लोप हुआ है ।  
उसे लुक् मान कर उर नद्धितलुकि स गोमती में स्त्रीप्रत्यय टीप् का लुक् प्राप्त  
होगा है ।'

यहा भी लोपसंज्ञा और लुक् संज्ञा के भङ्ग २ विधान करने के सामर्थ्य  
में लोपसंज्ञा में लुक् संज्ञा का कार्य नहीं होगा ।

जस लोपसंज्ञा और लुक्संज्ञा के भङ्ग २ विधान करने के सामर्थ्य स  
यहा लोपसंज्ञा में लुक् संज्ञा का कार्य नहीं होगा वैसे लुक् भादि संज्ञाओं में  
भी लोपसंज्ञा का कार्य नहीं होना चाहिये । उस भरस्था में यही दोष है कि  
लुक् में प्रत्ययलक्षण का उपसख्यान करना होगा ।

लोपसंज्ञा के पृथक् विधान करने का तो एक अन्य प्रयोजन है । क्या ?

१ अमपन्ना महती सम्पन्ना महद्भूता की तरह अगोमती गोमती सम्पन्ना  
नामभूता में पुनर्भाव नहीं होता । स्वात् नदावाचक गोमती शब्द भी यीपु क  
नहीं है । महति शब्द तो 'लोपन होन में नास्तत्पुस्क है । प्रदाभकार धीरिषट् ती  
री दृष्टि में तो अगोमती और गोमती में सामानाधिकरण्य न होने से पुनर्भाव का  
अभाव है । वे नाममात्र ही प्रहति में गोमती इय विहृत में पृथक् मानने हैं । यदि  
गोमती ही ही प्रहति में ही प्रहति मान ल अथवा प्रहति विहात में अनेक विरामा छ  
ते तब भी सामानाधिकरण्य बन जान से पुनर्भाव प्राप्त है । यह भावितपुस्क न  
हने से ही एक मरणा है ।

लुमति प्रतिषेधाद्वा ।

अथवा यदयं 'न लुमताङ्गस्ये'ति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध शस्त्रित  
तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति लुकि प्रत्ययलक्षणमिति ।

सतो निमित्ताभावात् पदसज्ञाभाव ।

सन् प्रत्ययो येषां कार्याणामनिमित्त राज्ञः पुत्र्य इति, स लुप्तोऽ-  
प्यनिमित्त स्याद् राजुरूप इति ।

अस्तु तस्या अनिमित्त या स्वादौ पदमिति पदसज्ञा । या तु  
सुप्तिङन्त पदमिति पदसज्ञा सा भविष्यति ।

प्रत्यय और अप्रत्यय सभी के अदर्शन की लोप सज्ञा होती है । लुक आदि  
सज्ञायें केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही होती हैं । जो कार्य लुक आदि सज्ञाओं  
में कहा गया है वह लोप मात्र में नहीं हो सकता । लोपसज्ञा व्यापक है । वह  
अदर्शनसामान्य की होती है । उस से लुक आदि सज्ञायें व्याप्त हो जायेंगी किन्तु  
लुक आदि सज्ञाओं में लुक आदि शब्द से भावित प्रत्यय का अदर्शन होता है  
इस लिये वे लोप सज्ञा में व्यापक नहीं हो सकतीं । अर्थात् लुक आदि से लोप  
का ग्रहण नहीं हो सकता ।

अथवा न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा जो लुमान् शब्द से लुप्त हुण् प्रत्यय में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध किया है वह आचार्य का व्यंग्य है इस बात का ज्ञापक  
है कि लुक में भी प्रत्ययलक्षण होता है । इस लिये लुक में उपमर्यादा की  
आवश्यकता नही है ।

विद्यमान प्रत्यय तिन कार्यों का निमित्त नहीं है वह लुप्त होकर भी उनका  
निमित्त नहीं होना चाहिये । जैसे—राज्ञ पुत्र्य यदा प्राक्य मे राज्ञ् शब्द में  
विद्यमान इस् प्रत्यय राजन् की पदसज्ञा का निमित्त नही है यह राजपुत्र्य इस  
समास में लुप्त हुआ भी पदसज्ञा का निमित्त नहीं होना चाहिये । पदसज्ञा न  
होने से नलोप नहीं प्राप्त होता ।

ठीक है । राजपुत्र्य में लुप्त हुआ इस प्रत्यय स्वार्थिष्वसर्वनामस्थाने से  
होने वाली पूर्व की पदसज्ञा का निमित्त न होवे किन्तु सुप्तिङन्त पदम् से होने  
वाली सुबन्त की पदसज्ञा तो निर्बाध है । यह पदसज्ञा रह जायगी तो नलोप  
हो जायगा ।

सत्येतत् प्रत्यय आसीत् । अनया भविष्यत्यनया न भविष्यति ।  
लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत् एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसञ्ज्ञा तावत्  
एव सुबन्त पदमिति । अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन यजादिपरतेति कृत्वा भसञ्ज्ञा  
प्राप्नोति ।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवार इति ।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधो नोपपद्यते । क । परिशीरिति ।  
किं कारणम् । एकयोगलक्षणत्वात् । एतद्योगलक्षणे हि तुग्दीर्घत्वे ।  
इह लुप्ते प्रत्यये सर्वाणि प्रत्ययाध्रयाणि कार्यानि पर्यवपन्नानि भवन्ति ।  
तान्येतेन प्रत्युत्थाप्यन्ते । अनेनैव तुक् । अनेनैव च दीर्घत्वमिति ।  
तदेकयोगलक्षण भवति एकयोगलक्षणानि च कार्यानि न प्रदल्पन्ते ।

इस प्रत्यय क विद्यमान रहते तो यह कटा जा सकता था कि इसस पद  
सञ्ज्ञा होगी इनस न होगी । क्योंकि इस पर रहते स्वादिष्वसर्व० से प्राप्त पूर्व  
राज् शब्द की पदसञ्ज्ञा को भसञ्ज्ञा बाध लगी है । इस सहित राज् की  
सुबन्त होने से पदसञ्ज्ञा स्पष्ट ही है । इस लिये इस् का विद्यमानता में तो राज्  
का न होगी, राज् का होगा यह जाना जा सकता है परन्तु जब इस् लुप्त हो  
गया तब राज् ही सुबन्त है और राज् ही पूर्व है । दोनों की एक राज् ही  
अवधि है । तितनी अवधि की सुबन्त पद्म से पदसञ्ज्ञा होनी है उतनी की  
स्व दिव्यभवं० से प्राप्त है । लुप्त हुए इन का प्रत्ययलक्षण से जान कर अच् पर हो  
जायगा तो यचि भन् से दोनों पदसञ्ज्ञाओं को बाध कर भसञ्ज्ञा प्राप्त होता है ।  
इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है । क—

तुक् और दीर्घत्व में विप्रतिषेध नहीं बनता । क्या ? परिवार यद्वा ।  
( परि ध्वज क्त्वि ) परि पूर्वक व्यञ् धातु से क्त्वि प्रत्यय हुआ है । वचि म्वप०  
से सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर इधर हल् से दाव प्राप्त होता है उधर  
हम्बस्य पिति होने तुक् से तुक् । क्त्वि क लोप को प्रत्ययलक्षण से जान कर दोनों  
कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं । तुक् और दीर्घ यद्वा दोनों एकयोगलक्षण हैं ।  
प्रत्ययलोप प्रत्ययलक्षणम् इस एक सूत्र द्वारा ही होने वाला है । क्योंकि यद्वा  
क्त्वि प्रत्यय क लुप्त हो जान पर सार प्रत्ययाधित कार्य नष्टप्राय से हो जाते

१ स्वादिष्वसर्व० से प्राप्त पदसञ्ज्ञा का तो पर होने से भसञ्ज्ञा बाधनी,  
सुबन्त पदम् से प्राप्त की अपवाद हान से बाधना

सिद्ध तु स्थानिसज्ञानुदेशान्यभाव्यस्य ।

सिद्धमेतत् । कथम् । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य भवतीति वक्तव्यम् ।  
किं कृतं भवति । सत्तामात्रमनेन क्रियते । यथा-गते तुग्दीर्घत्व भविष्यतः ।

तद् वक्तव्यं भवति ।

यद्यप्येतदुच्यते । अद्यवेतर्हि स्थानिवद्भावो नारभ्यते । 'स्थानि-  
संज्ञान्यभूतस्यानल्लिधावि'ति वक्ष्यामि ।

हैं । वे सब इस प्रत्ययलक्षण सूत्र से एक साथ पुन उलथापित किये जाते हैं ।  
इसी से तुक् और इसी में दीर्घ । यह एकयोगलक्षण समस्या है । एक ही  
योग से एक साथ होने वाले कार्य नहीं बन पाते । यहाँ कम तो कोई है ही नहीं;  
कैसे जाने कि परिवी में पहले दीर्घ होगा, तुक् न होगा ।

स्थानिसंज्ञानुदेश आन्यभाव्यस्य या स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य ऐसा (न्या)  
वचन बना देंगे । उस से उन दोष न होगा । इस वचन का अर्थ है कि आन्य-  
भाव्य (=अन्यभाव) अन्यभूत या अन्य वस्तु को लोपादि आदेश है उसको  
किए आदि रूप स्थानी की जो सज्ञा पित् कृत् प्रत्यय इत्यादि को व्यपदेश  
उसका अतिदेश होता है । बाप पूँग आदेश की स्थानिसंज्ञा का अतिदेश कहने  
से क्या होगा ता उसका उत्तर है—यह सूत्र प्रत्ययलक्षण कार्य न करके स्थानी  
का सत्ता मात्र कर देगा लुप्त हुआ क्विप् स्थानी उपस्थित समझा जायगा ।  
उसकी उपस्थिति में वप्रतिषेध परं क्विप् से तुक् और दीर्घत्व में तो परस्पर  
प्राप्त होगा वह हो जायगा । पर होने से हल् से दीर्घ पहले हो जायगा तो परिवी:  
बन जायगा ।

यह भा गौरव ही है कि प्रत्ययलक्षण की जगह स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य यह  
वचन कहना होगा ।

यद्यपि यह वचन कहना होगा फिर भी उस वचन से एक लायव हो  
जायगा कि अलग स्थानिवद्भाव नहीं कहना पड़ेगा । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल-  
विधौ ऐसा सूत्र बना देंगे । इसी से स्थानिवद्देशोऽनल्लिधौ का काम चल  
जायगा ।

१ अनुदेशान्=अतिदेशान् ।

२ आन्यभाव्यस्य अन्यभाव एवान्यभाव्यम्, तस्य । स्वार्थे ष्यन् । अन्यभाव=  
अन्यवस्तु, अर्थान् आदेश ।

यधेवमाडो यमहन इत्यात्मनेपद् भवतीति हन्तेरेव स्यात् वर्धेर्न स्यात् । नहि काचिद् हन्त सज्ञास्ति या वधेरतिदिश्येत ।

हन्तरपि सज्ञास्ति । ऋ । हन्तिरेव । कथम् । 'स्व रूप शब्दस्या शब्दसज्ञे'ति वचनात् स्व रूप शब्दस्य सज्ञा भवतीति हन्तेरपि हन्ति सज्ञा भविष्यति ।<sup>१</sup>

भसना डाप् फ्-गारात्वपु च सिद्धम् ।

भसज्ञा डीपप्फ गोरत्त्वपु च सिद्ध भवति ।

भसज्ञा—राज्ञ पुरुष राजपुरुष प्रत्ययलक्षणन यचीति भसज्ञा प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानलविधाप्रिति वचना न भवति ।

डीप—चित्राया जाता चित्रा । प्रत्ययलक्षणेनाणतादितीरार प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानलविधिविति वचना न भवति ।

स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानलविधौ इस वचन म यह दोष होगा कि आडो यमहन म हन् स कहा हुआ आ मनप हन् स ही हो सकगा । वध स न हो सकगा । क्योंकि हन् की क इ सज्ञा नहीं तो उसक स्थान म हुण वध आदेा को अतिदिग् की गय ।

हन् की भी सज्ञा है । क्या ? हन् ही । कैसे ? स्व रूप गङ्गस्य० इस वचन स गङ्ग का धपना स्वरूप सज्ञा दाता है इस लिय हन् की हन् ही सज्ञा हो गायगी । इस वचन का यह लाभ भी है कि भसना, डीप, फ् और गा शब्द को आ ग करन म भी राननन यभूतस्यानलविधौ इस वचन स ही इष्ट सिद्ध हो जायगा । भसना जैसे—राज पुरुष राजपुरुष । यहा समास मे लुप्त हुण उस को प्रत्ययलक्षण स मान कर वचि भम् स भसज्ञा प्राप्त होती है । उसस नगप न हो सकगा । किन्तु स्थानिसज्ञाय० इस वचन में अन वधौ कहने स भसना नहीं होगे । क्योंकि अनादि प्रयय का आश्रयण करन स भसना अविधि है । अलविधि म लुक् का स्थानासज्ञा न हागी तो ट्स् परे न हात स भसना न हागी उसस नहाप हो जायगा डीप जैसे—चित्राया जाता चित्रा । यहा चित्रा गङ्ग स तत्र जात अथ म हुण अण का चित्रारवतारोहिणीभ्य स्त्रियामुपमग्यानम् स लुक् हुआ है । उस को प्रत्ययलक्षण स मान कर चित्र गङ्ग अण्णत हा जायगा ता टाप का बाध कर टिङ्गणञ० स डीप् प्राप्त होता है ।

१ सूत्रोपात्त हन् प्रयोगस्थ हन् की सज्ञा है ।

प्फ—वतण्डी । प्रत्ययलक्षणेन यत्र तादृति प्फः प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ।

गोरात्वम्—गामिच्छति गव्यति । प्रत्ययलक्षणेनामि औतोम्-शसोस्त्वितात्वं प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ।

तस्य दोषो डौ नकारलोपेत्त्वेम् प्रियः ।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः । डौ नकारलोपः । आर्द्रं चर्मन् लोहिते चर्मन् । प्रत्ययलक्षणेन यचीति भसज्ञा सिद्धा भवति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति । इत्थम्—आशी । प्रत्यय-

स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से न होगा । क्योंकि ाट्ढाणञ्० सूत्र में अण्यतश्चाप् से अकारान्त की अनुवृत्ति आने से ङीप अल्विधि है । इस लिये लुक् की अण् सज्ञा न होगी तो अणन्त न होने से ङीप न होगा । प्फ जैसे—वनण्डा । ( वतण्डस्य गोत्रात्पत्य स्त्री ) यद्वा वतण्डाच्च से यञ् प्रत्ययान्त वातण्डव्य शब्द से स्त्री अपत्य अर्थ में लुक् स्त्रियाम् से यञ् का लुक् हुआ है । उस प्रत्ययलक्षण से यजन्त मान कर आवट्यायनी की तरह प्राचा प्फ तद्धित स प्फ प्राप्त होता है । स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं होता । क्योंकि प्राचा प्फ० में अण्यतश्चाप् से अकार की अनुवृत्ति आने से प्फ अल्विधि है । इस लिये लुक् की यञ् सज्ञा न होगी तो यजन्त न होने से प्फ न होगा । गा शब्द का भाव जैसे—गामिच्छति गव्यात् । गो अम् व्यच् ) यद्वा नामधातु म सुभो ध तु प्राप्तिदिक्यो से अञ् का लुक् हुआ है । उस प्रत्ययलक्षण म मान कर औतोम्शसः से गो शब्द को भाव प्राप्त होता है । स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं होता । क्योंकि औतोम्शसः म ङ्को यणञि से अञ् की अनुवृत्ति आने से भाव अल्विधि है । इस लिये लुक् की अम् सज्ञा न होगी तो अम् पर न होने से भाव नहीं होगा ।

स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ इस वचन क बनाने में भी दोष है । डि पर रहते नकारलोप, इत्थ और इम्विधि नहीं सिद्ध होती । आर्द्र चर्मन् यद्वा चर्मन् डि इस अवस्था में सुभा मुल्लू० स लुक् हुए डि को प्रत्ययलक्षण से मान कर यञि अम् से चर्मन् की भसज्ञा हो जाती है तो नलोप का अभाव सिद्ध हो जाता है । किन्तु स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से भसज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्योंकि वह अजादि प्रत्यय का आश्रयण करने से अनल्विधि

लक्षणेन हलीति इत्वं सिद्धं भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति । इम्—अतृणेद् । प्रत्ययलक्षणेन 'हली'ति इम् सिद्धो भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति । सूत्रं च भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्त सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः । तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवीरिति ।

नेप दोष । वक्ष्यत्यत्र परिहारम् । इहापि परिवीरिति । शास्त्रं परविप्रतिषेधेन परत्वात् दीर्घत्वं भविष्यति ।

हे । भसज्ञान होने से नलोप प्राप्त होता है उसके लिये न ङिसम्बुद्धयोः यह सूत्र बनाना पड़ता है । आशी ( आशास क्तिप् ) यहाँ लुप्त हुण् क्तिप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल परे हो जाता है तो शास इदङ्गलो से शास की उपधा को इत्वं सिद्ध हो जाता है । किंतु स्थानिसंज्ञान्यं० इस वचन में अनल्विधौ कङ्ने से इत्वं नहीं प्राप्त होता । क्योंकि हलादि प्रत्यय का आश्रयण करने से इत्वं अलविधि है । उसके लिये आशास ऋतुपसंज्ञानम् यह वातिक बनाना पड़ता है । अतृणद् ( तृह् इनम् लङ् तिप् ) यहाँ हल्ङ्घाप्० सूत्र से लुप्त हुण् तिप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल परे हो जाता है तो तृणद् इम् से इनम् विशिष्ट तृह् धातु को इमागम सिद्ध हो जाता है । किन्तु स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन में अनल्विधौ कङ्ने से इम् नहीं प्राप्त होता । क्योंकि हलादि पित् सार्धधातुक का आश्रयण करने से इम् अलविधि है । इन दोनों के साथ स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन के बनाने से प्रत्ययलक्षण सूत्र भी दृढता है ।

अच्छा तो यथान्यास ही रहने दीजिये । प्रत्ययनेपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र ही ठीक है ।

प्रत्ययलक्षण सूत्र में सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभाव और तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्ति ये जो दोष कहे थे उनका क्या समाधान है ?

यह कोई दोष नहीं । सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभाव इस दोष का समाधान तो अभी इसी सूत्र पर आगे कहेंगे । तुग्दीर्घत्वयोश्च वाले परिवी में भी उपदन्त शास्त्रों के विप्रतिषेध में पर होने से दीर्घ हो जायगा तुक् न होगा ।

प्रयोजनमपृक्तशिलोपे नुममामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वेनडाद्दनम्विधयः ।

अपृक्तलोपे शिलोपे च कृते नुम् अमामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वम्  
इम् अडाटौ इनम्विधिरिति प्रयोजनानि ।

नुम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री पधस्था । ता ता पिण्डानाम् ।

अमामौ—हे अनड्वन् । अनड्वान् ।

गुणः—अधोक् । अलेद् । वृद्धिः—न्यमाई ।

दीर्घत्वम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री पधस्था । ता ता पिण्डानाम् ।

इम्—अतृणेद् ।

अडाटौ—अधोक् । अलेद् । ऐयः । औनः ।

इनम्विधिः—अभिनोऽत्र । अच्छिनोऽत्र । अपृक्तशिलोपयोः कृतयो-  
रेते विधयो न प्राप्नुवन्ति । प्रत्ययलक्षणन भवन्ति ।

परिचीय ( परि च्येञ्-ल्यप् ) इत्यादि मे प्रत्यय की अविद्यमानता मे भी दीर्घ ही होगा । यद्यपि ह्रस्वस्य पिति कृत तुक् और हल् ये दोनो प्रत्ययलक्षण से उत्थापित होते हैं । उनके एकयोगलक्षण होने पर भी प्रवृत्ति मे पूर्व पर का क्रम बन जायगा । दोनो के क्रम में पर होने से दीर्घ ही हो जायगा तुरु न होगा ।

अपृक्त का लोप और शि का लोप हो जाने पर नुम्, अम्, आम्, गुण, वृद्धि, दीर्घत्व, इम्, अद्, आद् और इनम् का होना प्रयोजन है । अग्ने त्री ते इस वेदमन्त्र मे त्रीणि के स्थान में त्री यह वैदिक प्रयोग है । शेदञ्दसि बहुलम् से शि का लोप होकर फिर नुम् उपधादीर्घ और नलोप हो जाता है । छुप्त हुप् शि को प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा । तो नपुसकम्य झलवः से नुम् और सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से उपधादीर्घ हो जाता है । इसी प्रकार वाजिनानि=वाजिना । सधस्थानि=स पस्था । तानि तानि=ना ता । ये समझने चाहिये । हे अनड्वन् ! यहाँ अनड्वद् शब्द से परे सम्बुद्धि के सु का हल्-ह्याप्० से लोप होता है । उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सम्बुद्धि परे हो जायगा तो अम्सम्बुद्धौ से अनड्वद् को अमागम हो जाता है । अनड्वान् में हल्-ह्याप्० से हुप् सुलोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर चतुरनड्वद्वोरामुदात्त आमागम हो जाता है । अधोक् अलेद् ( दुह्, लिह्-लट् तिप् ) यहाँ हल्-ह्याप्० से हुप् तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर दुह् लिह् धातुभो को लघूपधगुण और लृष् लृष् लृष्-श्वडुदात्तः से अडागम



नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । स्थानिवद्भावेनाप्येतानि सिद्धानि ।

न सिध्यन्ति । आदेशः स्थानिवदित्युच्यते । न च लोप आदेशः ।

लोपोऽप्यादेशः । कथम् । आदिश्यते यः स आदेशः । लोपोऽप्यादि-  
श्यते । दोषः खल्वपि स्याद् यदि लोपो नादेशः स्यात् । इहाचः  
परस्मिन् पूर्वविधावित्येतस्य भूयिष्ठानि लोप उदाहरणानि तानि न स्युः ।

यत्र तर्हि स्थानिव्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः ।

हो जाता है । न्यनार्द्ध ( नि मृञ्-लृङ् तिप् ) यहां हल्ठवाप्० से हुप् तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर मृञ् को मृजेर्द्धि से वृद्धि हो जाती है । अतृणेद् ( तृणह्-लृङ् तिप् ) यहां हल्ठवाप्० से हुप् तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर हलादि सार्वधातुक परे हो जायगा तो तृणह इम् से इमागम हो जाता है । ऐयः औन ( ऋ-लृङ् तिप् । उन्द्-लृङ् सिप् ) यहां हल्ठवाप्० से हुप् तिप् सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर आडजार्दनाम् से ऋ और उन्द् को भाद् धागम हो जाता है । अभिनः अचिञ्चनः ( भिद् छिद्-लृङ् सिप् ) यहां हल्ठवाप्० से हुप् सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर सार्वधातुक परे हो जायगा तो रुधादिभ्य इन्म् से इन्म् हो जाता है । सर्वप्रथम अपृक्तसञ्ज्ञक सु ति िस का लोप तथा शि का लोप होने पर नुम् आदि उक्त विधियां नहीं सिद्ध होतीं । प्रत्ययलक्षण से सिद्ध हो जाती हैं ।

ये कोई प्रयोजन नहीं हैं । ये तो स्थानिवद्भावा से भी सिद्ध हैं ।

स्थानिवद्भावा से ये सिद्ध नहीं हो सकते । क्योंकि आदेश को स्थानिवद् कदा है । और लोप आदेश है नहीं ।

लोप भी आदेश है । कैसे ? जो आदिष्ट किया जाय वही आदेश है । लोप भी आदिष्ट किया जाता है, विधान किया जाता है इस लिये वह भी आदेश है । यदि लोप को आदेश नहीं मानेंगे तो दोष भी होगा । यहां पहले व्याख्यात अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इस सूत्र में बहुत अधिक उदाहरण लोप रूप आदेश के ही हैं वे सब गड़ बड़ हो जायेंगे । इस लिये लोप को भी आदेश मानना चाहिये ।

अप्य जहां स्थानिवद्भावा नहीं हो सकता वहां के लिये यह प्रत्ययलक्षण सूत्र कहना चाहिये ।

क च स्थानिवद्भावो नास्ति ।

योऽल्लविधिः । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं डौ नकारलोपेत्वम्प्रियय ।

भसंज्ञाडीप्फगोरात्वेषु च दोषः ।

भसंज्ञा डीप्फगोरात्वेषु च दोषो भवति ।

भसंज्ञायां तावन्न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेन भसंज्ञा भवतीति । यद्य 'न डिसम्बुद्धयोरिति'ति डौ नलोपप्रतिषेधं शास्ति । डीप्यपि नेच विज्ञायते अण्णन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि ? अण् योऽकार इति । फोऽपि नेच विज्ञायते यजन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि यञ् योऽकार इति । गोरात्वेऽपि नेच विज्ञायते अमि अचीति । कथं तर्हि अच्यमीति ।

स्थानिवद्भाव कहां नहीं हो सकता ?

जो अल्लविधि है । अल्लसम्बन्धी विधि में अनल्लविधौ इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है इस लिये वहां प्रत्ययलक्षण सूत्र की आवश्यकता है । क्या प्रयोजन है ? पूर्वोक्त डि परे रहते नकार का लोप, इत्व, और इम्विधि ।

परन्तु प्रत्ययलक्षण सूत्र में पूर्वोक्त भसज्ञा, डीप, फ और गो शब्द के आत्व में दोष भी तो है ?

भसज्ञा में कोई दोष नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि प्रत्ययलक्षण से भसज्ञा नहीं होती । यह जो न डिसम्बुद्धया सूत्र द्वारा डि परे रहते नलोप का निषेध करते हैं । उस से यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा आर्द्रं चर्मन् यदां चर्मन्-डि इस अरुस्था में मुण सुलुक् पूर्व सर्वणा० से डि का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से डि परे हो जायगा तो यचि भम् से चर्मन् की भसंज्ञा होकर पद न रहने से नलोप की प्राप्ति ही नहीं रहती । फिर डि परे रहते नलोप निषेध करना व्यर्थ है । उससे राजपुरुष यदां प्रत्ययलक्षण से भसंज्ञा न होगी तो सुबन्त की पद सज्ञा होने से नलोप निर्वाह सिद्ध हो जायगा । सतो निमित्ताभावात् पदसज्ञाभाव' इस पूर्वोक्त दोष का यहां यह समाधान हो जाता है । डीप् में भी दोष नहीं है । क्योंकि टिड्ढाणञ् सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अण्णन्त जो अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे डीप् होता है यत्कि

प्रयोजनान्यपि तर्हि नैतानि सन्ति । यत्तावदुच्यते ङौ नकारलोप  
इति । क्रियते एतन्न्यास एव, न ङि सम्बुद्धयोरिति । इत्त्वमपि,  
चक्ष्यथेतत्—शाम इत्ये आशासः काविति । इम्विधिरपि हलीति  
निवृत्तम् ।

यदि हलीति निवृत्तम् । तृणहानि अत्रापि प्राप्नोति ।

एव तर्हि अचि नेत्यनुवर्तिष्यते ।

प्रातिपदिक के अण् का जो अकार उससे परे डीप् होता है । उससे चिनाभा  
जाता चिना यहाँ डीप् न होगा । क्योंकि अण् रूप अकार के वर्ण होने से  
तदाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा । यह प्रत्ययग्रहण का प्रयोजन पहले  
कह चुके हैं कि व्रणाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । यही बात फ् में भी  
समझ लेनी चाहिये । वहाँ प्राचा फ्० का यह अर्थ नहीं करेंगे कि यजन्त जो  
अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे फ् होता है बल्कि यन् का जो अकार उस  
से परे फ् होता है । उससे वतण्डी में फ् न होगा । अकाररूप वर्ण का आश्रयण  
करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा । गो शब्द के आत्व में भी दोष  
नहीं । आत्व करने वाले औतोमूदासो. सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अजादि  
अम् प्रत्यय पर रहते पूर्व पर को आत्व होता है बल्कि अम् सम्बन्धी अच् परे  
रहते पूर्व पर को एकादश आत्व होता है । उससे गव्यति में आत्व नहीं होगा ।  
क्योंकि अच् रूप वर्ण का आश्रयण करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा ।

इस प्रकार तो प्रत्ययलक्षण सूत्र क प्रयोजन भी अन्यथा सिद्ध हो जाते  
हैं । यह जो ङि परे रहते नकारलोप प्रयोजन कहा है उसके लिये न ङिसम्बुद्धपा-  
यह सूत्र बनाया ही हुआ है । आशा. में इत्त्व क लिये भी शाम इदङ्ग्लो. सूत्र  
पर आशास. कानुपसंख्यानम् यह वाकिक कहेंगे । अतृणद् मे इम्विधि भी सिद्ध  
हो जायगी । हम तृणद् इम् में उतो रृद्धिर्लुकि हलि से हलि की अनुवृत्ति नहीं  
करेंगे । पित् सार्वधातुक परे रहते तृणद् का इम् कह देंगे । उससे तित् आदि  
पित् सार्वधातुक का लोप होने पर भी उसको स्थानित्त्व मान कर इमागम हो  
जायगा ।

यदि तृणद् इम् में हलि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो तृणहानि ( तृणह-  
लोट् आट् सिप् ) में अजादि पित् सार्वधातुक पर रहत भी इमागम प्राप्त होगा ।

तो फिर नान्यस्तस्याधि पिति सार्वधातुक से अचि न की अनुवृत्ति करेंगे  
उसका अर्थ होगा—अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते इमागम नहीं होता उससे  
तृणहानि मे इम् नहीं होगा ।

न तर्होदानीमय योगो वक्तव्यः । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् । प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात् । शब्द गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति । किं प्रयोजनम् । शाभना षपदोऽस्य ब्राह्मणस्य सुष्टपद् ब्राह्मणः । 'सोर्मनसी अलो-मोपसी' इत्यप स्वरो मा भूत् ।

न लुमताङ्गस्य ॥११॥६३॥

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसख्यानम् ।

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसख्यानं कर्तव्यम् । एकपदस्वरे च लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम् ।

ता क्या फिर यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । हम तो समन्त हैं कि बनाना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? प्रत्यय का नाम लेकर ता कार्य कहा गया है वही प्रत्ययलक्षण है । जो प्रत्यय अप्रत्यय साधारण शब्द का लेकर कार्य कहा गया है वही प्रत्ययलक्षण न हो । स्थानिवद्भाव से सिद्ध होने पर यह सूत्र नियमार्थ है कि जहाँ प्रत्यय का असाधारण रूप आश्रयमान है वही प्रत्ययलक्षण होगा । जहाँ तो प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों क साधारण रूप का आश्रयण है वही प्रत्ययलक्षण न होगा । उससे शोभना षपदोऽस्य ब्राह्मणस्य स सुष्टपद् ब्राह्मण यदा बहुवीहि समास में शोभन् (स) तस षपद् तस इस अवस्था में मुने वातुप्राप्तपादको से लुक् हुप् तस को प्रत्ययलक्षण से मान कर सुष्टपद् यह असन्त नहीं बनेगा ता सोर्मनसा अगेनोपसा स विधायमान उत्तरपद आशुदात्त स्वर नही होगा । यह इष्ट सिद्ध हो जायगा । क्योंकि सोर्मनसा० सूत्र में अनिनननन् प्रहणान्यर्ववता चानववन च तदन्तविधि प्रयोजयति इस परिभाषा बल से नन् और तस ये अर्थवान् या अनर्थक प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण शब्द लिये गये हैं । अन् प्रत्यय भी हा सकता है और प्रत्ययभिन्न भी । कवल प्रत्यय का ही असाधारण रूप यहाँ आश्रयमान नहीं है । इस लिये लुप्त अस वाले मुष्पद् शब्द में स्थानिवद्भाव से उत्तरपदत्व हात हुप् भी प्रत्ययलक्षण से असन्तत्व न होगा तो उत्तरपद आशुदात्तस्वर न होकर नञ्नुभ्याम् से उत्तरपद अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा ।

लुमान् क प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध में एकपदाश्रय स्वर में भी प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये । अर्थात् एक पद क स्वर में जहाँ लुमान् शब्द से प्रत्यय लुप्त हुआ है वहाँ भी प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहना चाहिये ।

१ स्वर का कार्य अवाधिकारय न होने से वहाँ न लुमताङ्गस्य यह निषेध

क्रिमविशेषेण ?

नेत्याह ।

सर्गामन्त्रितसिज्जुक्स्वरवर्जम् ।

सर्वस्वरमामन्त्रितस्वरं सिज्जुक्स्वरं च वर्जयित्वा । सर्वस्वर—  
सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः । 'सर्वस्य सुपी'त्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् ।  
आमन्त्रितस्वर—सपिंरागच्छ । सप्तागच्छत । 'आमन्त्रितस्य चेत्याद्यु-

क्या सामान्यतया सभी एकपद के स्वरो में प्रत्ययलक्षण का निषेध करना  
चाहिये ?

नहीं । सर्वस्वर आमन्त्रितस्वर और सिज्जुक्स्वर को छोड़ कर ।

सर्वस्वर जैसे—सर्वस्तोम. सर्वपृष्ठः । ( सर्व. स्तोम. पृष्ठं वा यस्य स. ) यहाँ  
बहुव्रीहिसमास में बहुव्रीही प्रह्व्या पूर्वपदम् से होने वाला पूर्वपद प्रहृति स्वर  
सर्वस्य सुपि से सुपि पर विहित आद्युदात्त है । समास में विभक्ति का लुक् हो  
जाता है । उससे यह लुमान् शब्द से प्रत्यय का भद्रशन है । सुप् पर न रहने से  
सर्व इस एकपद का विधायमान आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर  
में प्रत्ययलक्षण का निषेध सर्वस्वर को छोड़ कर होगा तो यहाँ प्रत्ययलक्षण से  
सुपि पर मान कर हो जाता है । सर्वस्तोम. सर्वपृष्ठ में प्रत्ययलक्षण होकर जिसमें  
आद्युदात्त हो मके इस लिये एकपद के स्वर विषयक प्रत्ययलक्षणनिषेध में सर्वस्वर  
को छोड़ा गया है ।

आमन्त्रितस्वर जैसे—सपिंरागच्छ । सप्तागच्छत ( सपिंसु-सु । सप्तान्-जम् )  
यहाँ सपिंसु सप्तान् शब्दों के सम्बोधन में विभक्ति का लुक् हुआ है । वह लुमान्  
शब्द में प्रत्यय का भद्रशन है । उससे आमन्त्रित (=सम्बोधन प्रथमा) पर न

प्राप्त नहीं जाता इसी लिये यह एतदश्रय स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा जा  
रहा है । एकपद स्वर में ही प्रत्ययलक्षण का निषेध करने से द्विपदश्रय स्वर में  
प्रत्ययलक्षण हो ही जायगा । उससे दधि तिष्ठति यहाँ तिद्ध भक्ति. में विशेषमाल  
अतिरू में परे तिष्ठ में निधान द्विपदश्रय है इस लिये दधि में परे टुप्न दुए गु में  
प्रत्ययलक्षण ही जायगा ता दधि के पद बन जाने से उसमें परे तिष्ठति का निधान  
निर्दिष्ट हो जाता है । इसी प्रकार भद्रे रविषी यह आग आने वाला वार्तिक भी  
एतदश्रय स्वर में बाहर होने के कारण प्रत्ययलक्षण निषेध की अप्राप्ति में निधान  
दिया गया समझना चाहिये ।

दात्तत्वं यथा स्यात् । सिञ्जुक्स्वर—मा हि दाताम् । मा हि धाताम् ।  
'आदिः सिचोऽन्यतरस्यामि'त्येव स्वरो यथा स्यात् ।

किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं विनिकिल्मुक्ति स्वराः ।

विनिकिल्स्वरा लुकि प्रयोजयन्ति । गर्गा वस्ता । विदा उर्वाः ।

रहने से दशाध्यायस्थ आमन्त्रितस्य च इस सूत्र से सर्पिस् मप्त्न् आदि एकपद को विधीयमान आशुदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध आमन्त्रितस्वर को छोड़ कर हं गा वा यद्वा प्रत्ययलक्षण से आमन्त्रित परे मान कर हो जाता है ।

सिञ्जुक्स्वर जैसे—मा हि दाताम् । मा हि धाताम् । ( माइ हि दा धा-सिच् लुङ् तस् तान् ) यद्वा दा धा धातुओं से लुङ् में अडागम निषेध क लिये माइ का योग है । तिङ्ङितिङ्. से निजात रोकने क लिये हि इत्तद् का योग है । हि च सूत्र से तिङ् के निवात का निषेध होता है । गानम्यानुपा० से सिच् का लुक् हुआ है । सिच् परे न रहने से आदि सिचोऽन्यतरस्याम् से विधीयमान दा धा आदि एकपद को आशुदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध सिञ्जुक् स्वर को छोड़ कर होगा तो यद्वा प्रत्ययलक्षण से सिच् परे मान कर हो जाता है ।

एकपद के स्वर में प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध का क्या प्रयोजन है ?

प्रत्यय का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से प्राप्त जित् नित् कित् इन एकपद के स्वरों का न होना प्रयोजन है ।

१. मा हि दाताम्, मा हि धाताम् यद्वा सिञ्जुक्स्वर में ता ज्ञापक से भी प्रत्ययलक्षण का होना सिद्ध हो जाता है । क्योंकि गातिस्था० सूत्र में ल्लि का लुक् न विधान करके जो सिच् का लुक् विधान किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि सिञ्जुक् में प्रत्ययलक्षण होता है । अन्यथा ल्लि के लुक् में लाघव था । मन्त्रे घसङ्करणता० दस उत्तर सूत्र में छे प्रहण भी न करना पड़ता । लाघव का छोड़ कर जो गोरव का आश्रयण किया है वह सिच् का लुक् होने पर भी सिच् क कार्य करन में ही ज्ञापक हो सकता है ।

उष्प्रोवा वामरज्जुः । त्रितीत्याद्युदात्तत्वं मा भूदिति । इह चात्रय-  
'त्रि' इत्यन्तोदात्तत्वं मा भूदिति ।

पथिमथाः सर्वनामस्थानं लुकि ।

पथिमथो सर्वनामस्थाने लुकि प्रयोजनम् । पथिमथो सर्वनाम-  
स्थाने लुमता लुक्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति उक्तव्यम् । पथिमथो  
मथिमथि । पथिमथा सर्वनामस्थाने इत्येष स्वरो मा भूदिति ।

त्रि स्वर त्रैम— त्रिा त्रिा । त्रिदा उवा उष्प्रवा वामरज्जुः । (गगस्य उत्स्य  
ष गात्रापत्यानि बहूनि ) यथा गगादि यत्रन्त गग वत्स शब्दा स प्रथमावहुवचन  
उस् पर रहत यत्रना स यच् का लुक् हुआ है । उसको प्रत्ययलक्षण स मान  
कर तत्र यच् परे हा जायगा ता त्रिदादिर्नियम् स गग वत्स का भागुदात्त  
स्वर प्राप्त होता है । एकरद के स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने स नहीं  
हाता इहा प्रथम त्रिदा उवा ( त्रिस्व उरस्य ष गात्रापत्यानि बहूनि ) यथा  
त्रिदादि अत्रप्रत्ययान्त त्रिद उवा शब्दा स तस् पर रहत यत्रनाथ स अच् का  
लुक् हुआ है । उमका प्रत्ययलक्षण स मान कर तत्र पर हा जायगा ता त्रिदादिर्नि-  
यम् स भागुदात्त प्राप्त होता है । एकरदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने  
स नहीं हाता ।

उष्प्रवा इव उष्प्रोवा । वामरज्जुर्वव वामरज्जुः । यथा उष्प्रोवा वामरज्जु-  
शब्दा स इवाथ में इव प्राणहता स हुण क्त् प्रथम का दत्तवादिभ्यः स लुक्  
हुआ है । उमका प्रत्ययलक्षण स मान कर तत्र पर हा जायगा ता त्रिदादि-  
स भागुदात्त प्राप्त होता है । एकरदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने स  
नहीं हाता ।

अथ यथा त्रि स भागुदात्त न हा इम लिय भी एकरदस्वर में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा है । अत्रापत्यानि बहूनि इम भर्त् में इत्यानित्र मे  
डक् प्राप्यात् अत्रि शब्द स तस् पर रहत अत्रिनुगुत्तः स डक् का लुक् हुआ है ।  
उमका प्रत्ययलक्षण स मान कर तत्र पर हा जायगा ता त्रि मूय स भागुदात्त  
प्राप्त होता है । एकरदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने स नहीं हाता ।

यथा सर्वनामस्थाने स हान वाच एकरदस्वर में भी प्रत्ययलक्षण का  
निषेध प्रयोजन है पथिम मथिमथि ( पथा मथा त्रिदा वत्स्य ) यथा बहुवादि  
सनाम में वाच्य मथिन् स पर तु विभक्ति का लुक् हुआ है । उम प्रत्ययलक्षण स मान

अहो रविधौ ।

अहो रविधाने लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम् ।  
अहर्ददाति । अहर्भुङ्क्ते । रोऽसुपिति प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो मा  
भूदिति ।

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ ।

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति

कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा तो पथिमधो. सर्वनामस्थाने से आद्युदात्त प्राप्त होता है । पूर्वपदप्रकृतिस्वर में वही सुनाई देना चाहिये, किन्तु प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त पथि मधि शब्द ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर में रह जाते हैं ।

अहन् शब्द क नकार को रेफ विधान करने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध कड़ना चाहिये । अहर्ददाति । अहर्भुङ्क्ते ( अहन्-सु ) यहा अहन् शब्द से परे स्वमोर्नपुंसकात् से सु का लुक् हुआ है । उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर सुप् परे हो जायगा तो रोऽसुपि से विधीयमान रेफ का असुपि यह निषेध प्राप्त होता है । प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से सुप् परे न होगा तो रेफ सिद्ध हो जाता है ।

उत्तरपद को पद बनाने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में

१. रोऽसुपि में असुपि यह प्रत्ययप्रतिषेध माना गया है । पर्युदास नहीं । प्रत्यय में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप् परे रहने रेफ नहीं होता । और पर्युदास में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप्भिन्न परे रहने रेफ होता है । पर्युदास मानने में यह दोष होगा कि दीर्घमह चस्मिन् निदाघे स दीर्घाहा निदाघ यहा सुप्भिन्न निदाघ शब्द परे रहते भी रेफ हो जायगा तो दीर्घाहर्निदाघ. ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है । वस्तुतः यहा अहन् सूत्र से नकार को हत्व इष्ट है । क्योंकि दीर्घाहन् से परे सु का इङ्ङ्याप्० से लोप होकर प्रत्ययलक्षण हो जायगा तो सुप् परे हो जाने में असुपि यह निषेध लग जायगा । उमसे रेफ न होकर हत्व होगा । अहर्ददाति यहा तो स्वमोर्नपुंसकात् से सु का लुक् हुआ है । वह लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन है इस लिये अहो रविधौ इस वचन से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो सुप् परे न रहने में रेफ ही होगा । अहर्ददौ रौति । यहा तो अहन् अहन्-रौति इस अवस्था में रोऽसुपि से प्राप्त रेफ रूपरात्रिरधन्तरेषु हत्व वाच्यम् इस वचन द्वारा कथित हो जाता है । यहा त्प आदि शब्द रेफमान के उपलक्षण हैं । पक्षान्तर में तो दूसरा समाधान देना होगा ।



यत्त्वयम् । परमवाचा परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमद-  
ल्लिहा परमदल्लिहे । पदस्येति प्रत्ययलक्षणैः कुत्वादीनि मा भूवन्ति ।

अपदादिविधायित्वं किमर्थम् ?

दधिवेचौ दधिसेचः । सात्पदाद्योरिति प्रतिषेधो यथा स्यात् ।

यद्यपदादिविधावित्युच्यते उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेत ।

प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये । पदादिविधि को छोड़ कर । जहाँ पद क  
भादि भक्षर का कोई कार्य करना हो । जहाँ उत्तरपद में प्रत्ययलक्षण का निषेध  
नहीं होता । अर्थात् यहाँ उत्तरपद प्रत्ययलक्षण से पद बना नहीं रहता है । परमवाचा  
परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमदल्लिहा परमदल्लिहे । ( परमा चासौ  
वाक्, परमश्चासौ गाथुक्, परमश्चासौ श्वलिह् ) यहाँ कर्मधारय समास में उत्तरपद  
वाक् गाथुह्, दल्लिह् को प्रत्ययलक्षण से सुवन्त मान कर क्रम से चा कु,  
दादरान्ताप, दाड स कुरर घस्य करर प्राप्त होते हैं । उत्तरपद के पदर में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध करने से नहीं होने । दा ड विभक्ति पर रहने तो नसज्ञा  
दान न कुत्वादि प्राप्त हो नहीं ।

पदादिविधि को क्यों छोड़ा गया ?

त्रिसप्त दशमिचौ, दशमिच यहा पष्ठीसमास में उत्तरपद सेच शब्द  
का प्रत्ययलक्षण न सुवन्त मान कर पदादि सकार हो जायगा तो सातशो  
न पयनिषेध सिद्ध हो जाता है । दशमिचौ यहाँ पष्ठावमास है । उपपदसमास  
नहीं । पदल वि चत इत गेचौ । इस प्रकार निष्पपद सिच् धातु में विच्  
प्रापय करके गुण हाकर सेचौ बनाया । फिर दान सेचौ दशमिचौ यह पष्ठी  
समास क्रिया । दश निष्पत्त इस प्रकार उपपदसमास में विच् प्रापय करके  
बनाने में तो गतिघरघरगानी हृष्टि गद समांतरान प्राक् सुवन्त इस परिभाषा  
क नियम में सुवन्तति से पूर्व सच् इस विच् प्रापयान्त हृद-न स हा दधि का  
समास हो जान में भेष् दध् पद न बनगा तो पदादि सकार के अभाव में  
सातशो से पयनिषेध न हो सकेगा ।

यदि उत्तरपद के पदर में पदादिविधि का छोड़ कर प्रत्ययलक्षण का  
निषेध कहते हैं तो उत्तरपदाद यह समासस्वरविषयक उत्तरपद के अधिकार  
पाशा प्रकरण ही पदबद्ध हो जायगा । क्योंकि यहाँ भी उत्तरपद के भादि भक्षर

तत्र को दोषः ?

‘कर्णो वर्णलक्षणादि’स्येवमादिविधिर्न सिध्यति ।

यदि पुनर्नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षण न भवतीत्युच्येत ।

नैवं शक्यम् । इह राजकुमार्यौ राजकुमार्यः इति शाकलं प्रसज्येत ।

नैव दोषः । यदेतत् सिति शाकल नेति । एतत् प्रत्यये शाकलं नेति वक्ष्यामि ।

को कोई विधि नहीं करनी इस लिये प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर उत्तरपद नहीं बनेगा । उत्तरपदादि. सूत्र का अर्थ है उत्तरपद के आद्युदात्त का यहाँ से अधिकार किया जाता है ।

वहाँ क्या दोष होगा ?

कर्णो वर्णलक्षणात् इत्यादि सूत्रों से कर्ण आदि उत्तरपद को विधीयमान आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होगा ।

यदि उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ की जगह नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते ऐसा कह दे तो केसा रहेगा ? इस वचन का अर्थ होगा—‘नलोप’ प्रातिपदिकान्तस्य से विहित नलोप से लेकर वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त इस प्लुतप्रकरण की समाप्ति तक सब विधियों में लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । उस से चोः वुः आदि विधियों के तद्-तर्गत हो जाने से परमराचा आदि में प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कुत्वादि न होंगे ।

ऐसा नहीं कह सकते । तत्र तो राजकुमार्यौ राजकुमार्यः यहाँ उत्तरपद कुमारी में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर कुमारी पदान्त बन जायगा तो इकोऽसवर्णे शाक-यस्य ह्रस्वश्च से शाकल एवं प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । इकोऽसवर्णे० यह सूत्र नलोपादि प्लुत्यन्त विधियों से बाहर है ।

यह कोई दोष नहीं । इकोऽसवर्णे० सूत्र पर जो सिति शाकलं न यह वचन पड़ा है उसकी जगह प्रत्यये शाकलं न ऐसा पठ देंगे । उमका अर्थ होगा—न केवल सित् प्रत्यय पर रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है, बल्कि प्रत्ययमात्र के परे रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है । उससे राजकुमार्यौ राजकुमार्यः में औ, जस् प्रत्यय पर रहते प्रकृतिभाव का निषेध होकर यण् हो जायगा ।

यदि प्रत्यये शाकल नेत्युच्यते, दधि अधुना । मधु अधुना ।  
अथापि प्राप्नोति ।

प्रत्यये शाकल न भवति, क्तरस्मिन्, यस्माद्यः प्रत्ययो विहित  
इति ।

इह तर्हि परमदिवा परमदिने । दिव उदित्युत्तर प्राप्नोति ।

अस्तु तर्ह्यविशेषेण ।

ननु चोक्तम् उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेतेति ।

वचनादुत्तरपदाधिकारो भविष्यति ।

यदि प्रत्यय शाकल न पडेग तो दधि अधुना मधु अधुना यहा अधुना प्रत्यय  
पर रहते भा प्रकृतिभाव का निषेध प्राप्त होगा ।

प्रत्यय शाकल न भवात यह निषेध किस प्रत्यय क परे रहते लगेगा । विम  
स जो प्रत्यय विधान किया गया होगा, न कि प्रत्यय प्रत्यय के परे रहते । राजकुमारी  
में तो भी प्रत्यय राजकुमारी स ही विधान किया गया है इस लिये वही प्रकृतिभाव  
का निषेध हा जायगा । किन्तु दधि अधुना में अधुना प्रत्यय दधि स नहीं किया  
गया है इस लिये वही प्रकृतिभाव का निषेध नहीं ह गा ।

तो फिर परमदिवा परमदिने ( परमा षी ) यहा कर्मधारयममास में  
उत्तरपद दिव शब्द में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर दिव् पदान् बन जायगा  
ता दिव न्त स उकार प्राप्त होता है । क्योंकि दिव उत् भी नगोशादुच्यन्त  
विधियों स बाहर है ।

अन्तु ता नगोशादिविधौ प्युच्यन्त यह वचन न मान कर सामान्य रूप से  
उत्तरपद न चारशदिविधौ यहा वचन मान लायिडे ।

उस वचन में उत्तरपदाधिकार की भविद्धि का जो दोष कहा था उसका क्या  
समाधान है ?

वचनसामर्थ्य में उत्तरपदाधिकारविहित कार्यों का भिद्धि हो जायगी ।  
यदि उत्तरपदाधिकारविहित उत्तरपद क भागुदात्तर में प्रत्ययलक्षण का  
निषेध हा जात ता उत्तरपद न मिलन स किमें भागुदात्त करेंग । इस लिये भी और  
प्युच्यन्त पदादि शब्द होने में भी उत्तरपदाधिकार में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होगा ।  
रना वचनान्तु हरादि हराविधापक मृत उत्तरपद के भादि भक्षर को ही

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् । अनुवृत्तिः करिष्यते । इदमस्ति 'यस्मात्प्रत्यय-  
विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' । 'सुप्तिङन्तं पदम्' यस्मात् सुप्तिङ्विधि-  
स्तदादि सुवन्तं तिङन्त च । 'नः क्ये' । नान्त क्ये पदसंज्ञ भवतीति ।  
यस्मात् क्यविधिल्लदादि सुवन्तं च । सिति च । पूर्वं पदसंज्ञ भवति ।  
यस्मात् सिद्धिविधिस्तदादि सुवन्तं च । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने पूर्वं  
पदसंज्ञ भवति । यस्मात् स्वादिविधिस्तदादि सुवन्तं च । यचि भम् ।  
यजादिप्रत्यये पूर्वं भं भवति । यस्माद् यजादिविधिस्तदादि सुवन्तं च ।

इदं तर्हि परमवाक्य । असर्वनामस्थाने इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

अस्तु तस्या प्रतिषेधः या स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा । या तु  
सुवन्तं पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति ।

उदात्त करत हैं । स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से शुक्लार्थ-  
इत्यादि में ककार व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से स्वर पदादिविधि हो  
जाता है ।

तो फिर उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ यह वचन कह दिया जाय ?

कहने की कोई आवश्यकता नहीं । हम परमवाचा परमवाचे इत्यादि का  
समाधान अन्य ढंग से करेंगे । वह यह है कि अनुवृत्ति की जायगी । पहल  
यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् यह सूत्र है । इसके बाद सुप्तिङन्तं पदम् है ।  
उसमें यस्मात्प्रत्ययविधि० से तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति करके जिसमें सुप् तिङ  
किये जायें वह, और तदादि वह है आदि में जिसके ऐसे सुवन्तं तिङन्तं भी  
पद संज्ञक होते हैं ऐसा अर्थ करेग । आगे न क्ये सिति च, स्वादिष्वसर्वनाम-  
स्थाने, यचि भम् इन सब सूत्रों में तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति होगी तो यचि भम्  
का अर्थ होगा—यादि अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की तथा जिससे यादि अजादि  
प्रत्यय किये हैं वह है आदि में जिसके ऐसे सुवन्त की भी भसंज्ञा होनी है ।  
उससे परमवाचा आदि में टा परे रहते पूर्व सुवन्त की भसंज्ञा होकर पदसंज्ञा की  
बाधा हो जायगी तो कुत्वादि न होंगे ।

फिर भी परमवाक्य यहां प्रत्ययलक्षण से सु सर्वनामस्थान पर रहते  
असर्वनामस्थाने यह निषेध हो जायगा तो स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से सुव त की  
पदसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।

हो जाये उस पदसंज्ञा का निषेध, जो स्वादिष्वसर्व० से होती है । जो तो

सत्येतत् प्रत्यये आसीत् । अनया भविष्यत्यनया न भविष्यतीति । लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत् एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा, तावत् एवावधेः सुवन्त पदमिति । अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन सर्वनामस्थानपरतेति कृत्या प्रतिषेधाच्च यत्नोपासो भवन्तीति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नाप्रतिषेधात् ।

नाथं प्रसज्यप्रतिषेधः सर्वनामस्थाने नेति । किं तर्हि पशुंदासोऽय यदन्यत् सर्वनामस्थानादिति । सर्वनामस्थाने अव्यापारः । यदि केनचित् प्राप्नोति तेन भविष्यति । पूर्वेण च प्राप्नोति ।

अप्राप्तेर्वा ।

अयया अनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते । कुत एतत् । 'अनन्तरस्य विधियां भवति प्रतिषेधो ये'ति । पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तथा भविष्यति ।

परमवाक्ये परमं मु वाच् मु=परमवाक्यं । परमवाच्-मु यहाँ सुवन्तं पदम् से परमवाच्य ही होने का ही पदसंज्ञा है यह रह जायगी ।

मु प्रत्यय की विद्यमानता में तो यह कहा जा सकता था कि इसमें पदसंज्ञा होगी, इसमें न होगी । अतएव कि मु प्रत्यय लुप्त हो गया है परमवाक्य यह भविष्यदानीं का धर्तृन् एव इत्यर्थः की भी और मुक्तिजन्य की भी समान है । उस अवस्था में एवावधेः ही भी प्राप्ति हो जाती है । लुप्त हुए मु प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान पर हो जायगा तो विशेष्य यत्नोपासो अन्त इत्यदिनावावधेः से अवसर्वनामस्थान यह विशेष प्राप्त होगा ही ।

अवसर्वनामस्थाने को हम प्रसज्यप्रतिषेध नहीं मानेंगे जिससे यह भयं हो कि सर्वनामस्थान पर रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती । भविष्य पशुंदास मान कर यह भयं करेंगे कि सर्वनामस्थाननिम्न प्रत्यय पर रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है । पशुंदास मानने से सर्वनामस्थान में पदसंज्ञा का व्यापार नहीं रहता । उस पक्ष में सर्वनामस्थाननिम्न में पदसंज्ञा का व्यापार रहेगा । सर्वनामस्थान में यदि किसी में प्राप्ति होती है तो हो जायगी । मुक्तिजी पदम् इस पूर्व सूत्र से प्राप्ति होता है यह हो जायगी । यदि पश्चात्तर में अवसर्वनामस्थाने को प्रसज्य प्रतिषेध ही मान लें तो भी परमवाक्य में पदसंज्ञा का विशेष न होगा । क्योंकि

ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वा प्राप्ति बाधेत ।

नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम् ।

यद्येवं परमवाचौ परमवाच इति सुप्तिटन्तं पदमिति पदसंज्ञा प्राप्नोति ।

एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते । स्वादिपु पूर्व पदसंज्ञं भवति । ततः सर्वनामस्थाने अयच्चि । पूर्वं पदसंज्ञं भवति । ततो भम् । भसंज्ञं भवति यज्ञादावसर्वनामस्थाने इति ।

अनन्तरस्य विप्रिर्वा भवात् प्रतिषेधो वा इस परिभाषाबल मे अनन्तर अव्यवहित जो पदसंज्ञा है उसी का असर्वनामस्थाने से निषेध होगा । व्यवहित पदसंज्ञा का नहीं । स्वादिपु से प्राप्त पदसंज्ञा अनन्तर है । सुप्तिटन्तम् से प्राप्त व्यवहित ५ । इस लिये स्वादिपु की पदसंज्ञा का निषेध होन पर भी सुप्तिटन्तम् की पदसंज्ञा रह जायगी । वह अप्रतिषिद्ध है ।

स्वादिपु वाली पदसंज्ञा सुप्तिटन्तम् वाली पदसंज्ञा को बाध लये और सर्वनामस्थान में स्वयं निषिद्ध हो जावे तो परमवाक् में कैसे पदसंज्ञा हो सकेगी ?

असर्वनामस्थाने से प्रतिषिद्ध होने वाली स्वादिपु यह पदसंज्ञा सुप्तिटन्तम् इस पदसंज्ञा को कैसे बाध सकती है । जो स्वयं बाध्य है वह दूसरे की बाधक कैसे होगी इन लिये परमवाक् में सुप्तिटन्तम् वाली पदसंज्ञा निर्बाध सिद्ध है ।

इस प्रकार तो परमवाचौ परमवाच यहाँ भी, जसू परे रहते परमवाक् इस सुदन्त की सुप्तिटन्त पदम् से पदसंज्ञा प्राप्त होती है । उससे कृत्व प्राप्त होगा ।

अच्छा तो योगविभाग करेंगे । स्वादिपुसर्वनामस्थाने में स्वादिपु इतना एक सूत्र होगा । उसका अर्थ होगा—स्वादिप्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है । इसके बाद असर्वनामस्थाने का अकार यच्चि भम् क यच्चि में मिला कर सर्वनामस्थाने अयच्चि ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसका अर्थ होगा—यादि अजादि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है । या यौ कहिये कि यादि अजादि सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती । उससे परमवाचौ परमवाच. परमवाचम् इन सब अजादि सर्वनामस्थानो के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा न होगी । केवल परमवाक् यथा ह्लादि सु सर्वनामस्थान के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होगी । यह कितने लाघव से इष्ट सिद्ध किया गया है । इसके बाद भम् यह सूत्र

यदि तर्हि सावपि पदं भवति । एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणं चोदयिष्यति । इह मा भूत् भद्रं करोषि गौरिति । तस्मिन् क्रियमाणेपि प्राप्नोति ।

वाक्यपदयोरन्त्यस्येत्येवं तत् ।

इह तर्हि दधिसेचः 'सात्पदाद्यो'रिति पदादिलक्षणः पत्वप्रतिषेधो न प्राप्नोति ।

मा भूदेव पदस्यादिः पदादिः पदादेर्नेति । रुधे तर्हि पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्येवं भविष्यति ।

होगा । जिसका अर्थ होगा—सर्वनामस्थानभिन्न यादि अत्रादि परे रहते पूर्व की भसजा होती है । पदसज्ञा में नप् का सम्बन्ध यनि के साथ है । भगता में सर्वनामस्थान के साथ है । इस प्रकार न पद सज्ञाओं का सांकेतिक दृष्ट कर कहीं दोष न होगा ।

उक्त प्रकार से यदि गु सर्वनामस्थान परे रहते भी पूर्वे की पदसज्ञा मानते हैं तो एचोऽप्रशम्याद्गदादभूते पूर्वा रेत्यादुत्तराम्येदुती इस मूल में जो एचो को इकार उकार रूप प्लुतविकार बरन में पदान्त ग्रहण किया है जिससे नद करोषि गौः यहाँ गौःसदस्थ भौकार के पदान्त न होने से वहाँ उकार रूप प्लुत विकार नहीं होता यह अथ पदान्त ग्रहण करने पर भी प्राप्त होता है । क्योंकि गौः यहाँ गु परे रहत गौ की पदसज्ञा हो जायगी तो भौकार के पदान्त हो जान से प्लुतविकार प्राप्त होता है ।

समस्त वाक्यस्थ पदों के अन्त में आने वाले एं को वह प्लुतविकार कहा गया है । गौ यहाँ गौ का आकार पदान्त होने पर भी भद्र करोषि गौ इस समस्त वाक्य के अन्त में नहीं है । वाक्य के अन्त में तो विनय है । इस विषे गु पर रहते पदसज्ञा होने पर भी गौ में प्लुतविकार न होगा ।

विर भी शर्मिणी क्षत्रियेच यही औ जग् पर रहते उत्तरपद मेन् अन्त की पदसज्ञा न होने से पद क भादि सज्ञा को मान कर होने वला ता शायो से पद का निश्च नहीं प्राप्त होता ।

मा शायो, मे पदस्यादि' पदादि पदादेः ( पद का भादि जो सकार ) इस

१. उत्तरपदस्थे श्म शक्ति क रहन पर अपदादिविधौ एवा कहने में यह दोष नहीं आता । शक्ति का प्रयोगान होने पर दोष है ।

नेव शक्यम् । इहापि प्रसज्येत । ऋक्षु वाक्षु कुमारीषु किशोरी-  
प्यिति ।

सात्प्रतिपधो ज्ञापक स्वादिषु पदत्वेन येषां पदसञ्ज्ञा, न तेभ्य  
प्रतिपधो भवताति ।

इह तर्हि बहुसचौ बहुसेच । बहुनय प्रत्यय । तत्र पदादादि  
पदादि पदादन्तैत्युच्यमानेऽपि न सिध्यति ।

एव तर्हि ।

उत्तरपदत्व च पदादिभिर्भौ ।

लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षण भवतीति वक्ष्यामि । तन्नियमार्थं  
भ्रिष्यति पदादिविधावय । न पदान्तविधाविति ।

प्रकार पृष्ठी समास मान कर दधिसचां म पदत्व न हान स पदानपध न हाव  
किन्तु पत्वात् आदि पदात् पत्वात् ( पद स पर ता आदि सकार ) इस प्रकार  
पञ्चमी समास मान कर पत्वनिपध हो जायगा । क्योंकि दधिमचौ म नधि इस  
पूर्व पद स परे सेच का आदि सकार है ।

ऐसा नहीं हो सकता । सापदागो म पत्वात् पत्वात् इस प्रकार पञ्चमी  
समास नहीं मान सकते । ऐसा मानन पर ऋक्षु वाक् कुमारापु किशोरापु यद्वा भी  
स्वादिष्वसर्व० स पदसञ्ज्ञक ऋक्ष वाक् आदि स पर सुष का आदि सकार होन  
स पत्वप्रतिपध प्राप्त हागा ।

सात्पत्वागो म सात् प्रत्यय पर रहत ता पत्वनिपध किया है वह इस  
बात का ज्ञापक है कि स्वादिष्वसर्व० स चिनकी पदसञ्ज्ञा है उनस पर सकार का  
पत्वनिपध नहा हाता । अन्यथा भाग्नसात् यद्वा भी सात् प्रत्यय पर रहत अग्नि  
शब्द की स्वाद्वसर्व० स पदसञ्ज्ञा हान स पत्वागो स ही पत्वनिपध सिद्ध है  
ता सात् प्रहण व्यर्थ है ।

फिर भी बहुसचौ बहुसच ( इपदसमाप्तौ सचौ बहुसचौ ) यद्वा सेच  
शब्द स इपदसमाप्ति अर्थ म विभाषा सुषो बहुच पुरस्तात् स बहुच प्रत्यय  
हुथा है । वह प्रातपदिक स पूर विहित होता है । प्रत्यय है । पद नहीं है ।  
उसस परे सच क सकार को पदादादि पत्वादि इस प्रकार पञ्चमी समास मानन  
पर भी पत्वनिपध नहा प्राप्त हाता ।

अच्छा तो उत्तरपदत्व च पदादिविधौ प्रत्ययलक्षण भवति । एसा वचन कह



कथं बहुसेचो बहुसेचः ।

बहुपूर्वस्य च ।

बहुचपूर्वस्य च पदादिविधायेव । न पदान्तविधायिति ।

द्वन्द्वेऽन्त्यस्य ।

द्वन्द्वेऽन्त्यस्य लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षण न भवतीति यक्तव्यम् ।  
यारुद्धस्त्वचम् ।

देने । यह नियमाय होगा कि उत्तरपद के पदत्व में पदादिविधि में ही लुमान् शब्द से लुप्ता लुप् प्रत्यय में प्रत्ययरक्षण होता है । उसमें परमसाचा परमसाचे इत्यादि में प्राप्त तुरगादि पदान्तविधियों में प्रत्ययरक्षण न होगा तो वहाँ पद न होने से तुरगादि न होंगे । अधिनाची इत्यादि पदादिविधियों में प्रत्ययरक्षण होने से परमनिषेध सिद्ध हो जायगा ।

बहुने ही बहुच बहुच प्रत्यय के पद न होने में पदादि मान कर होने चागे सा ३३३ में परमनिषेध कैसा होगा ? बहुमेच् शब्द में समाप्त न होने में न पूर्वपद है न उत्तरपद है ।

बहुचप्रत्ययपूर्वक में भी पदादिविधि में ही लुमान् शब्द से लुप्ता लुप् प्रत्यय में प्रत्ययरक्षण कइ दग । उससे बहुसचो में परमनिषेध हो जायगा और बहुसाग यत्ता में तुरगादि न होंगे ।

द्वन्द्वे । मात्र न कइ पद समग्र होने पर अन्तिम पद में ही लुमान् शब्द से लुप्ता लुप् प्रत्यय में प्रत्ययरक्षण का निषेध कइना चाहिये । उसमें यारुद्धस्त्वचम् ( यारुद्धस्त्वचम् यारुद्धस्त्वचम् ) यथा समाहार द्वन्द्वे में चाच् सच् इत् पूर्वपद तथा मध्यम, परमके प्रत्ययरक्षण का निषेध न होने से तुरगादि हो जाते हैं । त्वच् इत् फिर भी प्रत्ययरक्षण का निषेध होकर पदत्व न होने से तुरा नहीं होता । समजा न हो

१। ३३३ में निषेध नहीं प्राप्त है । त्वच् के साथ द्वन्द्वेऽन्त्यस्य यह पदान्तराशक है ।

२। पदादोः में परमसाचे परमसाचे अन्तिम पद में ही होती है । सा चिय

३। उत्तरपदके इत् वारुद्धस्त्वचम् नामा जायगा तो उत्तरपदके पदादिविधि से निषेध जाता । वारुद्धस्त्वचम् नामा होने पर भी प्रत्ययरक्षण का निषेध सिद्ध

इहाभूवन्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस्भावः प्राप्नोति ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्ग आकारप्रकरणात् ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्गः । किं कारणम् । आकारप्रकरणात् । आत इति वर्तते तन्नियमार्थं भविष्यति । आत एव सिज्जलगन्तान्नान्यस्मादिति ।

इह च इति युष्मत्पुत्रो ददाति । इत्यस्मत्पुत्रो ददाति इत्यत्र प्रत्यय-लक्षणेन युष्मद् अस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वाभावौ इति धांनावाद्यः प्राप्नुवन्ति ।

युष्मद् अस्मदोः स्थग्रहणात् ।

स्थग्रहण तत्र क्रियते । तच्छ्रुयमाणविभक्तिविशेषणं विश्वास्यते ।

अभूवन् ( भू-सिच लुङ् शि ) यदां भू धातु से लुङ् मे गतिस्था० से सिच् का लुङ् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सिच् परे हो जायगा तो सिज्जभ्यस्तविदिभ्यश्च से शि को जुस आदेश प्राप्त होता है ।

अभूवन् मे सिच् को मान कर जुस् का अपसङ्ग है । जुस् की अप्राप्ति है । क्योंकि आकार का प्रकरण है । आत यह सूत्र नियमार्थ है कि सिच का लुङ् पर यदि शि को जुस हो तो आकारान्त धातु से ही हो । भू के आकारान्त न होगा । यदि प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिज्जभ्यस्तविदि- तो आत यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है । अद् अद् आदि आरं. भी प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिज्जभ्यस्त० से जुस् हो सकता है । इस लय आतः सूत्र के नियमार्थ होने से अभूवन् में जुस नहीं होगा ।

इति युष्मत्पुत्रो ददाति, इत्यस्मत्पुत्रो ददाति यदां युष्मत्कं पुत्र युष्मत्पुत्र । अस्माकं पुत्र. अस्मत्पुत्रः इस षष्ठीसमास मे युष्मद् अस्मद् से परे विभक्ति का लुङ् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से परे मान कर युष्मद् अस्मद् षष्ठी० की अनुवृत्ति द्वारा बहुवचनस्य वस्तु से वस् नस् आदेश प्राप्त होते हैं । पद से परे युष्मद् अस्मद् को दिखाने के लिये शत शब्द का प्रयोग किया है ।

युष्मद् अस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः । इस सूत्र में स्थग्रहण स युष्मत्पुत्र. अस्मत्पुत्रः मे वस् नस् आदेश नहीं होगा । सूत्र में स्थग्रहण किया है । उसका यही प्रयोजन है कि विभक्ति के ध्रुवमाण होने पर ही धातु नौ आदि आदेश हो । षष्ठी चतुर्थी द्वितीया विभक्तिस्य युष्मद् अस्मद् को आदेश कहने से उक्त विभक्तियां लुप्त होने पर आदेश नहीं होंगे ।

नामि लिलोपात् तस्य चानिघातस्तस्माच्च निघात ।

नामि लिलोपात्तस्य चानिघात तस्माच्च निघात सिद्धो भविष्यति ।

अङ्गाधिकार इटा विधिप्रतिपद्यौ ।

अङ्गाधिकार इटो विधिप्रतिपद्यो न सिध्यत । निगमिप । सवि वृत्स । अङ्गस्यताटा विधिप्रतिपद्यौ न प्राप्नुत ।

ऋमेर्दीर्घत्व च ।

किं च ।

इटश्च विधिप्रतिपद्यो ।

हाता है । और याचयाम् क अतिङन्त न हान स उसस पर चकार इस तिङन्त का निघात नहीं प्राप्त हाता । याचयाम् म णितन्त धन धातु स लट् पर रहत कास्प्रत्ययान्त० स नाम् प्रिकरण हुआ है । नाम स प्राप्त लट् क लुक का परत्व न बाध कर पहल लिट् क स्थान म तिप करक फिर उसका नाम स लुक करने स याचयाम् यह प्रत्ययलक्षण स तिङन्त धन जाता ह ।

याचयाम् में लिट् क स्थान में तिप करन स पहल ही जान स लिट् का लुक हो याचया ता याचयाम् क तिङन्त न हान स उस निघात न हागा और उसस पर चकार इस तिङन्त का निघात सिद्ध हा याचया ।

अङ्गाधिकार न प्रत्ययलक्षण का निषध मानन पर इट का विधान और नरध नहा सिद्ध हात । निगमिप ( गम् सन्-लोट सिप ) य । सन्तत गम् धातु स लट् में अता ह स हि का लुक करन पर परस्मैपद् पर न रहन स गमरिन् परल पन्तु स सन् का इट नहीं प्राप्त हाता । प्रत्ययलक्षण स प स्मैपद् पर मान ता उसका न गुणनाङ्गस्य स निषध प्राप्त होता है । इसी तरह सविवृत्स ( सम् वृत् सन् लोट सिप ) यहा सन् पूर्वक सन्तन्त वृत् धातु स वृत्त्य स्यमनो स परस्मैपद् हाता है । लट् म अतो ह स हि का लुक हान पर परस्मैपद् पर न रहन स न वृत्त्यन्तुस्य स सन् को इट का निषध नहीं प्राप्त हाता । प्रत्ययलक्षण का न लुगताङ्गस्य स निषध हा जाता है इसक अतिरिक्त रुम् धातु को दाधर भो नहीं सिद्ध हाता ।

और क्या नहीं सिद्ध होता ?

इट् का विधान और निषध ।

नेत्याह । अदेशेऽय चः पठिन । क्रमेच्च दीर्घत्वम् । उत्क्राम संक्रामेति ।

इह किंचिदङ्गाधिकारे लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणेन भवति । किंचिच्चान्यत्र न भवति । यदि पुनर्न लुमता तस्मिन्नित्युच्यते ।

अथ न लुमता तस्मिन्नित्युच्यमाने किं सिद्धमेतद् भवति, इटो विधिप्रतिषेधौ क्रमे दीर्घत्वं च ।

वाढ सिद्धम् । न इटो विधिप्रतिषेधौ परस्मैपदेष्वित्युच्यते । कथं

नहीं, ऐसा नहीं । क्रमदीर्घत्व च यहाँ च शब्द अयुक्त स्थान में पड़ा गया है । उसके स्थान में क्रमश्च दीर्घत्वम् ऐसा पढ़ना चाहिये । उससे समुच्चयमान क्रम् धातु की ठीक प्रतीति होगी । अर्थ यह निकलेगा कि इद् का विधान और निषेध तो अन्यत्र अङ्गाधिकार में सिद्ध नहीं होता और क्रम् धातु में केवल दीर्घत्व नहीं सिद्ध होता । उ नाम, सक्राम । यहाँ उद् सम् पूर्वक क्रम् धातु से लोट् में हि का लुक् होने पर परस्मैपद परे न रहने से क्रम परस्मैपदेषु से क्रम् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता । प्रत्ययलक्षण से परस्मैपद परे माने तो उसका न लुमताङ्गस्य से निषेध प्राप्त होता है ।

यहाँ कुछ तो ऐसे कार्य हैं जैसे जिगमिप संविभृत्स उत्क्राम आदि जो अङ्गाधिकारीय हैं फिर भी वे लुमान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण से हो रहे हैं । अर्थात् यहाँ न लुमताङ्गस्य यह निषेध नहीं लग रहा । और कुछ ऐसे कार्य हैं जैसे पूर्वोक्त त्रित् नित् क्रित् स्वर आदि जो अङ्गाधिकार से बाहर हैं फिर भी वे लुमान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने से नहीं हो रहे । इन सब क समाधान के लिये यदि न लुमताङ्गस्य की जगह न लुमता तस्मिन्० ऐसा सूत्र बना देता केस रहगा । न लुमता तस्मिन् में अङ्गाधिकार का झगड़ा न रह कर उसका अर्थ सत्र के लिये समान होगा कि लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय को निमित्त मान कर जो कार्य प्राप्त है चाहे वह अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर का हो प्रत्ययलक्षण से नहीं होता ।

न लुमता तस्मिन् बना देने पर भी क्या जिगमिप संविभृत्स उत्क्राम सक्राम ये रूप सिद्ध हो जायत । क्या वहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं प्राप्त होगा ।

हां, अवश्य सिद्ध हो जायेंगे । जिगमिप संविभृत्स में क्रम से इद् का विधान और इद् का निषेध परस्मैपद परे रहते नहीं कहा गया है बल्कि सकारादि

तर्हि । सकारादापिति । तद्विशेषण परस्मैपदग्रहणम् । न खल्वपि ऋमेर्दाघत्व परस्मैपदेष्वित्युच्यते । ऋथ तर्हि । शितीति । तद्विशेषण परस्मैपदग्रहणम् ।

न लुमता तस्मिन्निति चेद् हनिणिडादेशास्तराप ।

न लुमता तस्मिन् इति चेद् हनिणिडादेशास्तलोपे न सिध्यन्ति । अवधि भजता दस्यु अगायि भयता ग्राम । अधगायि भजतानुवाक । तलोप कृते लुडाति हनिणिडादेशा न प्राप्नुवन्ति ।

नप दोष । न लटीति हनिणिडादेश उच्यन्ते । किं तर्हि । नार्वाधातुक इति ताद्विशेषण लुग्रहणम् ।

पर रहत कहा गया है । परस्मैपद ता सकारादि का विशेषण है । मुख्य निमित्त ता सकारादि है । यह सकारादि सत्र प्रत्यय पर है ही । हि का लुङ ही तान पर भी कोई हानि नहीं । प्रत्ययलक्षण का भा आशयकता नहीं । इसा तरह उक्तान सकान में कम परस्मैपदु स हान वाला दाघ्य भा परस्मैपद पर रहत नहीं कहा गया बल्कि शित् पर रहत कहा गया है । परस्मैपद ता शित् का विशेषण है । मुख्य निमित्त शित् हा है । ऋ न सत्राम म शित् प्रत्यय रूप पर है ही ।

यदि न लुमता तस्मिन् चनात है तो यह दाघ्य है कि तत्राप हान पर हन् इण इड धातुओं के स्थान में कम स त्रय ऋ आर गाड आदा नहीं सिद्ध हात । अवधि या हन् धातु स कर्मवाच्य लुङ म चिण हुआ है । उन्स पर । णा उ स तप्रत्यय का उरु हो जाता है । न का उरु हान पर न लुमता तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का निरर्थक नायगा तो उरु परे न रहने स लुङि च स हन् का उरु आदेश नहीं प्राप्त होता । अगि यहा इण धातु स कर्मवाच्य लुङ म चिण स पर त का लुङ हान पर न लुमता तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का निरर्थक नायगा तो लुङ परे न रहने स इणो गा उरुि स इण का गा आदेश नहीं प्राप्त हाता । अगि यहा अधिपूर्वक इड धातु स कर्मवाच्य लुङ में चिण स पर न का लुङ हान पर न लुमता तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का निरर्थक नायगा तो लुङ परे न रहने स उभाया लल्लो स उड का गा आदेश नहीं प्राप्त हाता ।

य कोई दाघ्य नहीं । अवधि नादि में उरु सूत्र स वध नादि आदेश लुङ पर रहत नहीं कहे गए हैं बकि नाधधातुके पर रहत कह गए हैं । लुङ ता

इह च सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः 'सर्वस्य सुपि'त्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति। तच्चापि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। न लुमताङ्गस्येत्येव सिद्धम्। कथम्। न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। किं तर्हि। योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत् कार्यं तन्न भवति।

एवमपि सर्वस्वरो न निध्यति।

कर्तव्योऽत्र यत्नः।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१॥१६५॥

किमिदमल्लग्रहणमन्त्यविशेषणम्।

आर्धधातुक का विशेषण है। मुख्य निमित्त आर्धधातुक ही है। अत्रि आदि में आर्धधातुक प्रत्यय चिण परे है ही।

इसके अतिरिक्त न लुमता तस्मिन् इस नये सूत्र में यह भी देप है कि सर्वस्तोम सर्वपृष्ठ यदा पूर्वोक्त सर्वस्य सुपि से होने वाला आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। साथ ही न लुमताङ्गस्य सूत्र छोड़ कर नया न लुमता तस्मिन् सूत्र बनाना पड़ता है। इस से अच्छा तो यही है कि यह नया सूत्र न बनाया जाय। न लुमताङ्गस्य से ही सब इष्ट सिद्ध हो जायेंगे। कैसे? न लुमताङ्गस्य में अङ्गस्य का अर्थ अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं लेने बल्कि लुमान् शब्द से जो प्रत्यय लुप्त हुआ है उससे पर रहते न अङ्ग है उसका जो कार्य अङ्गाधिकारीय है या अङ्गाधिकार से बाहर है वह प्रत्ययलक्षण से नहीं होता ऐसा अर्थ करेंगे। उससे सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा। लुमति प्रतिषेधे एकपदन्वरस्यापमेरय नमः, अहा रावर्षी उत्तरपञ्चे चापदाश्विर्षी द्वन्द्वेऽन्त्यस्य इत्यादि वचनों का कोई आवश्यकता न होगी।

न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध मानने पर भी सर्वस्तोम सर्वपृष्ठ में सर्वस्य सुपि से आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होता।

इसके लिये यत्न करना चाहिये।<sup>१</sup>

क्या यह अल्लग्रहण मन्त्य का विशेषण है। अर्थात् क्या अन्त्यान् के समान

१ वह यत्न बड़ा है कि सौवर्ध सप्तम्यस्त्वदन्तसप्तम्य नानी गई है। उससे सुवन्त सर्व शब्द का आद्युदात्त होगा। सुप् परे रहने न होगा तो सर्वस्तोमः के सुवन्त होने से सर्वन्वर सिद्ध हो जायगा।

एवं भवितुमर्हति ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रतिषेधः ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
संघातस्य उपधासज्ञा प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ?

‘शास् इद्द्दह्लोः’ शिष्टात् शिष्टाम् । संघातस्येत्वं प्राप्नोति ।

यदि पुनरलन्त्यादित्युच्यते ।

अलः यह पञ्चमी का एकवचन है या प्रथमा बहुवचन अथवा पष्ठी का एकवचन है। अन्त्य विशेषण में सूत्र का अर्थ होगा—अन्त्य अल् से पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। प्रथमा बहुवचन में अर्थ होगा—अन्त्य से पूर्व अलो की उपधासंज्ञा होती है। उस पक्ष में पूर्व उपधा इस सन्धि में पूर्व के समान पूर्वे भी निकल सकता है। अन्त्यात् पूर्वे अलः उपधा। पष्ठी के एकवचन में अर्थ होगा—अल् के मध्य में जो अन्त्य है उससे पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। इस प्रकार तीनों पक्ष संभव हैं।

ऐसा हो सकता है। अन्त्य का विशेषण अल् संभव है।

उपधासंज्ञा में अल्ग्रहण यदि अन्त्य का विशेषण है तो संघात की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध कहना होगा। संघात का अर्थ अल्समुदाय है।

अल्समुदाय की उपधासंज्ञा होने में क्या दोष है ?

शास् इद्द्दह्लो से शास् की उपधा को इत्त्व कहा है। जैसे शिष्टात् शिष्टाम् ( शास् लोट् तातश् ताम् ) यहां अन्तिम अल् शास् का सकार है। उसमें पूर्व शा यह अल्समुदाय है। उसकी उपधासंज्ञा प्राप्त होगी तो शा को इत्त्व होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

यदि अलः के स्थान में अल् यह प्रथमा का एकवचन पढ़ कर अलन्त्यात् पूर्व उपधा ऐसा सूत्र बनायें तो कैसा रहेगा। उस पक्ष में अन्त्य से पूर्व जो अल् उसकी उपधा संज्ञा होगी। संघात की उपधासंज्ञा न होने से इष्ट विद् हो जायगा।

१. अन्त्यनिर्देशः—निर्दिश्यतेऽभिधीयतेऽनेनेति निर्देशः । जिसका अभिधान है अर्थात् यदि अल्ग्रहण से अन्त्य का बोध होता है। अल् अन्त्य का विशेषण रहा, पूर्व का विशेषण नहीं रहता।

एवमप्यन्त्योऽविशेषितो भवति ।

तत्र को दोषः ?

संघातादपि पूर्वस्योपधासंज्ञा प्रसज्येत । तत्र को दोषः । शास् इदद्दहलोः । शिष्टः शिष्टवान् । शकारस्य इत्वं प्रसज्येत । सूत्रं च भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्तमुपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रति-  
पेध इति ।

नेप दोषः ।

अलन्त्यात् पढ़ने में भी अन्त्य विशेषित नहीं होता । अन्त्य का विशेषण अल् नहीं रहता । अन्त्य जो है वह अल् लेना है या अलसमुदाय लेना है इसका परिज्ञान कुछ न हो सकेगा । अल इस पञ्चमी के एकवचन में तो नि सन्देह अन्त्य विशेषित हो जाता था ।

वहा क्या दोष है । यदि अन्त्य स पूर्व अल् की उपधा संज्ञा मानें तो क्या हानि है ?

उस पक्ष में संघात से भी पूर्व की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है । वहां क्या दोष है ? शास् इदद्दहलो स विधीयमान इत्वं शिष्ट शिष्टवान् ( शास्-क्त क्वत् ) यहाँ शास् में अन्त्य भास् स पूर्व अल् शकार को प्राप्त होगा । इसके साथ सूत्रभेद तो होगा ही । अलोन्त्यात् की जगह अलन्त्यात् पढ़ने में सूत्र टूटता है ।

अच्छा तो जैसा सूत्र है वैसा ही रहने दीजिये । अलन्त्यात् न पढ़िये ।

अलोन्त्यात्पूर्वं उपधा इस यथान्यास सूत्र में जो संघात की उपधासंज्ञा प्राप्ति रूप दोष कहा था उसका क्या समाधान है ?<sup>१</sup>

यह कोई दोष नहीं । संघात में भी जो अन्त्य है उसकी उपधासंज्ञा समझ

१. अल्समुदाय की उपधासंज्ञा नहीं होती इस विषय में ज्ञापक भी है । पिबति में पिब आदेश को जो अदन्त माना है वही इस बात का ज्ञापक है कि अल्संघात की उपधासंज्ञा नहीं होती । अन्यथा पिब के हल्न्त मानने पर भी अल्संघात की उपधासंज्ञा पक्ष में पिब के इत्कार के उपधा न होने से लघूपध गुण की प्राप्ति ही नहीं तो उसकी निवृत्ति के लिये पिब को अदन्त मानना व्यर्थ है ।



अन्त्यविज्ञानात् सिद्धम् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । अनर्थकेऽलोन्त्यस्य विधिर्नैत्येषा परिभाषा कर्तव्या ।

किमविशेषेण ।

नेत्याह । अनभ्यासविकारे । अभ्यासविकारान् वर्जयित्वा । भृजामित् । अतिपिपत्योश्चेति ।

कान्येतस्या परिभाषायाः प्रयोजनानि ?

ली जायगी । अलोन्त्यस्य इस परिभाषा के नियम से अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् सघात उसके अन्त्य अक्षर की उपधा सज्ञा हो जायगी तो गिष्ट शिष्टवान् में शास् के अन्त्य अल् सकार से पूर्व शा सघात के अन्त्य आकार की उपधासज्ञा हो जाने से उसे इत्त्व होकर इष्ट रूप बन जायगा ।

यदि सघात के अन्त्य की उपधासज्ञा मानेंगे तो वह नहीं बनती । क्योंकि अनर्थक शब्द में अलोन्त्यविधि नहीं हुआ करती । शास यह समुदाय अर्थवान् है । उसका एकदेश आस् या शा य अनर्थक हैं । उनमें अलोन्त्य० का नियम नहीं हो सकता । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकार यह परिभाषा है । इसका अर्थ है—अनर्थक शब्द में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ।

क्या सामान्य रूप से सभी अनर्थको में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ?

नहीं । ऐसा नहीं । अभ्यासविकारों को छोड़ कर । अभ्याप में क्योंकि शब्द की ही आवृत्ति होती है, अर्थ की नहीं । इस लिये अभ्यास अनर्थक माना जाता है । उस में तो अलोन्त्यविधि इष्ट है । अन्य अनर्थको में नहीं । जैसे—भृजामित्, अतिपिपत्योश्च इन अभ्यासविकार सूत्रों के उदाहरण विभर्ति पिपति में भृ पृ के अनर्थक अभ्याप जो भ प हैं उनके अन्त्य अक्षर अकार को इकार होता है ।

नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इस परिभाषा के क्या प्रयोजन हैं ?

प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ ।

अव्यक्तानुकरणस्यात् इतादित्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्य-  
विधिर्नेति न दोषो भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्जापयति नान्त्यस्य पररूप  
भवतीति । यद्य 'नाम्नेडितस्यान्त्यस्य तु धे'त्याह ।

ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च ।

ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्चेत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्य-  
विधिर्नेति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् सर्वस्य  
भविष्यति ।

अव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ यह सूत्र प्रयोजन है । पटत् इति पटिति । यद्वा  
इति शब्द परे रहते अव्यक्तानुकरण पटत् शब्द के अनर्थक अत् शब्द को कहा  
हुभा पररूप उसके अन्त्य तकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य  
को न ही कर सर्वादेश हो जाता है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है  
कि पटत् के अन्त्य तकार को पररूप नहीं होता । यह जो नाम्नेडितस्यान्त्यस्य तु वा  
इस उत्तर सूत्र द्वारा अन्त्य तकार को विकल्प से पररूप विधान करता है ।  
उससे यह बात सिद्ध होती है ।

ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च यह सूत्र प्रयोजन है । देहि धेहि यद्वा घुसज्जक वा  
धा धातुभो से लोट में हि परे रहते ध्वसोरेद्वा० से विधीयमान दा धा के अभ्यास  
का लोप उनक अन्त्य अक्षर आकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० स  
अन्त्य को न होकर सर्वादेश हो जाता है ।<sup>१</sup>

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । लोपो यि से लोप की अनुवृत्ति आने पर

१ नानर्थकेऽलोत्त्यविधि० इस परिभाषा में अनभ्यासविकारे यह निषेध  
अभ्यासलोप में नहीं लगगा । क्योंकि वह निषेध अभ्यास के रूपवान् विकार में ही  
है । अभ्यास का लोप तो रूप रहित होता है इस लिये अभ्यास विकार में अभ्यास  
का लोप नहीं माना जायगा तो ध्वसोरेद्वा० स विधीयमान अभ्यासलोप भी नानर्थक०  
इस परिभाषा का प्रयोजन बन जाता है । लोप और विकार में भेद होता है इस विषय  
में लोपागमवर्णविकारश्च यह भाष्यकार का वचन ही प्रमाण है ।

अथवा शिल्लोपः करिष्यते । स शित्सर्वस्येति सर्वादेशो भविष्यति ।

• स तर्हि शकारः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । द्विशकारको निर्देशः । 'ध्रसो-  
रेद्धावभ्यालोपश्चेति' ।

आपि लोपोऽनोऽनचि ।

तिष्ठति सूत्रम् ।

अन्यथा व्याख्यायते ।

आपि हलि लोप इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्यविधिर्नेति  
न दोषो भवति ।

ध्रसोरेद्धा० में फिर जो लोप वचन कहा है उसके सामर्थ्य में सर्वादेश हो जायगा ।

अथवा अभ्यास लोप को शित् किया हुआ समझेगे । उसमें अनकाल्पित्त्वान्त्य  
स सर्वादेश हो जायगा ।

तो फिर अभ्यास लोप में शित् निर्देश करना चाहिये ।

शित् निर्देश की अलग आवश्यकता नहीं । ध्रसोरेद्धा० सूत्र में ही दो  
शकारवाला अन्यासलोपश् च इम प्रकार निर्देश किया हुआ है । एक शकार सर्वादेश  
के लिये समझ लिया जायगा ।

आपि लोपोऽनोऽनचि यह सूत्र प्रयोजन है । यह हलि लोप (७१-११३)  
सूत्र का अर्थानुवाद है ।

क्या आपि लोपोऽनोऽनचि से हलि लोपः सूत्र की सत्ता रह जाती है ।  
हलि लोप सूत्र का स्थिति तो यह नहीं है । उसकी भावृति अन्य है ।

हलि लोप यह सूत्र ही आपि लोपोऽनोऽनचि कह कर अन्यथा व्याख्यात  
किया है । हलि लोप सूत्र को हा तद्धर्क अन्य शब्दों में कह दिया है । अनापृक्त-  
से आपि, अक ये दो पद लेकर हलि क स्थान में अनाच करके आपि लोपोऽ-  
नोऽनचि यह निर्देश कर दिया है । हमारा वाच्य है हलि लोप सूत्र में ही है ।  
आभ्याम् यहा इदम् शब्द से हलादि विभक्ति भ्याम् पर रहते हाल लोप. से  
विधीयमान इदम् के इद् भाग का लोप इद् के अन्त्य दकार को प्राप्त होता है ।  
नानर्थकेऽनोन्त्य० से अन्त्य दकार का लोप न होकर सम्पूर्ण इद् भाग का लोप हो  
जाता है ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अन एव लोपं वक्ष्यामि ।

तदनो ग्रहण कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् । अनाप्यक इति ।

तद्वे प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

हलौत्येषा सप्तमी अनिति प्रथमायाः षष्ठी प्रकल्पयिष्यति तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।

अन्त्यस्य प्राप्नोति । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अत्र ग्रहणसामर्थ्यात् सचंस्य भविष्यति ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । हलि लोप सूत्र से इद् भाग का लोप न कह कर अनाप्यक से हुण् अन आदेश का ही लोप कह देंगे । आन्याम् में इदम् के मकार को न्यदाश्रय पररूप होकर इद-न्याम् इस स्थिति में अनाप्यक से इद् को अन् आदेश होकर हाः लोप से अन् क अभ्यस्य नकार का लोप हो जायगा तो दोष दोनो अकारों के पररूप हो जाने से आन्याम् यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा ।

फिर तो हलि लोप म अन् ग्रहण करना होगा ।

अन ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । ऊपर से प्रकृत चला आ रहा है । कहा से ? अनाप्यक स । उसी का अनुवृत्ति हलि लोप में हो जायगी ।

यह नो प्रथमाभिक्ति स निर्दिष्ट है । यहाँ षष्ठी से प्रयोजन है ।

हाः लोप में हलि यह सप्तमी अन् इस प्रथमा को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के नियम से षष्ठी में बदल दगी तो अर्थ होगा—हलादि विभक्ति परे रहते इदम् के स्थान में हुण् अन् का लोप होता है ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य यह सूत्र प्रयोजन है । मित्सति दित्सति इत्यादि मन्मन्तो में मी ना पु आदि धानुओं के अभ्यास का अन्त्य अक्षर का लोप प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० म अन्त्य का न होकर सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । अत्र लोपोऽभ्यासस्य में अत्र ग्रहण के सामर्थ्य

१ इदम्—यह सार्वक शब्द रूप है, इसका इद्—यह भाग अनर्थक है ।

अस्त्यन्वदप्रग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । सन्नधिकारोऽपेक्ष्यते ।  
इह मा भूत् ददौ दधौ ।

अन्तरेणाप्यत्र ग्रहणं सन्नधिकारमपेक्षिष्यामहे ।

संस्तर्हि सकारादिरपेक्ष्यते । सनि सकारादाविति । इह मा  
भूत्-जिज्ञपयिपति इति ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणं सन्न सकारादिमपेक्षिष्यामहे ।

प्रकृतयस्तर्ह्यपेक्ष्यन्ते । पतासां प्रकृतीनां लोपो यथा स्यात् ।  
इह मा भूत् पिपक्षति । यियक्षति ।

से सम्पूर्णे अभ्यास का लोप हो जायगा ।

अत्र ग्रहण का तो भ-य प्रयोजन है । क्या ? सनि सोमापुरमल्भ० से प्रकान्त सन् प्रत्यय का अधिकार अपेक्षित है । अत्र=यहा ; अर्थात् सन् प्रत्यय में ही अभ्यास का लोप हो । ददौ, दधौ यहा सन् निम्न प्रत्यय में अभ्यास का लोप न हो इसके लिये अत्र ग्रहण रह सकता है ।

अत्र ग्रहण के बिना भी सन् प्रत्यय का अधिकार स्वरितत्र प्रतिज्ञा से अपेक्षित किया जा सकता है ।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सकारादि सन् में ही अभ्यासलोप हो । इडादि सन् में न हो । जैसे—ज्ञपयितुमिच्छति । ज्ञपयिपति यहा णिन्त ज्ञपि धानु से सन् पर रहते सनीवन्तर्धप्रसन्दम्भु० से पक्ष में इडागम हुआ है । सकारादि सन् परे न होने से अभ्यासलोप नहीं होता । इडभाव पक्ष में सकारादि सन् होने से ज्ञीप्सति यहा अभ्यासलोप हो जाता है ।

अत्र ग्रहण के बिना भी सकारादि सन् को अपेक्षा हो जायगी ।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि मी मा पु र्भ् ल्भ् भादि प्रकृतियों से ही सन् में अभ्यासलोप हो । अन्य प्रकृतियों स न ही । जैसे—पक्तुमिच्छति पिपक्षति । यष्टुमिच्छति यियक्षति यहा पच यञ् धानुओ से सन् परे रहते अभ्यासलोप नहीं होता ।

२ अत्र ग्रहण के सामर्थ्य से । सनि मी मा—इत्यादि सूत्रों में सन् का निर्देश होने पर जो दुवारा अत्र शब्द से सन् का परामर्श किया है उसका यही प्रयोजन है कि सन् परे रहते जितना भी अभ्यास करके गृहीत होता है उस सारे का लोप होता है ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेताः प्रकृतीरपेक्षिष्यामहे ।

विषयस्तर्ह्यपेक्ष्यते । 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो ये'ति । इह मा भूत्-  
मुमुक्षति गाम् इति ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेतं विषयमपेक्षिष्यामहे । कथम् । अकर्मक-  
स्येत्युच्यते । तेन यत्रैवायं मुचिरकर्मकस्तत्रैव भविष्यति । तस्मा-  
न्नार्थोऽनया परिभाषया नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति ।

अलोन्त्यान्पूर्वोऽल्लुपधेति वा ।

अथवा व्यक्तमेव पठितव्यम् । अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधामञ्चो  
भवतीति ।

अत्र ग्रहण के बिना भी नी ना शु र्न् ल्न् आदि प्रकृतिरां प्रकरण से समझ  
ली जायेगा ।

तो फिर अत्र ग्रहण का यह प्रयोजन है कि निश्चित विषय में ही निश्चित  
प्रकृतियों में सन् में अन्त्यास का लोप हो । जैसे—मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा इस  
सूत्र में अकर्मक विषय में ही मुच् धातु से सन् में अन्त्यासलोप होगा है ।  
नोजने वन् स्वयमेव यहाँ अकर्मक होने में अन्त्यासलोप हो गया । किन्तु मुमुक्षति  
गाम् यहाँ अकर्मक होने में मुच् धातु के अन्त्यास का लोप नहीं होता ।

अत्र ग्रहण के बिना भी निश्चित विषय समझ लिया जायगा । कैसे ?  
मुचोऽकर्मकस्य० में अकर्मकस्य कहा है तो जहाँ मुच् धातु अकर्मक होगी वही  
विषय में अन्त्यासलोप होगा । अन्यत्र न होगा । इस लिये सब प्रयोजनों के  
अन्त्यथा सिद्ध हो जाने से नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनन्त्यासतिकारे इस परिभाषा की  
कोई आवश्यकता नहीं है ।<sup>१</sup>

अथवा अलोन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधा इस प्रकार स्पष्ट ही एक और अल्  
ग्रहण कर देना चाहिये । जिसमें उपधा सत्रा में अन्त्य भी अल ही लिया  
जाय और उससे पूर्व भी अल् ही लिया जाय । तब कहीं दोष न होगा ।

१ यहाँ भाष्यकार ने प्रयोजनों की अन्त्यासिद्धि दिखा कर नानर्थके० इस  
परिभाषा का खण्डन कर दिया है । इससे अल्मघाव में भी अलोन्त्यविधि मान कर  
शिष्ट. शिष्टवान् इत्यादि वने जायेंगे ऐसा भाष्यकार की संमत मान्य होता है ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् ।

अवचनाल्लोकनिज्ञानात् सिद्धम् ।

अन्तरेणापि वचन लोकाविज्ञानात् सिद्धमेतत् । तद्यथा लोके अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथाजातीयकोऽन्त्यस्तथाजातीयकोऽन्त्यात्पूर्व आनीयते ।

तास्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥११॥६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥११॥६७॥

किमुदाहरणम् ?

तो फिर अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल्लुपधा ऐसा कइ देना चाहिये ।

नहीं कहना चाहिये । बिना कइे ही लोक-व्यवहार से यह बात जान ली जायगी । जैसे लोक में इन ब्राह्मणों में अन्त्य से पूर्व को लाइये ऐसा कहने पर जिस प्रकार का अन्त्य है उसी प्रकार का उससे पूर्व लाया जाता है । ब्राह्मणों में अन्त्य यदि ब्राह्मण है तो उससे पूर्व भी ब्राह्मण ही लाया जायगा । अथवा जैसे ब्राह्मणों में अन्त्य मनुष्य है तो उससे पूर्व भी मनुष्य ही लाया जायगा, पशु आदि नहीं लाया जायगा । या भी अन्त्य अल से पूर्व अल ही लिया जायगा, अल समुदाय नहीं । इस प्रकार सूत्र से ही इष्ट उपधासज्ञा होकर काम चल जायगा ।

इन सूत्रों के क्या उदाहरण है ?

१ भाष्यकार ने वहा अल ग्रहण को अन्य विशेषण मान कर उक्त दोष के समाधान द्वारा अल यह पञ्चमी एनवचन स्वीकार किया है । यदि अल को प्रथमा बहुवचन या निर्धारण पृष्ठी का एकवचन मान लें तो भी उक्त लोकव्यवहार से दोष न होगा । प्रथमा पक्ष में अलः प्रह जाति में बहुवचन निर्देश है । अवधि और अवधिमत् को तुल्यजानाय मानने से अन्य अल् से यही अर्थ अवगत होगा । पृष्ठी पक्ष में निर्धारण तुल्यचर्तान का होता है इस कारण अलों में जो अन्त्य है वह अल् हा लिया जायगा । उससे पूर्व भा तज्जातीय अल् ही गृहीत होगा इस प्रकार तीना पक्ष निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं ।

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'इको यणचि' दध्यत्र मध्यत्र । इह तस्मादित्युत्तरस्येति 'द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' । द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् ।

अन्यथाजातीयकेन शब्देन निर्देशः क्रियते । अन्यथाजातीयक उदाह्रियते ।

किं तर्ह्युदाहरणम् ?

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकावि'ति । तस्मादित्युत्तरस्येति । 'तस्माच्छसो नः पुसी'ति ।

इह चाप्युदाहरणम् इको यणचि, द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईदिति । ऋथम् । सर्वनाम्नायं निर्देशः क्रियते । सर्वनाम च सामान्यवाची । तत्र सामान्य निर्दिष्टे विशेषा अप्युदाहरणानि भवन्ति ।

किं पुनः सामान्यं, को विशेषः ?

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के तो इको यणचि दध्यत्र मध्यत्र ये उदाहरण हैं । और तस्मादेत्युत्तरस्य के द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । ये उदाहरण हैं इको यणचि में अचि सप्तमी है । उसके परे रहते अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान में यण् हो जाता है तो दध्यत्र मध्यत्र बन जाते हैं । द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् में द्वयन्तरुपसर्गेभ्य यह पञ्चमी है । उससे अव्यवहित परे अप् शब्द के अकार के स्थान में ईकार हो जाता है तो द्वीपम् अन्तरीपम् समीपम् बन जाते हैं ।

अन्य प्रकार के शब्द से सूत्रों में निर्देश किया है । अन्य प्रकार के भाष उदाहरण दे रहे हैं । ये सूत्र निर्देशानुसृत उदाहरण नहीं हैं ।

फिर सूत्र निर्देशानुरूप उदाहरण क्या होने चाहिये ?

तस्मिन्निति निर्दिष्टे० का तो तस्मिन्नणि च युष्माकास्माका और तस्मादित्युत्तरस्य का तस्माच्छसो नः पुसे ये उदाहरण होने चाहिये ।

ये भी उदाहरण ठीक हैं—इको यणचि, द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् । क्योंकि तस्मिन् सूत्रान् ये सर्वनामसज्ञक तद् शब्द के निर्देश हैं । और सर्वनामशब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं । उनसे सभी का बोध हो जाता है । उससे सामान्य तद् शब्द के निर्देश में विशेष उदाहरण भी हो सकते हैं ।

सामान्य क्या है और विशेष क्या है ?



गौः सामान्य कृष्णो विशेषः ।

न तर्हादानीं कृष्णः सामान्य गौर्विशेषो भवति ।

भवति च ।

यदि तर्हि सामान्यमपि विशेषो विशेषोपि सामान्य, सामान्य विशेषौ न प्रकल्पेते ।

प्रकल्पेते च । कथम् । विविक्षातः । यदास्य गौ सामान्येन विवक्षितो भवति कृष्णो विशेषपत्वेन, तदा गौः सामान्य कृष्णो विशेष । यदाऽस्य कृष्णः सामान्येन विवक्षितो भवति गौर्विशेषपत्वेन तदा कृष्णः सामान्य, गौर्विशेषः ।

कृष्ण (काला) बैज यदा गौ सामान्य हे कृष्ण विशेष है ।

क्या कृष्ण गौ यदा कृष्ण सामान्य और गौ ( बैज ) विशेष नहीं हो सकता ? हो भी सकता है ।

जब सामान्य विशेष और विशेष सामान्य हो सकता है तब सामान्य विशेष का ही निश्चय नहीं होता । इनकी निश्चित व्यवस्था नहीं बनती ।

बनती भी है । कैसे ? विवक्षा से । जब वक्ता का इच्छा गौ का सामान्य और कृष्ण का विशेष कहन की होती है तब गौ सामान्य और कृष्ण विशेष हो जाता है । और जब वक्ता की इच्छा कृष्ण का सामान्य और गौ को विशेष कहन का हाता है तब कृष्ण सामान्य और गौ विशेष हो जाता है । तबतब यह है कि जहा गौ परिच्छेद्य है और कृष्णत्व परिच्छेद्यक है तदा कृष्णत्व विशेष है गोत्व सामान्य है । तदा कृष्णत्व परिच्छेद्य है गोत्व परिच्छेद्यक है तदा गोत्व विशेष है कृष्णत्व सामान्य है । इसी बात का अन्य आचार्य इस प्रकार कहत हैं कि सामान्य विशेष की व्यवस्था बन सकती है । किस प्रकार ? पिता पुत्र की तरह । जैसे वही किसी के प्रति पिता और किसी के प्रति पुत्र हाता है वैसे यदा भी वही किसी के प्रति सामान्य और किसी के प्रति विशेष हो जाता है । अर्थबोध के लिये प्रयुक्त किय जाने वाले शब्दों में ये सब स उत्तम प्रयोग हैं जो सर्वनाम सज्ञक शब्दों के होते हैं । इन स बहुत अधिक विषय व्याप्त हो जाता है । इसी लिये सप्तमीभिदिष्ट पूर्वस्य पञ्चमनिर्दिष्ट उत्तरस्य ऐसा निर्देश न करके तस्मिन् तस्मान् यदा सर्वनाम स निर्देश किया है ।

अपर आह—प्रकल्पेते च । कथम् । पितापुत्रवत् । तद्यथा स एव क्वचित् प्रति पिता भवति । क्वचित् प्रति पुत्रो भवति । एवमिहापि स एव क्वचित् प्रति सामान्यं क्वचित् प्रति विशेषः । एते खल्वपि नैर्देशिकानां वातंतरका भवन्ति ये सर्वानाम्ना निर्देशाः क्रियन्ते । एतेहिं बहुतरकं व्याप्यते ।

अथ किमर्थमुपसर्गनिर्देशः क्रियते ?

शब्दे सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं यथा स्यात् । अर्थे मा भूत् । जनपदे अतिशयने इति ।

किं गतमेतदुपसर्गेण । आहोस्विच्छन्दाधिन्यादर्थोधिन्यम् ।

गतमित्याह । कथम् । निरयं वहिर्भावे । तद्यथा निष्क्रान्तो देशात् निर्देशः । वहिर्देश इति गम्यते । शब्दश्च शब्दाद् वहिर्भूतः । अयोऽवहिर्भूतः ।

निर्दिष्ट शब्द में निद् उपसर्ग सहित दिश् धातु का निर्देश किस लिये किया है । अर्थात् सूत्र में निर्दिष्ट ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? तस्मिन्निति पूर्वस्य इतना ही सूत्र क्यों न बना दिया ?

तास्मिन्निति पूर्वस्य इतना सूत्र होने पर सप्तमी के अर्थ में भी अप्यवहित पूर्व को कार्य प्राप्त हो जायगा । इष्ट है कि सप्तमी विभक्ति निर्दिष्ट शब्द में ही अप्यवहित पूर्व को कार्य हो । सप्तमा से कोई हुए अर्थ में पूर्व को कार्य न हो । जैसे—जनपदे लुप अतिशयने तन्विष्टौ यहाँ जनपद अतिशयने ये सप्तमी निर्दिष्ट अर्थ हैं इसी यणचि आदि में अचि आदि को तरह शब्द नहीं हैं । इस लिये यहाँ जनपद पर रहते या अतिशय पर रहते अप्यवहित पूर्व को कार्य होता है यह अर्थ न होगा ।

क्या यह अर्थ उपसर्ग विधिष्ट निर्दिष्ट शब्द से निकल भी आता है या केवल शब्द के आधिक्य से अर्थ के आधिक्य की कल्पना की जा रही है ।

निर्दिष्ट शब्द से यह अर्थ निकल आता है । क्योंकि निद् यह उपसर्ग वहिर्भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है । जैसे—देशात् । नर्गतः निर्देशः । यहाँ देश स बाहर निकला हुआ अर्थ समझा जाता है । शब्द से शब्द ही बाहर निकला हुआ होता है अर्थ नहीं । अर्थ तो शब्द के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है इस लिये निर्दिष्ट ग्रहण से सप्तमी विभक्ति वाले शब्द में ही अप्यवहित पूर्व को कार्य होगा । सप्तमी के अर्थ में पूर्व को कार्य न होगा ।



यमारम्भः । ग्रामे देवदत्तः । पूर्वः पर इति सन्देहः । ग्रामाद् देवदत्तः  
पूर्वः पर इति सन्देहः । एवमिहापि दध्युदकं पचत्योदनम् । उभाधिकौ ।  
उभावचौ । अचि पूर्वस्य अचि परस्येति संदेहः । तिङ्ङतिङ् इति  
अतिङ्ः पूर्वस्य अतिङ्ः परस्येति सन्देहः । इष्यते चाचि पूर्वस्य  
स्यात् । अतिङ्श्च परस्येति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं  
वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्ह्यिति । अथ यत्रोभयं निर्दिश्यते  
किं तत्र पूर्वस्य कार्यं भवति आहोस्वित् परस्येति ।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः ।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति ।

सप्तमी और पञ्चमी के निर्देश में पूर्व पर का सन्देह है । ग्रामे देवदत्तः या  
ग्रामान् देवदत्त एवा कहने पर यह नहीं पता लगता कि ग्राम में देवदत्त पूर्व है या  
पर है । ग्राम से देवदत्त पूर्व है या पर है । पूर्व और उत्तर अर्थात् पर इन  
दोनों अर्थों में अग्निप है । कोई विशेष नहीं मालूम होता । इसी तरह यहाँ  
भी दध्युदकम् ( दधि+उदकम् ) पचयोदनम् ( पचति+ओदनम् ) में दोनों ही  
इक है । दोनों ही अच् हैं । दधि का इकार इक् भी है अच् भी है । उदकम्  
का उकार इक भी है अच् भी है । इसी यणचि से इक् को यण् करने में सन्देह  
है कि अच में इक को यण् हो । पूर्व इक् को या पर इक् को । पचति ओदनम्  
या ओदन परति यहाँ अतिङ्ङतिङ् से तिङ् को निघात करने में सन्देह है कि  
अतिङ् से पूर्व तिङ् को निघात हो या पर तिङ् को । इष्ट है कि अच् पर  
रहने पूर्व इक् को यण् हो, पर इक् को न हो । अतिङ्ः से परे तिङ् को निघात  
हो । पूर्व तिङ् को निघात न हो । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती  
इस लिये ये दोनों सूत्र नियमार्थं बताने हैं ।

सूत्रों का यह प्रयोजन ठीक है किन्तु जहाँ सप्तमी और पञ्चमी दोनों  
विभक्तियों का एक साथ निर्देश है उहाँ क्या पूर्व को कार्यं ज्ञाता है या पर को ?

दोनों विभक्तियों के एक साथ निर्देश में तरमादित्युत्तरस्य इस पञ्चमी-  
निर्देश के मूल क्रम में पर होने से विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियम से पञ्चमी  
का निर्देश ही बलवान् माना जायगा उससे पूर्व को कार्यं न होकर पर को ही  
कार्यं होगा । उभयनिर्देशे विप्रतिषेधान् पञ्चमीनिर्देशः यह परिभाषा है ।

किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमतो लसार्वाधातुकानुदात्तत्वे ।

वक्ष्यति तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ' इति । तस्मिन् क्रियमाणे तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वाधातुकस्य लसार्वाधातुके परतत्त्वास्यादीनामिति सन्देहः । तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वाधातुस्य ।

बहोरिष्ठादीनामादिलेपे ।

बहोरुत्तरेपामिष्टमेयसाम् । इष्टमेय सु परतो बहोरिति सन्देहः । बहोरुत्तरेपामिष्टमेयसाम् ।

गोतो णित् ।

गोत परस्य सर्वनामस्थानस्य सर्वनामस्थाने परतो गोत इति सन्देहः । गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य ।

उभयनिर्देश विप्र तपेवान्० इस परिभाषा क क्या प्रयोजन है ?

तास्यनुगते ऋदुपशास्त्रान्तरात्तुक्मनुद तमदन्वत्वे यह सूत्र प्रयोजन है । तास्यनुदात्ते० सूत्र में तास अनुगतत् किन् अदुपदान् यह पञ्चमी निर्दिष्ट है । लसावधातुक्म् यह प्रथमान्त है । किन्तु अग अभ्यस्तानानादि आदि । सच सूत्रों के लिये लसावधातुक्म् इस प्रथमान्त को सप्तम्यन्त बनाने के लिये यह वचन कहेगा कि—तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ इति । उससे लसार्वाधातुक यह सप्तमी निर्दिष्ट हो जायगा । तब दोना म सन्देह हाता है—तासि आदि स परे लसार्वाधातुक को अनुदात्त हो या लसार्वाधातुक पर रहत तासि आदि को अनुदात्त हो । पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने स पर का कार्य होगा तो लसार्वाधातुके यह सप्तमी पष्टा म बदल जायगी । उससे लसार्वाधातुक का अनुदात्त हो जाता है ।

बहोरिष्ठा भू च बटा यह सत्र प्रयोजन है । यहा बहो यह पञ्चमी है । पूर्वानुक्तान्त इष्टमेय सु यह सप्तमी है । दोनो म सन्देह है कि बहु शब्द स पर इष्टन् इनानच ईयश्चन् का ल प हा या इष्टन् आदि पर रहत बहु शब्द का लोप हो, पञ्चमीनिर्देश क बलवान् होने स पर को कार्य हागा तो बहु शब्द स परे इष्टन् आदि का लोप हो जाता है ।

गोतो णित् यह सूत्र प्रयोजन है । गोत यह पञ्चमी है । पूर्वानुक्तान्त

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ।

रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य । सार्वधातुके परतो रुदादीना-  
मिति सन्देहः । रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य ।

आने मुगीदासः ।

आस उत्तरस्यानस्य । आने परत आस इति सन्देहः । आस  
उत्तरस्य आनस्य ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ।

सर्वनाम्न उत्तरस्यामः । आमि परतः सर्वनाम्न इति सन्देहः ।  
सर्वनाम्न उत्तरस्यामः ।

सर्वनामस्थाने यह सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि गो शब्द से परे सर्वनाम-  
स्थान को णिट्वा होता है या सर्वनामस्थान पर रहते गो शब्द को णिट्वा होता  
है । पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो गो शब्द से परे  
सर्वनामस्थान को णिट्वा हो जाता है ।

रुदादिभ्यः सार्वधातुके यह सूत्र प्रयोजन है । रुदादिभ्यः यह पञ्चमी है ।  
सार्वधातुके सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि रुदादि से परे सार्वधातुक को  
इट् हो या सार्वधातुक से परे रुदादि को इट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान्  
होने से पर को कार्य होगा तो रुदादि से परे रुदादि सार्वधातुक को इट् हो  
जाता है ।

ईदास यह सूत्र प्रयोजन है । आस यह पञ्चमी है । आने मुक् से अनु-  
वृत्त आने सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि आस् से परे आन को ईकार हो  
या आन परे रहते आस् को ईकार हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर  
को कार्य होगा तो आस से परे आन को ईकार हो जाता है ।

आमि सर्वनाम्न सुट् यह सूत्र प्रयोजन है । आमि यह सप्तमी है ।  
सर्वनाम्नः पञ्चमी है । दोनों में सन्देह है कि सर्वनाम से परे भाम् को सुट् हो  
या भाम् परे रहते सर्वनाम को सुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने  
से पर को कार्य होगा तो सर्वनाम से परे भाम् को सुट् हो जाता है ।

घेडिन्याण् नद्याः ।

नद्या उत्तरेपां डितां, डित्सु परतो नद्या इति सन्देहः । नद्या उत्तरेपां डिताम् ।

याडाप ।

आप उत्तरस्य डितः, डिति परत आप इति सन्देहः । आप उत्तरस्य डितः ।

डमो ह्रस्वादचि डमुण् नित्यम् ।

डम उत्तरस्याच, अचि परतो डम इति सन्देहः । डम उत्तर-  
स्याच ।

विभक्तिप्रशपनिर्देशानवकाशत्वादप्रतिषेध ।

विभक्तिविशेषनिर्देशस्यानवकाशत्वाद्युक्तो विप्रतिषेधः । सर्व-  
त्रेशात्र कृतसामर्थ्या सप्तमी । अकृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा पञ्चमी-  
निर्देशो भविष्यति ।

आण् नद्या. यह सूत्र प्रयोजन है । नद्या पञ्चमी है । घेडिति स अनुवृत्त  
डिति सप्तमी है । दोनो में सन्देह है कि नदी सञ्जक से परे डित् विभक्ति को  
आट् हो या डित् विभक्ति परे रहते नदीसञ्जक को आट् हो । पञ्चमीनिर्देश क  
बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो नदीसञ्जक से परे डित् विभक्ति को आट्  
हो जाता है ।

याडाप यह सूत्र प्रयोजन है । आप पञ्चमी है । घेडित से अनुवृत्त  
डिति सप्तमी है । दोनो में सन्देह है कि आबन्त से परे डित् विभक्ति को याट्  
हो या डित् विभक्ति परे रहते आबन्त को याट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान्  
होने से पर को कार्य होगा तो आबन्त से परे डित् विभक्ति को याट् हो जाता है ।

डमो ह्रस्वादचि डमुण् नित्यम् यह सूत्र प्रयोजन है । डम यह पञ्चमी है ।  
अचि सप्तमी है । दोनो में सन्देह है कि डम् से परे अच् को डमुट् हो या  
अच् परे रहते डम् को डमुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य  
होगा तो डम् से परे अच् को डमुट् हो जाता है ।<sup>१</sup>

उक्त सूत्रो वाले सप्तमी पञ्चमी विभक्तियों के एक साथ निर्देश में

१ ये प्रयोजन उदाहरणमात्र हैं । परिगणन नहीं किया गया है । दीडो  
युडचि विडिति, ड सि धुद, ह्रस्वनद्यापो मुट् आदि अन्य अनेक प्रयोजन हैं ।

यथार्थं वा पद्यनिर्देशः ।

यथार्थं वा पद्यनिर्देशः कर्तव्यः । यत्र पूर्वस्य कार्यमिष्यते तत्र पूर्वस्य पद्यं कर्तव्यम् । यत्र परस्य कार्यमिष्यते तत्र परस्य पद्यं कर्तव्यम् ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः । अनेनैव प्रकल्पितमिष्यति । तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य पद्यं । तस्मादित्युत्तरस्य पद्यं ।

तत्तर्हि पद्यग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् । 'पद्यं स्थानयोगे'ति ।

पञ्चमा विभक्ति क विशेष रूप से अनवकाश होने के कारण यह विप्रतिपक्ष अनुष्ठ है । दोनों का विप्रतिपक्ष एक नहीं बनता । जब दोनों सावकाश हों तभी विप्रतिपक्ष होता है । यहाँ उक्त सनी उदाहरणों में सप्तमी वृत्तसामर्थ्य है, सावकाश है । उसका सामर्थ्य अन्यत्र क्षीण हो चुका है । किन्तु पञ्चमी अद्वैत-सामर्थ्य है । उसका सामर्थ्य कहीं उपरान्त नहीं हुआ । वह अनवकाश है । इस लिये अनवकाश होने से अवशय होकर सप्तमी की स्वतः बाधक हो जायगी ।

या फिर अर्थानुसार पद्य विभक्ति का निर्देश कर देंगे । जहाँ पूर्व को कार्य दृष्ट है वहाँ पूर्व में पद्य और जहाँ पर को कार्य दृष्ट है वहाँ पर में पद्य विभक्ति लगा दें ।

फिर अर्थानुसार पद्य विभक्ति का निर्देश कर दें ।

पद्य का निर्देश करन की आवश्यकता नहीं । इन्हीं सूत्रों से पद्य की निश्चित हो जायगी । प्रकृतमिष्यति, निश्चिति । सप्तमा के निर्देश में पूर्व को कार्य होने से पूर्व में पद्य और पञ्चमा क निर्देश में पर को कार्य होने से पर में पद्य इन्हीं सूत्रों से सिद्ध हो जायगी ।

तो फिर इन्हीं सूत्रों में पद्य का ग्रहण कर दें । जिसमें य पद्य की निश्चित कर सकें ।

उसकी भी आवश्यकता नहीं । पद्य ग्रहण प्रकृत चला भा रहा है । कहां से ? पद्य स्थानयोगा से ।



प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभावः ।

प्रकल्पकमिति चेत् नियमस्याभावः । उक्त चैतन्नियमार्थोऽयमारम्भ इति । प्रत्ययविधौ खल्वपि पञ्चम्यः प्रकलिनाः स्युः । तत्र को दोषः । 'गुप्तिञ्किद्भ्यः सन्' । गुप्तिञ्किद्भ्य इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः पष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति ।

अस्तु । न रुदिचदन्य आदेशः प्रति निर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सनः सन्नेव भविष्यति ।

नैव शक्यम् । इत्संज्ञा न प्रकल्पेत । उपदेश इतीहमज्ञोच्यते ।

प्रकृतिविकाराव्यवस्था च ।

प्रकृतिविकारयोश्च व्यवस्था न प्रकल्पते । इको यणचि, अचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः पष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टं पूर्णस्येति ।

यदि इन सूत्रो को पष्ठी का प्रकल्पक या निष्पादक मानते हैं तो ये नियम सूत्र नहीं रहते । उहा पष्ठी नहीं है वहा ये पष्ठी नियम करेंगे । किन्तु जहा पष्ठी पहले से विद्यमान है वैसे—इको यणचि यहा इन , वहा पष्ठी प्रकल्पित की आवश्यकता न होने से नियम न हो सकेगा । एक साथ दो व्यापार ये सूत्र नहीं कर सकते । इधर पष्ठी का निन्नादन भी और उधर नियम भी । अभी ऊपर कह चुके हैं कि ये नियमार्थ बनाय है । प्रकल्पक मानने पर ये नियमार्थ नहीं रहते ।

दूसरा दोष यह भी है कि प्रत्ययविधि में भी पञ्चमी विभक्तिचा पष्ठी की प्रकल्पिका बन चायेगा । उसमें क्या दोष है ? यही कि गुप्तिञ्किद्भ्य मन् में गुप्तिञ्किद्भ्यः यह पञ्चमा सन् इत्य प्रथमा का तस्मादित्युत्तरस्य क वचन से पष्ठी बना दगी ।

अच्छा बना दवे । सन् को और कोई आदेश तो कहा ही नहीं इसलिय अन्तरतम परिनामा से सन् क स्थान में सन् ही आदेश हो चायेगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । आदिष्ट हुए सन् में नकार की इत्संज्ञा नहीं हो सकेगी । इत्संज्ञा से उपदेश में हल का इत्संज्ञा कही गई है । आदिष्ट सन् उपदेश नहीं है । तस्यो दोष यह भी है कि—

प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनेगी । प्रकृति=स्थानी । विकार=

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र पष्ठी प्रकल्पितस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः ।

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र पष्ठी प्राप्नोति । तास्यादिभ्य इत्येपा पञ्चमी लसार्धधातुके इत्यस्याः पष्ठीं प्रकल्पयेत् । तस्मादित्युत्तरस्येति । तथा लसार्धधातुके इत्येपा सप्तमी तास्यादिभ्य इति पञ्चम्याः पष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति । तत्र को दोषः । तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः । तत्र उभयो कार्यं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । यत्तावदुच्यते प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभाव इति । मा भून्नियमः । सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य पष्ठी प्रकल्प्यते । पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य । यावता सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य पष्ठी प्रकल्प्यते पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य नोत्सहत् सप्तमीनिर्दिष्टे परस्य कार्यं भवितुम् । नापि पञ्चमीनिर्दिष्टे पूर्णस्य । यदप्युच्यते प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिकाः स्युरिति ।

आदत्त । इतो यणचि मे इक् यह प्रकृति है । यण विकृति है । अचि यह सप्तमी यण इस प्रथमा को पष्ठी बना देगी ता इक् क समान यण नी प्रकृति हो जायगी । चौथा दोष यह भी है कि—

सप्तमी पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ जहा एक साथ निर्दिष्ट हैं वहा दोनों एक दूसरे को पष्ठी बना देगी तो दोनों क कार्य एक साथ प्राप्त होंगे । तास्यनुदात्त० सूत्र में तासिअनुदात्तन्दिदुअदुपदेशान् यह पञ्चमो वक्ष्यमाण लसार्धधातुके यह सप्तमा क तस्मादित्युत्तरस्य क वचन से पष्ठी बना देगी और लसार्धधातुके यह सप्तमा ताम्यनुदात्तान्बहुपदशान् इस पञ्चमो को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य क वचन से पष्ठी बना देगी तो वहा दोनों विभक्तियों के कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं ।

य कोई दोष नहीं है । यह जो पहला दोष कहा कि इन सूत्रों को पष्ठी का प्रकल्पक मानने पर य नियम नहीं रहेगा । तो नियमार्थ न रहे । प्रकल्पक ही रहे । सप्तमी निर्देश में पूर को पष्ठी प्रकल्पित होगी पञ्चमानिर्देश में पर का । उस अवस्था में वहा पष्ठी की प्रकल्पित हुई है उससे अन्य को कार्य वैय हो सकता है । सप्तमी निर्देश में पूर को पष्ठी बनाया है तो पूर को ही कार्य होगा, पर को कदापि नहीं हो सकता । पञ्चमी निर्देश में पर को पष्ठी बनाया है तो वहा पर को ही कार्य होगा । पूर को कदापि नहीं हो सकता । जहाँ पष्ठी पहले से विद्यमान है वहा भी सप्तमा निर्देश में पूर को ही पष्ठी और

सन्तु प्रकल्पिका । ननु चोक्त गुप्तिजकिद्भ्य सन् इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमाया पष्ठी प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति । परिहृतमेतत् । न कश्चिदन्य आदश प्रतिनिर्दिश्यत तत्रान्तर्यत सन सन्नेय भविष्यति । ननु चोक्त नैय शन्यमित्सज्ञा न प्रकल्पेत । उपदेश इति इत्सज्ञाच्यते । स्यात्पे षोषो यदीत्सज्ञा आदेश प्रताक्षेत् । तत्र खलु कृत्यामिन्सज्ञाया लापे च कृत आदेशा भविष्यति । उपदेश इति हात्मज्ञाच्यते । अत्रानुपे सनि प्रकल्प्या भवितव्यम् । यदा चात्पत्र सन् तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा प्रकल्पितेन भविष्यति । यदप्यच्यते प्रवृत्तिविशारायस्सा चति । अत्रापि प्रप्तो पष्ठी इक इति । यकृतौ प्रथमा यणिति । यत्र च नाम सोत्रा पष्ठा नास्ति तत्र प्रकल्प्या भवितव्यम् । अथवास्तु तावद्विको यणिति यत्र नाम सोत्री पष्ठा यदि चेदानामचायेषा सप्तमा यणिति प्रथमाया पष्ठी प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्यति । अस्तु । न कश्चिदन्य आदश प्रति निर्दिश्यत तत्रान्तर्यतो यणो यणत्र भविष्यति । यदप्युच्यते सप्तमी पञ्चन्योश्च जात्रादुभयत्र पष्ठीप्रकल्पितस्त्रोभयकार्यप्रसङ्ग इति । नप दोष आचायप्रवृत्तिज्ञापयति नोभे युगपत् प्रकल्पिके भवत इति । यदयमक पूर्वपरयोरिति पूर्वपरग्रहण करोति

पञ्चमादेश म पर का ही पष्ठी बनाया जायगा । इस प्रकार य दाना सूत्र पष्ठी प्रकल्पित रूप एक ही व्यापार करेंगे । ता कार्य नियम मान कर हाना है वह प्रकल्पक मान कर हा जायगा । दूसरा ता दाप कहा था कि प्रत्ययविधि म भा पञ्चमा विभक्तिया पष्ठी का प्रकल्पिका बन जायगा सा बन जाव । क्या हाति है । यह तो कहा था कि गुप्तजकिद्भ्य सन् म गुप्तिज क्भ्य यह पञ्चमी सन् इस प्रथमा का पष्ठी बना दगी ता उसका उत्तर द दिया गया था कि सन् का सन् ही आदा हा जायगा । फिर ता कहा था कि आदा हुए सन् म नकार की इत्सज्ञा न हा सकगी ता उसका उत्तर यह है कि यह दाप तब हा तब इत्सज्ञा आदश का प्रताक्षा कर । सन् म आदा हान स पडल हा उपदेशावस्था म नकार का इत्सज्ञा और लाप हाकर फिर स का स आदश हा जायगा । इत्सज्ञा उपदा काल में हा हा जाता है । वह आदा का प्रतीभा नहीं करता अवशा गुप्तज क्भ्य सन इस सूत्र स तत्र तक सन् उत्पन्न नहीं हुआ तत्र तक उस पष्ठा नहीं बनाया जा सकता तत्र उत्पन्न हो गया तत्र गुप्तज क्भ्य यह पञ्चमा चरितार्थ हो चुकी इस लिय प्रत्ययविधि में स्वत हा पञ्चमी विभक्ति पष्ठी का प्रकल्पिका नहीं बन सकती । तासरा तो

## स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' ॥११॥६८॥

रूपग्रहणं किमर्थम्? न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा भवतीत्येयं रूपं शब्दस्य संज्ञा भविष्यति । न ह्यन्यत् स्वं शब्दस्यास्ति, अन्यदतो रूपात् ।

दोष कहा था कि प्रकल्पक मानने पर प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनती । यहाँ भी यह उत्तर है कि प्रकृति में तो इक, यह पठ्ठी है । विकृति में यण् यह प्रथमा है । दोनों की व्यवस्था स्पष्ट है । जहाँ किसी सूत्र में पठ्ठी नहीं है वहाँ ये दोनों पठ्ठी के प्रकल्पक होंगे । इको यणचि सूत्र में तो सौती पठ्ठी ध्रुयमाण है वहाँ प्रकल्पित की क्या आवश्यकता है । यदि मान भी लें कि सौती पठ्ठी में भी प्रकल्पित होती है तो भी इको यणचि में दोष नहीं । भच् पर रहते यण् यह प्रथमा तस्मिन्निति० के वचन से पठ्ठी बन जायगी । बन जावे । यण् के स्थान में अन्य कोई आदेश कथित न होने से आन्तर्य से यण् ही हो जायगा । चौथा जो दोष कहा था कि सप्तमी पञ्चमी दोनों के एक साथ निर्देश में दोनों प्रकल्पिका बन जायेंगी तो दोनों के कार्य एक साथ प्राप्त होंगे वह भी कोई दोष नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि सप्तमी पञ्चमी दोनों एक साथ पठ्ठी प्रकल्पिका नहीं बनती । एकः पूर्वपरयो. में जो पूरे पर ग्रहण किया है उससे यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा आद्गुण इत्यादि में आत् यह पञ्चमी पूर्वानुक्रान्त अचि इस सप्तमी को पठ्ठी बना देगी और अचि यह सप्तमी आत् इस पञ्चमी को पठ्ठी बना देगी तो पूर्व पर के स्थान में आदेश स्वतः सिद्ध हो जाने से पूर्व पर ग्रहण व्यर्थ है ।<sup>१</sup>

रूपग्रहण किस लिये किया है । क्यों न स्व शब्दस्याशब्दसंज्ञा इतना ही सूत्र बना दिया । उससे शब्द का अपना रूप ही संज्ञा हो जायगा । क्योंकि रूप से अन्य शब्द का अपना कुछ नहीं है ।

१ निधी को यह भ्रान्त हो सकती है कि दीर्घात् छे च यही दीर्घात् यह पञ्चमी अनवशाश होने से छे इस सावकाश सप्तमी से साथ लेगी तो तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से दीर्घ से परे छ को तुक् प्राप्त होना चाहिये उसका समाधान यह है कि दीर्घात् यह पञ्चमी नहीं है बल्कि पठ्ठी है । व्यय से पठ्ठी ही जगह पञ्चमी कर ली है । इस में विभाषा सेनामुराच्छाया० सूत्र में मुराच्छ या यह छ पर रहते तुक् ही ज्ञापक है । इस लिये छ पर रहते दीर्घ को तुक् होता है । दीर्घ में परे छ को तुक् नहीं होता ।

२. कुछ व्याख्याकारों के मत में यह परिभाषा-सूत्र है क्योंकि शब्द के उच्चारण

एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—  
अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत् । अर्थः ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ।

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति ।

तो फिर रूपग्रहण के बिना भी सिद्ध होने पर जो रूपग्रहण किया है वह  
आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि रूप से अन्य भी शब्द का कुछ  
है । वह क्या है ? अर्थ है ।

इस बात क ज्ञापक करने का क्या प्रयोजन है ?

अर्थवद्ग्रहण नानर्थकस्य यह परिभाषा इस रूपग्रहण स स्वतः सिद्ध

में उसके स्वरूप, उसके पर्यायवाची, विशेषवाची शब्द, तथा अर्थ इन सबका  
ग्रहण प्राप्त होने पर केवल शब्द के स्वरूप को ग्रहण करने के लिये यह नियमार्थ  
बनाया गया है । अन्यो के मत में यह सज्ञा सूत्र ही है । क्योंकि परिभाषा का  
कोई लिङ्ग या अव्यन्तर शेषभाव इसमें प्रजात नहीं होता । इसे सज्ञा सूत्र मानते  
है । इसमें अर्थ है—शब्द का अपना रूप सज्ञा होता है, प्राहक होता है ।  
शब्द सज्ञा को छोड़ कर । यहाँ शब्दस्य यह मज्ञा है । स्व रूप यह मज्ञा है ।  
मद्वान्नाकौमुदीकार ने जो स्व रूप को मज्ञा माना है वह भाष्य विरुद्ध होने स  
थिन्य है । आगे भा अणुदित् यह सज्ञा है सवर्णस्य सज्ञा है । तपर यह सज्ञा  
है, तत्कालस्य सज्ञा है । यन विधि सज्ञा है तदन्तस्य सज्ञा है । आदिरन्त्येन  
सहेता यह सम्पूर्ण सूत्र सज्ञा है उसमें सज्ञा का निर्देश नहा है । नृक्षिर्यस्याचामादि  
में यस्य सज्ञा है वृद्ध सज्ञा है । व्याकरणशास्त्र में जो टि धु भ आदि सज्ञायें की  
गई हे वहा स्वरूप ग्रहण नहीं जाता । वान्क जिनकी व सज्ञायें ह उन सज्ञायों का  
वहा ग्रहण होता है । अन्यत्र सर्वत्र शब्द विषय म उसके स्वरूप का ग्रहण होगा ।  
न तो उसके पर्यायों का, न विशेषवाचा शब्दों का और न अर्थ का । शब्द का  
अपना स्वरूप क्या है इस विषय में भा बहुत कुछ मत भेद है । कुछ लोग व्यक्ति  
को ही शब्द का स्वरूप करते हैं । कुछ जाति को । जैसा कि वाक्यपदीय में भर्तृहरि  
ने कहा है—स्व रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्ति सज्ञाभिधीयते इत्यादि । वस्तुतः  
व्यक्ति पदार्थ में भा जाति पदार्थ अवश्य अपेक्षित है । और जाति म भी व्यक्ति  
की अनतान्त अपेक्षा है इस लिये व्यक्ति और जाति उभयामयित पदार्थ ही शब्द  
का स्वरूप मानना उचित है । सारूपसूत्र में भाष्यकार न स्वयं कहा भी है—न ह्याकृति-  
पदार्थकस्य द्रव्य न पदार्थ, न वा द्रव्यपदार्थकस्याङ्गतिर्न पदार्थ उभयोश्चभय  
पदार्थ इत्यादि ।

### किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

शब्देनार्थावगतेः अर्थे कार्यस्यासंभवात् तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् ।

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । सामानय दध्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासंभवात् । इह च व्याकरणे अर्थे कार्यस्यासंभवः । अग्नेर्द्विगिति न शक्यतेऽङ्गारेभ्यः परो ढर्कृ फर्तुम् । शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासंभवात् यावन्तन्तद्वाचिनः शब्दास्तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् एवमर्थमिदमुच्यते ।

न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः ।

न वा एतत् प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् । शब्दपूर्वको ह्यर्थे

होकर अलग नहीं बनानी पड़ेगी । इसका अर्थ है कि अर्थवान् शब्द के प्रहण में अनर्थक का प्रहण नहीं होता । शब्द के स्वरूप के साथ नित्य सम्बद्ध अर्थ भी है इस लिये अर्थ वाले शब्द स्वरूप के प्रहण में अनर्थक का प्रहण नहीं होगा ता कारो दुशे वः में अनर्थक से शब्द का श सूत्र में प्रहण न होने से वः प्रगृह्यसता नहीं होगी । किन्तु टित आ मनेपदानो टेरे यहाँ अनर्थक टि का एतव विधान म तथा अनर्थक वर्णप्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती इस लिय पचेन आदि में अनर्थक टि का भी टेरेव हो जाता है ।

यह सूत्र किम लिये बनाया है ?

क्याकि लोक में उच्चारित क्रिय हुए शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । सामानय दग्गान यह शब्द कहने पर गो पदार्थ हा लाया जाता है । दही पदार्थ हा लाया जाता है । किन्तु यहाँ व्याकरण शास्त्र में कथित कार्य का अर्थ में असम्भय है । अनेटर् सूत्र द्वारा अग्नि शब्द से परो ढक प्रत्यय कहा है । यह अग्नि शब्द के अर्थ जो अगार हैं उनसे परो नहीं किया जा सकता । तो उम शब्द के जितने पर्यायवाची शब्द हैं उन सब से ढक की उत्पत्ति प्राप्त होती है । इष्ट है कि उसी अग्नि शब्द से ही ढक है । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिय शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों में यह कार्य रोक्कन के लिय स्वरूपसंज्ञाविधायक यह सूत्र बनाया है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि शब्द पूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है ।

सम्प्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वकः। योपि ह्यनावाह्यते नाम्ना। नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति। शब्द-पूर्वकद्वयार्थस्य सम्प्रत्ययः। इह च व्याकरणे शब्दे कार्यस्य संभवः, अर्थेऽसंभवः तस्मात् तदर्थनिवृत्तिर्भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। अशब्दसंज्ञेति वक्ष्यामीति। इह मा भूत् दाधा ध्वाप्। तरपतमपौ घ इति।

शब्दसंज्ञाप्रतिषेधनार्थक्य वचनप्रामाण्यात्।

शब्दसंज्ञायाः प्रतिषेधोऽनर्थकः। शब्दसंज्ञाया स्वरूपविधिः कम्मान्न भवति। वचनप्रामाण्यात्। शब्दसंज्ञावचनसामर्थ्यात्।

ननु च वचनप्रामाण्यात् सञ्चिनां सम्प्रत्ययः स्यात् स्वरूप ग्रहणारूच संज्ञायाः।

पहले शब्द बोला जाता है तत्पश्चात् उससे अर्थग्रहण होता है। इस हेतु से तो और भी अच्छी तरह शब्दपूर्वक अर्थ का बोध होता है कि जिस किसी को भी आप नाम लेकर बुलाते हैं उसे तब तक अपना नाम नहीं सुनाई देता वह तब तक यह पूछता है कि आप ने क्या कहा। इससे मालूम हुआ कि शब्द श्रवण के बाद अर्थ का ज्ञान होता है। उससे पूर्व नहीं। किन्तु इस व्याकरण शास्त्र में केवल शब्द में ही कार्य का संभव है, अर्थ में असंभव है। इस लिये अर्थ में कार्य का सर्वथा असंभव होने से अर्थ की निवृत्ति स्वतः होकर प्रत्यासत्या उच्चारित शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण हो जायगा।

तो फिर इस सूत्र का यह प्रयोजन है कि सूत्र में अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करेंगे। जिससे दाधा ध्वाप्, तरप-तमपौ घ इन ध्रु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूप का ग्रहण न हो।

अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करना भी व्यर्थ है। आप पूछें कि फिर ध्रु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण क्यों नहीं होता तो उसका उत्तर है—वचनप्रमाण से। शब्दसंज्ञा के वचन-सामर्थ्य से वहाँ स्वरूपग्रहण नहीं होता। सञ्चियों का ग्रहण होता है।

शब्दसंज्ञाओं में शब्दसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से तो सञ्चियों का ग्रहण हो जावे किन्तु स्वरूपग्रहण से संज्ञा का भी ग्रहण हो जावे जो कि अनिष्ट

पतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न शब्द-  
सञ्ज्ञायां स्वरूपविधिर्भवतीति । यद्य प्लान्ता पडिति पकारान्तायाः  
संख्यायाः पट्सञ्ज्ञां शास्ति । इतरथा हि वचनप्रामाण्याच्च नकारा-  
न्तायाः संख्यायाः सम्प्रत्ययः स्यात् । स्वरूपग्रहणाच्च पकारान्तायाः ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । नहि पकारान्ता सञ्ज्ञा । ना तर्हि । उकारान्ता ।

असिद्ध जज्ञत्व, तस्यासिद्धत्वात् पकारान्ता ।

मन्त्राद्यर्थं तर्हिदि वक्तव्यम् । मन्त्रे ऋचि यजुषीति यदुच्यते  
तन्मन्त्रशब्दे ऋशब्दे यजुःशब्दे च मा भूत् ।

हे उसे रोकने के लिये अशब्दमज्ञा लगाना अत्यावश्यक होगा । उसके सामर्थ्य  
से सज्ञाओं में स्वरूपग्रहण रक जायगा । अत सूत्रारम्भ अर्थवान् है ।

ऐसा नहीं हो सकता । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है  
कि पुष्प आदि शब्दसज्ञाओं में स्वरूपग्रहण नहीं होता । यह जो प्लान्ता पट्  
सूत्र में पकारान्त संख्या पप शब्द की पट् सज्ञा की है उससे यह बात सिद्ध  
होती है । अन्यथा सज्ञा वचन मानर्थ्य से तो नकारान्त मज्ञा का ग्रहण हो  
जायगा और स्वरूप ग्रहण से पकारान्त पप सज्ञा का । उस अवस्था में पकार-  
ग्रहण व्यर्थ है । नान्ता पट् इतना सूत्र ही पर्याप्त है ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । पकारान्त कोई संज्ञा नहीं है । कौन है ?  
उकारान्त है । पट् सज्ञा है, पप नहीं है । सज्ञा पप् है । उसका ग्रहण पट्सज्ञा  
से नहीं हो सकता ।

पट् सज्ञा में पप् को झलीं उरोन्ते से हुआ उगत्य असिद्ध है । उस  
के असिद्ध होने से पप ही दीरेगा तो पप् का स्वरूपग्रहण पप् सज्ञा से  
सम्भव है । इस लिये पकारग्रहण व्यर्थ होकर इसी बात का ज्ञापक रहा कि शब्द  
सज्ञा में स्वरूपग्रहण नही होता ।

अप्य तो मन्त्र आदि शब्दसज्ञाओं में स्वरूपग्रहण रोकने के लिये  
अशब्द सज्ञा ग्रहण करना चाहिये । मन्त्रे ऋचि यजुषि आदि शब्दों से जो  
सज्ञाये मूर्धो में कायार्थ उपात्त हैं वहा मन्यादि शब्द स्वरूप में कायं न हो  
भरि नु उनक वाच्य अर्थ में हो ।



मन्त्रार्थमिति चेच्छास्त्रसामर्थ्यादर्थगते सिद्धम् ।

मन्त्रार्थमिति चत् तन्न । किं कारणम् । शास्त्रस्य सामर्थ्या  
दर्थस्य गतिर्भविष्यति । मन्त्र ऋचि यजुपीति यदुच्यत मन्त्रशब्दे  
ऋक् शब्दे यजु शब्दे च तस्य कार्यस्य सभवो नास्तीति दृष्ट्वा मन्त्रादि-  
सहचारितो योऽर्थस्तस्य गतिर्भविष्यति साहचर्यात् ।

सित्तिदिशपाणा वृक्षार्थम् ।

सित्तिर्दिश ऋतयः । ततो यक्तव्य तद्विशेषाणा ग्रहण भवतीति ।  
किं प्रयोजनम् । वृक्षार्थम् । विभाषा वृक्षमृगेति । प्लक्षन्यग्रोध प्लक्ष  
न्यग्रोधा ।

मन्त्र आदि सज्ञार्था क लिय भा अशब्द सज्ञा की आवश्यकता नहीं ।  
क्योंकि शास्त्र के सामर्थ्य स वहा मन्त्र आदि शब्द न लकर उनक सह  
चरित अर्थ<sup>१</sup> लिय जायेंगे । मन्त्र आदि शब्द पर रहत विधीयमान काय का  
असभव है इस लिय मन्त्रादिसहचरित अर्थ लकर उसमें कार्य हा जायगा ।<sup>३</sup>

सित् निर्दिश करना चाहिये । वृक्षस मृगस इस प्रकार सकार लगाना  
चाहिये और फिर कइना चाहिये कि यदा शब्द क स्वरूप का ग्रहण न होकर  
उसक विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । किस लिये ? वृक्ष आदि क लिये ।  
विभाषा वृक्षमृगनृगान्यव्ययानाम् । यह सूत्र उदाहरण है । यदा वृक्ष मृग

१ ऋचितु नुष०, मन्त्र घसह्वरणश० द्रवसुम्नयोर्थजुषि इत्यादि स्थानों  
म ऋच आदि शब्द पर हान पर चारन का प्रवृत्ति का सम्भव हा नहीं अत  
वहाँ ऋच् आदि का स्वरूप ग्रहण नहीं होगा ।

२ शब्द का अर्थ क साथ एसा साहचय है कि शब्द स अनुविद्ध (ओत  
प्रोत) अर्थ का वध हाता है, शब्द स पृथक अर्थ रा कर्नी नहीं । अतएव  
भावान् भवृहरि वाक्यपदाय में कहत है—

न सोस्ति प्रत्यया लोक य शब्दानुगमादत् ।

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वे शब्दान भासत ॥

३ इस प्रकार स्वरूप शब्दस्य क साथ ही अशब्दसज्ञा की भी आवश्यकता  
नहीं है यह कह कर भाष्यकार तथा वातकार दोनों न सूत्र का सङ्गन कर  
दिया है ।

पितृपर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् ।

पित्रिर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यम् । पर्यायवचनस्य च तद्विशेषाणां च ग्रहणं भवति स्वस्य च रूपस्येति । किं प्रयोजनम् । स्वाद्यर्थम् । 'स्व पुपः' । स्वपोपं पुष्यति । रपोपम् । धनपोपम् । अदरपोपम् । गोरोपम् ।

जितृपर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ।

जित्निर्देशः । कर्तव्यः । ततो वक्तव्यम् । पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा । इनसभम् । ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति । राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति । पुष्यमित्यसभा । चन्द्रगुप्तसभा ।

आदि शब्दों का ग्रहण न होकर वृक्षादिक विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । जैसे—प्लथयप्राथ प्लथन्यप्रोथा । ( प्लथारच न्यप्रोधाश्च ) प्लथ न्यप्रोथ ये वृक्षविशेष हैं इनके शब्द में विकल्प से पुरुवद्भाव हो जाता है ।

पितृ निर्देश करना चाहिये । स्वप इस प्रकार प्रकार लगाना चाहिये । और फिर कहना चाहिये कि यहाँ उसका पर्यायवाची विशेषवाची तथा उसके स्वरूप का भा ग्रहण होता है । किस लिये । स्व आदि के लिये । स्व पुप यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ स्व शब्द के स्वरूपग्रहण के साथ उसके पर्यायवाची तथा विशेषवाची शब्दों के उपपद होने पर भी पुप धातु से अनुद् हो जाता है । स्वपोम् रपोपम् धनपोपम् इत्यादि ।

जित् निर्देश करना चाहिये । राजन्त्र इस प्रकार प्रकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहाँ उसका पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है । किस लिये । राजादि के लिये । नना राजाऽमनुष्यपूर्वा यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ राजन्त्र शब्द के पर्यायवाचियों का ग्रहण होकर इनसभम्, ईश्वरसभम् इस संनाशान्ते पक्षे उत्तुरर समाम में ननुमकटिङ्ग हा जाता है । राजन्त्र शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होने से राजाना यहाँ ननुमकटिङ्ग नहीं होता । इस प्रकार राजन्त्र के विशेषवाचियों का ग्रहण न होने से पुष्यमित्यसभा चन्द्रगुप्तसभा यहाँ भी ननुमकटिङ्ग नहीं होता ।

ज्ञित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याचार्यम् ।

ज्ञिन्निर्देशः । कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं तस्य च ग्रहणं भवति तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति । मात्स्यिकः । तद्विशेषाणाम् शाफरिक । शाकुलिक । पर्याय-वचनानां न भवति । अजिह्वान् हन्ति । अनिमिपान् हन्ति । अस्थे-कस्य पर्यायवचनस्येप्यते—मीनान् हन्ति मेनिकः ।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१॥१,६९॥

अप्रत्यय इति किमर्थम् ?

सनाशसभिक्ष उ । अ साम्प्रतिके ।

अत्यल्पमिदमुच्यते अप्रत्यय इति । अप्रत्ययादेशटित्किन्मितः इति वक्तव्यम् । प्रत्यये—उदाहृतम् । आदेशे—इदम इश् । इत इह । टिति—लघिता लघितुम् । किति—बभूव । मिति—हे अनङ्घ्रन् ।

ज्ञित् निर्देश करना चाहिये । मत्स्य झ इस प्रकार झकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहाँ उसके स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । किस लिये ? मत्स्य आदि के लिये । पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ मत्स्य क स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होकर मात्स्यिक शफरिक शाकुलिक में ट्क् प्रत्यय हो जाता है । पर्यायवाचियों का ग्रहण न हानस अजिह्वान् हान्त आनानवान् हन्त यद्वा ठक न होकर वाक्य ही रह जाता है अजिह्व अनमिप ये मत्स्य क पर्याय हैं । इस एक पर्यायवाची मीन शब्द से तो ठक प्रत्यय इष्ट है । मीनान् हन्ति मेनिक यहाँ ठक हो जाता है ।

अप्रत्यय ग्रहण किस लिये किया है ? क्या जो कबल प्रत्ययसञ्ज्ञक अण् हैं उसका ही सवर्णग्रहण में निषेध है या जो प्रतीयते विधायत इति प्रत्यय इस प्रकार प्रत्यय शब्द को यौगिक मान कर कोई भी विधीयमान अण् हैं उनका भी सवर्णग्रहण में निषेध है ?

सनाशसभिक्ष उ अ साम्प्रतिके इन सूत्रों से विधीयमान उ और अ ये प्रत्ययसञ्ज्ञक अण् हैं इनमें सवर्णग्रहण का निषेध हा जाता है तो दीर्घ प्लुत उ अ नहीं होते ।

अप्रत्यय यह तो बहुत थोड़ा कहा गया है । इससे केवल प्रत्यय में ही

टितः परिहारः—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न रिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति । यद्य ग्रहोऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति ।

नेतदस्ति ज्ञापकम् । नियमार्थमेतत् स्यात् । ग्रहोऽलिटि दीर्घं एवेति ।

यत्तर्हि 'वृत्तो वे'ति विभाषां शास्ति । सर्वेषामेष परिहारः—  
भाज्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येव न भविष्यति । प्रत्यये भूयान्

सवर्णग्रहण का निषेध होता है । इसकी जगह अप्रत्ययदेशटित्किन्मित ऐसा कहना चाहिये । उससे प्रत्यय आदेश टित् किन् मित् इन सब में भी सवर्णग्रहण का निषेध हो जायगा । प्रत्यय में तो अभी सनाशस० यह उदाहरण दिये हैं । आदेश में—इदम् इत् सूत्र का इत्, इह यह उदाहरण है । यहाँ इदम् के स्थान में इह आदेश हुआ है उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से त्रिमात्रिके इकार नहीं होता । टित् में लविता लवितुम् ( लृञ्-इद् नृच्, वृमुन् ) यहाँ लृ धानुस नृच् नमुन् को इङ्गागम हुआ है । वह टित् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घं प्लुत इकार नहीं होता । किन् में—बभूव । यहाँ नृ धानुस लिट् में भुवो जुगलुह्लिटो से वुक का भागम हुआ है । वह किन् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से सानुनासिक बभार नहीं होता । मित् में 'अनङ्गम' यहाँ अनङ्गुह शब्द से सम्बोधन में अम् सम्बुद्धी से अम् हुआ है । यद् मित् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घं प्लुत अकार नष्ट होता ।

प्रत्यय के साथ आदेश टित् किन् मित् में भी तो आपने सवर्णग्रहण का निषेध कहा है उनमें टित् का ता यह समाधान है कि आचार्य के व्यवहार से टित् अपने सवर्णिया का ग्रहण नहीं करेगा । यह जो ग्रहोऽलिटि दीर्घं सूत्र से इद् को दीर्घं विधान किया है उससे यह बात निश्चि होती है । अन्यथा टित् इद् का भागम अपने सवर्णा दीर्घ का ग्रहण कर ही लेता तो दीर्घविधान व्यर्थ है ।

यद् काहं ज्ञापकं नहीं । ग्रहोऽलिटि० में दीर्घं विधान ता नियमार्थ भा हो सकता है कि ग्रह से परे लिट्भिन्न इद् को दीर्घं ही हो । इत्तर या प्लुत न हो ।

ग्रहोऽलिटि० सत्र न मही । उससे भागे भाते वाले वृत्तो वा सूत्र में

१. इत् के विनाशविहित होने से स्वदास्य का बाहर होकर त्रिमात्रिक इदम् का स्थान में त्रिमात्रिक आदेश प्राप्त होता है ।

परिहार—अनभिधानान् प्रत्ययः सवर्णान् न ग्रहीयति । यान् हि प्रत्ययः सवर्णान् गृह्णायात् न तेरर्थस्याभिधान स्यात् । अनभिधानाद् न विध्यति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । इह केचित् प्रतीयन्ते केचिन् प्रत्याख्यन्ते । ह्रस्वाः प्रतीयन्ते दीर्घाः प्रत्याख्यन्ते । यदञ्च पूते प्रत्यायनान्न सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति ।

क पुनर्दीर्घः सवर्णग्रहणेन गृहीयात् ?

ह्रस्वम् ।

यत्नाधिभ्यान्न ग्रहीष्यति ।

प्लुत तर्हि गृहीयात् ।

अनण्व्यान्न ग्रहीष्यति ।

एव तर्हि सिद्धं सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्त्रिणः तदप्यन्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति ।

प्रत्याख्यमानं दीर्घं अपने किस सवर्णी को ग्रहण करेगा ।

ह्रस्व का ।

दिमात्रारूप यत्न क आधिक्य से वह एकमात्रिक ह्रस्व को ग्रहण नहीं कर सकता ।

तो फिर प्लुत को ग्रहण कर लये ।

अण न होने में प्लुत का भी ग्रहण नहीं कर सकता । अण प्रत्याहार में ह्रस्व अकार हा पठित है दीर्घ नहीं । इस लिये दीर्घ अकार अण न होने में प्लुत का ग्रहण नहीं करेगा ।

तब तो सिद्ध होने पर जो अप्रत्ययग्रहण किया है वह इस बात का प्रारम्भ है कि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा हाता है । अर्थात् प्रत्यय वाच्य यदा रुद्धि न मान कर प्रतीयत विधायने इति प्रत्यय इस प्रकार योगिक मानना ता ता अत्रत्य है अवभाष्यमान है वह अण अपने सवर्णों का ग्रहण करमा विभावमान नहीं करेगा । उससे भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा स्वतः सिद्ध हो जाता है ।<sup>१</sup>

१ य परिभाषा अण के सवर्णग्रहण में ही भाव्यमान या निषेध करती है । उद्धि क सवर्णग्रहण न यह निषेध नहीं करेगा ता कुहोश्चुं चो कु यदा विधायमाने प्लुत कुहोश्चुं जादिने सवर्ण का ग्रहण हाता ही है । दया वि य प्लुत गण भाव्यमानाऽण सवर्णानां गृह्णाति इति प्रसार इति परिभाषा ही स्वतः मान कर गत है । इति अत्रत्ये ३ । भाव्यमानाऽप्युकार सवर्णानां गृह्णाति यद परिभाषा है निषेध अण में उद्धि क तरफ करन से सा पत होता है ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

अण् सवर्णस्येति स्वरानुनासिक्यकालभेदात् ।

अण् सवर्णस्येत्युच्यते । स्वरभेदादनुनासिकभेदात् कालभेदाच्च अण् सवर्णांश्च गृह्णीयात् । इष्यते च ग्रहणं स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णाग्रहणमनुपदेशात् ।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । अकः सवर्णे दीर्घ इति । किं कारणम् । अनुपदेशात् । यथाजातीयकानां सञ्ज्ञा कृता तथाजातीयकानां सम्प्रत्यायिका स्यात् । ह्रस्वानां च क्रियते ह्रस्वानामेव सम्प्रत्यायिका स्यात् दीर्घाणां न स्यात् ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

अण् सवर्णस्य० यह सूत्र इस लिये बनाया है कि उदात्तादि स्वरभेद अनुनासिकभेद तथा मात्रा आदि काल भेद से अण् अपने सवर्णियों को ग्रहण नहीं कर सकता । इष्ट है कि वह अपने सवर्णियों को ग्रहण करे । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये यह सूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन है तो, किंतु अक् आदि प्रत्याहारों के ग्रहण में प्रतीयमान इकारादि के द्वारा अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता । क्योंकि अक् आदि में इकारादि का अनुपदेश है । साक्षात् उच्चारण नहीं है । अकः सवर्णे दीर्घः में साक्षादुच्चारित अकार अण् तो अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों को ग्रहण कर लेवे किन्तु अक् में साक्षात् अनुपदिष्ट किन्तु प्रतीयमान इकार उकारादि अण् अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों का ग्रहण नहीं कर सकते । प्रत्याहारग्रहण सवर्णाग्रहण० इस वार्तिक का यह भाव भी है कि अक में अनुपदिष्ट ईकार का अक् ग्रहण से ग्रहण नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वर्णमाला या प्रत्याहार में

१. यह केवल अण् के विषय में प्रयोजन है । उदित् के विषय में नहीं । अण् के सवर्णाग्रहण के सम्बन्ध में ही विचार करना है । उदित् में तो सवर्णाग्रहण अभीष्ट तथा वाचनिक सिद्ध माना है ।

ननु च ह्रस्वाः प्रतीयमाना दीर्घान् सप्रत्याययिष्यन्ति ।

ह्रस्वसम्प्रत्यायादिति चेदुच्चार्यमाणशब्दसम्प्रत्यायकत्वाच्छब्दस्यावचनम् ।

ह्रस्वसम्प्रत्यायादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः । तद्यथा ऋगित्युक्ते सपाठमात्रं गम्यते ।

एव तर्हि वर्णपाठ एवोपदेशः करिष्यते ।<sup>१</sup>

वर्णपाठ उपदेश इति चेदनकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

वर्णपाठक्रमे उपदेश इति चेद् अवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

दीर्घं प्लुत ईकार अनुपदिष्ट है । प्रत्याहार सज्ञा जिस प्रकार के वर्णों की की गई है वह उसी प्रकार क वर्णों की प्रादिका या बोधिका होगी । ह्रस्वों की सज्ञा की गई है तो अक स ह्रस्व इकार ही गृहीत होना चाहिये, दीर्घे प्लुत नहीं

अक मवर्ण० में प्रतीयमान ह्रस्व इकारादि अपने सवर्णी दीर्घे प्लुत इकारादि का सम्प्रत्यायन करा देगा । अक स ह्रस्व इकार प्रतीत होकर अपने सवर्णा दीर्घे प्लुत इकार का भी प्रतीत करा देगा ।

अक में प्रतीयमान ह्रस्व इकारादि अपन सवर्णियों का प्रत्यायन नहीं करा सकते । क्योंकि साक्षादुच्चार्यमाण वर्ण ही अपने सवर्णी का प्रत्यायक होता है । प्रतीयमान नहीं । जैसे ऋक् ऐसा कहने पर केवल ऋक् शब्द से सहितपाठ मात्र ही गम्यमान होता है और उसमें अग्निमाळे इत्यादि मन्त्र सन्निवेशविशिष्ट ऋचा नहीं जाना जाती ।

अच्छा तो वर्णमाला में ही ह्रस्व अकारादि क साथ दीर्घे अकारादि का भी उपदेश कर देंगे उपदेश से यहाँ तात्पर्य प्रत्यायन स है । ह्रस्व अकारादि अपन सरणप्रहण सहित प्रत्याहार में उपदिष्ट समझे जायेंगे ।

यदि वर्णमाला में ही सवर्णप्रहण सहित अकारादि वर्णों का उपदेश मानेंगे तो वह बनता नहीं । क्योंकि सरणप्रहण कराने वाले इस सूत्र की निमित्त अवरकाल है । प्रत्याहारसज्ञा क बाद सरणप्रहण होने से प्रत्याहार में



किं परा सूत्रात् क्रियते इत्यतोऽवरकाला ।

नेत्याह । सर्वथावरकालेव । वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशो  
त्तरकाला इत्सञ्ज्ञा । इत्सञ्ज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येन सहेते'ति प्रत्याहारः ।  
प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा । सवर्णसञ्ज्ञोत्तरकाल'मणुदित्सवर्णस्य  
चाप्रत्यय' इति । सेपाऽवरकाला उपदेशोत्तरकाला वर्णानामुत्पत्तौ  
निमित्तत्वाय कल्पिष्यते इत्येतन्न ।

तस्मादुपदेश ।

कर्तव्यः ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनणत्वात् ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । 'अस्य च्चौ' ।  
'यस्येति चे'ति । किं कारणम् । अनणत्वात् । नद्यतेऽणो येऽनुवृत्तौ ।  
के तर्हि ? येऽक्षरसमाम्नाये उपदिश्यन्ते ।

ही सवर्णग्रहणं कैसे होगा । प्रत्याहार विधायक सूत्र से यह सवर्णग्रहणपरभाषा-  
शास्त्र बचवा ग्रहणकशास्त्र पश्चात् निष्पन्न होता है । इस क्रिये प्रत्याहार में  
इस सूत्र से सवर्णग्रहण नहीं हो सकता ।

क्या प्रत्याहार सूत्रों के बाद इसका क्रम है इस लिये यह सूत्र अवरकाल है ?

नहीं, सर्वथा यह सूत्र अवरकाल ही है । न केवल सूत्र पाठ के क्रम से  
अपितु आर्थिक क्रम से भी इसकी उत्पत्ति याद में है । पहले वर्णों का उपदेश  
होता है । उपदेश के बाद इत्सञ्ज्ञा । इत्सञ्ज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहता से  
प्रत्याहार । प्रत्याहार के बाद सवर्णसञ्ज्ञा । सवर्णसञ्ज्ञा के बाद कहीं जा कर  
अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण होता है । इस प्रकार उक्त वाक्यपरिसमाप्ति से सब  
के बाद में होने वाला यह ग्रहणकशास्त्र वर्णों के उपदेशकार में ही सवर्णग्रहण  
करान में निमित्त बन जायगा ऐसा नहीं हो सकता । इस लिये प्रत्याहार में ही  
ह्रस्व अकारादि के साथ दीर्घ प्लुत अकारादि भी उपदिष्ट कर देने चाहिये ।  
ह्रस्व अकारादि का पाठ दीर्घप्लुतों का उपलक्षक होगा । उससे दीर्घप्लुत भी  
उपदिष्ट समझे जायेंगे तो अक्षर में उच्चार्यमाण अक्षर से आकार के समान  
प्रतीयमान इकार से ईकार का भी ग्रहण स्वतः हो जायगा तो प्रत्याहारों के  
लिये इस ग्रहणक शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं । इसका साथ ही—

अनुवृत्ति निर्देशों में भी इस सूत्र से इष्ट सिद्धि नहीं होती । शास्त्रप्रवृत्त

एव तर्हि अनण्त्वाद् अनुवृत्तौ न, अनुपदेशाच्च प्रत्याहारं न ।  
उच्यते चेदमण् सवर्णान् गृह्णातीति तत्र वचनाद् भविष्यति ।

वचनाद् यत्र तनास्ति ।

नेद् वचनान् लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ।  
फिम् । य एतं प्रत्याहाराणामादितो वर्णास्ते. सवर्णानां ग्रहणं यथा  
स्यात् ।

एव तर्हि ।

सवर्णेऽणग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात् ।

सवर्णेऽणग्रहणमपरिभाष्यम् । कुत । आकृतिग्रहणात् । अवर्णा-

क अनुवृत्त निर्देश का अनुवृत्ति निर्देश कहते हैं । जैसे अग्य च्चौ । यस्यति च ।  
यहा जा अकार इकार हैं इन में ण कू छ आदि प्रत्याहार चिह्न न होने से  
य अण नहीं कहे जा सकते । अण न होने से अनुवृत्तिसूत्र से सवर्णग्रहण नहीं  
प्राप्त होता । अणादि प्रत्याहारों में तो प्रतीयमानों के अनुपदिष्ट होने से वहाँ  
इसकी प्रवृत्ति नहीं हाता और अस्य च्चौ आदृगुण इत्यादि अनुवृत्ति निर्देशों में  
अकारादि क अण न होने से इसकी प्रवृत्ति नहीं होती इस प्रकार यह सूत्र  
दोनों भाग स गया । ये अण नहीं हैं जो अस्य च्चौ यस्योत च आदि अनुवृत्ति  
निर्देशों में हैं । क्योंकि इनमें प्रत्याहार का कोई चिह्न नहीं है जिससे हम इन्हें  
अण समझें । अण कौन हैं ? जो अक्षरसमाभ्याय अथवा वर्णमाला में प्रत्याहार  
संज्ञक पद हैं ।

अच्छा ता अनुवृत्ति निर्देशों में अण न होने से प्रत्याहारों में अनुपदिष्ट  
हान स यदि यह सूत्र नहीं लगेता तो अण् सवर्णों का ग्रहण करता है, यह  
वचन व्यर्थ हा जायगा । उस अवस्था में वचन सामर्थ्य स अस्य च्चौ आदि  
क अकार का भा अण मान कर सवर्णग्रहण कर लिया जायगा ।

वचन सामर्थ्य स यह बात नहीं हा सकती । क्योंकि इस वचन का  
अन्य प्रयोजन है । क्या ? अर् मर्ण०, इच्छ यण्वि इत्यादि अक इक् प्रत्याहारों  
में ण आदि क अकार इकारादि वर्ण हैं ये अण होने से अपन सवर्ण का ग्रहण  
कर सक । एतर्था यह सूत्र रह सकता है ।

यह तो अति लघु प्रयोजन है । इससे तो अच्छा यही है कि व्यक्तिपक्ष

१ वचन गान चं ग वती मर्णग्रहण होगा जहाँ अर् भा नहीं है और सामान्  
उच्चारण भा नहीं है, अर् अर् में तो दोनों हैं । एसा भाष्य का अक्षरार्थ है ।

कृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

ननु चान्या आकृतिरकारस्य । अन्या चाऽऽकारस्य ।

अनन्यत्वाच्च ।

अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर ।

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति । तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । अपर आह—

सर्वणैऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वं ।

सर्वणैऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम् । आकृतिग्रहणादनन्यत्वं भविष्यति । अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः ।

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति । तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । यस्तु खलु गोश्च अश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति ।

को छेड़ कर आकृतिपक्ष एवं जाति पक्ष मान लिया जाय । उस पक्ष में इस सूत्र का यत्किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं होगी । सर्वणग्रहण करने के लिये अण्ग्रहण वाला यह अणुदिसूत्र अपरिभाष्य है । अवश्य है । यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । क्योंकि आकृति पक्ष का मान लेगे । आकृति का अर्थ एकाकारानुगत जाति है । सर्वत्र अवर्ण की जाति का उपदेश मानेंगे वह अवजायाकान्त अवर्ण मात्र को ग्रहण कर लेंगे । ह्रस्व क साथ दीर्घप्लुत आदि सब का ग्रहण हो जायगा । इसी प्रकार इरण् उरण् की आकृति का ग्रहण होने से सभी प्रकार के इ, उ का ग्रहण हो जायगा ।

जब अकार की आकृति ( आकार ) अन्य है और आकार की अन्य है तो अकार से आकार का ग्रहण कैसे होगा ।

अकार और आकार की आकृति अन्य नहीं है । एक ही है । जो अनियम से भेद है उससे अन्यता नहीं होती । अ और आ क ध्रुवण छत्रन में मात्रा भेद होने पर भी मूलतः अन्व जाति में कोई भेद नहीं है । अनेकान्त=

तद्वच्च हलप्रहणेषु ।

एवं च वृत्त्या हलप्रहणेषु सिद्धं भवति । श्लो श्लि । अयात्ताम् ।  
अयात्ताम् । अयात्त । यथेतन्नास्ति-अण् सवर्णान् गृह्णातीति ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्तकर ।

इत्युक्तार्थम् ।

द्रुतप्रिलम्बितयोश्चानुपदेशात् ।

द्रुतप्रिलम्बितयोश्चानुपदेशान् मन्यामहे आहृतिप्रहणात् सिद्ध-  
मिति । यद्य कस्यां चिद् द्रुत्तौ वर्णानुपदिश्य सर्वत्र वृत्ती भवति ।

अनिरत<sup>१</sup> । अवयवाननुगत जो भेद है वह अनन्यात्तकर=अभेद कारक होता है । जो काली गौ या सफ़ेद गौ का भेद है वह दोनों गौओं में भेद नहीं करता किन्तु जो गौ और घोड़े का भेद है वह दोनों में भेद करता है । दूसरे भाष्यमें इसी बात को यू कहते हैं—सवर्णप्रहण के लिये अणुदित्स्त्र अवन्त्य है । क्योंकि आहृति पक्ष में वर्णों में अनन्यता एवं अनिच्छता हो जायगी । अकार और आकार की अन्व जाति एक ही है । भाग की व्याख्या पूर्व के समान है ।

आहृति या जाति पर जो मान कर ही हल प्रहणों में भी कार्य सिद्ध किया जाता है उस अणु न होने से अणुदित्स्त्र से सवर्णप्रहण होने का प्रश्न ही नहीं उठता । जैसे म्-सति का उदाहरण अयात्ताम् अयात्ताम् अयात्त है । ( वस् मिर्-सुठ ताम्, तन्, त ) यहाँ वस् धातु से सुठ में सिष् पर रहते मः स्यात्-सुठ से म् के सकार का ठकार हुआ है । दो ठकारों के मध्य में स्थित मिर् के सकार का श्लो जाति में लोप करने में यह अङ्घन आती है कि म्-म पर म् नही है । क्योंकि म्-म प्रत्याहार में एक ही ठकार पड़ा है । दूसरे ठकार को ना आहृतिपक्ष में म्-म मानकर श्लो जाति से लोप सिद्ध हो जाता है । भेद अभेद ही होता है यह पहले कह चुके हैं ।

भाष्यमें द्वारा द्रुत और प्रिलम्बित वृत्तियों में वर्णों का उपदेश न करने में भी मध्यम वृत्ति में वर्णों का उपदेश करके सर्वत्र वृत्तार्थ हो जाते हैं उसका कारण यह आहृतिप्रहण ही है ।

१ यहाँ अन्व भेद की ही प्रकृति न हो किन्तु अभेद की भी हो ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

वृत्तिपृथक्त्व तु नोपपद्यते ।

वृत्तेः पृथक्त्वं नोपपद्यते ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशात् सिद्धम् ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । अतो भिस ऐस् इति ।

तपरस्तत्कालस्य ॥११७०॥

अयुक्तोऽय निर्देशस्तत्कालस्येति । तदित्यनेन कालः प्रति निर्दिश्यते । तदित्ययं च वर्णः । तत्रायुक्तं वर्णस्य कालेन सह सामानाधिकरण्यम् ।

आहृति पक्ष का यह प्रयोजन तो ठीक है किन्तु उस पक्ष को मानने पर वृत्तियों की पृथक्ता नहीं बनती । मात्रा भेद से होने वाली ह्रस्व दीर्घ प्लुतादि वृत्तियो का भेद तो आवश्यक है । वह प्रयोगसाधन में आपको भी अभीष्ट है । परन्तु आहृति पक्ष को मानने पर वह भेद सिद्ध नहीं होता । ह्रस्व अकार से परे जो कार्य विहित है वह आहृति पक्ष में दीर्घ अकार से परे भी प्राप्त होता उससे खट्वाभि यहाँ खट्वा शब्द के आकार से परे भिस् को ऐस् हो जाना चाहिये ।

ह्रस्व दीर्घादि वृत्तियो के भेद के लिये वहाँ तपरनिर्देश कर देगे । तपर होने से तपरस्तत्कालस्य के नियम स तत्काल का ग्रहण हो जायगा तो आहृति पक्ष से प्राप्त दोग न रहेगा । जैसे तपरनिर्देश करने की आवश्यकता भी नहीं है । जहाँ तपर अभीष्ट है वहाँ सूत्र से पहले से किया हुआ ही है । जैसे—अतो भिस ऐस् यहाँ अत में तपर करने से ह्रस्व वृत्ति वाला अकार ही लिया जायगा । दीर्घ वृत्ति वाला न लिया जायगा तां खट्वाभिः में भिस् को ऐस् न होगा ।

तत्कालस्य यह निर्देश ठीक नहीं है । क्योंकि तद् शब्द से आप काल को सामानाधिकरण रूप से विशेषित करते हैं । स कालो यस्य स तत्कालः । वह वर्ण है काल जिसका यहाँ तद् शब्द वर्ण का परामर्शक, बोधक है । उसमें वर्ण का काल के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बनता । वर्ण काल कैसे हो सकता है ?

कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ।

तत्कालकालस्येति ।

किमिदं तत्कालकालस्येति ।

तस्य कालः तत्काल । तत्कालः कालो यस्येति सोऽयं तत्काल-  
कालः तत्कालकालस्येति ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र  
द्रष्टव्यः । तद्यथा उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य सोऽयमुष्ट्रमुखः । खरमुखः ।  
एवं तत्कालकालः तत्कालः तत्कालस्येति । अथवा साहचर्यात् ताच्छब्दं  
भविष्यति । कालसहचरितो वर्णोऽपि काल एव ।

किं पुनरिदं नियमार्थमाहोस्यित् प्रापकम् ?

कथं च नियमार्थं स्यात् कथं वा प्रापकम् ।

ता फिर कैसे निर्देश करना चाहिये ।

न तत्रात्रात्र ऐसा ।

यह तत्रात्रात्र क्या है ?

उम वर्ण का जो काल है । वह तत्काल हुआ । फिर उस वर्ण के काल  
के समान है काल जिसका यह तत्कालकाल बना । यहाँ काल के समान काल  
हो सकता है इस लिये यह निर्देश ठीक है ।

तो फिर तत्रात्रात्र ऐसा निर्देश कर दिया जाय । हम तो समझते हैं  
कं है भाव्यरूपा नहीं । यहाँ उत्तरपद का लोप हुआ समझना चाहिये ।  
त्रैम—उष्ट्रमुख मव मुख यस्य न उष्ट्रमुख यहाँ मवमुखनानपूर्वपदस्य वाच्यो वा  
चोत्तरपदस्य इमं शक्तिं न चतुर्विदि समाप्त होकर उत्तरपद मुख शब्द का  
लोप होता है वैसे यहाँ तत्काल के उत्तरपद काल शब्द का लोप हो गया है ।  
दूसरे काल शब्द का अर्थ सम्भवमान होने से उसका अप्रयोग ही यहाँ लोप  
समझिये । अथवा काठ के साहचर्य से वर्ण को भी उपचार से काठ शब्द का  
अपवर्जन हो जायगा । ता उष्ट्रमुख=उष्ट्रमुखः । उस शब्द का प्रयोग ।

क्या यह मूल नियमार्थ है या प्रापक है अर्थात् विषय है ?

कैसे यह नियमार्थ हो सकता है और कैसे विषय ?

यद्यत्राण्प्रहणमनुवर्तते ततो नियमार्थम् । अथ निवृत्त तत-  
प्रापकम् ।

कश्चात्र विशेषः ।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नाग्रहणम् ।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नानां  
ग्रहणं न प्राप्नोति । केयाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकानाम् ।

अस्तु तर्हि प्रापकम् ।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतप्रतिषेध ।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

यदि इसमें पूर्व सूत्र से अण् ग्रहण की अनुवृत्ति लात हैं तो नियमार्थ है । और यदि अण् की अनुवृत्ति न ला कर अण् अनण् सभी तपरो में इसकी प्रवृत्ति मानते हैं तो विष्यर्थ है ।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

यदि यह सूत्र नियमार्थ है तो इसकी प्रवृत्ति तपर अणों में ही होगी । तपर अनणों में न होगी तो वृद्धिरादैन् में आत् यह तपर अनण् है । उसमें तत्काल का नियम न होगा तो उदात्त अनुदात्त स्वरित अनुनासिक भेद भिन्न छ प्रकार के सवर्णा आकारो की वृद्धि सञ्जा न हो सकेगी । केवल किसी एक दीर्घ आकार की ही वृद्धि सञ्जा होगी । अणुदिसूत्र तो अण् में ही सवर्णग्रहण करने से आत् इस अनण् में लग नहीं सकता । इस प्रकार नियमार्थ मानन पर दीर्घ के ग्रहण में स्वर भिन्नो का ग्रहण नहीं प्राप्त होता ।

तो फिर इसे प्रापक या विष्यर्थ मान लीजिये ।

यदि इस सूत्र को विष्यर्थ मानते हैं तो इसकी प्रवृत्ति अण् अनण सभी तपरो में होगी । तब ह्रस्व तपर अणां में अणुदिसूत्र से सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत का ग्रहण भी प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । जैसे अतो भिस् ऐस् में ह्रस्व तपर अण् अत में अकार है । उसमें सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत अकार से परे भी भिस् को ऐस् प्राप्त होगा । तपरस्तत्कालस्य यह सूत्र तो वहा तत्काल का नियम कर नहीं सकता क्योंकि यह दीर्घ अनण् तपरो में लगने से चरितार्थ है ।

न वक्तव्यः ।

विप्रतिषेधात् सिद्धम् ।

अण् सवर्णान् गृह्णातीत्येतदस्तु । तपरस्तत्कालस्य वा । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन । अण् सवर्णान् गृह्णातीत्यस्या-  
यसाशः द्वस्या अतपरा अणः । तपरस्तत्कालस्येत्यस्यायसाशः दीर्घास्तपराः ।  
द्वन्द्वेषु तपरेषूमयं प्राप्नोति । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन ।

यद्येवं ।

द्रुताया तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात् ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यं, तथा  
मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः, तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः । किं  
पुनः कारणं न सिध्यति । कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रि-  
भागाधिसास्ते मध्यमायां, ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिसास्ते  
विलम्बितायाम् ।

इस तरह अणो में दीर्घप्लुत के प्रहण का निषेध कहने की आवश्यकता  
नहीं । विप्रतिषेध से सिद्ध हो जायगा । अतो निम् एम् यहाँ अतः में अणुदित्स्व  
से मरणप्रहण करें या तपरस्तत्कालस्य में तत्काल का विधान करें । दोनों  
का प्राप्ति में परस्परविषेध से तपरस्तत्कालस्य ही हो जायगा तो तत्काल का  
विधान होकर दीर्घप्लुत भकार से परे निम् को एम् न होगा । अणुदित्स्व का  
अवकाश इस अवसर अण है । तपरस्तत्कालस्य का अवकाश दीर्घे तपर है ।  
इस तर्कों में दोनों प्राप्त होते हैं । पर होने से तपरस्तत्कालस्य हो जायगा ।

यदि यह सूत्र तत्काल का विधान करके निम्ब काल की स्थापति  
करता है तो द्रुत वृत्ति में तपर करने पर मध्यम और विलम्बित वृत्तियों में  
तरकाटना नहीं प्राप्त होती । वहाँ तरकाटना कहनी होगी । इसी प्रकार मध्यम  
के तपर में द्रुत विलम्बित में और विलम्बित के तपर में द्रुत मध्यम में तरकाटना  
काना होगा । क्या काल है जो उक्त वृत्तियों में तरकाटना नहीं सिद्ध होती ।

१. त्रिग वृत्ति में तपर दिया हो उक्त निम् वृत्ति में प्रयोग में निम् से  
एम् अक्षर की प्राप्ति न होने में एम् आदेश का उपसंख्यान करना चाहिए यह  
बतलाना है ।



सिद्ध त्वग्स्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अवस्थिता वर्णा द्रुतमध्यमविलम्बितासु । किञ्चतस्तर्हि वृत्तिविशेषः । वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते । वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति । आशु वर्णानभिधत्ते । कश्चिच्चिरेण । कश्चिच्चिरतरेण । कश्चिच्चिरतमेन । तद्यथा तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति । कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण कश्चिच्चिरतमेन । रथिक आशु गच्छति । आश्विकश्चिरेण । पदातिकश्चिरतरेण । शिशुश्चिरतमेन ।

विषम उपन्यासः । अधिकरणमत्राध्या मजिक्रियाया । तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिहासौ स्याताम् ।

कालभेद होने से । द्रुत वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं मध्यम वृत्ति में उससे तीन हिस्से अधिक काल लगता है । और मध्यम वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं विलम्बित वृत्ति में उससे भी तीन हिस्से अधिक काल लगता है ।

द्रुत आदि वृत्तियों में तरकालता सिद्ध हो जायगी । क्योंकि तीनों वृत्तियों में वर्ण उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं । उनका अपना अपना नियत काल है । फिर वृत्तिभेद क्या प्रतीत होता है ? वक्ता के देर या जल्दी में बोलने के कारण । वस्तुतः उच्चारण में ही भेद है । वर्ण की स्थिति में कोई भेद नहीं । कोई वक्ता जल्दी बोलने वाला होता है । जल्दी वर्णों को बोल जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में । जैसे एक ही रास्ते को कोई जल्दी पार कर जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में पार कर जाता है । रथवाला जल्दी पार कर जाता है । घोड़े वाला देर में । पैदल उससे देर में । और बच्चा उससे भी देर में पार करता है ।

यह मार्ग का दृष्टान्त ठीक नहीं बनता । मार्ग तो जाने का स्थिर स्थान बना हुआ है । वह बनाया नहीं जाता । जल्दी या देर में जाने से उसका क्या घटना बढ़ना । यहाँ तो वर्णों का उच्चारण प्रयत्न से करना होता है । उसमें जल्दी या देर करने से वर्णों पर प्रभाव पड़ता है । प्रयत्न भेद से वृत्ति भेद हो जाने से वर्णों के काल में भेद हो जाना चाहिये ।<sup>१</sup>

१. चिर और अचिर काल पर्यन्त उपलब्धि का निमित्त वृद्धि व हास वर्णों में होना चाहिये ऐसा आक्षेपक का भाव है ।

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः । ध्वनिः शब्दगुणः । कथम् ।

भेर्याघातवत् ।

तद्यथा भेर्याघातः भेरीमाहृत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति ।  
कश्चित् त्रिंशत् । कश्चिच्चत्वारिंशत् । स्फोटस्तावानेष भवति ।  
ध्वनिरुता वृद्धिः ।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महाश्च केषांचिद्बुभयं तत् स्वभायतः ॥

अर्थात् तो स्फोट को शब्द मान लीजिये ध्वनि शब्द का गुण है । व्यन्त्रक होने से उसका उपकारक है । कैसे ? भेर्याघात की तरह । भेरीमाहन्तीति भेर्याघात । नगाड़ा बजाने वाला । जैसे कोई नगाड़ा बजाने वाला नगाड़ा बजा कर डमकी ध्वनि को सुनाता हुआ बीस कदम जाता है, कोई तीस कोई चाबीस । ( जितनी दूर तक नगाड़े की आवाज़ जा सकती है वहाँ तक जा कर भागे आवाज़ पहुँचाने के लिये फिर नगाड़ा बजाता है ) स्फोट अर्थात् नगाड़े का विस्फोट सर्वत्र एक समान है । केवल ध्वनि ही घटती बढ़ती प्रतीत होती है । ध्वनि और स्फोट व्यन्त्रक और न्यङ्ग्य—ये दो पदार्थ हैं । शब्दों की व्यन्त्रक ध्वनि केवल बाहर प्रवणन्द्रिय से अन्तर अथवा महान् लक्षित होती है । स्फोट सब ध्वनियों में अभिन्न ही रहता है । न्यङ्ग्य और व्यन्त्रक दोनों स्वभाव से

१ ध्वनि दो प्रकार की है—प्राकृत तथा वैकृत । भर्तृहरि ने इनका ऐसे वर्णन किया है—

वर्णस्य प्रथमे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरित्युच्यते ।

द्वितीये भेदे निमित्तस्य वैकृतः प्रतिपद्यते ॥

शब्दोऽप्योर्ध्वमभिन्वयेर्द्वितीयेऽप्युच्यते ।

२ स्फोट न्यङ्ग्य है । ध्वनि व्यन्त्रक है । स्फोट का अर्थ यही है कि स्फुटार्षोऽस्मान् । जिसके उच्चारण करने से अर्थ की स्फुट प्रतीति होती है वह अर्थ का प्रत्ययक व्यन्त्रक काचक ओ पदरूप या वाक्यरूप है वही स्फोट है । वह निश्चय है । अथ शब्दानुशासनम् सूत्र पर भाष्यकार ने येनोच्चारितेन सास्त्राद्याङ्गूल-कट्टरगुणितानिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः और अथवा प्रतीत्यपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते यह कह कर दो प्रकार के शब्द के लक्षण पहले स्पष्ट किये हैं वन्दी को मही मरण मरना आदिस ।

## आदिरन्त्येन सहेता ॥११॥७१॥

आदिरन्त्येन सहेतेत्यसम्प्रत्यय सञ्ज्ञिनोऽनिर्देशात् ।

आदिरन्त्येन सहेतेति असम्प्रत्ययः । किं कारणम् । सञ्ज्ञिनोऽ-  
निर्देशात् । नहि सञ्ज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ।

सिद्ध त्वादिरिता सह तन्मव्यस्येति वचनात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । आदिरन्त्येन सहेता गृह्यमाणः स्वन्व्य च  
रूपस्य ग्राहकः तन्मध्यानां चेति यक्तव्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दाः मातरि  
वर्तितव्यम् । पितरि शुभ्रूपितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि

अवस्थित है । ( इनके अस्तित्व में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं ) व्यक्त शब्दों में  
तो स्फोट और ध्वनि दोनों विद्यमान होते हैं । क्योंकि वहां अर्थ का बोध होता  
है । किन्तु अव्यक्त शब्दों में अर्थवाचकत्व रूप दाकि न होने से स्फोट नहीं  
होता । केवल ध्वनि ही होती है ।

आदिरन्त्येन सहेता इस संज्ञा सूत्र में सञ्ज्ञी का निर्देश न होने से सूत्र  
का अर्थ स्पष्ट अवबुद्ध नहीं होता । इतना कहा है कि आदिरन्त्येन सहेता ।  
इसको अन्वित करके बोलें तो अन्त्येन इता सह आदि यह होता है । संज्ञा  
का प्रकरण होने से सूत्र का इतना ही अर्थ समझ में आ सकता है कि—  
अन्तिस इत्संज्ञक के साथ जो आदि वह संज्ञा होता है । किसकी संज्ञा होता  
है, उस संज्ञी का निर्देश ही नहीं किया । जैसे न्व रूप शब्दम्य म शब्दम्य,  
अणुदित्सवर्णस्य मे सवर्णस्य, तरस्तत्कालस्य में तत्कालस्य, येन विप्रिस्तान्तस्य में  
तदन्तस्य वृद्धिर्यस्याचामाद मे यस्य, इन पृष्ठी विभक्तियों से संज्ञी का निर्देश  
क्रिया है वैसे यहां भी पृष्ठी विभक्ति से संज्ञी का निर्देश करना चादिये ।

ठीक है । आदिरिता सह तन्मव्यस्य ऐसा सूत्र बना देंगे । उससे तन्मव्यस्य

१. यहाँ भेर्याघात का दृष्टान्त उपलब्धि की समानता दिखाने के लिये  
दिया गया है । जिस प्रकार प्रयत्न विशेष से उत्पन्न हुआ भेरी का शब्द कोई  
तो शोड समय तक सुनता है । कोई त्वर तक और कोई अधिक चिर तक, इसी  
प्रकार द्रुतादि वृत्तियों में उपलब्धि का भेद है विषय ( वर्ण स्फोट ) का भेद नहीं ।

स्वस्मिन् पितरीति । सम्बन्धाच्च गम्यते या यस्य माता यो यस्य पितेति ।  
 परमिहापि आदिरन्त्य इति सम्बन्धिशाब्दाचेतौ । तत्र सम्बन्धादेतद्  
 गन्तव्यम् । य प्रति य आदिरन्त्य इति च भवति तस्य ग्रहण भवति  
 स्वस्य च नृस्यनि ।

इस संज्ञा का निर्देश स्पष्ट हो जायगा । अर्थ होगा—अन्तिम इत्सञ्ज्ञक के साथ  
 जो भादि वर्ण उह अपन मध्यगामा वर्णों का तथा स्वरूप का संज्ञा या  
 प्रादक होता है । संज्ञाभूत आदि अन्य वर्णों में स्वरूप भी भादि का ही लिया  
 जायगा, अन्य का नहीं । वह तो संज्ञा के प्रत्यायन में उपक्षीण होकर स्वयं  
 निवृत्त हो जायगा । इस प्रकार तन्मध्यस्य इस संज्ञा के निर्देश से अन्य संज्ञा  
 सूत्रों के समान इस संज्ञा सूत्र की रचना हो जायगी तो सूत्र का अर्थ स्पष्ट हो  
 जाता है ।

अथवा आदिरन्त्यन सहना यही सूत्र रहन दीर्घिय । सम्बन्धी शब्दों  
 के समान यहाँ भी संज्ञा का निर्देश स्वयं समस्त लिया जायगा । जैसे—माता  
 की भाजा मानना चाहिये । पिता की सेवा करना चाहिये इन वाक्यों में माता  
 पिता ये सम्बन्धा शब्द हैं । यहाँ अपनी माता या अपने पिता इस प्रकार  
 भजना शब्द न लगाने पर भी माता पिता के सम्बन्ध से यह बात समस्त ली  
 जाती है कि जो जिसका माता या जो जिसका पिता है उसको उसकी आज्ञा  
 माननी या सेवा करनी चाहिये । इसी प्रकार यहाँ भा आदि और अन्य ये  
 शब्द सम्बन्धा शब्द हैं । यहाँ सम्बन्ध से यह बात जान ली जायगी कि जिसके  
 प्रति जो भादि अन्य हा सकता है वह यहाँ संज्ञा है । भादि और अन्य ये  
 अनुदित संज्ञा अपन मध्यगत सञ्ज्ञियों का आक्षेप स्वयं करा दूगी । उससे  
 अन्य इत्सञ्ज्ञक सञ्ज्ञित भादि वर्ण अपन मध्यवर्ती वर्णों और अपने स्वरूप  
 का प्रादक हो जायगा ।

१ यदपि नाभ्यन्तर तथा वार्तिककार न इस प्रवाहारमज्ञा विभायक सूत्र  
 में 'र' के निर्देश का विषय उलटा उलटा कर उगका समाधान कर दिया है  
 यही सूत्र स्पष्ट ग विचार करने पर यह स्पष्ट दिग रहता है कि संज्ञा निर्देश के  
 बिना इस सूत्र का अर्थ मगथा अस्पष्ट रहता है । भादिसिद्धा सह तन्मध्यस्य इन  
 शब्दों में सिद्धता जायदा तथा अर्थ गौरव है । इनमें कोई संदेह नहीं कि यह वार्तिककार  
 ने यदपि का वार्तिक सूत्रकार पाणिनि के इस सूत्र में यदपिना अधिदक स्पष्ट है ।

## येन विधिस्तदन्तस्य ॥११७२॥

इह कस्मान्न भवति । इको यणचि । दध्यत्र मध्वत्र ।

अस्तु । अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

नैवं शक्यम् । येऽनेकाल आदेशास्तेषु दोषः स्यात्—एचोऽयवा-  
याव इति ।

नैव दोषः । यथैव प्रकृतितस्तदन्तविधिर्भवति एवमादेशतोऽपि  
भविष्यति । तत्रैजन्तस्यायाचन्ता आदेशा भविष्यन्ति ।

यदि चैवं क्वचिद् धैरूप्यं तत्र दोषः स्यात् । ब्रह्मोदकम् । ब्रह्मेन्द्रः ।

यहाँ दध्यत्र, मध्वत्र में यण करने वाले इको यणचि में येन विधिस्तदन्तस्य  
सूत्र से तदन्तविधि क्यों नहीं होती? तदन्तविधि होकर इगन्त के स्थान में  
यण हो अजादि परे रहते ऐसा अर्थ हो जाना चाहिये। अचि में सप्तमी होने  
से यस्मिन् विधिस्तदादावल्प्रहणे से तदादिविधि होकर अजादि अर्थ हो जायगा।

हो जावे। अलोन्त्यस्य के नियम से इगन्त दधि मधु शब्दों के अन्त्य इकार  
उकार के स्थान में यण हो जायगा।

ऐसा नहीं हो सकता। इको यणचि में दोष न सही। परन्तु जो अनेकाल  
आदेश हैं तदन्तविधि मानने पर उनमें दोष हो जायगा। जैसे—एचोय यावः  
यडां अय् अय् आदि आदेश अनेकाल हैं। एचोऽयवायाव में तदन्तविधि होने  
पर एजन्त के स्थान में अयादि आदेश होंगे तो अनेक लक्षिन् सर्वस्य के नियम  
से अलोन्त्य को बाध कर सर्वादेश प्राप्त होंगे। उस अवस्था में चयनम् के स्थान  
में अयनम् यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। जैसे प्रकृति से तदन्तविधि होगी वैसे आदेश से  
भी हो जायगी तो एजन्त के स्थान में अयाचन्त आदेश होकर चयनम् यही  
शुद्ध रूप रहेगा। प्रकृति=स्थानी।

यदी इस प्रकार प्रकृति और आदेश दोनों में तदन्तविधि मानने से  
कहीं शब्द में विरूपता आ जायगी तो वहाँ दोष प्राप्त होता है। जैसे—ब्रह्मेन्द्रः।  
ब्रह्मोदकम्। यहाँ आद्गुणः से होने वाले गुण एकादेश में पूर्व पर दोनों में  
तदन्त तदादिविधि हो जायगी तो सूत्र का अर्थ होगा—अवर्णान्त समुदाय से अजादि  
समुदाय परे रहते पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है तो अवर्णान्त

अपि चान्तरङ्गबहिरङ्गे न प्रकल्पोगताम् । तत्र को दोषः । स्योनः स्योना । अन्तरङ्गलक्षणस्य यणादेशस्य बहिरङ्गलक्षणो गुणो बाधकः प्रसज्येत । ऊनशब्दमाधित्य यणादेशो नशब्दमाधित्य गुणः ।

अलत्रिधिश्च न प्रकल्पोत् । चो पन्था. स इति । तस्मात् 'प्रट्ते तदन्तविधिरि'नि प्रकृत्यम् ।

समुदाय मल्ल स पर अजादि समुदाय इन्द्र उदक के रहते पूरे पर क स्थान में गुण ह कर ए भा रूप ही मुनाई देंग ।

इसके अतिरिक्त सर्वत्र तदन्तविधि मानने पर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भी सिद्ध नहीं होंगे । य भी गण्यता पायेंगे । जो अब अन्तरङ्ग है वह तदन्तविधि होने से बहिरङ्ग हो जायगा और जो बहिरङ्ग है वह अन्तरङ्ग हो जायगा । यहाँ क्या दोष है ? मन स्योना (सिक्-न) यहाँ अन्तरङ्ग यणादेश को बाध कर बहिरङ्ग लघुसधगुण हान लगगा । सिक् धातु में नीणादिक न प्रत्यय पर रहते लघुसधगुण, गण्यत्व शब्द से बकर का लोप, और चट्ठो शुद्धनुनासिकच में बकार का ऊर्ध्व भादन य धान कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं । उनमें ऊर्ध्व भादन बहोर का भरतद हान से और लघुसधगुण का अन्तरङ्ग हान से बाध लगा है । ऊर्ध्व कान पर सिक्कन इस अवस्था में लघुसधगुण और यणादेश प्राप्त होते हैं । अब ता इच्छा करि इस यणादेश के अन्तरङ्ग होने से लघुसधगुण को बाध कर पड़ते यण हा जाता है । मू यनन पर सारिधातुक गुण हाकर स्योन बन जाता है । किन्तु इस चरि में तदन्त-नशादिरि र मानन पर इगन्त क स्थान में अजादि पर रहते यण हागा ता सिक्कन इस स्थिति में अजादि ऊन शब्द का मान कर ।। का यण प्राप्त होता है और न शब्द को निमित्त मान कर सिक्क क लघुसधगुण प्राप्त होता है । दोनों में गुण के अन्तरङ्ग हो जाने से बहिरङ्ग यण का बाध कर पड़ते लघुसधगुण हा जायगा ता अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

सर्वत्र तदन्तविधि मानने पर अन्तविधि भी नहीं बनगी । ए पन्था. स (दिक्, पधित्, चट्-मु) यहाँ १.३ और, पधित्पृष्ठुतानात्, त्यजधानन से हान शब्द यजाकन जी, ना, अ य भादन अब ता अज्ञान्य परिभाषा के नियम से दिक् क बकार पधित् क नकार, चट् क दकार क स्थान में होते हैं । किन्तु ये स्वयं मूय में ना तदन्तविधि होने पर मूय का अर्थ होगा—जो पठो-निर्दिष्ट है उसका अर्थ अर्त् है अन्त में त्रिसक एव अन्वय अलम्बसमुदाय को भादन होगा है । तब जी भादि में अन्वय अर्त् क स्थान में भादन म हाकर

न वक्तव्यम् । येनेति करण एषा तृतीया । अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति । तद्यथा देवदत्तस्य समाश शरावेरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते । तथा सग्राम हस्त्यश्वरथपदातिभिः । एवमिहाप्यचा धातोर्यत विधत्ते । अकारेण प्रातिपदिकस्य इञ्ज विधत्ते ।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिप्रसङ्गः ।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिताप्रसङ्गः ।

दिष् भादि भन्त्य बलन्तसमुदाय को भाद्रा प्राप्त होगे तो अनिट रूप प्राप्त होगा। इस लिये प्रकृत म तदन्तविधि कहनी चाहिये। प्रकृत प्रस्तुत अर्थात् जहा तदन्तविधि अभीष्ट है उस प्रस्तुत विषय म ही तदन्तविधि होती है सर्वत्र नहीं होती एसा कहना चाहिये।

प्रकृत म तदन्तविधि कहने की आवश्यकता नहीं। यन विधिस्तदन्तस्य यहा येन यह करण कारक में तृतीया है, कर्ता में नहीं है। करण कारक कर्ता का साधक या उपकारक होता है। एक में अन्य स अन्य का कार्य हुआ करता है। जैसे देवदत्त क घर होने वाले सहभान का यज्ञदत्त भादन शकोरे भादि पदार्थों से तैयार करता है। शत्रु क प्रति उसक सग्राम को हाथी घोड रथ तथा पैदल सवारों स तैयार करता है। वैसे यहा भी अचो यत् कह कर अच् साधन क द्वारा धातु से यत् विधान किया हे। यहा अच, धातु का विशेषण बन कर उसका उपकारक हाता है। उसस विशेषण म तदन्ताविधि होती है यह बात सिद्ध हो जाती है। इसा प्रकार नत इञ्ज कह कर अकारविशेषण द्वारा प्रातिपदिक से इञ्ज विधान किया है। तो अकार प्रातिपदिक का विशेषण बनता है। जहा विशेष्य का किसा विशेपण से विशेपित किया जायगा वहा उस विशेषण म तदन्तविधि हो जायगा सर्वत्र नहीं हागी यह बात सूत्र से ही निकल आता है। उसस इो यणचि एच अत्रानाव में इक् भादि के विशेषण न होने से तदन्तविधि न होगा। वहा धातु या प्रातिपदिक का कोई विशेषण या उपकारक होगा वहा विशेषण म तदन्तविधि होगी सर्वत्र न होगी इस लिये प्रकृते तदन्तावाध कहन की कोई आवश्यकता नहीं।

यन विधिस्तदन्तस्य यह सूत्र हान पर यह दाप है कि जो ग्रहण की उपाधिया हैं वे तदन्त की उपाधिया प्राप्त होती हैं। सूत्र म जो नब्द ग्रहण किया है उसकी जो उपाधि एञ्ज विशेषण हैं वे तदन्तविधि होने पर सूत्रागृहीत

ये ग्रहणोपाधयः ते तदन्तोपाधयः स्युः । तत्र को दोषः । उतश्च प्रत्ययादस्ययोगपूर्वादिति अस्ययोगपूर्वग्रहणमुत्तरान्तविशेषणं स्यात् । तत्र को दोषः । अस्ययोगपूर्वग्रहणेन इहेन पयुदास स्यात्—अदणुहीति । इह न स्यात्—आप्नुहि शक्नुहीति । तथा 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति ओष्ठ्यपूर्वग्रहणमुत्तरान्तविशेषणं स्यात् । तत्र को दोषः । ओष्ठ्यपूर्वग्रहणेन इह प्रमज्येत । सर्वानि सर्गानामिति । इह च न स्यात् निपूर्ताः पिण्डा इति ।

मिद्व तु विशपणविशप्ययोर्पथेष्टत्वात् ।

सिद्धमतम् । पथम् । यथेष्ट विशेषणविशेष्ययोर्पथो भवति । यावता यथेष्टम् इह तावदुतश्च प्रत्ययादस्ययोगपूर्वादिति नास्ययोगपूर्वग्रहणन उकारान्तविशेष्यतः । किं तर्हि उकारपथविशेष्यते । उकारो

शब्दोऽहं भन्तमत्रितक उक्तका उपाधिया प्राप्त होता है । यहाँ क्या दोष है । उकार प्रत्ययान्त गृह्यते यदा अन्तगृह्यते यदा विशेषण भवता सूत्र में पठितं । अर्थात् उकारका है । तदन्तविधि होने पर उकारान्त का ही जायगा तो आठ गृह्यते म । उदोष्ठ्यपूर्वस्ये ( अथ, तद् इत्युच्छेदसिप ) यहाँ ही द्विदुक् का निश्चय ही सङ्गता । आप्नुहि शक्नुहि ( आप्, शक् इत्युच्छेदसिप ) म न ही सङ्गता । यथाह अदणुहि में उकारान्त इत्यु प्रत्यय स पूर्व धका स्याग है । किन्तु । नुहि म उकारान्त इत्यु स पूर्व काल भारका प्रकार है, यह संयोग नहीं है । उकार स पूर्व स्याग मानन पर तो दाना उदोष्ठ्य संयोग पूर्व म दा मान म द्विदुक् का निश्चय सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार उदोष्ठ्यपूर्वस्ये म आठगृह्यते यह विशेषण भवता सूत्रपठितं प्रकारका है । तदन्तविधि होने पर उकारान्त का ही जायगा ता गण्यम् गण्यम् ( सम् कृ गृ ) यहाँ ही प्राप्त होगा यथाह उकारान्त कृ गृ स पूर्व सम् का मकार आठगृह्यते नहीं है । किन्तु निपूर्ता ( निपूर्क ) यहाँ उकारान्तपृ म पूर्व नि का उकार आठगृह्यते पर नहीं है, इस लिये यहाँ उकार ही सङ्गता । उकार स पूर्व आठगृह्यते मानता म ता निपूर्ता न उतर हो जायगा । सर्वान् में नहीं होगा ।

निदान और विशप्य का सम्बन्ध स्पष्ट होने पर उक्त दोष न होगा । अब विशेषण विशेष्यभेदात् इत्यादि कथन है तो इन उदोष्ठ्यप्रत्ययों में अन्तगृह्यते अन्त का उकारान्त का विशेषण न बनाकर उकारका ही विशेषण बनायगा । गृह्यते अन्तगृह्यते—अन्तगृह्यते ता प्रत्यय का उकार तदन्त अथ स पर उदोष्ठ्यका उकार होता है । उदोष्ठ्य अन्तगृह्यते और आप्नुहि शक्नुहि दोनों उदोष्ठ्य



योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात् प्रत्ययादिति । तथा उदोष्ठपूर्वस्येति नौष्ठयपूर्वग्रहणेन ऋकारान्तं विशेष्यते । ऋकारान्तो यो धातुरोष्ठयपूर्व इति । किं तर्हि । ऋकार एव विशेष्यते । ऋकारो य ओष्ठयपूर्वस्तदन्तस्य धातोरिति ।

समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।

समासविधौ प्रत्ययविधौ च प्रतिषेधो वक्तव्यः । समासविधौ तावत् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते । कष्टश्रितः । नरकश्रितः । कष्ट परमश्रित इत्यत्र मा भूत् । प्रत्ययविधौ । नडस्यापत्यं नाडायनः । इह न भवति । सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः ।

किमविशेषेण ?

उकार से पूर्व संयोग होने से द्वि का लुक् नहीं होगा । उदोष्ठपूर्वस्य मे भी हम ओष्ठपूर्वग्रहण को ऋकारान्त का विशेषण न बना कर ऋकार का ही बनायेगे तो सूत्र का अर्थ होगा—ओष्ठयवर्ण है पूर्व मे जिसके ऐसा जो ऋकार तदन्त धातु को उच्च होता है । उससे निपूर्ताः मे उच्च हो जायगा । संकीर्णम् संगीर्णम् मे नहीं होगा ।

समासविधि और प्रत्ययविधि मे तदन्तग्रहण का निषेध कहना चाहिये । समासविधि मे जैसे—द्वितीया श्रितात्तानपतित० सूत्र से द्वितीया सुबन्त का श्रित भादि सुबन्तों के साथ तत्पुरुष समास होता है । वह कष्ट श्रित कष्टश्रितः नरक श्रित. नरकश्रितः यहाँ केवल श्रित के साथ हो जायगा किन्तु कष्ट परमश्रितः यहाँ श्रितान्त के साथ न होगा । समास न होकर कष्ट परमश्रित. यह वाक्य ही रह जायगा । प्रत्ययविधि मे जैसे—नडस्यापत्यं नाडायनः । यहाँ नडादिभ्यः फक् से गोत्रापत्य मे स्थितीयमान फक् प्रत्यय केवल नड से तो हो जायगा परन्तु सूत्रनड यहाँ नडशब्दान्त से न होगा । तो सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः यहाँ फक् न होकर जन इन् से इन् हो जाता है । अनुशक्तिकादीनां च से उभयपद वृद्धि हो जाती है ।

क्या सामान्य रूप से सभी प्रत्ययविधियों मे तदन्तविधि का निषेध होता है ?

नेत्याह ।

उगिद्गर्णप्रहणवर्तम् ।

उगिद्प्रहण वर्णप्रहण च वज्रयित्वा । उगिद्प्रहणम् 'उगितश्च' । भवती । अतिभवती । महता अतिमहती । वर्णप्रहणम् अत इत् । दाक्षि-  
प्लाक्षि ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केरलोऽकारः प्रातिपदिक यदर्थो विधि  
स्यात् ।

नहीं । उगिद्प्रहण और वर्णप्रहण वाली प्रत्ययविधियों को छोड़ कर ।  
उगिद्प्रहण त्रैम—उगितश्च स विधायमान एवप्रत्यय भवती यहाँ वरु  
प्रत्ययान्त भवतु गन्ध स ता हाता ही है । तदन्तप्रहण हाकर अतिभवतु स  
नी हा जायगा ता अतिभवता बन जाता है । अतश्चायता भवता अतिभवता ।  
भवतम् अतिभवता अतिभवता । उनयथा समास इष्ट है । वरु प्रत्ययान्त  
महता में त्रैम एव हाता है वैसे तदन्तप्रहण हाकर अतिमहता में नी हा जाता  
है । महान्नातकता आतभवता यह प्रादि समास है । उगितश्च सूत्र म  
अनु गन्धकार का अधिकार न हान स उपस्तान म नी एव हा जाता है । वर्णप्रहण  
त्रैम—ता इत सूत्र क उदाहरण दाहि प्लाक्षि है । ( दक्षस्य प्लक्षस्य  
भवत्यम् ) यहाँ अत इत सूत्र म अत यह भकार वर्ण का प्रहण है । उसमें  
तदन्तविधि हा जायगा ता भकारान्त दक्ष प्लक्ष शब्दा स इत् हाकर दा ।  
प्लाक्ष बन जात है ।

यथा काट् भक्त्या भकार रूप प्रातिपदिक ना हे त्रिसक द्विव अत इत्

१ जो महत् शब्द का गौरादिगण न पाठ मानता है उनको मत में महती  
न एत् हान पर भी अतिमहता में एत् नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वहाँ  
अनुपमवर्तन्त् का अधिकार हान । उपपत्तौ में एत् न हागा । उगितश्च म  
'वृत्तभवन एत ता उ पत्तन म न हा जा गा । वहाँ अनुपमवर्तन्त् का अधिकार  
नहीं है । वस्तुतः गौरादिगण न महत् शब्द का पाठ मानाशक है इन्में शतुरनुमो  
नपत्तदा पर वर्ण यथा पूम्नन्त इवमप्ययानम् यह शरारवयक वर्तिक हा  
शक है । अन्यथा एत् हान पर न । वा उदाहरण मत्त गिद्व था उचक  
द्विव महत् शब्द का उपपत्तौ नपत्ता एव है । इग द्विव अतिमहती क वचन  
महता में नी एत् हा खना इष्ट दा । एत् नहीं ।

अस्तीत्याह । अततेडः, अः । तस्यापत्यम् इः ।

अकच् इनम्बत. सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसख्यानम् ।

अकञ्चतः सर्वनामाव्ययविधौ इनम्बतो धातुविधावुपसख्यानं कर्तव्यम् । अकञ्चतः—सर्वके । विश्वके । अन्ययविधौ—उच्चकैः नीचकैः । इनम्बतः—भिनत्ति छिनत्ति ।

सूत्र चरितार्थ हो सकता है । यदि नहीं तो स्वयमेव अकारान्त प्रातिपदिक लिया जायगा उसके लिये उर्णप्रद्वण में तदन्तविधि का बचन कहना व्यर्थ है ।

है । अकेला अकाररूप प्रातिपदिक भी है । जिसके लिये अन इन् सूत्र से इन् विधान चरितार्थ हो सकता है । जैसे—अततेड अ । तस्यापत्यम् इः । अत् धातु से उ प्रत्यय करके अ बनता है । उस अ शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् होकर इ. बन जाता है । यस्यति च से अ शब्द का लोप होकर इञ् प्रत्ययमात्र शेष रहता है ।

अकच् वाले शब्द की सर्वनाम और अव्ययसज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये । और इनम् वाले शब्द की धातुसज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये । अकच् वाले की सर्वनामसज्ञा में जैसे—सर्वके विश्वके । अज्ञातः सर्व. सर्वक । यहाँ सर्व शब्द से अज्ञातादि अर्थ में अव्ययमर्बनाम्नामञ्च् प्राक्टेः से अकच् हुआ है । वह सर्व की टि से पूर्व होने से सर्वक मध्य में आ गया है । यह सर्वक शब्द न तो सर्व ही है और न सर्वशब्दान्त है । दोनों से विलक्षण है । इसे तदन्तविधि से सर्वशब्दात् मान कर सर्वादीन सर्वनामानि से सर्वनाम सज्ञा हो जायगी तो उस. शी से उस में शी होकर सर्वक विश्वके बन जाते हैं । अव्ययविधि में जैसे—उच्चकै नीचकै । यज्ञा भी उच्चैन् नीचम् अन्ययो से अव्ययसर्वनाम्नाम्० से टि से पूर्व अकच् हुआ है । उच्चकैम् शब्द न तो उच्चस् है और न उच्चैस् शब्दान्त है । तदन्तविधि से उच्चैस् शब्दान्त मान कर स्वरादिनिपातमव्ययम् से अव्ययसज्ञा सिद्ध हो जाती है । इनम् गाने की धातु संज्ञा में जैसे—भिनत्ति छिनत्ति । यहाँ भिद् छिद् धातुभो से एट् में तिप् पर रहते इनम् विकरण हुआ है । वह भिदचोऽन्यात् पर क नियम से भिद् छिद् के अन्त्य अच् से पर होकर भिनद् छिनद् ऐसा बनता है । यह भिनद् न तो भिद् है और न ही भिद् शब्दान्त है । तदन्तविधि से भिद् शब्दान्त मान कर धातु संज्ञा हो जायगी तो वातो. से अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जाता

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

इह तस्य वा ग्रहणं भवति तदन्तस्य वा । न चेद् तत् । नापि तदन्तम् ।

सिद्धं तु तदन्तान्तवचनात् ।

सिद्धमेतत् । अथम् । तदन्तान्तवचनात् । तदन्तान्तस्येति चक्यम् ।

किमिदं तदन्तान्तस्येति ।

तस्यान्तः तदन्तः । तदन्तोऽन्तो यस्य तदिदं तदन्तान्तः, तदन्तान्तस्येति ।

स तर्हि तथा निदर्शय कर्तव्यः ।

हे । यहाँ इनमें प्रत्यय हाता हुआ भी सिद्ध होने में भागमें है । इस लिये वाच्यता न तु वाच्यता इत्ये परिभाषा से प्रत्ययस्वर की बाधा होकर यह अनुदात्त रहना वा सतिशिष्ट धातुस्वर ही पृष्टव्य होगा । यदि धातुस्वर को बाध कर यहाँ सतिशिष्ट इनमें प्रत्यय का स्वर ही पृष्टव्य मान तो अभिन (भिनद् ग्ये सिद्ध) यहाँ ग्ये से सिद्ध पर रहत दध से दकारान्त धातु को विधायमान स्वर करन कर्तव्य भिनद् का धातुसंज्ञा सर्वत्र भाव्यक है ।

यथा कारणं है वा अरुण वाच्य और इनमें वाले शब्द की उक्त संज्ञाय नहीं सिद्ध होता ?

यहाँ वाच्य उक्त पठित शब्द का ग्रहण होता है वा तदन्त का । ( यह है अन्त में सिद्ध उगता ) अरुण और इनमें वाच्य शब्द न तो यह है और न तदन्त है ।

यन वि विहितान्तस्य का उगता यन विहितान्तस्य कर्तव्य से उक्त शेष न हागा ।

यह वाच्य वाच्य क्या है ।

उक्त शब्द का अन्त तदन्त हुआ । यह है अन्त में सिद्ध यह तदन्तान्त हागा । यहाँ शब्द का अन्त अकार है । यह अरुण वाच्य सर्वत्र शब्द का अन्त में है हा । निद् का अन्त दकार है । यह निद् का अन्त न है हा । इस प्रकार अरुण वाच्य और इनमें वाच्य शब्द में भी उक्त संज्ञाय सिद्ध हा जायेगी ।

ता विर यन विहितान्तस्य एवा ग्ये बना दें ।

न कर्तव्य. । उत्तरपदलोपोऽथ द्रष्टव्य तद्यथा उष्ट्रमुखमिव  
मुखमस्य उष्ट्रमुखः । खरमुख । एवमिहापि तदन्त जन्तो यस्य  
सोऽय तदन्त' तदन्तस्येति ।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा सिद्धम् ।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा पुन. सिद्धमेतत् । तदेकदेशभूत(तद्ग्रहणेन  
गृह्यते । तद्यथा गङ्गा यमुना देवदत्तेति । अनेका नदी गङ्गा यमुना च  
प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यते । देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणन  
गृह्यते ।

विषम उपन्यास । इह क्वचिच्छब्दा अक्तपरिमाणानामर्थाना  
वाचका भवन्ति । य एत सख्याशब्दा. परिमाणशब्दाश्च । पञ्च  
सन्तेति । एकेनाप्यपाये न भवन्ति । द्रोण खारी जाह्नकमिति नेवा  
धिके भवन्ति न न्यूनैः । केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेतद् ।  
य एत जातिशब्दा गुणशब्दाश्च । तैल घृतमिति । खार्यामपि भवति  
द्रोणेपि । शुक्लो नील कृष्ण इति हिमवत्यापि भवति वटकणिका  
मात्रेऽपि द्रव्ये । इमाश्चापि सज्ञा अक्तपरिमाणानामर्थाना क्रियन्ते ता  
केनाधिकस्य स्युः ।

काई आवश्यकता नहीं । यन विधिस्तदन्तस्य म उत्तरपद अन्त शब्द  
का लोप हुआ समक्षिय । जैसे उष्ट्रमुखाव मुख यस्य स उष्ट्रमुख खरमुख  
यहा उष्ट्रमुख क उत्तरपद मुख का लोप होता है वैसे यहा भी तदन्त शब्द  
क उत्तरपद अन्त शब्द का लोप हो गया है । उसस तदन्ता त का ही अर्थ  
निकल भायगा ।

अथवा तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणन गृह्यत इस परिभाषा स द प न होगा ।  
इस परिभाषा का अर्थ है 'ता जिसका एकद' एव अत्यव बना होना है वह  
उसके ग्रहण स गृहीत हो जाता है । जैसे गङ्गा यमुना देवदत्ता इन उदाहरणो  
स दम्बिय । अनेक नदिया गङ्गा यमुना में मिलन पर गङ्गा यमुना कहलाती  
हैं । देवदत्ता स्त्री में स्थित गर्भ देवदत्ता कहलाता है । वहा सर्प में स्थित  
अकच और भिद् में स्थित इनम् भी सर्व एव भिद् क ग्रहण स गृहीत हो  
जायेंग ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । यहा कुछ शब्द निश्चित परिमाण वाल द्रव्य  
क वाचक हात हैं । जैसे जा य सख्या शब्द या परिमाण शब्द हैं । पाच या

एव तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—तदेकदेशभूत तद्ग्रहणेन गृह्यते इति । यद्य 'नदमदसोरकोरि'ति सक्कारयोस्त्रिदमदसो- प्रतिषेध शास्ति ।

कथं त्वया ज्ञापकम् ?

इदमदसो वायमुच्यमान ए प्रसङ्गो यत् सक्कारयो स्यात् । पश्यति त्व्याचार्यस्तददशभूत तद्ग्रहणेन गृह्यत इति ततः सक्कारयो- प्रतिषेध शास्ति ।

कानि पुनरस्य यागस्य प्रयोजनानि ?

साठ इन मरुपा शब्दां म एक भा सख्या कम होन पर पांच या साठ नहीं रहा । द्रण= १६ सर ) गारा ( १४ सर ) भाउक ( ४ सर ) य परमाण शब्द है । ता बनन तिश्य परिमाण स न ता अधिक म प्रयुक्त हात है न न्यून न । पुछ पस शब्द हात है ता अधिक या न्यून गिना नी हा उस सच म प्रयुक्त हा जात है । स ता य ताति-ब्द या गुण-ब्द है । तैल या घा य जातिशय-ब्द है । य गादे खास भर तैल हा या द्राण भर हा दानां में समान रूप स परकृत हात है । समद काका नाग य पुण वाचक शब्द है । य भा पादे हिमाडय मरुद हा या घट्टूत का वाजकण सकद हा दानां में समान रूप स प्रयुक्त हात है । यो न्याकरण शास्त्र में य सर्वनाम भादि सशयें नी निश्चित परिमाण वाड शब्दां का, का जाता है ये अधिक का कैस हो सकता है । सर्वनामवाक्य मयादिगत न सर्व शब्द का निश्चित परिमाण है । सर्वक का सर्व कैस समस्त मात है । इया प्रकार भिनद का भिदु नहीं समस्त मरुत ।

भण्डा वा भाषाये का भ्यरक्षार इम वात का ज्ञापक है कि ता र गन्ता रात्परजन २ । यह परिभाषा हाता है । यह ता नददमारथ म अथ कद कर नदति न दन् अथ म पर । म का एम् का निरप क्रिया है उमस यह वात मिद हाता है ।

न - गो म अथ कैस ज्ञापक हुआ ?

कथं इदम् । का कहा हुआ कार्य ककारसहित इदम् अर्ध् का प्राप्ता हा सकता है । किन्तु भाषाये द्रगल है कि ता जिमका एकद्वय वा भाषय वन जाता है य उमक प्रश्न म गृहीत हा जाता है वा अरुथ सहित इदम् अर्ध् भी इदम् अर्ध् क प्रश्न म गृहीत हात है । उनन पर भिम का एम् शकन क विष भया यह प्रतिरप करत है ।

इम गृथ क था प्रयाजन है ?

प्रयोजन सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम् ।

सर्वं परमसर्वं । विश्वे परमविश्वे । उच्चैः परमोच्चैः । नीचैः परमनीचैरिति ।

उपपदविधौ भयाड्यादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भयकरः । अभयकरः । आढ्यकरणम् । स्वाढ्यकरणम् ।

डाब्बिगुगिद्ग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भवती अतिभवती । महती अतिमहती ।

प्रतिभेदे स्वप्तादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । स्वप्ता । परमस्वप्ता । दुहिता । परमदुहिता ।

सर्वनामसज्ञा और अव्ययसज्ञा में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे—सर्वं यदा सर्वनामसज्ञा हाकर उस शी हो जाता है वैसे सर्वशब्दान्त परमसर्वं में भी हो जाता है । उच्चं यदा चैस स्वरादिनिपात० स अव्ययसज्ञा होकर सुप् का लुक् हाता है वैसे तदन्तविधि स उच्चैस शब्दान्त परमोच्चैत से भी हो जाता है ।

भय आढ्य आदि उपपद वाले कृदन्ता में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे भयकर यदा भेर्षतिभेधेण कृत् स भय उपपद होने पर खच् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से भयशब्दान्त अभय शब्द उपपद होने पर भी खच् प्रत्यय हाकर अभयकर बन जाता है । आढ्यकरणम् में चैस आढ्य उपपद होने पर आढ्य नुभग स्थूल० स ख्युन् प्रत्यय हाता है वैसे तदन्त विधि स आढ्य शब्दान्त स्वाढ्य करणम् में भा हो जाता है ।

उपगतथ स ङीप करण में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । भवती में जैसे उपगतथ से ङीप हाता है वैसे तदन्तविधि स अतिभवती में भी हो जाता है । महता क समान अतिमहता में भा हो जाता है ।

न प्त् स्वप्तादिभ्य से डाप् निषध में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । स्वप्ता में जैसे न प्त् स्व० से डाप् का निषध होता है वैसे तदन्तविधि स परमस्वप्ता में भी हा जाता है । दुहिता की तरह परमदुहिता में भी हो जाता है ।

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च ।

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च ङीप्प्रतिषेधे प्रयोजनम् । 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुक्नी'ति । द्विविस्ता द्विपरमविस्ता । त्रिविस्ता त्रिपरमविस्ता । द्वयाचिता द्विपरमाचिता ।

दिति ।

दिनिग्रहणं च प्रयोजनम् । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरपत्यमादित्यः । दित्यदित्यादित्येत्यदितिग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

रोप्या अण् ।

रोप्या अण् ग्रहणं च प्रयोजनम् । आजकरीणः । सैहिकरीणः ।

ङीप् का निषेध करने वाले अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे द्विविस्ता द्वयाचिता यहाँ द्विगुसमास में विस्त आचित शब्दों से परे तद्धित का लुक् होने पर अपरिमाणविस्ताचित० से ङीप् का निषेध होता है वैसे तदन्तविधि से विस्त आचित शब्दान्त द्विपरमविस्ता द्विपरमाचिता में भी हो जाता है ।

दिति शब्द में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । दितेरपत्य दैत्यः । जैसे दित शब्द से अपत्य अर्थ में दित्यदित्यादित्यन्युत्तरपदान्यः से प्य प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से दिति शब्दान्त अदिति से भी होकर आदित्यः बन जाता है । दित्यदित्या० सूत्र में अदिति ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । तदन्तविधि से दित शब्द से ही अदिति का भी ग्रहण हो जायगा ।

रोपी शब्द से अण करने में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । रोप्या अदूरभव रोग जैसे यहाँ केवल रोपी शब्द से रोपी इस सूत्र से चातुरार्थिक अण् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से आजकरीणः सैहिकरीणः में भी हो जाता है ।<sup>१</sup>

१. आजकरीण सैहिकरीणः यहाँ अनुकृतिवादि के आकृतिगण होने से उभयपद वृद्धि माननी चाहिये । अन्यथा आजकरोणः सैहिकरोणः यह पाठ भाष्यसम्मत मानना चाहिये । सभी मुद्रित भाष्य पुस्तकों में उभयपद वृद्धि वाला हा पाठ उपलब्ध होता है । वह विद्वानों द्वारा विमृश्य है ।



तस्य च ।

तस्य चेति वक्तव्यम् । रौणः ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति । न तदन्ताच्च तदन्तविधिना सिद्धं केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन ।

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

किं पुनः कारणं व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

इह सूत्रान्ताद्गुं भवति । दशान्ताद्गो भवतीति केवलादुत्पत्तिर्मा भूदिति ।

तदन्तप्रहण के साथ उस शब्द के अपन स्वरूप का भा प्रहण होता है यह कहना चाहिये । उससे केवल रौणी शब्द से भी अण् प्रत्यय होकर रौणः बन जाता है ।

क्या कारण है जो रौणी आदि शब्दों में तदन्त के साथ उसके स्वरूप का भी प्रहण नहीं सिद्ध होता ? क्या तदन्तविधि द्वारा रौणी शब्दान्त से और व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल रौणी को ही रौणाशब्दान्त मान कर केवल रौणा से अण् सिद्ध नहीं हो सकता ?

अमुरय में मुख्यवत् व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं । व्यपदेशिवद्भाव से रौणी को रौणाशब्दान्त मान कर उससे अण् नहीं कर सकते । क्योंकि व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा है । इसका अर्थ है—प्रातिपदिक को छोड़ कर व्यपदेशिवद्भाव होता है । अर्थात् प्रातिपदिक से प्रत्यय करने में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता । उससे केवल रौणी शब्द रौणाशब्दान्त की तरह नहीं माना जा सकता । केवल से अण् करने के लिये तस्य च यह वचन आवश्यक है ।

क्या कारण है जो प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ?

यदां कतूक्वादिस्त्रान्ताद्गुं इस सूत्र द्वारा सूत्र शब्दान्त से ठक् कहा है । और तदस्मिन्नभिधमिति दशान्ताद्गुं इस सूत्र द्वारा दशन् शब्दान्त से ड कहा है उसका प्रयोजन यह है कि केवल सूत्र या दशन् शब्द से ठक् या ड प्रत्यय न हो । यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होवे तो केवल सूत्र या दशन् शब्द को भी सूत्रान्त दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय प्राप्त हो जाने चाहिये उस अवस्था में अन्तप्रहण व्यर्थ है । यही अन्तप्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ।

१. भाष्य में कारण शब्द प्रयोजन वाची है ।

नतदस्ति ज्ञापकम् । सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन । सोऽयमेव सिद्धे सति यदन्तग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेवेति ।

नात्र तदन्तादुत्पत्ति प्राप्नोति । इदानीमेव ह्युक्त समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध इति ।

सा तद्व्यापारिभाषा कर्तव्या ।

न कर्त या । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकनति । यद्य पूर्वादिनि सपूर्वाच्च त्याह ।

यह काह ज्ञापक नहीं । यहा सूत्र शब्दान्त या दशन् शब्दान्त स तो तदन्तविधिद्वारा उक्त प्रत्यय सिद्ध हैं । केवल सूत्र या दशन् स व्यपदेशिवद्भावद्वारा सूत्रान्त या दशन् शब्दान्त मान कर सिद्ध हैं फिर जो दोनों सूत्रों म अन्तग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि यहा सूत्रशब्दान्त या दशन्शब्दा त स ही उक्त प्रत्यय हो । केवल को व्यपदेशिवद्भाव स सूत्रान्त दशान्त मान कर न हो ।

उक्त दोनों सूत्रों मे अन्तग्रहण के बिना तो तदन्त स उक्त प्रत्यय प्राप्त ही नहा इत । क्योंकि अभी ऊपर कह चुके हैं समासप्रत्ययावधौ प्रतिषेध । अर्थात् प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती । इसी को दूसरे शब्दों म इस परिभाषा क नाम स कहत हैं ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिनास्त । जब प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक स तदन्तविधि का निषेध है तो उक्त दोनों सूत्रों म अन्तग्रहण किय बिना सूत्रान्त या दशान्त से प्रत्यय न होकर केवल सूत्र या दशन् शब्द स प्राप्त होंगे । वे केवल स न बल्कि सूत्रान्त या दशान्त से ही हों इस लिय वहा अन्तग्रहण करना सफल हो जाता है । उसम भी यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल सूत्र या दशन् को भी सूत्रान्त या दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय करना चाहें तो अन्तग्रहण सर्वथा व्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार इसी अन्तग्रहण स य दोनों परिभाषाय ज्ञापित हो जाती है कि—ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिनास्त और व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

तो फिर व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा बना दवें ।

कोहें भावश्यकता नहीं । अन्यत्र भी आचार्य क व्यवहार से यह परिभाषा

नतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
सपूर्वादिनि वक्ष्यामीति ।

यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा पूर्वात् सपूर्वादिनिः इत्येव  
ब्रूयात् ।

किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

नेत्याह । यच्चानुक्रान्तं यच्चानुक्रस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

ज्ञापित हो जाती है । आचार्य ने जो पूर्वादिनि, सपूर्वाच्च यह दो सूत्र बनाये हैं वही इस परिभाषा का ज्ञापक है । यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होता तो केवल पूर्वशब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्वक ( विद्यमानपूर्वक ) मान कर सपूर्वाच्च सूत्र से ही केवल पूर्व शब्द से भी इनि सिद्ध हो जाता । और पूर्वात् यह व्यर्थ होता ।<sup>१</sup>

यह कोई ज्ञापक नहीं । पूर्वादिनि सूत्र के पृथक् बनाने का तो अन्य प्रयोजन है । क्या ? यह कि भागे सपूर्वादिनि. ऐसा पढ़ेंगे उसमें पूर्वादिनिः के अभागे में विद्यमान पूर्वक पूर्वशब्द व्यतिरिक्त से भी इनि प्रत्यय होने लगेगा, जो अनिष्ट होगा । पूर्वादिनि के रहने पर तो उसकी अनुवृत्ति होने पर विद्यमानपूर्वक पूर्व शब्दान्त से ही इनि होगा जिससे कृतपूर्वी ( कटम् ) इत्यादि इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे । भत पूर्वात् यह अंश व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं हो सकता ।

पूर्वादिनि के बनाने का यदि यही प्रयोजन है तो योगविभाग किस लिये किया है । फिर तो पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च ये दो सूत्र न बना कर पूर्वात् सपूर्वादिनिः यह एक सूत्र बनाना ही पर्याप्त है । उस एक सूत्र से भी पूर्वी और कृतपूर्वी यहाँ दोनों जगह इनि हो सकता है । योगविभाग से स्पष्ट है कि केवल पूर्व को व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्व नहीं माना जायगा । पूर्वादिनि सूत्र केवल पूर्व से ही इनि करेगा । इष्ट है कि विद्यमानपूर्वक से भा इनि हो । उसके लिये सपूर्वाच्च यह पृथक् सूत्र बनाना सफल हो जाता है ।

तस्य च यह वचन क्या केवल रोणी शब्द के ही स्वरूपग्रहण के लिये है ?

नहीं । जो कहे जा लुके या कहे जायेंगे उन सभी के स्वरूपग्रहण के लिये तस्य च यह वचन है ।

१. पूर्वादिनिः सूत्र में पूर्वात् यह अंश ज्ञापक है ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्यः । परमरथ्यः । सीत्य  
परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ।

सुसर्गार्धदिक् शब्देभ्यो जनपदस्य ।

सुसर्गार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सु—सुपाञ्चालकः  
सुमागधकः । सर्व—सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । अर्ध—अर्धपाञ्चालकः ।  
अर्धमागधकः । दिक्शब्द—पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । पूर्वमागधकः ।  
अपरमागधकः ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानाम् ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् । अपरशारदम् ।  
पूर्वनैदाघम् । अपरनैदाघम् ।

रथ सीता हल शब्दों से यत् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे  
रथ्यम्, सीत्यम्, हल्या यद्वा क्रम से तद्ग्रहण रथयुगप्रासङ्गम्, नौवयोर्धर्मावपमूल  
मूल०, मतजनहलात् ऋणत्पकेषु इन सूत्रों से रथ सीता हल शब्दों से यत्  
होता है वैसे तदन्तविधि से परमरथ परमसीता परमहल से भी हो जाता है ।

सु सर्व अर्ध दिक् शब्दों से परे जनपदवाची शब्द से प्रत्यय करने में  
तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाञ्चालक मागधक यहाँ पाञ्चाल मागध  
शब्दों से भव अर्थ में जनपदतद्व्योथ से अनुवृत्त अट्टादपि बहुवचनविषयात्  
से धुम् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से सुपाञ्चाल सुमागध, सर्वपाञ्चाल, सर्वमागध,  
अर्धपाञ्चाल अर्धमागध, पूर्वपाञ्चाल, पूर्वमागध शब्दों से भी हो जाता है । इन सब में  
सुसर्गार्धजनपदस्य दिशोऽमद्राणम् इन सूत्रों से यथाविहित उत्तरपद वृद्धि भी हो  
जाती है ।

अवयवाद्गता से होने वाली उत्तरपदवृद्धि में ऋतु क अवयवों का तदन्त  
ग्रहण में प्रयोजन है । पूर्वशारदम् इत्यादि । जैसे शरदि भव शारदम् यहाँ सन्धिवेला-  
युत्तनक्षत्रेभ्योऽण से अण् होता है वैसे शरद पूर्वोऽवयव पूर्वशरत् । यहाँ  
एकदेशि तत्पुरर समाप में शरत् शब्दान्त से भी तदन्तविधि से हो जाता है ।  
निदाघे भवम् नैदाघम् । पूर्वनिदाघे भवम् यहाँ भी सन्धिवेला० से अण् होकर  
पूर्वनैदाघम् बन जाता है । इन सब में अवयवान्तोः से उत्तरपद वृद्धि होती है ।

ठञ्विधौ सख्यायाः ।

ठञ्जिधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विपाष्टिकम् । पञ्चपाष्टिकम् ।

धर्मान्नञ् ।

धर्मान्नञ् प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः । अधर्मं चरति अधार्मिकः ।  
'अधर्माच्च'ेति न वक्तव्यं भवति ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ।

सख्याया सज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु इस सूत्र से सख्यावाची शब्द से ठञ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे षष्टि पारमाणमस्य षाष्टिकम् यहाँ षष्टि शब्द में प्राग्वतीय ठञ् होता है वैसे तदन्तविधि से द्विषष्टि से भी हो जायगा तो द्विषाष्टिकम् बन जाता है । सख्याया सवन्सरसख्यस्य च से यहाँ उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है । द्विषष्टि इस तद्वितार्थे द्विगु समास में हुण् ठञ् प्रत्यय का अन्धधपूर्वद्विगार्हगसज्ञायाम् से लुक् तो नहीं हाता । क्योंकि तदस्य-परिमाणम् में तद् यद् पुन समर्थविभक्ति का जो निर्देश किया है उससे लुक् का अभाव ज्ञापित होता है । अन्यथा सोऽस्यासवस्नभृतय से सोऽस्य की अनुवृत्ति आ ही रही है । फिर तदस्य कहना व्यर्थ है ।

नञ् से परे धर्म शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे धर्मं चरति धार्मिक यहाँ धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक् होता है वैसे तदन्तविधि से नञ् पूर्वक अधर्म शब्द से भी हो जायगा तो अधार्मिकः बन जाता है । तदन्त का ग्रहण हो जाने से यह लाभ भी होगा कि अधर्माच्च यह वार्तिक नहीं बनाना पडगा ।

पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उस पठित शब्द का तथा वह पठित शब्द है उत्तरपद में जिसके उसका भी ग्रहण होता है ऐसा कहना चाहिये ।<sup>१</sup>

१ यहाँ पदाधिकार शब्द से दोनों पद के आधिकार लिये गये हैं । एक तो पदस्य सूत्र से विहित अष्टमाध्यायस्थ पदाधिकार । दूसरा बलुगुत्तरपदे से विहित उत्तरपदाधिकार । उत्तरपद में उत्तर शब्द का लोप करके उसे भी पदाधिकार माना गया है । षष्ठाध्यायस्थ समस्त तृतीय पाद उत्तरपदाधिकार एव पदाधिकार यहाँ

पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमिष्टकेपीकामालानां चित्तूलभारिषु ।

इष्टकेपीकामालानां चित्तूलभारिषु प्रयोजनम् । इष्टकचितं चिन्वीत । पकेष्टकचितं चिन्वीत । इपीकतूलन । मुञ्जेपीकतूलेन । मालभारिणी कन्या । उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं महद्पस्वसृनप्तृणा दीर्घविधौ ।

महान् । परममहान् । अप्—आपः तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति । स्वसृ—स्वसा स्वसारौ स्वसारः । परमस्वसा । परमस्वसारौ । परमस्वसारः । नप्तृ—नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एवं परमनप्ता परमनप्तारौ परमनप्तारः ।

पद्द्युष्मदस्मदस्थ्याचनडुहो नुम् ।<sup>१</sup>

पद्भावः प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य ।

पदाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

इष्टकेपीकामालानां चित्तूलभारिषु इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे इष्टकचितम् इत्यादि में चित आदि उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है वैसे तदुत्तरपद का ग्रहण होने से पकेष्टकचितम् आदि में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

महत् अप् सृस्व नप्तृ शब्दों को दीर्घ करने में तदुत्तरपद का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे महान् यहाँ महत् अङ्ग को सान्तमहत सयगत्य से दीर्घ होता है वैसे परममहान् यहाँ महदुत्तरपद पद में भी हो जाता है । आपः स्वसा नप्ता यहाँ जैसे अप्तृत्स्वसे से दीर्घ होता है वैसे स्वाप परमस्वसा परमनप्ता यहाँ तदुत्तरपद में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में पद् आदेश, युष्मद् अस्मद् के आदेश, अस्थि आदि के आदेश, विवक्षित है । अङ्गाधिकार तो अङ्गस्य से विहित षष्ठाध्यायस्थ चतुर्थपाद स लेकर सम्पूर्ण सतमान्याय तक प्रसिद्ध ही है ।

१. यहाँ पद्द्युष्मदस्मदस्थ्यादि यह एक समस्तपद है, अनडुहः यह दूसरा असमस्त पृथक् पद है । ऐसा होने पर ही नुम् का अन्वय अनडुहः के साथ ही होता है ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलः पाच्छब्दो यदर्धो विधिः स्यात् ।  
नास्तीत्याह ।

एव तर्हि अङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्य  
प्रयोजनमुक्तम् । 'हिमकापिहतिषु च' । यथा पत्कापिणौ पत्कापिणः ।  
एवं परमपत्कापिणौ । परमपत्कापिणः ।

यदि पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति । 'पादस्य पदाज्या  
तिगोपहतेषु' यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम् । अत्रापि स्यात्—  
दिग्धपादेनोपहतं दिग्धपदोपहनम् इति ।

और अनडुह् शब्द को नुम् आगम ये तदन्त ग्रहण के प्रयोजन हैं । पद्माव  
जैसे—द्विपद पर्य । यदा पाद् शब्दान्त द्विपाद् शब्द को पाद पत् से पद्  
आदेश हो जाता है । द्वी पादौ यस्य स द्विपाद् । बहुवाहि समास में संख्यासुपूर्वस्य  
से पाद् शब्द के अन्त्य अकार का लोप ह कर पाद् बन जाता है । उसे शस्  
में पद् होता है ।

क्या कोई अकेला पाद् शब्द भी है जिसके लिये पाद. पत् यह सूत्र  
चरितार्थ हो सकता हो । यदि नहीं है तो स्वयमेव उत्तरपद में पद् आदेश  
होगा उसके लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इति वचन द्वारा  
पद्भाव प्रयोजन बताना व्यर्थ है ।

नहीं है । अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है ।

इस लिये अङ्गाधिकार में यदि पद् आदेश प्रयोजन नहीं है तो  
पदाधिकार में पदादेश का प्रयोजन कहा हुआ समझ लीजिये । हिमकापिहातपु  
च सूत्र से जैसे पत्कापिणौ पत्कापिण यहाँ केवल पाद् शब्द को पद् आदेश  
होता है वैसे पादशब्दोत्तरपद परमपत्कापणो परमपत्कापिण यहाँ भी हो जाता है ।  
हिमकापिहतिषु च यह सूत्र पठाध्यायस्थ तृतीय पाद के उत्तरपदाधिकार का है ।

यदि पदाधिकार में पाद् शब्द से तदन्त का ग्रहण होता है तो जैसे  
पादोपहत पदोपहतम् यहाँ पादस्य पदायाति० से पद् आदेश होता है वैसे  
दिग्धपादेनोपहत यहाँ पादशब्दान्त से भी होकर दिग्धपदोपहत बन जाना चाहिये ।<sup>१</sup>

१. वस्तुतः हलन्त पद् आदेश करने में ही वार्तिक में पाद से तदन्तविधि

एवं तर्ह्यङ्गाधिकार एव प्रयोजनम् ।

ननु चोक्तं न केवलः पाच्छब्द इति ।

अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात् । पद् । पदा । पदे ।

युष्मद् अस्मद् । यूयम् वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अस्थ्यादि ।

अस्थ्ना दध्ना सकथ्ना । परमास्थ्ना । परमदध्ना । परमसकथ्ना ।

अनडुहो नुम् । अनड्वान् । परमानड्वान् ।

टीक है । इस लिये पदाधिकार को छोड़ कर अङ्गाधिकार में ही पद आदेश प्रयोजन समझिये ।

यह जो कहा गया कि अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है उसके लिये पद आदेश प्रयोजन बनता है ।

अकेला पाद् शब्द भी है देखिये—पादयतेरप्रत्यय पाद् । णिन्त्व पादि धातु म द्विप् प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि और णिलोप होकर पाद् बन जाता है । ङिप् का समांशहारी लोप हो जाता है । अप्रत्यय = अविद्यमान प्रत्यय = ङिप् आदि । पाद् शब्द से शस् आदि परे रहते भसज्ञा ह्राकर पद् आदेश हो जायगा तो पद् पदा पदे इत्यादि रूप बन जायगे । इस प्रकार पदाव प्रयोजन अङ्गाधिकार में बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त—युष्मद् अस्मद् क आदेशों में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे यूयम् वयम् यथा युष्मद् अस्मद् को यूय वय आदि आदेश होत हैं वैसे परमयूयम् परमवयम् यथा तदन्त में भा हो जात हैं । अश्विदधि० सूत्र से अनड् करन में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।

जैसे अस्थ्ना दध्ना सकथ्ना में केवल अस्ति आदि शब्दों से भसज्ञा में अनड् होता है वैसे परम स्थ्ना आदि तदन्त में भी हो जाता है ।

अनडुह को नुम् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे अनड्वान् में भावनडुह से नुम् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर परमानड्वान् में भी हो जाता है ।

या प्रयोजन बड़ा है । णिन्त्व पद आदेश करने में नहीं रखा गया है इस लिये दिग्बपादोपहतम् में पादशब्दात् में पद आदेश की प्रातिशब्धा ही अनुपपन्न है ।



द्युपथिमथिपुगोसखिचतुरनडुत्त्रिप्रहणम् ।

प्रयोजनम् । द्यौः । सुद्यौः । पन्थाः सुपन्थाः<sup>१</sup> । मन्थाः परममन्थाः । पुमान् । परमपुमान् । गौः । सुगौः । सखा । सखायौ । सखायः । सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । परमसखा । परमसखायौ । परमसखायः । चत्वारः । परमचत्वारः । अनद्वाहः । परमानद्वाहः । त्रयाणां परमत्रयाणाम् ।

त्यदादिप्रिधिभस्त्रादिस्त्रीप्रहण च ।

प्रयोजनम् । सः । अतिसः । भस्त्रका । भस्त्रिका । बहुभस्त्रका । बहुभस्त्रिका । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । स्त्रीप्रहण च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

वर्णप्रहण च सर्वत्र ।

प्रयोजनम् । क । सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे 'अतो दीर्घो यजि सुपि च' । इहैव स्यान् आभ्याम् । घटाभ्याम् इत्यत्र न स्यान् ।

दिक् पथिन् म धन् पुंस गो सखि चतुर अनडुह और त्रि दन्दो मे अङ्गाधिकारीय कार्य करने मे तदन्त का प्रहण प्रयोजन है । गौ मुगौः आदि सब उदाहरण स्पष्ट हैं । सब मे तदन्तप्रिधि होकर यथाविहित कार्य हो रहे हैं । मुगन्था मुगा. मुमखा यद्वा तत्पुरुष समास मे न पूजनात् से समासान्त निषेध हो जाता है । परमसखा परमनखायौ मे बहुव्रीहि समास है । तत्पुरुष मे तो समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

त्यदादि भस्त्रादि और स्त्री शब्द के अङ्गाधिकारीय कार्य में तदन्त का प्रहण प्रयोजन है । सः । अतिम । गोभन. स. । यहाँ पूजार्थक अति शब्द मे तद् शब्द उपसर्जन नहीं है तो तदन्त प्रहण से सर्वनामसज्ञा के कार्य हो जाते हैं । बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका में भरभैयाजाज्ञाद्वास्वा नन् पूर्वाणामपि से इत्-विकल्प हो जाता है । तदन्तविधिका यह लाभ भी है कि नन्पूर्वाणाम् प्रहण नहीं करना पड़ता । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः मे स्त्रिया. से इयच् हो जाता है ।

वर्णप्रहण में तदन्त का प्रहण सब जगह प्रयोजन है । सब जगह कहां ?

१. न पूजनात् से यहाँ समासान्त का निषेध है । पूजार्थ में यहाँ सु अति का ही प्रहण इष्ट है ।

प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः ।

प्रत्ययग्रहणं च अपञ्चम्याः प्रयोजनम् । यजिजोः फग् भवति ।  
गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । परमगार्ग्यायणः । परमवात्स्यायनः ।  
दाक्षायणः । परमदाक्षायणः ।

अपञ्चम्या इति किमर्थम् ?

अङ्गाधिकार में और अङ्गाधिकार से बाहर भी । अङ्गाधिकार से बाहर के उदाहरण पहले अत इन् दाक्षि. प्लाक्षिः ये दिये जा चुके हैं । अङ्गाधिकार का उदाहरण अतो दीर्घो यनि, सुपि च यह है । सुपि च में अतो दीर्घो यनि से अतः की अनुवृत्ति आती है । अत. में अकार यह वर्णग्रहण है । उसमें तदन्तविधि यदि न हो तो आभ्याम् ( इदम्, इद्, अ+भ्याम् ) यहाँ इदम् के अकार रूप वर्ण में ही सुपि च से दीर्घ होता । घटाभ्याम् यहाँ अकारान्त घट शब्द में न होता तदन्तग्रहण से हो जाता है ।

जहाँ पञ्चम्यन्त से परे प्रत्यय को कार्य विधान किया गया है उसे छोड़ कर अन्यत्र सर्वत्र प्रत्ययग्रहण में भी तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।<sup>१</sup> यजिजोश्च सं युवापत्य मे फक् होता है वह जैसे गार्ग्यायणः वात्स्यायनः यहाँ गार्ग्य वात्स्य शब्दों से होता है जैसे परमगार्ग्यायणः परमवात्स्यायनः यहाँ गार्ग्य वात्स्य शब्दान्त प्रातिपदिक से भी हो जाता है ।<sup>२</sup>

पञ्चम्यन्त से परे कार्य विधानार्थं गृहीत प्रत्यय में तदन्तग्रहण का निषेध क्यों किया गया है ।

१. पृथग्मूलक ही प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति । यह परिभाषा है । जो कि यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् सूत्र का परिशेष है । उसी का भावानुवाद है । नवीन लोग प्रत्ययग्रहणे तदन्ता प्राज्ञाः ऐसा भी पढ़ते हैं ।

इस वार्तिक का यह अर्थ नहीं कि जहाँ पञ्चम्यन्त से प्रत्यय का विधान है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती किन्तु यह कि जहाँ पञ्चम्यन्त से परे कार्यान्तर विधान के लिये प्रत्यय का ग्रहण ( अनुवाद ) है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती ।

२. प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा के नियम से परमगार्ग्य में भी यन्त तो गार्ग्य ही है । परमगार्ग्य नहीं

दृपत्तीर्णा । परिपत्तीर्णा ।

अलैवानर्थकेन ।

अलैवानर्थकेन तदन्तविधिर्भवति नान्येनानर्थकेनेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? हन्ग्रहणे प्लीहन् ग्रहण मा भूत् । उद्ग्रहणे गर्मुद्ग्रहणम् । स्त्रीग्रहणे शस्त्रीग्रहणम् । संग्रहणे पायसं करोतीति मा भूत् ।

हपत् तीर्णा, परिपत् तीर्णा यहां निष्ठा नत्व करने में केवल क् प्रत्यय के तकार को ही नस्व होवे। क्प्रत्ययान्त तीर्ण शब्द क तकार को नस्व न होवे इस लिये अपञ्चम्या यह निषेध किया गया है। रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द्। सूत्र में रदाभ्याम् इस पञ्चमी से परे नस्वविधानार्थं निष्ठा प्रत्यय को ग्रहण किया है उसमें तदन्तविधि न होगी तो केवल तू धातु से विहित निष्ठा प्रत्यय क् को ही नस्व होगा। निष्ठाप्रत्ययान्त तीर्ण के तकार को नस्व न होगा।

अनर्थक से यदि तदन्तविधि हो तो भल् रूप अनर्थक वर्ण से ही हो। अन्य अनर्थक से न हो यद् कइना चाहिये। क्या प्रयोजन है? हन् के ग्रहण

है इस लिये फक् प्रत्यय यजन्त गार्ग्य से ही होगा परम शब्द छूट जायगा। यदि परमगार्ग्य को यजन्त मानें जो कि सर्वथा असंभव है तो उससे फक् करने पर परमशब्द को आदिबृद्धि होकर पारमगार्ग्यायण ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। इस अल्य भाष्यकार का यहा यही तापर्य समझना चाहिये कि यजन्त स फक् करने में तदन्तविधि द्वारा यजन्तान्त प्रातिपदिक भी रख सकत हैं। किन्तु फक् प्रत्यय ता तदादिनियम से यजन्त से ही होगा। इसी प्रकार दाक्षायण परमदाक्षायण ये इजन्त के तथा इजन्तान्त से फक् करके बन उदाहरण हैं। प्रत्ययग्रहणे यस्मात्० इस परिभाषा से लभ्य तदन्तग्रहण का येन विधिस्तदन्तस्य से लभ्य तदन्त ग्रहण से फलभेद नहीं होना चाहिये। प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करने वाली दो परिभाषायें अन्यत्र प्रसिद्ध हैं। सञ्जाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति। और उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति। इन में सञ्जाविधौ० यह परिभाषा सुसिद्धन्त पदम् में अन्तग्रहण से ज्ञापित होती है। और उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय० यह हृदयस्य ह्रस्वेख्यदणलासेषु में किये लेख ग्रहण से ज्ञापित होती है। अन्यथा लख शब्द के अण्प्रत्ययान्त होने से अण् ग्रहण से ही सिद्ध है तो लेखग्रहण व्यर्थ है। स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जन न यद् परिभाषा भी प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करती है। इस प्रकार उक्त तर्कों परिभाषाओं के विषय को छोड़ कर सर्वत्र प्रत्ययग्रहण में प्रत्ययग्रहणपरिभाषा प्रवृत्त होती है।

किमर्थमिदमुच्यते । न पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य  
चेत्येव सिद्धम् । न चेदं तत्, नापि तदुत्तरपदम् ।

तत्र वक्तव्यं भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

तदन्तविधिरेव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति । परमाति-  
महान् । एतद्धि नेव तत् । नापि तदुत्तरपदम् ।

मे प्लीहन् मे स्थित अनर्थक हन् का ग्रहण न होगा । क्योंकि यह अल् रूप नहीं है अल्समुदाय है । उससे इन् हन् पूर्यार्यम्णा शौ, सौ च यह हन् का दीर्घ नियम प्लीहन् मे न लगेगा तो प्लीहानौ प्लीहानः यहां उपधा दीर्घ हो जाता है । उद् के ग्रहण मे गर्मुद् के अनर्थक उद् का ग्रहण न होगा । क्योंकि यह अनर्थक अल् रूप नहीं है अल्समुदाय है । उससे गर्मुत् स्थाता यहां उदः स्थात्तन्मो पूर्वस्थ से पूर्वसर्जन नहीं होता है । स्त्री के ग्रहण मे शस्त्री के अनर्थक स्त्री शब्द का ग्रहण नहीं होगा । क्योंकि यह अनर्थक अल् रूप नहीं है । उससे शस्त्र्या शस्त्र्यः यहां स्त्रिया से इयल् नहीं होता है । सम् के ग्रहण में पायसम् करोति के अनर्थक सम् का ग्रहण नहीं होगा । क्योंकि यह अनर्थक अल् रूप नहीं है । उससे पायसं करोति यहां सम् से परे कृ को सम्परिभ्या कर्गेती भूदणे से सुद् नहीं होता है ।

अत्रैवानर्थकेन यद् नियमार्थं वचन विशेषरूप से किस लिये बनाया है ? क्या यदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च से इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता ? क्योंकि प्लीहन् इत्यादि मे हन् इत्यादि न तो हन् आदि रूप ही हैं और न हन् आदि उत्तरपद गळे हैं । प्लीहन् मे समास न होने से हन् उत्तरपद मे नहीं है । इसी प्रकार गर्मुद्, शस्त्री, पायसम् में उद्, स्त्री और सम् उत्तरपद नहीं हैं ।

अत्रैवानर्थकेन इस नियम वचन के बना देने पर पदाङ्गाधिकारे तस्य० यह वचन नहीं बनाना पड़ेगा । इसी से सर्वत्र काम चल जायगा ।

इन दोनों वचनों मे कौन अधिक उपयुक्त है ।

अत्रैवानर्थकेन इस नियम वचन द्वारा विधि करना ही अधिक उपयुक्त है । इससे परमातिमहान् भी सिद्ध हो जाता है अतिशयितो महान् अतिमहान् । परमधामो अतिमहान् परमातिमहान् । यहां न तो केवल महत् शब्द है । और

अनिनस्मन्ग्रहणानि च ।

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति । अन्—राज्ञेत्यर्थवता, साम्नेत्यनर्थकेन । इन्—दण्डीत्यर्थवता, चाग्मीत्यनर्थकेन । अस्—सुपयाः इत्यर्थवता सुप्ताताः इत्यनर्थकेन । मन्—सुशर्मा इत्यर्थवता, सुप्रथिमा इत्यनर्थकेन ।

यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ।

यस्मिन् विधिस्तदादाविति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? अचि श्लुघातुभ्रुवां व्योस्त्रियडुपडाविति इदं च स्यात् द्वियौ । भ्रुवौ । धियो भ्रुयः इत्यत्र न स्यात् ।

न ही महत् शब्द उत्तरपद में है उत्तरपद में तो अनिमइत् शब्द है । इस लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च० से यह गृहीत नहीं होगा तो मन्ग्रहण मद्गन्ध से दीर्घ नहीं सिद्ध होता । अन्वैवान्वयन से तदन्तविधि होकर दीर्घ सिद्ध हो जाता है ।

अन् इन् अस मन् ये अर्थवान् या अनर्थक कैसे भी हो तदन्तविधि में ल लिये जाते हैं । अन्—राज्ञा । यदा राजन् में अन् शब्द कनिन् प्रत्यय रूप होने से अर्थवान् है साम्ना यदा सामन् में मन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को अन्त मान कर अन्लोपान् से अकारलोप हो जाता है । इन् जैसे—दण्डा । यदा दण्डिन् में इन् प्रत्यय अर्थवान् है । चाग्मी यदा चाग्मिन् में ग्निन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को अन्त मान कर सौ च से दीर्घ हो जाता है । अस जैसे—सुपया । यदा असुन् प्रत्यय का अस् अर्थवान् है । सुलोता यदा तुट् आगम सहित अनर्थक है । दोनों को असन्त मान कर अन्वमन्तस्य चागता से दीर्घ हो जाता है । मन् जैसे—सुशर्मा । यदा मनिन् प्रत्यय का मन् अर्थवान् है । सुप्रथिमा यदा इमनिच् का अवयव होने से अनर्थक है । दधो का नाम्न्त मान कर मध्वन मन्थान चास्मन्बुद्धौ से उपधादीर्घ हो जाता है ।

वर्णसम्बन्धी सप्तम्यन्त विभेदण परे रहते यदि कोई विधि का उचित तो उस विभेदण में तदादिविधि होता है ऐसा कहना चाहने । क्या प्रयोजन है ? अचि श्लुघातु० में अचि यह अच वर्ण सम्बन्धी सप्तमा विभक्ति प्रत्यय का विभेदण है उसमें तदादिविधि होकर अजादि प्रत्यय परे रहते यह अर्थ हो जायगा । नहीं तो अच् परे रहते यही अर्थ रहता । उससे ध्रिवौ भ्रुवौ यदा

## वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७३॥

वृद्धिग्रहणं किमर्थम् ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने दासाः राक्षिताः  
अत्रापि प्रसज्येत । वृद्धिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ।

अथ यत्प्रहणं किमर्थम् ?

यस्येति व्यपदेशाय ।

अथाज्ग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने इहेच स्यात्—ऐति-  
कायनीयाः । औपगवीयाः । इह न स्याद्—गार्गीयाः वात्सीयाः इति ।  
अज्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ।

नी रूप अच् पर रहते ही इयङ् उवङ् होत । किन्तु प्रियः भुव यहाँ जस्  
परे रहते न होते । क्योंकि ङस् भजादि तो है पर अच् नहीं है । तदादिविधि  
हो जाने से भजादि जस् पर रहते भी इयङ् उवङ् हो जाते हैं ।

वृद्धिग्रहणं किस लिये किया है ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर दासा. राक्षिता. ( दत्तस्य  
रक्षितस्य च छात्रा. । दत्त रक्षित अण् ) यहाँ भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त होती है । वृद्धसंज्ञा  
होकर वृद्धाच्च से अण् का बाधक छ प्रत्यय प्राप्त होगा । वृद्धिग्रहण करने पर  
दोष नहीं होगा क्योंकि दत्त रक्षित शब्दों में भादि अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं है ।

यस्य ग्रहणं किस लिये किया है ?

यस्य ग्रहणं संज्ञा के व्यपदेश एवं बोध के लिये किया है । जैसे—  
स्वं रूपं शब्दस्य, अनुदिनसवर्णस्य, तपरस्तत्कालस्य, येन विविक्तान्तस्य इत्यादि में  
पठो विभक्ति से संज्ञा का निर्देश है ऐसे ही यहाँ वृद्धसंज्ञा में भी यस्य यह  
पठो विभक्ति संज्ञा के निर्देश के लिये है । उससे सूत्र का अर्थ होगा—जिस  
शब्दसमुदाय के अर्चों में भादि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द समुदाय वृद्धसंज्ञक  
होगा है ।

अच् ग्रहणं किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर ऐतिकायनीयाः औपगवीयाः

अथादिग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने सभासंनयने भवः  
सभासंनयन इत्यत्रापि प्रसज्येत । आदिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो  
भवति ।

वृद्धसंज्ञायामजसनिवेशादनादित्वम् ।

वृद्धसंज्ञायामजसनिवेशाद् आदिरित्येतन्नोपपद्यते । नह्यचां  
संनिवेशोऽस्ति ।

ननु चेव विश्वायते अजेयादिरिति ।

( ऐतिकायनस्य औपगवस्य छात्रा । ऐतिकायन, औपगव छ ) यदा वृद्धसज्ञा हो  
सकेगी । गार्गीया वात्सीयाः ( गार्ग्यस्य वात्स्यस्य छात्रा ) यदा न हो सकेगी ।  
क्योंकि अच् ग्रहण के अभाव में सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय का  
आदि अक्षर वृद्धिसञ्ज्ञक है वह समुदाय वृद्धसञ्ज्ञक होता है । उससे ऐतिका-  
यन औपगव के आदि में ऐ औ थे वृद्धिसञ्ज्ञक अक्षर हैं इस लिये यदा तो  
वृद्धसज्ञा हो जायगी किन्तु गार्ग्य वात्स्य के आदि में गकार वकार हैं यह  
वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं हैं इस लिये वहा वृद्धसज्ञा न हो सकेगी । अच् ग्रहण करने  
पर दोष नहीं होगा । क्योंकि समुदाय में विद्यमान अचो क मव्य में आदि अच्  
लिया जायगा तो गार्ग्य वात्स्य समुदाय में विद्यमान अचां में आकार के आदि  
अच् होने से वृद्धसज्ञा सिद्ध हो जाता है ।

आदिग्रहण किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धम् इतना सूत्र होन पर सभासंनयन भव सभा-  
संनयन यदा सभासंनयन की भी वृद्धसज्ञा प्राप्त होगी । क्योंकि इस समुदाय  
में विद्यमान अचो में भी शब्द का आकार वृद्धिसञ्ज्ञक है । आदिग्रहण करने  
पर तो दोष नहीं होता । सभासंनयन में न शब्द का आकार वृद्धिसञ्ज्ञक होता हुआ  
भी अच् समुदाय के आदि में नहीं है ।

वृद्धसज्ञा में केवल अचो का ही समुदाय सनिविष्ट न होन स अचो के  
मव्य में आदि होना नहीं बनता । इल रहित कवल अचां का कनवान् समुदाय  
तो कदा ( किसी प्रातिपदिक में ) सनिविष्ट है नहीं । उस अवस्था में आदि अच्  
का होना कैसे संभव है ।

यदि ऐसा मान लें कि अत्रलसमुदाय में वहा आदि अच् वृद्धि है वहा  
वृद्धसज्ञा होती है तो क्या हानि ?

नैवं शक्यम् । इहेव प्रसज्येत औपगवीयाः । इह न स्याद् गार्गीयाः ।  
एकान्तादित्वं तर्हि विज्ञायते ।

एकान्तादित्वे च सर्वप्रसङ्ग ।

इहापि प्रसज्येत—सभासनयने भवः साभासनयनः इति ।

सिद्धमजाकृतिनिर्देशात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अच् आकृतिनिर्दिश्यते ।

ऐसा भी नहीं हो सकता । वैसा मानने पर औपगवीया में ही वृद्धसंज्ञा हो सकेगी । गार्गीया में न हो सकेगी । क्योंकि औपगव और गार्ग्य इन दोनों अजडहल्समुदायों में औपगव में ही आदि अच् ओंकार वृद्धिसंज्ञक है । गार्गीया, में नहीं है ।

तो फिर अजडहल्समुदाय में एकान्त एव अवयव बना हुआ आदि अच् वृद्धिसंज्ञक देख कर वृद्धसंज्ञा मान ले ।

अजडहल्समुदाय के अवयवभूत आदि अच् को वृद्धिसंज्ञक देख कर यदि समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो उन सभी समुदायों की वृद्धसंज्ञा प्राप्त होगी जिनमें कहीं भी वृद्धिसंज्ञक आदि अच् अवयव बना हुआ है । उस अवस्था में सभासनयन शब्द की भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त हो जायगी । क्योंकि सभासनयन इस अजडहल्समुदाय में भी वृद्धिसंज्ञक भा का आकार सनयन का आदि अवयव बना हुआ है ।

अच् की आकृति का निर्देश मान कर उक्त दोष न होगा । यहाँ हम अच् व्यक्ति न लेकर सम्पूर्ण अच् जाति लेंगे । जिस अजडहल्समुदाय में अच् जाति की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक होगा उस समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो सभासनयन की वृद्धसंज्ञा न होगी । क्योंकि सभासनयन में भा का आकार सम्पूर्ण अर्चों के आदि में नहीं है ।<sup>१</sup>

१ यद्यपि प्रातिपदिक अजडहल्समुदाय है, तो भी अचाम् इस वचन से अजाकृति का ग्रहण होगा । हलाकृति विद्यमान होता हुई भी विवक्षित नहीं होगी तब सूत्रार्थ होगा—जिस शब्द १<sup>१</sup> उसमें होने वाले सभी अर्चों की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द वृद्ध संज्ञक होता है ।



एवमपि व्यञ्जनैर्व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानत्व यथान्यत्र ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो वक्तव्यो यथान्यत्रापि व्यञ्जनस्या-  
विद्यमानवद्भावो भवति । कान्यत्र । स्वरे ।

वा नामधेयस्य ।

वृद्धसज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः । याज्ञदत्ता ।

गोत्रोत्तरपदस्य च ।

गोत्रोत्तरपदस्य च वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । कम्बलचारायणीया ।  
ओदनपाणिनीयाः । घृतरीढीयाः ।

फिर भी व्यञ्जनो की आकृति का व्यग्रधान होने से अच अच—आकृति  
के आदि में न मिल सकेगा ।

व्यञ्जनो की आकृति अविद्यमान मानी जायगी । जैसे अन्यत्र भी  
व्यञ्जन अविद्यमानवत् माने जाते हैं । अन्यत्र कहाँ ? स्वरविषय में । इस प्रकार  
सर्वत्र इष्ट विषय में वृद्धसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

पौरुषेय नाम की वृद्धसज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये । देवदत्तीया  
दैवदत्ता । यज्ञदत्तीयाः याज्ञदत्ता । यहाँ देवदत्त यज्ञदत्त इन पुरुषनामों की  
विकल्प से वृद्धसज्ञा होकर वृद्धसज्ञा पक्ष में शैपिक छ प्रत्यय हो जाता है ।  
वृद्धसंज्ञा के अभावे में शैपिक अण हो जाता है ।

गोत्र प्रत्यय ह उत्तरपद में जिसके ऐसे शब्द की भी वृद्धसज्ञा कहनी  
चाहिये । कम्बलचारायणीया । ओदनपाणिनीया । घृतरीढीया । यद्वा चरस्य ग-नापत्य  
चारायण । पाणिनस्य गोत्रापत्य युवापत्य वा पाणिनिः । रटस्य गोत्रापत्य रौटिः ।  
ये गोत्रप्रत्ययान्त हैं । कम्बलविषय चारायण कम्बलचारायण । ओदनप्रिय  
पाणिनिः ओदनपाणिनि । घृतप्रधानो रौटिः घृतरीढि । तथा छाना कम्बल-  
चारायणीया । इत्यादि । यद्वा उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास में वृद्धसज्ञा  
होकर शैपिक छ प्रत्यय हो जाता है ।

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् ।

गोत्रान्ताद्वा असमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् । एतान्येवो-  
दाहरणानि ।

किमविशेषेण ?

नेत्याह ।

जिह्वाकात्यहरितकात्यवर्जम् ।

जिह्वाकात्यं हरितकात्यं च वर्जयित्वा । जैह्वाकाताः । हरितकाताः ।

किं पुनरत्र ज्यायः ।

‘गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवदि’त्येव ज्यायः । इदमपि सिद्धं भवति ।  
पिङ्गलकाण्वस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वाः ।

अथवा गोत्रप्रत्ययान्त को असमस्त की तरह समास रहित की तरह स्वतन्त्र मान कर उससे यथाविहित प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये । यही पूर्वोक्त कम्बलचारायणीयाः आदि उदाहरण है । कम्बलचारायण आदि में गोत्रप्रत्ययान्त चारायण आदि को असमस्तवत् मानने पर चारायण आदि स्वयमेव श्रद्धिर्यस्याचामादि ० में वृद्धसंज्ञक हो जायेंगे । अलग वृद्धसंज्ञा कहने की आवश्यकता न होगी ।

क्या सामान्य रूप से सभी गोत्रप्रत्ययान्तों को असमस्तवत् मान लेना चाहिये ।

नहीं । जिह्वाकात्य और हरितकात्य को छोड़ कर । प्रत्यय गोत्रप्रत्ययं वायः । जिह्वाप्रान वाय जिह्वाकात्यः । हरितवर्णं वात्य. हरितकाय । तस्य छात्राः जैह्वाकाता, हरितकाता । यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त कात्य शब्द को असमस्तवत् नहीं माना जायगा तो कात्य के वृद्ध न होने से वृद्धाच्छ से शैपिक छ प्रत्यय नहीं हुआ । बल्कि षष्वादिभ्यो गोत्रे से शैपिक अण् प्रत्यय हो गया । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति से कात्य के यकार का लोप हो जाता है ।

गोत्रोत्तरपदस्य च और गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् इन दोनों वचनों में कौन अधिक उपयुक्त है ?

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् यही वचन अधिक उपयुक्त है । उससे पिङ्गल-  
काण्वस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वा. यह भी सिद्ध हो जाता है । षष्पस्य गोत्रप्रत्ययं

## त्यदादीनि च ॥११॥७४॥

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते उताहो न ।

किं चातः ।

यद्यनुवर्तते, इह च प्रसज्येत त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः । इह च न स्यात् त्वदीयो मदीय इति ।

अथ निवृत्तम्, एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणं कर्तव्यम् ।

एवं तर्ह्यनुवर्तते ।

कथं त्वात्पुत्रा मात्पुत्रा इति ?

काण्व्य । पिङ्गलश्चात्तौ काण्व्य पिङ्गलकाण्व्य. । तस्य छात्रा पैङ्गलकाण्वा. । यद्वा गोत्र प्रत्ययान्त काण्व्य शब्द को असमस्तवत् मानने से काण्व्य शब्द स्वतन्त्र हो जाता है तो वृद्धाच्छ से प्राप्त छ को क्वादिभ्यो गोत्रे से विहित अण् प्रत्यय बाध लेता है । यदि असमस्तवत् न मान कर गोत्रोत्तरपदस्य च से वृद्धसज्ञा कर दें तो काण्व्य शब्द के स्वतन्त्र न होने से क्वादिभ्यो गोत्रे से छ प्रत्यय की बाधा न होगी । तत्र वृद्धाच्छ से छ होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

पूर्वसूत्र से यद्वा यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति आती है या नहीं ?

इससे क्या ?

यदि अनुवृत्ति आती है तो सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय के अन्तों के मध्य में त्यदादि शब्द आदि में हो उस समुदाय को वृद्धसज्ञा होती है । उससे त्वत्पुत्रस्य छात्रा त्वात्पुत्रा यद्वा त्वत्पुत्र इस समुदाय के आदि में त्यदादि होने से वृद्धसज्ञा हो जायगी तो वृद्धाच्छ से अण् को बाध कर शैषिक उ प्रत्यय प्राप्त होगा । और त्वदीय मदीय ( तव मम इदम् ) यद्वा त्यदादि के किसी समुदाय के आदि में न होने से वृद्धसज्ञा न होगी तो छ प्रत्यय न हो सकेगा । यदि यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति यद्वा नहीं आती तो आगे आने वाले एङ् प्राचा देशे सूत्र में यस्याचामादिग्रहण करना होगा ।

यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति यद्वा आती है ।

त्वात्पुत्राः मात्पुत्रा कैसे बनेंगे ?

सम्बन्धमनुवर्तिष्यते । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । त्यदादीनि च वृद्धसज्ञानि भवन्ति । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते । वृद्धिग्रहण निवृत्तम् । तद्यथा कश्चित् कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते । स यदा निष्कान्तकान्तारो भवति तदा सार्थं जहाति ।

एङ् प्राचां देशे ॥११॥७५॥

एङ् प्राचा देशे शौपिकेष्विति वक्तव्यम् ।

सैपुरिकी सैपुरिका स्कौनगरिकी स्कौनगरिकेति ।

सम्बन्ध का अनुवर्तन करेगा । वृद्धिर्यस्याचा० यह पहला सूत्र है । उसके बाद त्यदादीनि च यह सूत्र है । इसमें पूर्व सूत्र की सम्पूर्ण अनुवृत्ति आने पर भी केवल वृद्धम् इतने अंश का ही सम्बन्ध करेंगे । अन्य अंश का सम्बन्ध उसी के साथ रहेगा । तो इस सूत्र का अर्थ होगा—त्यदादि शब्दों की वृद्धसज्ञा होती है । आगे एङ् प्राचा देशे यह सूत्र है । उसमें पूर्व सूत्र के यस्याचामादिग्रहण का ही सम्बन्ध होगा । वृद्धिग्रहण की निवृत्ति हो जायगी तो अर्थ होगा—त्रिस समुदाय के भादि में एङ् है वह समुदाय प्राग्देश के अभिधान में वृद्धसज्ञक होता है जैसे कोई मनुष्य भयकर जंगल भा जाने पर साथी को सहारे क लिये लेलेता है । वह जब जंगल स निकल जाता है तब आवश्यकता न होने से साथी को छोड़ देता है । इसी प्रकार यहाँ भी आवश्यकतानुसार सम्बन्ध का अनुवर्तन होगा ।

एङ् प्राचां देशे विधीयमान वृद्धसंज्ञा केवल शैपिक प्रत्यय करने में ही कहनी चाहिये । जिससे अपत्य वरारादि अन्य अर्थों में वृद्धसंज्ञा न हो । सैपुरिकी सैपुरिका । स्कौनगरिकी । स्कौनगरिका । ( सैपुरे स्कौनगरे च भवा ) यहाँ सैपुर स्कौनगर ये प्राचीन वाङ्मयप्रामाण्य शब्द हैं । उनकी शैपिक प्रत्यय अभिधान में वृद्धसज्ञा हो जायगी तो वाङ्मयप्रामाण्य से भव अर्थ में एङ् प्रत्यय हो जाते हैं ।

१ यहाँ प्रदीपकार श्री कृष्ण लिखते हैं कि कुणि नामक किसी प्राचीन व्याख्याकार ने इस सूत्र में प्राचाम् का अर्थ प्राचीन आचार्यों के मत में ऐसा किया है । अन्य व्याख्याकारों ने प्राचाम् को दश का विशेषण मान कर प्राच्य

नवाहिक महाभाष्य सम्पूर्ण हुआ ।

देश के अभिधान में या प्राच्य देश के कथन में ऐसा अर्थ किया है। 'प्राचाम्' को आचार्य का विशेषण मानने पर तो चाहे प्राच्यग्राम हो या उदीच्य हो या दोनों स बहिर्भूत वाहीकग्राम हो सर्वत्र वृद्धसज्ञा हो जायगी। क्रोडे भय क्रीडः यहाँ उदीच्यग्राम में और देवदत्ते भव देवदत्त यहाँ वाहीक ग्राम में प्राप्त वृद्धसज्ञा व्यवस्थित-विभाषा से नहीं हुई। उनके मत में देवदत्त यह प्राच्यग्राम है और जो प्राग् देशाभिधान में वृद्धसज्ञा मानते हैं उनके मत में देवदत्त की वृद्धसज्ञा होकर काश्यादिगण में स्थित होने से छ को बाध कर काश्यादिभ्य-ष्त् जिठौ से ठन् जिठ् हो जायगे तो देवदत्तकी देवदत्तिका ये रूप बनेंगे ॥

छात्राणामुपकुर्वती भृशमियं ह्यं हृदसान्वती  
 व्याख्या बोधमभीप्सित प्रदिशती पूर्वापर युञ्जती ।  
 भाष्यार्थं च विवृण्वती सुविशद् प्रदानभिध्यन्जती  
 राराज्यात्सततं विमत्सरबुधा स्वान्त पर प्रीणती ॥

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिण कृतिषु नवाहिकस्य व्याकरणमहाभाष्यस्य  
 सविवरणो हिन्द्यनुवाद पूतिमगात् ।

शुभ भूयाद्भ्यापकानामध्यापकाना च ॥

desired alliance with thee but saw not how to ask for it in my fallen state. Now that the blessed Savitri is coming to me of her own accord I know for sure that Lakshmi's self is coming back unto our ancient house. So the marriage came to pass. Joyously Savitri passed from her palaces to the hermit's cottage. Eagerly she attended to the least wants of her aged father-in-law and mother-in-law, rejoicing to perform the humblest duties of the household and by her tender ways and loving words enslaved the heart of her husband. But ever underneath all this the fire of secret agony lighted by the words of Narada burned within her soul, and ever she counted the days of the prescribed year. At last the hour appointed for the death of Satyavata was only four days distant. Then she resolved to seek the help of the Devas by fast and prayer. And all the three days she fasted, taking not a drop of water. Early she rose on the morning of the fateful day, finished the morning rites and touched the feet of her elders. All the ascetics dwelling in that forest blessed her on that day, saying that she should never know the pangs of widowhood. And when the time came for Satyavata to go forth with his axe upon his shoulder into the wood for work as usual, she made her heart strong and followed him. He asked in wonder why, but she said she wished to go with him that

कुल केशवदास" कहने वाले केशवदास इसके उदाहरण हैं। "प्रथम" और विसेवि" शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दी काव्य में तुक का प्रधान और विशिष्ट स्थान है। जागे उत्तम तुक के समतारि, विपननरि और नृष्टरि नाम से तीन भेद करना, मध्यम तुक को असयोगमिलित, स्वरमिलित और द्रमिलित रूपों में देवना, मध्यम तुक का अमिल, मुनिल, वादिनत, अन्तमत्त की दृष्टि से विचार करना एवं धीम्ना, याप और लाटिया के भी लक्षण-उदाहरण विस्तार से प्रस्तुत करना भिखारीदास की इस सम्बन्ध में अनामान्य उपलब्धि की सूचना है।

## रीति के अन्य आचार्य

जैसा कि कहा जा चुका है हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की नामावलि बहुत लम्बी है और सबका विचार भी आवश्यक नहीं है। तिन चार आचार्यों का ऊपर विचार किया गया है उनमें रीतिकालीन आचार्यत्व का प्रतिनिधित्व देखा जा सकता है। रीतिकाल में तीन निरूपणशैलियाँ मिलती हैं। पहली मागोराग काव्य-निरूपणशैली, दूसरी शृङ्गार-निरूपणशैली और तीसरी अलंकार-निरूपणशैली। भिखारीदास का काव्य-निर्णय प्रथमशैली का उदाहरण है। दब का काव्य-रसायन भी इसी कोटि का है। केशवदास की "रविक प्रिया" मरिचक का "रसराज" और भिखारीदास का शृङ्गार-निर्णय दूसरी शैली के अन्तर्गत है। महाराज जसवन्त सिंह का 'भाषाभूषण' तीसरी शैली का उदाहरण है पर केशवदास की "कविप्रिया" को हम इस शैली का सबसे पहला प्रयोग मानते हैं। इन तीनों प्रकार की शैलियों का प्रतिनिधित्व हम उपर्युक्त चार आचार्यों में देख ही चुके हैं। फिर भी अवशिष्ट नामावली में से विन्तामणि, कुन्दरि, और धीपति का उल्लेख कुछ विशेष काम का हो सकता है।

विन्तामणि का प्रमुख लक्षण ग्रन्थ "कविकुलकल्पतरु" है। ऐतिहासिक ढंग में केशवदास के बाद और मतिराम ने पहले विन्तामणि का स्थान है। इन्होंने अपने शान्तीय ग्रन्थ में, काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य के गुण, रस, शब्दार्थ-शक्ति, अलंकार आदि को विवेच्य विषय बनाया है और सामान्यतः इन विषयों के सम्बन्ध में वही औचित्य प्रतिपादित किया जा सकता है जो पद्ये क्यास्थान अन्य आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों में कहा जा चुका है। पर कुछ बातें इनकी विशेष भी हैं। उदाहरणार्थ काव्य-गुरु के स्वरूप में इन्होंने रस को

काव्य का जीवित कहा है, आत्मा नहीं।<sup>१</sup> इसका बोधित्य इस रूप में समझा जा सकता है कि आत्म-तरव की दर्शन शास्त्र के अनुसार एक स्वतंत्र स्थिति भी है जो भूत पिण्ड ने कुछ मायना में निरपेक्ष भी कही जा सकती है पर जीवन की सत्ता या भूत पिण्ड से असम्भूत दशा में अकल्पनीय ही है। फलतः जीवन के आराप में रस की स्थिति भी लोक के सुख दुःखात्मक संस्कारों की प्रकृत दशा की जन्मस्थिति के रूप में सिद्ध प्रमाणित होती है। रस वस्तुतः सातवें आचमान का टुक नहीं है वह हमारा ही संस्काररहित भावा की उद्बुद्ध प्रतिपत्ति है जो हमारे जीवन की भाँति ही इस लोक के सवर्ष काउदात्त फल है।

शब्द, अर्थ और रस के दोषों का लक्षण चिन्तामणि ने इनके अपकर्ष के रूप में माना है। प्राचीन आचार्यों ने यहाँ इतना भेद है कि उन्होंने सभी प्रकार के दोषों को काव्य का अपकर्ष कहा या (शोभात्मन्यापकर्षका)<sup>२</sup> जब कि चिन्तामणि यह मानते हैं कि जो जिस काव्यांग का अपकर्ष है वह उसी का दोष है। तदन्तर्गत दोषों वाना में कोई अन्तर नहीं है। किसी भी काव्यांग का अपकर्ष दोष परम्परया काव्य का ही अपकर्ष दोष है इस सम्बन्ध में यहाँ कहा जा सकता है कि चिन्तामणि ने परम्परा दृष्टि की अपना सानात् दृष्टि का औचित्य अधिक समझा था।

शोष-परिहार के प्रसंग में चिन्तामणि ने अन्य बातों के साथ आनन्दबर्धन के श्लोक औचित्य<sup>३</sup> को ज्यों का त्यों साभ्यात् शब्दों में स्वीकार किया है।

जहाँ हत परसिद्ध है तँह न रहे तन दोष ।

सब अदुष्ट अनुकरण में इनते नहीं अतोष ॥

चिन्तामणि गोपाल को वर्णन करे बनाइ ।

वक्तृदिक औचित्य से दोषों गुण हैं जाइ ॥

(कविकुलकल्पतरु, प्र०४, १६-१७)

चिन्तामणि का लक्षणग्रन्थ "रस रहस्य" है। इसमें भी काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयाजन काव्य भेद शब्दाथ निरूपण रस निरूपण, काव्य-श्रुतिया, काव्य-गुण, अन्कार निरूपण और काव्य-शोष, यह विषय-उग्रह है। इन काव्यांगों के

<sup>१</sup> सब अर्थ तनु वर्णन जीवित रस जिय जानि ।

(कविकुलकल्पतरु, प्र० १, ५-७)

<sup>२</sup> साहित्यदर्पण, परि० १, छन्द ३ ।

<sup>३</sup> शब्द अर्थ रस को तु इत दखि परे अपकर्ष ।

शोष कहत हैं ताहि को मुन घटनु है हर्ष ॥ (कविकुलकल्पतरु, प्र०७, १५)

<sup>४</sup> ध्वन्यालोक, ३, ६ ।



नतदस्ति ज्ञापकम् । सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन । सोऽयमेव सिद्धे सति यदन्तग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेरेति ।

नात्र तदन्तादुत्पत्ति प्राप्नोति । इदानीमेव हुक्त समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध इति ।

सा तह्येषा परिभाषा कर्तव्या ।

न कर्त या । आचार्यप्रवृत्तिज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकनति । यदय पूर्वादिनि सपूर्वाच्च त्याह ।

यह कह इ ज्ञापक नहा । यहा सूत्र शब्दान्त या दशन् शब्दान्त स तो तदन्तविधिद्वारा उक्त प्रत्यय सिद्ध हैं । कवल सूत्र या दशन् स व्यपदेशिवद्भावद्वारा सूत्रान्त या दशन् शब्दान्त मान कर सिद्ध हैं फिर ना दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि यहा सूत्रशब्दान्त या दशन्शब्दा त स ही उक्त प्रत्यय हो । कवल को व्यपदेशिवद्भाव स सूत्रान्त दशान्त मान कर न हो ।

उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण क बिना तो तदन्त से उक्त प्रत्यय प्राप्त ही नहा इत । क्योंकि अभी ऊपर कह चुक हैं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध । अर्थात् प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक स तदन्तविधि नहीं होती । इसी को दूसरे शब्दों में इस परिभाषा क नाम स कहत हैं ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधनास्त । जब प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक स तदन्तविधि का निषेध है तो उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किय बिना सूत्रान्त या दशान्त स प्रत्यय न हाकर कवल सूत्र या दशन् शब्द स प्राप्त होग । व कवल स न बल्कि सूत्रान्त या दशान्त स ही हों इस लिय वहा अन्तग्रहण करना सफल हो जाता है । उसमें भी यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव द्वारा कवल सूत्र या दशन् का भी सूत्रान्त या दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय करना चाहें तो अन्तग्रहण सबथा न्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार इसी अन्तग्रहण स य दोनों परिभाषाय ज्ञापित हो जाती हैं कि—ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधनास्त और व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

ता फिर व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा बना दें ।

कोई आवश्यकता नहीं । अन्यत्र भी आचार्य क व्यवहार स यह परिभाषा

नतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
सपूर्वादिनि वक्ष्यामीति ।

यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा पूर्वात् सपूर्वादिनि इत्येव  
ब्रूयात् ।

किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

नेत्याह । यच्चानुश्रान्तं यच्चानुश्रस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

ज्ञापित हो जातो है। आचार्य ने तो पूर्वादिनि, सपूर्वाच्च यह दो सूत्र बनाय हैं  
वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होता तो  
केवल पूर्वशब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव स सपूर्वक ( विद्यमानपूर्वक ) मान कर  
सपूर्वाच्च सूत्र स ही केवल पूर्व शब्द से भी इनि सिद्ध हो जाता। और पूर्वात्  
यह व्यर्थ होता।<sup>१</sup>

यह कोई ज्ञापक नहीं। पूर्वादिनि सूत्र के पृथक बनाने का तो अन्य  
प्रयोजन है। क्या? यह कि आगे सपूर्वादिनि ऐसा पढ़ेंग उसमें पूर्वादिनि  
क अभाव में विद्यमान पूर्वक पूर्वशब्द व्यतिरिक्त स भी इनि प्रत्यय होने  
लगेगा, जो अनिष्ट होगा। पूर्वादिनि क रहने पर तो उसकी अनुवृत्ति होने पर  
विद्यमानपूर्वक पूर्व शब्दान्त से ही इनि होगा जिससे कृतपूर्वी ( कटम् ) इत्यादि  
इष्ट प्रयाग सिद्ध हो जायेंगे। अतः पूर्वात् यह अर्थ व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं  
हो सकता।

पूर्वादिनि के बनाने का यदि यही प्रयोजन है तो योगविभाग किस लिये  
किया है। फिर तो पूर्वादिनि सपूर्वाच्च ये दो सूत्र न बना कर पूर्वात् सपूर्वादिनि  
यह एक सूत्र बनाना ही पर्याप्त है। उस एक सूत्र से भी पूर्वी और कृतपूर्वी  
यहाँ दोनों जगह इन हो सकता है। योगविभाग से स्पष्ट है कि केवल  
पूर्व को व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्व कहा माना जायगा। पूर्वादिनि सूत्र केवल  
पूर्व स ही इनि करेगा। इष्ट है कि विद्यमानपूर्वक से भा इनि हो। उसके  
लिये सपूर्वाच्च यह पृथक सूत्र बनाना सफल हा जाता है।

तस्य च यह वचन क्या केवल रोगी शब्द क ही स्वरूपग्रहण क लिये है ?

नहीं। जो कहे जा चुके या कहे जायेंगे उन सभी क स्वरूपग्रहण के  
लिये तस्य च यह वचन है।

१ पूर्वादिनि सूत्र में पूर्वात् यह अर्थ ज्ञापक है।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्य । परमरथ्यः । सीत्य  
परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ।

सुसर्वादिक् शब्देभ्यो जनपदस्य ।

सुसर्वादिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सु—सुपाञ्चालकः  
सुमागधक । सर्व—सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । अर्ध—अर्धपाञ्चालकः ।  
अर्धमागधक । दिक्शब्द—पूर्वपाञ्चालक । अपरपाञ्चालकः । पूर्वमागधकः ।  
अपरमागधकः ।

ऋतोर्वृद्धिमादिधावयवानाम् ।

ऋतोर्वृद्धिमादिधावयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् । अपरशारदम् ।  
पूर्वनैदाघम् । अपरनैदाघम् ।

रथ सीता हल शब्दों से यत् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे  
रथ्यम्, सीत्यम्, हल्या यदा क्रम से तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् नौवयाधर्मावपमूल-  
मूल०, मतजनहृत् कर्णन्यर्केषु इन सूत्रों से रथ सीता हल शब्दों से यत्  
होता है वैसे तदन्तप्रिधि स परमर परमसीता परमहल से भी हो जाता है ।

सु सर्व अर्ध दिक् शब्दों से परे जनपदवाची शब्द से प्रत्यय करने में  
तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाञ्चालक मागधक यदा पाञ्चाल मगध  
शब्दों से भव अर्थ में जनपदतदवध्योश्च से अनुवृत्त अद्भुदादपि बहुवचनविपयात्  
से युन् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से सुपाञ्चाल सुमागध, सर्वपाञ्चा, सर्वमगध,  
अर्धपाञ्चाल अधमगध, पूर्वपाञ्चाल पूर्वमगध शब्दों से भी हो जाता है । इन सब में  
सुसर्वादिजनपदस्य दिशाऽमद्राणम् इन सूत्रों से यथाविहित उत्तरपद वृद्धि भी हो  
जाती है ।

अवयवाहता से होने वाली उत्तरपदवृद्धि में ऋतु क अवयवों का तदन्त  
ग्रहण में प्रयोजन है । पूर्वशारदम् इत्यादि । जैसे शरदि भव शारदम् यदा सधिवेला-  
वृत्तुनक्षत्रेभ्योऽण स अण् होता है वैसे शरद पूर्वोऽवयव पूर्वशरत् । यदा  
एकदेशि तरपुरर समाप्त में शरत् शब्दान्त से भी तदन्तप्रिधि से हो जाता है ।  
निदाघे भवम् नैदाघम् । पूर्वनिदाघे भवम् यदा भी सन्धिवेला० स अण् होकर  
पूर्वनैदाघम् बन जाता है । इन सब में अवयवाहता से उत्तरपद वृद्धि होती है ।

ठञ्विधौ संख्यायाः ।

ठञ्विधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विपाष्टिकम् । पञ्चपाष्टिकम् ।

धर्मान्नजः ।

धर्मान्नजः प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः । अधर्मं चरति अधार्मिकः ।  
'अधर्माच्च'ति न वक्तव्यं भवति ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ।

संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु इस सूत्र से संख्यावाची शब्द से ठञ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पष्टि पारमाणमस्य पाष्टिकम् यहाँ पष्टि शब्द में प्राग्बतीय ठञ् होता है वैसे तदन्तविधि से द्विपष्टि से भी हो जायगा तो द्विपाष्टिकम् बन जाता है । संख्यायाः सवन्तरसंख्यस्य च से यहाँ उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है । द्विपष्टि इस तद्वितार्थ द्विगु समास में हुण् ठञ् प्रत्यय का अव्यर्थपूर्वद्विगोर्लिंगसङ्गयाम् से लुक् तो नहीं हाता । क्योंकि तदस्य-परिमाणम् में तद् यद् पुनः समर्थविभक्ति का जो निर्देश क्रिया है उससे लुक् का अभाव ज्ञापित होता है । अन्यथा सोऽस्यासवस्तभृतय से सोऽस्य की अनुवृत्ति था ही रही है । फिर तदस्य कहना व्यर्थ है ।

नञ् से परे धर्म शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे धर्मं चरति धार्मिकः यहाँ धर्म शब्द से चरति अर्थ में टक होता है वैसे तदन्तविधि से नञ् पूर्वक अधर्म शब्द से भी हो जायगा तो अधार्मिकः बन जाता है । तदन्त का ग्रहण हो जाने से यह लाभ भी होगा कि अधर्माच्च यह वार्तिक नहीं बनाना पड़ेगा ।

पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उस पठित शब्द का तथा वह पठित शब्द है उत्तरपद में जिसके उसका भी ग्रहण होता है ऐसा कहना चाहिये ।<sup>१</sup>

१ यहाँ पदाधिकार शब्द से दोनों पद के अधिकार लिये गये हैं । एक तो पदस्य सूत्र से विहित अष्टमाध्यायस्य पदाधिकार । दूसरा अलुगुत्तरपदे से विहित उत्तरपदाधिकार । उत्तरपद में उत्तर शब्द का लोप करके उसे भी पदाधिकार माना गया है । षष्ठाध्यायस्य समस्त तृतीय पाद उत्तरपदाधिकार एव पदाधिकार यहाँ

पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ?-

प्रयोजनमिष्टकोर्णकामालानां चिततूलभारिषु ।

इष्टकेपीकामालानां चिततूलभारिषु प्रयोजनम् । इष्टकचित्त  
चिन्नीत । पकेष्टकचित्त चिन्नीत । इपीकतूलन । मुञ्जेपीकतूलेन । माल-  
भारिणी कन्या । उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजन महदप्स्वसुनप्तृणा दीर्घविधौ ।

महान् । परममहान् । अप्—आप. तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति ।  
स्वस्त्—स्वसा स्वसारौ स्वसारः । परमस्वमा । परमस्वसारौ । परम-  
स्वसारः । नप्तृ—नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एव परमनप्ता परमनप्तारौ  
परमनप्तार ।

पद्भ्याम्दत्स्मदस्थ्याद्यनटुहो नुम् ।<sup>१</sup>

पद्भाय प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य ।

पदाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

दृष्टकेपाकमालानां चिततूलभारिषु इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन  
है । जैम दृष्टकचित्तम् इत्यादि में चित्तादि उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता  
है वैसे तदुत्तरपद का ग्रहण हान से पक्वचित्तम् आदि में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

महत् अप् स्वस्त् नप्तृ शब्दों को दीर्घ करने में तदुत्तरपद का ग्रहण  
प्रयोजन है । जैसे महान् यद्वा महत् अङ्ग को सान्तमहत् सयस्य स दार्ध  
होता है जैसे परममहान् यद्वा महदुत्तरपद पद में भी हो जाता है । आप स्वसा  
नप्ता यद्वा पैस अप्तृनृत्स्वस्त् स दार्ध हाता है वैसे स्वाप परमस्वमा  
परमनप्ता यद्वा तदुत्तरपद में भी हा जाता है ।

अङ्गाधिकार में पद् आदेश, युष्मद् अस्मद् क आदेश, अस्थि आदि के आदेश,

विवक्षित हैं । अङ्गाधिकार ता अङ्गस्य से विहित पद्याध्यायस्थ चतुधपाद स लेकर  
सम्पूर्ण सतमा याव तक प्राप्त हा है ।

१ यहाँ पद्भ्याम्दत्स्मदस्थ्यादि यह एक समस्तपद है, अनटुह यह दूसरा  
असनस्त पृथक् पद है । एसा होने पर ही नुम् का अन्वय अनटुह क साथ हा हाता है ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलः पाच्छब्दो यदर्थो विधिः स्यात् ।  
नास्तीत्याह ।

एवं तर्हि अङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्य प्रयोजनमुक्तम् । 'हिमकापिहितिषु च' । यथा पत्कापिणौ पत्कापिणः । एवं परमपत्कापिणौ । परमपत्कापिणः ।

यदि पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति । 'पादस्य पदाज्या तिगोपहतेषु' यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम् । अत्रापि स्यात्— दिग्धपादेनोपहतं दिग्धपदोपहतम् इति ।

नौर अनडुह् शब्द को तुम् आगम ये तदन्त ग्रहण के प्रयोजन हैं । पञ्जाव जैसे—द्विपद पर्य । यहाँ पाद् शब्दान्त द्विपाद् शब्द को पाद पत् से पद् भादेश हो जाता है । द्वौ पादौ यस्य स द्विपाद् । बहुव्रीहि समास मे संख्यासुपूर्वस्य से पाद् शब्द के अन्त्य अकार का लोप इ कर पाद् बन जाता है । उसे शस् में पद् होता है ।

क्या कोई अकेला पाद् शब्द भी है जिसके लिये पाद. पत् यह सूत्र चरितार्थ हो सकता हो । यदि नहीं है तो स्वयमेव उत्तरपद में पद् भादेश होगा उसके लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस वचन द्वारा पद्भाव प्रयोजन यताना व्यर्थ है ।

नहीं है । अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है ।

इस लिये अङ्गाधिकार में यदि पद् भादेश प्रयोजन नहीं है तो पदाधिकार में पदादेश का प्रयोजन कहा हुआ समझ लीजिये । हिमकापिहितिषु च सूत्र से जैसे पत्कापिणो पत्कापिण यहाँ केवल पाद शब्द को पद् भादेश होता है वैसे पादशब्दोत्तरपद परमपत्कापिणौ परमपत्कापिण यहाँ भी हो जाता है । हिमकापिहितिषु च यह सूत्र पद्याध्यायस्य तृतीय पाद के उत्तरपदाधिकार का है ।

यदि पदाधिकार में पाद शब्द से तदन्त का ग्रहण होता है तो जैसे पादेनोपहतं पदोपहतम् यहाँ पादस्य पदाज्याति० से पद् भादेश होता है वैसे दिग्धपादेनोपहतं यहाँ पादशब्दान्त से भी होकर दिग्धपदोपहतं बन जाना चाहिये ।

१. वस्तुतः हलन्त पद् आदेश करने में ही वार्तिक में पाद से तदन्तविधि

एवं तर्हीङ्गाधिकार एव प्रयोजनम् ।

ननु चोक्तं न केवलः पाच्छब्द इति ।

अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात् । पद् । पदा । पदे ।

युष्मद् अस्मद् । यूयम् वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अस्थ्यादि ।

अस्थना दध्ना सक्थना । परमास्थना । परमदध्ना । परमसक्थना ।

अनडुहो नुम् । अनड्वान् । परमानड्वान् ।

ठीक है । इस लिये पदाधिकार को छोड़ कर अङ्गाधिकार में ही पद आदेश प्रयोजन समझिये ।

यह जो कहा था कि अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है जिसके लिये पद आदेश प्रयोजन बनता हो ।

अकेला पाद् शब्द भी है देखिये—पादयतेरप्रत्यय पाद् । णिजन्त पादि धातु से क्तिप् प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि और णिलोप होकर पाद् बन जाता है । क्तिप् का समापहारी लोप हो जाता है । अप्रत्यय = अविद्यमान प्रत्यय = क्तिप् आदि । पाद् शब्द से दास् आदि परे रहते भसजा होकर पद् आदेश हो जायगा तो पद् पदा पदे इत्यादि रूप बन जायेंगे । इस प्रकार पञ्जाव प्रयोजन अङ्गाधिकार में बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त—युष्मद् अस्मद् के आदेशों में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे यूयम् वयम् यहाँ युष्मद् अस्मद् को यूय वय आदि आदेश होते हैं वैसे परमयूयम् परमवयम् यहाँ तदन्त में भी हो जाते हैं । अस्थिदधि० सूत्र से अनङ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।

जैसे अस्थना दध्ना सक्थना में केवल अस्थि आदि शब्दों से भसजा में अनङ् होता है वैसे परमास्थना आदि तदन्त में भी हो जाता है ।

अनडुह को नुम् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे अनड्वान् में सावनडुहः से नुम् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर परमानड्वान् में भी हो जाता है ।

या प्रयोजन कहा है । अजन्त पद आदेश करने में नहीं रखा गया है इस लिये दिग्धपादेनोपहतम् में पादशब्दान्त में पद आदेश की प्राप्तिशङ्का ही अनुपपन्न है ।

दुपधिमथिपुगोसखिचतुरनडुत्त्रिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । घौः । सुघौः । पन्थाः सुपन्थाः<sup>१</sup> । मन्थाः परममन्थाः । पुमान् । परमपुमान् । गौः । सुगौः । सखा । सखायौ । सखायः । सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । परमसखा । परमसखायौ । परमसखायः । चत्वारः । परमचत्वारः । अनड्वाहः । परमानड्वाहः । त्रयाणां परमत्रयाणाम् ।

त्यदादित्रिधिभस्त्रादिस्त्रीग्रहण च ।

प्रयोजनम् । सः । अतिसः । भस्त्रका । भस्त्रिका । बहुभस्त्रका । बहुभस्त्रिका । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । स्त्रीग्रहण च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

वर्णग्रहण च सर्वत्र ।

प्रयोजनम् । क । सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे 'अतो दीर्घो यञि सुपि च' । इहैव स्यान् आभ्याम् । घटाभ्याम् इत्यत्र न स्यान् ।

दिव् पथिन् मथन् पुंस गो सखि चतुर अनडुड और त्रि इन्दो मे अङ्गाधिकारीय कार्य करने मे तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । घौः सुगौः आदि सब उदाहरण स्पष्ट हैं । सब मे तदन्तविधि होकर यथाविहित कार्य हो रहे हैं । सुपन्था सुगा, सुसखा यहाँ तत्पुरुष समास में न पूजनात् से समासान्त निषेध हो जाता है । परमसखा परमसखायौ में बहुव्रीहि समास है । तत्पुरुष मे तो समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

त्यदादि भस्त्रादि और स्त्री शब्द के अङ्गाधिकारीय कार्य में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । सः । अतिसः । गोभनः सः । यहाँ पूजार्थक अति शब्द में तद् शब्द उपसर्जन नहीं है तो तदन्त ग्रहण से सर्वनामसज्ञा के कार्य हो जाते हैं । बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका में भस्त्रैपाजाङ्गाद्वास्वा नन् पूर्वाणामपि से श्रव-विकल्प हो जाता है । तदन्तविधिका यह लाभ भी है कि नन्पूर्वाणाम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । राजस्त्रियौ राजस्त्रिय मे स्त्रियाः से इयङ् हो जाता है ।

वर्णग्रहण में तदन्त का ग्रहण सब जगह प्रयोजन है । सब जगह कहां ?

१. न पूजनात् से यहाँ समासान्त का निषेध है । पूजार्थ में यहाँ सु अति का ही ग्रहण इष्ट है ।